हिन्दी वक्रोक्तिजीवित



सम्पादक

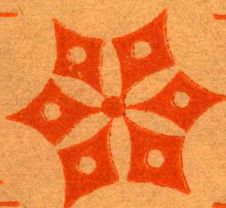
डॉ० नगेन्द्र



व्याख्याकार

आचार्य विश्वेश्वर

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली



आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

हिन्दी वक्रोक्तिजीवित

हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला, ग्रन्थ ५

हिन्दी
वक्रोक्तिजीवित

['वक्रोक्तिजीवितम्' की हिन्दी व्याख्या]

व्याख्याकार
आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणिः
अध्यक्ष, 'श्रीधर अनुसन्धान विभाग'
गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन
तथा
सम्मान्य सदस्य, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय

सम्पादक
डा० नगेन्द्र, एम. ए., डी. लिट.

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
की ओर से
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६
द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य सोलह रुपये
सं० २०१२ : १९५५

मुद्रक
अमरजीतसिंह नलवा
सागर प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

हमारी योजना

'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' हिन्दी-अनुसन्धान-ग्रन्थमाला का पाँचवाँ ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर १९५२ ई० में हुई थी। इसका कार्य-क्षेत्र हिन्दी भाषा एवं साहित्य-विषयक अनुसन्धान तक ही सीमित है और कार्यक्रम मूलतः दो भागों में विभक्त है। पहले विभाग पर गवेषणात्मक अनुशीलन और दूसरे पर उसके फलस्वरूप उपलब्ध साहित्य के प्रकाशन का दायित्व है।

गत वर्ष परिषद् की ओर से तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। 'हिन्दी काव्यालङ्कार सूत्र', 'मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ' तथा 'अनुसन्धान का स्वरूप'। 'हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास', 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' तथा 'सूफ़ीमत और हिन्दी साहित्य' हमारे इस वर्ष के प्रकाशन हैं। इन ग्रन्थों में 'हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र' आचार्य वामन के 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः' का हिन्दी भाष्य है। 'अनुसन्धान का स्वरूप' अनुसन्धान के मूल सिद्धान्त तथा प्रक्रिया के सम्बन्ध में मान्य आचार्यों के निबन्धों का संकलन है। 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ' 'हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास' तथा 'सूफ़ीमत और हिन्दी साहित्य' दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत गवेषणात्मक प्रबन्ध हैं। इस योजना को कार्यान्वित करने में हमें दिल्ली की प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था—आत्माराम एण्ड संस से वांछित सहयोग प्राप्त हुआ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद् उसके अध्यक्ष श्री रामलाल पुरी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है।

नगेन्द्र
अध्यक्ष, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

भूमिका

आचार्य कुन्तक

और

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

लेखक—डॉ० नगेन्द्र

वक्तव्य

सामान्यतः भूमिका की भूमिका लिखना विचित्र ही लगता है। फिर भी दो-एक बातों का पृथक उल्लेख करना कुछ आवश्यक-सा हो गया है। काव्यशास्त्र के अध्ययन में ज्यों-ज्यों मैंने प्रवेश किया है त्यों-त्यों यह एक तथ्य मेरे मन में स्पष्ट होता गया है कि भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह ही यहाँ के काव्यशास्त्र भी एक-दूसरे के पूरक हैं, और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परम्परा के अनुकूल एक संश्लिष्ट, आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज-सम्भव है। हिन्दी-ध्वन्यालोक, हिन्दी-काव्यालङ्कारसूत्र तथा प्रस्तुत ग्रन्थ और इनकी विस्तृत भूमिकाएँ इसी दिशा में विनम्र प्रयास हैं।

आज हिन्दी के वर्ण-योग के स्थिरीकरण के लिए प्रयत्न हो रहे हैं। थोड़ा कठिन होते हुए भी यह कार्य आवश्यक है, इसमें संदेह नहीं। मुझे खेद है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के मुद्रण में यह सम्भव नहीं हो सका। फिर भी मैंने पंचम वर्ण का प्रयोग प्रायः बचाया है, और हल् चिह्न का प्रयोग भी कम ही किया है। संस्कृत के नियमानुसार जगत, महान, विद्वान, बुद्धिमान, पश्चात और पृथक सभी को हलन्त करने से हिन्दी के मुद्रणादि में अनावश्यक उलझन पैदा हो जाती है। मैंने इस सम्बन्ध में अपने लिए एक साधारण-सा नियम बना लिया है—और वह यह कि हल् का प्रयोग हमें या तो ऐसे शब्दों में करना चाहिए जो हिन्दी में हलन्त रूप में सर्व-स्वीकृत हो गये हैं यथा 'अर्थात्', 'वरन्' आदि, या फिर कुछ ऐसे शब्दों को हलन्त किया जा सकता है। जिनका, हिन्दी में अपेक्षाकृत कम प्रचलन होने से, अभी संस्कृत-संस्कार नहीं छूटा है उदाहरणार्थ—सम्यक्, ईषत्, किंचित् आदि। मैंने सामान्यतः इसी नियम का अनुसरण किया है—जहाँ कहीं नहीं हो सका वहाँ उसके लिए मेरा या मेरे प्रूफ़-शोधक का संस्कार ही उत्तरदायी हो सकता है।

—नगेन्द्र

विषय-क्रम

(पृष्ठ १ से २८२ तक)

वक्रोक्ति सिद्धान्त

वक्रोक्ति के संस्थापक आचार्य कुन्तक भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रमुख आधार-स्तम्भ हैं। अपनी मौलिक प्रतिभा और प्रखर मेधा के द्वारा उन्होंने काव्य के मूल सिद्धान्तों का सर्वथा नवीन रूप में पुनराख्यान किया और ध्वनि-सिद्धान्त के उद्भावक आनन्दवर्धन की सार्वभौम प्रतिष्ठा को ललकारा :—

निर्मूलत्वादेव तयोर्भावाभावयोरिव न कथंचिदपि साम्योपपत्तिरित्यलमनुचित-विषयचर्वणाचातुर्यचापल्येन।

—अर्थात् भाव और अभाव के समान उन दोनों (कामी तथा शराग्नि के सादृश्य) के निर्मूल होने से उन दोनों के साम्य का किसी प्रकार भी उपपादन नहीं हो सकता। इसलिए अनुचित विषय के समर्थन में चातुर्य दिखलाने का (ध्वन्या-लोककार का) प्रयत्न व्यर्थ है।

(हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—तृ० उन्मेष परिशिष्ट)

इसी साहसपूर्ण मौलिक विवेचन के कारण कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त केवल सिद्धान्त न रह कर सम्प्रदाय बन गया है।

पूर्व वृत्त

काव्य के जीवित रूप में वक्रोक्ति की स्थापना तो दशवीं शताब्दी में कुंतक के द्वारा ही हुई, परन्तु उसके बीज संस्कृत काव्य-शास्त्र में पहले से ही वर्तमान थे। अन्य सिद्धान्तों की भाँति वक्रोक्ति-सिद्धान्त भी कोई आकस्मिक घटना न होकर एक विचार-परम्परा की परिणति ही थी।

बाण भट्ट

वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ की कल्पना कुंतक के पूर्ववर्ती आचार्यों में ही नह कवियों में भी मिलती है। उदाहरण के लिए बाण भट्ट ने कादम्बरी में वक्रोक्ति क इसी व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए लिखा है : वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यान-परिचयचतुरेण (कादम्बरी)। यहाँ वक्रोक्ति का प्रयोग निश्चय ही केवल वाक्छल रूप शब्दालंकार के अर्थ में नहीं किया गया। वास्तव में बाण स्वयं भी वाणी के चमत्कार के बड़े प्रेमी थे : लगभग पाँच छह शताब्दी के उपरान्त कविराज ने 'वक्रोक्तिमार्ग-निपुण' विशेषण देकर उनकी तथा सुबन्धु की प्रशस्ति की है :

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा॥

(राघवपाण्डवीयम् १।१४१)

बाण नें भी श्लेष, प्रहेलिका आदि का प्रयोग करते हुए शब्दक्रीड़ा का रस लिया है—परन्तु उपर्युक्त पंक्ति में वक्रोक्ति का अर्थ शब्दक्रीड़ा मात्र नहीं है यद्यपि शब्दक्रीड़ा—'परिहास जल्पित'—का भी अन्तर्भाव उसमें है अवश्य। बाण की यह वक्रोक्ति इति-वृत्त वर्णन से भिन्न काव्य की चमत्कारपूर्ण शैली तथा वचन-विदग्धता की ही पर्याय है जिसका उन्होंने अन्यत्र इस प्रकार विश्लेषण किया है :

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥

(हर्षचरित, १।८)

इस प्रकार स्पष्ट है कि बाण का वक्रोक्ति मार्ग शब्द और अर्थ दोनों के चमत्कार से सम्पन्न है, उसमें अक्लिष्ट श्लेष और नवीन अर्थ दोनों को चमत्कार है।

भामह

काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति का सर्वप्रथम नियमित विवेचन भामह के काव्यालंकार में मिलता है और इसमें संदेह नहीं कि वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ की कल्पना का मूल उद्गम भामह का विवेचन ही है।

वक्रोक्ति में भामह ने शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता का अन्तर्भाव माना है :

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः

(काव्यालंकार १।६)

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते (का० ५।६६) अर्थात् वक्रोक्ति से अभिप्राय है अर्थ और शब्द की वक्रता—'वक्राभिधेय शब्दोक्तिः' और 'वक्रार्थ शब्दोक्तिः' का एक ही अर्थ है। इस प्रकार भामह के अनुसार शब्द-वक्रता और अर्थ-वक्रता का समन्वित रूप ही वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति ही इष्ट (अर्थ) और वाणी (शब्द) का मूल अलंकार है—अथवा यों कहिए कि अलंकार का मूल आधार है। आगे चलकर भामह ने अतिशयोक्ति के स्वरूप-वर्णन द्वारा वक्रता का आशय स्पष्ट किया है। अतिशयोक्ति के विषय में भामह का मत है :

> निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
> मन्यतेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा॥ २।८१
>
> इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः।
> सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम्॥ २।८४

इसका निष्कर्ष यह है :—

१. अतिशयोक्ति उस उक्ति का नाम है जिसमें गुण के अतिशय का योग हो।

२. अतिशय का अर्थ है लोकातिक्रान्तगोचरता—लोक का अतिक्रमण अर्थात्—लोकसामान्य से वैचित्र्य।

३. अतएव अतिशय+उक्ति का अर्थ हुआ लोकसामान्य (उक्ति) से विचित्र उक्ति : ऐसी उक्ति जिसमें शब्द और अर्थ का लोकोत्तर अर्थात् असाधारण या चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया गया हो।

यह अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है—

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः + + +। (२।८५)

अतएव भामह की वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति पर्याय हैं :—एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम् (काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका पृ०६०६), और उन दोनों का एक ही लक्षण है लोकातिक्रान्तगोचर उक्ति—आधुनिक शब्दावली में शब्द-अर्थ का लोकोत्तर अर्थात् इतिवृत्त कथन से भिन्न चमत्कारपूर्ण प्रयोग :—

(१) शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्।

(२) लोकोत्तरेण चैवातिशयः··· । (लोचन—अभिनवगुप्त)

आगे चलकर भामह उपर्युक्त श्लोक में ही वक्रोक्ति की विशेषता को और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं:

अनयार्थो विभाव्यते ।

अर्थात् इसके द्वारा अर्थ का विचित्र रूप में भावन होता है :—

अनया अतिशयोक्त्या विचित्रतया भाव्यते (लोचन)।

वक्रोक्ति का साम्राज्य सार्वभौम है—कोऽलंकारोऽनया विना ।२।८५। काव्य का समस्त सौन्दर्य उसी के आश्रित है । स्फुट अलंकारों में ही नहीं काव्य के सभी व्यापक रूपों में—महाकाव्य रूपक आदि में भी वक्रोक्ति का ही चमत्कार है : युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते । १।३० । जहां वक्रता नहीं है वहां अलंकारत्व ही नहीं है—इसीलिए हेतु, सूक्ष्म और लेश को भामह ने अलंकार नहीं माना है :

हेतुः सूक्ष्मोऽथ लेशश्च नालंकारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ।।

अर्थात् वक्रोक्ति के अभाव के कारण हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकार नहीं हैं । वक्रोक्ति से हीन कथन को भामह ने वार्ता नाम दिया है । सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा उदित है, पक्षी अपने नीड़ों को जा रहे हैं—यह भी कोई काव्य है ? यह तो वार्ता है (२।८७) । इसे ही शुक्ल जी ने इतिवृत्त कथन कहा है—इसमें शब्द-अर्थ का साधारण प्रयोग होता है जसा कि जन-सामान्य नित्य-प्रति की बोलचाल में करते हैं ।

सारांश यह है कि भामह के अनुसार—

(१) वक्रोक्ति का मूल गुण—वक्रोक्ति का मूल गुण है शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ।

(२) वक्रोक्ति का प्रयोजन—वक्रोक्ति का प्रयोजन है अर्थ का विचित्र रूप से भावन ।

(३) वक्रोक्ति का महत्व—वक्रोक्ति का महत्व सर्वव्यापी है, इसके बिना अलंकार का अलंकारत्व ही सम्भव नहीं है । इसके अभाव में वाक्य काव्य न होकर वार्ता मात्र रह जाता है ।

दण्डी

भामह के उपरान्त दण्डी ने भी काव्यादर्श में वक्रोक्ति की चर्चा की है। उन्होंने वाङ्मय के दो व्यापक भेद किये हैं स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति :—द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् २।३६२। स्वभावोक्ति में पदार्थों का साक्षात् स्वरूप-वर्णन होता है, वह आद्य अलंकार है :—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥ २।८

शास्त्रादि में उसी का साम्राज्य रहता है—शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं। २।१३। वक्रोक्ति इससे भिन्न है, उसमें साक्षात् अथवा सहज वर्णन न होकर वक्र अर्थात् चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है, उपमादि अन्य अलंकार सभी वक्रोक्ति के प्रकार हैं—वक्रोक्तिशब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलंकारा उच्यन्ते (हृदयंगमा टीका)। इन सभी के चमत्कार में, प्रायः, किसी न किसी रूप से श्लेष का योग रहता है—श्लेषो सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्। २।३६३। उधर अतिशयोक्ति के प्रसंग में दण्डी ने अतिशयोक्ति को भी सभी अलंकारों का आधार माना है : अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्। २।२२०। इस प्रकार एक ओर वक्रोक्ति को ओर दूसरी ओर अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का आधार मान कर भामह की भाँति दण्डी भी दोनों की पर्यायता सिद्ध कर देते हैं। पर्याय हो जाने पर दोनों की परिभाषा भी फिर वही हो जाती है जो अतिशयोक्ति की। दोनों का मूल उद्गम एक ही है 'लोकसीमातिवर्तिनी विवक्षा' अर्थात् वस्तु के लोकोत्तर वर्णन की इच्छा—विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी (२।२१४)। यही लक्षण भामह ने भी माना है। अतएव वक्रोक्ति के सम्बन्ध में भामह और दण्डी का मत प्रायः एक ही है—दोनों लोकवार्ता से भिन्न वाक्-भंगिमा को वक्रोक्ति मानते हैं, अन्य सभी अलंकार इसी के (आश्रित) प्रकार हैं। अन्तर केवल इतना है कि भामह स्वभावोक्ति को भी वक्रोक्ति की परिधि के भीतर मानते हैं, परन्तु दण्डी के अनुसार दोनों भिन्न हैं। भामह के अनुसार स्वभाव-कथन भी अपने ढंग से वक्र-कथन होगा, परन्तु दण्डी स्वभाव-कथन को वक्र-कथन से निश्चय ही पृथक तथा कम महत्वपूर्ण मानते हैं—काव्य के लिए वह अनिवार्य नहीं है—ईप्सित अथवा वांछनीय मात्र है : काव्येष्वप्येतदीप्सितम् २।१३।

इस प्रकार वक्रोक्ति के विषय में दण्डी का अभिमत भामह के मत से मूलतः भिन्न नहीं है।

(१) वक्रोक्ति को उन्होंने व्यापक अर्थ में ही ग्रहण किया है—वह विशिष्ट अलंकार न होकर सर्व-सामान्य अलंकार है।

(२) वक्रोक्ति अतिशयोक्ति से अभिन्न है।

(३) किन्तु वह स्वभावोक्ति से भिन्न है, यद्यपि उसके विपरीत नहीं है। स्वभावोक्ति शास्त्र का सहज माध्यम है—काव्य में भ वह वांछनीय है, उधर वक्रोक्ति काव्य का अनिवार्य माध्यम है।

वामन

वामन ने वक्रोक्ति को सामान्य अलंकार न मानकर विशिष्ट ही माना है—किन्तु परवर्ती आचार्यों की स्वीकृत मान्यता के विपरीत उनकी वक्रोक्ति शब्दालंकार न होकर अर्थालंकार है और उसका लक्षण है : सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः

(काव्यालंकार सूत्र ४।३।८)

अर्थात् 'लक्षणा के बहुत से निबन्ध होते हैं, उनमें से सादृश्यनिबन्धना लक्षणा ही वक्रोक्ति कहलाती है। असादृश्यनिबन्धना लक्षणा वक्रोक्ति नहीं होती (वृत्ति)"। वामन की इस धारणा का आधार क्या है यह कहना कठिन है, किन्तु वक्रोक्ति की यह परिभाषा प्रायः उनके पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलती और अन्ततः स्वीकार्य भी नहीं हुई—उसका केवल ऐतिहासिक महत्व ही रहा। यह परिभाषा एक ओ वामन के पूर्ववर्ती दण्डी के समाधिगुण लक्षण का स्मरण दिलाती है और दूसरी ओर उनके परवर्ती आनन्दवर्धन की ध्वनि-कल्पना का पूर्व-संकेत देती है। लक्षणा में थोड़ी सी वक्रता अवश्य रहती है—अभिधा से भिन्नता ही वक्रता है, परन्तु फिर यह प्रश्न उठता है कि केवल सादृश्यनिबन्धना लक्षणा को ही वक्रोक्ति क्यों माना गया है : विपरीत लक्षणा आदि वक्रतर रूपों को क्यों छोड़ दिया गया है ?

यह तो हुआ विशिष्ट अर्थ। सामान्य अर्थ में भी वक्रोक्ति की वामन ने सर्वथा उपेक्षा की है, यह नहीं कहा जा सकता। वामन की विशिष्टा पदरचना रीति में विशिष्टता वक्रता से एकांत भिन्न नहीं है। वामन के शब्दों में विशेष का अर्थ है गुणात्मा और उनके अनेक शब्द तथा अर्थ गुणों में वक्रोक्ति के अनेक रूपों का स्पष्ट अन्तर्भाव है। उदाहरण के लिए वामन के ओज, श्लेष, उदारता, कान्ति आदि अनेक शब्दगुणों में कुंतक की वर्ण-विन्यास-वक्रता का अन्तर्भाव है।—कान्ति में जहाँ पद-रचना उज्ज्वल होती है और जिसके अभाव में रचना पुराण की छाया-सी लगती है, और उदारता में जहां पद नृत्य-सा करते प्रतीत होते हैं, वर्ण-वक्रता अत्यन्त

मुखर रूप में प्रकट है। इसी प्रकार अर्थगुण ओज की अर्थप्रौढ़ि का वह रूप, जिसका मूल चमत्कार है साभिप्राय-विशेषण-प्रयोग, निश्चय ही कुंतक की पर्याय-वक्रता अथवा विशेषण-वक्रता का समानधर्मा है।

उक्तिवैचित्र्यमय अर्थगुण माधुर्य पदार्थ-वक्रता का ही रूप है। यही उदारता के विषय में कहा जा सकता है—उसमें ग्राम्य अर्थ का अभाव रहता है और यह अभाव पदार्थ-वक्रता का द्योतक है। सौकुमार्य में अप्रिय (अपरुष) अर्थ में प्रिय शब्द का प्रयोग होता है: यह कुंतक की पद-वक्रता का एक रूप है। वामन के अर्थगुण श्लेष की परिभाषा है: क्रियाओं का ऐसी चतुराई के साथ एकत्र वर्णन करना कि सम्बन्धित व्यक्ति उसे समझ न सके। यहाँ भी चतुराई (मूल शब्द—कौटिल्य) वक्रता का ही द्योतक है—भोज के टीकाकार रत्नेश्वर का भी यही मत है। उनके मत से अर्थगुण समता में भी वक्रता है, परन्तु वास्तव में वह अधिक स्पष्ट नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि वामन ने अपने ढंग से वक्रता के अनेक रूपों का वर्णन किया है—केवल वक्रता या वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया। वक्रता के व्यापक रूप की कल्पना उन्होंने प्रकारान्तर से अपने सिद्धान्त के अनुसार निश्चय ही की है—उसका लोकोत्तर चमत्कार उन्हें पूर्णतया ग्राह्य है—केवल शब्दावली भिन्न है।

रुद्रट

रुद्रट वामन से एक पग और आगे बढ़े—उन्होंने वक्रोक्ति को सामान्य अलंकार की पदवी से च्युत तो किया ही, साथ ही उससे अर्थालंकार का पद भी छीन लिया। वक्र उक्ति का अर्थ वक्रीकृता उक्ति करते हुए उन्होंने उसे वाक्छल पर आश्रित शब्दालंकार मात्र माना—और इस प्रकार वक्रोक्ति-चिंतन में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी। रुद्रट ने इस वक्रोक्ति के दो भेद किये हैं: (१) काकु वक्रोक्ति और (२) भंग-श्लेष वक्रोक्ति। काकु में उच्चारण और स्वर के उतार-चढ़ाव द्वारा उक्ति का वक्र अर्थ किया जाता है और भंग-श्लेष में श्लेष के द्वारा। रुद्रट की स्थापना का प्रभाव कवियों पर भी पड़ा और उनके कुछ ही समय उपरान्त रत्नाकर नामक कवि ने भंग-श्लेष का चमत्कार प्रदर्शित करते हुए 'वक्रोक्ति-पंचाशिका' की रचना की।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति का स्वतंत्र विवेचन नहीं किया। ध्वन्यालोक में वक्रोक्ति शब्द का उल्लेख, दूसरे उद्योत की २१ वीं कारिका की वृत्ति के अंतर्गत, केवल एक स्थान पर ही मिलता है "तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालंकार व्यवहार एव।" इससे यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन ने उसे विशिष्ट अलंकार के रूप में ग्रहण किया

है और कदाचित् रुय्यक की भाँति अर्थालंकार माना है । परन्तु यह बात नहीं है—तृतीय उद्योत में उसके सामान्य रूप की भी स्पष्ट स्वीकृति है जहां उन्होंने भामह की वक्रोक्ति-विषयक इस प्रसिद्ध स्थापना की पुष्टि की है :—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ।।

अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति की पर्यायता स्वीकार करते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है : + + 'सबसे पहले तो सभी अलंकार अतिशयोक्ति-गर्भ हो सकते हैं । महाकवियों द्वारा विरचित वह (अन्य अलंकारों की अतिशयोक्तिगर्भता) काव्य को अनिर्वचनीय शोभा प्रदान करती है । अपने विषय के अनुसार किया हुआ अतिशयोक्ति का सम्बन्ध (योग) काव्य में उत्कर्ष क्यों नहीं लाएगा । भामह ने भी अतिशयोक्ति के लक्षण में यह कहा है :—(जो अतिशयोक्ति पहले कह चुके हैं, सब अलंकारों की चमत्कार-जननी) यह सब वही वक्रोक्ति है । इसके द्वारा पदार्थ चमक उठता है । कवियों को इसमें विशेष प्रयत्न करना चाहिए । इसके बिना अलंकार ही क्या है ?

उसमें कवि की प्रतिभावश अतिशयोक्ति जिस अलंकार को प्रभावित करती है, उसको (ही) शोभातिशय प्राप्त होता है । अन्य तो (चमत्कारातिशय-रहित) अलंकार ही रह जाते हैं । इसी से सभी अलंकारों का रूप धारण कर सकने की क्षमता के कारण अभेदोपचार से वही सर्वालंकाररूप है, यही अर्थ समझना चाहिए ।"—(हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० ३६४-६५)

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि आनन्दवर्धन के मत से

(१) वक्रोक्ति अतिशयोक्ति की पर्याय एवं सर्वालंकाररूपा है,

(२) उसका चमत्कार कवि-प्रतिभाजन्य है,

(३) विषय का औचित्य उसका नियामक है अर्थात् वक्रता अथवा अतिशय का प्रयोग विषय के अनुकूल ही होना चाहिए ।

इस तीसरे तथ्य के द्वारा आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति को अपने सिद्धान्त के अनुशासन में ले लिया है ।

प्रत्यक्ष रूप में आनन्दवर्धन के ग्रन्थ में वक्रोक्ति की इतनी ही चर्चा है । और वह भी अतिशयोक्ति के द्वारा । किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में उनके ध्वनि-निरूपण का कुंतक के वक्रोक्ति-विवेचन पर गहरा और व्यापक प्रभाव है । वक्रक्ति-जीवितम् की रूपरेखा

का विधान ही कुंतक ने ध्वन्यालोक के आधार पर किया है : दोनों ग्रन्थों की निरूपण-योजनाएं समानान्तर रूप से चलती हैं। इसके अतिरिक्त वक्रोक्ति-जीवितम् में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जहाँ ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है : उदाहरण के लिए वक्रोक्ति का विस्तार भी ध्वनि की भाँति वर्ण तथा प्रत्यय, विभक्ति आदि से लेकर सम्पूर्ण प्रबन्ध काव्य तक माना गया है : वर्ण-विन्यास-वक्रता और वर्ण-ध्वनि, पद-वक्रता और पद-ध्वनि में कोई मौलिक भेद नहीं है। अनेक चमत्कार-भेद तो ऐसे हैं जिनमें केवल ध्वनि और वक्रोक्ति का नाम-भेद मात्र है—आनन्द ने उसे ध्वनि कहा है कुंतक ने वक्रोक्ति। आनन्दवर्धन की उक्ति है :

सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्-तद्धित-समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्॥ (३।१६ ध्वन्यालोक) + + + च शब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते।

अर्थात् सुप (प्रथमादि विभक्तियां), तिङ् (क्रिया विभक्तियां), वचन, सम्बन्ध (षष्ठी विभक्ति), कारक शक्ति, कृत् (धातु से विहित तिङ् भिन्न प्रत्यय), तद्धित और समास से कहीं-कहीं असलंक्ष्यक्रम ध्वनि अभिव्यक्त होती है।

+ + + च शब्द से निपात, उपसर्ग, कालादि के प्रयोग से अभिव्यक्त होता देखा जाता है।

इन भेदों की व्याख्या में ध्वनिकार ने अनेक उदाहरण दिये हैं जिनमें विभक्तियां, क्रिया-रूप, वचन, कारक, काल, उपसर्ग, निपात आदि की ध्वनि अन्तर्भूत है। इनमें से कतिपय उदाहरण कुन्तक ने उसी प्रसंग में यथावत् उठा कर रख दिये हैं—उदाहरण के लिए शाकुन्तलम् का यह उद्धरण 'कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु—अर्थात् किसी प्रकार शकुन्तला के मुख को ऊपर उठा तो लिया किन्तु चूम नहीं सका' दोनों में क्रमशः 'तु' की निपात-ध्वनि और निपात-वक्रता को उदाहृत करने के लिए दिया है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी संकलित किये जा सकते हैं। पदार्थ-वक्रता और पदार्थ-ध्वनि के मूल रूप भी तत्वतः भिन्न नहीं हैं—और यही बात अंशतः प्रबन्ध-वक्रता और प्रबन्ध-ध्वनि के विषय में भी कही जा सकती है। उदाहरण के लिए प्रबन्ध-वक्रता के अंतिम रूप को स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने लिखा है "नये नये उपायों से सिद्ध होने वाले, नीतिमार्ग का उपदेश करने वाले महाकवियों के सभी (प्रबन्ध-काव्य तथा नाटक आदि) ग्रन्थों में (अपना-अपना कुछ अपूर्व) सौन्दर्य (वक्रभाव) रहता ही है।" हिन्दी वक्रोक्तिजीवित ४।२६॥ इसको आधुनिक आलोचना-शास्त्र में

मूलार्थ कहते हैं—भोज ने इसे महावाक्यार्थ कहा है, और यही ध्वनिकार की प्रबन्ध-ध्वनि है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि कुन्तक ने आनन्दवर्धन की ध्वनि-कल्पना से निश्चय ही वक्रोक्ति के संकेत ग्रहण किये हैं।

अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति का सामान्य रूप ग्रहण किया है। भामह के वक्रोक्ति-लक्षण—

वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचां त्वलङ्कृतिः।

काव्यालंकार १।३२६

की व्याख्या करते हुए अभिनव ने लिखा है : शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेण अवस्थानम्। + + लोकोत्तरेण चैवातिशयः। तेन अतिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम् ॥लोचन पृ० २०८॥ अर्थात् शब्द और अर्थ की वक्रता का आशय है उनका लोकोत्तर रूप से अवस्थान। लोकोत्तर का अर्थ है अतिशय। इस प्रकार अतिशयोक्ति सामान्य अलंकार है। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ध्वनि की भूमिका बाँधते हुए आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनःप्रह्लादि सालंकृति,
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।

+ + + +

अभिनवगुप्त ने इस श्लोक को मनोरथ कवि का मानते हुए, 'वक्रोक्तिशून्यं च यत्' पर टिप्पणी की है "वक्रोक्तिशून्येन शब्देन सर्वालंकाराभावश्च उक्तः।" अतएव यहाँ भी वे वक्रोक्ति की अलंकार-सामान्यता की पुष्टि करते हैं।

अभिनव, भोज और कुन्तक प्रायः समकालीन ही थे। भोज के विशेषज्ञ डा० राघवन का मत है कि भोज और कुन्तक दोनों प्रायः एक ही समय में अवन्तिका और काश्मीर में बैठ कर परस्पर अपरिचित रहते हुए भामह के वक्रोक्ति (अलंकार)-वाद की पुनर्प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न कर रहे थे। वास्तव में इन दोनों के विवेचन में इतना अधिक अर्थ-साम्य है कि डा० राघवन की स्थापना में शंका होने लगती है। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो इन दोनों ने भामह के किसी अद्यावधि-अज्ञात व्याख्याकार का आश्रय लिया था अथवा इनमें किसी एक ने, सम्भवतः भोज ने, दूसरे के ग्रंथ का अध्ययन किया था। परन्तु यह हमारे विवेचन-क्षेत्र से बाहर का विषय है सामान्यतः हम डा० राघवन के प्रामाणिक अनुसन्धान को अमान्यता देने के अधिकारी नहीं है।

भोज ने वक्रोक्ति का यथेष्ट मनोनिवेशपूर्वक विवेचन किया है—उनके शृंगारप्रकाश और सरस्वतीकण्ठाभरण दोनों में वक्रोक्ति-विषयक अनेक उक्तियाँ बिखरी हुई हैं जिनके आधार पर डा० राघवन ने अपने 'भोज का शृंगार प्रकाश' नामक ग्रंथ में भोज-कृत वक्रोक्ति-विवेचना की बड़ी प्रामाणिक समीक्षा की है। भोज ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की वक्रोक्ति-विषयक धारणाओं का समन्वय प्रस्तुत कर दिया है। उनसे पूर्व वक्रोक्ति के विषय में चार धारणाएँ थी—

१. भामह की धारणा—जिसके अनुसार वक्रोक्ति काव्य-सौन्दर्य का पर्याय है और उसके अन्तर्गत रस, अलंकार तथा स्वभावकथन आदि सभी आ जाते हैं।

२. दण्डी की धारणा—जो भामह की धारणा से केवल इस बात में भिन्न है कि उसमें स्वभाव-कथन का अन्तर्भाव नहीं है। इस प्रकार दण्डी की वक्रोक्ति भामह की वक्रोक्ति से थोड़ी-सी संकीर्ण है।

३. वामन की धारणा—जिसके अनुसार वक्रोक्ति सादृश्य-गर्भा लक्षणा पर आश्रित अर्थालंकार है।

४. रुद्रट की धारणा—जिसके अनुसार वक्रोक्ति वाक्छल रूप शब्दालंकार है।

भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगारप्रकाश में उपर्युक्त चारों धारणाओं को ग्रहण किया है।

सबसे पूर्व भामह की व्यापक धारणा को लीजिए। भोज ने शृंगारप्रकाश में लिखा है :

क: पुनरनयो: काव्यवचसो: ध्वनितात्पर्ययो: विशेष: ?

उच्यते— यदवक्रं वच: शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
वक्रं यदर्थवादौ तस्य काव्यमिति स्मृति: ॥

शृंगारप्रकाश ६,६, पृ० ४२७

अर्थात् शास्त्र और लोक में जो अवक्र वचन है उसका नाम वचन है, और अर्थवाद आदि में (निन्दास्तुति-विषयक अतिशयोक्ति में) जो वक्रता है उसका नाम काव्य है।

शृंगारप्रकाश के द्वितीय खण्ड में इसको और भी स्पष्ट किया गया है : इत्येतदपि सर्वालंकारसाधारणं लक्षणं अनुसर्तव्यम्। अस्मिन् सति सर्वालंकारजातयो वक्रोक्त्यभिधानवाच्या भवन्ति। तदुक्तम्—

वक्रत्वमेव काव्यानां पराभूषेति भामहः ।

इस सबका तात्पर्यार्थ यह है—'अलंकारों के इस सामान्य लक्षण का अनुसरण करना चाहिए ।' इस प्रकार सभी अलंकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं ।

दण्डी ने वक्रोक्ति की परिधि से स्वभावोक्ति का बहिष्कार कर उसको थोड़ा-सा संकुचित कर दिया है । उनके मतानुसार वक्रोक्ति समस्त काव्य की पर्याय तो नहीं है, किन्तु स्वभावोक्ति के अतिरिक्त उपमा, रसवदादि अन्य सभी अलंकारों की पर्याय है । भोज ने दण्डी का यह ईषत्-संकुचित अर्थ भी ग्रहण किया है, तथा उसका थोड़ा और भी संकोचन कर दिया है । भामह ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत काव्य का समग्र रूप ग्रहण किया था, दण्डी ने स्वभावोक्ति को पृथक कर दिया, और भोज ने रस-सिद्धान्त की मान्यता स्वीकार करते हुए रस को भी स्वतंत्र कर दिया :

वक्रोतिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।

सरस्वतीकण्ठाभरण ५।८

अर्थात् वाङ्मय के तीन रूप हैं : वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति । त्रिविधः खलु अलंकारवर्गः वक्रोक्तिः स्वभावोक्तिः रसोक्तिरिति । तत्रोपमाद्यलंकारप्राधान्ये वक्रोक्तिः सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः विभावानभावव्यभिचारिसंयोगात्तु रसनिष्पत्तौ रसोक्ति-रिति । शृंगारप्रकाश २।११ । अर्थात् अलंकार (काव्यसौन्दर्य) के तीन रूप होते हैं : उपमादि अलंकारों का प्राधान्य होने पर वक्रोक्ति होती है, गुण का प्राधान्य स्वभावोक्ति का द्योतक है और विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति होने पर रसोक्ति होती है । इस प्रकार वक्रोक्ति की सामान्य धारणा क्रमशः संकुचित होती गयी ।

भामह की वक्रोक्ति का अर्थ था का सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य जिसमें स्वभावोक्ति, उपमादि अलंकार तथा रस-प्रपंच सभी कुछ अंतर्भूत था, तथा दण्डी के लिए उसका अर्थ था उपमादि अलंकार-प्रपंच एवं रस-प्रपंच, और भोज ने वक्तोक्ति का अर्थ किया केवल उपमादि अलंकार-प्रपंच ।

वामन की सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः बहुत कुछ मनमानी कल्पना थी—परवर्ती आचार्यों में वह मान्य नहीं हुई । किन्तु भोज की सारग्राहिणी दृष्टि ने उसको भी नहीं छोड़ा । शृंगार-प्रकाश के शब्द-शक्ति प्रसंग में लक्षणा की परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं :

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं[1] वृत्तिरिष्यते ॥

अर्थात् लक्षणा वक्रोक्ति का प्राण है। किन्तु वामन और भोज के विवेचन में एक अन्तर है—और वह यह कि वामन ने केवल सादृश्य-गर्भा लक्षणा में ही वक्रोक्ति की स्थिति मानी है जब कि भोज ने सभी प्रकार की लक्षणा को उसका मूलाधार माना है। जैसा कि हमने वामन के प्रसंग में निर्देश किया है, वामन की अपेक्षा भोज का मत अधिक ग्राह्य है क्योंकि लक्षणा के केवल सादृश्य-मूलक रूप में ही वक्रता की इयत्ता मान लेना निराधार कल्पना है।

चौथी धारणा है रुद्रट की जो वक्रोक्ति को वाक्छल पर आश्रित शब्दालंकार मात्र मानते हैं। भोज ने यह विशिष्ट तथा क्षुद्र रूप भी पूर्ण आग्रह के साथ स्वीकार किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को शब्दालंकार ही माना है—किन्तु रुद्रट की परिभाषा में थोड़ा परिवर्तन-संशोधन करते हुए। वक्रोक्ति का वाक्छल रूप चमत्कार सर्वत्र कथोपकथन में ही प्रकट होता है अतएव उन्होंने वाकोवाक्य (कथोपकथन) नाम से एक नवीन शब्दालंकार की कल्पना की है। वाकोवाक्य के छः भेद हैं—जिनमें से एक है वक्रोक्ति। वक्रोक्ति में भोज ने केवल श्लेष वक्रोक्ति को ही स्वीकार किया है—काकु वक्राक्ति को उन्होंने 'पठिति' नामक एक पृथक् शब्दालंकार माना है। उपर्युक्त श्लेष वक्रोक्ति के दो भेद हैं : निर्व्यूढ़ और अनिर्व्यूढ़—निर्व्यूढ़ वक्रोक्ति समस्त छन्द में व्याप्त रहती है, अनिर्व्यूढ़ एकदेशीय होती है।

परवर्ती आचार्य : वक्रोक्ति की विशिष्ट अलंकार रूप में स्वीकृति

भोज के उपरांत मम्मट आदि ने वक्रोक्ति का विशेष रूप ही स्वीकार किया। मम्मट ने उसे रुद्रट के अनुसरण पर शब्दालंकार ही माना—और काकु तथा भंग-श्लेष, इन दो रूपों के अतिरिक्त अभंगश्लेष वक्रोक्ति नामक एक तीसरा रूप भी परिकल्पित किया। रुय्यक ने एक बार फिर उसके सामान्य रूप की चर्चा की किन्तु उसे माना विशेष अलंकार ही :—

१. यह शब्द हमारे इस अनुमान को पुष्ट करता है कि भोज ने कुन्तक का वक्रोक्ति-जीवितम् देखा था।

वक्रोक्तिशब्दश्च अलंकारसामान्यवचनोऽपि इह अलंकार विशेषे संज्ञितः
अलंकार सर्वस्व, पृ० १७७

पर रुय्यक की स्थिति मम्मट से भिन्न है—रुय्यक ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है—शब्दालंकार नहीं। विद्यानाथ और अप्पय दीक्षित का भी यही मत था। अन्ततः मम्मट का मत ही ग्राह्य हुआ—और विश्वनाथ आदि ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार मात्र माना। विश्वनाथ ने वक्रोक्ति के सामान्य रूप की सर्वथा उपेक्षा करते हुए कुन्तक ने सिद्धान्त को एक वाक्य में उड़ा दिया : वक्रोक्तेरलंकारविशेषरूपत्वात्।

इस प्रकार वक्रोक्ति के स्वरूप का विकास अत्यन्त मनोरंजक है—भामह से लेकर विश्वनाथ तक उसके गौरव में आकाश पाताल का अन्तर पड़ गया। काव्य-सौन्दर्य के मूल आधार से स्खलित होकर वह वाक्छल मात्र रह गयी।

कुन्तक द्वारा वक्रोक्ति की स्थापना

कुन्तक ने वक्रोक्ति का मौलिक व्याख्यान करते हुए उसे काव्य के आधारभूत एवं सर्वग्राही रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने भामह से प्रेरणा ग्रहण कर—वक्रता को काव्य का मूलतत्व मानते हुये उसी के आधार पर काव्य के सर्वांग की व्याख्या प्रस्तुत की। काव्य का काव्यत्व उसके आश्रित है, काव्य के सभी रूपों में उसकी अनिवार्य स्थिति है—काव्य के सभी अंग उसमें अंतर्भूत हैं। इस प्रकार कुन्तक के विवेचन में वक्रोक्ति मौलिक तत्व से सर्वव्यापक तत्व बनी, और अन्त में एक व्यवस्थित सिद्धान्त तथा काव्य-सम्प्रदाय बन गई।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अनुसार वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है। अतएव वक्रोक्ति के स्वरूप को हृदयंगम करने के लिए पहले इस सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्य का स्वरूप स्पष्ट कर लेना चाहिए।

वक्रोक्ति सिद्धान्त के अंतर्गत काव्य का स्वरूप

कुन्तक ने वक्रता की व्याख्या करने से पूर्व काव्य के स्वरूप को ही स्पष्ट किया है। वक्रोक्तिजीवितम् के प्रथम उन्मेष में काव्य के स्वरूप का विस्तृत व्याख्यान है।

आरम्भ में काव्य का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ करते हैं :—

कवेः कर्म काव्यम्। १,२ (वृत्ति), अर्थात् कवि का कर्म काव्य है। इसको स्पष्ट करते हुए आगे चलकर कहते हैं :

+ + + तत्वं सालंकारस्य काव्यता।१,६।

अयमत्र परमार्थः। सालंकरस्यालंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वम्। तेन अलंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति।

अर्थात् सालंकार (शब्दार्थ) की काव्यता है, यह यथार्थ (तत्व) है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अलंकार सहित अर्थात् अलंकरण सहित सम्पूर्ण अर्थात् अवयव-रहित समस्त समुदाय की काव्यता अर्थात् कविकर्मत्व है। इसलिये अलंकृत का ही काव्यत्व है (अर्थात् अलंकार काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है) न कि काव्य में अलंकार का योग होता है। (हिन्दी वक्रोक्ति जीवित पृ० १७)

इसके तीन निष्कर्ष निकलते हैं :

(१) सालंकार शब्द-अर्थ ही काव्य है।

(२) अलंकार काव्य का मूल तत्व है बाह्य भूषण मात्र नहीं है।

(३) काव्यत्व की स्थिति अलंकार और अलंकार्य शब्द-अर्थ के अवयव-रहित समस्त समुदाय में ही रहती है।

'उपर्युक्त कारिका में काव्य का अस्पष्ट-सा स्वरूप-निरूपण किया है', इसलिये काव्य का व्यवस्थित लक्षण करते हैं :

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ १।७।

—काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द देने वाली सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार-युक्त रचना (बन्ध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर (सहित रूप में) काव्य कहलाते हैं।

इस कारिका पर स्वयं कुन्तक की वृत्ति है :

शब्दार्थौ काव्यं अर्थात् वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) दोनों मिलकर काव्य हैं, (अलग अलग नहीं)। दो (शब्द और अर्थ मिलकर) एक (काव्य कहलाते) हैं, यह विचित्र ही उक्ति है। (हम वक्रोक्ति को काव्य का जीवित निर्धारित करने जा रहे हैं, यह बात काव्य के लक्षण से स्पष्ट होती है। शब्द और अर्थ ये दोनों मिलकर एक काव्य नाम को प्राप्त करते हैं, यह कथन स्वयं एक प्रकार की वक्रोक्ति से पूर्ण होने से वक्रोक्ति है)। इसलिये यह जो किन्ही का मत है कि कवि-कौशल से कल्पित किया गया है सौन्दर्यातिशय जिसका ऐसा केवल शब्द ही काव्य है, और किन्हीं का रचना के वैचित्र्य से चमत्कारकारी अर्थ ही काव्य है (यह जो मत है), ये दोनों मत खण्डित हो जाते हैं (न केवल शब्द को और न केवल अर्थ को काव्य कहा जा सकता है, अपितु शब्द और अर्थ दोनों मिल कर काव्य कहलाते हैं) इसलिए जैसे प्रत्येक तिल में तैल रहता है, इसी प्रकार इन दोनों (शब्द तथा अर्थ) में तद्विदाह्लादकारित्व होता है। किसी एक में नहीं।

यह बात निश्चित हुई कि न केवल रमणीयता विशिष्ट शब्द काव्य है और न (केवल) अर्थ ॥ हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ० १८-१६ ॥

इस विवेचन का सारांश यह है कि शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य है—केवल शब्द-सौन्दर्य अथवा केवल अर्थ-चमत्कार काव्य नहीं हो सकता।

किन्तु 'साहित्य' शब्द की क्या सार्थकता है ? यह प्रश्न उठ सकता है। कुन्तक ने स्वयं यह प्रश्न उठा कर इसका समाधान किया है :

(प्रश्न) वाच्य और वाचक के सम्बन्ध के (नित्य) विद्यमान होने से इन दोनों (शब्द और अर्थ) के साहित्य (सहभाव) का अभाव कभी नहीं होता है। (तब शब्दार्थौ सहितौ काव्यं यह कहने का क्या प्रयोजन है ?)

(उत्तर) सत्य है। किन्तु यहां विशिष्ट 'साहित्य' अभिप्रेत है। कैसा ? वक्रता से विचित्र गुण तथा अलंकार-सम्पत्ति की परस्पर-स्पर्धा-रूप। इसलिए मेरे मत में सर्वगुणयुक्त और मित्रों के समान पस्परर संगत शब्द और अर्थ दोनों एक दूसरे के लिए शोभाजनक होते हैं (वे ही काव्य पद वाच्य होते हैं॥ हिन्दी व० जी० पृ० २५-२६ वीं कारिका की वृत्ति)॥

इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने अन्यत्र लिखा है: साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम्। अर्थात् साहित्य का अर्थ यह है कि शब्द अर्थ का समान महत्व हो—किसी एक का भी महत्व न न्यून हो और न अतिरिक्त।

क्योंकि समर्थ शब्द के अभाव में अर्थ स्वरूपतः स्फुरित होने पर भी निर्जीव सा ही रहता है। शब्द भी काव्योपयोगी (चमत्कारी) अर्थ के अभाव में (किसी साधारण), अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का भारभूत सा प्रतीत होने लगता है। प्रथम उन्मेष, ६वीं का० वृत्ति॥

अतएव कुन्तक के मतानुसार साहित्य शब्द का अर्थ हुआ शब्द-अर्थ का पूर्ण सामंजस्य। यह सामंजस्य वाचक-वाच्य का सामान्य सहभाव न होकर विशिष्ट सहभाव है जो वक्रता-वैचित्र्य तथा गुणालंकार-सम्पदा से युक्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें शब्द के सम्पूर्ण सौन्दर्य और अर्थ के सम्पूर्ण चमत्कार दोनों का सम्यक् सामंजस्य रहता है। यह विशिष्ट सहभाव है। विशिष्ट सहभाव का अर्थ यह है कि इसके शब्द और अर्थ दोनों साधारण, चमत्कार-शून्य न होकर विशिष्ट होते हैं:—

(पर्यायवाची) अन्य (शब्दों) के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक (शब्द ही वस्तुतः) शब्द (कहलाता) है। इसी प्रकार सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाला अपने स्वभाव से सुन्दर (पदार्थ ही काव्यमार्ग में वस्तुतः) अर्थ है॥ प्रथम उन्मेष ६वीं कारिका की वृत्ति॥

इसलिए (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—इस काव्यलक्षण में) इस प्रकार के विशिष्ट शब्द और अर्थ का ही लक्षण लेना चाहिए। (१।१३ वीं कारिका की वृत्ति)

अब केवल एक शब्द रह जाता है जिसकी व्याख्या अपेक्षित है, और वह है तद्विदाह्लादकारी। कुन्तक ने स्वयं अपना आशय स्पष्ट किया है। तत् का अर्थ है काव्य और विद् का अर्थ है मर्मज्ञ। अतएव तद्विदाह्लाद से अभिप्राय काव्य-मर्मज्ञ या सहृदय के आह्लाद से ही है। "इसका अभिप्राय यह हुआ कि यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है फिर भी उस प्रकार के धर्म से इसका सम्बन्ध-वर्णन किया

जाता है जो धर्म विशेष सहृदयों के आनन्द उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है और उस (धर्म में) ऐसी सामर्थ्य सम्भव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रस को परिपुष्ट करने की अंगता अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है।" १।९ वीं कारिका की वृत्ति ॥ इस प्रकार कुन्तक के अनुसार सहृदय-आह्लादकारित्व के दो आधार हैं—

(१) अपूर्वता अर्थात् वैचित्र्य अथवा असाधारणता और (२) रस-पोषण की शक्ति।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर, काव्य के लक्षण तथा स्वरूप के विषय में कुन्तक की मान्यताओं का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) काव्य का आधार शब्द-अर्थ है—यह शब्द-अर्थ साधारण न होकर विशिष्ट होता है। विशिष्ट शब्द से तात्पर्य यह है कि अनेक पर्याय रूपों के रहते हुए भी केवल एक शब्द ही विवक्षित अर्थ का अनिवार्यतः वाचक होता है। वाचक का प्रयोग यहां रूढ़ अर्थ में नहीं है—उसमें द्योतक तथा व्यंजक का भी अन्तर्भाव है। विशिष्ट अर्थ से अभिप्राय यह है कि पदार्थ के अनेक धर्मों में से केवल उसी धर्म का ग्रहण किया जाता है जिसमें अपूर्वता तथा रस-पोषण की शक्ति हो।

(२) काव्य के लिए इस विशिष्ट शब्द-अर्थ का पूर्ण साहित्य अनिवार्य है। साहित्य का अर्थं है पूर्ण सामंजस्य : शब्द और अर्थ दोनों का महत्व सर्वथा समान होना चाहिए। किन्तु यह तो अभावात्मक स्थिति हुई। शब्द-अर्थ का यह साहित्य भावात्मक रूप से गुणालंकार-सम्पदा से यक्त होना चाहिए। इसमें शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य अहमहमिका से एक दूसरे के साथ स्पर्धा करते हैं। अर्थात् काव्य में शब्द अपने समस्त सौन्दर्य के साथ और अर्थ अपनी समस्त रमणीयता के साथ परस्पर पूर्णतया समंजित रहते हैं।

(३) यह सामंजस्य शब्द-अर्थ के बन्ध अर्थात् रचना या क्रमबन्धन में व्यक्त होता है। यह रचना सामान्य व्यवहार की वचन-रचना से भिन्न वक्रतापूर्ण एवं कविकौशल-युक्त होती है। कुन्तक की शब्दावली में वक्रता अलंकार अथवा कविकौशल का ही पर्याय है—अतएव वक्रकविव्यापारशाली बन्ध का स्पष्ट अर्थ है कविकौशलपूर्ण रचना। सालंकारस्य काव्यता में भी उन्होंने यही बात कही है।

(४) यह सम्पूर्ण व्यवस्था—शब्द, अर्थ, उनका साहित्य, कवि-कौशल, तथा रचना—सहृदय-आह्लादकारी होती है।

निष्कर्ष यह है कि कुन्तक के अनुसार काव्य उस कविकौशलपूर्ण रचना को कहते हैं जो अपने शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य के अनिवार्य सामंजस्य द्वारा काव्य-मर्मज्ञ को अह्लाद देती है।

आधुनिक काव्य-शास्त्र की शब्दावली में कुन्तक की स्थापनाएं इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं :—

(१) काव्य में वस्तु-तत्व और माध्यम का—अनुभूति और अभिव्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य रहता है।

(२) काव्य का वस्तु-तत्व साधारण न होकर विशिष्ट होता है—अर्थात् उसमें ऐसे तथ्यों का वर्णन नहीं होता जो अपनी सामान्यता में प्रभावहीन हो गये हैं—वरन् उन अनुभवों की अभिव्यक्ति होती है जो रमणीय—अर्थात् विशेष प्रभावोत्पादक होते हैं।

(३) काव्य में अभिव्यंजना की अद्वितीयता रहती है—अर्थात् किसी विशेष अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए केवल एक ही शब्द अथवा शब्दावली का प्रयोग सम्भव होता है।

(४) अलंकार काव्य का मूल तत्व है, बाह्य भूषण मात्र नहीं है। अतएव अलंकार और अलंकार्य में मौलिक भेद नहीं है—केवल व्यवहार के लिए भेद मान लिया जाता है।

(५) काव्य का काव्यत्व कविकौशल पर आश्रित है—दूसरे शब्दों में काव्य एक कला है।

(६) काव्य-मर्मज्ञों का मनःप्रसादन काव्य की कसौटी है।

भारतीय काव्यशास्त्र में कुन्तक मूलतः देहवादी आचार्य हैं—अतएव उनका संसर्ग भामह, दण्डी तथा वामन आदि अलंकार-रीतिवादियों के साथ स्वभाव से ही अधिक घनिष्ठ है। उनका काव्य-लक्षण भी इन पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षणों की परम्परा का ही विकास है। भामह का काव्यलक्षण है : शब्दार्थौ सहितौ काव्यं। दण्डी ने इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली को काव्य संज्ञा दी है। और उधर वामन ने गुण से अनिवार्यतः तथा अलंकार से सामान्यतः विभूषित दोषरहित शब्दार्थ को काव्य माना है। कुन्तक की परिभाषा पर इनका स्पष्ट प्रभाव है—वास्तव में यह कहना चाहिए कि कुन्तक की परिभाषा में इन तीनों की तात्विक व्याख्या मिलती है।

परिभाषा का मूल अंश 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' यथावत् भामह का ही उद्धरण है। 'वक्रकविव्यापारशालिनि बन्धे व्यवस्थितौ—अर्थात् वक्रतापूर्ण कविकौशलयुक्त रचना में व्यवस्थित' वामन के 'गुणालंकारसंस्कृतयोः—अर्थात् गुण तथा अलंकार से विभूषित' का ही रूपान्तर है। बन्ध शब्द वामन की रीति या पदरचना का स्मरण दिलाता है, वक्रतापूर्ण कविकौशल गुण तथा अलंकार का ही समष्टि रूप है—कुन्तक कविकौशल की सिद्धि वक्रोक्ति में मानते हैं, वामन गुण तथा अलंकार-योजना में, दोनों का अभिप्राय एक ही है। आरम्भ में स्वयं कुन्तक ने 'सालंकारस्य काव्यता' कह कर केवल अलंकार को ही उक्त अर्थ में प्रयुक्त किया है। अलंकारवादी अथवा देहवादी समस्त आचार्य अलंकार में ही सम्पूर्ण काव्यकौशल को निहित मानते थे—भामह और दण्डी ने इस व्यापक अर्थ में अलंकार शब्द का ही प्रयोग किया है, वामन ने भी अलंकार को काव्य-सौन्दर्य का पर्याय मान कर उक्त अर्थ को यथावत् ग्रहण किया है, और गुण तथा उपमादि विशेष अलंकारों को इस व्यापक अलंकार के ही अंग माना है।[1] कुन्तक ने भी अलंकार का पहले यही व्यापक अर्थ करते हुए फिर उसे वक्रोक्ति संज्ञा दे दी है। कहने का तात्पर्य यह है कि कुन्तक का 'वक्रकविव्यापारशालिनि बन्धे व्यवस्थितौ' यह विशेषण निश्चय ही वामन के 'गुणालंकारसंस्कृतयोः' से प्रेरित है—अथवा यह कुन्तक के अपने सिद्धान्त के अनुसार उसकी व्याख्या है। 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना' के इष्ट शब्द को ग्रहण करते हुए कदाचित् कुन्तक ने अपने 'तद्विह्लादकारी' विशेषण का प्रयोग किया है। इष्ट शब्द में आह्लाद की ध्वनि स्पष्ट सुनी जा सकती है। अतएव कुन्तक ने अपने काव्यलक्षण में पूर्ववर्ती अलंकारवादियों के लक्षणों का समन्वय कर वृत्ति द्वारा उनकी सूक्ष्म-गहन व्याख्या की है।

लक्षण की दृष्टि से कुन्तक की काव्य-परिभाषा अधिक सफल नहीं कही जा सकती। उन्होंने भामह के लक्षण को ही, कुछ विशेषण लगा कर, प्रस्तुत किया है। भामह ने सहित रूप में प्रयुक्त शब्द-अर्थ को काव्य कहा था—कुन्तक ने इस लक्षण को अनिश्चित तथा अतिव्याप्त माना। अनिश्चित इसलिए कि साहित्य शब्द का अर्थ अथवा यों कहिये कि साहित्य (सहभाव) का स्वरूप स्पष्ट नहीं है, और अतिव्याप्त इसलिए कि शब्द-अर्थ का सहभाव तो प्रत्येक वाक्य में रहता है। अतएव उन्होंने कुछ निश्चयात्मक विशेषण जोड़ दिये। एक तो काव्य के शब्द और अर्थ बन्ध अर्थात् रचना में व्यवस्थित होते हैं—अव्यवस्थित अथवा अनर्गल रूप में प्रयुक्त नहीं होते। दूसरे यह रचना वक्रतापूर्ण कविव्यापारशाली और सहृदय-आह्लादकारी

---

१ सौन्दर्यमलंकारः स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्।

होती है। आधुनिक शब्दावली में कविव्यापारशाली का अर्थ है कविकौशलयुक्त अथवा कलात्मक। वक्रतापूर्ण का पृथक प्रयोग कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति-सिद्धान्त का वैशिष्टच स्थापित करने के निमित्त किया है: वैसे संश्लिष्ट रूप में वक्रकविव्यापारशाली इस समस्त पद का अर्थ 'कलात्मक' ही पर्याप्त है। तद्विदाह्लादकारी का अर्थ है काव्य-मर्मज्ञों को आनन्दायक। इस विशेषण के द्वारा कुन्तक साहित्य (शब्द-अर्थ के सहभाव) के मूल गुण या धर्म का निर्णय करते हैं: यह साहित्य आनन्ददायक होना चाहिए। आनन्द में भी अतिव्याप्ति हो सकती है—इसलिए उसका भी निराकरण करने के लिए कहते हैं तद्विदां—अर्थात् केवल काव्य-मर्मज्ञों का क्योंकि सामान्य जन का आनन्द स्थूल तथा अपरिष्कृत हो सकता है। अतः तद्विदाह्लाद का अर्थ हुआ ऐन्द्रिय आनन्द अथवा क्षुद्र मनोरंजन से भिन्न सूक्ष्म-संस्कृत आनन्द जिसका सम्बन्ध ऐन्द्रिय तुष्टि या क्षुद्र कुतूहल से न होकर चेतना के संस्कार से है। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार, आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में, काव्य का लक्षण हुआ: कलात्मक तथा परिष्कृत आनन्द-दायक रचना में पूर्ण तादात्म्य के साथ व्यवस्थित शब्द-अर्थ का नाम काव्य है। इसमें संदेह नहीं कि कुन्तक ने अपने लक्षण में अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोनों को बचाने का प्रयत्न किया है और उपर्युक्त व्याख्या के उपरांत निर्धारित यह लक्षण आधुनिक आलोचनाशास्त्र की दृष्टि से भी बुरा नहीं है। परन्तु कुन्तक की अपनी शब्दावली सर्वथा निर्दोष नहीं कही जा सकती। एक तो 'बन्धे व्यवस्थितौ' का पृथक उल्लेख अपने आप में सर्वथा आवश्यक नहीं है क्योंकि 'सहित' शब्द के पश्चात् इसके लिए कोई विशेष अवकाश नहीं रह जाता: 'सहित' बन्ध में व्यवस्थित ही होगा। शब्द-अर्थ का अव्यवस्थित जंजाल 'सहित' में सम्भव नहीं है। किन्तु जैसा कि मैंने अन्यत्र निर्देश किया है कुन्तक ने कदाचित् वामन के सिद्धान्त का भी अन्तर्भाव करने के लिए ऐसा किया है। दूसरे, वक्रकविव्यापारशाली विशेषण व्याख्या-सापेक्ष्य है। कुन्तक की वक्रता स्वयं एक विशिष्ट प्रयोग है—फिर कविव्यापार की व्यवस्था भी अपेक्षित है। पहले कवि का लक्षण और फिर व्यापार का लक्षण करना पड़ेगा, तब कविव्यापारशाली का आशय व्यक्त हो सकेगा। इसके अनन्तर तद्विद् का आशय भी स्पष्टीकरण की अपेक्षा करता है। काव्य काव्य-मर्मज्ञ को आह्लाद देता है, यह तो कोई बात नहीं हुई। अतएव लक्षण की दृष्टि से कुन्तक की शब्दावली दोषमुक्त नहीं है: लक्षण की शब्दावली तो स्वतःस्पष्ट एवं अन्यून-अनतिरिक्त होनी चाहिए। उपर्युक्त लक्षण की शब्दावली व्याख्यापेक्षी है, साथ ही उसमें अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग भी है। इस दृष्टि से भामह का लक्षण ही सबसे अधिक संतोषप्रद है। कुन्तक से पूर्व भी अनेक आचार्यों ने उसमें संशोधन करने का प्रयत्न किया है—किन्तु वे सभी असफल रहे हैं।

परन्तु कुन्तक का गौरव काव्य का स्वतन्त्र लक्षण प्रस्तुत करने में नहीं है। उनका महत्व भामह के लक्षण-सूत्र की व्याख्या करने में है। वास्तव में उन्होंने शब्द, अर्थ तथा साहित्य, भामह के इन तीनों शब्दों की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। इनमें से अर्थ की व्याख्या के लिए तो रसध्वनिवादियों को भी—आनन्दवर्धन को विशेष रूप से—महत्व दिया जा सकता है। किन्तु शब्द की और शब्द से भी अधिक साहित्य की व्याख्या कुन्तक की अपूर्व है। कुन्तक के पूर्ववर्ती किसी आचार्य को यह गौरव नहीं दिया जा सकता: उनके परवर्ती आचार्यों में भी भोज तथा राजशेखर आदि कुछ गिने-चुने आचार्यों ने ही इस महत्वपूर्ण शब्द की व्याख्या की है। कुन्तक इस तथ्य से परिचित थे—उन्होंने स्वयं लिखा है:

"यह साहित्य इतने असीम समय की परम्परा में केवल साहित्य शब्द से प्रसिद्ध ही रहा है। कविकर्म-कौशल के कारण रमणीय इस (साहित्य शब्द) का यह वास्तविक अर्थ है, इस बात का आज तक किसी विद्वान् ने तनिक भी विचार नहीं किया। इसलिए सरस्वती के हृदयारविन्द के मकरन्द-बिन्दु-समूह से सुन्दर कविवचनों के आन्तरिक आमोद से मनोहर रूप में प्रस्फुटित होने वाले इस (साहित्य) को सहृदय-मधुपों के सामने प्रकट करते हैं। (अर्थात् साहित्य शब्द का प्रयोग अब तक काव्य आदि के लिए होता रहा है—परन्तु इसके वास्तविक अर्थ का प्रकाशन अब तक किसी भी विद्वान् ने नहीं किया। अब तक इसका रसास्वादन ही हुआ है विश्लेषण-विवेचन नहीं।) हिन्दी व० जी० १६वीं कारिका की वृत्ति पृ० ६०।

अभिव्यंजना के प्रसंग में जिन गहन तथ्यों के द्वारा क्रोचे ने आधुनिक काव्य-शास्त्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी है, उनका उद्घाटन कुन्तक दसवीं-ग्यारहवीं शती में कर चुके थे। यह उनके दृष्टिकोण की तत्व-ग्राहकता और साथ ही आधुनिकता का भी ज्वलंत प्रमाण है। कहने का तात्पर्य यह है कि कुन्तक की मौलिकता लक्षण में न होकर लक्षण के व्याख्यान में है। 'शब्द' की अद्वितीयता 'अर्थ' की रसात्मकता तथा 'साहित्य' की पूर्ण तादात्म्य-क्षमता का प्रबल शब्दों में प्रतिपादन कर उन्होंने काव्य के स्वरूप-विवेचन में अपूर्व योग दिया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों में कुन्तक का विवेचन सबसे अधिक आधुनिक है।

काव्य का प्रयोजन

कुन्तक ने भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा के अनुसार अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही ३, ४ और ५वीं कारिकाओं और उन पर स्वरचित वृत्तियों में काव्य-प्रयोजन का अत्यन्त विशद निरूपण किया है।

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥ १,३ ॥

काव्यबन्ध (काव्य) उच्च कुल में समुत्पन्न (परिश्रमहीन और सुकुमार-स्वभाव राजकुमार आदि) के लिए, हृदय को आह्लादित करने वाला और कोमल मृदु शैली में कहा हुआ धर्मादि की सिद्धि का मार्ग है।

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥ १,४ ॥

व्यवहार करने वाले (लौकिक) पुरुषों को, अनुदिन के नूतन औचित्य से युक्त, व्यवहार-चेष्टा आदि का सौन्दर्य सत्काव्य के परिज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्यतद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते । १,५ ।

काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझनेवालों (सहृदयों) के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़ कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य के तीन प्रयोजन हैं :

(१) चतुर्वर्ग - फल - प्राप्ति (२) व्यवहार-औचित्य का परिज्ञान (३) चतुर्वर्ग-फलास्वाद से भी बढ़ कर अन्तश्चमत्कार की प्राप्ति।

(१) चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति : चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार परमपुरुषार्थों की प्राप्ति काव्य का महत्वपूर्ण प्रयोजन है। काव्य अभिजात राजकुमार आदि के लिए सुकुमार शैली में चतुर्वर्ग की प्राप्ति का सहज-सरल साधन है। इस प्रयोजन की व्याख्या में—तीसरी कारिका की वृत्ति में, कुन्तक ने दो तथ्यों का स्पष्टीकरण किया है : एक तो यह कि अभिजात राजकुमार आदि का विशेष उल्लेख करने का क्या अभिप्राय है ? उनका कहना है कि राजकुमार

आदि का धर्म आदि परमपुरुषार्थों से सम्पन्न होना नितांत आवश्यक है अन्यथा उचित शिक्षा-संस्कार में अभाव में शक्ति और प्रभुत्व प्राप्त कर ये राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न कर सकते हैं : 'राजपुत्र आदि वैभव को प्राप्त करके समस्त पृथ्वी (राज्य) के व्यवस्थापक बनकर, उत्तम उपदेश से शून्य होने के कारण समस्त उचित लोक-व्यवहार का नाश करने में समर्थ हो सकते हैं।' हि० व० जी० पृ० १० ।। कुन्तक यह कहना चाहते हैं कि राजकुमार आदि एक एक बृहत् भूभाग के भाग्य-विधायक होते हैं—अतएव वे व्यक्ति न होकर समष्टि के ही प्रतीक हैं। उनका प्रभाव उनकी सत्ता के अनुकूल अत्यंत व्यापक होता है : अतएव धर्म आदि की सिद्धि उनके अपने व्यक्तित्व तक सीमित न रह कर समाज तक व्याप्त हो जाती है।

भारतीय काव्य में राजा, राजवंश, राजकुमार आदि का प्रयोग इसी प्रतीकार्थ में किया गया है। अभिजात शब्द से एक ध्वनि और निकलती है, और वह है संस्कारशीलता की। आभिजात्य में धन-वैभव की व्यंजना इतनी नहीं है जितनी संस्कारिता की।—उत्तम वंश में उत्पन्न, भद्र वातावरण में पोषित राजकुमार आदि स्वभावतः ही संस्कारवान् होते हैं, अतएव आभिजात्य संस्कारिता का प्रतीक है, और अभिजात राजकुमार आदि संस्कारी सहृदय-समाज के। अतएव उन्हें उपलक्षण मात्र मानना चाहिए। कुन्तक ने यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही—परन्तु उनकी वृत्ति से यह ध्वनित अवश्य होती है।

दूसरा तथ्य यह है कि काव्य द्वारा उक्त प्रयोजन की सिद्धि अत्यन्त सहज रूप में—बिना श्रम के—सुख-सरल विधि से हो जाती है। राजकुमार आदि का स्वभाव सुकुमार होता है—वे परिश्रम नहीं कर सकते, अतएव शास्त्र की श्रमसाध्य विधि उनके लिए अनुकूल नहीं पड़ती। यहाँ भी राजकुमार आदि को प्रतीक अथवा उपलक्षण मान कर सहृदय-समाज का ही ग्रहण करना चाहिए। शास्त्र की साधना अत्यन्त कठिन है। शास्त्र-संदर्भ "सुनने में कटु, बोलने में कठिन, और समझने में दुरूह आदि अनेक दोषों से दुष्ट और पढ़ने के समय में ही अत्यन्त दुखदायी होता है।" व० जी० पृ० १३ ।। इसके विपरीत काव्य की विधि उतनी ही सुकुमार है। मम्मट ने कुन्तक के इस मंतव्य को 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' द्वारा व्यक्त किया है। काव्य द्वारा चतुर्वर्ग की साधना का उपदेश कान्ता-सम्मित होता है। कुन्तक का सुकुमारक्रमोदित ही मम्मट का कान्तासम्मित बन जाता है।"

चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति को काव्य का प्रथम प्रयोजन घोषित कर कुन्तक भारतीय काव्य-शास्त्र की उस गम्भीर परम्परा का पालन कर रहे हैं जिसके अनुसार काव्य मनोरंजन का साधन न होकर जीवन के परमपुरुषार्थों का साधनोपाय माना गया है। उनसे पूर्व भामह, रुद्रट आदि मान्य आचार्यों—और उनके उपरांत विश्वनाथ आदि ने भी चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति को निर्भ्रान्त रूप से काव्य का मुख्य प्रयोजन स्वीकृत किया है।

भामह :— धर्मार्थकाममोक्षेषु, वैचक्ष्ण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥

उत्तम काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति, कलाओं में नैपुण्य, कीर्ति तथा प्रीति (आनन्द) की उपलब्धि होती है।

रुद्रट :— ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेऽभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥

अर्थात् रसिक जन नीरस शास्त्रों से भय खाते हैं, अतएव उनको शीघ्र सहज उपाय के द्वारा काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है

(रुद्रट—काव्यालंकार १२।१)

विश्वनाथ :— चतुर्वर्गफलप्राप्ति सुखादल्पधियामपि।

काव्य के द्वारा मन्दबुद्धि भी सरल और रुचिकर विधि से चतुर्वर्ग—अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार परमपुरुषार्थों को प्राप्त कर लेते हैं। उपर्युक्त उक्ति तो कुन्तक की शब्दावली की व्याख्या सी प्रतीत होती है—यद्यपि ऐसा है नहीं क्योंकि विश्वनाथ पर कुन्तक का कोई विशेष प्रभाव लक्षित नहीं होता।—कदाचित् विश्वनाथ के समय में कुन्तक का ग्रंथ लुप्त हो गया था।

(२) *व्यवहार-औचित्य का परिज्ञान* : इसकी व्याख्या में कुन्तक ने लिखा है: व्यवहार अर्थात् लोकाचार के सौन्दर्य का ज्ञान व्यवहार करने वाले जनों को उत्तम काव्यों के पारिज्ञान से ही होता है। × × × वह सौन्दर्य कैसा है नूतन औचित्य-युक्त। इसका यह अभिप्राय हुआ कि (उत्तम काव्यों में) राजा आदि के व्यवहार का वर्णन होने पर उनके अंगभूत प्रधान मन्त्री आदि सब ही अपने-अपने उचित कर्तव्य और व्यवहार में निपुण रूप में ही वर्णित होने से व्यवहार करने वाले समस्त जनों को (उनके उचित) व्यवहार की शिक्षा देने वाले होते हैं। इसलिए

सुन्दर काव्यों में परिश्रम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति लोक-व्यवहार की क्रियाओं में सौन्दर्य को प्राप्त कर श्लाघनीय फल का पात्र होता है। (हिं० व० जी० १।४ कारिका की वृत्ति पृष्ठ ११)

इस व्याख्या से दो बातों पर प्रकाश पड़ता है : एक तो यह कि व्यवहार-सौन्दर्य से अभिप्राय ऐसे लोकाचार का है जो सर्वथा उचित अर्थात् पात्र, परिस्थिति तथा अपनी मर्यादा के अनुकूल होने के कारण रमणीय एवं आकर्षक हो। दूसरी यह कि काव्य का फल राजकुमार आदि तक ही सीमित नहीं है, वरन् प्रत्येक सहृदय के लिए सुलभ है। यह ठीक है कि उत्तम काव्यों में नायक-प्रतिनायक आदि प्रमुख पात्र राजवंश के होते हैं, अतएव सम्भवतः उनके व्यवहार-सौन्दर्य का अनुकरण सामान्य-जन-सुलभ न हो, परन्तु नायक-प्रतिनायक आदि के अतिरिक्त और भी तो पात्र हैं जो उसी शोभन मर्यादा और औचित्य का पालन करते हैं। ये पात्र सामान्य जन के निकट होते हैं, अतएव उनके लिए इनके सुन्दर व्यवहार का अनुकरण करना सहज-सरल होता है।

यहाँ कुन्तक एक शंका उठा कर उसका समाधान करते हैं। वह शंका यह है कि उत्तम काव्यों—महाकाव्य, नाटक आदि—के नायक-प्रतिनायक राजा या राजकुमार ही होते हैं। उनके संस्कार नहीं तो कम से कम परिस्थितियाँ सामान्य जन की परिस्थितियों से भिन्न होती हैं। अतएव उनके व्यवहार का ज्ञान किस प्रकार लाभकारी हो सकता है ? इसका रसवादियों ने साधारणीकरण के आधार पर मनोवैज्ञानिक उत्तर दिया है। कुन्तक जैसा मेधावी आचार्य इस मौलिक सत्य से अनवगत था यह तो कहना अनुचित होगा, परन्तु उन्होंने उपर्युक्त शंका का समाधान सामान्य विवेक के आधार पर ही किया है। उनका तर्क है कि उत्तम काव्यों की विस्तृत परिधि के अन्तर्गत पात्र तथा परिस्थिति की अनेकरूपता का चित्रण रहता है—अतएव प्रत्येक सहृदय अपनी मर्यादा तथा परिस्थिति के अनुरूप शिक्षा ग्रहण कर सकता है।

इस प्रकार सत्काव्य के सेवन से उचित एवं शोभन व्यवहार-ज्ञान प्राप्त होता है।

लोकाचार की शिक्षा काव्य का व्यावहारिक प्रयोजन है। जीवन के प्रत्येक कार्य की भाँति काव्य का भी जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका उद्देश्य भी, अन्त में, जीवन को अधिक सुन्दर और स्पृहणीय बनाना ही है। अतएव पौरस्त्य तथा

पाश्चात्य काव्यशास्त्रों में लोक-शिक्षण या उपदेश भी काव्य का काम्य प्रयोजन माना गया है। भारतीय काव्यशास्त्र में भरत, मम्मट आदि अनेक आचार्यों ने इसका स्पस्ट उल्लेख किया है :

भरत का कथन है—लोकोपदेशजननं नाटचमेतद् भविष्यति। अर्थात् नाटच (या काव्य) लोकोपदेशकारी होता है। मम्मट ने "व्यवहारविदे" में व्यवहार-ज्ञान को स्पष्ट शब्दों में काव्य-प्रयोजन स्वीकार किया है।

(३) अन्तश्चमत्कार : काव्यामृत रस का पान कर सहृदय के हृदय में एक अपूर्व चमत्कार का उदय होता है जो चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति से भी अधिक काम्य है। कुन्तक के शब्दों में इसका यह अभिप्राय हुआ कि "जो चतुर्वर्ग-फल का आस्वाद प्रकृष्ट पुरुषार्थ होने से सब शास्त्रों के प्रयोजन रूप में प्रसिद्ध है वह भी इस काव्यामृत रस की चर्वणा के चमत्कार की कला मात्र के साथ भी किसी प्रकार बराबरी नहीं कर सकता"। एक श्लोक है :—

"शास्त्र कड़वी औषधि के समान अविद्या रूप व्याधि का नाश करता है। और काव्य आनन्ददायक अमृत के समान अज्ञान रूप रोग का नाश करता है।"

इस प्रकार कुन्तक का मत है कि काव्य अपने अध्ययन काल में और उसके उपरान्त भी आह्लादकारी होता है—उसकी साधना और परिणाम दोनों ही रुचिकर होते हैं। (देखिए व० जी० १।५ वीं कारिका की वृत्ति पृ० १३)

स्पष्ट है कि कुन्तक आनन्द को काव्य की परम सिद्धि मानते हैं—उसका महत्व चतुर्वर्ग से भी अधिक है। काव्य के क्षेत्र में यह कोई नवीन उद्भावना नहीं है। कुन्तक के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभी आचार्यों ने आनन्द की महत्व-प्रतिष्ठा की है। इस विषय में अलंकार, रीति, ध्वनि तथा रस सभी सम्प्रदाय एकमत हैं। अलंकारवादी भामह और रीतिवादी वामन दोनों ने प्रीति—अर्थात् आनन्द को काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है :

प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम्। (भामह)
काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्। (वामन)

रस-ध्वनिवादियों के विषय में तो प्रश्न ही नहीं उठता : उनका तो मूल आधार ही यह है : "सकलप्रयोजनमौलिभूतं रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्। —अर्थात् रसास्वादन से उद्भूत अन्य ज्ञान-रहित आनन्द सकल प्रयोजन-मौलिभूत है।

वास्तव में काव्य में आनन्द की महत्ता स्वतः स्पष्ट है—किन्तु रसवादियों की आनन्द-कल्पना और अलंकारवादियों की आनन्द-कल्पना क्या एक ही हैं ? यह प्रश्न विचारणीय है। सामान्यतः इनमें आचार्यों ने कोई स्पष्ट भेद नहीं किया। आनन्द आनन्द ही है। किन्तु उनके सिद्धान्तों का विश्लेषण करने पर दोनों की कल्पनाओं में सूक्ष्म भेद निस्सन्देह मिलता है। अलंकारवादियों का आनन्द अथवा चमत्कार बहुत कुछ बौद्धिक है, रसवादियों के आनन्द में मानसिक-शारीरिक संवेदनों का अपेक्षाकृत प्राधान्य है। अलंकारवादियों के आनन्द में कुतूहल का भी पर्याप्त अंश वर्तमान है, किन्तु रसवादियों का आनन्द शुद्ध अनुभूतिमूलक आनन्द है—वेद्यान्तरशून्य तन्मयता उसका आवश्यक उपबन्ध है। कुन्तक का आनन्द किस कोटि का है ? कुन्तक ने अपनी कारिका में आनन्द के लिए अन्तश्चमत्कार शब्द का प्रयोग किया है—और वृत्ति में चमत्कार, चमत्कृति तथा अह्लाद का : अह्लाद का प्रयोग काव्यानन्द के लिए कुन्तक ने अन्यत्र भी अनेक बार किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुतूहल आदि अवर वृत्तियों का वक्रोक्ति के प्रसंग में तिरस्कार भी किया है। उपर्युक्त पंचमी कारिका में भी अनेक शब्द ऐसे हैं जो कुन्तकीय आनन्द के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक हो सकते : जैसे आस्वाद, काव्यामृतरस आदि जिनसे इस बात का संकेत मिलता है कि कुन्तक यद्यपि अलंकारवादी हैं फिर भी कुन्तक की आह्लाद-कल्पना अलंकारवादियों की अपेक्षा रसवादियों के अधिक निकट है। चतुर्वर्गफलास्वाद से भी अधिक मधुर यह आलौकिक आह्लाद निश्चय ही मनोरंजन, कुतूहल, आदि से एकांत भिन्न अत्यन्त गम्भीर प्रकृति का आनन्द ही हो सकता है जिसमें चेतना को पूर्णतः निमग्न करने की क्षमता हो।

कुन्तक के उपर्युक्त विवेचन में एक तथ्य अनायास ही हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेता है—और वह यह है कि कुन्तक ने सहृदय की दृष्टि से ही काव्य के प्रयोजनों का निर्देश किया है, कवि की दृष्टि से नहीं। चतुर्वर्गफलास्वाद, व्यवहार-ज्ञान तथा अन्तश्चमत्कार ये सब सहृदय के ही प्राप्य हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में आरम्भ से ही काव्य-प्रयोजन का विवेचन कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से हुआ है : भरत भामह, वामन, रुद्रट, मम्मट आदि सभी ने दोनों को ही दृष्टि में रखा है। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने इस पार्थक्य को सर्वथा स्पष्ट करते हुए लिखा है : ननु काव्य-करणे कवेः पूर्वमेवफलमुक्तम्, श्रोतृणां तु किं फलमित्याह—अर्थात् काव्य का कवि के लिए क्या फल है यह पहले कह चुके हैं, श्रोताओं के लिए उसका क्या फल है, अब इसका वर्णन करते हैं। (रुद्रट काव्यालंकार पृ० १४६)

कवि के लिए रुद्रट ने यश को काव्य का मुख्य फल माना है, और श्रोता के लिए चतुर्वर्गफलास्वाद को। रुद्रट का कथन है कि कवि जब दूसरों की अर्थात् अपने काव्य-नायकों की कीर्ति को अमर कर देता है तो फिर उसकी अपनी कीर्ति की तो बात ही क्या है, उसे कीर्ति के साथ धन की प्राप्ति भी होती है। अब यह विचारणीय है कि कुन्तक ने कवि के प्राप्य का उल्लेख क्यों नहीं किया। इस प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं : एक तो यह कि कुन्तक कवि के लिए उपर्युक्त तीनों फलों की प्राप्ति स्वतः सिद्ध मानकर चले हैं। जो कवि अपनी प्रतिभा और साधना द्वारा श्रोता के लिए उन्हें सुलभ करता है, उसके अपने लिए तो वे हस्तामलकवत् हैं ही। जो काव्य अपने उपभोक्ता के लिए चतुर्वर्ग-फलास्वाद अथवा उससे भी श्रेष्ठतर अंतश्चमत्कार सुलभ कर देता है वह अपने स्रष्टा के लिए क्यों न करेगा ? जिस कवि की प्रतिभा पाठक के लिए लोक-व्यवहार के सौन्दर्य का उद्घाटन करती है, वह कवि स्वयं लोकविद् क्यों न होगा ? अतएव कुन्तक ने कवि के लिए इन फलों की प्राप्ति स्वतःसिद्ध मानी है, और इसीलिए उसका पृथक निर्देश अनावश्यक समझा है। दूसरा उत्तर यह भी हो सकता है कि कुन्तक की दृष्टि में उपर्युक्त तीन महत् प्रयोजन ही वास्तव में काम्य हैं जो निश्चय ही उभय-निष्ठ हैं : यश तथा अर्थ जो केवल कवि के प्राप्य हैं कुन्तक जैसे गम्भीरचेता आचार्य की दृष्टि में सर्वथा नगण्य हैं, उनके उल्लेख का प्रश्न ही नहीं उठता।

वास्तव में कुन्तक ने प्रस्तुत प्रसंग में कोई मौलिक उद्भावना नहीं की। उनके तीनों प्रयोजनों का भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में यथावत् उल्लेख मिलता है : भामह और रुद्रट आदि ने चतुर्वर्ग का स्पष्ट उल्लेख किया है, भरत ने लोक-व्यवहार ज्ञान का, और भामह, वामन आदि ने प्रीति अथवा आनन्द का। परन्तु कुन्तक के विवेचन का मूल्यांकन मौलिक उद्भावना की दृष्टि से करना समीचीन नहीं होगा क्योंकि इस विषय में मौलिकता के लिए अवकाश भी कहां था ? कुन्तक की गरिमा का प्रमाण यह है कि एक तो उन्होंने केवल गम्भीर प्रयोजनों को ही ग्रहण किया है, और दूसरे उनमें भी अह्लाद को मूर्धन्य पर प्रतिष्ठित कर शुद्ध काव्य-दृष्टि का परिचय दिया है। उन्होंने काव्य के वे ही तीन प्रयोजन स्वीकार किये जो अन्तरंग एवं मूलभूत हैं—व्यापक प्रभावशाली, और उदात्त हैं। अर्थ, यश, शिवेतरक्षति, कला-नैपुण्य आदि प्रयोजनों को उन्होंने त्याग दिया है क्योंकि वे जीवन की हीनतर सफलताएं हैं, अथवा अव्यापक हैं। समीक्षा के क्षेत्र में—अथवा जीवन के सभी क्षेत्रों में—व्यवस्था तथा स्थिरीकरण का महत्व उद्भावना के समकक्ष ही है और विशेष परिस्थितियों में कुछ अधिक भी माना जा सकता है। कुन्तक का यह गौरव है कि

उन्होंने केवल मूलभूत प्रयोजनों को ही मान्यता देकर काव्य के स्तर को उदात्त किया और फिर शेष दो प्रयोजनों से भी आह्लाद की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर काव्य के मौलिक रूप को अक्षुण्ण रखा। इस प्रकार गम्भीर-परिष्कृत आनन्द को काव्य का मूल प्रयोजन घोषित कर कुन्तक ने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त आदि के समान ही काव्य के शुद्ध और साथ ही गम्भीर मूल्यों की प्रतिष्ठा की है।

काव्यहेतु

कुन्तक ने काव्यहेतु का पृथक विवेचन नहीं किया। किन्तु काव्य-मार्ग के प्रसंग में कवि-स्वभाव की व्याख्या करते हुए उन्होंने शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास— इन तीन काव्यहेतुओं का स्पष्ट निर्देश किया है : सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्ति शक्तिमतोरभेदात्। तया च तथाविधसौकुमार्य-रमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्यां च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते।— अर्थात् सुकुमार स्वभाव वाले कवि की उसी प्रकार की (सुकुमार) सहज शक्ति उत्पन्न होती है। शक्ति तथा शक्तिमान् के अभिन्न होने से। और उस (सुकुमार शक्ति) से उसी प्रकार की सौकुमार्य-रमणीय (सुकुमार) व्युत्पत्ति की प्राप्ति होती है। उन दोनों से सुकुमार मार्ग से अभ्यास किया जाता है। (हिन्दी वक्रोक्तिजीवित १.२४ वीं कारिका की वृत्ति)। इस प्रकार कुन्तक परम्परा द्वारा स्वीकृत शक्ति, निपुणता और अभ्यास को ही काव्य के हेतु मानते हैं। किन्तु उन्होंने इस प्रसंग में भी एक मौलिक तथ्य का उद्घाटन किया है : वे इन तीनों काव्यहेतुओं को कवि-स्वभाव के आश्रित मानते हैं—अतएव काव्य का मूल हेतु कवि-स्वभाव ही है। तीनों का एक ही उद्गम होने के कारण इन में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कवि की प्रतिभा के अनुसार ही उसकी व्युत्पत्ति होगी, और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के अनुसार ही उसका काव्याभ्यास होगा। इसी प्रकार व्युत्पत्ति तथा अभ्यास भी प्रतिभा का परिपोष करते हैं :—

"काव्यरचना की बात छोड़ दें तो भी अन्य विषयों में भी अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत चित्तवाले किसी व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास होता है। और वे व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभाव की अभिव्यक्ति द्वारा ही सफलता प्राप्त करते हैं। स्वभाव तथा उन दोनों के उपकार्य और उपकारक भाव से स्थित होने से, स्वभाव उन दोनों को (व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को) उत्पन्न करता है और वे दोनों उसे परिपुष्ट करते हैं।" (व० जी० १.२४ वीं कारिका की वृत्ति)

कुन्तक का तर्क यह है कि जीवन के समस्त व्यापारों की भाँति काव्य में भी (कवि का) स्वभाव ही मूर्धन्य पर स्थित है। स्वभाव के अनुसार ही कवि की शक्ति या प्रतिभा होती है—उसी के अनुसार वह लोक तथा शास्त्र ज्ञान का अर्जन करता है, और उसी के अनुकूल उसकी अभ्यास-प्रक्रिया होती है। मनुष्य की शिक्षा और व्यवहार आदि मूलतः उसकी प्रवृत्ति के ही अनुकूल होते हैं और होने चाहिए, तभी वे उसका उचित परिपोष कर सकते हैं—यह एक स्वीकृत मनोवैज्ञानिक तथ्य है। आधुनिक शिक्षा-शास्त्र का विकास इसी के आधार पर किया जा रहा है। कुन्तक ने इसका निर्भ्रान्त शब्दों में उद्घाटन कर अपनी आधुनिक दृष्टि का परिचय दिया है, और प्रस्तुत प्रसंग में भी आत्मपरक तथा वस्तुपरक दृष्टियों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

काव्य की आत्मा वक्रोक्ति और उसकी की परिभाषा

कुन्तक के सिद्धान्त के अनुसार काव्य की आत्मा वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति की परिभाषा उनके शब्दों में इस प्रकार है :— वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं, तस्य भंगी विच्छित्तिः, तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। अर्थात्— प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णनशैली ही वक्रोक्ति है। यह कैसी है ? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति (ही वक्रोक्ति है)। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता— कवि-कर्म-कौशल उसकी भंगिमा या शोभा (चारुता), उसके द्वारा (उस पर आश्रित) उक्ति। (संक्षेप में) विचित्र अभिधा (वर्णन-शैली) का नाम ही वक्रोक्ति है।

(हिन्दी व० जी० १।१० की वृत्ति पृ० ५१)

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार

(१) वक्रोक्ति का अर्थ है विचित्र अभिधा अर्थात् उक्ति (कथन-प्रकार)।

(२) विचित्र का अभावात्मक अर्थ है :— प्रसिद्ध कथन-शैली से भिन्न।

प्रसिद्ध शब्द का स्वयं कुन्तक ने दो स्थलों पर स्पष्टीकरण किया है :

(अ) शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि। शास्त्र आदि में उपनिबद्ध शब्द-अर्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न—अर्थात् प्रसिद्ध का अर्थ है शास्त्र आदि में प्रयुक्त।

(आ) अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणि—प्रचलित (सामान्य) व्यवहारसरणि का अतिक्रमण करने वाली (वक्रोक्ति)। अर्थात् प्रसिद्ध से अभिप्राय है सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त।

इन दोनों व्याख्याओं के आधार पर 'प्रसिद्ध' का अर्थ हुआ—'शास्त्र और व्यवहार में प्रयुक्त'।

(३) विचित्र का भावात्मक अर्थ है :—वैदग्ध्य-जन्य चारुता से युक्त। कुन्तक ने स्थान-स्थान पर वक्र, विचित्र, चारु, आदि शब्दों का पर्याय रूप में प्रयोग किया है।

(४) वैदग्ध्य से अभिप्राय है कवि-कर्म-कौशल का। अतएव वैदग्ध्य-जन्य चारुता का अर्थ हुआ कविकौशल-जन्य चमत्कार।

(५) कविकौशल के लिए कुन्तक ने कवि-व्यापार शब्द का प्रयोग अधिक किया है :

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।'

कविव्यापार का अर्थ है कवि-प्रतिभा पर आश्रित कर्म : व्यापारस्य कविप्रतिभोल्लिखितस्य कर्मणः (जयरथ[1])। प्रतिभा की परिभाषा कुन्तक ने इस प्रकार की है : प्राक्तनाद्यतन-संस्कार-परिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः। अर्थात् पूर्वजन्म तथा इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ कविशक्ति का नाम प्रतिभा है। इस प्रकार कविकौशल से अभिप्राय उस व्यापार का है जो पूर्वजन्म तथा इस जन्म के संकारों के परिपाक से प्रौढ़ कवि- शक्ति द्वारा अनुप्रेरित होता है।

(६) वक्रोक्ति के इस वैचित्र्य या वक्रत्व के लिए कुन्तक ने एक अनिवार्य उपबंध रखा है—तद्विदाह्लादकारित्व। अर्थात् उक्ति का विचित्र अथवा लोक-शास्त्र में प्रयुक्त शब्द-अर्थ के उपनिबंध से भिन्न होना ही पर्याप्त नहीं है, और कवि-कौशल पर आश्रित होना भी अन्तिम प्रमाण नहीं है—उसमें तो सहृदय का मनःप्रसादन करने की क्षमता अनिवार्यतः होनी चाहिए। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं : एक तो यह कि वक्रोक्ति केवल शब्द-क्रीड़ा अथवा अर्थ-क्रीड़ा नहीं है—और दूसरा यह कि वक्रोक्ति का स्वभावोक्ति से कोई विरोध नहीं है क्योंकि स्वभावोक्ति में स्वभाव-वर्णन की सहज चारुता और उसके कारण मनःप्रसादन की क्षमता निश्चय ही वर्तमान

१. रुय्यक के काव्यालंकारसर्वस्व की टीका—डा० डे की भूमिका में उद्धृत।

रहती है : अर्थात् वक्रोक्ति का विरोध, इतिवृत्त-वर्णन, या भामह आदि के शब्दों में, वार्ता से ही है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर :— वक्रोक्ति का अर्थ है वक्र या विचित्र उक्ति। इस वक्रता या वैचित्र्य में तीन गुण सन्निहित रहते हैं :

(क) लोक-व्यवहार तथा शास्त्र में रूढ़ शब्द-अर्थ-प्रयोग से भिन्नता।

(ख) कवि-प्रतिभा-जन्य चमत्कार।

(ग) सहृदय के मनःप्रसादन की क्षमता।

अतएव कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति उस उक्ति अथवा कथनशैली का नाम है जो लोकव्यवहार तथा शास्त्र में प्रयुक्त शब्द-अर्थ के उपनिबन्ध से भिन्न, कवि-प्रतिभा-जन्य चमत्कार के कारण सहृदय-आह्लादकारी होती है।

इस विवेचन से कुन्तक के तीन मूल सिद्धान्त सामने आते हैं :

(१) काव्य की शैली शास्त्र और लोक-व्यवहार की शैली से अनिवार्यतः भिन्न होती है।

(२) काव्य का मूल हेतु है कवि की प्रतिभा और स्वभाव। कवि काव्य का माध्यम मात्र नहीं है, कर्ता है। अर्थात् काव्य कवि का कर्म है—अव्यक्तिगत सृष्टि नहीं है। इस प्रकार कुन्तक ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में काव्य में कवि के कर्तृत्व की घोषणा की है।

(३) प्रतिभा इस जन्म और पूर्वजन्मों के संस्कारों का परिपाक है।

अब हम आधुनिक आलोचनाशास्त्र के अनुसार उपर्युक्त मंतव्यों का क्रमशः विवेचन करते हैं।

काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली

काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली का भेद कुन्तक की नवीन उद्भावना नहीं है। उनसे पूर्व भामह, दण्डी, आदि इस तथ्य की ओर निर्देश कर चुके थे। भामह ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्याय रूप में ग्रहण करते हुए लोकातिक्रान्तगोचरता को उसका मूल तत्व माना है :—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भामह के अनुसार वक्रोक्ति अथवा अतिशयोक्ति का मूल तत्व है शब्द-अर्थ का लोकोत्तर उपनिबन्ध—और उधर वक्रोक्ति को भामह काव्य-शैली का सर्व-सामान्य प्राणतत्व भी मानते हैं। अतएव भामह के मत से काव्य-शैली में शब्द-अर्थ का उपनिबन्ध लोकोत्तर अर्थात् लोकव्यवहार से भिन्न होता है। लोक-सामान्य शब्दार्थ-प्रयोग को भामह ने वार्ता माना है जो काव्य की कोटि के अन्तर्गत नहीं आती। दण्डी ने भी शास्त्र की शैली और काव्य की शैली को मूलतः भिन्न माना है। उन्होंने वाङ्मय के दो भेद किये हैं :—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। इन में से स्वभावोक्ति[1] का साम्राज्य शास्त्र में है और वक्रोक्ति का काव्य में।

आगे चलकर ध्वनिवादी अभिनवगुप्त ने फिर वक्रता का अर्थ 'लोकोत्तर रूप में अवस्थित' करते हुए काव्य की वक्र शैली और लोकसामान्य की ऋजु-रूढ़ शैली में मौलिक भेद स्वीकार किया है। और अन्त में, कुन्तक के समसामयिक भोज ने इस पार्थक्य को और भी स्पष्ट कर दिया है :—

यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः॥

(शृंगारप्रकाश)

—शास्त्र और लोकव्यवहार में प्रयुक्त अवक्र अर्थात् वैचित्र्य-रहित वचन वचन मात्र है। अर्थवाद आदि में प्रयुक्त जो वक्रवचन है उसकी संज्ञा काव्य है। इस प्रकार भोज ने काव्य की शैली और काव्येतर शास्त्र तथा लोकव्यवहार की शैली में वक्रता के आधार पर स्पष्ट भेद कर दिया है।

---

१. शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं　+　+　+

अतएव काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली का भेद संस्कृत काव्यशास्त्र में आरम्भ से ही स्पष्ट था। कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादन में उसे अत्यन्त निर्भ्रान्त और प्रामाणिक शब्दों में व्यक्त कर काव्य और अकाव्य की सीमाओं को भी सर्वथा पृथक कर दिया है।

इस प्रकार का भेद पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी आरम्भ से मान्य रहा है। अरस्तू ने काव्य-शैली की गरिमा का व्याख्यान करते हुए लिखा है : 'सामान्य प्रयोगों से भिन्नता भाषा को गरिमा प्रदान करती है क्योंकि शैली से भी मनुष्य उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार विदेशियों से अथवा नागरिकों से। इसलिए आप अपनी पद-रचना को विदेशी रंग दीजिये क्योंकि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है और जो प्रशंसा का विषय है वह प्रसन्नता का भी विषय होता है।'[1]

अरस्तू के उपरांत डिमैट्रियस ने भी इस पार्थक्य का प्रबल शब्दों में समर्थन किया है : 'प्रत्येक सामान्य वस्तु प्रभावहीन होती है।' उन्होंने भी असामान्यता को काव्य की उदात्त शैली का प्राण-तत्व माना है।

अठारहवीं शताब्दी में अंगरेज़ी के प्रसिद्ध समालोचक एडिसन ने लोकव्यवहार की प्रचलित और परिचित शब्दावली को काव्य के सर्वथा अनुपयुक्त घोषित किया। उन्होंने 'प्रसाद' को तो काव्य-शैली का आवश्यक उपादान माना है, परन्तु सर्व-साधारण के प्रयोगों को अकाव्योचित ठहराया है। "अनेक शब्द सर्व-साधारण के प्रयोग के कारण क्षुद्र बन जाते हैं। अतएव प्रसाद को अति-प्रचलित शब्दों तथा मुहावरों की क्षुद्रता से मुक्त रखना चाहिए।' आगे चलकर वर्ड्सवर्थ ने ऐसे भेद को अस्वाभाविक मानते हुए इसका निषेध करने का असफल प्रयत्न किया—किन्तु अपने काव्य-व्यवहार से ही उनके सिद्धान्त का खण्डन हो गया और कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ को उनके ही काव्य का प्रमाण देकर निरुत्तर कर दिया। कॉलरिज का तर्क था, "पहले तो स्वयं गद्य की भाषा ही—कम से कम सभी तर्क-प्रधान तथा निबद्ध रचनाओं की भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न होती है और होनी चाहिए, जिस प्रकार पढ़ने में और बातचीत करने में भेद होता है"। कॉलरिज ने चित्रभाषा को काव्य का सहज माध्यम स्वीकार किया है—और उसे सामान्य व्यवहार की भाषा से सर्वथा भिन्न माना है। इधर आधुनिक युग में आकर रिचर्ड्स ने काव्य के अन्य आवश्यक उपादानों की भाँति काव्य की भाषा शैली का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है :—

१. लोसाइ क्रिटीकी पृ० २६

"किसी उक्ति का प्रयोग उसके शुद्ध अथवा अशुद्ध अर्थ-संकेत के लिए भी हो सकता है। यह भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग है। किन्तु उसका प्रयोग कुछ ऐसे प्रभावों के लिए भी हो सकता है जो उसके अर्थ-संकेत द्वारा हमारे भाव और प्रवृत्ति पर पड़ते हैं। यह भाषा का रागात्मक प्रयोग है। × × ×। हम शब्दों का प्रयोग या तो उनके अर्थ-संकेतों के लिए कर सकते हैं या फिर उनके परिणाम-रूप भावों और प्रवृत्तियों के लिए। × × ×

उपर्युक्त दोनों प्रयोगों में सन्निहित मानसिक प्रक्रियाओं में बड़ा अन्तर है—यद्यपि लोग सरलता से उसकी उपेक्षा कर जाते हैं। अब इस बात पर विचार कीजिए कि दोनों प्रयोगों में विफलता का क्या परिणाम होता है। वैज्ञानिक भाषा के लिए तो अर्थ-संकेतों में अन्तर होना ही विफलता है क्योंकि ऐसी स्थिति में उद्देश्य की प्राप्ति ही नहीं हो पाती। किन्तु रागात्मक भाषा के लिए अर्थ-संकेत-विषयक बड़े से बड़ा अन्तर भी तब तक कोई महत्व नहीं रखता जब तक कि उससे अभीष्ट रागात्मक प्रभाव में कोई बाधा नहीं आती।

इसके अतिरिक्त, वैज्ञानिक भाषा में केवल अर्थ-संकेत ही शुद्ध नहीं होने चाहिए, किन्तु उनके पारस्परिक सम्बध भी तर्क-संगत होने चाहिए। उनको एक दूसरे का गतिरोध नहीं करना चाहिए—उनका समन्वय इस प्रकार होना चाहिए कि उनसे आगे के अर्थ-संकेतों में बाधा न पड़े। किन्तु रागात्मक प्रयोग के लिए किसी ऐसे तर्क-संगत विधान की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार का विधान तो बाधक हो सकता है और होता भी है। क्योंकि यहाँ तो महत्व इस बात का है कि अर्थ-संकेतों पर आश्रित प्रवृत्तियाँ अपने सहज रूप में समन्वित हों—उनका अपना रागात्मक अन्तःसम्बन्ध यथावत् रहे, और यह सब इन प्रवृत्तियों के आधारभूत अर्थ-संकेतों के तर्क-संगत विधान पर किसी प्रकार निर्भर नहीं रहता।

(प्रिंसिपल्स आफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, पृ० २६८)।

कहने की आवश्यकता नहीं कि रिचर्ड्स की 'वैज्ञानिक भाषा' ही भारतीय काव्यशास्त्र की 'शास्त्र तथा लोक-व्यवहार की भाषा' है, और 'रागात्मक' भाषा ही हमारे प्राचीन आचार्यों की 'काव्य-भाषा' है। दोनों के अन्तर को मनोविज्ञान की सहायता से अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर रिचर्ड्स ने भारतीय काव्यशास्त्र के उपर्युक्त विवेचन को वैज्ञानिक अनुमोदन प्रदान किया है। कुन्तक और भोज—या उनसे पूर्व दण्डी और भामह भी—अर्थ-संकेत और रागात्मक प्रभाव के भेद से पूर्णतया अवगत थे। कुन्तक के दोनों विशेषण 'कवि-प्रतिभा-जन्य चमत्कार से युक्त'

ग्रौर 'सहृदय-ग्राह्लादकारी' वास्तव में रागात्मक प्रभाव के ही व्यंजक हैं। ग्रन्तर इतना ही है कि रिचर्ड्स केवल अनुभूति को ही प्रमाण मानते हैं किन्तु कुन्तक भारतीय दर्शन तथा काव्यशास्त्र की परम्परा के अनुसार ग्रानन्द को काव्य की सिद्धि मानते हैं। भोज के 'अर्थवाद' शब्द में रिचर्ड्स के विवेचन का ग्रौर भी स्पष्ट संकेत है क्योंकि 'ग्रर्थवाद' में 'ग्रर्थ-संकेत' (रिफ़रेन्स) की उपेक्षा रहती है ग्रौर प्रभाव का ही महत्व होता है। भोज के इस एक शब्द में रिचर्ड्स के विवेचन का मानों सार अन्तर्भूत है। तात्पर्य यह है कि काव्य-शैली और शास्त्र-शैली का कुन्तक-कृत उपर्युक्त भेद तथा उसका विवेचन सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। मनोविज्ञान-शास्त्र के अभाव में वे उपयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं कर सके। ग्रन्यथा वे इस मौलिक भेद और उसके मनोवैज्ञानिक आधार से पूर्णतया परिचित थे।

काव्य में कवि का कर्त्तृत्व

काव्य में कवि के कर्त्तृत्व का प्राधान्य स्थापित कर कुन्तक ने अपने स्वतंत्र एवं मौलिक चिन्तन का दूसरा प्रमाण दिया है। वैसे संस्कृत काव्यशास्त्र में कवि-कर्त्तृत्व की स्वीकृति ग्रारम्भ से ही रही है--अलंकारवादी तथा रस-ध्वनिवादी, दूसरे शब्दों में देहवादी तथा आत्मवादी—दोनों ने कवि-प्रतिभा को काव्य का मूल हेतु मान कर वास्तव में कवि-कर्त्तृत्व का ही प्राधान्य स्वीकार किया है। वामन जैसे ग्राचार्य को भी, जिनकी दृष्टि अन्य आचार्यों की ग्रपेक्षा अधिक वस्तुपरक थी, अन्त में प्रतिभान को कवित्व का बीज मानना पड़ा है। संस्कृत सुभाषित की ग्रनेक सूक्तियों में भी, जहाँ कवि को अपनी रचना-प्रक्रिया में प्रजापति के समकक्ष माना गया है, इसी तथ्य की प्रबल घोषणा है। परन्तु व्यवहार-रूप में हमारे काव्यशास्त्र में काव्य के वस्तु-रूप का इतना अधिक विवेचन हुग्रा है कि कर्तृ पक्ष उसमें दब गया है। यहाँ काव्य की विषय-वस्तु, काव्य की शैली के तत्व—शब्द-शक्ति, रीति, ग्रलंकार, दोष आदि, तथा काव्य-निबद्ध पात्र नायक-नायिका भेद ग्रादि का वर्णन प्रायः वस्तुपरक ही हुग्रा है। रस का सूक्ष्म विश्लेषण हमारे काव्यशास्त्र की प्रमुख विशेषता है, किन्तु उसमें भी भोक्तृ पक्ष ही प्रबल है कर्तृ पक्ष नहीं अर्थात् रस के भोक्ता सहृदय-मानस का तो अत्यन्त पूर्ण एवं सूक्ष्म-गहन विश्लेषण किया गया है, परन्तु रस के स्रष्टा कवि-मानस की प्रायः उपेक्षा कर दी गयी है। कुन्तक का विषय रस नहीं था, अतएव इस प्रसंग में तो उन्होंने कोई विशेष योगदान नहीं किया, फिर भी कवि के स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान देकर उन्होंने इस ओर सफल निर्देश

अवश्य ही किया है। हाँ, कवि के कर्त्तृ पक्ष की प्रतिष्ठा उन्होंने अत्यन्त सबल शब्दों में की है। काव्य की आत्मा के प्रसंग में किसी आचार्य ने कवि के कर्त्तृत्व को सामने नहीं रखा, किन्तु कुन्तक ने काव्य के मूल तत्व वक्रोक्ति को सर्वथा कविव्यापार-जन्य घोषित कर कवि के व्यक्तित्व को काव्य में सबसे आगे लाकर खड़ा कर दिया है। कुन्तक ने काव्य का अर्थ मूलतः कविकर्म ही माना। उन्होंने कवि की परिभाषा ही यह की है : 'कवेः कर्म काव्यं—कवि का कर्म काव्य है। अपने आप में यह एक सामान्य उक्ति प्रतीत होती है, किन्तु इसमें काव्य के दो मौलिक सिद्धान्तों का—वस्तुपरक काव्य-दृष्टि और व्यक्तिपरक काव्य-दृष्टि का—चिरन्तन संघर्ष सन्निहित है जो भारतीय साहित्यशास्त्र में प्रच्छन्न रूप से और यूरोपीय काव्यशास्त्र में व्यक्त रूप से आरम्भ से ही चला आ रहा है। काव्यत्व काव्य की विषय-वस्तु, अभिव्यंजना के उपकरण अर्थात् रीति अलंकार आदि में निहित है अथवा कवि द्वारा उनके प्रयोग में? वस्तुपरक दृष्टिकोण पहले पक्ष पर बल देता है, व्यक्तिपरक दृष्टिकोण दूसरे पर। भारतीय काव्य-शास्त्र में कवि-प्रतिभा आदि का कीर्तन होते हुए भी काव्य-वस्तु का व्यवहार में अत्यधिक महत्व रहा है। उदाहरण के लिए महाकाव्य, नाटक आदि गंभीर काव्य-रूपों में विषय-वस्तु तथा नेता-विषयक नियम निश्चय ही वस्तुपरक दृष्टि के प्रमाण हैं। महाकाव्य तथा नाटक की वस्तु प्रामाणिक और धर्मपरक होनी चाहिए, नेता धीरोदात्त होना चाहिए। यह वस्तु के महत्व की स्पष्ट स्वीकृति है। इसी प्रकार काव्य-साधनों में वैदर्भी पांचाली तथा गौड़ी से श्रेष्ठ रीति है, गौड़ी युद्ध आदि प्रसंग के और पांचाली शृंगार आदि के अधिक उपयुक्त है, अलंकरण सामग्री का उपयोग अर्थात् अप्रस्तुत और प्रस्तुत का पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार होना चाहिए, अभिधा की अपेक्षा व्यंजना और लक्षणा अधिक काव्योपयोगी हैं—आदि मान्यताएं भी निश्चय ही वस्तु की महत्व-प्रतिष्ठा करती हैं। यहाँ तक कि रस के प्रसंग में भी जो मूलतः आत्मपरक है विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का संयोजन बहुत कुछ वस्तुगत ही बन गया है क्योंकि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी सभी की तो सीमा-रेखाएं निश्चित कर दी गयी हैं। आधुनिक युग में स्वयं शुक्लजी ने काव्य-विषय की गरिमा को महत्व दिया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी यह सिद्धान्त मान्य रहा है। वहाँ भी अरस्तू से लेकर मैथ्यू आरनल्ड तक 'महान विषय-वस्तु (ग्रेट थीम्स)' का बड़ा महत्व रहा है। बीच-बीच में व्यक्तिपरक दृष्टिकोण भी उतने ही उद्घोष के साथ उत्तीर्ण हुआ है—प्राचीनों में लांजाइनस और परवर्ती विचारकों में रूसो, स्विनबर्न, और इधर अर्वाचीनों में क्रोचे आदि ने वस्तु का विरोध किया है—क्रोचे ने तो इसका एकांत निषेध ही कर दिया है। परन्तु वस्तु-समर्थकों का

स्वर भी क्षीण नहीं रहा और बहुमत शताब्दियों तक उनका ही रहा है। बीसवीं शताब्दी में इलियट ने अति-व्यक्तिवाद से खीझ कर काव्य में कवि के कर्तृत्व को ही मानने से इन्कार कर दिया। वे कवि को केवल माध्यम मानते हैं कर्ता नहीं। "सफल कवि होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसकी मानसिक शक्ति भी समृद्ध हो—आवश्यकता इस बात की है कि उसका मन अधिक से अधिक भावों और संवेदनाओं का अधिक से अधिक सफल माध्यम बन सके। × × × कला-सृजन की इस प्रेरणा के समय जो समन्वय होता है, उससे कवि के व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है—इस समस्त प्रक्रिया में उसका व्यक्तित्व सर्वथा पृथक एवं निर्विकार रहता है जैसा किसी किसी रासायनिक क्रिया में होता है। उदाहरण के लिए ऑक्सीजन और सल्फ़र डायोक्साइड से भरे किसी कमरे में अगर आप प्लेटीनम का एक तन्तु डाल दें तो वे दोनों तो सल्फ़र एसिड में परिवर्तित हो जाएँगे, परन्तु प्लेटीनम के तन्तु में किसी प्रकार का विकार नहीं आएगा। कवि का मन इसी प्लेटीनम तन्तु के समान है जो उसकी अनुभूतियों को प्रभावित और समन्वित करता हुआ स्वयं निर्विकार रहता है।" (परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा, पृ० १८)।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इलियट काव्य में कवि के व्यक्तित्व का किसी प्रकार का योग-दान नहीं मानते। वे उसे सर्वथा तटस्थ मानते हैं। वे कर्तृत्व का एकान्त निषेध तो नहीं करते, किन्तु कवि का सक्रिय कर्तृत्व उन्हें स्वीकार्य नहीं है। उनकी मान्यता है कि सृजन-प्रेरणा के प्रभाव में भावों और संवेदनों के समन्वय का नाम ही काव्य-रचना है। किन्तु यह समन्वय कवि की सचेष्ट क्रिया[1] नहीं है, यह तो सृजन-प्रेरणा के प्रभाव से आप घटित हो जाता है।

इस पक्ष में इलियट अकेले नहीं हैं—मनोविश्लेषण-शास्त्र के युंग जैसे मेधावी युग-प्रवर्तक आचार्य उनके साथ हैं। युंग भी एक दूसरे मार्ग से इसी गन्तव्य पर पहुँचे हैं:

एक बार फिर, आत्मा की आदिम अवस्था में प्रवेश करने पर ही कला के सृजन और उसके प्रभाव का रहस्य प्राप्त होता है, क्योंकि इस अवस्था में अनुभव-कर्ता व्यष्टि न होकर समष्टि ही होती है × × ×। इसी कारण महान कला वस्तुपरक और अव्यक्तिगत होती है, यद्यपि वह हमारे अन्तरतम के तारों को झंकृत कर देती है। और इसी कारण कवि का व्यक्तित्व उसकी कला के लिए अनिवार्य नहीं है—वह केवल एक (उपयोगी) साधन या बाधा मात्र हो सकता है। अपने

१. कॉन्शस ऐक्टिविटी

जीवन में कवि एक संस्कारहीन स्वार्थरत व्यक्ति हो सकता है, अथवा भद्र नागरिक, रुग्णमना हो सकता है या मूढ़ या अपराधी—ये सभी रूप उसके अपने व्यक्तित्व के लिए आवश्यक हैं किन्तु उसके कवित्व के लिए ये सभी अनावश्यक हैं ।

× × + ×

कलाकार तो मूलतः साधन है और अपनी कला से हीनतर है ।

प्रत्येक स्रष्टा कलाकार का व्यक्तित्व दुहरा होता है—अथवा यों कहिए कि उसमें परस्पर विरोधी गुणों का समन्वय रहता है । एक ओर वह मानव-व्यक्ति है, दूसरी ओर एक अव्यक्तिगत सृजन-प्रक्रिया । मानव-व्यक्ति रूप में वह स्वस्थ हो सकता है अथवा रुग्ण, अतएव उसके व्यक्तिगत मनोजीवन का तो वैयक्तिक रूप में विश्लेषण हो सकता है और होना चाहिए । किन्तु कलाकार के रूप में उसका अध्ययन उसकी सृजना-क्रिया द्वारा ही हो सकता है ।

(युंग : मनोविज्ञान-सम्बन्धी विचार-संग्रह पृ० १८१, १८३)

इस प्रकार शास्त्रवादी इलियट और मनोविश्लेषण-विज्ञान के आचार्य युंग दोनों के निष्कर्ष प्रायः समान ही हैं -वैसे दोनों की चिन्ताधारा भी मूलतः असमान नहीं है, दोनों ही दो भिन्न मार्गों से पुरातनवादी आस्तिकता पर पहुँच जाते हैं । अन्तर केवल इतना है कि शास्त्रवादी होने के कारण इलियट बीच में ही रुक जाते हैं और सृजन-प्रेरणा को एक अप्रत्याशित अनिर्वचनीय घटना मान कर छोड़ देते हैं । युंग का सिद्धान्त उन्हें और भी आगे ले जाता है । युंग का सिद्धान्त यह है कि युग-विशेष की सामूहिक आवश्यकताओं के दबाव से विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न कवि के अन्तश्चेतन में स्थित आदिम मानव-वृत्तियाँ प्रबल वेग से सक्रिय हो उठती हैं । चेतन के साथ इनका सम्पर्क ही कला-सृजन है । अतः युंग के अनुसार कवि की अन्तश्चेतना में विद्यमान आदिम मानव-वृत्तियों की सक्रियता ही सृजन प्रक्रिया का उद्गम है । भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिपादित कवि की सवासनता युंग की इस स्थापना के निकट पहुँच जाती है । आदिम मानव वृत्तियों को ही भारतीय दर्शन में वासना का नाम दिया गया है । इस प्रसंग में युंग ने अपने विवेचन के अन्तर्गत जिस सामूहिक अनुभव (कलेक्टिव एक्सपीरियंस) का बार-बार उल्लेख किया है, हमारा साधारणीकरण भी वैसी ही कोई वस्तु है । अतएव अन्य प्रसंगों की भाँति यहाँ भी मेरी यह धारणा पुष्ट होती है कि भारतीय साहित्यवेत्ता शताब्दियों पूर्व साहित्य के मूल मर्मों तक पहुँच गया था—उसकी शब्दावली मात्र भिन्न थी ।

यहाँ व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व का अन्तरस्पष्ट कर लेना समीचीन होगा। व्यक्तित्व मनुष्य के समग्र रूप को अपनी परिधि में बाँधे हुए है। व्यक्तित्व में उसका अचेतन और चेतन, भोक्ता तथा कर्ता रूप सभी कुछ आ जाता है। कर्त्तृत्व में मुख्यतः उसका कर्ता रूप ही आता है। सामान्य रूप से कर्त्तृत्व अपने आप में स्वतन्त्र, कोई यान्त्रिक क्रिया नहीं है — उसके पीछे भी कवि के चेतन-अचेतन तथा भोक्ता रूपों की प्रेरणा निश्चय ही वर्तमान रहती है, फिर भी उसमें चेतन तथा सचेष्ट क्रिया का ही प्राधान्य है। कवि के व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व मात्र में यही अन्तर है। काव्य को कवि के व्यक्तित्व का प्रतिफलन मानने का अर्थ यह हुआ कि कवि अपने जीवन के अनुभवों को—अनुभूत घटनाओं और तथ्यों को—चेतन और अचेतन के राग-विरागों को काव्य में अभिव्यक्त करता है: उसकी कृति आत्माभिव्यक्ति है। काव्य-निबद्ध भाव अथवा अनुभूतियाँ उसकी स्वानुभूति से सम्बद्ध हैं। अर्थात् कवि के भोक्ता और स्रष्टा रूपों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'प्रत्येक काव्य-कृति एक आत्मकथा है'। अथवा 'कृति के पीछे कर्ता का व्यक्तित्व निहित रहता है'—इस प्रकार के वाक्यों का यही अर्थ है। कर्त्तृत्व के लिए यह सब आवश्यक नहीं है। किसी काव्य का कर्ता उसमें निबद्ध सामग्री का—अर्थात् अनुभूतियों और तथ्यों का भोक्ता भी हो यह आवश्यक नहीं है, ऐसा प्रायः होता भी नहीं है। यह दूसरा पक्ष है। जो काव्य में कवि का कृतित्व मात्र मानते हैं उनका यही मत है। भारतीय काव्यशास्त्र सामान्य रूप में कवि के कर्त्तृत्व को इसी रूप में ग्रहण करता है, वह कवि को सवासन तो अवश्य मानता है पर कवि के भोक्ता और स्रष्टा रूपों में तादात्म्य नहीं मानता। किन्तु साथ ही वह कवि को माध्यम मात्र भी नहीं मानता; कवि अपनी प्रतिभा, निपुणता तथा अभ्यास के बल पर काव्य की रचना करता है। काव्य कवि की सचेष्ट क्रिया है जिसको वह उपर्युक्त तीन गुणों के द्वारा सफलतापूर्वक सम्पादित करता है। इलियट एक पग और और आगे बढ़ जाते हैं, वे कवि को माध्यम मात्र मान कर उसे सचेष्ट कर्त्तृत्व से भी वंचित कर देते हैं। उनकी मान्यता है कि सृजन-प्रेरणा के प्रभाव में भावों और संवेदनों के समंजन-रूप में काव्य-रचना आपसे आप घटित हो जाती है; कवि का व्यक्तित्व इस समंजन का माध्यम मात्र है, कर्ता नहीं है। युंग भी मनोविज्ञान के आधार पर प्रायः इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं।

इस विषय में कुन्तक की स्थिति क्या है ? स्पष्ट है कि कुन्तक कवि को केवल माध्यम मात्र मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्होंने कवि के कर्त्तृत्व की निर्भ्रान्त शब्दों में घोषणा की है। परन्तु, कर्त्तृत्व से उनका अभिप्राय केवल कवि की सक्रियता मात्र से है अथवा वे काव्य को कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी

मानते हैं—यह प्रश्न और उठता है ? कुन्तक यहाँ अपने समय की परिसीमाओं का अतिक्रमण कर आगे बढ़ जाते हैं। वे काव्य को कविव्यापार तो मानते ही हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। उनकी यह धारणा तो अत्यन्त दृढ़ है ही कि काव्य की मूल प्रेरक-शक्ति कवि है—उसकी प्रतिभा ही काव्य का एकमात्र आधार है : काव्य की शोभा काव्य-वस्तु अथवा काव्य-सामग्री में निहित नहीं रहती, वह कवि की उत्पाद्य है। यहाँ एक शंका और उठती है। यह उत्पादन क्या कोई स्वतन्त्र क्रिया है अथवा कवि के अनुभूतिमय व्यक्तित्व अर्थात् उसके भोक्ता रूप से उसका कोई सम्बन्ध है ? जैसा मैंने अभी संकेत किया है, हमारा काव्यशास्त्र कवि को सवासन तो निश्चय ही मानता है, किन्तु वह कवि के भोक्ता और स्रष्टा रूप को एक मानने को तैयार नहीं है। आधुनिक शब्दावली में इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय काव्यशास्त्र यह तो मानता है कि कवि में अपने निबद्ध भावों की अनुभूति-क्षमता वासना रूप में निहित रहती है, किन्तु वह अपने जीवन में उन सभी की अनुभूति भी करता है यह साधारणतः मान्य नहीं है। विदेश के काव्यशास्त्र में भी साधारणतः यह मान्य नहीं रहा; पर पिछले कुछ दशकों में मनोविज्ञान के वर्धमान प्रभाव ने कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व में—कर्ता और भोक्ता रूप में सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। कुन्तक भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार कवि की सवासनता को निश्चय ही स्वीकार करते हैं, प्रतिभा को उन्होंने पूर्वजन्म और इस जन्म के संस्कारों का परिपाक माना है और संस्कार तथा वासना प्रायः पर्याय ही हैं। वे एक पग और भी आगे बढ़ते हैं - कवि के स्वभाव को काव्य का मूल प्रेरक तत्व मानकर (स्वभावो मूध्नि वर्तते) वे कवि के व्यक्तित्व को भी काव्य में स्वीकार कर लेते हैं। कवि के कर्तृत्व और व्यक्तित्व को इस प्रकार कुन्तक सम्बद्ध मान लेते हैं। फिर भी वे व्यक्तित्व को कदाचित् उस अर्थ में भोक्ता का पर्याय मानने को प्रस्तुत नहीं हैं जिस अर्थ में कि आधुनिक मनोविज्ञान मानता है अर्थात् वे काव्य को कवि की प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति मानने के लिए उद्यत नहीं हैं। उनका 'स्वभावो मूध्नि वर्तते' सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिपादित कवि की 'सवासनता' और पाश्चात्य मनोविज्ञान द्वारा स्थापित 'आत्माभिव्यक्ति' का मध्यवर्ती है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है :

१. कुन्तक कवि को माध्यम मात्र नहीं मानते।

२. कवि काव्य का कर्ता है—काव्य की शोभा कवि की उत्पाद्य है। इसका अर्थ यह नहीं कि कवि अपने सम्पूर्ण काव्य का : अपनी विषय-वस्तु और काव्य-सामग्री

का भी आविष्कार अथवा उत्पादन करता है। (इसी लिए तो मैंने काव्य-वस्तु आदि को नहीं काव्य-शोभा को ही कवि का उत्पाद्य कहा है।) दूसरे शब्दों में इसका अभिप्राय यह हुआ कि कुन्तक के मत से काव्य-सौन्दर्य विषय-वस्तु तथा काव्य सामग्री आदि में निहित न होकर कवि द्वारा उनके प्रयोग में ही निहित रहता है।

३. कुन्तक कवि को प्रकारान्तर से सवासन भी मानते हैं, प्रकारान्तर से इसलिए कि वे रस को भी प्रकारान्तर से ही स्वीकार करते हैं।

४. इसके आगे कुन्तक कवि के व्यक्तित्व को भी काव्य का मूल प्रेरक तत्व मान लेते हैं। परन्तु उसे वे समंजित एवं सामान्य व्यक्तित्व के अर्थ में ही ग्रहण करते हैं, भोक्ता के अर्थ में नहीं। प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं है, आधुनिक मनोविज्ञानी की भाँति वे कवि के स्रष्टा और भोक्ता रूप को एक मानने को तैयार नहीं हैं।

प्रतिभा

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा का बड़ा महत्व है—और यूरोप में भी आरम्भ से ही उसका स्तवन मिलता है। प्रतिभा में मूल शब्द है भा जिसका अर्थ है चमक या झलक। विभिन्न उपसर्गों की सहायता से इसके आभा, प्रभा, प्रतिभा आदि अनेक रूप बन जाते हैं। प्रति उपसर्ग के संयोग से प्रतिभा से अभिप्राय ऐसी ज्योति अथवा प्रकाश विशेष का हो जाता है जिसके द्वारा किसी वस्तु का रूप प्रतिभासित हो उठे। संस्कृत शास्त्र में प्रतिभा की विभिन्न परिभाषाओं में यह अर्थ किसी न किसी रूप में निहित मिलता है। संस्कृत के दर्शन-ग्रंथों तथा काव्यशास्त्र के अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्रतिभा अथवा प्रतिभान का विवेचन है। काव्य के आचार्यों में दण्डी, वामन, रुद्रट, भट्टतौत, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिम भट्ट, राजशेखर, तथा मम्मट आदि ने तो प्रतिभा का प्रत्यक्ष विवेचन ही किया है, अन्य आचार्यों की व्याख्याओं में भी स्थान स्थान पर उसका उल्लेख मिलता है। दण्डी के अनुसार प्रतिभा या प्रतिभान पूर्ववासना के गुणों से सम्बद्ध है :

पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्‌भुतम् ॥ काव्यादर्श १।१०४। वामन ने प्रतिभा को कवित्व का बीज स्वीकार करते हुए उसको जन्मान्तरागत संस्कार विशेष माना है : 'कवित्वबीजं प्रतिभानम् ॥ १,३,१६ ॥ × × × जन्मान्तरागत संस्कार-विशेष : कश्चित्।'—अभिनवगुप्त ने भी उसे प्राक्तन संस्कार माना है :

अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः

(अभिनवभारती खण्ड १)

सामान्यतः संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिभा को जन्मजात ही माना गया है, परन्तु हेमचन्द्र आदि कुछ आचार्यों ने उसके दो भेद भी माने हैं : जन्मजात और कारण-जन्य—इनको ही सहजा और औपाधिकी भी कहा गया है। पण्डितराज जगन्नाथ का भी प्रायः यही मत है। ये आचार्य सहजा प्रतिभा को जन्मान्तरगत संस्कार और औपाधिकी को व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का परिपाक मानते हैं।

यूरोप में भी प्रतिभा के इस रूप का विवेचन मिलता है। वहाँ पूर्वजन्म की स्वीकृति तो नहीं है क्योंकि मसीही दर्शन में उस के लिए अवकाश नहीं है, परन्तु उस के समकक्ष वंश-प्रभाव या पितर-प्रभाव को स्पष्टतः प्रतिभा के निर्माता कारणों में माना गया है। यूरोप के मनोवैज्ञानिकों ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार के अनुसन्धानों द्वारा प्रसिभा को मूलतः वंशानुगत उपलब्धि ही सिद्ध किया है। इस विषय में गाल्टन नामक विद्वान ने विशेष परिश्रम किया है। उनके कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं : मेरा विचार प्रतिभा शब्द का प्रयोग किसी पारिभाषिक अर्थ में करने का नहीं था। मैं तो उसके द्वारा एक ऐसी शक्ति का द्योतन करना चाहता था जो असाधारण हो और साथ ही सहजात भी हो (वंशक्रमागत प्रतिभा, भूमिका पृ० ८)।

मैं अपनी इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए कि प्रतिभा वंशक्रमागत होती है, यह दिखाना चाहता हूँ कि प्रसिद्ध व्यक्तियों के वंशजन प्रायः प्रसिद्ध ही होते हैं। (वही पृ० ५)।

सहज समानता (अर्थात् सब में समान जन्मजात शक्ति होती है) के झूठे दावों पर तो मुझे निरपवाद रूप से आपत्ति है। (वही पृ० १२)।

वास्तव में पूर्वजन्म और वंश-प्रभाव एक बात नहीं है—और इसका एक प्रमाण तो यही है कि भारतीय दर्शन दोनों की युगपत् मान्यता स्वीकार करता है। परन्तु आत्मा की परिकल्पना के अभाव में प्राक्तन संस्कार के विषय में वैज्ञानिक कल्पना वंश-प्रभाव से आगे नहीं जाती। इस प्रकार वंश-प्रभाव और पूर्वजन्म के संस्कार सिद्धान्त रूप में सर्वथा पृथक हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में कम से कम दोनों का दृष्टिकोण मूलतः एक ही है।

प्रतिभा का स्वरूप :— प्रतिभा का दूसरा नाम शक्ति भी है, अर्थात् प्रतिभा एक प्रकार की मानसिक शक्ति है। भट्ट तौत तथा अभिनवगुप्त ने उसे प्रज्ञा का एक विशेष प्रकार माना है।

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता !

नव-नव उन्मेष करने वाली प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है— दूसरे शब्दों में प्रतिभा प्रज्ञा का वह प्रकार है जो नवीन रूपों का सृजन अथवा उद्घाटन करती है। अभिनवगुप्त ने इसी परिभाषा को और भी विशद रूप में प्रस्तुत किया है :— प्रतिभा अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षमा प्रज्ञा। अर्थात अपूर्व रूपों की सृष्टि करने वाली प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है। कवि-प्रतिभा इसी का एक विशेष प्रकार है जिसके द्वारा सहृदय कवि रसावेश की स्थिति में काव्य-निर्माण-क्षमता प्राप्त करता है :— तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्य-सौन्दर्य काव्यनिर्माणक्षमत्वम्। (ध्वन्यालोकलोचन पृ० २९)। अभिनवगुप्त के वक्तव्य का सारांश यह है : १. प्रतिभा प्रज्ञा का ही एक रूप है। २. इसका कार्य है अपूर्व—नवनव रूपों की सृष्टि करना। ३. प्रतिभा का एक विशिष्ट रूप है कवि-प्रतिभा जिसके द्वारा रसाविष्ट कवि काव्य-सृजन में समर्थ होता है। अर्थात् सामान्य रूपों की सृष्टि करने वाली शक्ति सामान्य प्रतिभा है और रसात्मक रूपों की सृष्टि करने वाली शक्ति कवि-प्रतिभा है।

कवि-प्रतिभा रसात्मक रूपों की सृष्टि किस प्रकार करती है, इसकी मार्मिक विवेचना रुद्रट, महिम भट्ट और राजशेखर ने प्रतिभा के प्रसंग में की है। रुद्रट के अनुसार—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

इसका भावार्थ यह है कि समाहित चित्त में जिसका उन्मेष होने पर प्रसन्न पदावली में अभिधेय अर्थ का अनेक प्रकार से प्रस्फुरण होता है वही शक्ति अथवा प्रतिभा है। अर्थात् जिस समय कवि का मन समाहित हो जाता है, उस समय प्रतिभा के उन्मेष से ही अभिधेय अर्थ अनेक प्रकार से रमणीय शब्दावली में अभिव्यक्त होता है। यही मन्तव्य महिम भट्ट का भी है।

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।

रसानुकूल शब्द-अर्थ के चिन्तन में तल्लीन समाहितचित्त कवि की प्रज्ञा ही, जब कि वह शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श करती हुई सहसा उद्दीप्त हो उठती है, प्रतिभा संज्ञा को धारण करती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस समय शब्द-अर्थ के भावन में तल्लीन कवि का मन पूर्णतः समाहित हो जाता है, उस समय एक क्षण ऐसा आता है कि कवि की प्रज्ञा शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का सहज साक्षात्कार कर लेती है। यही काव्य-सृजन का क्षण होता है, और इस क्षण में प्रज्ञा प्रतिभा का रूप धारण कर लेती है। अर्थात् महिम भट्ट के अनुसार भी प्रतिभा प्रज्ञा का ही एक विशेष रूप है—जिसके द्वारा शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होता है। उनके अनुसार प्रतिभा प्रज्ञा का वह विशेष रूप है जिसके द्वारा कवि शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है। 'शब्द-अर्थ के इस वास्तविक रूप' को राजशेखर ने पदार्थसार्थ कहा है और मूर्त रूप में विवरण के साथ प्रस्तुत किया है :— या शब्दग्रामम्, अर्थसार्थम्, अलंकारतन्त्रम्, उक्तिमार्गम्, अन्यदपि तथाविधमधिहृदयम् प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अर्थात् पदार्थ-समूह से अभिप्राय शब्द, अर्थ, अलंकार, उक्ति तथा इस प्रकार के अन्य काव्य-प्रसाधनों से है। वस्तुपरक दृष्टि से ये सभी शब्द-अर्थ के चमत्कार हैं, और प्रतिभा इन सबको कवि के हृदय में प्रतिभासित कर देती है। यह तो हुई वस्तुपरक दृष्टि। भावपरक दृष्टि से शब्द-अर्थ के वास्तविक रूप का यह उन्मेष ही रसात्मक रूप की सृष्टि है क्योंकि वक्ता अथवा श्रोता के मन का उक्त अथवा श्रुत शब्द-अर्थ के साथ पूर्ण सामंजस्य ही शब्द-अर्थ के सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार है— वही रस है।

अन्त में, प्रतिभा के विषय में, संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विवेचन का निष्कर्ष इस प्रकार है :

मनुष्य की मौलिक बौद्धिक शक्ति का नाम है प्रज्ञा जो जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का परिपाक है। प्रज्ञा के अनेक रूप हैं और अनेक कार्य—इनमें से एक रूप है प्रतिभा जिसका कार्य है नव-नव रूपों का उन्मेष अथवा सृजन। प्रतिभा का भी एक विशिष्ट रूप है कवि-प्रतिभा, जो रसात्मक रूपों का उन्मेष अथवा सृजन करती है। साहित्यशास्त्र में प्रतिभा के इसी रूप का वर्णन है।

पश्चिम में प्रतिभा के स्वरूप का विशद विवेचन मनोविज्ञान शास्त्र के अन्तर्गत किया गया है। मनोविज्ञान के अनुसार प्रतिभा का अर्थ है असाधारण कोटि की मेधा—अथवा असामान्य सहज (मानसिक) शक्ति[1]। अत्यन्त उच्च कोटि

१. दी न्यू डिक्शनरी ऑफ़ साइकोलोजी

की मानसिक शक्ति—विशेष रूप से किसी भी प्रकार की आविष्करण अथवा सृजन-शक्ति। × × × इसका कोई विशेष पारिभाषिक अर्थ नहीं है, कहीं कहीं इसे १४० साधारण प्रज्ञा के बराबर माना गया है[1]।'

मनोवैज्ञानिकों ने प्रतिभा के मूल गुणों का भी विश्लेषण किया है। सामान्यतः प्रतिभा की मूल विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

प्रतिभा का विकास व्यक्तित्व के अन्य अंगों के अनुपात से नहीं होता; उसके परिपाक के फलस्वरूप व्यक्तित्व के अन्य अंग—प्रायः उसके मानवीय गुण, अपुष्ट रह जाते हैं।

प्रतिभा अपने आपको वातावरण के अनुकूल ढालने में प्रायः असमर्थ रहती है।

प्रतिभा की गति निर्बाध होती है—वह किसी प्रकार का व्याघात या प्रतिबन्ध सहन नहीं कर सकती।

प्रतिभा और सहजगुण में यह अन्तर है कि सहजगुण का नियन्त्रण किया जा सकता है, परन्तु प्रतिभा उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द है। वह एक दैवी विस्फोट है, नियन्त्रित घटना नहीं।

प्रतिभा परिस्थिति और रीति का बन्धन स्वीकार नहीं करती, अपने सम-सामयिक समाज की रूढ़ियों और मर्यादाओं का उल्लंघन करती हुई वह पर्वत की तरह सहसा उद्भूत हो उठती है।

प्रतिभा को 'साधारणता' का नीरस वातावरण असह्य है—वह असाधारणता में ही खुल खेलती है।[2]

इस प्रकार मनोविज्ञान के अनुसार प्रतिभा सामान्य नियमों और रूढ़ि-रीतियों के बन्धन से मुक्त एक असाधारण दैवी शक्ति है जिसका कार्य है सृजन अथवा आविष्करण। मनोविज्ञान का यह विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र के विवेचन से

---

१. डिक्शनरी आफ़ साइकोलोजी

२. युंग के मनोवैज्ञानिक विचार-संग्रह 'साइकोलोजीकल रिफ़्लेकशन्स' नाम ग्रन्थ के आधार पर पृ० १८४-१८६

मूलतः भिन्न नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि आचार्यों के पूर्वोद्धृत मन्तव्यों का सारांश भी प्रायः यही है कि प्रतिभा एक असाधारण जन्मान्तरागत दैवी शक्ति है जो नियतिकृतनियमरहिता है[1] और जिसमें अपूर्व-वस्तु-निर्माण की क्षमता है।

फ्रायड तथा उनके अनुयायी मनोविश्लेषकों ने भी प्रतिभा की अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या की है। वे प्रतिभा का मूल उद्गम अवचेतन तथा चेतन मन दूसरे शब्दों में इद[2] और नैतिक चेतना के संघर्ष में मानते हैं। हमारी अनेक इच्छाएं दमित होकर अवचेतन मन में संचित हो जाती हैं जहाँ से वे अत्यन्त प्रबल रूप धारण कर अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न करती रहती हैं। परन्तु उनकी अभिव्यक्ति में सबसे बड़ी बाधा है हमारी नैतिक चेतना (अति-अहं—सुपर-ऐगो) जो उनका अवरोध करती है। इसके परिणामस्वरूप हमारे अवचेतन और चेतन मन में—अथवा इद और नैतिक अहं के बीच तीव्र संघर्ष हो जाता है: यही संघर्ष प्रतिभा का मूल उद्गम है: जिसके व्यक्तित्व में यह संघर्ष जितना अधिक तीव्र एवं प्रबल होगा, उसकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रबल और प्रखर होगी। इस प्रकार मनोविश्लेषण शास्त्र के आचार्य प्रतिभा की असाधारण तथा अतिमानवीय विशेषताओं का कारण अवचेतन के इस प्रच्छन्न संघर्ष में खोज निकालते हैं। भारतीय शास्त्र ने जिस तत्व को दैवी वरदान या प्राक्तन संस्कार का परिपाक कह कर संतोष कर लिया था, पश्चिम के आस्तिक दर्शन ने जिसे दैवी स्फुलिंग मान कर अपनी जिज्ञासा का समाधान कर लिया था, आधुनिक युग के भौतिक-वैज्ञानिक शास्त्रों ने वंश-प्रभाव और अवचेतन मन के अन्तर्द्वन्द्वों में उसका उद्गम खोजने का प्रयत्न किया है। वास्तव में प्रतिभा आरम्भ से ही मानव-व्यक्तित्व का एक रहस्यमय अंग रही है और प्रत्येक देश तथा प्रत्येक युग अपने विश्वासों तथा दार्शनिक परम्पराओं के अनुसार उसके स्वरूप की व्याख्या करता रहा है। प्रतिभा के विषय में एक तथ्य तो स्वतः स्पष्ट ही है, और वह यह कि प्रतिभा अन्तःकरण की एक असाधारण शक्ति है, अथवा यों कहिए कि एक प्रकार की असाधारण मानसिक शक्ति है और इस प्रकार वह अन्तःसंस्कारों का परिपाक है। कुछ व्यक्तियों के अन्तःसंस्कार असाधारण रूप से प्रबल होते हैं और उनमें इन संस्कारों के समीकरण की अपूर्व शक्ति भी होती है। इस असाधारणता की व्याख्या भारतीय शास्त्रों ने आत्मा की अमरता तथा पूर्वजन्म के आधार पर की है—उनका

---

१. मम्मट ने कवि-प्रतिभा की सृष्टि को नियतिकृतनियमरहिता कहा है—
काव्यप्रकाश १।१

२. Id

स्पष्ट तर्क है कि यह असाधारणता पूर्वजन्मों के संचित संस्कारों का परिपाक है : प्रतिभा एक जन्म की सिद्धि न होकर जन्मजन्मान्तर की सिद्धि है। पाश्चात्य दर्शन में पूर्वजन्म का सिद्धान्त मान्य नहीं रहा, अतएव उन्हें प्रतिभा की असाधारणता को दैवी वरदान मानना पड़ा : प्रतिभावान व्यक्ति जन-सामान्य की अपेक्षा अधिक समर्थ इसलिए होता है क्योंकि उसमें दैवी अंश अधिक रहता है अथवा दैवी शक्तियों के साथ उसका सम्पर्क रहता है। स्वभावतः आज का बौद्धिक युग इन व्याख्याओं को स्वीकार करने में असमर्थ रहा और उसने बुद्धि-सम्मत अनुसन्धानों के द्वारा प्रतिभा की असाधारणता का समाधान करने का प्रयत्न किया। अन्तःसंस्कारों की प्रबलता के उसने दो कारण प्रस्तुत किए : १. (पूर्व-जन्म के वज़न पर) वंश-प्रभाव २. अवचेतन का अन्तर्द्वन्द्व। आस्तिक दर्शनों ने जिन प्रच्छन्न प्रभावों का सम्बन्ध पूर्वजन्म के संस्कारों के साथ अथवा दैवीसम्पर्क के साथ स्थापित किया था उनको भौतिक विज्ञानों ने अवचेतन तथा पितर-प्रभाव में खोजने का प्रयत्न किया।

संस्कृत काव्यशास्त्र में जिसे अभिनवगुप्त आदि ने कवि-प्रतिभा कहा है उसका विवेचन पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र तथा मनोविज्ञान में कल्पना के प्रसंग किया गया है। पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में कॉलरिज और इधर रिचर्ड्स ने कल्पना का विशद विवेचन किया है। उनके अनुसार अस्त-व्यस्त ऐन्द्रिय संवेदनों अथवा प्रत्यक्ष प्रभाव-प्रतिबिम्बों को समन्वित कर पूर्ण बिम्ब-रूपों में ढालना कल्पना का मुख्य कर्तव्य-कर्म है। "इस प्रकार विशृंखलित तथा असम्बद्ध अन्तर्वृत्तियों को एक समंजस प्रतिक्रिया में ढालती हुई कल्पना सभी कलाओं में अपना अस्तित्व व्यक्त करती है।" (रिचर्ड्स-प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म पृ० २४५)। यही सामंजस्य-विधान अथवा अनेकता में एकता की स्थापना—दूसरे शब्दों में व्यस्त प्रतिक्रियाओं को पूर्ण अनुभूतियों में मूर्तित करना कवि-कल्पना अथवा सृजनशील कल्पना का मूल धर्म है। कॉलरिज के शब्दों में 'इस समन्वय और जादू की शक्ति के लिए ही मैंने कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। इसका धर्म है विरोधी या असम्बद्ध गुणों का एक-दूसरे के साथ सन्तुलन अथवा समन्वय करना अर्थात् एकरूपता का अनेकरूपता के साथ, साधारण का विशेष के साथ, भाव का चित्र के साथ, व्यष्टि का समष्टि के साथ, नवीन का प्राचीन के साथ, असाधारण भावावेश का असीम संयम अथवा अनुक्रम के साथ अथवा चिर-जागृत विवेक एवं स्वस्थ आत्म-संयम का दुर्दम तथा गम्भीर भावुकता के साथ।...इसी के बल पर कवि अनेकता में एकता ढूंढ़ निकालता है और विभिन्न विचारों एवं भावों को एक विशेष विचार अथवा भाव से अन्वित कर देता है।" शेक्सपियर ने इसे ही स्वस्थ कल्पना कहा है।

दार्शनिकों में कांट और इधर क्रोचे आदि ने भी इसी मत की पुष्टि की है : कान्ट ने इसे उत्पादनशील[1] कल्पना और क्रोचे ने सहजानुभूति[2] कहा है। इन दोनों शक्तियों का मूल धर्म एक ही है—जीवन के सम्पर्क से मानव-चेतना में उत्पन्न अरूप झंकृतियों को रूप देना। भारतीय आचार्यों की पूर्वोद्धृत शब्दावली में भी प्रकारान्तर से इन्हीं तथ्यों की अभिव्यक्ति है : समाहित चित्त में शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार, अथवा उसके वास्तविक सौन्दर्य का प्रतिभासन सहजानुभूति ही है जो मूलतः अभिव्यंजना से अभिन्न है—और यही अस्तव्यस्त संवेदनों का समंजन अथवा अरूप झंकृतियों को रूप देना है। समाहित चित्त में विश्रृंखलता व्यवस्थित हो जाती है—अनेकता एकाग्र हो जाती है, तभी विश्रृंखल संवेदन समंजित होकर मूर्तित हो उठते हैं और तभी शब्द-अर्थ का सच्चा स्वरूप प्रतिभासित हो जाता है। जिस शक्ति के द्वारा यह सब संघटित होता है वही कान्ट की सृजनशील कल्पना है, वही क्रोचे की सहजानुभूति है और वही अभिनवगुप्त की काव्यनिर्माणक्षमा प्रतिभा है।

कुन्तक का प्रतिभा-विवेचन

कुन्तक ने पूर्ण आग्रह के साथ प्रतिभा का महत्व स्वीकार किया है। अपने ग्रन्थ में किसी एक स्थल पर क्रमबद्ध विवेचन तो उन्होंने नहीं किया फिर भी यत्र तत्र विकीर्ण उद्धरणों को संकलित कर प्रतिभा के विषय में उनका व्यवस्थित अभिमत उपलब्ध किया जा सकता है। वास्तव में कवि-प्रतिभा का कुन्तक के मन पर इतना गहरा प्रभाव रहा है कि जहाँ कहीं अवसर आया है, वहीं उन्होंने अत्यन्त उच्छ्वसित शब्दों में उसका कीर्तिगान किया है।

प्रतिभा का महत्व :—कुन्तक के अनुसार सम्पूर्ण काव्य-विधान का केन्द्रबिन्दु ही प्रतिभा है :

१. यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत्प्राधान्येनैव वाक्योपनिबन्धः तथापि कविप्रतिभा-प्रौढ़िरेव प्राधान्येनावतिष्ठते। (हि० व० जी० पृ० ३२)

अर्थात् यद्यपि (उपर्युक्त) दोनों (उदाहरणों) में उस (शब्दार्थ के साहित्य) के प्राधान्य से ही काव्य-रचना की गयी है फिर भी कविप्रतिभा की प्रौढ़ता ही प्रधान रूप से अवस्थित रहती है।

---

१. प्रोडक्टिव इमेजिनेशन २. इन्टच्यूशन

२. यत्किंचनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम् ।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते ।
(हि० व० जी० १।२८)

वैसे तो यह सुकुमार मार्ग का ही वर्णन है, परन्तु इसमें प्रसंगवश प्रतिभा के महत्व का निर्देशन भी कर दिया गया है । इस श्लोक का अर्थ है : सुकुमार मार्ग वह है जहाँ प्रतिभा से उद्भूत जितना भी वैचित्र्य है वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ शोभित रहता है । एक विद्वान ने इस श्लोक के प्रथम चरण को पृथक कर उसकी किंचित् भिन्न व्याख्या की है : 'जो कुछ भी वैचित्र्य है, वह सभी प्रतिभा से उद्भूत है ।' यह व्याख्या यद्यपि हमारे अभिप्राय की पुष्टि के लिए अधिक अनुकूल पड़ती है, तथापि प्रसंगानुमोदित न होने से यथावत् मान्य नहीं है । किन्तु प्रतिभा की महत्व-प्रतिष्ठा इस श्लोक में भी है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता । प्रतिभा से उद्भूत सौन्दर्य को कुन्तक ने सर्वत्र आहार्य अर्थात् व्युत्पत्ति-साध्य सौन्दर्य की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व दिया है : कालिदास की प्रशस्ति करते हुए एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट लिखा है :

एतच्चैतस्यैव कवेः सहजसौकुमार्यमुद्रितसूक्तिपरिस्पन्दसौन्दर्यस्य पर्यालोच्यते, न पुनरन्येषामाहार्यमात्रकाव्यकरणकौशलश्लाघिनाम् ।

"अर्थात् यह भी इसी कवि के विषय में (इतनी सूक्ष्म) आलोचना की जा सकती है जिसकी सूक्तियों का सौन्दर्य सहज सौकुमार्य की मुद्रा से अंकित हो रहा है । केवल आहार्य (व्युत्पत्ति बल से बनावटी) काव्य-रचना के कौशल के लिए प्रसिद्ध अन्य के विषय में नहीं ।" (हिन्दी व० जी० ५८वीं कारिका की वृत्ति) । इन शब्दों से व्यक्त है कि कुन्तक की दृष्टि में प्रतिभाजन्य सौन्दर्य और आहार्य सौन्दर्य का सापेक्षिक मूल्य क्या है । इसके अतिरिक्त, जैसा कि 'काव्यहेतु' के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है, कुन्तक अन्य काव्यहेतुओं को अर्थात् व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को भी प्रतिभा-जन्य ही मानते हैं :—"स्वभाव तथा उन दोनों के (व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के) उपकार्य और उपकारक भाव से स्थित होने से स्वभाव उन दोनों को उत्पन्न करता है, और वे दोनों उसे परिपुष्ट करते हैं ।" (हिन्दी व० जी० १।२४ वीं कारिका की वृत्ति) । —इस प्रकार कुन्तक ने प्रतिभा का कीर्तिगान अनेक प्रकार से अनेक प्रसंगों में किया है ।

प्रतिभा का कृतित्व :— कुन्तक के अनुसार कवि-प्रतिभा अनन्त है : यस्मात् कविप्रतिभानन्त्यान्नियतत्वं न सम्भवति (हिन्दी व० जी० पृ० ६४), अतएव उसके

कृतित्व का भी अन्त नहीं। प्रतिभा में वह शक्ति है जिससे कि प्रयत्न के बिना ही शब्द-अर्थ में कोई अपूर्व सौन्दर्य स्फुरित सा दिखाई देता है :

प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता ।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ।
(हिन्दी व० जी० १।३४ पृ१२४)

अर्थात् कवि-प्रतिभा का मुख्य कार्य है शब्द और अर्थ में अपूर्व सौंदर्य का प्रस्फुरण क्योंकि कुन्तक का स्पष्ट मत है कि अम्लान प्रतिभा के द्वारा ही शब्द और अर्थ में नवीन चमत्कार प्रस्फुटित होता है : अम्लानप्रतिभोद्भिन्न नवशब्दार्थ···(हिन्दी व० जी० १।२५)। किन्तु प्रस्फुटन का अर्थ असत् को सत् रूप देना नहीं है—अतएव कुन्तक यह नहीं स्वीकार करते कि प्रतिभा अभूत को अस्तित्व देती है : प्रतिभा का कार्य तो वास्तव में उद्घाटन अथवा उन्मेष करना है। अर्थात् कवि के वर्ण्यमान पदार्थ सामान्यतः सत्तामात्र से प्रस्फुटित रहते हैं, कवि की प्रतिभा उनके किसी नवीन स्वरूप की सृष्टि नहीं करती—वह तो उनमें अनिर्वचनीय अतिशय उत्पन्न करती हुई एक विचित्र प्रकार की सहृदय-हृदयहारिणी रमणीयता का अध्यारोप कर देती है। कुन्तक के इस कथन का अभिप्राय यह है कि कवि की प्रतिभा रूपों का उस अर्थ में 'आविष्कार' नहीं करती जिस अर्थ में वैज्ञानिक की प्रतिभा करती है। वह पदार्थ के स्वरूप में ही विद्यमान गुणों को ऐसे कौशल के साथ अतिरंजित कर प्रस्तुत कर देती है कि पदार्थ का साधारण स्थूल रूप तो छिप जाता है और एक नवीन रमणीय रूप उपस्थित हो जाता है। विधाता की सृष्टि में असंख्य नामरूपमय पदार्थ वर्तमान हैं। जन-साधारण नित्य प्रति उनका अवलोकन तथा व्यवहारादि करते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि उन पदार्थों के स्थूल रूपों की ओर ही प्रायः जाती है। कवि-प्रतिभा अनायास ही इनके विशिष्ट गणों का साक्षात्कार कर लेती है, और इन्हीं विशिष्ट गुणों को उभार कर ऐसी निपुणता के साथ प्रस्तुत करती है कि पदार्थों का सामान्य, जनसाधारण-लक्षित रूप आच्छन्न हो जाता है, और वे नवीन सहृदयहृदयहारी रूप धारण कर लेते हैं। यही कवि-प्रतिभा की सृजन-प्रक्रिया है। वह सामान्य के त्याग और विशेष की अतिरंजना या लोकोत्तर रूप में उपस्थापना द्वारा नवीन रूप तो प्रदान कर देती है किन्तु अस्तित्वहीन को अस्तित्व नहीं देती—यह उसका कार्य नहीं है।

इस प्रसंग में भी कुन्तक ने रसवाद और अलंकारवाद का मध्यवर्ती तथा समन्वयकारी मार्ग ग्रहण किया है : उनका अतिशय शब्द यदि अलंकारवाद की ओर संकेत करता है, तो सहृदयहृदयकारी विशेषण में रसवाद की प्रतिध्वनि है। इस

प्रकार अतिशय अथवा अतिरंजना के द्वारा रमणीय रूप की इस सृष्टि में अलंकारवाद तथा रसवाद दोनों की स्पष्ट समन्विति है।

प्रतिभा के स्वरूप के विषय में भी कुन्तक का दृष्टिकोण समन्वयवादी है। उनके अनुसार प्रतिभा पूर्वजन्म और इस जन्म के संस्कारों का परिपाक है।

प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा

इस प्रकार कुन्तक ने एक तो पूर्वजन्म के ही नहीं वरन् इस जन्म के संस्कारों को भी मान्यता दी है और दूसरे प्रतिभा को संस्कार विशेष न मानकर संचित संस्कारों का परिपाक माना है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन का प्रत्येक कर्म मानव-आत्मा पर एक प्रभाव या संस्कार छोड़ जाता है, ये संस्कार जन्मजन्मान्तर से संचित होते हुए अपने सारभूत रूप में मानव प्रतिभा का निर्माण करते रहते हैं। जन्मान्तर के साथ इस जन्म का भी समावेश कर कुन्तक ने प्रतिभा को जन्मजात मानने के साथ-साथ विकासशील भी माना है।

वक्रोक्ति के भेद

व्यापक स्वरूप :—कुन्तक की वक्रोक्ति अथवा वक्रता वास्तव में कवि-कौशल अथवा काव्य-सौन्दर्य का पर्याय है। कुन्तक ने स्पष्ट शब्दों में वक्रोक्ति को काव्य के अलंकार का पर्याय माना है :

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव..............................।

शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं, और वक्रोक्ति उनका अलंकार है। अर्थात् शब्द-अर्थ के सौन्दर्य अथवा अलंकार की समष्टि का ही दूसरा नाम वक्रोक्ति है। काव्य में जो कुछ सुन्दर चमत्कारपूर्ण अथवा अलंकृत है : वह सब वक्रता का ही चमत्कार है। अतएव उसके अन्तर्गत कुन्तक ने कवि-कौशल अथवा काव्य-सौन्दर्य के सभी प्रकार-भेदों को अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया है। कवि प्रतिभा के बल पर अपनी कृति में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए सहज अथवा सचेष्ट रूप में जिन साधनों-प्रसाधनों का उपयोग करता है वे सभी वक्रोक्ति के भेद हैं। अतएव कुन्तक की वक्रोक्ति का साम्राज्य वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-कल्पना तक और उधर उपसर्ग, प्रत्यय आदि पदावयवों से लेकर महाकाव्य तक विस्तृत है। ध्वनिकार ने व्यक्तिपरक दृष्टि से जिस प्रकार ध्वनि की सार्वभौम सत्ता की स्थापना की थी, उसी प्रकार उनके उत्तर में, वस्तुपरक दृष्टि से अलंकारवादियों की ओर से कुन्तक ने अलंकार की समष्टि-रूपिणी वक्रोक्ति की सार्वभौम प्रभुता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

वक्रोक्ति के भेद-प्रभेद :—कुन्तक ने मूलतः वक्रोक्ति के ६ भेद किये हैं। ये भेद विस्तार-क्रम से वैज्ञानिक पद्धति पर किये गये हैं। काव्य के लघुतम अवयव वर्ण से आरम्भ होकर ये उसके महत्तम रूप महाकाव्य तक क्रमशः विकसित होते जाते हैं। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति के ६ मौलिक भेद इस प्रकार हैं :

१. वर्णविन्यास-वक्रता २. पदपूर्वार्ध-वक्रता ३. पदपरार्ध-वक्रता ४. वाक्य-वक्रता ५. प्रकरण-वक्रता ६. प्रबन्ध-वक्रता। इनके फिर अनेक प्रभेद हैं।

वर्णविन्यास-वक्रता

एको द्वौ बहवो वर्णाः बध्यमानाः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता। व० जी० २,१

अर्थात् जिसमें एक दो या बहुत से वर्ण थोड़े थोड़े अन्तर से बार बार (उसी रूप में) ग्रथित होते हैं, वह वर्ण-विन्यास-वक्रता अर्थात् वर्ण-रचना की वक्रता कहलाती है।

यह वर्ण शब्द व्यंजन का पर्याय है। इस प्रकार (वर्ण शब्द के व्यंजन अर्थ में) प्रसिद्ध होने से। (हिन्दी व० जी० २।२ की वृत्ति)

यह वर्णविन्यास-वक्रता अन्य आचार्यो का अनुप्रास ही है : अनुप्रास में भी व्यंजन का साम्य ही अपेक्षित है, स्वर का नहीं। कुन्तक ने इस तथ्य को स्वयं स्पष्ट कर दिया है। एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्। अर्थात् यही वर्णविन्यास-वक्रता प्राचीन आचार्यों में अनुप्रास नाम से प्रसिद्ध है। (हिन्दी व० जी० पृ० ६६)। वर्णविन्यास-वक्रता कुन्तक के अनुसार तीन प्रकार की है : इन तीनों प्रकारों का आधार है क्रमशः एक वर्ण की आवृत्ति, दो वर्णों की आवृत्ति और अनेक वर्णों की आवृत्ति। आगे चलकर कुन्तक ने फिर एक अन्य रीति से वर्ण-विन्यास-वक्रता के भेद किये हैं : "इस (दूसरे प्रकार की वर्णविन्यास-वक्रता) के वे कौन से तीन प्रकार हैं, यह कहते हैं। १. वर्गान्त से युक्त स्पर्श। ककार से लेकर मकार पर्यन्त वर्ग के वर्ण स्पर्श कहलाते हैं। इनके अन्त के ङ्कार आदि के साथ संयोग जिनका हो वे वर्गान्तयोगी हैं। इन की पुनः पुनः आवृत्ति वर्णविन्यास-वक्रता का प्रथम प्रकार है। तलनादयः अर्थात् तकार लकार और नकार आदि द्विरुक्त अर्थात् द्वित्व रूप में दो बार उच्चारित होकर जहाँ बार बार निबद्ध हों वह दूसरा प्रकार है। इन दोनों से भिन्न शेष व्यंजन-संज्ञक वर्ण रेफ आदि से संयुक्त रूप में जहाँ निबद्ध हों वह तीसरा प्रकार है। इन सभी भेदों में पुनः पुनः निबद्ध व्यंजन थोड़े अन्तर वाले अर्थात् परिमित व्यवधान वाले होने चाहिए यह सबके साथ सम्बद्ध है।" (हिन्दी व० जी० २।२ कारिका की वृत्ति)

इस प्रकार वर्णविन्यास-वक्रता के ये तीन भेद संक्षेप में इस प्रकार हैं : (१) जहाँ वर्गान्तयोगी स्पर्शों की आवृत्ति हो, (२) जहाँ त, ल, न आदि वर्णों की द्वित्व रूप में आवृत्ति हो, और (३) जहाँ इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त वर्णों की रेफ आदि से संयुक्त रूप में आवृत्ति हो।

ये वास्तव में वर्णसंयोजनाओं के विभिन्न रूप-प्रकार हैं। प्राचीन आचार्यों ने वृत्तियों तथा अनुप्रास-चक्र में इनका अन्तर्भाव किया है। उनके अनुसार भी अनुप्रास में व्यंजनों का ही चमत्कार है और व्यंजनों की संयोजनाओं के प्रकार भी बहुत कुछ ये ही हैं। साहित्यदर्पणकार ने अनुप्रास की परिभाषा और रूप-भेदों का विवेचन इस प्रकार किया है : स्वर की विषमता रहने पर भी शब्द अर्थात् पद, पदांश के साम्य (सादृश्य) को 'अनुप्रास' कहते हैं। व्यंजनों के समुदाय की एक ही बार अनेक प्रकार की समानता होने से उसे 'छेक' अर्थात् छेकानुप्रास कहते हैं। अनेक व्यंजनों की एक ही प्रकार से (केवल स्वरूप से ही, क्रम से नहीं) समानता होने पर, अथवा अनेक व्यंजनों की अनेक बार अवृत्ति होने पर, यद्वा अनेक प्रकार से (स्वरूप और क्रम दोनों से) अनेक बार अनेक वर्णों की आवृत्ति होने पर, किंवा एक ही वर्ण की एक ही बार समानता (आवृत्ति द्वारा) होने पर, या एक ही वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने पर 'वृत्यनुप्रास' नामक शब्दालंकार होता है। तालु कण्ठ, मूर्धा, दन्त आदि किसी एक स्थान में उच्चरित होने वाले व्यंजनों की (स्वरों की नहीं) समता को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्थ व्यंजन की आवृत्ति हो तो वह अन्त्यानुप्रास कहाता है। केवल तात्पर्य भिन्न होने पर शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति होने से लाटानुप्रास होता है।

इनके अतिरिक्त प्राचीनों की वृत्तियों—उपनागरिका, परुषा और कोमला का भी कुन्तक ने वर्णविन्यास-वक्रता में ही अन्तर्भाव कर लिया है।

आगे चलकर कुन्तक ने यमक को भी इसी परिधि में ले लिया है। यमक, यमकाभास अथवा यमक से साम्य रखने वाले अन्य वर्ण-चमत्कार वर्णविन्यास-वक्रता के अन्तर्गत आ जाते हैं :—समान वर्ण वाले किन्तु भिन्नार्थक, प्रसादगुणयुक्त, श्रुति-मधुर, औचित्य से युक्त आदि, (मध्य तथा अन्त) आदि स्थानों पर शोभित होने वाला जो यमक नामक प्रकार है वह भी इसी का भेद है। (२।६-७)। इसी प्रकार यमकाभास भी वर्ण-विन्यास का ही चमत्कार है जो सहृदयों का हृदयहारी होता है। यमकाभास से अभिप्राय ऐसे वर्ण-चमत्कार से है जिसमें भिन्नार्थक वर्ण-योजना सर्वथा समान न होकर ईषत् भिन्न होती है। उदाहरण के लिए 'स्वस्थाः सन्तु वसन्त'

में सन्तु और सन्त की आवृत्ति अथवा 'राजीवजीवितेश्वरे' में जीव और जीवि की आवृत्ति यमकाभास है। इन्हीं से मिलता-जुलता एक और भी वर्ण-चमत्कार होता है 'जहाँ कहीं कहीं व्यवधान के न होने पर भी केवल (बीच में आने वाले) स्वरों के भेद से हृदयाकर्षक रचना सौन्दर्य को अत्यन्त परिपुष्ट करती है।' (२।३)। यह वर्ण-योजना यमक के गोत्र की होती हुई भी यमक से भिन्न है। यमक में नियत स्थान पर वर्णों की आवृत्ति करने का नियम है पर यहाँ स्थान का कोई नियम नहीं है। यहाँ आवृत्ति वाले वर्ण वे ही होते हैं, परन्तु बीच में अवस्थित स्वरों का वैषम्य चमत्कार उत्पन्न कर देता है। उदाहरणार्थ 'केलीकलित', 'कदलदलं' आदि में उपर्युक्त प्रकार का चमत्कार लक्षित होता है।

इस प्रकार वर्णविन्यास के प्रायः सभी प्रसिद्ध प्रयोगों को कुन्तक ने अपनी वर्णविन्यास-वक्रता के अन्तर्गत माना है। अनुप्रास के समस्त भेद, वृत्तियाँ, यमक तथा यमकाभास आदि सभी का अन्तर्भाव इसमें हो जाता है। फिर भी वर्ण-सौन्दर्य परिमितभेद नहीं है और न वह स्वतन्त्र ही है। वर्णों की कवि-प्रतिभा के अनुसार असंख्य संयोजनाएं हो सकती हैं—जिनसे अनेक प्रकार के चमत्कार की सृष्टि हो सकती है। इन सबकी गणना कर वर्णविन्यास-वक्रता के भेदों को परिमित कर देना संभव नहीं है। इसके साथ ही, वर्णविन्यास-कौशल अपने आप में स्वतन्त्र भी नहीं है। इसीलिए कुन्तक ने उसके लिए कतिपय प्रतिबन्ध आवश्यक माने हैं :

(१) पहला प्रतिबन्ध यह है कि वर्ण-योजना सदा प्रस्तुत विषय के अनुकूल होनी चाहिए। 'और वे (वर्ण) कसे होने चाहिएं ? प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य से शोभित। न कि वर्णसाम्य के व्यसन मात्र के कारण उपनिबद्ध होने से प्रस्तुत वस्तु के औचित्य को मलिन करने वाले।' (हि० व० जी० २।२ कारिका की वृत्ति)।

(२) दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि वर्णविन्यास-वक्रता अत्यंत आग्रहपूर्वक विरचित न हो और न असुन्दर वर्णों से भूषित हो*। (२।४)।

(३) उसमें वैचित्र्य होना चाहिए : 'उसे पूर्व आवृत्त वर्णों को छोड़ नवीन के पुनरावर्तन से मनोहर बनाना चाहिए।* (२।४)।

(४) इसके अतिरिक्त यमकादि की वर्ण-योजना के लिए विशेष रूप से, और साधारण वर्ण-योजना के लिए सामान्य रूप से प्रसाद गुण भी सर्वथा आवश्यक है।*

(५) वर्ण-योजना का छठा प्रतिबन्ध है श्रुतिपेशलता। अर्थात् प्रस्तुत रसादि के अनुकूल वर्णविन्यास में अन्य चाहे कोई भी चमत्कार वर्तमान हो, किन्तु वह श्रुति-सुखद तो प्रत्येक स्थिति में ही होना चाहिये।* (२।४)

कुन्तक ने अपनी वर्णविन्यास-वक्रता का विवेचन सामान्यतः इसी रूप में किया है। काव्य का प्रथम आधार है वर्ण। सभी आचार्यों ने अपने अपने सिद्धान्त के अनुसार वर्ण पर आश्रित चमत्कारों का वर्णन अनेक रूपों में किया है। कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों ने अनुप्रासादि शब्दालंकारों तथा वृत्तियों के आश्रय से वर्णचमत्कार का विवेचन किया है। किन्तु कुन्तक ने वर्णगत समस्त सौंदर्य को सर्वव्यापी वक्रोक्ति का प्रथम अंग मानते हुए, वर्णविन्यास-वक्रता के अन्तर्गत अपने सिद्धान्त के अनुकूल ही सर्वथा मौलिक रूप में, उसका उद्घाटन किया है। ध्वनिकार के विवेचन के समान उनके विवेचन का भी महत्व यह है कि वर्ण-सौंदर्य काव्यशास्त्र का एक पृथक विषय न रह कर सम्पूर्ण काव्य-चक्र का एक अविच्छिन्न अंग बन गया है।

पदपूर्वार्ध-वक्रता

वर्ण के उपरान्त काव्य का दूसरा अवयव पद है जो अनेक वर्णों का समुदाय रूप होता हैं। अतएव क्रमानुसार कुन्तक उसी को ग्रहण करते हैं। परन्तु पद के भी दो अंग हैं (१) पदपूर्वार्ध और (२) पदपरार्ध। अतएव उन दोनों का पृथक वर्णन किया जाता है।

व्याकरण में पदपूर्वार्ध का दूसरा नाम प्रकृति भी है। संस्कृत में पद मूलतः दा प्रकार के होते हैं: सुबन्त और तिङन्त। सुबन्त का पूर्वार्ध प्रातिपदिक और तिङन्त का धातु कहलाता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार पद का अर्थ है विभक्ति से युक्त शब्द जो वाक्य में प्रयुक्त होता है। पद के दो अंग हैं: (१) प्रकृति और प्रत्यय। प्रकृति के भी दो रूप हैं (१) प्रातिपदिक और धातु। सुबन्त पद का पूर्वार्ध प्रातिपदिक और तिङन्त का धातु कहलाता है। प्रकृति मूल शब्द है—प्रत्यय में भी अर्थ निहित रहता है जिस के संयोग से मूल अर्थ की वाच्यता सिद्ध हो जाती है। हिन्दी में इस प्रकार का शब्द-विभाजन है तो अवश्य किन्तु वह इतना स्पष्ट नहीं है जितना संस्कृत में।

---

* नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता। पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला॥
(व० जी० २।४)

अतएव पदपूर्वार्ध-वक्रता से अभिप्राय प्रातिपदिक तथा धातु की—अथवा यों कहिए कि मूल शब्द की वक्रता से है ।

पदपूर्वार्ध-वक्रता के ८ मुख्य भेद हैं : १. रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता, २. पर्याय-वक्रता, ३. उपचार-वक्रता, ४. विशेषण-वक्रता, ५. संवृति-वक्रता, ६. वृत्ति-वक्रता, ७. लिंगवैचित्र्य-वक्रता, ८. क्रियावैचित्र्य-वक्रता ।

१. रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता

जहां लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा का कथन करने के अभिप्राय से वाच्य अर्थ की रूढ़ि से असम्भव अर्थ का अध्यारोप अथवा उत्तम धर्म के अतिशय का आरोप गर्भित रूप में कहा जाता है, वह कोई अपूर्वसौंदर्याधायक) रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता कही जाती है । (हिन्दी व० जी० २।८-९) । यह वक्रता रूढ़ि के वैचित्र्य पर आश्रित है । रूढ़ि से अभिप्राय है परम्परागत अथवा कोश तथा लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध वाच्य अर्थ का । जहां कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा रूढ़ अर्थ पर किसी कमनीय असम्भाव्य अर्थ का अध्यारोप अथवा किसी उत्तम धर्म के अतिशय का गर्भित रूप में आरोप कर देता है, वहां (उस प्रयोग विशेष में) एक विचित्र सौंदर्य या चमत्कार उत्पन्न हो जाता है । वहां वास्तव में कोई लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने के लिए रूढ़ अर्थ का किसी अन्य अर्थ में संक्रमण कर दिया जाता है । यह चमत्कार लक्षणा के आश्रित है—और ध्वनिकार ने अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि के अन्तर्गत इसका यथावत् विवेचन किया है । कुन्तक ने अपने दोनों उदाहरण भी ध्वन्यालोक से ही लिए हैं :

१. ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं वेप्पन्ति ।
रइ किरणानुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं ॥

(तब ही गुन सोभा लहैं, सहृदय जबहिं सराहिं ।
कमल कमल हैं तबहिं जब रविकर सों बिकसाहिं ॥)

२. कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे ।
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

(मैं तो कठोर हृदय राम हूँ, सब कुछ सह लूंगा—परन्तु वैदेही की क्या दशा होगी ? हा देवि, धैर्य रखना ।)

हिन्दी में तुलसीदास का भी एक प्रयोग ऐसा ही है—

सीताहरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ ।
जो मैं राम तो कुल-सहित कहहि दशानन आइ ॥

पहले प्राकृत छन्द में कमल के रूढ़ अर्थ का विस्तार करते हुए उस पर एक कमनीय अर्थ का अध्यारोप किया गया है, और संस्कृत श्लोक तथा हिन्दी के दोहे में राम के रूढ़ अर्थ का चमत्कारपूर्ण विस्तार है । रूढ़ अर्थ का यही चमत्कारपूर्ण विस्तार रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता है ।

२. *पर्याय-वक्रता*

पर्याय पर आश्रित वक्रता का नाम पर्याय-वक्रता है । पर्याय से अभिप्राय है समानार्थक संज्ञा शब्द । उसके कुशल प्रयोग से उत्पन्न चमत्कार का नाम है पर्याय-वक्रता । प्रत्येक भाषा में एक अर्थ के वाचक अनेक शब्द होते हैं—आरम्भ में उनके अर्थ—विशेषतः व्युत्पत्ति-अर्थ भिन्न होते हैं, पर वे एक मूल अर्थ से सम्बद्ध हो कर अन्त में समानार्थक बन जाते हैं । प्रतिभावान कवि प्रत्येक शब्द की आत्मा का साक्षात्कार कर इन पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग द्वारा अपने काव्य में अपूर्व सौंदर्य की उद्भावना कर देता है । यह प्रयोग-कौशल ही पर्याय-वक्रता है ।

कुन्तक की शब्दावली में पर्याय-वक्रता का वर्णन इस प्रकार है :

जो वाच्य का अन्तरतम, उसके अतिशय का पोषक, सुन्दर शोभान्तर के स्पर्श से उस वाच्यार्थ को सुशोभित करने में समर्थ है,

जो स्वयं (बिना विशेषण के), अथवा विशेषण के योग से भी अपने सौन्दर्यातिशय के कारण मनोहर है, और जो असम्भव अर्थ के आधार रूप से भी वाच्य होता है,

जो अलंकार से संस्कृत होने अथवा अलंकार का शोभाधायक होने से मनोहर रचना से युक्त है,

ऐसे पर्याय अर्थात् संज्ञा शब्द (के प्रयोग) से परमोत्कृष्ट पर्याय-वक्रता होती है। (हिन्दी व० ज० २।१०-११-१२)

उपर्युक्त कारिकाओं में पर्याय के अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है—कहीं पर्याय शब्द वाच्य अर्थ के अन्तरतम रहस्य को प्रकट करता है, तो कहीं उसके

अतिशय की रंजना करता है। कहीं वह किसी अन्य शोभा के स्पर्श से उसमें चमत्कार उत्पन्न कर देता है, तो कहीं अपने ही सौन्दर्यातिशय के कारण मनोहर होता है। एक स्थान पर यदि विशेषण के योग से उसमें अपूर्व चमत्कार आ जाता है तो अन्यत्र किसी लोकोत्तर अर्थ का अध्यारोप रहता है। इसी प्रकार यदि कहीं पर्याय स्वयं अलंकारयुक्त होता है तो कहीं अलंकार की ही शोभा उसके आश्रित रहती है। पर्याय के इन विभिन्न चमत्कारों का कुशल प्रयोग—अथवा इन चमत्कारों से युक्त पर्याय शब्दों का कुशल प्रयोग पर्याय-वक्रता है। कुन्तक ने पर्याय-वक्रता के ६ अवान्तर भेदों का वर्णन किया है।

ध्वनिवादियों ने इसे पर्याय-ध्वनि और अलंकारवादियों ने परिकरालंकार के नाम से अभिहित किया है। उदाहरण के लिए शिव के शूली, पिनाकी, कपाली आदि और इन्द्र के वज्री आदि अनेक नाम हैं। कुशल कवि प्रसंगानुकूल इनके चयन में चमत्कार उत्पन्न कर पर्याय-वक्रता का सफल प्रयोग करता है।

१. सन्ति भूभृति हि नः शराः परे ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः।

हमारे राजा के पास ऐसे बाण हैं जो वज्रधारी इन्द्र के भी पराक्रम की निधि है। यहाँ वज्रधारी इन्द्र—वज्री—शब्द का प्रयोग पर्याय-वक्रता का उदाहरण है।

२. लख कर सायर अरु तुम्हें कर सायक सर चाप।
देखत हूँ खेदत मनो मृगहिं पिनाकी आप॥

(हिन्दी शकुन्तला)

यहां शिव का पिनाकी नाम अत्यन्त सार्थक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

३. कृषक-बालिका के जलधर। (पंत : बादल)

यहाँ जलधर का प्रयोग कृषक वर्ग के साहचर्य से अत्यंत चमत्कारपूर्ण है।

३. उपचार-वक्रता

कुन्तक के शब्दों में "उप अर्थात् सादृश्यवश गौण चरण अर्थात् व्यवहार को उपचार कहते हैं। + + + किसी अन्य वस्तु के सामान्य धर्म का, लेशमात्र सम्बन्ध से भी, दूरान्तर वस्तु पर आरोप उपचार कहलाता हैं।" (२।६३)। इसका अर्थ यह है कि जहाँ प्रस्तुत दूरान्तर अर्थात् सर्वथा भिन्न-स्वभाव वस्तु पर अप्रस्तुत

वस्तु के सामान्य धर्म का लेशमात्र सम्बन्ध से आरोप किया जाता है, वहाँ उपचार होता है। यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत एक दूसरे से अत्यन्त दूर होते हैं, उनमें देशकाल की नहीं वरन् मूल स्वभाव की दूरी होती है। मूल स्वभाव की दूरी का अर्थ यह है कि एक मूर्त है तो दूसरा अमूर्त है, एक चेतन है तो दूसरा अचेतन और एक में यदि घनता है तो दूसरे में द्रवता। फिर भी, लेशमात्र सम्बन्ध से अप्रस्तुत के सामान्य धर्म का प्रस्तुत पर इस प्रकार अभेद आरोप किया जाता है कि दोनों की भेद-प्रतीति नष्ट होकर अभेद-प्रतीति उत्पन्न हो जाती है। यही उपचार है। यह मूलतः गौणी अर्थात् लक्षणा वृत्ति का चमत्कार और रूपकादि अलंकारों का मूल आधार है। कुन्तक ने भी स्पष्ट कहा है कि इसके कारण रूपादिक अलंकारों में सरसता आ जाती है :

—यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः।

व० जी० २।१४

कुन्तक ने उपचार-वक्रता के चार-पाँच उदाहरण दिये हैं और अन्त में फिर यह भी कह दिया है कि इसके सहस्रावधि भेद हैं।

अमूर्त पर मूर्त का आरोप : (१) स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः अर्थात् अपनी चिकनी और कृष्ण वर्ण कान्ति से आकाश को लिप्त करने वाले (बादल)।

लेपन द्रव्य सदा मूर्त होता है और लेपन भी मूर्त वस्तु का ही किया जाता है, किन्तु यहाँ लेपन द्रव्य रूप श्यामल कान्ति और लेप्य वस्तु आकाश दोनों ही अमूर्त हैं। मूर्त पदार्थ के धर्मों का अमूर्त पदार्थों पर आरोप होने के कारण यहाँ उपचार है, और इस उपचार में रमणीय कल्पना का विलास होने के कारण उपचार-वक्रता है।

(२) सूचिभेद्यैःस्तमोभिः (मेघदूत पूर्वार्ध ३९)
मागर सूझि जिन्हें न परै जहं सूचिका-भेद झुकी अँधियारी।

(हिन्दी मेघदूत)

'सूचिभेद्य अन्धकार' में अन्धकार अमूर्त है किन्तु सूचीभेद्यता मूर्त वस्तु का धर्म है।

अचेतन पर चेतन का आरोप :—

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइ वणाइ
णिरहंकारमिअंका हरंति णीलाओ वि णिसाओ।

मदमाते बादलों से युक्त आकाश, धाराओं से आन्दोलित अर्जुन वृक्षों के वन, निरहंकारमयंका (गर्व-रहित चन्द्रमा वाली) काली रातें भी मन को हरती हैं।

यहाँ मतत्व (मस्ती) तथा निरंहकारत्व आदि चेतन के धर्म-सामान्य मेघ और चन्द्रमा आदि अचेतन पर उपचार से आरोपित हैं।

३. रूपकादि अलंकार की मूलाधार उपचार-वक्रता :—

अतिगुरवो राजमाषा न भक्ष्याः। २।१४।४८

राजमाष अर्थात् उरद—राजा का अन्न—नहीं खाना चाहिए क्योंकि वह बहुत भारी—-महँगा पड़ता है। यहाँ अलंकार का सौन्दर्य उपचार पर आश्रित है।

इसी प्रकार रूपकादि के भी कतिपय अन्य उदाहरण दिये गये हैं।

विवेचन

इसमें संदेह नहीं कि उपचार-वक्रता काव्य-कला का अत्यंत मूल्यवान उपकरण है। लक्षणा का वैभव मूलतः उपचार-वक्रता में ही निहित रहता है। यूरोपीय काव्य-शास्त्र के अनेक अलंकार उपचार के ही आश्रित हैं – जैसे विशेषण-विपर्यय और मानवीकरण का चमत्कार उपचार-वक्रता के अंतर्गत ही आता है। उपर्युक्त उदाहरणों में से तीसरे उद्धरण के सभी प्रयोग मानवीकरण के अन्तर्गत आते हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य में—विशेषकर छायावाद काव्य में, इस प्रकार की उपचार-वक्रता का प्रचुर प्रयोग हैं। प्रसाद या पंत की कविता का कोई भी पद ले लीजिए, उसमें आपको उपचार-वक्रता के अनेक उदाहरण अनायास ही मिल जाएँगे :

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त ।

पत्रों के आनत अधरों पर, *सोगया* निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर।

\+ \+ \+ \+

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशान्ति को रहा *चीर*
सन्ध्या प्रशान्ति को कर गभीर।

इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार,
ज्यों बँध रही हो आर-पार। (पंत)

४. विशेषण-वक्रता

जहाँ कारक या क्रिया के माहात्म्य या प्रभाव से वाक्य का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है वहाँ विशेषण-वक्रता होती है।

(व० जी० २।१५)

विशेषण का अर्थ है भेदक धर्म—कहीं उसका सम्बन्ध कारक से होता है और कहीं क्रिया से। उसके प्रभाव से विशेष्य अतिशययुक्त हो जाता है। यह अतिशय दो प्रकार का होता है—एक तो स्वाभाविक सौन्दर्य का प्रकाशक और दूसरा अलंकार के सौन्दर्यातिशय का परिपोषक। स्पष्ट शब्दों में विशेषण दो प्रकार से अपना माहात्म्य सिद्ध करता है—एक तो विशेष्य के स्वाभाविक सौन्दर्य को प्रकाशित कर, और दूसरे अलंकार के सौन्दर्य को परिवृद्ध कर। अन्य भेदों की भाँति इस भेद के विषय में भी कुन्तक औचित्य पर बल देते हैं : विशेषण प्रस्तुत प्रसंग के अनुकूल होना चाहिए। वह रस, वस्तु-स्वभाव तथा अलंकार का पोषक होना चाहिए। तभी उसकी सार्थकता है। रसादि का पोषक उचित विशेषण-प्रयोग उत्तम काव्य का प्राण है—अन्यथा वह भार रूप है। *

कुन्तक ने विशेषण-वक्रता के निम्न-लिखित उदाहरण दिये हैं :

कारक-विशेषण :—

दोनों हाथों के *बीच जिसके कपोल दबे हुए हैं,* आँसुओं के *बहने से* (कपोलों पर आभूषण रूप में चित्रित) *जिसकी पत्र-लेखा बिगड़ गई है,* और *जिसकी समस्त वृत्तियाँ कानों में आकर एकत्र हो गई हैं* ऐसी (अत्यन्त ध्यानमग्ना विरहिणी) गीत की ध्वनि को यहाँ सुन रही है।[1]

इस छन्द में तन्वी के अनेक विशेषण अपनी रमणीयता के कारण रस-परिपाक में सहायक हैं—दूसरा विशेषण अपनी चित्रात्मकता के द्वारा भाव को उद्बुद्ध करता

---

* देखिए वक्रोक्तिजीवितम् कारिका १५ की व्याख्या—

स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तरश्रियः।
रसस्वभावालंकारास्तद् विधेयं विशेषणम्॥ (२।१५।५७)

१. *करान्तरालीन कपोलभित्तिर्बाष्पोच्छलत्कूणितपत्रलेखा।*
श्रोत्रान्तरे पिंडितचित्तवृत्तिः शृणोति गीतध्वनिमत्र तन्वी॥

हुआ, और तीसरा प्रत्यक्ष रूप से भावाभिव्यंजना करता हुआ रस परिपाक में योग देता है।

क्रिया-विशेषण

गजपति *आँखें बन्द कर* अपने नव-जीवन के वन महोत्सवों का स्मरण करने लगा जब वह स्वच्छन्द होकर वन-विहार किया करता था।

यहाँ 'निमीलिताक्षः'—अर्थात् 'आँखें बन्द कर' पद 'सस्मार अर्थात् स्मरण करने लगा' क्रिया का विशेषण है। यह विशेषण उस गजराज की असहायावस्था के प्रति करुणा का उद्बोधन करने के कारण निश्चय ही सरस है।[1]

अलंकार के सौन्दर्यातिशय का पोषक

हे देवि देखो, *चन्द्रमा की शोभा को तिरस्कृत करने वाले* तुम्हारे मुख के द्वारा पराजित कमल कान्तिहीन हो रहे हैं।[2]

यहाँ 'चन्द्रमा की शोभा को तिरस्कृत करने वाले' इस विशेषण के द्वारा प्रतीयमान उत्प्रेक्षा अलंकार की सौन्दर्य-वृद्धि हो रही है।

विवेचन

काव्य में विशेषण-वक्रता का माहात्म्य असंदिग्ध है। विशेषण निश्चय ही काव्य का एक उपयोगी उपकरण है। सचित्र अथवा चित्रात्मक विशेषण वर्ण्य वस्तु के स्वभाव का चित्र प्रस्तुत करने में सहायक होता है, भावमय विशेषण भाव को उद्बुद्ध करने में योग देता है, और विचारप्रधान तर्कमय विशेषण विचार तथा चिंतन को जगाता है। इसके अतिरिक्त विशेषण का एक प्रमुख गुण है उसकी संक्षिप्तता, उसके द्वारा काव्य में समासगुण का समावेश होता है जो अपनें आप में एक बड़ी सिद्धि है। जो बात अन्यथा एक वाक्य में कही जाएगी उसे समर्थ कवि एक विशेषण के द्वारा अभिव्यक्त कर देता है। यों तो, यह प्रयोग ही अपने आप में वक्रतायुक्त है,

---

१. सस्मार वारणपतिर्विनिमीलिताक्षः।
स्वेच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम्।

२. देवि त्वन्मुखपंकजेन शशिनः *शोभातिरस्कारिणा*।
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्॥

और फिर यदि विशेषण भी सरस अथवा सचित्र हो तो उक्ति का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। संस्कृत के कवियों की समस्त शैली में इस प्रकार के विशेषण मणियों की तरह जड़े हुए मिलते हैं। हिन्दी की विश्लेषात्मक प्रकृति समास के अनुकूल नहीं पड़ती, अतएव ब्रज तथा अवधी के काव्य में और बाद में खड़ी बोली की कविता में भी विशेषण-वक्रता का उतना प्रचुर प्रयोग नहीं मिलता जितना संस्कृत काव्य में। तुलसी और बिहारी आदि को विशेषण-वक्रता के लिए संस्कृत की समस्त पदावली की ही शरण लेनी पड़ी है। नवीन काव्य में अभिव्यंजना के वर्धमान महत्व के कारण विशेषण-वक्रता का पुनरुत्थान हुआ और छायावादी शैली कालिदास आदि संस्कृत कवियों तथा यूरोप के रोमानी कवियों की लक्षणाजन्य समृद्धि से प्रेरणा लेकर चित्रमय, सरस तथा विचार-गर्भित विशेषणों से जगमगाने लगी। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, दिनकर आदि का काव्य इस प्रकार के विशेषणों के वैभव से देदीप्यमान है।

चित्रमय विशेषण:—

सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप
जड़ित-पद, नमित-पलक-दृग-पात,
पास जब आ न सकोगी प्राण,
मधुरता-में-सी मरी अजान। (पंत)

तारक-चिह्न-दुकूलिनी पी पी कर मधु मात्र।
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर पात्र॥ (मै० श० गुप्त)

भावमय विशेषण :—खिच गये सामने सीता के *राममय* नयन। (निराला)

भेंट हैं तुमको सखे ये *अश्रु-गीले* गीत।

यह *स्वप्न-मुग्ध* कौमार्य तुम्हारा चिर-सलज्ज।

विचार-गर्भित विशेषण :—तुम *पूर्ण इकाई जीवन की*
जिसमें असार भव-सिन्धु लीन। (बापू के प्रति : पंत)

निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अंतिम दीप-शिखोदय।
(महात्मा जी के प्रति : पंत)

(गाँधी जी के लिए प्रयुक्त ये विशेषण अपने गर्भ में एक मार्मिक विचार अथवा विचारधारा धारण किये हुए हैं।)

उपचार-वक्रता के संयोग से इस प्रकार के विशेषणों का महत्व और भी बढ़ जाता है : वास्तव में छायावादी कविता में इस दुहरी वक्रता का अत्यंत प्राचुर्य्य है। आधुनिक काव्यशास्त्र मे पर्याय-वक्रता और विशेषण-वक्रता के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है। कुन्तक-कृत भेद भी बहुत कुछ व्याकरण पर आश्रित हैं—पर्याय संज्ञा शब्द है विशेषण भेदक धर्म। परन्तु वास्तव में यह कोई मौलिक भेद नहीं है, अनेक पर्याय शब्द ऐसे हैं जो विशेषण के ही समानधर्मी हैं—कम से कम अपने मूल रूप में वे विशेषण ही रहे होंगे, पीछे चल कर व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष के लिये रूढ़ हो गये। पर्याय-वक्रता के प्रसंग में उद्धृत 'वज्री' और 'शूली' शब्द इसी प्रकार के हैं। अतएव कहीं कहीं वक्रता के इन दोनों भेदों की सीमाएं मिल सकती है। वैसे कुन्तक ने उनको अपनी ओर से पृथक रखने का ही प्रयत्न किया है।

५. *संवृति-वक्रता*

जहाँ वैचित्र्य-कथन की इच्छा से किन्हीं सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का संवरण (गोपन) किया जाता है वहाँ संवृति-वक्रता होती है।

(हिन्दी व० जी० २।१६)

कुन्तक ने अभिव्यंजना के इस प्रकार विशेष का अत्यंत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उनका मत है कि अनेक स्थितियों में—अथवा अनेक कारणों से स्पष्ट कथन की अपेक्षा सांकेतिक सर्वनाम आदि के द्वारा उक्ति में कहीं अधिक चारुता आ जाती है। ऐसी परिस्थितियां अनेक हो सकती हैं : कुन्तक ने केवल उपलक्षण रूप में छह-सात का निर्देश किया है।

१. कोई अत्यंत सुन्दर वस्तु है, उसका वर्णन सम्भव होने पर भी मर्मज्ञ कवि साक्षात् कथन नहीं करता क्योंकि साक्षात् कथन से उसका सौन्दर्य परिमित हो जाएगा। ऐसी स्थिति में सर्वनाम आदि द्वारा उसकी संवृति ही श्रेयस्कर है।

उदाहरण—पिता के (योजनगन्धा सत्यवती) के साथ विवाह करने के लिए उत्सुक होने पर उस नवयुवक ने करणीय कर्तव्य कर लिया (आजन्म ब्रह्मचर्य्य की प्रतिज्ञा कर ली), और तब पुष्पचाप की नोक पर कपोल रखे हुए (चिन्तामग्न) कामदेव का कुछ अपूर्व रूप से ध्यान किया।

यहाँ सदाचारपरायण होने से पितृभक्ति से परिपूर्ण हृदय और लोकोत्तर उदारता गुण के योग से विविध विषयों से विरक्तचित्त भीष्म ने, असम्भव होने पर भी, अपनी इन्द्रियों का निग्रह कर लिया—यह बात कहने में शक्य होने पर भी सामान्य-

वाचक 'किमपि'—(कुछ—अपूर्व—रूप से) सर्वनाम से आच्छादित होकर, उत्तरार्ध में (मन्मथ के ध्यान रूप) अन्य कार्य का कथन करने वाले वाक्य से प्रतीत कराये जाने पर, कुछ अपूर्व चमत्कारिता को प्राप्त हो रही है।

अर्थात् भीष्म के अद्‌भुत इन्द्रिय-निग्रह की प्रशंसा शब्दों द्वारा असम्भव नहीं थी फिर भी कवि ने सर्वनाम के द्वारा एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है जो साक्षात् कथन में सम्भव नहीं था।

२. कहीं कहीं अपने स्वभाव-सौन्दर्य की चरम सीमा पर आरूढ़ होने के कारण अतिशययुक्त (प्रतिपाद्य) वस्तु का वर्णन शब्दों द्वारा असम्भव है, यह दिखाने के लिए उसे सर्वनाम आदि से आच्छादित कर दिया जाता है। स्पष्ट शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि किसी किसी वस्तु का सौन्दर्यातिशय अनिर्वचनीय होता है, उसे शब्दों में बाँधने का प्रयत्न व्यर्थ होता है : अतएव कुशल कवि सर्वनाम आदि से उसको संवृत कर उसकी अनिर्वचनीयता की व्यंजना कर देता है।

उदाहरण :—हे कृष्ण ! रुद्ध कण्ठ और गद्‌गद वाणी से विशाखा *ऐसी* रोई कि जन्म-जन्मान्तर में भी कभी कोई किसी को प्यार न करे।

यहां अनिर्वचनीय आतिशय्य को 'ऐसी' शब्द के द्वारा संवृत कर व्यक्त किया गया है।

३. कभी-कभी अत्यंत सुकुमार वस्तु अपने कार्य के अतिशय के कथन के बिना ही संवृति (आच्छादन) मात्र से रमणीय होकर चरम सीमा को पहुँच जाती है।

उदाहरण :—दर्पण में (अपने मुख आदि पर अंकित) सम्भोग-चिह्नों को देखती हुई पार्वती ने पीछे की ओर बैठे हुए प्रियतम (शिवजी) के प्रतिबिम्ब को दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब के समीप देखकर लज्जा से *क्या क्या* चेष्टाएं नहीं की। (कुमार सम्भव ८।११)।

उपर्युक्त छन्द में पार्वती की चेष्टाएं इतनी सुकुमार हैं कि वर्णन द्वारा उनका सौकुमार्य नष्ट हो जाता। इस कला-मर्म को समझ कर कालिदास ने उनका वर्णन करने का असफल प्रयत्न नहीं किया, वरन् 'क्या-क्या' सर्वनाम द्वारा संवृत कर उन्हें और भी रमणीय रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

बिहारी की उक्ति "वह चितवन औरै कछू, जेहि बस होत सुजान" भी इसी वक्रता से विभूषित है।

४. कोई वस्तु केवल अनुभव-गम्य ही होती है, वाणी से उसका कथन नहीं हो सकता : वहां भी संवरण की कला अपना चमत्कार दिखाती है।

'प्रियतमा के वे शब्द आज भी हृदय में कुछ अपूर्व प्रतिध्वनि कर रहे हैं।'

अथवा

हिन्दी—"मन में कछु पीर नई उमही है।"

५. कहीं कहीं इस बात का प्रतिपादन करने के लिए कि अन्य की अनुभव-संवेद्य वस्तु का वर्णन करना सम्भव नहीं है, संवरण क्रिया का प्रयोग किया जाता है।

६. संवृति-वक्रता का एक रूप वह भी है जिसमें कोई वस्तु स्वभाव से अथवा कवि की विवक्षा (वर्णन करने की इच्छा) से किसी दोष या त्रुटि से युक्त होकर महा-पातक के समान कहने योग्य नहीं होती।

उदाहरण : यदि सेनापति ने तीक्ष्ण बाण से उसको तुरन्त न मार दिया होता तो इस वाराह ने तुम्हारा जो हाल किया होता वह कहने योग्य नहीं है।

अथवा

हिन्दी—"धिक् धिक् ऐसे प्रेम को *कहा* कहहुँ मैं नाथ।"

अर्थात् कहीं कहीं अशुभ बात का संवरण काव्य के लिए सुन्दर हो जाता है—उससे पारुष्य (अमंगल और अप्रिय) का निवारण होता है।

७. कभी कभी कवि की विवक्षा से भी किसी वस्तु के हीनता को प्राप्त होने की आशंका रहती है, अतएव ऐसी परिस्थिति में भी संवृति के द्वारा काव्य-सौन्दर्य की रक्षा होती है :

हे प्रियतमे (वासवदत्ते) मिथ्या एकपत्नीव्रत को धारण करने वाला मैं (उदयन, आज पद्मावती के साथ विवाह करने का निश्चय कर) न जाने *कैसा कुछ भी* करने को उद्यत हो गया हूं।

यह वक्रता गोपन-कला के चमत्कार पर आश्रित है। इसका मूलवर्ती सिद्धान्त है : कला का उतकर्ष कला की संवृति में है। अनेक बार कथन की अपेक्षा संकेत का

प्रभाव अधिक होता है । व्यंजना का आविष्कार ही इस सिद्धान्त के आधार पर किया गया है ।

६. *वृत्ति-वक्रता*

वृत्ति से अभिप्राय यहां कोमला, परुषा आदि वर्ण-योजनाओं से न होकर, वैयाकरणों में प्रसिद्ध समास, तद्धित, सुब्धातु आदि वृत्तियों से है । इन पर आश्रित चमत्कार वृत्ति-वक्रता के अंतर्गत आता है । इन वृत्तियों में मुख्य है अव्ययीभाव समास जो प्रायः इस प्रकार के चमत्कार का आधार होता है । कुन्तक के शब्दों में—

जिसमें अव्ययीभाव आदि (समास, तद्धित, कृत् आदि) वृत्तियों का सौन्दर्य प्रकाशित होता है उसको वृत्तिवैचित्र्य-वक्रता समझना चाहिए । (हिन्दी व० जी० २।१९)

कुन्तक ने इस प्रसंग में दो-तीन उदाहरण दिये हैं :

१. अधिमधु, २. पांडिमा, ३. एकातपत्रायते ।

अधिमधु में अव्ययीभाव समास है : 'मधुऋतु में' कहने के स्थान पर अधिमधु कह कर चमत्कार उत्पन्न किया गया है । अनेक अव्ययीभाय समासों के मूल में प्रायः यही सौन्दर्य रहता है ।

पांडिमा—पांडुत्व, पांडुता और पांडुभाव आदि शब्दों के रहते हुए भी पांडिमा का प्रयोग वृत्ति-वक्रता का चमत्कार हैं । पांडु शब्द में इमनिच् प्रत्यय कर के बना हुआ तद्धितान्त पांडिमा शब्द उपर्युक्त पर्यायों की अपेक्षा अधिक कोमलता-विशिष्ट है : इसलिए उसके प्रयोग में अधिक चमत्कार है ।

एकातपत्रायते—सुबन्त एकातपत्रं (एकछत्र) शब्द को धातु बना कर उसके द्वारा निर्मित एकातपत्रायते (एकछत्र राज्य है) शब्द में सुब्धातु (हिन्दी—नामधातु) की वृत्ति से चमत्कार उत्पन्न हो गया है ।

यह शब्द-निर्माण हिन्दी की, विशेषकर खड़ी बोली की, प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं पड़ता । हिन्दी के शब्द-भाण्डार में नामधातुओं की संख्या अधिक नहीं है : झुठलाना लजाना, गर्माना आदि शब्द इसी वर्ग के हैं परन्तु इन में एकातपत्रायते का चमत्कार ढूँढ़ना व्यर्थ है । खड़ी बोली में इस प्रकार के शब्द 'करण' लगा कर बनाये जा रहे हैं : भारतीयकरण, विकेन्द्रीकरण, मूर्तीकरण, नाटकीकरण आदि, परन्तु उनका वर्ग सर्वथा

भिन्न हो जाता है। जनपद भाषाओं की प्रवृत्ति इसके अधिक अनुकूल है : उन में मटियाना आदि व्यंजक शब्द सरलता से बन जाते हैं।

इनके अतिरिक्त समास-जन्य और भी चमत्कार इसके अन्तर्गत आते हैं।

परन्तु समास-वक्रता का रूप वास्तव में क्या है ? इस प्रश्न के दो उत्तर हमारे मन में आते हैं। समास-वक्रता से अभिप्राय एक तो चमत्कारपूर्ण समस्त शब्दों का हो सकता है। प्रत्येक मर्मज्ञ कवि कतिपय पृथक शब्दों के समास से ऐसे नवीन शब्दों का निर्माण कर लेता है जिनका वैचित्र्य अपूर्व होता है : उदाहरण के लिए पंत का निम्न-लिखित समस्त पद लीजिए :

१. तुमने यह *कुसुम-विहग* ! लिबास
क्या अपने सुख से स्वयं बुना ?

इनमें कुसुम और विहग दो पृथक शब्दों के योग से तितली के एक नवीन पर्याय का निर्माण किया गया है जिसका सौन्दर्य वास्तव में अपूर्व है। परन्तु यह कदाचित् कुन्तक की पर्याय-वक्रता का ही उपचार-जन्य रूप है : जिसमें पर्याय और उपचार दोनों की वक्रता का चमत्कार है।

समास-वक्रता से दूसरा अभिप्राय उस सौन्दर्य का हो सकता है जो समास की पद-रचना पर आश्रित रहता है, जिसके अनेक भेदों का विवेचन वामन ने अपने श्लेष, औदार्य्य आदि शब्द-गुणों के अंतर्गत किया है। यहाँ चमत्कार मूलतः समास-रचना पर ही आधृत है—अर्थ से उसा विशेष सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए निराला की 'राम की शक्ति पूजा' नामक प्रसिद्ध रचना की आरम्भिक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं :

आज, का तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र कर, वेग-प्रखर,
शतशेलसंवरणशील, नीलनभ-गर्ज्जित-स्वर,
प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह—भेद-कौशल-समूह,
राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह, क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरितवह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण
लोहितलोचन-रावण-मद-मोचन-महीयान।

\+ \+ \+ \+

यहाँ समस्त पद-रचना के द्वारा युद्ध का वातावरण उत्पन्न करने का सफल प्रयत्न किया गया है।

हमारा अनुमान है कि अन्य प्रकार की समास-वक्रता से कुन्तक का अभिप्राय ऐसे ही रचना-चमत्कार से है ।

७. *लिंगवैचित्र्य-वक्रता*

जहाँ सौन्दर्य लिंग-प्रयोग पर आश्रित रहता है, वहाँ लिंगवैचित्र्य-वक्रता होती है, अथवा लिंग का चमत्कारपूर्ण प्रयोग जहां सौन्दर्य्य की सृष्टि करता है, वहां कुन्तक के अनुसार लिंगवैचित्र्य-वक्रता रहती है । इस वक्रता के कई रूप हैं ।

१. विभिन्न लिंगों का समानाधिकरण्य :—कहीं कहीं विभिन्न लिंग के शब्दों का समानाधिकरण रूप से प्रयोग कर प्रतिभावान् कवि अपनी उक्ति में एक अपूर्व विच्छित्ति उत्पन्न कर देता है । (२।२१) ।

उदाहरण—तेनैषा मम फुल्लपंकजवनं जाता दृशां विशंतिः अर्थात् इस कारण से मेरे नेत्रों की *विशंति* (मेरे बीस नेत्र) फुल्लपंकजवन (के समान) हो गयी है । यहां विंशति स्त्रीलिंग है और पंकजवनं संस्कृत व्याकरण के अनुसार नपुंसक लिंग है । इन दोनों का समानाधिकरण चमत्कार का का विधायक है ।

हृदय की सौन्दर्य्य-*प्रतिमा* ! कौन तुम छवि-*धाम* ?

यह भी लिंग-वक्रता का चमत्कार है, प्रतिमा स्त्रीलिंग है और धाम पुल्लिग ।

सामान्यतः इस प्रकार का समानाधिकरण्य विशेष गुण नहीं कहा जा सकता है, उपमान और उपमेय का समान लिंग होना ही अधिक उचित है । कहीं कहीं वैषम्य अथवा विरोधाभास के आधार पर उसमें चमत्कार उत्पन्न हो सकता है, परन्तु नियमित रूप से इस प्रकार के प्रयोगों में चमत्कार नहीं माना जा सकता ।

२. स्त्रीलिंग का प्रयोग :—जहाँ अन्य लिंग सम्भव होने पर भी, स्त्री नाम ही सुन्दर है, इसलिए (ऐसा मान कर) शोभातिरेक के सम्पादन के लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग किया जाता है, वहां भी लिंगवैचित्र्य-वक्रता होती है । (२।२२) ।

उदाहरण के लिए तट आदि ऐसे अनेक शब्द हैं जिनके संस्कृत में पुल्लिग तटः, नपुंसक लिंग तटम् और स्त्रीलिंग तटी तीनों ही रूप मिलते हैं, परन्तु कवि पेशलता की व्यंजना करने के लिए स्त्रीलिंग तटी आदि का ही प्रयोग करता है । हिन्दी में पंत जी को इस प्रकार के प्रयोग अत्यंत प्रिय हैं—उन्होंने अनेक स्त्रीलिंग रूप स्वयं ही बना लिए हैं । छायावाद की एक मुख्य प्रवृत्ति—प्रकृति पर नारी-भाव का आरोप—मूलतः इसी धारणा पर आधृत है ।

३. विशिष्ट लिंग का प्रयोग :—जहां अन्य लिंगों के सम्भव होने पर भी विशेष शोभा के लिए, अर्थ के औचित्य के अनुसार, किसी विशेष लिंग का प्रयोग किया जाता है वहां भी एक प्रकार की लिंगवैचित्र्य-वक्रता होती है। (२।२३)।

इसके उदाहरण रूप में कुन्तक ने रघुवंश के त्रयोदश सर्ग से दो श्लोक सं० २४ और २५ उद्धृत किये हैं। इनमें लताओं तथा मृगियों द्वारा विरही राम के साथ सहानुभूति-प्रदर्शन का उल्लेख है। कुन्तक की टिप्पणी है कि कवि यहां वृक्षों और मृगों की भी चर्चा कर सकता था किन्तु फिर भी उसने लताओं और मृगियों का ही उल्लेख किया है क्योंकि सीता से विप्रयुक्त राम के साथ लताओं तथा मृगियों की ही नारी-सुलभ सहानुभूति अधिक स्वाभाविक थी।

हिन्दी में भी इस प्रकार के राशि-राशि उदाहरण मिलेंगे—

(१) प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ कहाँ हे बाल-विहंगिनि !
सीखा तूने वह गाना !

(२) सिखा दो ना हे मधुप-कुमारि !
मुझे भी अपने मीठे गान। (पंत-वीणा)

यहाँ 'बाल-विहंग' और 'मधुप-कुमार' भी उपर्युक्त कर्तव्यों का निर्वाह कर सकते थे, किन्तु भावना की पेशलता के आग्रह से स्त्रीलिंग का प्रयोग किया गया है।

विभिन्न लिंगों के पर्याय शब्दों के मूल में प्रायः इसी प्रकार की नारीत्व और पौरुष व्यंजक कल्पना निहित रहती है—हिन्दी में वायु और पवन में इसी आधार पर अन्तर किया जाता है। वास्तव में हिन्दी भाषा में अचेतन पदार्थों की लिंग-कल्पना का आधार ही यह भावना है।

अब तक सुबन्त पदों के प्रातिपदिक-रूप पूर्वार्ध पर आश्रित वक्रता का विवेचन किया गया है। अब सुबन्त तथा तिङन्त दोनों प्रकार के पदों के धातु-रूप पूर्वार्ध की वक्रता का वर्णन करते हैं।

८. *क्रियावैचित्र्य-वक्रता*

धातु-रूप पदपूर्वार्ध पर आश्रित वैचित्र्य क्रिया-वक्रता के अन्तर्गत आता है। इसके पाँच रूप हैं :

१. क्रिया का कर्त्ता के अत्यन्त अंतरंगभूत होना—जहाँ क्रिया कर्ता को अत्यन्त अन्तरंग हो अर्थात् उससे अत्यन्त अभिन्न हो :—

क्रीड़ारसेन रहसि स्मितपूर्वमिन्दो
लेंखां विकृष्य विनिबध्य च मूर्ध्नि गौर्या ।
किं शोभिताऽहमनयेति शशाङ्कमौलेः
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः ।

परिहास में गौरि चन्द्रलेखा को खींच अपने मस्तक पर बाँध कर शिव से पूछने लगीं कि क्या मैं इसे धारण कर सुन्दर लगती हूँ ? इस प्रश्न पर शिव का चुम्बन रूप उत्तर हमारी रक्षा करे ।

यहाँ चुम्बन रूप क्रिया उत्तर रूप कर्ता का अभिन्न अंग है । इस पर कुन्तक की टिप्पणी है कि पार्वती के उस लोकोत्तर सौन्दर्य्य का शिवजी के द्वारा कथन चुम्बन के अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्भव नहीं था । (हिन्दी व० जी० २।२४ वीं कारिका की वृत्ति)

अथवा

पार्वती-चुम्बित रुद्र का तृतीय नेत्र सर्वोत्कर्षयुक्त है । यहाँ 'चुम्बन' क्रिया 'नेत्र' कर्ता का अभिन्न अंग है । इसके द्वारा उसके सौन्दर्य्य की श्रीवृद्धि होती है ।

२. कर्ता की अन्य कर्ताओं से विचित्रता : जहाँ क्रिया द्वारा किसी कर्ता की विचित्रता का प्रतिपादन हो ।

शिवजी की वह *शराग्नि* तुम्हारे दुःखों को दूर करे ।

शराग्नि का कार्य दुःख देना है—यहाँ वह दुःखों को दूर करती है । यह क्रिया द्वारा कर्ता की वैचित्र्य-सिद्धि है ।

भगवान नृसिंह के प्रपन्नार्तिच्छिद् (अर्थात् दुखियों के दुःख को दुर करने वाले) नख तुम्हारी रक्षा करें ।

यहाँ नखों की छेदन रूप क्रिया उन्हें वैचित्र्य प्रदान करती है—क्योंकि वे ही अन्त में जाकर रक्षा करते हैं ।

३. क्रिया के विशेषण का वैचित्र्य—कहीं कहीं चमत्कार क्रिया के अपने विशेषण के वैचित्र्य पर आश्रित होता है । यह क्रियाविशेषण क्रिया तथा कारक

दोनों के सौन्दर्य को बढ़ाता है। (क्रियाविशेषण होने से क्रिया का सौन्दर्य तो वह स्वभावतः बढ़ाता ही है, परन्तु विचित्र क्रिया का करना ही कारक का भी वैचित्र्य है, इसलिए कारक का सौन्दर्य भी उसके द्वारा परिवृद्ध होता है)।

"+ + + हड़बड़ी के कारण अपने उल्टे वेशविन्यास से सखीजन को हँसाते हुए उन तरुणियों ने आभूषण धारण करना आरम्भ किया।" यहाँ उलटे वेश-विन्यास से सखीजन को हँसाते हुए—यह क्रियाविशेषण चमत्कार का आधार है।

घुमा रहे हैं *घनाकार* जगती का अम्बर।

यहाँ 'घनाकार' 'घुमा रहे हैं' क्रिया का विशेषण है जो भीषण दृश्य की उद्भावना कर उस में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देता है।

कालाकाँकर का राजभवन, सोया जल में *निश्चित प्रमन*

पलकों में वैभव-स्वप्न सघन।

यहाँ निश्चिन्त और प्रमन तो 'सोया (है)' क्रिया के विशेषण हैं ही, अर्थ की दृष्टि से 'पलकों में वैभव-स्वप्न सघन' भी उसी का विशेषण है। हिन्दी व्याकरण में इस प्रकार के समस्त क्रियाविशेषण पदों के लिए अवकाश अधिक नहीं है—अतएव इस प्रकार के प्रयोग कम ही मिलते हैं। वैसे अर्थ की दृष्टि से इनका भी प्रयोजन क्रिया की सौन्दर्य-वृद्धि ही होता है।

४. उपचार-मनोज्ञता :—उपचार का अर्थ है सादृश्य आदि सम्बन्ध के आधार पर अन्य धर्म का आरोप करना। अनेक रूपों में उपचार के कारण भी क्रिया में मनोज्ञता उत्पन्न हो जाती है।

उदाहरण के लिए : इसके अंग मानो छलकते हुए स्वच्छ लावण्य के सागर में *तैर रहे हैं*। स्तन और नितम्ब विस्तार की प्रौढ़ता को *खोल रहे हैं* और आँखों के चंचल व्यापार स्पष्ट रूप से (बाल्योचित) सरलता का *अपवाद कर रहे हैं*। अहो इस मृगनयनी का अब तारुण्य के साथ घनिष्ठ परिचय हो गया है।

यहाँ अंगों का तैरना, स्तनादि का उन्मुद्रण व्यापार, और नेत्रों द्वारा सरलता का अपवाद आदि क्रियाओं में उपचार का चमत्कार है।

१. उन्नत वक्षों में आलिंगन-सुख लहरों-सा *तिरता*।

२. परि है मनो रूप अबै धरि च्वै।

३. आनन ते *छलकी* परैं आँखें ।

४. रूप के सरोवर में *तैर* रहे थे अंग ।

कर्मादि-संवृति :—यहाँ क्रिया के कर्म आदि के संवरण द्वारा चमत्कार की सृष्टि की जाती है :

आयतनयना सुन्दरी के रागालस मन में प्रेम की शोभा नेत्रों के भीतर 'कुछ' मधुरता अर्पित कर रही है, कानों के पास 'कुछ' अपूर्व कथन कर रही है, हृदय में मानों 'कुछ' लिख रही है ।

इन सभी क्रियाओं के कर्मों का कथन सम्भव था परन्तु कवि ने 'कुछ' सर्वनाम द्वारा उनका आच्छादन कर एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है ।

पदपूर्वार्ध-वक्रता के ये ही मुख्य आठ प्रकार हैं । इनके अतिरिक्त कुन्तक ने दो और रूपों का भी इसी वर्ग के अन्तर्गत वर्णन किया है—१. प्रत्यय-वक्रता, २. भाव-वक्रता । शतृ आदि कुछ प्रत्यय पद के पूर्वार्ध में वर्तमान रहते हैं – अतएव इन प्रत्ययों पर आश्रित प्रत्यय-चमत्कार पदपूर्वार्ध-वक्रता का ही अंग है । इसी तरह साध्य रूप क्रिया का सिद्ध रूप में अर्थात् तिङन्त का सुबन्त रूप में प्रयोग भी अपने आप में कहीं कहीं अत्यन्त चमत्कारपूर्ण होता है : इसे ही कुन्तक ने भाव-वक्रता का नाम दिया है । यह भी पदपूर्वार्ध का ही अंग है । वैसे, सामान्य रूप में प्रत्यय-वक्रता तथा भाव-वक्रता मुख्यतया पदपरार्ध-वक्रता के ही अन्तर्गत आती हैं । अतः इनका विवेचन आगे के प्रसंग में किया जाएगा ।

अनन्त भेद :—इस प्रकार पदपूर्वार्ध-वक्रता सिद्ध हुई, यहां केवल उसका दिङ्मात्र प्रदर्शन किया गया है । शेष विस्तार लक्ष्य काव्यों में पाया जाता है ।

पदपरार्ध-वक्रता

पदपूर्वार्ध के अन्तर्गत पदों के पूर्वार्ध अर्थात् प्रातिपदिक और धातु का विचार किया गया । पदपरार्ध के अन्तर्गत पदों के उत्तरार्ध का विचार किया जाएगा । यह सामान्यतः प्रत्यय रूप होता है, अतएव पदपरार्ध-वक्रता को प्रत्यय-वक्रता भी कहते हैं ।

कुन्तक नें पदपरार्ध-वक्रता के छह मुख्य भेदों का वर्णन किया है ।

१. कालवैचित्र्य-वक्रता

पदपूर्वार्ध-वक्रता का प्रसंग क्रिया-वक्रता के साथ समाप्त हुआ था, अतएव उसी क्रम-शृंखला में क्रिया से सम्बद्ध काल की वक्रता का वर्णन आरम्भ में करते हैं।

जहाँ औचित्य के अनुरूप काल रमणीयता को प्राप्त हो जाता है, वहां काल-वैचित्र्य-वक्रता होती है। (२।२६)। अर्थात् जिसमें चमत्कार काल विशेष के प्रयोग पर आश्रित रहता है, उसे कालवैचित्र्य-वक्रता कहते हैं। परन्तु इसमें औचित्य का प्रतिबन्ध है, काल का यह वक्र प्रयोग प्रसंग एवं परिस्थिति के अनुकूल तथा सार्थक होना चाहिए। अन्यथा वह व्याकरण की त्रुटि मात्र होकर रह जाएगा।

उदारहण :—'समविषम के भेद से रहित, मन्द मन्द संचरण-योग्य (अर्थात् जिन पर धीरे धीरे सावधानी के साथ ही चलना सम्भव है) मार्ग शीघ्र ही मनोरथों के लिए भी दुर्लंघ्य *हो जाएँगे*'। यह किसी विरही की कातर उक्ति है : यहां 'हो जाएंगे,—यह भविष्यत्कालिक क्रियापद चमत्कार का आधार है। अभी वर्षा समय की उत्प्रेक्षा—कल्पना मात्र से ही इतना भय है, तो उसके वर्तमान होने पर अर्थात् वास्तव में उपस्थित हो जाने पर क्या होगा ? वैचित्र्य का मूल कारण यह अर्थ-व्यंजना है, जो निश्चय ही काल पर आश्रित है। अतएव यह कालवैचित्र्य-वक्रता का उदाहरण हुआ।

हिन्दी उदाहरण—बौरन चूमि कोएलिया घूमि करेजन की किरचैं करि दैहैं।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के 'ऐतिहासिक वर्तमान' आदि प्रयोगों में भी यही काल-वक्रता रहती है। 'ऐतिहासिक वर्तमान' में भूतकालिक घटना का वर्तमान कालिक क्रियाओं द्वारा वर्णन कर सजीवता उत्पन्न की जाती है।

बिहारी के निम्नलिखित दोहे में भी एक प्रकार की कालवैचित्र्य-वक्रता है :

नासा मोरि नचाय दृग करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकति हियें गड़ी कँटीली भौंह ॥

नायिका ने ये चेष्टाएं भूतकाल में की थी—भौंह न जाने कब गड़ी थी, पर वह आज भी कसक रही है। यहाँ 'कसकति' क्रिया का वर्तमान काल चमत्कार का आधार है।

२. कारक-वक्रता

इस वैचित्र्य का आधार है कारक-प्रयोग। सामान्य कारक का मुख्य रूप से और मुख्य का सामान्य रूप से कथन कर, तथा कारकों का विपर्यय कर अर्थात्

कर्ता को कर्म या करण का रूप, और कर्म या करण को कर्ता का रूप देकर प्रतिभावान कवि अपनी उक्ति में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देता है। यही कारकवैचित्र्य-वक्रता है। (२.२७-२८)।

उदाहरण :

पाणि सम्प्रति ते हठात् किमपरं स्प्रष्टुं धनुर्धावति ।

राम क्रुद्ध होकर समुद्र से कहते हैं कि तेरी धृष्ठता से मेरा हाथ अब विवश होकर धनुष को पकड़ने के लिए बढ़ रहा है।

यहाँ हाथ वास्तव में करण कारक होना चाहिए, किन्तु कवि ने उसका कर्ता रूप में प्रयोग किया है।

देखिए—हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों *उठा हस्त* । (निराला)

झींगुर के स्वर का प्रखर *तीर*, केवल प्रशान्ति को रहा चीर। (पंत)

३. संख्या-वक्रता या वचन-वक्रता

काव्य में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए जहाँ कविजन इच्छापूर्वक संख्या अर्थात् वचन का विपर्यास कर देते हैं, वहाँ कुन्तक के मत से संख्या-वक्रता होती है। (२।२९)।

मर्मज्ञ कवि वास्तव में अपने काव्य के छोटे से छोटे अवयव को सार्थक बना देता है। दुष्यन्त की इस प्रसिद्ध उक्ति में वचन का ही चमत्कार है :—

वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।

अर्थात्

हम पूछत जातिहि पाँति मरे, धनि रे धनि भौंर कहावत तू।

यहाँ राजा को सामान्यतः अपने लिए एक वचन अहं या मैं का प्रयोग करना चाहिए था किन्तु आत्म-निन्दा या विरक्ति की व्यंजना के लिए वह बहुवचन वयं या हम का प्रयोग करता है। कहीं कहीं भिन्न वचनान्त शब्दों के समानाधिकरण्य में भी विचित्र चमत्कार होता है। इस प्रसंग में कुन्तक ने यह उदाहरण दिया है : शास्त्राणि चक्षुर्नवम्—अर्थात् शास्त्र उसका नवीन नेत्र हैं। इसमें शास्त्र बहुवचनान्त हैं और नेत्र एकवचन है। इसी प्रकार :—*हैं ये ऊजड़ ग्राम देश का हृदय* चिरंतन—यहां भी वही चमत्कार है।

४. *पुरुष-वक्रता*

जहाँ सौन्दर्य्य के लिए उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का विपरीत रूप से प्रयोग होता है, वहाँ कुन्तक के अनुसार पुरुष-वक्रता समझनी चाहिए। २।३०। विपरीत रूप से प्रयोग का अर्थ यह है कि उत्तम और मध्यम पुरुषों के स्थान पर अन्य पुरुष का प्रयोग काव्य-शोभा के निमित्त किया जाता है। इसका तात्पर्य्य वास्तव में यह है कि उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष दोनों का वाचन प्रत्यक्ष रूप से होता है—इन दोनों के प्रयोग में एक प्रकार की प्रत्यक्षता और तज्जन्य निकटता रहती है। कभी कभी उदासीन भाव, सम्मान, अथवा निरहंकारिता आदि की अभिव्यक्ति के लिए इन दोनों प्रत्यक्ष-वाचक पुरुषों के स्थान पर अन्य-वाचक अन्य पुरुष का प्रयोग अत्यंत सार्थक और व्यंजक होता है। पुरुष का यह चमत्कारपूर्ण सार्थक प्रयोग ही पुरुष-वक्रता है।

इसके उदाहरण में तापसवत्सराज का यह श्लोक उद्धृत किया गया है:—
'दुष्ट शत्रुओं द्वारा अधिकृत कौशाम्बी को जीत कर नीतिद्वेषी महाराज की प्रमादी प्रकृति को मैं जानता हूं। मैं यह भी जानता हूं कि पति के वियोग में स्त्रियों का चित्त सदैव खिन्न रहता है। अतएव मेरा मन कुछ कहने का साहस नहीं करता। आगे, *देवी* स्वयं जानें।

यहाँ 'आप' मध्यम पुरुष के स्थान पर कवि ने अन्य पुरुष 'देवी' का सार्थक प्रयोग अपनी उदासीनता की व्यंजना करने के निमित्त किया है। 'आप' में निकटता के कारण अधिकार और आग्रह का भाव आ जाता, जिसे कवि-निबद्ध पात्र—मंत्री योगन्धरायण, रानी पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने के लिए छिपाना चाहता है। अतएव कवि ने अन्य पुरुष का प्रयोग किया है।

हिन्दी में पुरुष-विपर्यय का प्रयोग इतना प्रचुर नहीं है जितना संस्कृत में। किन्तु फिर भी यह प्रयोग भाषागत रूढ़ि न होकर मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, इसलिए न केवल हिन्दी में वरन् अन्य भाषाओं में भी इसकी सार्वभौम स्वीकृति है। संस्कृत के अत्रभवान् आदि और अंगरेज़ी के 'योर मेजेस्टी' आदि सम्मानार्थ प्रयोगों में यही प्रेरणा वर्तमान है। सामान्य वार्तालाप में भी 'मैं' न कहकर हम कभी कभी विनय आदि की व्यंजना के लिए 'आपका दास' आदि पदों का प्रयोग करते हैं। संस्कृत में 'अयं जनः' का प्रयोग भी इसी आशय से किया जाता है।

कुछ उदाहरण लीजिए:—

१. करके ध्यान आज *इस जन* का निश्चय वे मुसकाये
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बंधूक सुहाये। (मै० श० गुप्त)

२. किंवा यह, — देव हैं दया-शरीर;
देख कर भूतल के तप्त क्षेत्र
प्रभु के सहस्र नेत्र
तप्त हो उठे थे प्राणियों के दुःखताप से :
और इसी हेतु बिना जाने ही, बिना कही
प्राप्त हुई आज्ञा वही
सेवक को अपने ही आप से ।
\+ + +
गुरुवर पदाब्जों में + + +
राजाधिप शूरसेन-सूनु यह नत है। (सियारामशरण गुप्त)

५. *उपग्रह-वक्रता*

उपग्रह का अर्थ है धातु-पद। संस्कृत में धातुओं के दो पद होते हैं— परस्मैपद और आत्मनेपद। जिसमें काव्य की शोभा के लिए (परस्मैपद और आत्मनेपद) दोनों पदों में से औचित्य के कारण किसी एक का प्रयोग किया जाता है, उसको उपग्रह-वक्रता कहते हैं। (३।३९)।

वास्तव में अपने रूढ़ रूप में तो उपग्रह का चमत्कार संस्कृत में ही सम्भव है क्योंकि हिन्दी आदि में आत्मनेपद यथावत् नहीं होता। फिर भी इस प्रकार के कर्म-कर्तृवाच्य प्रयोगों का हिन्दी में अभाव नहीं है—और कहीं कहीं उनमें अपूर्व चमत्कार भी निहित रहता है। 'हाथ छूट जाना' आदि मुहावरों में इसका पूरा चमत्कार वर्तमान रहता है। इसके अतिरिक्त आत्मनेपद का संस्कार तो हिन्दी में स्पष्ट लक्षित ही है : आँख खुल गयी, हाथ टूट गया, जीभ कट गयी आदि कर्मकर्तृ प्रयोग ही हैं। जहाँ इनका प्रयोग सचेष्ट रूप में विशेष सौन्दर्य की व्यंजना करने के लिए किया जाता है, वहां हिन्दी प्रयोगों में भ निश्चय ही उपग्रह-वक्रता का चमत्कार वर्तमान रहता है।

१. *उठती* यह भौंह भी भला
उनके ऊपर तो अचंचला। (मै०श० गुप्त)

२. मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं *तुल जाती* हूँ। (प्रसाद)

३. *छूटि गयो* मान वा सलोनी मुसकानि में।

४. हौं तो याही सोच में बिचारत रही ही काहे
दर्पन हाथ ते न *छिन बिसरत* है। (भारतेन्दु)

६. *प्रत्यय-वक्रता*

सामान्यतः यह सभी प्रत्यय का ही चमत्कार है। परन्तु कहीं कहीं उपर्युक्त प्रत्यय-प्रयोगों से भिन्न, एक प्रत्यय में दूसरा प्रत्यय लगा कर मर्मज्ञ कवि एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है। इसी को कुन्तक ने स्वतंत्र रूप से प्रत्यय-वक्रता का नाम दिया है। २।३२।

उदाहरण : येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः।[1]

अर्थात् जिसके संसर्ग से, मोर पंख को धारण करने वाले गोपवेश विष्णु के (शरीर के) समान तेरा श्यामल शरीर भी कान्तिमय हो जायगा।

उपर्युक्त संस्कृत छंद में 'अतितरां' इस प्रत्यय-वक्रता का उदाहरण है। अति में तरप् प्रत्यय लगा कर अतितरां पद का निर्माण हुआ है : —अति में तो प्रत्यय पहले से ही वर्तमान है, उसमें तरप् प्रत्यय और लगाकर यह चमत्कार उत्पन्न किया गया है।

हिन्दी में प्रत्यय की स्थिति उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी संस्कृत में। जैसा संस्कृत के सुबन्त और तिङन्त पदों में मिलता है, वैसा, शब्द के मूल प्रत्यय का अस्तित्व तो हिन्दी में प्रायः रहा ही नहीं है। अतएव हिन्दी में प्रायः दुहरा प्रत्यय ही लक्षित होता है : जैसे संदेसड़ा, घइलवा आदि। संदेस (श) और घइल में घङ् जैसा कोई मूल प्रत्यय पहले से ही वर्तमान है, उसमें स्वार्थवाचक 'ड़ा' 'वा' और लगाकर 'संदेसड़ा तथा 'घइलवा' का निर्माण हुआ है। इनका भावप्रेरित प्रयोग ही प्रत्यय-वक्रता का मूल आधार है :

पिय सों कहहु *सँदेसड़ा*, हे भोंरा, हे काग।
वह धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुआँ हम लाग॥ (जायसी)

इन्द्र चाप रुचिदान जासु मिलि तो तनु कारो।
पावत है छवि अधिक लगत नैनन को प्यारो॥
मोरचन्द्रिका संग सुभग जैसे मन मोहत।
गोपवेष गोविन्द बहुत श्यामल तन सोहत॥
(हिन्दी मेघदूत—लक्ष्मणसिंह)

आगि लागि घर जरिगा, विधि भल कीन्ह ।
पिय के हाथ *घइलवा* भरि भरि दीन्ह ॥ (रहीम)

उपर्युक्त दोनों प्रत्यय अत्यंत नैकट्य और अंतरंगता के द्योतक हैं : सामान्य स्वजन के लिए सँदेस और प्रिय के लिए संदेसड़ा।—घइलवा का 'वा' भी इसी स्नेहातिशय का सूचक है ।

प्रत्यय-वक्रता के इस रूप के साथ कुन्तक का पदपरार्धवक्रता-विवेचन समाप्त हो जाता है। पदपूर्वार्ध-वक्रता की भाँति प्रत्यय-वक्रता के भी अनेक भेद हो सकते हैं—परन्तु उनका अंतर्भाव प्रायः उपर्युक्त भेदों में हो जाता है ।

पद-वक्रता के दो अन्य भेद—उपसर्ग-वक्रता और निपात-वक्रता :—

पद के दो ही मुख्य भेद हैं—प्रकृति अर्थात् नाम, धातु रूप पूर्वार्ध और प्रत्यय रूप परार्ध । परन्तु इनके अतिरिक्त दो भेद और भी रह जाते हैं : उपसर्ग और निपात। संस्कृत व्याकरण में पद के ये चार भेद ही माने गये हैं : नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इनमें से नाम और आख्यात की वक्रता का विवेचन पदपूर्वार्ध और पदपरार्ध के वक्रत्व-भेदों के अंतर्गत हो चुका है। उपसर्ग और निपात अव्युत्पन्न होने कारण अवयवरहित हैं। अतएव इनका प्रकृति और प्रत्यय में विभाग सम्भव नहीं है। इसी कारण कुन्तक ने इनका सम्पूर्ण रूप में विचार किया है ।

उपसर्ग-वक्रता

उपसर्ग-वक्रता का मूल आधार उपसर्ग का चमत्कारपूर्ण प्रयोग है। जहाँ उपसर्ग का विशिष्ट प्रयोग ही शब्द अथवा उक्ति के सौन्दर्य्य का विधायक होता है, वहां कुन्तक की पारिभाषिक शब्दावली में उपसर्ग-वक्रता होती है । उपसर्ग के विषय में वैयाकरणों का यह मत है कि वे मूलतः शब्द ही थे जो घिसते-घिसते अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हो गये हैं। इस प्रकार उपसर्ग में भी अर्थ-विशेष निहित रहता है : कुशल कवि वाक्य के प्राण रूप रसादि की पुष्टि के लिए इसी निहित अर्थ का सदुपयोग करता है ।

उदाहरण :—

अयमेकपदे तया वियोगः
प्रिया चोपनतः सुदुःसहो मे ।

+ + +

अर्थात् एक ओर तो प्रिया के सुदुःसह विरह को सहन करने का समय उपस्थित हो गया है······ । यहां सु और दुस् (र्) इन दो उपसर्गों का प्रयोग भी विशेष चमत्कार पूर्ण है—ये दुहरे उपसर्ग विरह की असह्यता को व्यक्त करते हैं ।

हिन्दी कविता में भी उपसर्ग का कुशल प्रयोग रस तथा भावादि के उत्कर्ष के लिए—प्राचीन तथा नवीन—सभी कवियों ने किया है ।

१. इन्दु-*वि*चुम्बित बाल जलद-सा मेरी आशा का अभिनय !

(बालापन : पंत)

२. *वि*कम्पित मृदु उर पुलकित गात । (भावी पत्नी के प्रति : पंत)

३. मै त्रिविध-दु:ख-*विनि*वृत्ति हेतु । (यशोधरा—गुप्त)

इनमें से प्रत्येक उपसर्ग विशेष रस-पोषक चमत्कार से युक्त है । 'विकम्पित' में 'वि' उपसर्ग द्वारा विशेष भाव का द्योतन किया गया है । चन्द्रमा द्वारा नवमेघ का स्पर्श सामान्य स्पर्श न हो कर विशेष रमणीय स्पर्श है, इसलिए 'विचुम्बित' शब्द का प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार सामान्य भय के कम्पन से प्रणय के मादक उर-कम्पन का पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए 'विकम्पित' शब्द का प्रयोग हुआ है । निवृत्ति में भी 'वि' उपसर्ग का योग अत्यन्त निवृत्ति या सर्वथा निवृत्ति की अभिव्यंजना करता है ।

निपात-वक्रता

निपात से अभिप्राय उन अव्ययों से है जो अवयव-रहति, अव्युत्पन्न पद होते हैं । कुशल कवि इनका भी रसोत्कर्ष के लिए पूर्ण उपयोग करता है । निपात अर्थ के द्योतक ही होते हैं, वाचक नहीं । 'द्योतका प्रादयो येन निपाताश्चादयो यथा' । निपात का यही कुशल उपयोग निपात-वक्रता के नाम से अभिहित है ।

उदाहरण : वैदेही तु कथं भविष्यति
ह हा हा देवि धीरा भव !

यहाँ 'तु' शब्द में निपात-वक्रता है । 'पर वैदेही तो स्वयं ही इतनी कोमल है उसका क्या होगा ?' इस प्रकार 'तु' शब्द राम की व्यथा को और भी प्रगाढ़ कर देता है ।

कुन्तक ने दूसरा उदाहरण शाकुन्तलम् से दिया है :—

मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः
कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ।

अभि० शां० ३।२३

राजा दुष्यंत की अवसादमयी उक्ति है : मैं ने उस का मुख उठा तो लिया पर चूम नहीं पाया । यहाँ भी 'तु' शब्द के द्वारा राजा की अपूर्ण लिप्सा और तज्जन्य पश्चात्ताप की व्यंजना की गयी है ।

हिन्दी काव्य से भी निपात-वक्रता के प्रभूत उदाहरणों का संचय किया जा सकता है :

१. उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जन कर जननी *ही* जान पायी जिसको ।

२. क्या लिया बस है *यहीं* सब शल्य ।
किन्तु मेरा *भी* यहीं वात्सल्य ।

उपर्युक्त उद्धरणों में 'ही' का प्रयोग अत्यन्त अर्थ-गर्भित है । वह भरत के उज्ज्वल चरित्र की गरिमा और तज्जन्य आश्चर्य को व्यक्त करता है । दूसरे उद्धरण में यहीं (यहाँ ही) का 'ही' कैकेयी की अन्तर्व्यथा का द्योतक है और 'भी' में भयंकर अपराधजन्य ग्लानि का परिमार्जन है ।

इसी प्रकार—'आह ! सर्ग के अग्रदूत तुम असफल हुए विलीन हुए ।' यहाँ 'आह' मनु के पश्चात्ताप और अवसाद का द्योतक है ।

'च्युत हुए अहो नाथ जो यथा । धिक् वृथा हुई उर्मिला व्यथा ।' यहाँ धिक् निपात के द्वारा उर्मिला की निराशा का द्योतन किया गया है ।

पद के चारों भेदों पर आश्रित वक्रता का यह वर्णन यहाँ समाप्त हो जाता है । शब्द के छोटे से छोटे सार्थक अवयव के चमत्कार का इतना सूक्ष्म विश्लेषण कुन्तक की अद्भुत मर्मज्ञता का परिचायक है । वे शब्दार्थ के सूक्ष्म रहस्यों से सर्वथा अवगत थे—अतएव उन्होंने बड़े विशद रूप में यह प्रतिपादित किया है कि प्रतिभा-वान् कवि शब्दार्थ के छोटे से छोटे अवयवों में वक्रता का प्रयोग कर अपने वाक्यों को

चमत्कारपूर्ण बना देता है। यह कार्य प्रतिभा के लिए इतना सहज होता है। कि एक ही वाक्य में अनेक वक्रता-भेदों का प्रयोग अनायास ही हो जाता है। कुन्तक ने स्पष्ट लिखा है : "कहीं कहीं एक दूसरे की शोभा के लिए बहुत से वक्रता-प्रकार एकत्र होकर इसको (काव्य को) (अनेक रंगों से युक्त) चित्र की छाया के समान मनोहर बना देते हैं।"—और, जब वक्रता के एक रूप से ही काव्य इतना सहृदयाह्लादकारी हो सकता है, तब ये अनेक भेद एकत्र हो कर तो उसके सौन्दर्य को न जाने कितना समृद्ध कर सकते हैं ? अतएव काव्य में वक्रता का प्रभाव असीम है।

वाक्य-वक्रता और वस्तु-वक्रता

वर्णों से प्रकृति तथा प्रत्यय—पदपूर्वार्ध तथा पदपरार्ध का निर्माण होता है और पदों से वाक्यों का। इस प्रकार क्रमशः वक्रता के प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार करते हुए कुन्तक वर्ण के पश्चात् प्रकृति-प्रत्यय और प्रकृति-प्रत्यय के पश्चात् वाक्य की वक्रता का विवेचन करते हैं। अनेक पदों के संयोजन का नाम वाक्य है। वाक्य का यह अपने-आप-में-पूर्ण अर्थ अनेक पदों के अर्थ का समंजित रूप होता है। इस प्रकार वाक्य की वक्रता सामान्यतः पदार्थ अथवा अर्थ की वक्रता है—जिसकी परिभाषा कुन्तक के शब्दों में यह है :

वस्तु का उत्कर्ष-युक्त स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ अथवा वाच्य की वक्रता कहलाती है। (हिन्दी व० जी० ३।१)

अतएव वाच्य-वक्रता का दूसरा नाम वस्तु-वक्रता भी है। कुन्तक ने तृतीय उन्मेष के आरम्भ में प्रस्तुत विषय का विवेचन किया है। उसका निष्कर्ष इस प्रकार है—वाक्य अथवा वाच्य अथवा वस्तु की वक्रता सामान्यतः एक ही बात है। इसके दो भेद हैं : १. सहजा और २. आहार्य्या : सैषा सहजाहार्यभेदभिन्ना वर्णनीयस्य वस्तुनो द्वि प्रकारस्य वक्रता (व० जी० ३।२ वृत्ति)। वस्तु की सहज और आहार्य भेद से दो प्रकार की वक्रता होती है। सहज का अर्थ है सहज शक्ति द्वारा उत्पन्न—इसके अन्तर्गत वस्तु के स्वभाव का सहज-सुन्दर वर्णन आता है। आहार्य का अर्थ है व्युत्पत्ति तथा शिक्षाभ्यास द्वारा अर्जित—प्रस्तुत सौन्दर्यरूपिणी होने पर भी यह अर्थालंकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है : तदेवमाहार्या येयं सा प्रस्तुत-विच्छत्ति-विधाप्यलंकारव्यतिरेकेण नान्या काचिदुपपद्यते। (हिन्दी व० जी० ३।२ की वृत्ति)। इस प्रकार वाच्य या वस्तु-वक्रता के दो भेद हुए : १. पदार्थ की स्वाभाविक शोभा का वर्णन (स्वाभावोक्ति, जो कुन्तक के अनुसार अलंकार्य है), २. अर्थालंकार।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त में वस्तु (काव्य-विषय) का स्वरूप

कुन्तक ने किसी एकांगी सिद्धान्त का प्रतिपादन न कर वास्तव में एक स्वतः-सम्पूर्ण काव्य-सम्प्रदाय की स्थापना की है—अतएव उन्होंने अपने मूल सिद्धान्त के आधार पर काव्य के प्रायः सभी मुख्य पहलुओं पर प्रकाश डाला है। उनके मत से काव्य-वस्तु* दो प्रकार की होती है : सहज और आहार्य।

सहज :—सहज का अर्थ है स्वाभाविक अथवा प्रकृत—कवि अपनी सहज प्रतिभा के द्वारा प्रकृत वस्तुओं का सजीव चित्रण कर सहृदय को आह्लाद प्रदान करता है। परन्तु ये प्रकृत वस्तुएं भी उत्कर्षयुक्त और स्वभाव से सुन्दर होनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि इनके स्वाभाविक धर्म प्रकृत्या रमणीय होने चाहिए :

यस्मादत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्तं वर्णनीयं वस्तु परिग्रहणीयम्।
(हिन्दी व० जी० पृ० २।१ वृत्ति)

प्रत्येक वस्तु के कुछ स्वाभाविक धर्म या सहजात विशेषताएं होती हैं—कवि को ऐसी ही वस्तुओं का वर्णन करना चाहिए जिनके स्वाभाविक धर्म उत्कर्षयुक्त एवं रमणीय हों। कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ वस्तुएं अथवा विषय ऐसे होते हैं जिनका प्रकृत रूप ही मन में उल्लास भर देता है : कुन्तक ने वयःसन्धि, ऋतु-सन्धि, आदि के उदाहरण देकर यह निर्देश किया है कि नारी-अंगों का सौन्दर्य, तथा प्रकृति की रंगोज्ज्वल छटा अपने स्वाभाविक रूप में ही रमणीय होती है। इस प्रकार के पदार्थ काव्य के मुख्य वर्णनीय विषय हैं। सुकुमार-स्वभाव कवि अपनी सहज प्रतिभा के द्वारा इन पदार्थों का चयन और उनकी रमणीय विशेषताओं का उद्घाटन करने में समर्थ होता है। अतएव हैं ये भी कवि-कौशल के आश्रित—स्वभाव-रमणीय पदार्थों का भी रमणीय वर्णन कवि कौशल का ही प्रसाद है। स्पष्ट शब्दों में कुन्तक का यह मत है कि मूलतः तो काव्य-वस्तु का सौन्दर्य कविकौशल-जन्य ही होता है, परन्तु फिर भी ऐसे पदार्थ जो स्वभाव से रमणीय और आह्लादकारी हैं सुकुमार-स्वभाव कवियों के लिए अधिक उपयुक्त काव्य-विषय हैं।। यहां, बहुत कुछ भावगत दृष्टिकोण रखते हुए भी कुन्तक अंत में रमणीय काव्य-विषय को प्राथमिकता दे देते हैं।

---

*वस्तु से अभिप्राय यहां विषय का है—कथानक आदि का नहीं।

आहार्य :—

आहार्य्य का अर्थ है निपुणता तथा शिक्षाभ्यास आदि द्वारा सम्पादित। यह रूप सहज वस्तु से भिन्न है क्योंकि सहज वस्तु जहां प्रधान रूप से प्रकृत और स्वाभाविक होती है—उसके धर्म सहजात होते हैं, वहां आहार्य्य वस्तु कविकौशल-जन्य, दूसरे शब्दों में, उत्पाद्य होती है—आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में उसे 'कल्पित' कहेंगे। आहार्य्य वस्तु के विषय में अपने आशय को और स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने लिखा है कि आहार्य्य वस्तु भी कोई एकान्त काल्पनिक वस्तु नहीं होती।—वह सत्ता मात्र से प्रतिभासित रहती है : कवि अपने कौशल के द्वारा उसमें कुछ अलौकिक शोभातिशय की उद्भावना या आधान कर देता है जिससे उसका सत्ता मात्र से प्रतीत होनवाला मूलरूप आच्छादित हो जाता है और वह लोकोत्तर सौन्दर्य्य से सम्पन्न एक नया ही रूप धारण कर लेती है।

कुन्तक का अभिप्राय स्पष्ट शब्दों में यह है : आहार्य्य वस्तु का अर्थ यह नहीं है कि उसका कोई वास्तविक अस्तित्व होता ही नहीं और स्वर्णलूता की तरह कवि अपनी कल्पना में से उसे उद्गीर्ण कर रख देता है। आहार्य्य वस्तु का भी अस्तित्व निश्चय ही होता है—परन्तु वह सामान्यतः सत्ता मात्र से प्रतिभासित रहता है अर्थात उसकी सत्ता तो रहती है किन्तु उसमें कोई आकर्षण नहीं रहता। कवि उसके अनेक धर्मों में से कतिपय विशिष्ट धर्मों को अतिरंजित कर इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उसका वास्तविक रूप छिप जाता है और एक नवीन लोकोत्तर रूप प्राप्त हो जाता है—लोकोत्तर इस लिए कि विशेष धर्मों की अतिरंजना के कारण उसका रूप सामान्य वस्तुओं से भिन्न हो जाता है। यही वस्तु का आहार्य्य रूप है—इसी रूप में वह सहज न होकर उत्पाद्य या कल्पित होती है। परन्तु यह 'उत्पादन' या 'आहरण' निरंकुश नहीं हो सकता—अपने आहार्य्य रूप में भी वह स्वाभाविक होना चाहिए, कौतुक मात्र नहीं।

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मात् निरुपाख्यं प्रसज्यते ।।१,१२।।

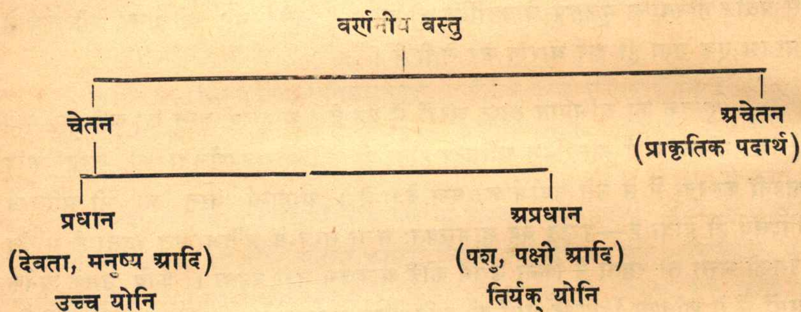
अर्थात् स्वभाव के बिना वस्तु का वर्णन ही सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभाव से रहित वस्तु तुच्छ असत्कल्प हो जाती है।

आहार्य्य वस्तु के विषय में कुन्तक का स्पष्ट मत है कि वह अर्थालंकार से अभिन्न है—इस लिए उसके अनेक प्रकार के भेदों द्वारा पदार्थों का वर्णन

बहुत विस्तृत हो जाता है। यद्यपि रस, स्वभाव, आदि सब के वर्णन में कवि का कौशल ही प्राणभूत है, फिर भी विशेष रूप से कवि-कौशल के अनुग्रह के बिना आहार्य वस्तु में नाम मात्र को भी वैचित्र्य नहीं हो सकता।

वस्तु के अन्य भेद :—

आगे चलकर कुन्तक ने वर्णनीय वस्तु के कुछ और भेद किये हैं। स्वभाव और औचित्य से सुन्दर चेतन और अचेतन पदार्थों का स्वरूप दो प्रकार का कहा गया है। उनमें से पहला भेद अर्थात् चेतन देवता आदि (उच्च योनि) से लेकर सिंह आदि (तर्यक् योनि) तक प्रधान तथा अप्रधान रूप से दो प्रकार का होता है।



इस प्रकार देव तथा मानव-जीवन काव्य का मुख्य विषय है और पशु-पक्षी-जीवन गौण विषय है। पशु-पक्षी—सिंह आदि तिर्यक् योनि के जीवों के वर्णन में जाति-स्वभाव प्रमाण है : प्रत्येक जीव का अपना अपना जाति-स्वभाव होता है—कुशल कवि सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर यथावत् चित्रण करता हुआ अपने वर्णन को सहृदय के लिए आह्लादकारी बना देता है। अचेतन के अन्तर्गत प्राकृतिक पदार्थों तथा दृश्यों का वर्णन आता है। काव्य-परम्परा के अनुसार कुन्तक ने इन्हें रस के उद्दीपन माना है,[1] परन्तु फिर भी इनके सहज सौन्दर्य के प्रति वे उदासीन नहीं हैं, उनकी स्वाभाविक शोभा का कुन्तक ने अत्यन्त उच्छवासपूर्ण शब्दों में वर्णन किया है। इस प्रकार सामान्य रूप से काव्य वस्तु के दो भेद हुए—१. स्वभाव-प्रधान और १. रस-प्रधान : तदेवं विधं स्वभाव-प्रधान्येन, रस प्राधान्येन द्विप्रकार।[2] इन रूपों

---

१. हिन्दी व० जीवित ३।८ वृत्ति

२. हिन्दी व० जीवित ३।१० वृत्ति।

के अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि के उपाय भी काव्य-वस्तु के अन्तर्गत आते हैं। इन उपायों से तात्पर्य उन सभी मानव-व्यापारों तथा अन्य प्राणियों के भी क्रिया-कलाप से है जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अनुष्ठान में उपदेश-परक रूप से सहायक होते हैं। आधुनिक शब्दावली में इन्हें नैतिक व्यापार कहेंगे: कुन्तक ने इस प्रसंग में कादम्बरी इत्यादि में वर्णित शूद्रक आदि राजाओं तथा शुकनास आदि मंत्रियों के चरित्रों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त वस्तु-विवेचन के अनुसार वक्रोक्ति-सिद्धान्त में काव्य-वस्तु के तीन प्रकार हैं: १. स्वभाव-प्रधान, २. रस-प्रधान और ३. नीति-प्रधान। जो पदार्थ अपनी सहज शोभा के कारण वर्णनीय होते हैं वे स्वभाव-प्रधान वस्तु के अन्तर्गत आते हैं; मानव हृदय की वृत्तियों का वर्णन मूलतः दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आता है; और, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष नीति-वर्णन तीसरे वर्ग में आता है। नवीन आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में इन्हें ही क्रमशः प्राकृत तत्व, रागात्मक तत्व तथा नैतिक (बौद्धिक) तत्व के नाम से अभिहित किया गया है, और आधुनिक काव्यशास्त्र के अनुसार ये ही विषय-वस्तु के तीन मूलभूत तत्व हैं।

इस प्रकार कुन्तक ने वस्तु का विभाग दो दृष्टियों से किया है—१. कवि की दृष्टि से, २. सहृदय की दृष्टि से। सहज और आहार्य भेदों का आधार कवि की सर्जना है, और स्वभाव-प्रधान, रस-प्रधान तथा नीति-प्रधान का आधार सहृदय की ग्रहण-प्रतिक्रिया है: पहले रूप से सहृदय प्रत्यभिज्ञान का आनन्द ग्रहण करता है, दूसरे से रस और तीसरे से उपदेश तथा सद्ज्ञान। पहले विभाग का आधार है—कवि जैसा उसे प्रस्तुत करता है। दूसरे विभाग का आधार है—पाठक जैसा उसे ग्रहण करता है।

काव्य-विषय के सम्बन्ध में कुन्तक की दो मान्यताएं

कुन्तक ने इस प्रसंग में दो स्थापनाएं की हैं: (१) काव्य का विषय स्वभाव से रमणीय होना चाहिए। मूलतः कविकौशल पर आश्रित होने पर भी काव्य-वस्तु के धर्म सहृदय-आह्लादकारी होने चाहिए। (२) प्रकृति का वर्णन काव्य में मूलतः रस का उद्दीपक होता है।

काव्य-विषय की रमणीयता

ये दोनों मान्यताएं विवादास्पद हैं : पाश्चात्य काव्यशास्त्र में आलोचकों का एक वर्ग ऐसा है जिनके मत से कोई भी विषय काव्योचित हो सकता है। विक्टर ह्यूगो ने स्पष्ट लिखा है कि कवि क्या कहता है यह महत्वपूर्ण नहीं है—कैसे कहता है इसका महत्व है। गॉबर्ट 'कुछ नहीं' पर ग्रन्थ-रचना करने का स्वप्न देखते थे। अभिव्यंजनावादियों ने तो काव्य-विषय की पृथक कल्पना को ही निरर्थक माना है—क्रोचे के अनुसार काव्य-वस्तु का सौन्दर्य अभिव्यंजना के सौन्दर्य से अभिन्न है। इसके विपरीत अरस्तू से लेकर आर्नल्ड तक अनेक आचार्यों का दूसरा वर्ग भी है जो वस्तु के सौन्दर्य को सत्काव्य के लिए अनिवार्य मानता है। इनके अनुसार काव्य का—सौन्दर्य मूलतः वस्तु के सौन्दर्य पर निर्भर रहता है। क्षुद्र विषय महान काव्य का—असुन्दर विषय सुन्दर काव्य का आश्रय नहीं बन सकता। हिन्दी में भी उपर्युक्त दोनों मतों की अनुगूंज मिलती है :

ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण।
(युगवाणी—पंत)

सामान्यतः तो सुकुमार विषय का चयन पंत जी की कविता का मुख्य गुण रहा है परन्तु उनके परिवर्तित दृष्टिकोण की यह अभिव्यक्ति काव्य के तथाकथित सुन्दर अथवा अभिजात विषयों को अमान्य घोषित करती हुई, काव्य अथवा ललित कला की सिद्धि इसी में मानती है कि वह कुरूप को रूप प्रदान कर दे। अर्थात् सौन्दर्य वस्तुतः कवि के हृदय में बसता है—वह अपने हृदयगत सौन्दर्य के द्वारा असुन्दर को भी सुन्दर बना देता है। रवि ठाकुर की एक प्रसिद्ध कविता है जिसका आशय यह है कि तुम्हारे विभिन्न अंगों की छवि मेरी भावनाओं के ही राग से रञ्जित है। यह दृष्टिकोण वास्तव में पाश्चात्य दर्शन की प्रत्ययवादी[1] चिंताधारा का प्रोद्भास है जिसके अनुसार वस्तु भाव की प्रतिच्छाया मात्र है : दूसरे शब्दों में सौन्दर्य की स्थिति दृश्य में नहीं द्रष्टा के मन में है—(ब्यूटी लाईज़ इन दी माइन्ड ऑफ़ दी बिहोल्डर)।

इसके विपरीत शुक्ल जी का निम्नोक्त अभिमत है जो उतने ही निश्चय और दृढ़ता के साथ व्यक्त किया गया है : सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊंची उड़ान या दूर की कौड़ी समझी गयी। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से

१. आइडीयलिस्ट

पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं। (चिंतामणि (१) कविता क्या है—पृ० १६४)।

अब प्रश्न यह है कि इन दोनों में से सत्य वास्तव में क्या है ? यह प्रश्न सरल नहीं है; और इसका उत्तर दर्शन के क्षेत्र में भी दुर्लभ ही रहा है—इसका समाधान वस्तुतः सांख्य और वेदान्त और उधर मार्क्स तथा हीगल भी नहीं कर पाये। तत्व-दृष्टि से अन्तिम सत्य चाहे इनमें कुछ भी हो...हम स्वयं वेदान्त और हीगल के मत को ही स्वीकार करते हैं, परन्तु दार्शनिक उलझन को बचा कर व्यावहारिक धरातल पर समन्वयवादियों ने विषय और विषयी, प्रकृति और पुरुष, अहं और इदं अर्थात् अन्तर्जगत और बहिर्जत, वस्तु-तत्व और व्यक्ति-तत्व के सामंजस्य को ही श्रेयस्कर माना है। कुन्तक भी इसी सामंजस्य के पक्ष में हैं: उनके सिद्धान्त में व्यक्ति-तत्व और वस्तु-तत्व का समन्वय है। सौन्दर्य को वक्रता-निष्ठ मान कर उन्होंने वस्तु-तत्व की प्रतिष्ठा की है क्योंकि वक्रता निश्चय ही रूपगत[1] है, और उधर वक्रता को मूलतः कवि-व्यापार-जन्य मान कर व्यक्ति-तत्व को सिद्ध किया है। प्रस्तुत प्रसंग में भी एक ओर जहां वे स्वभाव-रमणीय विषय के चयन के लिए आग्रह करते हैं, वहां दूसरी ओर उसके सौन्दर्य का उद्घाटन पूर्णतः कवि-प्रतिभा पर आश्रित मानते हैं। स्वभाव-रमणीय पदार्थ से अभिप्राय ऐसे पदार्थ से है जिसमें संस्कारवश मानव मन अधिक रमता है: आरम्भ में सम्भवतः यह रमणीयता व्यक्तिनिष्ठ ही रही होगी किन्तु संचित संस्कारों के परिणामरूप वह वस्तुनिष्ठ प्रतीत होने लगी है। परन्तु इस वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य के भी उद्घाटन की आवश्यकता होती है, जो कवि की प्रतिभा का कार्य है।—इस प्रकार दोनों पक्षों का—वस्तु और व्यक्ति का—समन्वय हो जाता है। कुन्तक ने यही किया है।

प्रकृति का रस के उद्दीपन रूप में वर्णन

कुन्तक ने प्रकृति को मूलतः रस के उद्दीपन रूप में ही वर्णनीय माना है। 'अमुख्य चेतन और बहुत-से जड़ पदार्थों का भी रस के उद्दीपन की सामर्थ्य के कारण वर्णन से मनोहर स्वरूप भी कवियों की वर्णना का दूसरे प्रकार का विषय होता है।' ३।८। आधुनिक हिन्दी आलोचना में इस प्रश्न पर आचार्यों का प्रायः एकमत है कि प्रकृति रस का उद्दीपन मात्र नहीं है। शुक्ल जी इस मत के सब से प्रबल समर्थक थे। उनका सहज प्रकृति-प्रेम और उधर चित्रकला के साथ उनका आरम्भिक सम्पर्क यह सहन नहीं कर सकता था कि प्रकृति का उपयोग रति आदि भावनाओं को उद्दीप्त करने के लिए ही किया जाए। रीतिकाल में इस प्रवृत्ति का स्खलन उपर्युक्त सिद्धान्त की असफलता का प्रमाण दे चुका था। अतएव उन्होंने भारत के

---

१. फ़ार्मल

वाल्मीकि तथा कालिदास और यूरोप के अनेक प्रकृति-कवियों के प्रकृति-वर्णनों के साक्ष्य पर शास्त्रीय परम्परा के विरुद्ध प्रकृति को काव्य का आलम्बन ही घोषित नहीं किया, वरन् उसके साक्षात् दर्शन में भी रस का परिपाक माना : और इसके लिए ही कदाचित् उन्हें अपनी यह नवीन स्थापना करनी पड़ी कि रस हृदय की मुक्तावस्था का नाम है। किन्तु शुक्ल जी की स्थापना भी विवाद-मुक्त नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि केवल रति आदि भावों को उद्दीप्त करने के लिए प्राकृतिक दृश्यों अथवा पदार्थों का उपयोग अत्यन्त परिसीमित दृष्टिकोण का परिचायक है—और रीति युग अथवा उससे भी पहले संस्कृत काव्य के ह्रास-काल के शृंगार-चित्रों में उसका जो रुग्ण रूप सामने आया वह वास्तव में अकाव्योचित ही था। इसमें भी संदेह नहीं कि प्रकृति का सौन्दर्य प्रत्यक्ष रूप में मानव-मन में स्फूर्ति और उल्लास—विस्मय, ओज स्फीति, गांभीर्य आदि का संचार करता है और इन सबकी समंजित प्रतिक्रिया सात्विक आनन्द रूप ही होती है, परन्तु क्या इस प्रकार के आनन्द को रस-परिपाक कहा जा सकता है ? शुक्ल जी ने वासना-मुक्त, निर्वैयक्तिक, राग द्वेष से शुद्ध आनन्द को रस माना है। उनका तर्क यह है कि जिस प्रकार कला अथवा काव्य-जन्य आनन्द वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त एक प्रकार का निर्वैयक्तिक सात्विक आनन्द होता है इसी प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य से उद्भूत आनन्द भी एक प्रकार का विशद भाव है जो वैयक्तिक लिप्सा से मुक्त होता है। परन्तु यह रस-कल्पना शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल नहीं है—संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार रस मानसिक विशदता मात्र नहीं है वह स्थायी भाव की चरम उद्दीप्ति या परिपाक है। स्थायी भाव अपनी चरम उत्कट अवस्था में निर्वैयक्तिक हो जाता है—यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। उदाहरण के लिए एक इन्द्रिय की परितृप्ति अपनी चरम परिणति में समग्र चेतना की निर्विशिष्ट अनुभूति हो जाती है; इसी प्रकार एक भाव विशेष का आस्वाद अपनी अत्यन्त उत्कट अवस्था में भाव मात्र का निर्विशिष्ट आस्वाद बन जाता है—जो केवल आनन्द रूप है। अतएव भारतीय रस की स्थिति उत्कट आस्वाद की अत्यन्त भावात्मक स्थिति है, हृदय की मुक्तावस्था मात्र नहीं है। इस दृष्टि से शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस के अनुभूत्यात्मक रूप में शास्त्रीय रस के अनुभूत्यात्मक रूप की अपेक्षा आनन्द की मात्रा कम है। और इसके लिए शुक्ल जी का वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण उत्तरदायी है जो पूर्ण तन्मयता में बाधक होता है। इसीलिए शुक्ल जी रस को आलम्बन-प्रधान मानते हैं : और यही उनके द्वारा प्रतिपादित 'प्रकृति की रसात्मक अनुभूति' का भी रहस्य है।

अब कुन्तक के पक्ष (शास्त्रीय पक्ष) और शुक्ल जी के पक्ष, अर्थात्

प्रकृति के आलम्बनत्व और उद्दीपनत्व का सापेक्षिक विवेचन कीजिए। प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन निश्चय ही आह्लादकारी होता है; कवि को अथवा कवि-निबद्ध पात्र को आश्रय मान कर प्रकृति की शोभा को उसके रति भाव का आलम्बन माना जा सकता है और रस-प्रक्रिया की शास्त्रीय व्यवस्था हो सकती है—शुक्ल जी ने अपने निबन्ध में यही व्याख्या प्रस्तुत भी की है। परन्तु यहाँ एक दोष रह जाता है : क्या प्रकृति के प्रति वास्तव में रति भाव उत्कट अवस्था में उद्बुद्ध हो सकता है ? हमारी धारणा है कि उषा और ज्योत्स्ना आदि का सौन्दर्य मन में उल्लास, स्फूर्ति का संचार तो कर सकता है किन्तु उतना तीव्र उन्मुखीभाव (रति) जागृत नहीं कर सकता जितना कि मानव-सौन्दर्य विशेषकर इष्ट व्यक्ति का सौन्दर्य। इसका मनोवैज्ञानिक कारण स्पष्ट है। भाव का पूर्ण परिपोष वस्तु से नहीं भाव से होता है—उन्मुखीभाव प्रत्युन्मुखीभाव की अपेक्षा करता है :

इस भावभरे मानव उर को चाहिए भाव।

रसशास्त्र में आलम्बन के अनुभाव आदि को इसी दृष्टि से उद्दीपन माना गया है; और ये उद्दीपन अन्य उद्दीपनों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल हैं। आचार्य शुक्ल का आलम्बनवाद यहीं आकर कमज़ोर पड़ जाता है। आलम्बन की वस्तुगत सत्ता पर शुक्ल जी इतना अधिक बल देते हैं कि उनका विवेचन मनोवैज्ञानिक न रह कर नैतिक हो जाता है। रस मूलतः भाव का व्यापार है, वस्तु भी उसमें भावपरक होकर ही अपनी उपयोगिता सिद्ध करती है। अतएव आलम्बन का भावपरक तथा भावात्मक रूप ही वस्तुतः रस-परिपाक के लिए अधिक उपयोगी है। जिन कवियों ने प्रकृति को ही आलम्बन माना है, उनको भी इसीलिए अनिवार्यतः उस पर चेतना का आरोप करना पड़ा है। प्रकृति का उद्दीपन रूप में उपयोग इसी दृष्टि से सार्थक है—इसीलिए भारतीय रसशास्त्र में प्रकृति के आलम्बनत्व की अपेक्षा उद्दीपनत्व पर ही अधिक बल दिया गया है, और वह अनुचित नहीं, है कम से कम इतना अनुचित नहीं है जितना शुक्ल जी ने माना है। संस्कृत के ह्रास-काल अथवा रीति युग के हीनतर कवियों ने प्रकृति का रूढ़ उपभोग-सामग्री के रूप में जो अकाव्योचित उपयोग किया है उसका उत्तरदायित्व इस सिद्धान्त पर नहीं है : उन रस-क्षीण कवियों ने तो प्रेम और नारी-सौन्दर्य को भी रूढ़ उपभोग-सामग्री बना दिया है : इनका वर्णन भी वहाँ काव्यानन्द की अपेक्षा इन्द्रियानन्द ही अधिक दे सकता है।

कुन्तक ने अचेतन काव्य-वस्तु अर्थात् प्रकृति को इसी दृष्टि से, रस-शास्त्र की परम्परा के अनुसार, उद्दीपन रूप में वर्णनीय माना है।

प्रकरण-वक्रता

प्रकरण-वक्रता की परिभाषा को कुन्तक विशेष स्पष्ट नहीं कर सके : जहाँ अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त करने वाली और अपरिमित उत्साह के व्यापार से शोभायमान व्यवहर्ताओं (कवियों) की प्रवृत्ति होती है वहाँ; और प्रारम्भ से ही निःशंक रूप से उठने या उठाने की इच्छा होने पर (अर्थात् जहाँ प्रारम्भ से ही निर्भय होकर अपने अथवा अपनी रचना को उठाने की अदम्य इच्छा हो, वहाँ) वह प्रकरण-वक्रता निस्सीम होकर प्रकाशित हो उठती है। व० ज० ४।१-२।

यह वाक्य अधिक स्वच्छ नहीं है, वृत्ति के खण्डान्वय से यह और भी उलझ जाता है, परन्तु कुन्तक के आशय में कोई भ्रान्ति नहीं है। उनका अभिप्राय यह है कि सृजन के उत्साह से प्रेरित होकर कवि अपने वस्तु-वर्णन में जो अपूर्व उत्कर्ष उत्पन्न करता है वह प्रकरण-वक्रता है। आगे चलकर कुन्तक ने भेद-प्रभेदों का इतना विशद निरूपण किया है कि प्रकरण-वक्रता का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है।

प्रकरण का अर्थ कुन्तक के शब्दों में है : प्रबन्ध का एक देश अर्थात् कथा का एक प्रसंग :—प्रबन्धस्यैकदेशानां···। (हिन्दी व० जी० परिशिष्ट ४।५)। समग्र कथाविधान का नाम प्रबन्ध है और उसके अंग अथवा प्रसंग का नाम प्रकरण है। प्रकरण पर आश्रित, अथवा प्रकरण में निहित काव्य-चमत्कार का नाम प्रकरण-वक्रता है। जहाँ प्रसंग विशेष के उत्कर्ष से सम्पूर्ण प्रबन्ध उज्ज्वल हो उठता है, वहाँ प्रकरण-वक्रता होती है। अर्थात् सम्पूर्ण प्रबन्ध को दीप्त करने वाला प्रबन्ध के एक देश का चमत्कार प्रकरण-वक्रता के नाम से अभिहित होता है।

प्रकरण-वक्रता के सामान्य रूप का उद्घाटन एक दो उदाहरणों द्वारा करने के उपरान्त कुन्तक ने आठ-नौ विशिष्ट भेदों का उल्लेख किया है। सामान्य रूप में स्थिति के सजीव चित्रण को ही कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता माना है और संस्कृत के सेतुबन्ध नामक नाटक के तृतीय अंक 'अभिजात-जानकी' से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सेनापति नील की प्रेरक उक्ति के परिणाम-स्वरूप वानरों के आन्दोलन का सजीव चित्रण है। यहाँ प्रकरण-वक्रता की परिधि अत्यन्त सीमित है।—इसके आगे आठ-नौ विशिष्ट भेदों का वर्णन इस प्रकार है :—

१. भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना

जहाँ किसी ऐसी भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना की जाए जो पात्रों के चरित्र

का उत्कर्ष करती हो, वहाँ प्रकरण-वक्रता का प्रथम भेद उपलब्ध होता है : उदाहरण के लिए रघुवंश के पंचम सर्ग में रघु और कौत्स का संवाद । इस प्रसंग का सारांश यह है :—वरन्तु मुनि के शिष्य कौत्स गुरु दक्षिणा चुकाने के लिए महाराज रघु के पास १४ कोटि द्रव्य माँगने आये। किन्तु उससे पूर्व ही रघु विश्वजित् नामक याग सम्पन्न कर चुके थे और उनके पास मिट्टी के पात्रों के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं रह गया था । कौत्स मुनि को जब यह ज्ञात हुआ तो वे राजा को आशीर्वाद देकर जाने लगे । किन्तु राजा को इस प्रकार ब्राह्मण का विमुख होकर लौटना असह्य प्रतीत हुआ और वे कुबेर पर चढ़ाई करने का विचार कर ही रहे थे कि कुबेर के यहाँ से आवश्यकता से कहीं अधिक द्रव्य उसी रात्रि को प्राप्त हो गया । राजा ने वह सारा धन कौत्स मुनि के समक्ष प्रस्तुत कर दिया परन्तु निस्पृह मुनि ने आवश्यकता से अधिक अणुमात्र भी स्वीकार नहीं किया । साकेतवासी इन दोनों के ही व्यवहार को देखकर मुग्ध हो गये : एक ओर गुरु-दक्षिणा से अधिक दान के प्रति निस्पृह याचक था और दूसरी ओर याचक की इच्छा से अधिक दान करने वाला राजा । कालिदास ने इस भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना से दोनों पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष प्रदर्शित करते हुए अपनी प्रबन्ध-कल्पना को और भी अधिक प्रभावशाली बना दिया है। हिन्दी में भी इस प्रकार के अनेक प्रसंग उपलब्ध हो सकते हैं : उदाहरण के लिए साकेत का यह मार्मिक स्थल उद्धृत किया जा सकता है :

'आ भाई, वह वैर भूल कर, हम दोनों समदुःखी मित्र,
आजा क्षण भर भेंट परस्पर, कर लें अपने नेत्र पवित्र ।'

हाय ! किन्तु इससे पहले ही मूर्छित हुआ निशाचर-राज,
प्रभु भी यह कह गिरे राम से रावण ही सहृदय है आज ।

लक्ष्मण-शक्ति के उपरांत शोक-विक्षिप्त राम युद्ध में प्रलय मचा देते हैं,— इतने ही में उनके सम्मुख कुम्भकर्ण आ जाता है और वे 'भाई का बदला भाई ही' कह कर उसका वध कर डालते हैं । उसी समय रावण को देख कर राम की उत्तेजना क्षण भर के लिए शांत हो जाती है और भ्रातृहीन रावण तथा अपने बीच वे एक प्रकार के शोक-सौहार्द का अनुभव करने लगते हैं । परन्तु राम रावण की ओर संवेदनार्थ बढ़ने भी न पाये थे कि उससे पहले ही रावण मूर्छित हो जाता है और राम भी अन्त में विह्वल होकर भूलुण्ठित हो जाते हैं ।—उपर्युक्त प्रसंग राम की उदारता तथा रावण की सहृदयता का उत्कर्ष करता हुआ प्रबन्ध-विधान में एक अपूर्व प्रभाव-क्षमता उत्पन्न कर देता है ।

२. *उत्पाद्य-लावण्य*

इतिहास में वर्णित कथा के मार्ग में तनिक से कल्पनाप्रसूत अंश के सौन्दर्य से (उत्पाद्य-लावण्य के स्पर्श मात्र से) उसका सौन्दर्य कुछ और ही हो जाता है। उत्पाद्य-लावण्य के उस स्पर्श मात्र से काव्य में इतना सौन्दर्य आ जाता है कि वह प्रकरण चरम सीमा को प्राप्त रस से परिपूर्ण होकर समस्त प्रबन्ध का प्राण-सा प्रतीत होने लगता है। व० जी० ४।३-४। स्पष्ट शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि कहीं कहीं ऐतिहासिक कथावस्तु में कवि अपनी कल्पना के द्वारा कुछ ऐसे सुन्दर परिवर्तन कर देता है कि समस्त प्रबन्ध ही उनसे रसदीप्त हो उठता है। यह उत्पाद्य-लावण्य अर्थात् कल्पना-प्रसूत मधुर उद्भावना भी प्रकरण-वक्रता का ही प्रकार-भेद है। इस उत्पाद्य-लावण्य के दो भेद हैं : १. अविद्यमान की कल्पना, २. विद्यमान का संशोधन।

प्रथम रूप :—*अविद्यमान की कल्पना—*

अविद्यमान की कल्पना का अर्थ है नवीन प्रसंग की उद्भावना। प्रतिभावान कवि कल्पना के द्वारा प्रायः नवीन प्रसंगों की उद्भावना कर अपने काव्य का उत्कर्ष करता है। इतिहास जीवन के सत्यों का निर्मम आलेख है : उसका प्रत्येक प्रकरण मानव-मन का पारितोष करे यह सम्भव नहीं है—उसमें कटुता और मधुरता दोनों ही निस्संग भाव से रहती हैं। किन्तु काव्य जीवन के सत्यों का सहृदय आलेख है—उसमें कटुता भी मधुर बन कर आती है। ऐसी स्थिति में काव्य की अन्तरंग आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कवि को अपनी कल्पना का उपयोग करना पड़ता है। कहीं कहीं इतिहास की कटुता का परिहार करने के लिए उसे किसी नवीन प्रसंग की उद्भावना करनी पड़ती है : जैसे शाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में दुर्वासा-शाप की कल्पना, जो राजा के व्यक्तित्व-दोष का प्रक्षालन कर, क्रमशः समग्र कथावस्तु पर प्रभाव डालती हुई, अन्त में नाटक के मूल रस का उत्कर्ष करती है। इस उत्पाद्य-लव-लावण्य से शाकुन्तलम् के रसास्वाद में बाधक तत्वों का परिहार और परिणामतः रसपरिपाक पूर्ण हो जाता है।

३. द्वितीय रूप :—*विद्यमान का संशोधन—*

जहां (मूलकथा) में विद्यमान होने पर भी सहृदय के हृदय-आह्लाद के लिए औचित्यरहित अर्थ का परिवर्तन कर दिया जाय, वहां उत्पाद्य-लावण्य का 'विद्यमान का संशोधन' नामक द्वितीय प्रकार समझना चाहिए : जैसे उदात्तराघव में मारीचवध।

उदात्तराघव मायूराज कवि का अप्राप्य नाटक है, इसमें कवि ने राम के उदात्त चरित्र की रक्षा के निमित्त मारीचवध-प्रसंग में थोड़ा परिवर्तन कर अनौचित्य का परिष्कार करने का प्रयत्न किया है। यहां मारीचवध के लिए राम नहीं वरन् लक्ष्मण जाते हैं और सीता उनकी प्राणरक्षा के निमित्त कातर होकर राम को भेजती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि घटना के इस संशोधित रूप में अधिक सौन्दर्य है।

हिन्दी में प्रियप्रवास, साकेत, यशोधरा, कामायनी, चन्द्रगुप्त नाटक, आदि में इस प्रकार के अनेक प्रसंगों में संशोधन किया गया है। उदाहरण के लिए साकेत में लक्ष्मण-शक्ति का संवाद सुनकर अयोध्यावासियों की रण-रज्जा, अथवा कैकयी का पाश्चात्ताप[1], कामायनी में मनु और इड़ा के पिता-पुत्री सम्बन्ध का संशोधन, चन्द्रगुप्त में चन्द्रगुप्त के स्थान पर शकटार द्वारा नन्द की हत्या आदि।

४. प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक भाव

(फलबन्ध) प्रधान कार्य का अनुसन्धान करने वाला प्रबन्ध के प्रकरणों का उपकार्योपकारक भाव असाधारण समुल्लेख वाली प्रतिभा से प्रतिभासित किसी कवि के (काव्यादि) में अभिनव सौन्दर्य के तत्व को उत्पन्न कर देता है। व० जी० ४।५-६। यह प्रकरण-वक्रता का चौथा भेद है। स्पष्ट शब्दों में कुन्तक का अभिप्राय यह है कि प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का पारस्परिक उपकार्य-उपकारक भाव प्रकरण-वक्रता का चतुर्थ भेद है। प्रत्येक प्रकरण की सार्थकता वास्तव में यह है कि वह अन्य प्रकरणों से सम्बद्ध तथा अन्त में प्रधान कार्य का उपकारक हो। अंग की सार्थकता इसी में है कि वह अन्य अंगों से समन्वित होकर अंगी का उत्कर्ष करता है—स्वतंत्र होकर तो वह अपने उद्देश्य को ही विफल कर देता है। अरस्तू ने इसे ही कार्यान्विति कहा है। यूनानी काव्यशास्त्र में तीन अन्वितियों में कार्य की अन्विति सबसे प्रमुख मानी गयी है। भारतीय शास्त्र में भी वस्तु की अवस्थाओं तथा पंच सन्धियों की विवेचना इसी कार्यान्विति की महत्व-प्रतिष्ठा है।

उदाहरण के लिए उत्तररामचरित के प्रथम अंक में रामचन्द्र द्वारा जृम्भकास्त्रों का वर्णन पाँचवें अंक में लव द्वारा उनके प्रयोग का उपकार करता हुआ अन्त में नाटक के प्रधान कार्य सीता-राम के मिलन में साधक होता है।—वास्तव में वक्रता का यह भेद कथाकाव्य के वस्तु-विन्यास का प्राण है : इसका प्रयोग सर्वत्र ही अनिवा-

---

१. विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए—साकेत : एक अध्ययन [साकेत की कथावस्तु]

र्गतः किया जाता है। हिन्दी में कामायनी के काम सर्ग में मनु-काम की वार्ता आगे चलकर इड़ा सर्ग में काम के अभिशाप का उपकार करती हुई मनु को पतन के मार्ग पर और भी वेग से अग्रसर कर देती है और इस प्रकार चरम घटना की सिद्धि में सहायक होती है।

५. *विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना :*

एक ही अर्थ कवि की प्रौढ़ प्रतिभा से आयोजित होकर अलग-अलग प्रकरणों में बार बार निबद्ध होकर भी सर्वत्र बिल्कुल नये रस तथा अलंकारों से मनोहर प्रतीत होता हुआ आश्चर्यजनक वक्रता शैली को उत्पन्न और पुष्ट करता है। व० जी० ४।७-८। सामान्यतः एक ही अर्थ का बार बार कथन पुनरुक्त दोष हो जाता है, परन्तु प्रतिभावान कवि उसे इस प्रकार वैचित्र्यपूर्ण रीति से निबद्ध करता है कि वह काव्य में नवीन शोभा उत्पन्न कर देता है। कथा में कुछ ऐसे सरस प्रसंग होते हैं कि उनमें बार बार रंग भरने से रस-परिपाक में बड़ी सहायता मिलती है, जैसे संभोग-क्रीड़ाओं का अथवा विरह की अवस्थाओं आदि का विस्तार से वर्णन सम्पूर्ण कथा में सरसता का समावेश कर देता है। कुन्तक ने इस भेद के उदाहरण रूप में तापसवत्सराज नामक अलभ्य नाटक से उदयन के विरह-वर्णन, रघुवंश के नवम सर्ग से दशरथ के मृगया-वर्णन आदि का निर्देश किया है। इन प्रसंगों में घटना प्रायः नगण्य है, परन्तु कवि विरह, मृगया आदि के रमणीक प्रसंगों में रम गया है, और उसने उनका इतना मनोरम वर्णन किया है कि सम्पूर्ण कथा-भाग रस-प्लावित हो गया है। हिन्दी में इस वक्रता के अत्यन्त सरस उदाहरण मिलते हैं—जैसे कामायनी के लज्जा-वर्णन को ही लीजिए जो अपने काव्यवैभव से घटना के अभाव को पूर्णतः आच्छादित कर प्रबन्ध को रस से दीपित कर देता है। साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला-विरह-वर्णन में इसका अतिरंजित रूप मिलता है।

६. *जलक्रीड़ा उत्सव आदि रोचक प्रसंगों का विशेष विस्तार से वर्णन*

सर्गबन्ध (महाकाव्य) आदि की कथा-वैचित्र्य का सम्पादक जो (जलक्रीड़ा आदि) अंग सौन्दर्य के लिए वर्णित किया जाता है वह भी प्रकरण-वक्रता कहलाता है। 'व०जी० ४।९। प्रबन्धकाव्य में जीवन को समग्र रूप में अंकित करने के उद्देश्य से मूल घटनाओं के अतिरिक्त अनक सरस प्रसंगों के समृद्ध चित्र रहते हैं। काव्य की रोचकता की अभिवृद्धि करने के कारण यह भी प्रकरण-वक्रता का ही एक भेद है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में तो इस प्रकार के वर्णनों का अन्तर्भाव महाकाव्य के लक्षण में ही कर दिया गया है :

नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः
उद्यानसलिलक्रीड़ामधुपानरतोत्सवैः　　॥ दंडी, काव्यादर्श ॥

अर्थात् प्रबन्ध काव्य का कलेवर नगर, समुद्र, शैल, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान, सलिल-क्रीड़ा, मधुपान, रति-उत्सव आदि से समृद्ध होता है ।

इस प्रकार के वर्णन जीवन के प्राकृतिक तथा मानवीय दोनों पक्षों से सम्बद्ध होते हैं । कुन्तक ने इस वक्रता-भेद के दो उदाहरण दिये हैं : (१) रघुवंश के षोड़श सर्ग में कुश की जलक्रीड़ा का वर्णन (२) किरातार्जुनीयम् में बाहुयुद्ध का प्रकरण । हिन्दी में प्रियप्रवास के रास-क्रीड़ा आदि अनेक वर्णन, जयद्रथवध में स्वर्गवर्णन इत्यादि इसके उदाहरण है ।

७. प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुन्दर अप्रधान प्रसंग की उद्भावना

जिसमें प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य (अप्रधान) वस्तु की उल्लेखनीय विचित्रता प्रतीत होती है, वह भी इस (प्रकरण) की ही दूसरी प्रकार की वक्रता होती है । व० जी० ४।११ । कभी कभी प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए कवि किसी सुन्दर किन्तु अप्रधान प्रसंग की अवतारणा कर समग्र कथा में एक वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है । उदाहरण के लिए मुद्राराक्षस नाटक के छठे अंक में प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए चाणक्य-नियुक्त पुरुष द्वारा आत्महत्या का प्रपंच इसके अन्तर्गत आता है । चाणक्य राक्षस को जीवित ही बन्दी बनाना चाहता है : उसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपर्युक्त रोचक प्रकरण की उद्भावना की गयी है । राजनीतिक प्रबन्धों में ऐसे उदाहरण प्रायः मिल जाते हैं—जासूसी उपन्यास इस प्रकार के प्रसंगों की अक्षय निधि हैं ।

८. गर्भांक

सामाजिकों के मनोरंजन में निपुण नटों के द्वारा स्वयं सामाजिक का रूप धारण कर अन्य नटों को नट बना कर, कहीं एक नाटक के भीतर जो दूसरा नाटक प्रयुक्त किया जाता है, वह समस्त प्रसंगों की सर्वस्वभूत अलौकिक वक्रता को पुष्ट

करता है। ४।१२-१३। स्पष्ट शब्दों में अंक के अन्तर्गत गर्भांक आदि का नियोजन भी प्रकरण-वक्रता का एक रूप है। राजशेखर के बालरामायण नाटक के तृतीय अंक में 'सीता-स्वयम्वर' नामक गर्भांक की नियोजना इसका सुन्दर उदाहरण है।

६. प्रकरणों का पूर्वापर-अन्विति-क्रम

मुख, प्रतिमुख आदि सन्धियों के संविधान से मनोहर उत्तरवर्ती अंगों का (उचित) सन्निवेश भी प्रकरण-वक्रता का प्रकार होता है। (व० जी० ४।१४)।

इसका अर्थ यह है कि पूर्व प्रकरणों का उत्तर प्रकरणों के साथ सामंजस्य अर्थात् पूर्वापर-अन्विति-क्रम प्रकरण-वक्रता का एक प्रमुख रूप है। यह तो वास्तव में कथा की मूल आवश्यकता है। यदि विभिन्न प्रसंग पूर्वापर-क्रम से परस्पर सम्बद्ध नहीं होंगे तो कथा का सूत्र ही टूट जायगा। कुन्तक ने कुमारसम्भव में विभिन्न घटनाओं की पूर्वापर-अन्विति को इस भेद के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दी के सभी सफल प्रबन्धों में—साकेत, यशोधरा, आर्यावर्त, वर्धमान आदि महाकाव्यों और पंचवटी, नहुष, नूरजहां आदि खण्डकाव्यों की पूर्वापर-अन्विति में उपर्युक्त वक्रता का दिग्दर्शन होता है।

प्रबन्ध-वक्रता

प्रबन्ध-वक्रता की परिधि में समग्र प्रबन्धकाव्य—महाकाव्य, नाटक आदि का वास्तु-कौशल अन्तर्निहित है। इसका आधार-फलक सबसे अधिक व्यापक है। प्रबन्ध-वक्रता वास्तव में प्रबन्ध-कल्पना के समग्र सौन्दर्य का पर्याय है। कुन्तक ने उसके छह भेदों का वर्णन किया है।

१. मूल-रस-परिवर्तन

जहां इतिवृत्त अर्थात् आधारभूत ऐतिहासिक कथा-वस्तु में अन्यथानिरूपित रस-सम्पदा की उपेक्षा करते हुए किसी अन्य हृदयाह्लादकारी रस में निर्वहण (पर्यवसान) करने के उद्देश्य से कथामूर्ति में आमूल परिवर्तन किया जाय वहाँ प्रबन्ध-वक्रता का उपर्युक्त भेद मिलता है। (देखिए हिन्दी वक्रोक्तिजीवित ४।१६-१७)। स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह है :—कभी कभी कवि की मौलिक प्रतिभा प्रसिद्ध कथा के मूल रस में परिवर्तन करने के अभिप्राय से समस्त कथा-विधान में ही आमूल परिवर्तन

कर देती है और इस प्रकार एक नवीन प्रबन्ध कल्पना का उदय होता है—यही कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता का प्रथम भेद है। समस्त कथा-विधान का प्राण रस है : मूल रस के अनुरूप ही कथा के विभिन्न प्रसंगों की कल्पना तथा आयोजना की जाती है। —समस्त कथामूर्ति का निर्माण प्राणभूत रस के अनुरूप ही होता है। अतएव जब कवि की मौलिक प्रतिभा पुनरावृत्ति के प्रति असहिष्णु हो कर मूल रस में परिवर्तन करना चाहती है, तो स्वभावतः उसे समस्त घटना-विधान में ही आमूल परिवर्तन करना पड़ता है। इस प्रकार एक नवीन प्रबन्ध-कौशल की उद्भावना होती है—जो कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता का प्रथम रूप अथवा प्रकार है। इस प्रसंग में उन्होंने उत्तर रामचरित तथा वेणीसंहार नाटकों की प्रबन्ध-कल्पना को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। उत्तररामचरित की कथा का आधार रामायण और वेणीसंहार का महाभारत है। प्राचीन आचार्यों के मत से रामायण तथा महाभारत दोनों का प्रधान रस शान्त है, परन्तु उत्तररामचरित का मूल रस करुण और वेणीसंहार का वीर है। दोनों के रचयिताओं ने अपनी प्रतिभा के द्वारा मूल रस में और तदनुकूल कथा-विधान में परिवर्तन कर अपने प्रबन्ध-कौशल का परिचय दिया है। महाभारत का प्रधान रस निश्चय ही शान्त है और भट्टनारायण ने नाट्य-कला की आवश्यकतानुसार वेणीसंहार में शांत के स्थान पर वीर को प्रधानता देकर अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु रामायण का भी प्रधान रस शांत है—इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। यहा कुन्तक ने अपना मत न देकर प्राचीन विद्वानों का प्रमाण दिया है : रामायणमहाभारतयोश्च शान्तांगित्वं पूर्वसूरिभिरेव निरूपितम्। (देखिए हि० व० जी० १७वीं कारिका की वृत्ति)। 'पूर्वसूरिभिः' से उनका अभिप्राय किन आचार्यो से है यह स्पष्ट नहीं है। यद्यपि हम स्वयं यह मानने को तैयार हैं कि रामायण में शांत के अंगित्व की कल्पना सर्वथा अनर्गल नहीं है[1], फिर भी आनन्दवर्धन आदि मान्य आचार्यो के मत से रामायण का प्रधान रस करुण है, शांत नहीं : 'रामायणे हि, करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः शोकः श्लोकत्वमागतः एवं वादिना।'—अर्थात् रामायण में आदि कवि ने स्वयं ही यह कह कर कि 'शोक श्लोक में परिणत हो गया' करुण रस सूचित किया है। हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० ४६६। परन्तु इस प्रासंगिक विवाद को छोड़ मुख्य विषय पर आइए। कुन्तक का अभिप्राय यह है कि रामायण का मुख्य रस शांत है, किन्तु भवभूति ने उत्तररामचरित में करुण

१. इसके समर्थन में भी युक्तियां दी जा सकती है—एक प्रबल युक्ति तो यही है कि रामायण का प्रतिपाद्य परमपुरुषार्थ की सिद्धि ही है, राम सीता का मिलन नहीं है।

को अंगित्व प्रदान कर प्रबन्ध-वक्रता का सुन्दर प्रयोग किया है। यदि रामायण में प्रधान रस करुण माना जाय तब भी इस चमत्कार की संरक्षा की जा सकती है क्यों कि उत्तररामचरित आनन्दपर्यवसायी नाटक है, रामायण की भाँति शोकपर्यवसायी नहीं : अतएव उसका अंगी रस करुण न होकर शृंगार ही हो सकता है। इस प्रकार भी उसकी प्रबन्ध-वक्रता अक्षुण्ण रहती है।

हिन्दी में रामचरितमानस, रामचन्द्रिका तथा साकेत आदि प्रबन्ध उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। करुणरसाश्रयी रामायण-कथा पर आधृत रामचरितमानस का अंगी रस शांत है, रामचद्रिका का वीर, साकेत का शृंगार।

२. *नायक के चरित्र का उत्कर्ष करनेवाली चरम घटना पर कथा का उपसंहार*

जहां कवि उत्तरभाग की नीरसता का परिहार करने के उद्देश्य से, त्रैलोक्य को चकित करनेवाले, नायक-चरित्र के पोषक, इतिहास-प्रसिद्ध कथा के प्रकरण विशेष पर ही कथा की परिसमाप्ति कर देता है, वहां द्वितीय प्रकार की प्रबन्ध-वक्रता होती है। (व० जी० ४।१८-१९)। इसका आशय यह है कि चरित्र-प्रधान काव्यों के सम्बन्ध में कभी कभी कुशल कवि यह अनुभव करता है कि समस्त कथा रस-पुष्ट नहीं है—एक विशेष सीमा पर पहुँचने के पश्चात फिर वह कोरा इतिवृत्त कथन रह जाती है, अतएव नायक के पूर्ण उत्कर्ष की स्थिति को चरम घटना मान कर वह अपने प्रबन्ध का नाटकीय ढंग से वहीं निर्वहण कर देता है। इससे दो लाभ होते हैं एक तो विरस कथा का परिहार हो जाता है और दूसरे चरम उत्कर्ष पर पाठक या प्रेक्षक का ध्यान केन्द्रित तथा स्थिर हो जाता है। इस विधान में निश्चय ही एक प्रकार का प्रबन्ध-कौशल वर्तमान रहता है, जिसे कुन्तक अपनी प्रबन्ध-वक्रता का दूसरा भेद मानते हैं।

कुन्तक ने प्रस्तुत प्रसंग में किरातार्जुनीयम् का उदाहरण दिया है। किरातार्जुनीयम् के प्रारम्भिक श्लोकों से यह प्रतीत होता है कि कवि मूल से लेकर दुर्योधन के नाश और युधिष्ठिर के राज्यारोहण तक समग्र कथा-वर्णन का उपक्रम कर रहा है। किन्तु होता यह नहीं है, जहां अर्जुन किरातवेषधारी शिव के साथ युद्ध में पराक्रम प्रदर्शित कर पाशुपत अस्त्र की उपलब्धि करता है, वहीं—नायक के इस चर्मोत्कर्ष की स्थिति पर—कथा समाप्त हो जाती है। इस प्रकार उत्तरवर्ती नीरस प्रसंगों का परिहार हो जाता है और नायक के पूर्ण उत्कर्ष का चित्र सहृदय के मन में स्थिर रूप से अंकित हो जाता है। हिन्दी में चन्द्रगुप्त नाटक आदि का उदाहरण

प्रस्तुत किया जा सकता है। यवनों के निष्कासन के उपरान्त भी चन्द्रगुप्त के जीवन में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं हुईं : वास्तव में उसके जीवन की कहानी एक नये रूप में इसके उपरान्त ही आरम्भ हुई, परन्तु प्रसादजी ने उन सब विरस इतिवृत्त घटनाओं का त्याग कर नायक के पूर्ण उत्कर्ष के अवसर पर ही नाटक का अन्त कर दिया है। इसी प्रकार जयद्रथवध में भी यही वक्रता है। जयद्रथवध के उपरान्त दुर्योधन के नाश और युधिष्ठिर के राजतिलक तक अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं हुईं; किन्तु कवि उनका वर्णन न कर प्रतिज्ञा-पूर्ति के साथ नायक के चरम उत्कर्ष पर ही कथा का अन्त कर दिया है।

३. कथा के मध्य में ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि

प्रधानवस्तु के सम्बन्ध का तिरोधान करने वाले किसी अन्य कार्य द्वारा बीच में ही विच्छिन्न हो जाने के कारण विरस हुई कथा, उसी विच्छेदस्थल पर प्रधान कार्य की सिद्धि हो जाने से, अबाध रस से उज्ज्वल, प्रबन्ध की किसी अनिर्वचनीय नवीन वक्रता की सृष्टि करती है। व० जी० ४।२०-२१।—अर्थात् प्रतिभावान कवि कभी कभी किसी अन्य घटना को उत्कर्ष प्रदान कर कथा के स्वाभाविक विकास का विच्छेद करता हुआ अपने काव्य-कौशल के बल पर बीच में ही प्रधान कार्य की सिद्धि कर देता है। प्रधान कार्य की इस अनायास सिद्धि से प्रबन्ध-विधान में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न हो जाता है : यही कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता का तीसरा प्रकार है—उदाहरण शिशुपाल-वध। शिशुपाल-वध महाभारत के युधिष्ठिर-राजसूय प्रकरण की घटना है। इस प्रकरण का प्रधान कार्य है यज्ञ की पूर्ति—किन्तु महाकवि माघ ने शिशुपाल-वध की घटना को अत्यन्त उत्कर्ष प्रदान कर कथा को इस कौशल के साथ उच्छिन्न कर दिया है कि यज्ञ के फल की सिद्धि वहीं हो जाती है। यह नाटकीय चमत्कार निश्चय ही सहृदय का मनःप्रसादन करता है।

वास्तव में द्वितीय-तृतीय भेदों का चमत्कार उनकी आकस्मिकता तथा एकाग्रता में निहित है—ये ही गुण पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'नाटकीय गुण' कहलाते हैं जिनका प्रबन्ध के सभी रूपों में बड़ा महत्व है। आकस्मिकता विस्मय को उद्बुद्ध करती हैं, एकाग्रता से ध्यान केन्द्रित होता है; उत्तरवर्ती घटनाओं का त्याग कल्पना को उत्तेजित करता है : और ये तीनों गुण मिलकर कथा के प्रति पाठक के अनुराग की परिवृद्धि करते हैं। यही इन वक्रताओं का मूल रहस्य है।

४. नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति

जहां एक फल विशेष की सिद्धि में तत्पर नायक अपने माहात्म्य के चमत्कार से वैसे ही अनेक फलों की प्राप्ति कर प्रथित यश का भाजन बनता है, वहां प्रबन्ध-वक्रता का एक अपर—(अर्थात् चतुर्थ) प्रकार मिलता है। (व० जी० ४।२२-२३)। कभी कभी कुशल कवि अपने नायक को मूलतः किसी एक फल विशेष की प्राप्ति में तत्पर दिखा कर, क्रमशः ऐसी स्थितियों की सृष्टि करता चलता है कि उसे वैसे ही अनेक स्पृहणीय फलों की प्राप्ति भी हो जाती है। इस प्रकार रोचक स्थितियों की उद्भावना द्वारा नायक के उत्कर्ष की वृद्धि कर मर्मज्ञ कवि की प्रतिभा अपने प्रबन्ध-विधान में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देती है—यही प्रबन्ध-वक्रता का चतुर्थ भेद है। कुन्तक ने इसके लिए नागानन्द का उदाहरण दिया है। नागानन्द का नायक जीमूतवाहन मूलतः अपने पिता की सेवा के लिए वन में जाता है, किन्तु वहां उसका गन्धर्व-कन्या मलयवती से प्रेम और विवाह होता है। फिर वह शंखचूड़ नामक नाग की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर नागकुल की रक्षा करता है। इस प्रकार नायक को पितृभक्ति के साथ प्रेम तथा लोककल्याणमयी भूमा का सुख भी उसी प्रसंग में प्राप्त हो जाता है।

हिन्दी में चित्रांगदा (अनूदित), हिडिम्बा आदि में इस प्रकार की वक्रता उपलब्ध होती है।—नायक एक कार्य की सिद्धि में तत्पर होते हैं, किन्तु उन्हें अनेक स्पृहणीय फल प्राप्त हो जाते हैं: वनवास-दण्ड-भोगी अर्जुन की यात्रा का उद्देश्य मनोरंजन है, परन्तु वहां उन्हें चित्रांगदा की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार हिडिम्बा में भीम लाक्षागृह से बचकर प्राणरक्षा के निमित्त वन में जाते हैं—वहां उन्हें मूल उद्देश्य की पूर्ति के साथ हिडिम्बा की उपलब्धि भी हो जाती है।

इस वक्रता का मूल रहस्य भी कुतूहल-वृत्ति के परितोष में ही निहित है। मानव-मन वैचित्र्य का प्रेमी है—विधाता की सृष्टि चित्र-विचित्र रहस्यों का आकर है, जीवन में पग पग पर अनेक रहस्यों का उद्घाटन मानव को मुग्ध-चकित करता रहता है। एक उद्देश्य की साधना में अनुरत सदाशय व्यक्ति द्वारा अप्रत्याशित रूप से अनेक फलों की प्राप्ति हमारे मन में अनायास ही एक मधुर विस्मय का भाव भर देती है। प्रतिभावान कवि इस मनोवैज्ञानिक सत्य को पहचानता हुआ इसके आधार पर घटनाओं का संयोजन कर अपने प्रबन्ध-कौशल का परिचय देता है।

५. *प्रधान कथा का द्योतक नाम*

प्रधान कथा के द्योतक चिह्न रूप नाम से भी कवि काव्य में कुछ अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है और वह भी प्रबन्ध-वक्रता का एक भेद कहा जा सकता है। ४।२४। विदग्ध कवि कथा-विधान में तो चमत्कार उत्पन्न करता ही है—कभी कभी वह अपने काव्य का नामकरण भी इतने अपूर्व कौशल के साथ करता है कि नाम के द्वारा ही कथा का मूल रहस्य प्रकट हो जाता है। उदाहरण के लिए अभिज्ञानशाकुन्तलम् या मुद्राराक्षस नामों को लीजिए। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथा का मूल चमत्कार अभिज्ञान मुद्रिका द्वारा शकुन्तला के स्मरण पर निर्भर है : अभिज्ञान के खो जाने पर शकुन्तला का विस्मरण और उसके पुनः प्राप्त हो जाने पर शकुन्तला का पुनः स्मरण—यही अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथा का मूल सौन्दर्य है। कवि कालिदास ने इसे नाम में ही सन्निहित कर अपने कौशल का परिचय दिया है : अभिज्ञानेन स्मृता शकुन्तला अभिज्ञानशकुन्तला, तामधिकृत्य कृतं नाटकम् अभिज्ञानशाकुन्तलम्। मुद्राराक्षस का नामकरण भी ऐसा ही है। इधर हिन्दी में कामायनी, साकेत आदि काव्यों और रंगभूमि, कायाकल्प आदि उपन्यासों के नामों में भी इसी प्रकार का चमत्कार है। 'काम' अर्थात् जीवन की मांगलिक इच्छा को आधार मान कर भाव, ज्ञान तथा कर्म वृत्तियों का समन्वय हीं कामायनी का मूल संदेश है। इसी को नाम द्वारा अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से कवि ने मनु और श्रद्धा की कहानी का नाम कामायनी रखा है। साकेत नाम कथा के स्थान-ऐक्य का अभिव्यंजक है—इसी प्रकार रंगभूमि, कायाकल्प आदि से भी कथा के ध्वन्यार्थ का बोध होता है। इसके विपरीत रामचरित, शिशुपालवध, (हिन्दी में जयद्रथवध आदि) नाम सर्वथा अभिधात्मक हैं, कुन्तक ने इन्हें कल्पनाशून्य होने के कारण सर्वथा चमत्कारहीन माना है।

सामान्यतः यह प्रबन्ध-विधान का कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है—किन्तु इसमें भी प्रबन्ध-कल्पना का थोड़ा बहुत चमत्कार तो रहता ही है। कथा के प्राणभूत चमत्कार को नाम में ही सन्निहित कर देना भी प्रबन्ध-कल्पना की विदग्धता का द्योतक है, इसीलिए कुन्तक ने इसे प्रबन्ध-वक्रता का एक भेद माना है।

६. *एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रबन्धों का वैचित्र्य-वैविध्य*

एक ही कक्षा में महाकवियों द्वारा आबद्ध काव्यबन्ध एक दूसरे से विलक्षण होने के कारण किसी अमूल्य वक्रता का पोषण करते हैं। ४।२५।

कथाभाग का वर्णन समान होने पर भी अपने अपने गुणों से काव्य नाटक आदि प्रबन्ध पृथक पृथक होते हैं जैसे प्राणों के शरीर में समान होने पर भी उनके अपने अपने गुणों से भेद होता है। ४।२५। अंतश्लोक।

(इस प्रकार) नये नये उपायों से सिद्ध होने वाले, नीतिमार्ग का उपदेश करने वाले, महाकवियों के सभी प्रबन्धों में (अपनी अपनी) वक्रता अथवा सौन्दर्य रहता है। ४।२६।

उपर्युक्त वाक्यों का निष्कर्ष यह है कि एक ही मूल कथा का आश्रय लेकर भी प्रबन्ध-कुशल कवि अपनी प्रतिभा के चमत्कार से एक दूसरे से सर्वथा विलक्षण प्रबन्ध-काव्य, नाटकादि की सृष्टि करने में सफल हो जाते हैं। इन काव्य-नाटकादि की आधारभूत कथा एक होती है, परन्तु इन सभी का मूल उद्देश्य—आनन्दवर्धन के शब्दों में ध्वन्यार्थ सर्वथा भिन्न होता है, और उसी के कारण इनका काव्य-सौन्दर्य भी एक दूसरे से विलक्षण होता है।

उदाहरण के लिए रामायण की मूल कथा के आधार पर संस्कृत में रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, कृत्यारावण, मायापुष्पक आदि अनेक नाटकों की रचना हुई है। इन सभी की आधारभत कथा समान है, किन्तु काव्य-सौन्दर्य एक दूसरे से सर्वथा विलक्षण है।—इसी प्रकार हिन्दी में भी रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, मेघनादवध (अनूदित), रामचरितचिन्तामणि, रामचन्द्रोदय, साकेत, साकेत-संत आदि अनेक प्रबन्ध-काव्यों का वस्तु-आधार एक होते हुए भी ध्वन्यार्थ और तदनुसार काव्य-सौन्दर्य सर्वथा भिन्न है। एक ही मूल कथा का आश्रय लेकर अनेक परस्पर-भिन्न प्रबन्धों की सृष्टि करना अपूर्व प्रबन्ध-कौशल का परिचायक है—इसीलिए कुन्तक ने इसे प्रबन्ध-वक्रता का एक महत्वपूर्ण (अनर्घ) भेद माना है।

यह भेद आनन्दवर्धन की प्रबन्ध-ध्वनि के समकक्ष है—आनन्दवर्धन का मत है कि कवि का इतिवृत्त-निर्वहण से कोई प्रयोजन नहीं; काव्य का प्राण तो वह ध्वन्यार्थ है जिसके माध्यम रूप में कवि कथा का प्रयोग करता है। अतएव एक ही कथा पर आश्रित काव्य अपने ध्वन्यार्थ के भेद से परस्पर भिन्न हो सकते हैं। कुन्तक ने वस्तुपरक दृष्टि से विवेचन करते हुए इसे कविकौशल का एक प्रकार मान लिया है—जबकि आनन्द इसे रसानुभति-परक ही मानते हैं।

प्रबन्ध-वक्रता के इन भेदों के साथ कुन्तक का वक्रता-वर्णन समाप्त हो जाता है ।—कवि-प्रतिभा की वस्तुगत अभिव्यक्ति का नाम है वक्रता, अतएव कवि-प्रतिभा के आनन्त्य के अनुसार बक्रता का भी आनन्त्य स्वतःसिद्ध है । कवि की प्रतिभा न जाने किस प्रसंग में किस प्रकार की नूतन कल्पना या नूतन चमत्कार की सृष्टि कर सकती है, इसका निश्चित ज्ञान किसको है ? इसीलिए तो उपर्युक्त भेद सामान्य वर्गों का ही निर्देश मात्र करते हैं : वक्रता का आनन्त्य उनमें सीमाबद्ध नहीं है ।

कुन्तक और प्रबन्ध-कल्पना

अन्तिम दो वक्रता-भेदों के निरूपण में कुन्तक की प्रबन्ध-विधान-विषयक प्रौढ़ धारणाएं सन्निहित हैं ।

१. प्रबन्ध काव्य का श्रेष्ठतम रूप है ।

इसमें सन्देह नहीं कि अन्य आचार्यों की भाँति कुन्तक भी प्रबन्ध को काव्य का श्रेष्ठतम रूप मानते हैं—प्रबन्ध को उन्होंने महाकवियों का कीर्तिकन्द अर्थात् उनके यश का मूल आधार माना है : 'प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः ।' ४।२६ वीं कारिका का अन्तश्लोक । भारतीय परम्परा आरम्भ से ही प्रबन्ध काव्य को, जिसके अन्तर्गत महाकाव्य तथा चरित-काव्य के अतिरिक्त नाटक तथा कथा-काव्य का भी अन्तर्भाव है, वाङ्मय का चरम विकास मानती आयी है । भरत, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, आदि समस्त गम्भीरचेता आचार्यों ने इसी मत का अत्यन्त प्रबल शब्दों में प्रतिपादन किया है :

भरत :

नाटक महारस, महास्वाद, उदात्त भाषाशैली, महापुरुषों के वृत्त, समस्त भाव, रस, कर्मप्रवृत्ति तथा नाना अवस्थाओं से युक्त होता है । + + + कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, कर्म अथवा योग ऐसा नहीं है जो नाटक में दृष्टिगत न होता हो । नाट्यशास्त्र २१।११६,,१२६,१२२ ।

वामन :

क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत्—अर्थात् मुक्तक और प्रबन्ध में वही सम्बन्ध है जो माला और उत्तंस में—जिस प्रकार मालागुंफन की कला में पारगंत होने के

उपरान्त ही उत्तंस-गुम्फन में सिद्धि प्राप्त होती है, इसी प्रकार मुक्तक-रचना की सिद्धि के उपरान्त ही कवि प्रबन्ध-रचना में सिद्धि लाभ करता है।—कुछ व्यक्ति मुक्तक में ही अपने कविकर्म की महत्ता मान बैठते हैं—पर वह उचित नहीं है क्योंकि जिस प्रकार अग्नि का पृथक परिमाणु प्रकाश-दान नहीं करता, उसी प्रकार मुक्तक काव्य भी सम्यक् रूप से प्रकाशित नहीं होता। हिन्दी का० सूत्र १।३।२८-२९।

अभिनवगुप्त :

तच्च (रसास्वादोत्कर्षकारकं विभावादीनां समप्राधान्यम्) प्रबन्ध एव। (अभिनवभारती, गायकवाड़ संस्करण पृ० २२८)। विभाव आदि समस्त रसांगों का सम्यक् वर्णन रस के उत्कर्ष का कारण है, और वह प्रबन्ध काव्य में ही सम्भव होता है—अतएव मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध का महत्व निश्चय ही अधिक है। मुक्तक में (जैसा कि अभिनवगुप्त ने इसी प्रसंग में आगे चलकर कहा है) इन सबकी पूर्व-पीठिका मन में कल्पित करनी पड़ती है—जबकि प्रबन्ध में इनका प्रत्यक्ष वर्णन रहता है। आचार्यों के इस पक्षपात का कारण अपने आप में अत्यन्त स्पष्ट है। सबसे प्रमुख कारण तो यह है कि विभावादि रसांगों के वर्णन का पूर्ण अवकाश होने के कारण रस का सम्यक् परिपाक प्रबन्ध में ही सम्भव है—जीवन की अनेक परिस्थितियों में बारबार पुष्ट स्थायी भाव का जितना स्थायी परिपाक प्रबन्ध में हो सकता है, उतना मुक्तक की एक परिस्थिति में नहीं। प्राणों में निरन्तर प्रवहमान रस-धारा और रस के एक घूंट के आस्वाद में जो अन्तर है वही प्रबन्ध और मुक्तक के आस्वाद में अन्तर है। मुक्तक एक मनःस्थिति की काव्याभिव्यक्ति है, प्रबन्ध जीवन-दर्शन की। प्रबन्ध में जीवन का सर्वांग-विस्तार तथा सम्पूर्ण अभिव्यक्ति रहती है, इसलिए आनन्द के अतिरिक्त काव्य के अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति का साधन प्रबन्ध काव्य ही अधिक है। इस प्रकार काव्य की ऐहिक और आमुष्मिक दोनों सिद्धियों का माध्यम होने के कारण प्रबन्ध काव्य भारतीय काव्यशास्त्र में मूर्धन्य पर शोभित रहा है।—पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी इस मत का प्रचार कम नहीं रहा। प्राचीनों का निर्णय तो निश्चय ही प्रबन्ध के पक्ष में था ही, आधुनिकों में भी गम्भीरतर आलोचकों का प्रायः यही मत है। अरस्तू ने प्रबन्ध काव्य को—दुःखान्तकी और महा-काव्य—विशेष रूप से दुःखान्तकी को कला का सबसे उत्कृष्ट रूप माना है। आधुनिकों में, महान विषय वस्तु से सम्पन्न प्रबन्ध काव्य के प्रति मैथ्यू आर्नल्ड का पक्षपात प्रसिद्ध ही है। इधर रिचर्ड्स ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर दुःखान्तकी का 'मूल्य' सबसे अधिक निर्धारित किया है : उनका तर्क है कि काव्य की सिद्धि मनो-

वृत्तियों के समन्वय में है। दुःखान्तकी की आधारभूत वृत्तियां हैं करुणा और भय जो एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं क्योंकि करुणा का गुण आकर्षण है, भय का विकर्षण, अतएव इनका समन्वय अत्यन्त कठिन और उसी अनुपात से पूर्ण भी होता है। हिन्दी के आचार्यों में पं० रामचन्द्र शुक्ल की यह मान्यता तो इतनी बद्धमूल थी कि वे सूरदास तथा अन्य प्रगीत कवियों के साथ अन्याय कर बैठे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त अभिमत के पीछे पुष्ट तर्क है : व्यापक जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति तथा रस का स्थायी परिपाक दोनों ही गुण अपने आप में इतने महान हैं कि सामान्यतः उनके आधार पर प्रबन्ध का गौरव स्वीकार करना ही पड़ता है। इसका एक स्थूल प्रमाण यह है कि संसार में ऐसे नाम विरल हैं जो प्रबन्ध काव्य की रचना किये बिना महाकवि के गौरव-भागी हुए हों।—यह कोई नियम नहीं है, एक प्रत्यक्ष प्रमाण मात्र है। परन्तु इस मान्यता को बहुत दूर तक नहीं ले जाना चाहिए—अन्यथा इससे जीवन और काव्य के अन्य मौलिक सत्यों की उपेक्षा हो सकती है। तर्क की दृष्टि से भी, इसमें संदेह नहीं कि व्यापकता महान गुण है परन्तु तीव्रता का भी महत्व कम नहीं : जीवन का अनुभव-विस्तार बड़ी बात है तो क्षण की एकाग्र तन्मयता का भी प्रभाव कम नहीं होता है। निरन्तर प्रवहमान रस काम्य है, परन्तु किसी किसी एक घूंट में भी बड़ा तीखा आनन्द होता है। इसीलिए प्रगीत के पक्षपातियों की भी संख्या अल्प नहीं है—भारत में अमरुक के एक श्लोक को शत प्रबन्धों से अधिक मूल्य देने वाले भी थे ही। उधर पश्चिम के रोमानी युग में भी प्रगीत को ही अधिक प्रश्रय दिया गया था। आधुनिक युग के प्रसिद्ध कवि तथा काव्यमर्मज्ञ ड्रिंकवाटर की तो स्पष्ट घोषणा है कि प्रगीत तत्व ही काव्य का प्राण है, और समस्त श्रेष्ठ काव्य मूलतः प्रगीत ही होता है। अतएव जीवन-काव्य के मूल्यों को विस्तार में ही आँकना सर्वथा संगत नहीं होगा—विस्तार के साथ गहराई और ऊंचाई : समतल-संचरण के साथ ऊर्ध्व-संचरण भी अपेक्षित है। समतल विस्तार प्रबन्ध का क्षेत्र है, उर्ध्व तथा अन्तःसंचरण प्रगीत का : इन दोनों के समन्वय से ही जीवन-काव्य की पूर्णता सिद्ध हो सकती है।—कहने का तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध की एकान्त महत्व-स्वीकृति तो सर्वथा मान्य नहीं है, किन्तु उसे एक विशेष लाभ यह प्राप्त है कि अपने व्यापक कलेवर में वह मुक्तक और प्रगीत को भी अन्तर्भूत कर लेता है और इस प्रकार प्रगीत या मुक्तक की स्फुटता संयोजित रूप धारण कर पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकती है। अतएव प्रबन्ध की श्रेष्ठता एक सापेक्षिक सत्य है जिसका आधार यह है कि प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रगीत का भी समावेश हो सकता है और प्रायः

सभी उत्कृष्ट प्रबन्धों में प्रचुर मात्रा में होता है, परन्तु प्रगीत के सर्वथा संक्षिप्त कलेवर में प्रबन्ध गुण के लिए अवकाश नहीं है।

२. प्रबन्धकाव्य का सौन्दर्य इतिवृत्त पर आश्रित न होकर कवि की संयोजक कल्पना या प्रसंग-विधान-कौशल पर निर्भर रहता है।

गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥४।११

कुन्तक ने प्रबन्ध-वक्रता के भेद-निरूपण में यह स्पष्ट निर्देश किया है कि प्रबन्ध काव्य का चमत्कार मूल इतिवृत्त पर आश्रित नहीं है। इस सौन्दर्य का आधार तो कवि का प्रबन्ध-कौशल है, तभी तो एक ही इतिवृत्त को लेकर अनेक सफल प्रबन्ध काव्यों की सृष्टि होती रही है जिनका चमत्कार एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। एक कथा कवि की विधायिनी कल्पना के द्वारा विभिन्न ध्वन्यार्थों—कुन्तक के शब्दों में वक्रताओं—की माध्यम बन सकती है। अर्थात् प्रबन्धत्व घटनावली में नहीं वरन् उनके विधान में निहित रहता है।

३. प्रबन्ध-विधान के कई प्रकार हैं।

(क) मूल रस में परिवर्तन—अर्थात् संवेद्य अनुभूति के अनुसार कथा का पुनर्भावन : इसके लिए कवि प्रसिद्ध कथा को अपने स्वभाव के अनुकूल एक भिन्न अनुभूति का माध्यम बनाकर, उसका पुनर्भावन करता है। इस प्रकार मनोविज्ञान की शब्दावली में मूल रस में परिवर्तन का अर्थ है कथा का पुनर्भावन।

(ख) नायक-चरित्र के किसी एक प्रधान पक्ष का चरम उत्कर्ष प्रदर्शित करने के लिए अंग को अंगी का रूप देकर कथा का पुनराख्यान।

(ग) कथा की नाटकीय परिणति—अर्थात् घटनाओं का तर्क-संगत विकास न दिखा कर बीच में ही किसी एक प्रधान घटना की चरमावस्था पर, आकस्मिक ढंग से, कथा का अन्त कर देना। इसके लिए नियोजन में सहज विकास-क्रम की संगति के स्थान पर आकस्मिकता का कुतूहल रहता है।

(घ) प्रतिपाद्य के अनुसार कथा का पुनराख्यान :—प्रत्येक कवि का अपने स्वभाव-संस्कार तथा परिस्थिति के अनुकूल एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता है और

वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काव्य में उसी को प्रतिफलित करने की चेष्टा करता है—यही उसका प्रतिपाद्य या संदेश होता है। इस प्रकार अपने अपने दृष्टिकोण के अनुकूल अनेक कवि किसी एक ही प्रसिद्ध कथा का पुनराख्यान कर अपने प्रबन्ध-कौशल का परिचय देते हैं।

४. प्रबन्ध-विधान का आधार है प्रकरण-नियोजन।

यहां तक तो प्रबन्ध-विधान के समग्र रूप की विवेचना हुई, अब उसके अंगों को लीजिए। प्रकरणों की समष्टि का नाम प्रबन्ध है, अतएव प्रबन्ध-विधान अन्त में प्रकरणों की नियोजना पर निर्भर रहता है। कुन्तक ने प्रकरणों—स्पष्ट शब्दों में—घटनाओं की नियोजन-कला के विषय में कतिपय स्पष्ट संकेत दिये हैं।

प्रकरण-नियोजन के मूल तत्व इस प्रकार हैं :

(अ) घटनाओं का सजीव वर्णन।

(आ) घटनाओं का पूर्वापर-क्रम-बन्धन।

(इ) मूल उद्देश्य के सम्बन्ध से घटनाओं का उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध, सामंजस्य तथा एकसूत्रता।

(ई) नवीन उद्भावना :—

१. चरित्र, उद्देश्य, अथवा रस के उत्कर्ष की दृष्टि से नवीन प्रसंगों की उद्भावना।

२. औचित्यादि की रक्षा के लिए प्रतिकूल अथवा अनावश्यक प्रसंगों में परिवर्तन अथवा उनका परित्याग।

३. मनोरम प्रसंगों की अतिरंजना द्वारा रोचकता का समावेश।

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रबन्ध-कौशल का यह सर्वप्रथम मौलिक तथा सांगोपांग विवेचन है। कुन्तक से पूर्व नाटक की कथावस्तु के सम्बन्ध में भरत आदि ने, और रस के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध-विधान का विवेचन किया है, परन्तु वहां यह साध्य न होकर साधन मात्र है। उदाहरण के लिए भरत ने नाटक की

कथावस्तु के आधार, आधिकारिक एवं प्रासंगिक भेद, तथा क्रम-विकास आदि का वर्णन रंगमंच की आवश्यकतानुसार; और आनन्दवर्धन ने प्रसंग आदि की उद्‌भावना की चर्चा रस-परिपाक की दृष्टि से की है। भरत का विवेचन बहुत कुछ वस्तुपरक है, और आनन्दवर्धन का व्यक्ति (सहृदय) परक। भरत ने मुख्यतः कथा के तत्वों और आनन्दवर्धन ने कथा के रस पर ही अधिक ध्यान दिया है। कुन्तक ने पहली बार कविकौशल की दृष्टि से प्रबन्ध के शिल्पविधान का विश्लेषण किया है। व्यावहारिक रूप में निगमन विधि पर आधृत होने पर भी इस विवेचन में कला के सामान्य एवं मौलिक सिद्धान्तों का यथावत् निरूपण है। इसका प्रमाण यह है कि भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों के प्रबन्ध-विवेचन के प्रायः सभी मूल तत्व इसके अन्तर्गत आगये हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र में सबसे पूर्व भरत ने (और फिर उन्हीं के आधार पर धनंजय आदि ने) नाट्यविधान की दृष्टि से वस्तु का विवेचन किया है। भरत के अनुसार कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक अर्थात् प्रधान और प्रासंगिक अथवा गौण। कथा के विकास की पाँच अवस्थाएं होती हैं, इनमें अन्तिम अवस्था है फलागम जहाँ कथा का विधान सम्पूर्ण हो जाता है। अवस्थाओं के समानान्तर सन्धियां हैं जो वस्तु-विकास के प्रत्येक मोड़ पर अवस्थाओं तथा अर्थप्रकृतियों के अन्विति-सूत्र को जोड़ती हैं। अन्तिम अर्थप्रकृति 'कार्य' है: कार्य से अभिप्राय कथा की उस प्रधान घटना का है जिसमें अन्य घटनाओं का समाहार हो जाता है।—कुन्तक ने अवस्था, अर्थप्रकृति और सन्धि आदि का तो वर्णन नहीं किया, वह उनकी विवेचन योजना में आता भी नहीं है, परन्तु उनके अस्तित्व की स्वीकृति पृष्ठभूमि में सर्वत्र वर्तमान रही है। प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता के अनेक रूपों के निरूपण में आधिकारिक और प्रासंगिक वस्तु-भेदों, फलागम आदि अवस्था-भेदों तथा मुख—प्रतिमुख संधियों का पृष्ठाधार निश्चित रूप से ग्रहण किया गया है। आधिकारिक और प्रासंगिक कथा-भेदों का उल्लेख प्रधान और अप्रधान कार्य के रूप में प्रकारान्तर से अनेक स्थलों पर हुआ है: कहीं कहीं तो आधिकारिक शब्द का ही प्रयोग है: 'प्रधानवस्तु-सम्बन्ध-तिरोधान-विधायिना आधिकारिकफलसिद्ध्युपायतिरोधानकारिणा' ४।२० वीं कारिका की वृत्ति। वास्तव में प्रधान-अप्रधान अथवा आधिकारिक-प्रासंगिक वस्तु का यह पार्थक्य-ज्ञान प्रबन्ध-कौशल का प्रमुख आधार है—कथा की एकता, अन्विति, सजीवता, रोचकता आदि अनेक गुणों का मूल उत्स यही है। फलागम अथवा मूल उद्देश्य तो कथा का

प्राणतत्व है—अतएव उसका आश्रय भी कुन्तक ने अनेक भेदों के विवेचन में अनिवार्य रूप से ग्रहण किया है : प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धानुबन्धवान् । ४।५ । यहां प्रबन्ध के एक देश का अर्थ है प्रकरण और फलबन्ध से अभिप्राय है फलागम का । सन्धि की उपेक्षा भी प्रबन्ध-विधान में सम्भव नहीं है। कुशल प्रबन्धकार की रचना 'मुखाभिसन्धिसन्ध्यादिसंविधानकबन्धुरम्' होनी चाहिए—और मुख्य कार्य को तो कुन्तक प्रायः सर्वत्र ही प्रबन्ध-विधान का केन्द्र मान कर चले हैं ।

भरत के उपरान्त दशरूपक में धनंजय ने नाटक की कथावस्तु के विवेचन में प्रबन्ध-विधान का विस्तार से निरूपण किया है । उन्होंने भी प्रबन्ध-सौन्दर्य की कतिपय साधन-विधियों का निर्देश किया है जो कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता के भेदों से मिल जाती हैं । उदाहरण के लिए धनंजय का भी मत है कि नाटक में यदि कोई प्रकरण नायक अथवा रस के उत्कर्ष के विरुद्ध हो तो उसका त्याग कर देना चाहिए या उसे अन्य रूप में परिवर्तित कर देना चाहिए :

यत् तत्रानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा ।
विरुद्धं तत् परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।।

दशरूपक ३।२४ ।

कुन्तक का उत्पाद्य-लावण्य नामक प्रकरण-वक्रता-भेद भी यही है ।

आनन्दवर्धन ने धनंजय और कुन्तक दोनों से पूर्व रस के सम्बन्ध से प्रबन्ध-कल्पना-विषयक अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का प्रतिपादन किया है । उन्होंने प्रबन्धगत रस के पाँच अभिव्यंजक हेतुओं का निर्देश किया है :

(१) विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव, और संचारी भाव के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथा-शरीर का निर्माण । ३।१० ।

(२) ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल स्थिति को छोड़ कर, बीच में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना कर के भी कथा का संस्करण । ३।११ ।

(३) केवल शास्त्रीय विधान के परिपालन की इच्छा से नहीं, अपितु रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्धि और सन्ध्यंगों की रचना । ३।१२ ।

(४) यथावसर (रसों के) उद्दीपन तथा प्रशमन (की योजना) और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसंधान। ३।१३।

(५) शक्ति होने पर भी (रस के) अनुरूप ही अलंकारों की योजना।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार आनन्दवर्धन के मत से प्रबन्ध काव्य का प्राणतत्व रस है। यदि आधार-कथा ऐतिहासिक है तो उसमें बाह्य-चित्रण तथा शील-निरूपण आदि सभी रस के अनुरूप होने चाहिए और यदि कथा कल्पित है तो उसकी कल्पना का मूल आधार रस ही होना चाहिए : वस्तु के अन्तर्बाह्य अंगों के निर्माण में रसौचित्य का पूर्ण निर्वाह होना चाहिए। इस दृष्टि से यदि प्रसिद्ध कथा का कोई अंश रसौचित्य में बाधक हो तो उसका परित्याग तथा अनुकूल प्रसंग की उद्भावना कर कथा का संशोधन कर लेना चाहिए। कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के द्वितीय भेद—उत्पाद्य-लावण्य में इसी हेतु का मार्मिक विवेचन किया है। उत्पाद्य-लावण्य को—अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान का संशोधन—इन दो उपभेदों में विभक्त कर उन्होंने अपनी समीक्षा को और भी सूक्ष्म तथा परिपूर्ण बना दिया है।

तीसरा हेतु है सन्धि-सन्ध्यंगों की रचना : इसका उद्देश्य है कथा के विभिन्न अंगों में सामंजस्य। प्रधान कार्य को लक्ष्य मान कर कथा के समस्त प्रकरण परस्पर समंजित होने चाहिए, यह वस्तु-विधान की मौलिक आवश्यकता है। आनन्दवर्धन का मत है कि यह संधि-संध्यंग-विधान और इसका परिणाम-रूप समंजन केवल यान्त्रिक प्रक्रिया नहीं होना चाहिए : उसके पीछे रस की प्रेरणा होनी चाहिए। केवल अंगों का वस्तुगत संयोजन मात्र पर्याप्त नहीं है, यह विधान ऐसा होना चाहिए कि सहृदय के मन के साथ भी उसका पूर्ण सामंजस्य हो सके। वास्तव में यही अन्तर्बाह्य-समंजन प्रबन्ध का प्राणतत्व है। कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के दो भेदों के अन्तर्गत इस महत्व-पूर्ण तथ्य का विवेचन किया है : उनके निर्देशानुसार प्रकरणों में प्रधान कार्य के सम्बन्ध से परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव तथा पूर्वापर-अन्विति-क्रम रहना चाहिए। यह सामंजस्य का ही प्रकारान्तर से निर्देश है, सामंजस्य का अर्थ भी तो यही है कि किसी एक मूलाधार पर विभिन्न प्रकरण पूर्वापर-क्रम तथा उपकार्य-उपकारक भाव से परस्पर समन्वित हों। इस समंजन के पीछे रस की प्रेरणा रहनी चाहिए—यह उपबन्ध मूलतः कुन्तक के दृष्टिकोण की परिधि में नहीं आता क्योंकि वस्तु रूप में कौशल ही उनका मुख्य विवेच्य है, फिर भी प्रबन्ध-वक्रता के विधान में रस की महत्व-प्रतिष्ठा उन्होंने प्रबल शब्दों में की है :

निरन्तररसोद्गारगर्भसंदर्भनिर्भराः
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ४।४।११ ।

अर्थात् निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कथा-मात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती है ।

प्रबन्ध का चौथा रसाभिव्यंजक हेतु अर्थात् आनन्दवर्धन के मत से प्रबन्ध-सौन्दर्य की चौथी साधन-विधि है यथावसर रसों के उद्दीपन तथा प्रशमन की योजना और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसन्धान । इसका अर्थ यह है कि यद्यपि प्रत्येक सफल प्रबन्ध काव्य का प्राणभूत एक मूल रस होता है जिसका अनुसन्धान कवि को निरन्तर करते रहना चाहिए फिर भी एकस्वरता का निवारण करने के लिए उसमें विभिन्न रसों के उद्दीपन और प्रशमन की व्यवस्था रहनी चाहिए—रसों का यह वैचित्र्य रोचकता का मूल कारण है । कुन्तक ने प्रबन्ध-वक्रता के प्रथम भेद के अन्तर्गत ही यह स्वीकार किया है कि प्रबन्ध काव्य में आत्मा रूप से एक रस का ही प्राधान्य होना चाहिए—इसके अतिरिक्त प्रकरण-वक्रता के दो भेदों के विवेचन में उन्होंने रस के उद्दीपन और प्रशमन की बात भी प्रकारान्तर से कही है। प्रकरण-वक्रता के चतुर्थ और पंचम भेदों में सरस प्रसंगों की अतिरंजना और रोचक प्रसंगों के विस्तृत वर्णन का निर्देश है । सरस प्रसंगों की अतिरंजना में रस का उद्दीपन निहित है—उधर ऋतुवर्णन, उत्सव, युद्ध आदि विभिन्न रोचक प्रसंगों के विस्तृत वर्णनों का उद्देश्य भी एक रस के उद्दीपन और दूसरे के प्रशमन द्वारा रस-वैचित्र्य की सृष्टि करना ही है । इस प्रकार आनन्दवर्धन और कुन्तक के मन्तव्य एक ही हैं किन्तु यहां भी भेद दृष्टिकोण का ही है : आनन्दवर्धन रस को प्रबन्ध का साध्य मानते हैं, कुन्तक प्रबन्ध-वक्रता या प्रबन्ध-कौशल का साधन । इसके अतिरिक्त आनन्द ने जहां आगमन विधि का प्रयोग किया है, वहां कुन्तक ने निगमन-विधि को अपनाया है—अर्थात् आनन्दवर्धन ने रस-सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर कथांशों की रसपरक विवेचना की है, और कुन्तक ने उपलब्ध प्रबन्ध काव्यों का विश्लेषण कर उनके कतिपय प्रकरणों की सरसता को प्रबन्ध-वक्रता में समाहृत किया है ।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रबन्ध-विधान

अरस्तू का मत

पश्चिम में प्रबन्ध-विधान का सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन अरस्तू के प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यशास्त्र (पोयटिक्स) में ही मिलता है। अरस्तू ने दुःखान्तकी के प्रसंग में, और फिर महाकाव्य के प्रसंग में कथावस्तु के गुणदोषों की विस्तार से चर्चा की है। उनके अनुसार कथावस्तु दो प्रकार की होती है : सरल और जटिल। इस सरलता और जटिलता का निर्णायक है कार्य : कार्य यदि सरल है तो कथानक सरल होगा, और कार्य यदि जटिल है तो कथानक जटिल होगा। सरल का अर्थ यह है कि कार्य में किसी प्रकार की द्विधा नहीं होगी—वह चरम घटना की ओर सीधा और अकेला ही आगे बढ़ता जाएगा। जटिल कार्य में विपर्यास[1] अथवा विवृति[2] अथवा इन दोनों का ही प्रयोग रहता है। विपर्यास से अभिप्राय उस अप्रत्याशित स्थिति का है जिसके कारण सहसा किसी का भाग्यचक्र घूम जाता है। उपर्युक्त दोनों प्रयोग प्रबन्ध-विधान के चमत्कार हैं जिनके द्वारा कुशल कवि अपने काव्य में कूतूहल की सृष्टि करता है। (भारतीय काव्य में शकुन्तला के हाथ से मुद्रिका का जल में गिर जाना विपयार्स का और दुष्यंत द्वारा भरत के मंत्रसिद्ध मणिबन्ध का निर्बाध स्पर्श विवृति का उदाहरण है।) कुन्तक इन चमत्कारों से अवगत थे। प्रकरण-वक्रता के सप्तम भेद का चमत्कार बहुत कुछ ऐसा ही है, उसमें भी किसी रोचक अप्रधान प्रसंग की अवतारणा द्वारा ऐसे रहस्य का उद्घाटन किया जाता है जो कथा में नूतन चमत्कार की सृष्टि कर देता है। इसके अतिरिक्त उत्पाद्य-लावण्य नामक प्रकरण-वक्रता में भी इस प्रकार की परिस्थितियों की उद्भावनाएं अन्तर्भूत हैं। भारतीय नाटक की निर्वहण संधि में प्रायः इसी प्रकार की विवृति निहित रहती है इसीलिए वहां अद्भुत रस का समावेश आवश्यक माना गया है।

अरस्तू ने प्रबन्ध-विधान के कुछ आवश्यक गुण माने हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं :

१. प्रबन्ध का उद्देश्य एक होना चाहिए—उसमें किसी प्रकार की द्विधा नहीं होनी चाहिए।

---

१. पैरीपैटिग्रा (ग्रायरनी)
२. एनेग्नारिसिस (डिस्क्लोज़र)

२. कथानक में पूर्ण अन्विति होनी चाहिए । अन्विति का अर्थ यह नहीं है कि उसमें केवल एक व्यक्ति की ही कथा हो—एक व्यक्ति की कथा में भी अनेकता तथा अन्विति का अभाव हो सकता है । कथानक के ऐक्य का अर्थ है कार्य का ऐक्य, सफल कथानक का कार्य पूर्ण इकाई के समान होता है, उसकी भिन्न-भिन्न घटनाएं इस प्रकार से एकसूत्रबद्ध होती हैं कि उनमें से एक के भी इधर-उधर होने से सम्पूर्ण विधान अस्त-व्यस्त हो जाता है ।

३. पूर्ण इकाई से आशय यह है कि कथानक के आदि, मध्य और अवसान ये तीनों ही चरण निश्चित रहते हैं—और तीनों की ही अनिवार्यता स्वतःसिद्ध होती है, न आदि के बिना मध्य की स्थिति सम्भव है न मध्य के बिना आदि और अवसान की, और न अवसान के बिना आदि और मध्य का ही संगत विकास संभव है ।

४. घटनाओं में औचित्य का निर्वाह सदा होना चाहिए । अनुचित घटनाओं से आनन्द की प्राप्ति नहीं होती ।

५. कथानक के सभी प्रसंगों में सम्भाव्यता होनी चाहिए—सम्भाव्यता का अर्थ यह है कि जो हुआ है वही पर्याप्त नहीं है वरन् जो हो सकता है उसका वर्णन भी निश्चय ही काम्य है; परन्तु जो हो सकता है उसी का—जो नहीं हो सकता उसका नहीं । सम्भाव्यता कथानक का अत्यन्त आवश्यक गुण है; जिन घटनाओं का विकास एक-दूसरे में से सहज रूप से नहीं होता, वरन् जो संयोग पर आश्रित रह कर मनमाने ढंग से आगे बढ़ती हैं वे पाठक के मन का उचित परितोष नहीं कर सकतीं । इसीलिए यह आवश्यक है कि निगति आदि का सहज विकास कथानक में से ही होना चाहिए, उनका आरोप बाहर से नहीं होना चाहिए ।

६. प्रबन्ध-विधान का एक अन्य गुण है सजीव परिकल्पना । इसका आशय यह है कि कवि को सभी वर्ण्य विषयों और घटनाओं का मनसा साक्षात्कार कर लेना चाहिए ।

७. सजीव परिकल्पना के उपरान्त सजीव वर्णन भी उतना ही आवश्यक है । जब तक कवि घटनाओं का और परिस्थितियों का सजीव वर्णन नहीं करेगा तब तक उनमें रोचकता का अभाव रहेगा ।

८. प्रबन्ध-कौशल का मौलिक आधार है साधारणीकरण । साधारणीकरण का अर्थ यह है कि कवि घटना-विन्यास करने से पूर्व अपने कथानक की एक सार्वभौम,

सर्वसाधारण रूपरेखा बना लेता है। यह रूपरेखा देश-काल के बन्धनों से मुक्त सर्वग्राह्य एवं सर्वप्रिय होती है जिसके साथ सभी तादात्म्य कर सकते हैं। कुशल कवि इस रूपरेखा में ही प्रतिभा के द्वारा रूप और रंग का समावेश कर अपने प्रबन्ध-विधान को पूर्ण कर देता है। अरस्तू के अनुसार प्रबन्ध काव्य का ही नहीं वरन् समस्त काव्य का यही मूल आधार है।

कुन्तक ने अपने विवेचन में उपर्युक्त प्रायः सभी विशेषताओं का समावेश अपने ढंग से कर लिया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि प्रधान कार्य निश्चय ही एक होना चाहिए, उसी के सम्बन्ध से कथानक के विभिन्न प्रकरण परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव से सूत्रबद्ध रहने चाहिए। इन प्रकरणों में निश्चित पूर्वापर-क्रम तथा अन्विति होनी चाहिए। इस विवेचन में अरस्तू के अनेक प्रबन्धगुणों का अन्तर्भाव है—एक उद्देश्य, अन्विति, आदि-मध्य-अवसान की निश्चित स्थिति, घटनाओं का एक दूसरे से सहज निस्सरण, आदि गुणों का विवेचन अरस्तू और कुन्तक दोनों ने अपने अपने ढंग से किया है। वास्तव में ये वस्तु-विधान के मौलिक गुण हैं, अतएव दोनों समीक्षक निगमन शैली का अनसरण करते हुए स्वतंत्र रूप से स्वभावतः ही इन तक पहुंच गये हैं। यही बात घटनाओं के औचित्य के विषय में भी कही जा सकती है। कुन्तक के उत्पाद्य-लावण्य भेद का आधार औचित्य ही है : आनन्दवर्धन, धनंजय आदि की भाँति वे भी अनुचित घटनाओं के निवारण पर बल देते हैं। 'सजीव परिकल्पना' और 'सजीव वर्णन' का उल्लेख कुन्तक ने आरम्भ में ही प्रकरण-वक्रता के सामान्य निरूपण में कर दिया है : 'अपने अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए अपरिमित उत्साह की प्रवृत्ति' से उनका आशय वर्ण्य विषय की सजीव परिकल्पना तथा सजीव वर्णना का ही है। विषय के उत्कर्ष का अर्थ ही सजीव परिकल्पना और वर्णना है, और विषय का यह उत्कर्ष ही कुन्तक की प्रकरण-वक्रता का प्राण है।

अब अन्तिम प्रबन्धगुण साधारणीकरण रह जाता है। अरस्तू का मन्तव्य का यह है कि प्रत्येक कथानक के मूल में—चाहे वह कितना ही महाकार क्यों न हो जीवन की कतिपय मौलिक प्रवृत्तियां रहती हैं। कुशल कवि घटना-परम्परा का विस्तार करने से पूर्व इन्हीं मौलिक प्रवृत्तियों पर आश्रित शाश्वत सत्यों के आधार पर अपने प्रधान कार्य की रूप रेखा बना लेता है। यह रूपरेखा स्वभावतः ही सार्वभौम और सर्व-साधारण होती है क्योंकि इसका आधार जीवन की शाश्वत वृत्तियां होती हैं। इसी रूपरेखा में फिर वह अनेक नाम-रूप-मय तथ्यों का समावेश कर अपने प्रबन्ध-विधान को पूर्णता प्रदान करता है। भारतीय काव्यशास्त्र में साधारणी-

करण का अत्यन्त विशद विवेचन किया गया है, कुन्तक से पूर्व भट्टनायक इस सिद्धान्त की उद्भावना कर चुके थे। विशेष को साधारण रूप में प्रस्तुत करना ही भट्टनायक का भावकत्व अथवा साधारणीकरण व्यापार है—और यह प्रबन्ध काव्य का ही नहीं, काव्य मात्र का मूल आधार है। कुन्तक ने इस मौलिक सिद्धान्त का पृथक विवेचन नहीं किया और इसका कारण यह है कि उनकी दृष्टि कविकौशल पर ही अधिक थी। साधारणीकरण के सिद्धान्त का सम्बन्ध मूलतः काव्य के आस्वादन से है—कवि-व्यापार से इतना नहीं है, इसलिए वह कुन्तक के विवेचन से बाहर ही पड़ा। वैसे इसका एक वस्तुगत पक्ष भी है जिसका उल्लेख अरस्तू ने किया है, कुन्तक उससे अपरिचित नहीं थे—प्रधान कार्य की महत्व-प्रतिष्ठा कर, कथानक को गौण ठहरा कर तथा मूल-रस-परिवर्तन को प्रबन्ध-कौशल का प्रमुख गुण मान कर उन्होंने शाश्वत जीवन-वृत्तियों पर आश्रित उपर्युक्त प्रबन्धगुण की अवगति का परिचय दिया है, इसमें सन्देह नहीं।

अरस्तू के उपरान्त यूरोप के साहित्यशास्त्र में प्रबन्ध कौशल का लगभग प्रत्येक युग में ही गम्भीर विवेचन हुआ। वस्तु-विधान का अनेक दृष्टियों से आगमन-निगमन शैली से, अनेक रूपों में विश्लेषण किया गया और उसके सामान्य तथा विशेष सिद्धान्त स्थिर करने के प्रयत्न हुए। प्रबन्ध-कौशल का आधार है मानव का मानव के प्रति अनुराग। यह अनुराग रागात्मक सम्बन्धों की अनुभूति तथा जिज्ञासा में अभिव्यक्त होता है। मानव-सम्बधों की अनुभूति का काव्यगत रूप 'रस' है और जिज्ञासा का है 'कुतूहल'। रस और कुतूहल ही काव्य की दृष्टि से प्रबन्ध के प्राणतत्व हैं—सफल प्रबन्ध में इनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध और अन्ततः सामंजस्य रहता है। कुतूहल रस के परिपाक में योग देता है और रस कुतूहल में रागात्मक सरसता उत्पन्न करता है। रस से जीवनानुभूति की प्रगाढ़ता और कुतूहल से वैचित्र्य का समावेश होता है—इस प्रकार जीवन-चित्र में समतल-विस्तार के साथ ऊँचाई तथा गहराई आती है और वह पूर्ण हो जाता है। इन्हीं दो प्राण-तत्वों के आधार पर प्रबन्ध-विधान के अन्य सामान्य एवं विशेष तत्वों का विकास हुआ है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रबन्ध-विवेचन के सामान्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं:—

वस्तुविन्यास के प्रकार

वस्तु-विन्यास सामान्यतः तीन प्रकार का होता है :

(क) नायक-प्रधान—जिसमें घटनाचक्र नायक तथा उससे सम्बद्ध प्रमुख पात्रों के चारों ग्रोर केन्द्रित रहता है। इसमें घटनाएं ग्रपने आप में कोई स्वतन्त्र महत्व नहीं रखतीं—वे चरित्र के उत्कर्ष की माध्यम या वाहक होती हैं ग्रौर उनका गुम्फन-सूत्र प्रमुख पात्र के चरित्र-विकास के साथ ग्राबद्ध रहता है।

(ख) घटना-प्रधान—जिसमें घटना-चक्र का स्वतन्त्र महत्व होता है। ग्रनेक ग्रनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों से टकराता हुग्रा कथा का प्रवाह ग्रविच्छन्न रूप से ग्रागे बढ़ता रहता है। घटना-प्रधान प्रबन्ध में कभी कभी एक ही कथा होती है जो बिना किसी द्विधा ग्रथवा प्रतिघात के फलागम तक ग्रागे बढ़ती जाती है, कभी दो कथाएं समानान्तर चलकर ग्रन्त में मिल जाती हैं, और कभी कभी ग्रनेक कथाग्रों का संगम रहता है। इनका प्रवाह क्रमशः पर्वती नदी के समान, समानान्तरवाही धाराग्रों के समान ग्रथवा समुद्र के तरंगावर्त के समान होता है।

(ग) नाटकीय—जिसमें घटनाओं की अविच्छिन्न धारा न होकर महत्वपूर्ण परिस्थितियों का एकाग्र चित्रण रहता है। ये परिस्थितियां भी परस्पर-सम्बद्ध तो होती हैं परन्तु यहां सम्बन्ध-सूत्र प्रच्छन्न रहता है और विशेष परिस्थितियाँ इतनी उभार कर सामने रखी जाती हैं कि पाठक या प्रेक्षक का मन इन्हीं पर विराम करता हुआ क्रमशः कथा के अन्त तक पहुँचता है। यहाँ कथा की खण्ड दृश्यावली प्रत्यक्ष रहती है अखण्ड सम्बन्धसूत्र अप्रत्यक्ष रहता है। यह नाटकीय कथा-विधान केवल दृश्य काव्य में ही नहीं होता, श्रव्य काव्य में भी उसका प्रयोग सहज सम्भाव्य है—देश-विदेश के ग्रनेक श्रव्य काव्यों में इस प्रकार के नाटकीय दृश्यविधान का कौशल लक्षित होता है।

(घ) कुतूहल-प्रधान—कुतूहल-प्रधान प्रबन्ध-विधान में भी निश्चय ही घटनाएं ग्रपने आप में स्वतन्त्र महत्व न रख कर कुतूहल की उद्बुद्धि ग्रौर परितृप्ति की साधन-मात्र होती हैं। इस प्रकार के प्रबन्ध-विधान में कथाकार प्रायः रहस्य, चमत्कार, दैवयोग, ग्रादि के द्वारा पाठक की कुतूहल-वृत्ति के साथ क्रीड़ा करता है। उसका मूल उपकरण होती है कल्पना, जो मानव-जीवन के रागात्मक सम्बन्धों से दूर ग्रपार्थिव ग्रथवा अर्ध-ग्रपार्थिव कृत्यों की सृष्टि करती रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के प्रबन्ध-विधान में जीवन का गाम्भीर्य कम ही मिलता है।

कथा-विधान का विकास

यूरोप में जीवन को मूलतः संघर्ष माना गया है अतएव वहाँ के काव्यशास्त्र में संघर्ष के आधार पर ही जीवन-कथा के विकास की कल्पना की गई है। भारत का विश्वास-प्रधान आस्तिक जीवन-दर्शन, इसके विपरीत, सिद्धि अथवा फलागम को ही जीवन का मूल तत्व मानता है। वैसे तो न पाश्चात्य जीवन-दर्शन सिद्धि की उपेक्षा करता है और न भारतीय जीवन-दर्शन संघर्ष के बिना सिद्धि की आशा कर सकता है; परन्तु मूल भेद दृष्टि का है। सिद्धि को आधार-तत्व मान लेने से जीवन एक निश्चित उद्देश्य की नियमित साधना बन जाता है और उसके विकास में विश्वास की प्रेरणा निहित रहती है। उधर संघर्ष पर अधिक बल देने से जीवन में घात-प्रतिघात, द्वन्द्व, प्रतिकूल परिस्थितियों का विरोध और इन सब के परिणामस्वरूप सन्देह और अविश्वास का स्वतः ही प्राधान्य हो जाता है। एक में निश्चित सिद्धि की विश्वासमयी साधना है और दूसरे में अनिश्चित लक्ष्य की ओर सन्देहपूर्ण संघर्ष। जीवन-दृष्टि के इसी भेद के कारण भारतीय और पाश्चात्य कथा-विकास में मौलिक अन्तर पड़ जाता है। भारतीय कथा-विकास की पंच अवस्थाओं और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित कथा के पाँच संस्थानों में यह अन्तर स्पष्ट है। एक में जहाँ चरम घटना बाधाओं को पार कर प्राप्त्याशा उत्पन्न करती है वहाँ दूसरे में चरम घटना का अर्थ संशय की चरम परिणति मात्र है। एक का अन्त जहाँ निश्चय ही फलागम में होता है वहाँ दूसरे के अन्त में फल का नाश भी उतना ही सम्भव है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में कथा-विकास का सब से प्रबल माध्यम घात-प्रतिघात माना गया है। अनेक प्रकार के विघ्नों की कल्पना वहां कथा के विकास में मूल रूप से ही निहित रहती है। यूरोप के कथाशास्त्रियों ने प्रायः तीन प्रकार के विरोधों की कल्पना की है :

१. पात्र तथा परिस्थिति-जन्य विरोध :—जहाँ नायक अथवा प्रमुख पात्र के प्रयत्नों का विरोध अन्य पात्रों अथवा जीवनगत परिस्थितियों द्वारा होता है।

२. दैविक विरोध—जहां प्राकृतिक अथवा अलौकिक परिस्थितियां प्रतिघात करती हैं।

३. चारित्रिक द्वन्द्व अथवा दोष—जहां नायक या मुख्य पात्र का अपना ही चरित्रगत द्वन्द्व, ग्रन्थि, अथवा दोष उसके प्रयत्नों में बाधक होता है।

कुन्तक के दृष्टिकोण में निश्चय ही भारतीय जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति मिलती है। उन्होंने भी अपने ढंग से पाश्चात्य काव्यशास्त्र के उपर्युक्त तीनों कथा-प्रकारों को मान्यता दी है। प्रबन्ध-वक्रता के द्वितीय भेद में जहां नायक के चरमोत्कर्ष पर ही कथा समाप्त कर दी जाती है नायक-केन्द्रित कथा की ही स्वीकृति है। मध्य में ही किसी उत्कर्षपूर्ण घटना पर कथा का आकस्मिक अन्त नाटकीय कथा-विधान का द्योतक है। एक फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील नायक के द्वारा अप्रत्याशित रूप से अनेक फलों की प्राप्ति, जिसे कुन्तक ने प्रबन्ध-वक्रता का चतुर्थ भेद माना है, घटना-प्रधान कथा का ही एक प्रकार है। फलागम की अनेकता के साथ कथा स्वतः ही अनेकमुखी हो जाती है और उस में फलागम से सम्बद्ध घटनाओं का महत्व अनायास ही सिद्ध हो जाता है : हल्के कुतूहल पर आश्रित कथाओं का संस्कृत वाङ्मय में अभाव नहीं है किन्तु गम्भीरचेता आचार्यों ने उनको कभी महत्व नहीं दिया। इसलिए कुन्तक के प्रबन्ध-विवेचन में इस प्रकार के कुतूहल-वर्द्धक कथा-चमत्कारों का उल्लेख नहीं है। कथा के विकास में कुन्तक ने भारतीय जीवन-दृष्टि के अनुसार ही सर्वत्र फलागम का प्रभुत्व स्थापित किया है। प्रबन्ध-कौशल के जिन विभिन्न तत्वों का उल्लेख उन्होंने किया है उन सभी का आधार नायक की सिद्धि ही है। नवीन उद्भावनाएं—अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान का संशोधन—भी नायक के फलागम में सहायक होने के लिए ही की जाती हैं। कथा के प्रकरणों के उपकार्य-उपकारक भाव और अन्विति का मूल आधार भी फलागम ही है। विपरीत परिस्थितियों की कल्पना से कुन्तक पराङ्मुख नहीं हैं किन्तु उनको कहीं भी उभार कर नहीं रखा गया—वे तो मानों फलागम के साधना-मार्ग की सहज परिस्थितियां मात्र हैं, उनसे अधिक कुछ नहीं।

वक्रोक्ति तथा अन्य काव्य सिद्धान्त

वक्रोक्ति और अलंकार

वक्रोक्ति का अलंकार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है—आलोचकों ने वक्रोक्ति को प्रायः अलंकार का अंग मान कर वक्रोक्ति-सम्प्रदाय को अलंकार-सम्प्रदाय का ही पुनरुत्थान मात्र सिद्ध किया है। इस कथन में निश्चय ही सत्यता है, परन्तु फिर भी इन दोनों में स्पष्ट भेद है, और यह भेद स्थूल अवयवगत न होकर तत्वगत है। वक्रोक्ति के स्वरूप को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए अलंकार, और केवल अलंकार ही नहीं, अन्य काव्य-तत्वों के साथ भी उसका तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है।

अलंकार और अलंकार्य :—

अलंकार और अलंकार्य के भेदाभेद का प्रश्न यूरोप में अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तन के पश्चात् आधुनिक काव्यशास्त्र में विशेष चर्चा का विषय बन गया है। परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र के लिए यह कोई नवीन विषय नहीं है। प्राचीन आलंकारिकों ने—भामह, दण्डी, वामन आदि ने अलंकार और अलंकार्य का अभेद माना है और समस्त काव्य-सौन्दर्य को अलंकार के अन्तर्गत ही रखा है।

१. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान्प्रचक्षते। **दण्डी**

२. सौन्दर्यमलंकारः। **वामन**

इस प्रकार इन आचार्यों के अनुसार अलंकार काव्य-शोभा के कारण अथवा पर्याय हैं : इन्होंने इसी दृष्टि से समस्त रस-प्रपंच को रसवदादि अलंकार-चक्र में अन्तर्भूत कर लिया है। इनके मत से काव्य का प्रस्तुत पक्ष अरमणीय या चमत्कार-रहित होने पर काव्य न होकर वार्ता मात्र रह जाता है।

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं ? ···वार्तामेनां प्रचक्षते ॥ भामह—काव्यालंकार २, ८६

अर्थात् सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा का उदय हो गया है, पक्षिगण अपने अपने नीड़ों को लौट रहे हैं···इत्यादि—यह क्या कोई काव्य है ? इनको वार्ता कहते हैं। रमणीय अथवा चमत्कारपूर्ण होने पर काव्य का यह प्रस्तुत पक्ष अलंकार से अभिन्न हो जाता है। अभिप्राय यह है कि अलंकारवादी प्रस्तुत अर्थ का निषेध नहीं करते, परन्तु उसमें यथावत् काव्यत्व की सम्भावना नहीं मानते—किसी भी प्रकार के सौन्दर्य से विशिष्ट होने पर फिर वह अपने समग्र रूप में अलंकार बन जाता है। अर्थात् शब्द-अर्थ के दो रूप हैं : (१) प्रकृत (अनलंकृत रूप) (२) अलंकृत रूप।—इनमें से प्रथम अकाव्य है द्वितीय अपने समग्र रूप में ही काव्य है—वही अलंकार भी है, उसमें अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं है। रस-ध्वनिवादियों ने रस को अथवा शब्द-अर्थ को—और स्पष्ट शब्दों में शब्द-अर्थ को प्रत्यक्षतः और रस को मूलतः—अलंकार्य माना है और उपमा अनुप्रासादि को अलंकार नाम से अभिहित किया है। उन्होंने अलंकार और अलंकार्य की पृथक सत्ता का स्पष्ट निर्देश किया है। अलंकार की उपादेयता के विषय में आनन्दवर्धन का मत है :

विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन। २-१८

अर्थात् अलंकार की विवक्षा रस को प्रधान मान कर ही होनी चाहिये अंगी रूप में नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि अंगी होने के नाते रस अलंकार्य है—अलंकार की सार्थकता उसका उत्कर्षवर्धन करने में ही है। इस प्रकार अलंकार और अलंकार्य की पृथक्ता सिद्ध है। मम्मट और विश्वनाथ ने इसी मन्तव्य की अपने अपने ढंग पर पुष्टि की है :

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्-
हारादिवदलंकारास्ते··· ··· ··· । काव्यप्रकाश ८।६७

अर्थात् रस रूप अंगी को अलंकार शब्द-अर्थ रूप अंग के द्वारा उपकृत करते हैं : हारादि आभूषण जिस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से शरीर को सुशोभित करते हुए मूलतः आत्मा का उत्कर्ष करते हैं, इसी प्रकार अलंकार प्रत्यक्षतः शब्द-अर्थ को भूषित करते हुए मूल रूप में रस का उपकार करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार उपमादि अलंकार हैं और शब्द-अर्थ प्रत्यक्ष रूप में तथा रस मूल रूप में अलंकार्य है इसी तथ्य का प्रतिपादन विश्वनाथ भिन्न प्रकार से करते हैं :

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्ते·········। (सा० द०)

अर्थात् अलंकार शब्द-अर्थ के अस्थिर धर्म हैं जो उनकी शोभा की अभिवृद्धि करते हुए मूलतः रस का उपकार करते हैं। यहां अलंकरण का अर्थ किया गया है शोभा-वर्धन—प्रकृत शोभा की अभिवृद्धि, और प्रत्यक्ष रूप से शब्द-अर्थ को तथा तत्व रूप से रस को अलंकार्य माना गया है। रस-ध्वनिवादियों की उपमा—हारादिवत् वा अंगदादिवत्—ही अलंकार की भिन्नता को पुष्ट करती है। परन्तु आगे चलकर इन आचार्यों ने भी, ऐसे अनेक अलंकारों की अलंकारता स्वीकार कर ली है जो वास्तव में वर्णन-शैली के प्रकार न होकर वर्ण्य विषय के ही रूप हैं। अतः यह शंका हो सकती कि उनके मन में भी कदाचित् अलंकार और अलंकार्य का पार्थक्य एकांत स्पष्ट नहीं था।

कुन्तक की दृष्टि इस विषय में सर्वथा निर्भ्रान्त है, उन्होने अनेक प्रसंगों में अनेक प्रकार से इस प्रश्न को उठाया है और अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपना मन्तव्य व्यक्त किया है।

१. अलंकार और अलंकार्य को अलग अलग करके उनकी विवेचना उस (काव्य की व्युत्पत्ति) का उपाय होने से ही की जाती है। (वास्तव में तो) अलंकार-सहित (शब्द-अर्थ और अलंकार की समष्टि) ही काव्य है।

अलंकृति का अर्थ अलंकार है। जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय (उसको अलंकार कहते हैं) इस प्रकार विग्रह करने से। उसका विवेचन अर्थात् विचार किया जाता है। और जो अलंकरणीय वाचक (शब्द) रूप तथा वाच्य (अर्थ) रूप है उसका भी विवेचन किया जाता है। सामान्य तथा विशेष लक्षण द्वारा उसका निरूपण किया जाता है। किस प्रकार? अलग करके, निकाल कर, पृथक् पृथक् करके। जिस समुदाय (रूप वाक्य) में उन दोनों का अन्तर्भाव है उस से विभक्त करके। किस कारण? उस का उपाय होने से। × × × इस प्रकार का विवेचन काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय हो जाता है। × × × समदाय के अंतःपाती असत्य पदार्थों का भी व्युत्पत्ति के लिए (शास्त्रों में) विवेचन पाया जाता है। जैसे वैयाकरणों के मत में वाक्य के अन्तर्गत पदों का और पदों के अन्तर्गत वर्णों का अलग अलग कोई अस्तित्व नहीं हैं, फिर भी पदों के अन्तर्गत प्रकृति-प्रत्यय का और वाक्य के अन्तर्गत पदों का अलग अलग विवेचन व्याकरण-ग्रन्थों में किया जाता है। × × ×

यदि इस प्रकार काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय होने से असत्यभूत (अलंकार तथा अलंकार्य) उन दोनों का पार्थक्य किया जाता है, तो फिर सत्य क्या है, इसको कहते है। तत्वं सालंकारस्य काव्यता······अर्थात् सालंकार (शब्दार्थ) की काव्यता है, यह यथार्थ (तत्व) है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि अलंकार-सहित अर्थात् अलंकरण-सहित सम्पूर्ण, अवयवरहित समस्त समुदाय की काव्यता है—कविकर्मत्व है। इसलिए अलंकृत (शब्द-अर्थ) का ही काव्यत्व है···न कि अलंकार का काव्य में योग होता है। (हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—कारिका ६ की वृत्ति।)

आगे चल कर प्रथम उन्मेष की ही दसवीं कारिका में कुन्तक ने एक स्थान पर अलंकार और अलंकार्य का पृथक उल्लेख किया है :

ये दोनों (शब्द और अर्थ) अलंकार्य होते हैं, और चतुरतापूर्ण शैली से कथन (वैदग्ध्यभंगीभणिति) रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलंकार होती है। (व० जी० १।१०)। परन्तु तुरन्त ही वे एक शंका उठा कर उसका निराकरण कर देते हैं :

पूर्व पक्ष—आपने पहले स्थापित किया है कि (अलंकार और अलंकार्य के विभाग से रहित सालंकार काव्य का ही काव्यत्व है तो यह क्यों कहते हैं ?

उत्तर पक्ष—ठीक है। किन्तु वहाँ भेदविवक्षा से वर्णपद-न्याय से अथवा वाक्यपद-न्याय से (तत्व रूप में) असत्य होते हुए भी विभाग किया जा सकता है, यह कहा जा चुका है। (ग्यारहवीं कारिका की वृत्ति)।

इस प्रकार कुन्तक का दृष्टिकोण इस विषय में सर्वथा निर्भ्रान्त है। उन के मन्तव्य का सार यह है :—

(१) तत्व रूप में अलंकार और अलंकार्य की पृथक् सत्ता नहीं है।

(२) काव्य में शब्द-अर्थ रूप अलंकार्य का और वक्रोक्ति रूप (जिसके अन्तर्गत काव्य के उपमादि सभी प्रकार के शोभादायक तत्वों का समावेश है) अलंकार का पूर्ण तादात्म्य रहता है। अलंकार कोई बाह्य वस्तु नहीं है जिसका शब्द-अर्थ के साथ योग होता है।

(३) फिर भी काव्य-सौन्दर्य को हृदयंगम करने के लिए व्यवहार रूप में इन दोनों का पृथक विवेचन किया जा सकता है और वह उपादेय भी होता है। केवल काव्यशास्त्र में ही नहीं वरन् व्याकरणादि अन्य शास्त्रों में भी तत्व और व्यवहार में इसी प्रकार की भेद-कल्पना की जाती है। उदाहरण के लिए व्याकरण का सिद्धान्त यह है कि वाक्य के अन्तर्गत पदों का और पद के अन्तर्गत वर्णों का पृथक अस्तित्व नहीं है, तो भी, व्यवहार रूप में, व्याकरण के तत्व को समझने के लिए, पदों के अन्तर्गत प्रकृति-प्रत्यय का और वाक्य के अन्तर्गत पदों का पृथक विचार सफलतापूर्वक किया जाता है।

क्रोचे का मत

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी अलंकार और अलंकार्य का व्यवहारगत भेद प्रायः आरम्भ से ही मान्य रहा है, वहाँ इस भेद की स्पष्टता की मात्रा में तो अन्तर होता रहा है परन्तु उसका निषेध क्रोचे से पूर्व किसी ने नहीं किया। क्रोचे का सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार है : कला मूलतः सहजानुभूति अथवा स्वयंप्रकाश्य ज्ञान है ; और सहजानुभूति अभिव्यंजना से अभिन्न है, जो अभिव्यंजना में मूर्त नहीं होती वह सहजानुभूति न होकर संवेदन या प्रकृत विकार मात्र है। अपने मूर्त रूप में वस्तु यन्त्रवत् है, निष्क्रिय है; मानवात्मा उसका अनुभव तो करती है, परन्तु सृजन नहीं करती। सहजानुभूति से अभिन्न होने के कारण अभिव्यंजना अखंड है—रीति, अलंकार आदि में उसका विभाजन नहीं हो सकता।

"अभिव्यंजना का विभिन्न श्रेणियों में अवैध विभाजन साहित्य में अलंकार-सिद्धान्त अथवा रीतिवर्ग के नाम से प्रसिद्ध है। × × × उपचार के चौदह भेद, शब्द और वाक्य के अलंकार······ये अथवा अभिव्यंजना के ऐसे ही प्रकार वा कोटिक्रम, परिभाषा का प्रयत्न करने पर यह प्रकट कर देते हैं कि तत्व रूप में उनका कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि या तो वे शून्य में खो जाते हैं—या निरर्थक वाग्जाल मात्र रह जाते हैं। इसका एक उदाहरण उपचार[1] की यह परिभाषा है कि उचित शब्द के स्थान पर किसी अन्य शब्द का प्रयोग उपचार है। अब प्रश्न है कि यह कष्ट क्यों उठाया जाय ? उपयुक्त शब्द के लिए अनुपयुक्त शब्द का प्रयोग ही क्यों किया जाय ? जब आप छोटा और सुगम मार्ग जानते हैं तो लम्बे और दुर्गम मार्ग से जाने का क्या लाभ ? इसका उत्तर कदाचित् यह दिया जाता है कि कुछ

---

१. मेटाफ़र

परिस्थितियों में उपयुक्त शब्द उतना अभिव्यंजक नहीं होता जितना कि तथाकथित अनुपयुक्त द्योतक (लाक्षणिक) शब्द। किन्तु ऐसी स्थिति में यह द्योतक शब्द ही वास्तव में उचित शब्द है, और तथाकथित उपयुक्त शब्द अव्यंजक अतएव अत्यन्त अनुपयुक्त है। इसी प्रकार की युक्तियाँ अन्य वर्ग-भेदों के विषय में भी दी जा सकती हैं—उदाहरण के लिए अलंकार को लीजिए। "यहाँ यह पूछा जा सकता है कि उक्ति में अलंकार का नियोजन किस प्रकार किया जा सकता है? बाहर से? तब तो वह उक्ति से सदैव पृथक रहेगा। भीतर से? ऐसी दशा में या तो वह उक्ति का साधक न होकर बाधक हो जाएगा, या फिर उसका अंग बन कर अलंकार ही न रह जाएगा। तब तो वह उक्ति का ही एक अभिन्न अंग बन जाएगा। (एस्थेटिक पृ० ६९)।

आचार्य शुक्ल का मत

क्रोचे का उत्तर शुक्ल जी ने उतने ही प्रबल शब्दों में दिया है:

"अलंकार-अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता। शब्द-शक्ति के प्रसंग में हम दिखा आये हैं कि उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो उसकी तह में कोई 'प्रस्तुत अर्थ' अवश्य ही होना चाहिए। इस अर्थ से या तो किसी तथ्य की या भाव की व्यंजना होगी। इस 'अर्थ' का पता लगा कर इस बात का निर्णय होगा कि व्यंजना ठीक हुई है या नहीं। अलंकारों (अर्थालंकारों) के भीतर भी कोई न कोई अर्थ व्यंग्य रहता है, चाहे उसे गौण ही कहिए। उदाहरण के लिए पन्त जी की ये पंक्तियाँ लीजिए:

"बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग सी नित
—इसी में था असीम अवसित"।

इसका प्रस्तुत अर्थ इस प्रकार कहा जा सकता है—"वह बालिका अपने बाल्य-जीवन के प्रवाह की सीमा के भीतर उछलती कूदती थी। उसके उस बाल्य-जीवन में अत्यन्त अधिक और अनिर्वचनीय आनन्द प्रकट होता था।"

बिना इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे, न तो कवि की उक्ति की समीचीनता की परीक्षा हो सकती है, न उस की रमणीयता के स्थल ही सूचित किये जा सकते हैं। अब यह देखिए कि उक्त प्रस्तुत अर्थ को कवि की उक्ति सुन्दरता के साथ अच्छी तरह व्यंजित कर सकी है या नहीं। पहले 'बाल्य-सरिता' यह रूपक लीजिए। कोई अवस्था स्थिर नहीं होतीं, प्रवाह-रूप में बहती चली जाती है, इससे साम्य ठीक है।

अब नदी की मूर्त भावना का प्रभाव लीजिए। नदी की धारा देखने से स्वच्छता, द्रुत गति, चपलता, उल्लास आदि की स्वभावतः भावना होती है, अतः प्रभाव भी वैसा ही रम्य है जैसा भोली भाली स्वच्छ-हृदय प्रफुल्ल और चंचल बालिका को देखने से पड़ता है। अतः कह सकते हैं कि यह रूपक समीचीन और रम्य है। बाल्यावस्था या कोई अवस्था हो उस की दो सीमाएं होती हैं—एक सीमा के पार व्यतीत अवस्था होती है दूसरी के पार आने वाली अवस्था। अतः 'दो कूलों' भी बहुत ठीक है। तरंग नदी की सीमा के भीतर ही उछलती है, बालिका भी बाल्यावस्था के बीच स्वच्छन्द क्रीड़ा करती है। अतः 'तरंग सी' उपमा भी अच्छी है। असीम अर्थात ब्रह्म अनन्त-आनन्द-स्वरूप है और उस बालिका में भी अपरिमित आनन्द का आभास मिलता हैं अतः यह कहना ठीक ही है कि मानो उस ससीम बाल्य जीवन के भीतर असीम आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ही आ बैठा है। इसलिए यह प्रतीयमान उत्प्रेक्षा भी अनूठी है क्यों कि इसके भीतर 'अधिक' अलंकार के वैचित्र्य की भी झलक है।"

शुक्ल जी के वक्तव्य का सारांश इस प्रकार है :—

(१) प्रत्येक काव्य-उक्ति में एक प्रस्तुत अर्थ वर्तमान रहता है—यह प्रस्तुत अर्थ ही अलंकार्य है। यह अलंकार्य प्रस्तुत अर्थ भाव रूप होता है या (रमणीय) तथ्य रूप।

(२) प्रत्येक अलंकार (अर्थालंकार) के पीछे भी एक प्रस्तुत अर्थ रहता है—उसी के द्वारा अलंकार में सन्निहित अप्रस्तुत-विधान के औचित्यानौचित्य का वर्णन हो सकता है।

(३) अतएव अलंकार्य और अलंकार में अनिवार्य भेद है जो मिट नहीं सकता।

विवेचन

अलंकार्य-अलंकार-भेद आधुनिक समालोचनाशास्त्र का अत्यन्त रोचक प्रसंग है। एक उदाहरण लेकर उस के पक्ष-विपक्ष की आलोचना करना अधिक समीचीन होगा।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग। (श्रद्धा, कामायनी)

संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार, प्रस्तुत उद्धरण में, 'कोमल नील परिधान में श्रद्धा का सुकुमार अधखुला अङ्ग अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता था' यह तो है प्रस्तुत अर्थ अथवा वस्तु; मनु के हृदय में उद्बुद्ध उसके प्रति आकर्षण अथवा अनुराग है भाव (रस); और 'मानो मेघों के वन में बिजली का गुलाबी फूल खिला हो' यह अप्रस्तुत-विधान है उत्प्रेक्षा अलङ्कार। यहां उत्प्रेक्षा अलङ्कार वस्तु के चित्रण (प्रस्तुत अर्थ) को रमणीय बनाता हुआ, भाव का भी उत्कर्ष करता है। प्रस्तुत अर्थ 'नील परिधान में श्रद्धा का अंग अत्यन्त सुन्दर लगता है' तथ्य-कथन मात्र है, उससे सहृदय के मन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए अप्रस्तुत-विधान की आवश्यकता पड़ी। श्रद्धा का रक्तिम-गौर अंग प्रस्तुत है और बिजली का फूल अप्रस्तुत, उधर रुएँदार नीली ऊन का परिधान प्रस्तुत है और मेघ-वन अप्रस्तुत—इसके आगे फिर नील परिधान से झलकता हुआ रक्तिम-गौर अंग संयुक्त रूप में प्रस्तुत है और मेघवन में हँसता हुआ विद्युत्पुष्प अप्रस्तुत। यह अप्रस्तुत-विधान श्रद्धा के रूप को निश्चय ही प्रभावक बना देता है क्यों कि सहृदय की कल्पना को उत्तेजित करता हुआ यह उस के चित्त को उद्दीप्त कर देता है जिस से उस के उद्बुद्ध रति भाव के 'भाव' अथवा 'रस' रूप में आस्वाद्य होने में सहायता मिलती है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में वस्तु, रस (भाव) और अलंकार की सत्ता पृथक मानी गयी है—इन तीनों में घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु उनकी अपनी-अपनी सत्ता भी है। यूरोप का प्राचीन काव्यशास्त्र भी इस पार्थक्य को स्वीकार करता है—अरस्तू से लेकर आर्नल्ड तक यह मान्यता प्रायः अक्षुण्ण रही है।

क्रोचे को यह विश्लेषण सर्वथा अमान्य है। उनके अनुसार उपर्युक्त उक्ति अपने छन्दोबद्ध रूप में ही अखण्ड है; वस्तु, भाव और अलंकार की पृथक खण्ड-कल्पना अनर्गल है। इसी प्रकार प्रस्तुत और अप्रस्तुत का भेद भी सर्वथा मिथ्या है—जिसे प्रस्तुत अर्थ कहा गया है वह भिन्न अर्थ है, उक्ति का समग्र अर्थ ही प्रस्तुत अर्थ है। 'नील परिधान में श्रद्धा का अंग अत्यन्त सुन्दर लगता है' यह एक बात हुई, और, 'नील परिधान में श्रद्धा का अंग ऐसा लगता है जैसे मेघ-वन में बिजली का फूल' यह दूसरी बात। इन दोनों उक्तियों में केवल उत्प्रेक्षा अलंकार का ही अन्तर नहीं

है—दोनों की मूल व्यंजना ही भिन्न है। इस प्रकार क्रोचे को वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद भी अमान्य है, उनके अनुसार वे एक ही उक्ति के दो अर्थ न होकर दो पृथक उक्तियां हैं। प्रत्येक उक्ति का वाच्यार्थ ही उस का एक मात्र अर्थ है—एक उक्ति का एक ही अर्थ, एक ही व्यंजना हो सकती है। उस विशेष परिस्थिति में गान्धार-कन्या श्रद्धा के प्रति अपने कवि-निबद्ध पात्र मनु की प्रतिक्रिया की सहजानुभूति प्रसाद को एक ही रूप में हो सकती थी, अतएव उसकी अभिव्यक्ति भी एक ही रूप में सम्भव थी। वह सहजानुभूति अखण्ड थी, अतः उसकी अभिव्यक्ति भी अखण्ड ही होनी चाहिए।

इन दोनों में कौन-सा मत मान्य होना चाहिए ? वास्तव में अलंकार-अलंकार्य के भेदाभेद का प्रश्न प्रत्यक्ष रूप से वाणी और अर्थ के भेदाभेद के साथ सम्बद्ध है। भारतीय चिन्ताधारा के लिए यह कोई नया प्रश्न भी नहीं है। संस्कृत के व्याकरण-शास्त्र में निश्चय ही वाणी और अर्थ के अभेद, उक्ति की अखण्डता, प्रत्येक शब्द की एकार्थता आदि का स्पष्ट विवचन मिलता है;

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णोष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

[(वैयाकरणभूषणसार) का० ६८]

एकः शब्दः सकृदेकमेवार्थं गमयते।

(परिभाषेन्दुशेखर)

यह प्रश्न यहीं नहीं समाप्त हो जाता। इसका मूल दर्शन में है। रूप और तत्व—अथवा इसके भी आगे प्रकृति और ब्रह्म का भेदाभेद भारतीय दर्शन का प्रमुख विवेच्य विषय रहा है और अन्ततोगत्वा भेद और अभेद दोनों ही स्वीकार कर लिये गये हैं। तत्व रूप में तो ब्रह्म की अखण्ड सत्ता है और प्रकृति उसी की अभिन्न अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार अर्थ की भी सत्ता अखण्ड है—शब्द उसका अविभाज्य माध्यम है। परन्तु व्यवहार में दोनों की पार्थक्य-कल्पना अनिवार्य है, अन्यथा चिन्तन-प्रक्रिया ही व्यर्थ हो जाती है। वास्तव में पार्थक्य का बोध अथवा आभास ही अन्त में अपार्थक्य की सिद्धि कराता है, इसलिये तत्व-उपलब्धि के लिए प्राकल्पना के रूप में प्रकृति की पृथक सत्ता माननी ही पड़ती है। यही अर्थ और वाक् के लिए भी मान्य है—और यही फिर आगे चल कर अलंकार्य-अलंकार के लिये भी मानना पड़ेगा। क्रोचे का यह तर्क सर्वथा संगत है कि प्रत्येक प्रतिक्रिया का अपना अस्तित्व होता है जो

अन्य किसी भी प्रतिक्रिया से भिन्न होता है, और यह भी ठीक ही है कि यह प्रतिक्रिया अभिव्यंजना में ही रूप ग्रहण करती है : उसके बिना वह अरूप संवेदन मात्र होती है। परिणामतः प्रत्येक उक्ति भी किसी भी अन्य उक्ति से भिन्न होती है। इस दृष्टि से 'नीले परिधान में श्रद्धा का अंग अत्यन्त सुन्दर लगता है' और 'नीले परिधान में श्रद्धा का अंग ऐसा लगता है मानो मधवन में बिजली का फूल हो' दोनों उक्तियां निश्चय ही भिन्न हैं—इसे कौन अस्वीकार करता है ?

तुम चन्द्रमा-सी सुन्दर हो।
तुम उषा-सी कान्तिमयी हो।
तुम गुलाब-सी प्रसन्न हो।
तुम लता-सी सुकुमार हो।

ये सभी उक्तियां निश्चय ही भिन्न हैं—इन सभी में आलम्बन के सौन्दर्य के विभिन्न पक्षों की व्यंजना है। परन्तु इस अनेकता के मूल में क्या यह एक भावना विद्यमान नहीं है : 'तुम मुझे प्रिय लगती हो।' यदि ऐसा नहीं है तो उपर्युक्त सभी उक्तियां अर्थहीन प्रलाप हैं क्योंकि पहले तो चन्द्रमा, उषा, गुलाब और लता में सौन्दर्य, कान्ति, प्रसन्नता, सौकुमार्य आदि गुणों का आरोप मिथ्या हो सकता है, और दूसरे कोई स्त्री न चन्द्रमा के समान सुन्दर हो सकती है, न उषा के समान कान्तिमयी, त गुलाब के समान प्रसन्न और न लता के सदृश सुकुमार। उपर्युक्त उक्तियों की सार्थकता का एकमात्र आधार यही भाव है कि 'तुम मुझे प्रिय लगती हो'। यही उनका व्यंग्यार्थ है। यही शुक्ल जी के शब्दों में प्रस्तुत अर्थ है, इसी को व्यक्त करने के लिए अनेक प्रकार का अप्रस्तुत-विधान किया गया है जिसका काव्यशास्त्र ने विवेचन की सुविधा के लिए नामकरण कर दिया है।—ये नाम निरक्षेप नहीं हैं परन्तु स्वरूप-बोध के लिए उनकी अपनी उपयोगिता है, उसी सीमा तक मूल रूप में असत्यभूत होने पर भी, व्यवहार में वे मान्य हैं। अनेकता की धारणा के बिना एकता, या भेद के बिना अभेद की कल्पना कैसे सम्भव है ? अभेद को हृद्गत करने के लिए भेद का ज्ञान अनिवार्य है। भारतीय दर्शन और उस पर आधृत भारतीय अलंकार-शास्त्र इस सत्य से अवगत रहा है, इसीलिए मूलतः अभेद का विश्वासी होने पर भी उसने व्यवहारतः भेदाभेद की सापेक्षता को निस्संकोच रूप से स्वीकार किया है। काव्य को इसी लिए अर्धनारीश्वर का रूप माना गया है जिसमें वाक् और अर्थ शंभु और शिवा के समान संपृक्त हैं :

१—वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। (कालिदास)

२—अर्थः शम्भुः शिवा वाणी (लिंगपुराण)

३—रुद्रोऽर्थोऽक्षरस्सोमा ।

दोनों तत्वतः एक हैं, किन्तु प्रत्यक्षतः दो हैं ही। व्यवहार रूप में इस भेद को अनर्गल कह कर उड़ा देने से समस्त शास्त्र-विवेचन ही व्यर्थ हो जाता है, अलंकारशास्त्र ही नहीं, दर्शनशास्त्र का भी अस्तित्व नहीं रह जाता। फिर क्रोचे का सौन्दर्यशास्त्र और उस में स्वीकृत मानव-चेतना के धारणा तथा सहजानुभूति-मूलक भेद-प्रभेद सभी निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं : एक अखण्ड सत्य की सत्ता शेष रह जाती है जिसकी सहजानुभूति मात्र सम्भव है विवेचन-विश्लेषण नहीं। इसी कारण से अन्त में क्रोचे को यह स्वीकार करना पड़ा : 'स्वयं हम ने ही इस निबन्ध में कई बार इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया है, और आगे भी प्रयोग करने का विचार है जिस से कि हम अपने द्वारा प्रयुक्त, अथवा (विवेच्य प्रसंग में) अन्य द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अर्थ स्पष्ट कर सकें। किन्तु यह विज्ञान और दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी विवेचन के लिए तो उपयुक्त है, कला के विवेचन में इसका कोई मूल्य नहीं है + + + + (क्योंकि) कला में तो उपयुक्त शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों का प्रश्न ही नहीं है : वह सहजानुभूति[1] है, धारणा[2] नहीं।'' (क्रोचे—ऐस्थेटिक)

बस यहीं समस्या हल हो जाती है। जहां तक कला की अनुभूति या सहजानुभूति का प्रश्न है, कोई भी उसकी अखण्डता में सन्देह नहीं करता : वह अखण्ड है, वस्तु-तत्व और रूप-आकार अथवा अलंकार तथा अलंकार्य की पृथक सत्ता उस में नहीं है। परन्तु वह तो कला की सहजानुभूति है जिसे हमारे शास्त्र में (सहृदय की दृष्टि से) आस्वाद कहा गया है। और, आस्वाद की अखण्डता की इतनी प्रबल घोषणा भारतीय काव्यशास्त्र के अतिरिक्त अन्यत्र कहां मिलेगी ?—उस ने तो आस्वाद को अखण्ड, स्वप्रकाश, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य और अन्त में अनिर्वचनीयता के कारण ब्रह्मास्वादसहोदर कह दिया है। फिर भी यह कला की आलोचना तो नहीं है : कला की आलोचना सहजानुभूति अथवा आस्वाद रूप न हो कर धारणा रूप ही होती है। स्पष्ट शब्दों में (सहृदय द्वारा) कला की सहजानुभूति तो कला का आस्वाद है, कला की आलोचना इस सहजानुभूति की धारणा (विवेचना) का ही नाम है। अपने अखण्ड रूप में सहजानुभूति अविवेच्य है—अनिर्वचनीय है, धारणाओं में खण्डित होकर ही

---

१. इन्ट्यूशन २. कन्सैप्ट

वह विवेच्य हो सकती है : यही उसकी अलोचना है। शुक्लजी की विवेक-परिपुष्ट अलोचना दृष्टि ने क्रोचे को यहीं पकड़ लिया है : "रस अलंकार आदि के नाना भेद-निरूपण क्रोचे के अनुसार कला के निरूपण में योग न देकर तर्क या शास्त्र पक्ष में सहायक होते हैं। उन सबका मूल्य केवल वैज्ञानिक समीक्षा में है, कला-निरूपणी समीक्षा में नहीं। इस सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य यह है कि वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कला-निरूपणी समीक्षा है। उसी का नाम समीक्षा है।" (चिंतामणि भाग २ पृष्ठ १६१)

उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर आप देखें कि कुंतक का मन्तव्य कितना शुद्ध है। इस क्रान्तदर्शी आचार्य ने आजसे एक सहस्र वर्ष पूर्व ही मानों क्रोचे की युगान्तरकारी स्थापना की प्राकल्पना कर उसका समाधान भी प्रस्तुत कर दिया था।

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते
तदुपायतया तत्वं सालंकारस्य काव्यता ॥ १-६

वक्रोक्ति-सिद्धान्त और स्वभावोक्ति

संस्कृत अलंकारशास्त्र में स्वभावोक्ति की स्थिति भी विचित्र है। वह काव्य है अथवा अकाव्य ? और, यदि काव्य है तो वह अलंकार है अथवा अलंकार्य ? आदि अनेक तर्क-वितर्क इस प्रसंग में उठते हैं। कुन्तक ने अपनी स्थापना को पुष्ट करने के लिए प्रथम उन्मेष की ११ से १४ वीं कारिकाओं में प्रस्तुत प्रसंग का अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है :—

"जिन (दंडी सदृश) आलंकारिक आचार्यों के मत में स्वभावोक्ति अलंकार है उनके मत में अलंकार्य क्या रह जाता है ?

जिन आलंकारिकों का मत यह है कि स्वभावोक्ति भी अलंकार है—अर्थात् जिनके मत में स्वभाव अथवा पदार्थ के धर्मभूत लक्षण की उक्ति या कथन ही अलंकार है, वे सुकुमारबुद्धि होने से विवेक का कष्ट नहीं उठाना चाहते। क्योंकि स्वभावोक्ति का क्या अर्थ है। स्वभाव ही उच्यमान अर्थात् उक्ति का विषय—वर्ण्य विषय है। यदि वही अलंकार है तो फिर उससे भिन्न काव्य की शरीर-स्थानीय कौनसी वस्तु है जो उनके मत में अलंकार्य अथवा विभूष्य रूप से स्थित होकर पृथक सत्ता को प्राप्त

करती है—अर्थात् और कुछ नहीं है।

\+ + + + + +

स्वभाव (कथन) के बिना वस्तु का वर्णन ही सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि उस (स्वभाव) से रहित वस्तु तो निरुपाख्य अर्थात् असत्कल्प हो जाती है। + + + स्वभाव-शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है। जिससे (अर्थ का) कथन और ज्ञान होता है, वह भाव है। और स्व का अर्थात् अपना भाव स्वभाव (स्वरूप) है। इसलिए वह (स्वभाव या स्वरूप) ही सब पदार्थों के ज्ञान और कथन रूप व्यवहार का कारण होता है। उससे रहित वस्तु शशिविषाण सदृश शब्द के लिए अगोचर हो जाती है, अर्थात् उसका शब्द से कथन सम्भव नहीं है क्योंकि स्वभावयुक्त वस्तु ही सर्वथा कथनयोग्य होती है। (और यदि स्वभाव-वर्णन को ही अलंकार माना जाय तो) स्वभावोक्तियुक्त होने से गाड़ीवालों के वाक्यों में सालंकारता अर्थात् काव्यत्व प्राप्त होगा।

इस बात को दूसरी युक्ति से फिर कहते हैं :—

(स्वभाव अर्थात् स्वरूप तो काव्य का शरीर-रूप है) वह शरीर ही यदि अलंकार हो जाय तो वह दूसरे किस को अलंकृत करेगा? कहीं कोई स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता।

\+ + +

स्वभाव को यदि अलंकार मान लिया जाय तो अन्य अलंकारों की रचना होने पर उन दोनों का अर्थात् स्वभावोक्ति तथा उपमादि का भेद-ज्ञान या तो स्पष्ट होता है या अस्पष्ट। स्पष्ट होने पर (दोनों अलंकारों की निरपेक्ष स्थिति होने से) सर्वत्र संसृष्टि अलंकार होगा और अस्पष्ट होने से संकर। इसलिए शुद्ध रूप से (उपमादि) अन्य अलंकारों का विषय (उदाहरण) ही नहीं बचेगा।

\+ + +

अथवा यदि वह संसृष्टि और संकर ही उन (उपमादि अलंकारों) के विषय मान लिए जाँय तो भी कुछ बनता नहीं क्योंकि (स्वभावोक्ति का प्रतिपादन करने वाले) वे ही आलंकारिक इस बात को स्वीकृत नहीं करते। इस प्रकार आकाश-चर्वण के समान (स्वभावोक्ति अलंकार का) मिथ्या वर्णन व्यर्थ है। इसलिए प्रकृत मार्ग

का अनुसरण करना ही उचित है। सब प्रकार से कवि-व्यापार के विषय होने के कारण अवर्णनीयता को प्राप्त होने वाले सभी पदार्थों का सहृदय-आह्लादकारी स्वभाव ही (काव्य में) वर्णनीय होता है। वह ही सब अलंकारों से अलंकृत किया जाता है। (११-१५ कारिका व० जी० प्रथम उन्मेष)।

यही बात प्रथम उन्मेष की नवम औरदशम कारिकाओं में कह चुके हैं :

अन्य पर्याय शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक शब्द ही वस्तुतः (काव्य में) शब्द है, इसी प्रकार सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाला अपने स्वभाव से सुन्दर अर्थ ही वास्तव में अर्थ है। (का०९)

ये दोनों (शब्द और अर्थ) ही अलंकार्य होते हैं। वैदग्ध्यपूर्ण उक्ति रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलंकार है। (का० १०)।"

कुन्तक का मंतव्य सर्वथा निर्भ्रान्ति है। स्वभावोक्ति के निराकरण में उन्होंने अत्यन्त प्रबल तर्क प्रस्तुत किये हैं जिनका सारांश इस प्रकार है :

१. स्वभावोक्ति का अर्थ है स्वभाव का कथन। स्वभाव से अभिप्राय उन मूल विशेषताओं का है जिनके द्वारा किसी पदार्थ का कथन या ज्ञान होता है। अतएव किसी वस्तु का वर्णन निसर्गतः उसके स्वभाव का ही वर्णन है क्योंकि उससे रहित वस्तु तो शब्द के लिए अगोचर हो जाती है। अर्थात् वस्तु-वर्णन मूलतः स्वभाव-वर्णन—स्वभावोक्ति ही है।

२. लोक तथा शास्त्र में सभी वस्तुओं का वर्णन रहता है, किन्तु काव्य में उन्हीं का वर्णन होता है जो स्वभाव से सुन्दर हों—अथवा यह भी कहा जा सकता है कि लोक और शास्त्र में किसी वस्तु के सभी गुणों का वर्णन मिल जाता है, परन्तु काव्य में केवल उन्हीं का वर्णन प्रेय है जो स्वभाव से सुन्दर हों। अतएव सुन्दर स्वभाव काव्य का प्रकृत वर्ण्य विषय है, और वर्ण्य विषय होने से वह अलंकार्य ही है अलंकार नहीं हो सकता।

३. स्वभाव-कथन यदि अलंकार है तो जन-सामान्य के साधारण वाक्य भी अलंकार हो जाएंगे।

४. स्वभाव का वर्णन ही यदि अलंकार मान लिया जाय तो उसका अलंकार्य क्या होगा? यदि यह कहा जाय कि वह स्वयं ही अलंकार्य भी है तो यह असम्भव

है। अलंकार तो शरीर पर धारण किया जाता है, यदि शरीर ही अलंकार है तो शरीर अपने को कैसे धारण कर सकता है ?

५. यदि स्वभावोक्ति अलंकार है तो उपमा आदि सभी अलंकारों में उसकी स्थति माननी पड़ेगी क्योंकि स्वभाव-कथन तो सभी वर्णनों में अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में शुद्ध अलंकार कोई भी नहीं रह जाएगा : स्वभावोक्ति का योग होने से वे या तो संसृष्टि बन जाएंगे या संकर।

उपर्युक्त मन्तव्य कुन्तक की निर्भीक प्रकृति और मौलिक प्रतिभा का प्रमाण है। उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती प्रायः समस्त आलंकारिक आचार्यों ने स्वभावोक्ति की अलंकारता को स्वीकार किया है। संस्कृत के आद्याचार्य भरत हैं—किन्तु भरत ने स्वभावोक्ति का वर्णन न तो 'लक्षणों' के अन्तर्गत अिया है और न अलंकारों के ही अन्तर्गत। उन्होंने ३६ 'लक्षणों' और ४ अलंकारों का विवेचन किया है : उनके 'लक्षण' भी बहुत कुछ अलंकारों के ही समवर्ती हैं और परवर्ती आचार्यों ने अनेक 'लक्षणों' को अलंकार रूप में ग्रहण कर ही लिया है। यों तो 'लक्षणों' के अनेक भेद वर्ण्य विषय से भी सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु उनमें स्वभावोक्ति का कहीं उल्लेख नहीं है—स्वभावोक्ति का समकक्ष भी उनमें कोई नहीं है। वास्तव में स्वभावोक्ति का यथावत् विवेचन सर्वप्रथम भामह के काव्यालंकार में ही मिलता है। परन्तु भामह से पूर्व, स्वभावोक्ति का नामोल्लेख न होने पर भी प्रकारान्तर से उसका वर्णन बाण के हर्षचरित तथा भट्टिकाव्य में उपलब्ध हो जाता है। बाण ने 'जाति' नाम के एक काव्य-उपकरण का उल्लेख किया है : 'नवोऽर्थो जातिरग्राम्या', जो स्वभावोक्ति का ही समतुल्य है और दण्डी आदि ने उसे इसी रूप में ग्रहण भी किया है। डा० राघवन ने प्रस्तुत प्रसंग का दो[१-२] स्थलों पर अत्यन्त प्रमाणिक विवेचन किया है। उनका मन्तव्य है कि 'जाति' के दो अर्थ हो सकते हैं (१) किसी पदार्थ के सहजात रूप का वर्णन (जन् धातु से), (२) (जाति—वर्ग के आधार पर) किसी पदार्थ की जाति-गत विशेषताओं का वर्णन। इनमें से एक या दोनों ही अर्थ कदाचित् बाद में चलकर अलंकार रूप में रूढ़ हो गये हैं। भट्टिकाव्य में प्रस्तुत अर्थ में 'वार्ता' का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार भामह से पूर्व स्वभावोक्ति का वर्णन जाति और वार्ता रूप में हुआ है।

भ मह ने जाति का प्रयोग नहीं किया और वार्ता को अकाव्य माना है।

१—'भोज्स शृंगार प्रकाश : भोज एंड स्वभावोक्ति। २—सम कन्सेप्ट्स ऑफ़ अलंकारशास्त्र : दि हिस्टरी ऑफ़ स्वभावोक्ति इन संस्कृत पोयटिक्स।

उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वभावोक्ति का उल्लेख किया है :

स्वभावोक्तिरलंकारः इति केचित्प्रचक्षते ।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा ॥
(भामह २।९३)

अर्थात् कुछ आलंकारिकों ने स्वभावोक्ति नामक अलंकार का वर्णन किया है। अर्थ का यथावत् कथन स्वभाव कहलाता है।—भामह के स्वभावोक्ति-विवेचन के विषय में विद्वानों में मतभेद है। भामह ने इतने आग्रह के साथ वक्रोक्ति को अलंकार का प्राण-तत्व माना है कि सामान्यतः उनके विधान में स्वभावोक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। इसीलिए संकरन आदि का मत है कि भामह स्वयं स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते—स्वभावोक्ति अलंकार है यह किसी-किसी का मत है 'केचित्प्रचक्षते', भामह का अपना मत नहीं है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है : जैसा कि डा० राघवन का कथन है 'केचित्प्रचक्षते' से भामह की अस्वीकृति अथवा उदासीनता व्यक्त नहीं होती, यह वर्णन-परम्परा का द्योतक सामान्य वाक्य मात्र है। जहां भामह को किसी अलंकार का निराकरण करना होता है, वहां वे अत्यन्त स्पष्ट कथन करते हैं और फिर लक्षण देने की आवश्यकता नहीं समझते। उपर्युक्त उद्धरण में भामह ने स्वभाव का लक्षण देकर अपनी स्वीकृति निश्चित रूप से दे दी है। अब प्रश्न यह है 'स्वभावोक्तिरलंकारः' और 'कोऽलंकारोऽनया (वक्रोक्त्या) विना' में किस प्रकार सामंजस्य हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में कोई विरोध नहीं है। वक्र का अर्थ स्वभाव से भिन्न अथवा अस्वाभाविक नहीं है। वक्र का अर्थ है साधारण से भिन्न अर्थात् विशिष्ट और स्वभावोक्ति में भी निश्चय ही विशिष्टता का सद्भाव रहता है। स्वभावोक्ति में किसी वस्तु के उन मूलगुणों का वर्णन होता है जो स्वभाव से सुन्दर हों—सभी सामान्य गुणों का यथावत् वर्णन स्वभावोक्ति न होकर वार्ता मात्र होता है। स्वभावोक्ति में कवि रमणीय के ग्रहण तथा अरमणीय के त्याग में अपनी प्रतिभा अथवा कल्पना का उपयोग करता है। इस दृष्टि से उसमें वक्रता या विशिष्टता की मात्रा निश्चय ही वर्तमान रहती है और इसीलिए वह अलंकार है।

भामह के उपरान्त दण्डी ने स्वभावोक्ति का विस्तार के साथ विवेचन किया है। उन्होंने जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया के आधार पर स्वभावोक्ति के चार भेद

किये हैं। उनके अनुसार स्वभावोक्ति जाति की पर्याय है और उसकी परिभाषा इस प्रकार है :

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षात् विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥ २।८

अर्थात् विभिन्न अवस्थाओं में पदार्थ के स्वरूप का साक्षात् वर्णन करता हुआ प्राथमिक अलंकार स्वभावोक्ति या जाति कहलाता है। यहाँ साक्षात् के अर्थ के विषय में मतभेद है : तरुणवाचस्पति ने साक्षात् का अर्थ किया है प्रत्यक्षमिव दर्शयन्ती अर्थात् प्रत्यक्ष-सा दिखाती हुई, हृदयंगमा टीका में साक्षात् का अर्थ किया गया है अव्याजेन—प्रकृत रूप में। इन दोनों में प्रसंगानुसार दूसरा अर्थ ही अधिक संगत प्रतीत होता है क्योंकि एक तो उदाहरणों में सजीवता की अपेक्षा अव्याजता ही अधिक है, दूसरे दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से पृथक माना है :

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् । २।३६१

तीसरे उन्होंने स्वभावोक्ति को आदि अर्थात् प्रारम्भिक अलंकार मानते हुए उसका साम्राज्य मूलतः शास्त्र में ही माना है। इस दृष्टि से दण्डी के अनुसार स्वभावोक्ति में पदार्थों के अपने गुणों का प्रकृत वर्णन रहता है : उनका यह अनारोपित प्रकृत रूप-वर्णन ही अपने आप में आकर्षक होने के कारण स्वभावोक्ति-अलंकार-पदवी का अधिकारी और काव्य के लिए भी वांछनीय हो जाता है 'काव्येष्वप्येतदीप्सितम्।'

उद्भट ने स्वभावोक्ति का क्षेत्र सीमित कर दिया है—उनके मत में क्रिया में प्रवृत्त मृगशावकादि की लीलाओं का वर्णन ही स्वभावोक्ति है :

क्रियायां संप्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम् ।
कस्यचित् मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता ॥ ३।८९

यहाँ वास्तव में 'मृगशावकादि की लीला' का प्रयोग सांकेतिक रूप से प्राकृतिक व्यापार के व्यापक अर्थ में ही किया गया है; फिर भी स्वभावोक्ति की परिधि संकुचित तो हो ही जाती है क्योंकि उससे मानव-व्यापार का सर्वथा बहिष्कार भी समीचीन नहीं माना जा सकता। रुद्रट ने, इसके विपरीत, स्वभावोक्ति के क्षेत्र का सम्यक् विस्तार कर दिया है, उन्होंने अर्थालंकारों के चार वर्ग किये हैं—वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष। इनमें स्वभावोक्ति अथवा जाति 'वास्तव' वर्ग का प्रमुख अलंकार

है—इस प्रकार से रुद्रट ने जाति को 'वास्तव' का ही सहव्यापी बना दिया है। 'वास्तव' में वस्तु के स्वरूप का कथन होता है—यह स्वरूप-कथन पुष्टार्थ (रमणीयार्थ) तो होता है, परन्तु वैपरीत्य, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष आदि के चमत्कार पर निर्भर नहीं रहता।

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तु-स्वरूपकथनं यत।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपमनतिशयम् अश्लेषम् ॥ ८।१०

रुद्रट की यह परिभाषा पदार्थ के वस्तुगत सौन्दर्य की अत्यन्त स्पष्ट व्याख्या है। वस्तुगत सौन्दर्य का भी अर्थ यही है कि यथासम्भव वस्तु का सहजात रूप ही प्रस्तुत किया जाय, भावना-कल्पना के द्वारा उस पर बाह्य गुणों का आरोप न किया जाय। विरोध-मूलक, औपम्य अर्थात् सादृश्य-साधर्म्य-मूलक, अतिशय-मूलक तथा श्लेष-मूलक समग्र अप्रस्तुत-विधान कल्पना का चमत्कार है। इस कल्पनात्मक अप्रस्तुत-विधान के बिना पदार्थ के प्रस्तुत रमणीय गुणों का चित्रण ही वस्तुगत सौन्दर्य का चित्रण है—वही रुद्रट के मत में 'वास्तव' है। इस प्रकार रुद्रट के अनुसार स्वभावोक्ति का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है: किसी प्रकार के अप्रस्तुत गुणों के आरोप के बिना पदार्थ का प्रस्तुत पुष्ट अर्थात् रमणीय रूप अंकित करना ही स्वभाव-कथन या स्वभावोक्ति है। यह पुष्ट अर्थ क्या है, इसका संकेत रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु की व्याख्या में मिल जाता है। 'जाति' का निरूपण करते हुए नमिसाधु कहते हैं: जातिस्तु अनुभवं जनयति। यत्र परस्थं स्वरूपं वर्ण्यमानमेव अनुभवमिवैतीतिस्थितम्। अर्थात् जाति में वस्तु-स्वरूप का ऐसा सजीव वर्णन रहता है कि वह श्रोता के मन में अनुभव-सा उत्पन्न कर देता है।—जो रूप अनुभव में परिणत हो जाता है वही रमणीय है, वही पुष्टार्थ है। वस्तुगत सौन्दर्य और भावगत सौन्दर्य में यही भेद है कि एक दृष्टि का विषय अधिक होता है, दूसरा भावना का। स्वभावोक्ति या जाति वस्तु के दर्शनीय स्वरूप का यथावत् श्रोता अथवा पाठक के मन में संचार कर प्रायः वही अनुभव उत्पन्न कर देती है जो उसके साक्षात् दर्शन से होता है। स्वरूप की यह अनुभव-रूपता ही उसकी रमणीयता या पुष्टार्थता है।

रुद्रट के उपरान्त भोज ने अपनी प्रकृति के अनुसार स्वभावोक्ति-सम्बन्धी प्रचलित मतों का समन्वयात्मक विवेचन किया है। उन्होंने अलंकार रूप में जाति नाम ही ग्रहण किया है और उसकी व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा की है:

नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः
स्वेभ्यः स्वेभ्यः निसर्गेभ्यः तानि जातिं प्रचक्षते ॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण ३।४५)

अर्थात् जाति के अन्तर्गत वस्तु के ऐसे रूपों का वर्णन आता है जो अपने स्वभाव से ही भिन्न भिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार भोज ने 'जाति' का 'जायन्ते' के साथ सम्बन्ध घटा कर वस्तु के जायमान रूपों का वर्णन ही स्वभावोक्ति के अन्तर्गत माना है। इसी आधार पर अर्थव्यक्ति गुण से उसका भेद करते हुए उन्होंने लिखा है कि अर्थव्यक्ति और जाति में यह भेद है कि उसमें सार्वकालिक रूपों का वर्णन रहता है, इसमें जायमान अर्थात् आगन्तुक रूपों का। जैसा कि डा० राघवन आदि प्रायः सभी विद्वानों का मत है, भोज का यह भेद निरर्थक है और इसी प्रकार स्वभावोक्ति को पदार्थ के जायमान रूपों तक सीमित करने का प्रयत्न भी व्यर्थ है। इसकी अपेक्षा भोज की एक अन्य उद्‌भावना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। दण्डी के आधार पर, किन्तु उनके मत का संशोधन करते हुए, भोज ने वाङ्मय का तीन रूपों में विभाजन किया है : वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।

इनमें अलंकार-प्रधान साहित्य वक्रोक्ति के अन्तर्गत आता है, रस-भावादि-प्रधान रसोक्ति के अन्तर्गत, और गुण-प्रधान साहित्य स्वभावोक्ति के अन्तर्गत। (देखिए शृंगारप्रकाश भाग २, अध्याय ११)। भोज ने समन्वय के अनावश्यक उत्साह के कारण स्वभावोक्ति को गुण-प्रधान मान लिया है क्योंकि वे अलंकार, रस और रीति सम्प्रदायों का समंजन करना चाहते थे। परन्तु स्पष्टतया यह मत अधिक तर्कपुष्ट नहीं है। इसकी उपेक्षा कर देने पर भोज का उपर्युक्त विभाजन आधुनिक आलोचनाशास्त्र की कसौटी पर भी खरा उतरता है। काव्य के तीन प्रमुख तत्व हैं—सत्य, भाव और कल्पना। साहित्य के विभिन्न रूपों में इनका महत्व भिन्न अनुपात में रहता है। इनमें सत्य का अर्थ है सहज रूप, कहीं जीवन और जगत के सहज या प्रस्तुत रूप का चित्रण प्रधान होता है—इसी को भोज ने स्वभावोक्ति कहा है। कहीं भाव का प्राधान्य होता है—वहीं भोज के शब्दों में रसोक्ति होगी, और कहीं कल्पना का प्राधान्य रहता है अर्थात् प्रस्तुत की अपेक्षा कवि अप्रस्तुत-विधान की सृष्टि में अधिक रुचि लेता है—ऐसा काव्य अलंकृत होता है और दण्डी या भोज के शब्दों में वक्रोक्ति के अन्तर्गत आता है। एक अन्य दृष्टि से भी भोज का यह विभाजन आधुनिक आलोचनाशास्त्र के अनुकूल

पड़ता है। सौन्दर्य के दो व्यापक रूप हैं : (१) वस्तुपरक और (२) व्यक्तिपरक। इनमें से वस्तुगत सौन्दर्य भोज की स्वभावोक्ति का ही पर्याय है। व्यक्तिपरक सौन्दर्य भावना या कल्पना की प्रसूति है और इस दृष्टि से उसके दो रूप ही सकते हैं—एक वह जो मन के माधुर्य का प्रक्षेपण हो और दूसरा वह जो कल्पना का विलास हो। इनमें से पहला रसोक्ति है, दूसरा वक्रोक्ति।

भोज के समसामयिक कुन्तक ने यह सब स्वीकार न करते हुए स्वभावोक्ति की अलंकारता का निषेध किया। परन्तु महिमभट्ट ने उनके आह्वान का उचित उत्तर दिया : महिमभट्ट और उनके अनुयायी हेमचन्द्र तथा माणिक्यचन्द्र के तर्क का सारांश इस प्रकार है।—स्वभाव मात्र का वर्णन स्वभावोक्ति नहीं है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु वस्तु के दो रूप होते हैं : एक सामान्य रूप दूसरा विशिष्ट रूप। सामान्यरूप का ग्रहण सभी जनसाधारण कर सकते हैं, किन्तु विशिष्ट रूप का साक्षात्कार केवल प्रतिभावान् ही कर पाते हैं। अतएव सामान्य स्वभाव का वर्णन मात्र अलंकार नहीं है। इस सामान्य लौकिक अर्थ को अधिक से अधिक अलंकार्य कहा जा सकता है : कवि-प्रतिभा ही इसे अपने संसर्ग से चमका देती है, अन्यथा अपने सहज रूप में तो यह अपुष्ट अर्थ-दोष है। इसके विपरीत विशिष्ट स्वभाव लोकोत्तर-प्रतिभा-गोचर है : जिसमें केवल रमणीय वाच्य का वाचन होता है, अवाच्य का वाचन नहीं। कवि का प्रातिभ नयन ही उसका उद्घाटन कर सकता है। यह विशष्ट-स्वभाव-वर्णन ही स्वभावोक्ति अलंकार है। महिमभट्ट तथा उनके अनुयायी आचार्यों की धारणा है कि कुन्तक ने सामान्य और विशेष के इस भेद को न समझ कर स्वभावोक्ति का वास्तविक स्वरूप नहीं पहचाना है।*

---

*देखिए डा० राघवन का लेख : हिस्टरी ऑफ़ स्वभावोक्ति।

न हि स्वभावमात्रोक्तौ विशेषः कश्चनानयोः।
उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमस्य सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः।
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः
अत एवाभिधेयं ते ध्यामलं बोधयन्त्यलम्॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवम्।

व्यक्तिविवेक २।११३-१६

(अगले पृष्ठ पर)

स्वभावोक्ति के पक्ष में महिम भट्ट से अधिक प्रबल तर्क और कोई नहीं दे सका—परवर्ती आचार्यों ने इस प्रसंग में कोई नवीन योगदान नहीं किया उन्होंने या तो इन्हीं के शब्दों में थोड़ा-बहुत फेर-बदल कर संतोष कर लिया या स्वभावोक्ति को छोड़ ही दिया। मम्मट ने उद्भट के मृगडिम्भ के स्थान पर केवल डिम्भ का और हेवाक (लीला) के स्थान पर स्वक्रियारूप (रूप=वर्ण, संस्थान आदि) का प्रयोग किया और इस प्रकार उद्भट के लक्षण की अव्याप्ति का निराकरण कर दिया। मम्मट के मत में डिम्भादि की अपनी अपनी क्रिया तथा रूप अर्थात् वर्ण एवं संस्थान का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है : 'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।' इस परिभाषा के अनुसार प्राकृतिक जगत के अतिरिक्त मानव जगत के भी एकाश्रय व्यापार का वर्णन स्वभावोक्ति के अन्तर्गत आता है। यहां मम्मट का एकाश्रय शब्द (स्वयोस्तदेकाश्रयोः) अत्यंत मार्मिक है। इसका अर्थ यह है कि मानव जीवन के अंतर्गत शिशु आदि के स्वनिष्ठ व्यापार ही स्वभावोक्ति के अन्तर्गत आते हैं। जहां वे अन्य के आलम्बन या आश्रय बन जाते हैं वहां स्वभावोक्ति न होकर रसोक्ति हो जाती है। यहां मम्मट ने वस्तुपरक सौन्दर्य और व्यक्तिपरक सौन्दर्य के अन्तर की ओर अत्यन्त मार्मिक संकेत किया है।

मम्मट के उपरान्त रुद्रट ने महिमभट्ट-प्रतिपादित विशिष्ट स्वभाव के स्थान पर सूक्ष्म स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति के लिए अभीष्ट माना—विद्यानाथ ने वर्णन के लिए चारु विशेषण का प्रयोग किया और स्वभाव के लिए उच्चैस् का। अर्थात् उनके अनुसार उच्चैस्स्वभाव का वर्णन या चारु यथावत् वस्तु-वर्णन ही स्वभावोक्ति है। रसवादी विश्वनाथ भी परम्परा की उपेक्षा नहीं कर सके, और उनको भी स्वभावोक्ति की सत्ता को स्वीकार करना पड़ा। उनकी परिभाषा पर मम्मट की गहरी छाप है :

स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्।
दुरूहयोः कविमात्रवेद्ययोरर्थस्य डिम्भादेः स्वयोस्तदेकाश्रयोश्चेष्टास्वरूपयोः।
(सा० द० १०।९२)

वस्तुमात्रानुवादस्तु पूरणैकफलो मतः
अर्थदोषस्स दोषज्ञैरपुष्ट इति गीयते ॥ (व्यक्ति वि०)

वस्तुनो हि सामान्यस्वभावो लौकिकोऽर्थोऽलंकार्यः। कविप्रतिभासंरम्भविशेष-विषयस्तु लोकोत्तरार्थोऽलंकरणमिति।

(हेमचन्द्र काव्यानुशासन पृ० २७५

अर्थात् कविमात्र द्वारा ज्ञातव्य बालक आदि की एकाश्रय चेष्टा तथा स्वरूप का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है।

उपर्युक्त परिभाषा में 'डिम्भादेः' 'एकाश्रय' 'क्रियारूप' ये तीन तत्व तो यथावत् मम्मट की परिभाषा से उद्धृत हैं। केवल 'दुरूह' शब्द का दुरूह प्रयोग विश्वनाथ का अपना है—यद्यपि मूल विचार यहां भी उनका अपना नहीं है। दुरूह का अर्थ विश्वनाथ के अनुसार है कविमात्रवेद्य जिसका कथन महिमभट्ट तथा उनके अनुयायी हेमचन्द्र-माणिक्यचन्द्र प्रतिभोद्भव, कविप्रतिभासंरम्भ, कविप्रतिभागोचर आदि अपेक्षाकृत अधिक व्यंजक शब्दों से कर चुके थे। इस प्रकार विश्वनाथ ने महिमभट्ट तथा मम्मट की परिभाषाओं के समन्वय से स्वभावोक्ति की परिभाषा को अधिक पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। पंडितराज जगन्नाथ ने स्वभावोक्ति को छोड़ ही दिया है।

निष्कर्ष

-स्वभावक्ति के पोषक मन्तव्यों का सारांश यह है :—

(१) स्वभाव-मात्र का वर्णन स्वभावोक्ति नहीं है। स्वभाव के भी दो रूप हैं : सामान्य और विशिष्ट। सामान्य के अन्तर्गत जातिगत रूप, गुण आदि आते हैं जिनका ग्रहण अथवा वर्णन सभी जनसाधारण कर सकते हैं। यह लौकिक है—अप्रतिभोद्भव है। विशिष्ट रूप लोकोत्तर है—अपने प्रकृत रूप में रोचक है, प्रतिभा-गोचर है अर्थात् उसका उद्घाटन प्रतिभा अथवा कवि-कल्पना के द्वारा ही सम्भव है। स्वभावोक्ति अलंकार में स्वभाव के इसी विशिष्ट रूप का वर्णन रहता है, सामान्य रूप का नहीं। अतएव वह प्रतिभाजन्य है, सुन्दर है : उसमें बाह्य रूपों के आरोपण के लिए नहीं वरन् प्रकृत सौन्दर्य के उद्घाटन के निमित्त कवि-कल्पना का सन्निवेश होता है। इसीलिए वह शोभाकारक अलंकार है।

(२) स्वभावोक्ति में मानव और प्राकृत जगत का वस्तुगत सौन्दर्य-चित्रण होता है। अपने रंग में रँगने वाली भावना और बाह्य रूपों का आरोपण करने वाली कल्पना का असम्पर्क उसे क्रमशः रसोक्ति तथा वक्रोक्ति से पृथक करता है।

(३) किन्तु स्वभावोक्ति का वक्रोक्ति से विरोध नहीं है—क्योंकि वक्र का अर्थ स्वभावेतर अथवा अस्वाभाविक न होकर केवल असामान्य अथवा विशिष्ट ही है।

यह असामान्यता या विशिष्टता ही चमत्कार है जिसका सद्भाव स्वभावोक्ति में भी निश्चय ही रहता है।

इस प्रकार सब मिलाकर संस्कृत आचार्यों का बहुमत कुन्तक के विरुद्ध ही रहा। मम्मट जैसे ध्वनिवादी और विश्वनाथ जैसे प्रबल रसवादी आचार्यों ने भी उसकी सत्ता स्वीकार की। हिन्दी आलंकारिकों ने भी इसी परिपाटी का यथावत् अनुकरण किया। उन्होंने कुन्तक के आक्षेप को बिना किसी प्रत्युक्ति के यों ही उड़ा दिया। "वक्रोक्तिजीवितकार राजानक कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना है···। किन्तु यह वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व मानने वाले राजानक कुन्तक का दुराग्रह मात्र है। प्राकृतिक दृश्यों के स्वाभाविक वर्णन वस्तुतः चमत्कारक और अत्यन्त मनोहारी होते हैं।" (सेठ कन्हैयालाल पोद्दार—का० क० अलंकार-मंजरी, पृ० ३६६-७०) सेठजी के उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि हिन्दी के रीतिकार कुन्तक के आशय की थाह नहीं पा सके हैं। किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र का पुनरालोचन करते हुए शुक्लजी की दृष्टि इस प्रसंग पर भी पड़ी और उन्होंने इसे विवेक की कसौटी पर कस कर कुन्तक के पक्ष में निर्णय दिया।

आचार्य शुक्ल का मत

+ + + वर्ण्य वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक दूसरे से अलग कर दी गई हैं। प्रस्तुत-अप्रस्तुत के भेद ने बहुत-सी बातों के विचार और निर्णय के सीधे रास्ते खोल दिये हैं। अब यह स्पष्ट हो गया है कि अलंकार प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु नहीं, बल्कि वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के ख़ास-ख़ास ढंग हैं। पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलंकार ऐसे चले आ रहे हैं जो वर्ण्य वस्तु का निर्देश करते हैं और अलंकार नहीं कहे जा सकते—जैसे, स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति। स्वभावोक्ति को लेकर कुछ अलंकार-प्रेमी कह बैठते हैं कि प्रकृति का वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार ही है। पर स्वभावोक्ति अलंकार-कोटि में आ ही नहीं सकती। अलंकार वर्णन करने की प्रणाली है। + + +

अलंकारों के भीतर स्वभावोक्ति का ठीक-ठीक लक्षण-निरूपण हो भी नहीं सका है। काव्यप्रकाश की कारिका में यह लक्षण दिया गया है—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रिया-रूप-वर्णनम्।

अर्थात् 'जिसमें बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है।' प्रथम तो बालकादिक पद की व्याप्ति कहाँ तक है, यही स्पष्ट नहीं। अतः यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के रूप और व्यापार का वर्णन स्वभावोक्ति है, खैर, बालक की रूप-चेष्टा को लेकर ही स्वभावोक्ति की अलंकारता पर विचार कीजिए। वात्सल्य में बालक के रूप आदि का वर्णन विभाव के अन्तर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत होगा। प्रस्तुत वस्तु की रूप-क्रिया आदि के वर्णन को रस-क्षेत्र से घसीटकर अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नहीं ले जा सकते। मम्मट ही के ढंग के और आचार्यों के लक्षण भी हैं। अलंकार-सर्वस्व-कार रुय्यक कहते हैं—सूक्ष्मवस्तु-स्वभाव-यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः। आचार्य दण्डी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है—

> नानावस्थं पदार्थनां साक्षाद्विवृवण्वती।
> स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकारों के भीतर आ ही नहीं सकती। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने भी इसे अलंकार नहीं माना है।

(चिन्तामणि—१ : कविता क्या है ? पृ० १८३-८४)

संक्षेप में शुक्ल जी के तर्क इस प्रकार हैं :—

१. प्रस्तुत विषय और अप्रस्तुत-विधान अर्थात् वर्ण्य वस्तु तथा वर्णन-प्रणाली में स्पष्ट अन्तर है। स्वभावोक्ति प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु है, अलंकार वर्णन-प्रणाली है—अतएव स्वभावोक्ति अलंकार नहीं हो सकती।

२. स्वभावोक्ति की अलंकारता इसी से असिद्ध है कि उसका कोई निश्चित लक्षण नहीं मिलता। किसी ने उसे स्वक्रिया-रूप-वर्णन कहा है—किसी ने अवस्था-वर्णन और किसी ने उसे सूक्ष्म स्वभाव-वर्णन।

३. मम्मट की परिभाषा में निर्दिष्ट बालक आदि पद का आशय अत्यन्त अस्पष्ट है। स्वयं बालकों की रूप-चेष्टा का वर्णन वात्सल्य रस के अन्तर्गत आता है : वह रस का अंग है, अलंकार नहीं है। और यदि 'डिम्भादेः' की व्याप्ति सृष्टि की नाना वस्तुओं के रूप और व्यापार तक मान ली जाय तो वह वर्ण्य वस्तु ही है वर्णन प्रणाली नहीं है।

विवेचन

स्वभावोक्ति के विषय में पक्ष-विपक्ष को प्रस्तुत कर देने के उपरान्त अब उनका परीक्षण करना और अपना निर्णय देना सरल होगा। स्वभावोक्ति के विरुद्ध कुन्तक का पहला तर्क यह है :—

१. यदि स्वभाव-कथन अलंकार है तो जनसाधारण के सभी वर्णन अलंकार हो जायँगे क्योंकि कोई भी वस्तु-वर्णन स्वभाव-कथन के बिना सम्भव नहीं है।

स्वभावोक्ति पक्ष ने इसका अत्यन्त उपयुक्त उत्तर दिया है और वह यह कि स्वभाव मात्र का कथन स्वभावोक्ति नहीं है : स्वभाव के सामान्य रूप का त्याग कर विशेष रमणीय रूप का ग्रहण ही स्वभावोक्ति है।

किन्तु कुन्तक का दूसरा तर्क और भी प्रबल है :—

२. रमणीय स्वभाव—स्वपरिस्पन्दसुन्दर—का यह वर्णन तो अलंकार्य है—यदि यह अलंकार है तो अलंकार्य क्या है? अलंकार का अर्थ है अलंकरण का साधन, किन्तु यह तो शरीर है।

इसका उत्तर विपक्ष के पास नहीं है—महिमभट्ट के आधार पर हेमचन्द्र ने इसका उत्तर यह दिया है कि पदार्थ का सामान्य रूप अलंकार्य अथवा शरीर है, विशेष प्रतिभा-गोचर रूप अलंकार है। परन्तु यह उत्तर विशेष तर्क-सम्मत नहीं है क्योंकि सामान्य हो या विशेष, रूप तो रूप ही रहेगा अलंकरण का साधन कैसे होगा? काव्य में भी व्यवहारतः यह होता नहीं है, हो भी नहीं सकता। स्वभावोक्ति के जितने उदाहरण अलंकार-ग्रन्थों में दिये गये हैं उनमें सामान्य का अलंकार्य रूप में और विशेष का अलंकार रूप में प्रयोग कहीं नहीं मिलता—वास्तव में सामान्य को तो अवाच्य मानकर छोड़ ही दिया जाता है : विशेष का ही वाचन होता है। अलंकार-ग्रन्थों के प्रसिद्ध उदाहरणों के आधार पर हम अपने मन्तव्य को और स्पष्ट करते हैं। आलंकारिकों में सामान्य रूप के वर्णन का यह उदाहरण अत्यन्त प्रसिद्ध है :

गोरपत्यं बलीवर्दः तृणान्यत्ति मुखेन सः।
मूत्रं मुंचति शिश्नेन अपानेन तु गोमयम् ॥

अर्थात् बैल गाय की सन्तान है, वह मुख से घास खाता है, शिश्न से मूत्र-मोचन करता है और अपान से गोबर : रुद्रट के टीकाकार की स्पष्ट घोषणा है कि 'अस्य वास्तवत्वं न भवति,' अर्थात् यहाँ 'वास्तव' नहीं है क्योंकि उसका आवश्यक उपबन्ध है पुष्टार्थ का ग्रहण और अपुष्टार्थ की निवृत्ति। पुष्टार्थ को ही महिमभट्ट तथा हेमचन्द्र आदि ने विशेष रूप और अपुष्टार्थ को सामान्य रूप कहा है। उपर्युक्त उद्धरण में न तो अपुष्टार्थ 'सामान्य' की निवृत्ति है और न पुष्टार्थ 'विशेष' का ग्रहण ही। इसलिए इसमें अलंकारत्व नहीं है—यह जाति अथवा स्वभावोक्ति नहीं है।

इसके विपरीत कालिदास का यह प्रसिद्ध छन्द है :—

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दनेदत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥

(अ० शा० १।७)

अर्थात्

फिर फिर सुन्दर ग्रीवा मोरत। देखत रथ पाछे जो घोरत।
कबहुँक डरपि बान मत लागी। पिछलो गात समेटत आगी॥
अधरौंथी मग दाभ गिरावत। थकित खुले मुख तें बिखरावत।
लेत कुलाँच लखो तुम अबहीं। धरत पाँव धरती जब-तबहीं॥

(रा० लक्ष्मणसिंहकृत अनुवाद)

संस्कृत काव्यशास्त्र में स्वभावोक्ति का यह उत्कृष्ट उदाहरण माना गया है। इसमें आप देखें कि मृग की कोई भी चेष्टा या क्रिया ऐसी नहीं है जो अपुष्टार्थ अथवा ग्राम्य हो। सम्भव है कि भयभीत मृग ने भी मूत्र और पुरीष का मोचन किया हो किन्तु कवि की परिष्कृत दृष्टि ने उसकी उपेक्षा कर पुष्टार्थ विशेष चेष्टाओं का ही ग्रहण किय है—यहाँ मृग की समस्त चेष्टाएँ एक से एक 'चारु' हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि मृग का उपर्युक्त रूप अलंकार है तो अलंकार्य क्या है? हेमचन्द्र के अनुसार मृग का सामान्य अर्थात् चार पैर, दो सींग और निश्चित लम्बाई-ऊँचाई वाला रूप अलंकार्य है और ग्रीवाभंगि, अंग का समेटना, थके मुख से दाभ गिराना, अत्यंत तीव्रगति से कुलाँच भरना आदि चेष्टाएँ अलंकार हैं। परन्तु

क्या यह सत्य है ? ध्वनि की स्थापना के उपरांत अलंकार-अलंकार्य का पृथक स्वरूप निर्णय हो जाने पर तो यह तर्कसंगत माना ही नहीं जा सकता क्योंकि ग्रीवा, पश्चार्ध-पूर्वकाय, थका अधखुला मुख, आदि सभी शरीर (वर्ण्य वस्तु) के अंग हैं, अतएव उनकी चेष्टाएँ भी शरीर की ही चेष्टाएँ हैं—शरीर ही शरीर को अलंकृत कैसे कर सकता है ? परन्तु पूर्वध्वनि अलंकार-सिद्धान्त के अनुसार शोभाकारक सभी धर्म अलंकार हैं—चाहे वे शरीर के हों या शरीर से बाहर के । इस दृष्टि से मृग की चेष्टाओं को अलंकार माना जा सकता है । इसके अतिरिक्त एक युक्ति और हो सकती है—शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका के तीन प्रकार के अलंकार माने गये हैं : (१) अंगज, (२) अयत्नज और (३) स्वभावज । शरीर से सम्बन्धित तीन प्रकार के अलंकार अंगज हैं :—भाव, हाव और हेला । अयत्नज अलंकार जो कृति-साध्य नहीं है, सात हैं : शोभा, कांति, आदि । कृति-साध्य लीला, विलास आदि अठारह अलंकार स्वभावज हैं । इस विचार-पद्धति का विस्तार करते हुए क्या मृग की उपयुक्त चेष्टाओं में अलंकार की कल्पना सर्वथा अनर्गल है ?

परन्तु इस युक्ति का निराकरण किया जा सकता है । एक तो मृग का सामान्य रूप जिसे अलंकार्य कहा जा सकता है प्रस्तुत छन्द में वर्णित ही नहीं है : प्रकृति में उसकी स्थिति अवश्य है, उसके आधार पर पाठक की कल्पना में भी हो सकती है किन्तु विवेच्य कविता में उसकी स्थिति नहीं है । वह विज्ञान का सत्य है काव्य का सत्य नहीं है, अतएव कवि के लिए 'अवाच्य' रहा । ऐसी स्थिति में जिसे हेमचन्द्र ने अलंकार्य कहा है उसका तो काव्य में ग्रहण ही नहीं होता । जैसा कि कुन्तक ने कहा है काव्य का वर्ण्य तो स्वभाव से सुन्दर—स्वपरिस्पन्द सुन्दर ही होता है । अलंकार्य और अलंकार दोनों की सह-स्थिति होनी चाहिए—यह नहीं हो सकता कि अलंकार कविता में हो और अलंकार्य प्रकृति में या पाठक के मन में । दूसरे, हाव-भाव, शोभा, कान्ति आदि के लिए अलंकार शब्द का प्रयोग केवल लाक्षणिक है । शोभा, कान्ति, आदि शरीर के ही सौन्दर्य-विकार हैं, अतएव वे शरीर ही हैं । उन्हें अलंकार तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि वामन के अनुसार 'सौन्दर्यम-लंकारः'—अर्थात् अलंकार को समस्त सौन्दर्य का ही पर्याय न मान लिया जाय । किन्तु वामन के मत की अतिव्याप्ति सिद्ध हो चुकी है : अलंकार के 'कार' में निहित कृतित्व या प्रयत्न-साध्यता उसकी परिधि को प्रसाधन तक ही सीमित कर देती है । वास्तव में महिमभट्ट तथा हेमचन्द्र आदि का तर्क स्वभावोक्ति के 'काव्यत्व' को तो सिद्ध कर देता है परन्तु उसको तो कुन्तक भी अस्वीकार नहीं करते । प्रश्न स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का है जिसकी सिद्धि नहीं होती ।

रसवदादि अलंकार

स्वभावोक्ति की भाँति कुन्तक ने रसवदादि अलंकारों को भी अमान्य घोषित किया है और इनके निराकरण का भी मूल तर्क लगभग वही है। तृतीय उन्मेष की ग्यारहवीं कारिका और उसकी विस्तृत वृत्ति में कुन्तक ने अनेक सूक्ष्म युक्तियों द्वारा रसवत् अलंकार का खण्डन किया है। संक्षेप में उनके दो मूल आक्षेप हैं :—

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतेरपि ॥ ३।११ ॥

अर्थात् (१) एक तो अपने स्वरूप के अतिरिक्त (अलंकार्य रूप से) अन्य किसी की प्रतीति नहीं होती; और (२) दूसरे (अलंकार्य रस के साथ अलंकार शब्द का प्रयोग होने पर) शब्द और अर्थ की संगति नहीं बैठती, इसलिए रसवत् अलंकार नहीं है।

वृत्ति में इन्हीं दो युक्तियों का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए कुन्तक ने रसवत् के खण्डन में अनेक छोटे-मोटे तर्क उपस्थित किये हैं जिनका सारांश इस प्रकार है :—

(क) सहृदयों को सत्कवियों के काव्य में सभी अलंकारों के विषय में अलंकार्य और अलंकरण की पृथक सत्ता की प्रतीति निश्चयपूर्वक होती है। किन्तु 'रसवदलंकारयुक्त' इस वाक्य में कौन अलंकार्य है और कौन अलंकार इसका परिज्ञान सम्भव नहीं है। यदि शृंगार आदि रस ही प्रधान रूप से वर्ण्यमान अलंकार्य हैं तो उनका अलंकार किसी अन्य को होना चाहिए, अथवा यदि सहृदय-आह्लादकारी होने के कारण रस को ही अलंकार कहते हैं तो भी उससे भिन्न कोई अन्य पदार्थ अलंकार्य रूप से प्रस्तुत होना चाहिए। परन्तु भामह आदि प्राचीन आलंकारिकों के अभिमत रसवत् अलंकार के उदाहरणों में इस प्रकार का कोई तत्व नाम को भी नहीं है।

(ख) भामह ने इस अलंकार का निरूपण इस प्रकार किया है : 'रसवद् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा।' इस वाक्य की व्याख्या कई प्रकार से सम्भव हो सकती है परन्तु किसी भी रूप में रसवत् का अलंकारत्व सिद्ध नहीं होता। यदि बहुव्रीहि समास मानकर उपर्युक्त लक्षण का अर्थ यह किया जाय—दर्शित तथा स्पृष्ट अथवा स्पष्ट है शृंगार आदि जिसमें—तो बहुव्रीहि समास का अर्थभूत अन्य

पदार्थ यहाँ क्या होगा ? यदि यह अन्य पदार्थ काव्य ही है तो उपर्युक्त उक्ति में उपक्रम तथा उपसंहार का विरोध रूप दोष आ जाता है क्योंकि भामह आदि सभी आलंकारिक आरम्भ में ही काव्य के अवयव रूप शब्द तथा अर्थ के पृथक अलंकार मान चुके हैं। यदि उपर्युक्त लक्षण का अर्थ यह किया जाय—प्रदर्शित किए हैं स्पष्ट रूप से शृंगार आदि जिसने—तो भी 'जिसने' द्वारा सूचित वह अभिकरण कौनसा है ? यदि इसके उत्तर में कहा जाय कि वह अभिकरण प्रतिपादन का वैचित्र्य ही है तो भी उसकी पुष्टि नहीं हो सकती क्योंकि प्रतिपाद्य स्वयं ही प्रतिपादन-वैचित्र्य, दूसरे शब्दों में अलंकार्य स्वयं अपना अलंकार हो सकता है, यह असम्भव है। अथवा स्पष्ट रूप से प्रदर्शित रसों का प्रतिपादन-वैचित्र्य—यदि इस प्रकार की व्याख्या की जाय तो भी वह संगत नहीं है क्योंकि शृंगारादि रसों के स्पष्ट दर्शन में उनके अपने स्वरूप की ही सिद्धि होती है, उसके अतिरिक्त अलंकार अथवा अलंकार्य किसी की भी सिद्धि नहीं होती।

(३) उद्भट की परिभाषा और भी असंगत है : अभिनय के योग्य स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव आदि को (अभिनय द्वारा अभिव्यक्त न कर) शृंगार आदि रस का नाम लेकर स्वशब्द से प्रकट करना रसवदालंकार है : स्वशब्दस्थायि-संचारिविभावाभिनयास्पदम्। (भा० का० वि०—उद्भट) इसके विषय में कुन्तक का तर्क यह है कि रसों की स्वशब्दवाच्यता स्वयं ही असिद्ध है उसके द्वारा रसवत् अलंकार की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

(४) किसी-किसी ने यह लक्षण भी किया है कि रस के संश्रय से रसवत् अलंकार होता है : रसवद् रससंश्रयात्। परन्तु यह भी तर्क-सम्मत नहीं है। रस-संश्रय का अर्थ है रस जिसका संश्रय है—अब ऐसा पदार्थ जिसका संश्रय रस है, क्या है ? यदि कहिए कि काव्य ही है तो उसका खण्डन पहले ही किया जा चुका है। अथवा यदि रससंश्रय का अर्थ षष्ठी तत्पुरुष मान कर किया जाय—रस का संश्रय, तो भी रस का संश्रय काव्य के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

(५) रसवत् अलंकार की सिद्धि एक अन्य प्रकार से भी की जाती है : (जिस प्रकार रस के संचार से रूखे-सूखे वृक्ष हरे-भरे हो जाते हैं, उसी प्रकार) रस के अनुप्रवेश से वाक्य का पदार्थ रूप अलंकार्य अलंकारता धारण कर लेता है। यह युक्ति भी मान्य नहीं है क्योंकि जो पहले अलंकार्य था वही बाद में अलंकार कैसे हो सकता है ?

(६) शब्द और अर्थ की असंगति होने से भी रसवत् अलंकार सिद्ध नहीं होता। रसवदलंकार का विग्रह दो प्रकार से हो सकता है। (१) तत्पुरुष के रूप में इसका विग्रह होता है—रसवतः अलंकारः अर्थात् रसवान् का अलंकार, (२) कर्मधारय के रूप में रसवाञ्चासौऽलंकारः अर्थात् रसवान् जो अलंकार है। इन दोनों ही विग्रह-रूपों में शब्द और अर्थ की संगति नहीं बैठती क्योंकि (१) रसवान् का अलंकार और (२) रसवान् जो अलंकार है—ये दोनों ही वाक्य प्रायः निरर्थक से हैं। पहले तो रसवान् क्या है जिसका अलंकार रसवत् है, और फिर रसवान् तो अलंकार्य है वह अलंकार का विशेषण कैसे हो सकता है ?

(७) 'रसवान् का अलंकार' में यदि रसवान् को काव्य का पर्याय माना जाय तो काव्य का अलंकार होने से रसवत् सर्व-साधारण अलंकार हुआ जिसकी सत्ता उपमादि सभी अलंकारों में अनिवार्यतः माननी पड़ेगी क्योंकि उपमादि सभी अलंकार काव्य के अलंकार पहले हैं, और उपमादि बाद में। इस प्रकार रसवत् का अनिवार्य संयोग होने से किसी भी अलंकार का रूप शुद्ध नहीं रह जायगा।

(८) आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत रसवत् अलंकार की परिभाषा यद्यपि भामह आदि की परिभाषा से भिन्न है तथापि उसकी मान्यता भी स्वीकार नहीं की जा सकती। आनन्दवर्धन के अनुसार जहाँ अन्य वाक्यार्थ का प्राधान्य हो और रसादि उसके अंग हों वहां रसवत् अलंकार होता है। उदाहरण रूप में आनन्दवर्धन ने यह श्लोक दिया है :

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तम्
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिंगन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवाद्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

अर्थात् त्रिपुर दाह के समय, सद्यः अपराधी कामी के समान हाथ से छूने पर भी झटका हुआ, ज़ोर से पटक देने पर भी वस्त्रों के किनारों को पकड़ता हुआ, केशों को ग्रहण करते समय हटाया गया, पैरों में पड़ा हुआ भी सम्भ्रम के कारण उपेक्षित, और आलिंगन का प्रयत्न करने पर भी अश्रुपूर्ण कमललोचनी त्रिपुर-सुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत शिवजी के बाण की अग्नि तुम्हारे दुःखों को दूर करे। इसमें शिवजी के प्रभाव का अतिशय कवि का मुख्य अभिप्रेत विषय है, श्लेष-सिद्ध ईर्ष्या-विप्रलम्भ तथा करुण रस उसके परिपोषक अंग हैं, इसलिए रस की अलंकार रूप में निबन्धना होने से यहाँ रसवदलंकार हुआ।

यह ध्वन्यालोककार का मत है, परन्तु कुन्तक इससे सहमत नहीं हैं। उनका तर्क यह है कि एक तो करुण और शृंगार—इन दो विरोधी रसों की सह-स्थिति अक्षम्य रसदोष है, और दूसरे कामी तथा शम्भु की शराग्नि में साम्य-भावना करना असम्भव है क्योंकि दोनों के धर्म सर्वथा विरुद्ध हैं। इसलिए अनुचित विषय के समर्थन में चातुर्य दिखाने का यह प्रयत्न व्यर्थ है।

इस अनौचित्य-प्रदर्शन के अतिरिक्त उपर्युक्त स्थापना के विरुद्ध भी कुन्तक ने फिर यही आक्षेप किया है कि यहां भी अलंकार्य और अलंकार की परस्पर-भ्रान्ति विद्यमान है—जो अलंकार्य है वही अलंकार हो जाता है।

(६) कुछ आलंकारिकों के अनुसार चेतन पदार्थों के सम्बन्ध में रसवत् अलंकार और अचेतन पदार्थों के सम्बन्ध में उपमा आदि अन्य अलंकार होते हैं। इस स्थापना का खण्डन कुन्तक ने आनन्दवर्धन के तर्कों का आधार लेकर किया है जिनका सारांश इस प्रकार है :—अचेतन वस्तु के वर्णन में भी किसी न किसी रूप में चेतन सम्बन्ध विद्यमान रहता है—यदि चेतन सम्बन्ध होने पर रसवत् अलंकार हो जाय तो फिर उपमा आदि अन्य अलंकारों का कोई विषय ही नहीं रह जाता। और, यदि चेतन सम्बन्ध होने पर भी अचेतन वस्तु-वर्णन में रसवत्व न माना जाय तो महाकवियों के अनेक वर्णन सर्वथा नीरस हो जाएँगे। अतः उपर्युक्त धारणा मिथ्या है।

इस प्रकार अनेक युक्तियों के द्वारा कुन्तक ने रसवदलंकार-विषयक विभिन्न धारणाओं का विस्तार से खण्डन किया है। कुन्तक की युक्तियों का मूल आधार वास्तव में यही है कि तथाकथित रसवत् अलंकार में अलंकार्य और अलंकार की परस्पर भ्रान्ति है, अर्थात् अलंकार्य को ही अलंकार मान लिया गया है जिससे अलंकार्य क्या है और अलंकार क्या है इसकी प्रतीति नहीं हो पाती। और, इसमें सन्देह नहीं कि यह तर्क अकाट्य ही है।

रसवत् अलंकार का वास्तविक स्वरूप

कुन्तक के मत से

किस प्रकार यह रसवत् समस्त अलंकारों का प्राण और काव्य का अद्वितीय सार-सर्वस्व हो सकता है, इसका अब कुन्तक अपने मौलिक दृष्टिकोण से वर्णन करते हैं :

रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः । ३-१४

अर्थात् रसतत्व के विधान से, सहृदयों के लिए आह्लादकारी होने के कारण जो अलंकार रस के समान हो जाता है वह अलंकार रसवत् कहा जा सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में कुन्तक ने कई-एक उदाहरण दिये हैं। एक तो पाणिनि का निम्नलिखित श्लोक है :

उपोढ़रागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

अर्थात् सान्ध्य अरुणिमा को धारण किये हुए (प्रेमोन्मत्त) चन्द्रमा ने रात्रि के चंचल तारकयुक्त मुख को इस प्रकार पकड़ा कि, राग के कारण, समस्त अंधकार-रूप वस्त्र गिर जाने पर भी रात्रि को दिखायी नहीं दिया। यहाँ प्रसंगोचित सुन्दर निशा और शशि के वर्णन में नायक-नायिका-वृत्तान्त के आरोप द्वारा कवि ने रूपकालंकार की रचना की है, और यह रूपकालंकार श्लेष की छाया से मनोहर विशेषणों की वक्रता से तथा विशेष लिंगों की सामर्थ्य से (शशि और निशा के पुंल्लिग तथा स्त्रीलिंग के चमत्कारपूर्ण प्रयोग से) काव्य की सरसता को प्रस्फुटित करता हुआ तथा सहृदयों का मनःप्रसादन करता हुआ स्वयं ही रसवदलंकारता को प्राप्त कर लेता है।

दूसरा शाकुन्तलम् का यह प्रसिद्ध छन्द है :—

चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं ।
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

अर्थात्

दृग चौंकत कोए चलें चहुँधा अँग बारहि बार लगावत तू ।
लगि कानन गूँजत मंजु कछू मनो मर्म की बात सुनावत तू ॥
कर रोकती को अधरामृत ले रति को सुखसार उठावत तू ।
हम खोजत जातिहि पाँति मरे धनि रे धनि भौंर कहावत तू ॥

कुन्तक के अनुसार उपर्युक्त पद में भ्रमर में कान्त के व्यवहार का आरोप करने वाला रूपकालंकार प्रधान वृत्ति शृंगार के योग से काव्य की सरसता के अतिशय का कारण होने से रसवत् शोभादायक हो रहा है—अतः यहाँ रसवदलंकार है।

कुन्तक के मत से

(१) रसवत् अलंकार अलंकारों का चूड़ामणि है। (२) नीरस अर्थात् अचेतन अथवा जड़ पदार्थों की सरसता को प्रकाशित करने के लिए सत्कवियों को यह अद्भुत साधन प्राप्त है। (३) यह अलंकार प्रतीयमान ही होता है।

विवेचन

संस्कृत काव्यशास्त्र में रसवत् अलंकार के विषय में चार धारणाएं उपलब्ध होती हैं।

१. भामह से लेकर उद्भट तक प्राचीन आलंकारिकों के मत से रस का स्पष्ट प्रकाशन अर्थात् रसयुक्त वर्णन ही रसवत् अलंकार है। उनके अनुसार अलंकार काव्य-सौन्दर्य का पर्याय है अतएव काव्य-सौन्दर्य का विधायक प्रत्येक तत्व अलंकार के अन्तर्गत आ जाता है। इस दृष्टि से रस भी अलंकार का ही तत्व है और ऐसी उक्तियों में जिनका सौन्दर्य मूलतः रस पर ही निर्भर रहता है इन आलंकारिकों के अनुसार रसवत् अलंकार होता है। उद्भट ने भामह की परिभाषा में थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है। उनके मत से जहाँ रस का स्ववाचक शब्दों के द्वारा स्पष्ट प्रकाशन हो वहाँ रसवत् अलंकार होता है। परन्तु इससे मूल धारणा में कोई अन्तर नहीं पड़ता—उद्भट ने यह परिवर्तन दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य के रस का अन्तर स्पष्ट करने के लिए ही किया है; दृश्य काव्य में जिस रस का परिपाक दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के उपकरणों द्वारा सम्पन्न होता है, श्रव्य काव्य में उसका केवल स्ववाचक शब्दों द्वारा ही वर्णन किया जा सकता है।

२. कुछ विद्वानों के मत से चेतन व्यक्तियों के प्रसंग में रसवत् अलंकार और अचेतन पदार्थों के प्रसंग में उपमादि अलंकार होते हैं। उनका अभिप्राय कदाचित् यह है कि रस का चमत्कार चूंकि मानव-व्यापारों के वर्णन में ही रहता है इसलिए रसवत् अलंकार की स्थिति भी वहीं हो सकती है। और उपमादि अलंकारों में अप्रस्तुत-विधान चूंकि अचेतन, प्राकृतिक उपमान आदि के आधार पर किया जाता है इसलिए इन अलंकारों की स्थिति प्रायः अचेतन पदार्थों के वर्णन में ही होती है।

रसवत् के आधारभूत भाव, अनुभाव, विभाव, आदि की सत्ता चैतन्य मानव-व्यापारों में ही सम्भव है और अप्रस्तुत-विधान के आधारभूत उपकरण अधिकतर अचेतन प्राकृतिक जगत में ही उपलब्ध होते हैं। इसीलिए इन ध्वनि-पूर्व आलंकारिकों ने मानव-जीवन के चित्रण-सौन्दर्य को रसवत् के आश्रित और मानवेतर जगत के वर्णन-चमत्कार को उपमादि अन्य अलंकारों पर निर्भर माना है। ये आचार्य भी काव्य के समस्त सौन्दर्य को अलंकार ही मानते हैं अतः यह धारणा भी मूलतः प्रथम धारणा से भिन्न न होकर उसी का आख्यानमात्र है।

३. आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त दोनों धारणाओं का खण्डन कर रसवत् अलंकार की एक तीसरी ही परिभाषा की है : जहाँ रस अंगी हो वहाँ रसध्वनि और जहाँ रस किसी अन्य वाक्यार्थ का चमत्कारवर्धक अंग हो वहाँ रसवत् अलंकार होता है। यहाँ रस वस्तु-ध्वनि अथवा अलंकार-ध्वनि का चमत्कारवर्धक होने के कारण अलंकार का कार्य करता है, इसी आधार पर आनन्दवर्धन ने यह नवीन कल्पना की है।

४. चौथी स्थापना कुन्तक की है जो इन तीनों से ही भिन्न है। इसके अनुसार रस के योग से जिस अलंकार में सरसता का समावेश हो जाता है वह रसवत् अलंकार है। कुन्तक की धारणा से यह स्पष्ट है कि वे चमत्कार के दो रूप मानते हैं, एक भावगत चमत्कार दूसरा कल्पनाजन्य चमत्कार। रसप्रपंच भावगत चमत्कार के अन्तर्गत है और अलंकारप्रपंच कल्पनाजन्य चमत्कार के अन्तर्गत। जहाँ कल्पना के चमत्कार के साथ भाव-सौन्दर्य का संयोग हो जाता है वहाँ कुन्तक के मत से अलंकार रसवत् हो जाता है अथवा रसवत् अलंकार की स्थिति हो जाती है। कल्पना और अनुभूति का यह मणि-कांचन योग निश्चय ही काव्य की सबसे बड़ी सिद्धि है इसीलिए कुन्तक ने रसवत् अलंकार को अलंकार-चूड़ामणि कहा है।

यहाँ अब दो प्रश्न उठते हैं :—(१) रसवत् अलंकार की सत्ता मान्य है अथवा नहीं? (२) यदि मान्य है तो किस रूप में अर्थात् उपर्युक्त धारणाओं में से कौनसी धारणा ग्राह्य है?

रसवत् अलंकार की सत्ता के विषय में रस-ध्वनिवादी आचार्यों तथा कुन्तक का तर्क ही वास्तव में संगत है। अलंकार शब्द ही साधन का वाचक है। इसीलिए अलंकार शब्द का एक पर्याय प्रसाधन भी है। वह सौन्दर्य का पर्याय अथवा कारण भी नहीं हो सकता। जहाँ कहीं सौन्दर्य अथवा रूप आदि को अलंकार कहा भी जाता है वहाँ अलंकार शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ही मानना चाहिए। सौन्दर्य अथवा रूप निश्चय

ही अलंकार्य है, अलंकार नहीं। अलंकार उसको अलंकृत अथवा भूषित ही करता है—दूसरे शब्दों में उस अन्यथा विद्यमान रूप की अभिवृद्धि ही करता है। इसीलिए ध्वनि-रसवादियों ने 'शोभाकर' के स्थान पर 'शोभातिशायी' विशेषण का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से सरस वर्णन अलंकार्य ही है अलंकार नहीं है। काव्य का आस्वाद्य रूप ही उसका सौन्दर्य है और आस्वाद्यता मूलतः भाव पर ही आश्रित है। आस्वादन अनुभूति का विषय है, और वस्तु भी अनुभूति रूप होकर ही आस्वाद्य बनती है। अतः अनुभूति का आह्लादकारी रूप ही काव्य का सौन्दर्य है। अलंकार कल्पना का चमत्कार है।—अनुभूति की उत्तेजना से कल्पना भी उत्तेजित होकर अलंकारमयी वाणी में उसको अभिव्यक्त कर देती है। जिस अनुभूति की प्रेरणा से कल्पना को उत्तेजना मिली, उसी के मूर्त रूप को बदले में कल्पना से चमत्कार प्राप्त हो जाता है। अनुभूति कल्पना को उद्बुद्ध करती है, कल्पना उसके (व्यक्त) मूर्त रूप को चमत्कृत कर देती है—इसीलिए अभिव्यंजना में दोनों अविभाज्य-से प्रतीत होते हैं। किन्तु विश्लेषण करने पर यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अभिव्यंजना का विषय तो अनुभूति ही है—कल्पना उसको चमत्कारपूर्ण मूर्त रूप प्रदान करती है। इसलिए सज्जा कल्पना की क्रिया है, अनुभूति इस सज्जा का विषय है। अनुभूति का कार्य सज्जा नहीं है, वह कल्पना को उत्तेजित करती हुई सज्जा की प्रेरणा तो बन जाती है जैसे सहज सौन्दर्य शृंगार-सज्जा की प्रेरणा बन जाता है, परन्तु अन्त में तो सज्जा का प्रयोजन उसी का उत्कर्षवर्धन होता है। स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह है : अनुभूति काव्य का प्राण-तत्व है, कल्पना उसका रूप-विधायक तत्व है और अलंकार इस रूप-विधान की प्रक्रिया के साधन हैं। अतएव अनुभूति अलंकार से भिन्न वस्तु है : अलंकारविधायिनी कल्पना की प्रेरक-शक्ति होने के कारण वह अलंकार की प्रेरक शक्ति तो है, परन्तु न तो अलंकार है और न अलंकार का अंग है और न अलंकार की क्रिया। इस प्रकार अलंकार-वादी दृष्टिकोण का खण्डन हो जाता है जिसमें रस को या तो अलंकार मान लिया गया है, या उसका अंग या उसकी सृष्टि—और इसी के साथ रसवत् अलंकार का भी खण्डन हो जाता है।

दूसरी धारणा इसी धारणा का विस्तार मात्र है। उसका मूल आधार यह तथ्य है कि रस का सम्बन्ध मानव-जीवन से है और अप्रस्तुत-विधान का सम्बन्ध मानवेतर जगत से—इसीलिए चेतन जगत के वर्णन में रसवत् अलंकार और अचेतन जगत के वर्णन में उपमादि अन्य अलंकार रहते हैं। इसके खण्डन में आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं :

१. अचेतन जगत के वर्णन में चेतन का भी सम्पर्क अनिवार्य रूप से रहता है, अतएव उपमादि समस्त अलंकार रसवत् से संकीर्ण हो जाते हैं—कोई भी अलंकार शुद्ध नहीं रह जाता।

२. अचेतन पदार्थों के वर्णन में रस का अभाव सर्वत्र नहीं होता—अनेक कवियों के इस प्रकार के वर्णन अत्यन्त सरस हैं। यदि रसवत् को केवल चेतन जीवन के वर्णन तक ही सीमित कर दिया जायगा तो अचेतन जगत के सभी चित्र नीरस हो जायँगे।

इनके अतिरिक्त ३. एक तीसरा तर्क यह भी है कि इस धारणा का आधार-भूत तथ्य भी अंशतः ही मान्य है। अचेतन अथवा मानवेतर जगत के अनेक चित्र मानव-भावना के आरोप से रसपेशल हैं, और उधर उपमादि के अप्रस्तुत-विधान में भी मानव-भावनाओं, चेष्टाओं आदि का प्रयोग मिलता है। रम्याद्भुत काव्य में इन दोनों विशेषताओं का प्राचुर्य है।

—और फिर इस धारणा के अंतर्गत भी तो मूल आक्षेप का कोई समाधान नहीं है : अर्थात् अलंकार्य अलंकार कैसे हो सकता है ?

आनन्दवर्धन की स्थापना उनके ध्वनि-सिद्धान्त के अनुकूल ही है। कहीं कहीं मूल व्यंग्य रस-रूप न होकर वस्तु-रूप या अलंकार-रूप होता है और रस का उपयोग वस्तु-ध्वनि अथवा अलंकार-ध्वनि का उत्कर्ष-वर्धन करने के लिए ही किया जाता है। यहाँ रस अलंकार बन जाता है। पर यह स्थापना भी अधिक मान्य नहीं है—आनन्द ने यहाँ अलंकार का रूढ़ अर्थ ग्रहण न कर लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण किया है। उनके अनुसार अमरुक के मंगल छन्द में शिव-प्रताप मूल व्यंग्य है और करुण आदि रस उसका अलंकार है। परन्तु उनका यह मत अधिक तर्क-सम्मत नहीं है क्योंकि शिव-प्रताप कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं है—उसके द्वारा रौद्र रस का परिपाक होता है और आलम्बनगत करुण रस इस रौद्ररस का पोषक है। अब यदि मंगल श्लोक होने के कारण यहाँ मूल रस भक्ति माना जाय तो आलम्बन शिव का यह प्रताप-व्यंजक रौद्र रूप भक्ति का उद्दीपक हो जाता है और इस प्रकार रसों की यह परम्परा पोषक-पोष्य रूप में ठीक बैठ जाती है। यहाँ पोषक रस को यदि उत्कर्षवर्धक होने के कारण अलंकार कहा जाय तो वह निश्चय ही अलंकार शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ही होगा। वैसे, रस-प्रपंच में एक रस द्वारा दूसरे रस के पोषण का स्पष्ट विधान होने के कारण

यह सब अनावश्यक ही है—पोषक रस को अलंकार और पोष्य रस को अलंकार्य कहने में कोई विशेष संगति नहीं है। वास्तव में उपर्युक्त भ्रान्त धारणा का कारण आनन्दवर्धन की वस्तु-ध्वनि की कल्पना है जिसे उन्होंने रस-ध्वनि से भिन्न स्वतन्त्र रूप दे दिया है। जैसा कि शुक्लजी ने सिद्ध किया है, वस्तु-ध्वनि रस-ध्वनि (और रस के अन्तर्गत केवल रस-परिपाक को न मानकर समस्त रस-प्रपंच को ही मानना चाहिए) से स्वतन्त्र नहीं है। भाव के संसर्ग के बिना वस्तु-ध्वनि काव्य ही नहीं रह जाती कोरी तथ्य-व्यंजना रह जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त छन्द में रस की अलंकार रूप में कल्पना का आधार यही मिथ्या धारणा है।

कुन्तक की रसवदलंकार-कल्पना में रसवत् वातव में कोई स्वतंत्र अलंकार नहीं है। उनके मतानुसार कहीं-कहीं रस के संयोग से अलंकार भी रसवत् अर्थात् रस के समान ही सहृदय-आह्लादकारी हो जाता है—यही अलंकार का रसवत् स्वरूप अथवा रसवत् अलंकार है। परन्तु यह सामान्य काव्य-सिद्धान्त है—रसवत् नामक किसी विशेष अलंकार का निरूपण नहीं है : यहाँ रस और अलंकार दोनों की पृथक् सत्ता है और उनमें उपमान-उपमेय सम्बन्ध मात्र है। जहाँ तक इस सिद्धान्त का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो दो मत हो ही नहीं सकते। क्योंकि काव्य के मनोविज्ञान का यह स्वीकृत सत्य है कि कल्पना भाव के संसर्ग से ही रमणीय बनती है—काव्यशास्त्र की शब्दावली में, रस के संयोग से ही अलंकार में काव्यत्व अथवा चारुता आती है। रस और कल्पना का मणिकांचन योग ही काव्य की सबसे बड़ी सिद्धि है और कुन्तक ने उसका प्रतिपादन कर निश्चय ही अपने प्रौढ़ काव्य-ज्ञान का परिचय दिया है। परन्तु रसवत् अलंकार की स्थापना यह नहीं है, यह तो काव्य की रसवत्ता की स्थापना है।

अतः उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यही है कि रसवत् अलंकार वास्तव में कोई अलंकार नहीं है क्योंकि विषय से सम्बद्ध होने के कारण रस अलंकार्य ही है, अलंकार नहीं है। उसकी स्थापना के लिए प्रकारान्तर से भी जो प्रयत्न किये गये हैं, उनसे भी कम से कम उसकी अलंकारता की सिद्धि नहीं होती।

रसवत् वर्ग के अन्य अलंकार

रसवत् वर्ग के अन्य अलंकार हैं प्रेयोऽलंकार, ऊर्जस्वी और समाहित। भामह, दण्डी तथा उद्भट आदि आचार्यों ने इनके भिन्न भिन्न लक्षण दिये हैं। भामह ने तो वास्तव में लक्षण दिये ही नहीं, केवल उदाहरणों से ही उनका स्वरूपोल्लेख कर दिया है। दण्डी तथा उद्भट के लक्षणों में भी अन्तर है। दण्डी के अनुसार प्रियतर आख्यान या प्रिय कथन प्रेयोऽलंकार है और ऊर्जस्वी कथन ऊर्जस्वी अलंकार है। उद्भट ने इनकी परिभाषा इस प्रकार की है 'भाव—देवादि विषयक रति—का अंग रूप में प्रयोग प्रेयोऽलंकार, रसाभास तथा भावाभास का अंग रूप में प्रयोग ऊर्जस्वी अलंकार, और भावशांति का समाहित अलंकार कहलाता है।'

कुन्तक ने दोनों के मतों का खण्डन करते हुए उपर्युक्त सभी अलंकारों का भी रसवदलंकार की भाँति ही निषेध किया है। उनका एक सामान्य तर्क तो यही है कि रसपूर्ण कथन की भाँति प्रिय कथन अथवा ऊर्जस्वी कथन आदि, उद्भट के अनुसार भाव, भावाभास, रसाभास, तथा भावशान्ति भी, अलंकार्य ही हैं, वे अलंकार नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अलंकार के विरुद्ध विशेष तर्क भी कुन्तक ने प्रस्तुत किये हैं : उदाहरण के लिए दण्डी का 'प्रियतर आख्यान' व्याजस्तुति मात्र है, उद्भट का 'भाव-कथन' भी व्याजस्तुति आदि कोई अलंकार हो सकता है। उद्भट का ऊर्जस्वी तो किसी प्रकार मान्य हो ही नहीं सकता क्योंकि औचित्य का विघातक रसाभास अथवा भावाभास काव्य में सर्वथा अग्राह्य है, वह अलंकार कैसे हो सकता है ?

अन्य अलंकारों का विवेचन

कुन्तक ने अपने सिद्धान्त के अनुसार अन्य अलंकारों का भी मौलिक निरूपण किया है। इस क्षेत्र में उनका सबसे स्तुत्य प्रयत्न है अलंकारों की व्यवस्था : अलंकारों की बढ़ती हुई संख्या को विवेक के आधार पर सीमित करने का संस्कृत काव्यशास्त्र में यह कदाचित् पहला और अन्तिम प्रयत्न था। इस व्यवस्था के लिए कुन्तक ने तीन विधियों का अवलम्बन किया है : (१) अनेक अलंकारों का अलंकार्य होने के कारण निषेध, (२) चमत्कारहीन तथाकथित अलंकारों का त्याग और (३) अनावश्यक भेद-विस्तार रूप अलंकारों का अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव।

१. इस दृष्टि से रसवत् वर्ग के अलंकारों के अतिरिक्त उदात्त को भी कुन्तक ने अलंकार ही माना है और अलंकारों की श्रेणी से बहिष्कृत कर दिया है। उनकी युक्ति है कि ऋद्धिमत् वस्तु-वर्णन अथवा महापुरुषों के चरित्र का वर्णन तो वर्ण्य विषय या अलंकार्य है, अलंकार नहीं। इसी युक्ति का समर्थन आचार्य रामचन्द्र

शुक्ल ने किया है : 'पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक स्वरूप कुछ अलंकार ऐसे चले आ रहे हैं जो वर्ण्य वस्तु का निर्देश करते हैं और अलंकार नहीं कहे जा सकते— जैसे स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति।' (चिन्तामणि १—कविता क्या है ? पृ० १८३) और, इसमें सन्देह के लिए वास्तव में स्थान नहीं है।

इन्हीं के समतुल्य संस्कृत अलंकारशास्त्र के और भी अलंकार हैं जिनका सम्बन्ध भी मूलतः वर्णन-शैली से न होकर वर्ण्य वस्तु से ही है। ये अलंकार हैं आशीः, विशेषोक्ति, आदि। इनमें 'स्वभावमात्रमेव रमणीयम् (कुन्तक)—रमणीयता स्वभाव की ही है, अतः पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार इन्हें अलंकार नहीं माना जा सकता।

२. कतिपय तथाकथित अलंकारों का खण्डन कुन्तक ने इस आधार पर किया है कि उनमें कोई चमत्कार नहीं है। ऐसे अलंकारों में सबसे मुख्य हैं यथासंख्य, हेतु, सूक्ष्म, लेश आदि जिनमें भणिति-वैचित्र्य के अभाव में कोई कान्ति नहीं होती : भणितिवैचित्र्यविरहान्न काचिदत्रकान्तिर्विद्यते। (३।४ की वृत्ति)। इसी तर्क से आगे चलकर उन्होंने सन्देह के भेदों का भी निषेध किया है।

३. इनके अतिरिक्त अनेक अलंकारों को कुन्तक ने केवल अनावश्यक भेद-विस्तार मात्र मानकर अन्य महत्वपूर्ण अलंकारों में उनका अन्तर्भाव कर दिया है। उदाहरण के लिए, साम्यमूलक अधिकांश अलंकारों को उन्होंने उपमा के अन्तर्गत ही स्थान दिया है—पृथक नहीं। उपमालंकार के प्रारम्भ में ही उन्होंने कहा है : 'इदानीं साम्यसमुद्भासिनो विभूषणवर्गस्य विन्यासविच्छित्तिं विचारयति अर्थात् अब साम्यमूलक अलंकारों की रचना-शैली का विचार करते हैं।' इस कथन से स्पष्ट ही यह ध्वनि निकलती है कि वे साम्यमूलक समस्त अलंकारों का पृथक निरूपण अनावश्यक समझते हैं—और उनमें से अधिकांश का उपमा में अन्तर्भाव मानते हैं। प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना, परिवृत्ति तथा अनन्वय इसी कोटि में आते हैं। कुन्तक का स्पष्ट मत है कि ये सभी उपमा के ही रूप हैं : अनन्वय को उन्होंने इसी दृष्टि से कल्पितोपमान उपमा नाम दिया है। इसी प्रकार समासोक्ति की सत्ता भी कुन्तक को श्लेष से पृथक मान्य नहीं है।

वास्तव में उपर्युक्त धारणा का यह आधारभूत सिद्धान्त तो सर्वथा मान्य है ही कि अलंकार-समुदाय का अनावश्यक भेद-प्रस्तार काव्य की व्युत्पत्ति में सहायक न होकर बाधक ही होता है, अतएव उसके लिए व्यवस्था और मर्यादा अनिवार्य है। इस दृष्टि से उन्होंने उपर्युक्त जिन तीन विधियों का अवलम्बन किया है वे भी निश्चय ही तर्क-सम्मत हैं। परन्तु कुन्तक ने कदाचित् इस प्रसंग पर विशेष ध्यान नहीं

दिया—वैसे वक्रोक्तिजीवितम् का यह तृतीय उन्मेष भी अत्यन्त खण्डित रूप में ही उपलब्ध है, इसलिए उसकी बाधा भी नगण्य नहीं है। फिर भी उनके विवेचन को यथावत् स्वीकार करने में कुछ कठिनाई अवश्य होती है—उदाहरण के लिए कुन्तक ने एक ओर तो प्रतिवस्तूपमा और निदर्शना जैसे अलंकारों को स्वतन्त्र नहीं माना, और दूसरी ओर उत्प्रेक्षा तथा सन्देह आदि को स्वतन्त्र मान लिया है। किन्तु साम्य के आधार पर यदि परीक्षा करें तो हमारा विचार है कि उत्प्रेक्षा और सन्देह निदर्शना आदि की अपेक्षा उपमा के कहीं अधिक निकट हैं। इसी प्रकार समासोक्ति का चमत्कार श्लेष पर अंशतः आश्रित अवश्य है, परन्तु समग्र रूप में उसकी रमणीयता का समावेश श्लेष में नहीं हो सकता। वास्तव में दोनों की प्रकृति ही भिन्न है : श्लेष में बौद्धिक चमत्कार है और समासोक्ति का चमत्कार भाव और कल्पना पर आश्रित रहता है। छायावादी काव्य का समासोक्ति-वैभव भला श्लेष की खिलवाड़ में कैसे सीमित किया जा सकता है ? श्लेष तो समासोक्ति का एक साधन मात्र है—अतएव प्रस्तुत विषय में हमारा निष्कर्ष यही है कि भेद-प्रभेद के विवेचन में कुन्तक ने थोड़ी जल्दबाज़ी से काम लिया है जिसके परिणामस्वरूप वह अधिक तर्कसंगत नहीं बन पाया। अन्य अलंकारों के विषय में कुन्तक को कुछ विशेष नहीं कहना; उन्होंने केवल मुख्य अलंकारों का ही मौलिक ढंग से निरूपण किया है। जिसमें मौलिकता के लिए अवकाश नहीं है उसका उन्होंने स्पर्श ही नहीं किया है। उनके विवेचन में केवल दो साधारण-सी विशेषताएँ हैं—एक तो रूपक और व्यतिरेक के उन्होंने दो भेद माने हैं (१) वाच्य तथा (२) प्रतीयमान, और दूसरे दीपक की प्राचीनों से भिन्न परिभाषा की है। इनमें से प्रतीयमान अलंकार की कल्पना तो वास्तव में नवीन नहीं है क्योंकि आनन्दवर्धन की अलंकार-ध्वनि में उसका निश्चित समावेश है : आनन्दवर्धन की रूपक-ध्वनि ही कुन्तक का प्रतीयमान रूपक है। दीपक के सम्बन्ध में उन्होंने प्राचीनों की इस धारणा का खण्डन किया है कि केवल क्रियापद ही दीपक हो सकते हैं और यह स्थापना की है कि क्रियापदों के समान अन्य पद भी दीपक-पद हो सकते हैं। कुन्तक के अनुसार दीपक के दो भेद होते हैं (१) केवल दीपक और (२) पंक्ति-दीपक। ये वास्तव में कोई महत्वपूर्ण उद्भावनाएँ नहीं हैं क्योंकि एक तो अलंकार का चमत्कार जितना क्रियापद दीपक से निखरता है उतना कर्तृपदादि से नहीं, और दूसरे पंक्ति-दीपक दण्डी आदि के माला-दीपक का नामान्तर मात्र है। किन्तु यह अपने आप में इतनी बड़ी बात नहीं है—वास्तविक महत्व तो संस्कृत अलंकारशास्त्र की सबसे बड़ी दुर्बलता—अनावश्यक भेद-प्रस्तार का अत्यन्त निर्भीक तथा आश्वस्त होकर उद्घाटन करने वाली उस अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टि का है। भारतीय अलंकारशास्त्र

का यह दुर्भाग्य ही रहा कि परवर्ती रस-ध्वनि-वादी ग्राचार्यों ने भी कुन्तक के इस मार्ग-दर्शन का वांछित उपयोग नहीं किया, ग्रन्यथा हमारे ग्रलंकार-विधान का ग्राधार ग्राज कहीं ग्रधिक व्यवस्थित तथा विवेक-पुष्ट होता।

ग्रलंकार का महत्त्व

ग्रालोचकों ने कुन्तक को प्रायः ग्रलंकारवादी ही माना है—परन्तु वे उस अर्थ में ग्रलंकारवादी नहीं हैं जिस अर्थ में जयदेव ग्रादि, जो ग्रलंकारहीन काव्य की ग्रनुष्ण ग्रनल से उपमा देते हैं। उन्होंने काव्य को सालंकार तो ग्रवश्य माना है परन्तु ग्रलंकार के ग्रतिचार का प्रबल शब्दों में ग्रनेक बार विरोध किया है: —

१. इसका ग्रभिप्राय यह हुआ कि इस प्रकार के पदार्थों की स्वभाव-सुकुमारता के वर्णन में वाच्य अलंकार उपमा ग्रादि का अधिक उपयोग उचित नहीं हो सकता क्योंकि उससे स्वाभाविक सौन्दर्य के ग्रतिशय में मलिनता आने का भय रहता है। (३।१ कारिका की वृत्ति)

२. इस प्रकार के समस्त उदाहरणों में स्वाभाविक सौन्दर्य की प्रधानता से वर्ण्य वस्तु के उस स्वाभाविक सौन्दर्य के ग्राच्छादित हो जाने के भय से उनके रचयिता कवियों ने ग्रधिक ग्रलंकारों ग्रथवा सजावट की रचना नहीं की है, और यदि कहीं ग्रलंकारों का प्रयोग करते भी हैं तो उसी स्वाभाविक सौन्दर्य को और भी ग्रधिक प्रकाशित करने के लिए ही करते हैं न कि ग्रलंकार की विचित्रता दिखाने के लिए। (३।१ कारिका की वृत्ति)

३. (सत्कवियों की) उदार-ग्रभिधा वाणी सौन्दर्य ग्रादि गुणों से उज्ज्वल, प्रत्येक पग रखते समय हावभाव से युक्त, सुन्दर रीति से धारण किये हुए थोड़े से परिमित ग्रलंकारों से ग्रलंकृत, ग्रत्यन्त रसपूर्ण होने से ग्रार्द्र-हृदया नायिका के समान मन को हरण करने में समर्थ होती है।

(३।४० कारिका की वृत्ति—परिशिष्ट से उद्धृत)

उपर्युक्त उद्धरण कुन्तक की सहृदयता के ग्रतर्क्य प्रमाण हैं। उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे ग्रलंकार को काव्य का साधन ही मानते हैं सिद्धि नहीं। ग्रन्य साधनों की भाँति ग्रलंकारों की भी सार्थकता यही है कि उनका सुरुचिपूर्ण विवेक-

सम्मत उपयोग किया जाय। सुरुचि अथवा विवेक के अभाव में केवल विचित्रता-प्रदर्शन के लिए अलंकारों का अनावश्यक प्रयोग काव्य-सौन्दर्य का साधक न होकर बाधक हो जाता है। साधन का उपयोग साध्य पर निर्भर रहता है, साध्य से स्वतंत्र होकर जिस प्रकार साधन अपनी वास्तविक स्थिति से भ्रष्ट हो जाता है, इसी प्रकार अलंकार भी। उसकी सार्थकता तो स्वाभाविक सौन्दर्य को और अधिक प्रकाशित करने में है अर्थात् वह शोभातिशायी है—स्वतंत्र रूप में सौन्दर्य का स्थानापन्न नहीं है। काव्य का मूल सौन्दर्य अलंकृति-जन्य न होकर रस-जन्य ही है।

इस प्रकार अलंकार की स्थिति के विषय में कुन्तक का मत रस-ध्वनिवादियों से मूलतः भिन्न नहीं है। उनके शब्दों में और आनन्दवर्धन के शब्दों में कितना साम्य है :

(रूपकादि की) विवक्षा (सदैव रस को प्रधान मान कर ही), रस-परत्वेन ही हो, प्रधान रूप से किसी भी दशा में नहीं। (उचित) समय पर (उनका) ग्रहण और त्याग होना चाहिए। (आदि से अन्त तक) अत्यन्त निर्वाह की इच्छा नहीं करनी चाहिए। अत्यन्त निर्वाह हो जाने पर भी (वह) अंग रूप में (ही) हो, यह बात सावधानी से फिर देख लेनी चाहिए। (ध्वन्यालोक २।१८-१९)

और वास्तव में यही उचित भी है—अलंकार का उपयोग साधन मान कर, शोभा का अतिशय करने के लिए, परतन्त्र रूप में ही होना चाहिए : वे 'प्रसाधन' ही हैं सौन्दर्य के पर्याय नहीं।

अलंकार-सिद्धान्त और वक्रोक्ति-सिद्धान्त

अधिकांश विद्वानों ने वक्रोक्ति-सम्प्रदाय को अलंकार-सम्प्रदाय का रूपान्तर अथवा उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न माना है। यह मत मूलतः मान्य होते हुए भी अतिव्याप्त अवश्य है और वास्तव में इन दोनों सम्प्रदायों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य भी कम नहीं है :—

साम्य : (१) कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना है और साथ ही अलंकार भी :

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव······। + + ॥

इस दृष्टि से वक्रोक्ति-सिद्धान्त भी नाम-भेद से अलंकार-सिद्धान्त ही ठहरता है। कुन्तक ने 'सालंकारस्य काव्यता' कह कर भी अलंकार की अनिवार्यता स्वीकार करली है।

(२) इन सिद्धान्तों में दूसरी मौलिक समानता यह है कि दोनों के दृष्टिकोण वस्तुपरक हैं: अर्थात् दोनों काव्य-सौन्दर्य को मूलतः वस्तुगत मानते हैं। दोनों सिद्धान्तों में काव्य को कवि-कौशल पर ही आश्रित माना गया है। दोनों की वस्तुपरकता में मात्रा का अन्तर अवश्य हो सकता है—परन्तु काव्य को अनुभूति न मानकर कौशल मानना निश्चय रूप से भावपरक दृष्टिकोण का निषेध और वस्तुपरक दृष्टिकोण की स्वीकृति ही है।

(३) दोनों सिद्धान्तों के अनुसार वर्ण-सौन्दर्य से लेकर प्रबन्ध-सौन्दर्य तक समस्त काव्य-रूप चमत्कारप्राण हैं: एक में उसे अलंकार कहा गया है दूसरे में वक्रता: दोनों में शब्द का भेद है अर्थ का नहीं क्योंकि दोनों में उक्ति-वैदग्ध्य का ही प्राधान्य है।

(४) दोनों में रस को उक्ति के आश्रित माना गया है।

वैषम्य: (१) अलंकार-सिद्धान्त की अपेक्षा वक्रोक्ति-सिद्धान्त में व्यक्ति-तत्व का कहीं अधिक समावेश है: अलंकार-सम्प्रदाय में जहां शब्द और अर्थ के चमत्कार का निर्वैयक्तिक विधान है, वहाँ वक्रोक्ति में कवि-स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान दिया गया है।

(२) अलंकार-सिद्धान्त की अपेक्षा वक्रोक्ति-सिद्धान्त रस को अत्यधिक महत्व देता है: रसवत् को अलंकार से अलंकार्य के पद पर प्रतिष्ठित कर कुन्तक ने निश्चय ही रस के प्रति अधिक आदर व्यक्त किया है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त में प्रबन्ध-वक्रता को वक्रोक्ति का सबसे प्रौढ़ रूप माना गया है—और प्रबन्ध-वक्रता में रस का गौरव सर्वाधिक है।

(३) अलंकार-सिद्धान्त में स्वभाव-वर्णन को प्रायः हेय माना गया है: भामह ने तो वार्ता मात्र कह कर स्पष्ट ही उसे अकाव्य घोषित कर दिया है, दण्डी ने भी आद्य अलंकार मान कर उसको कोई विशेष आदर नहीं दिया क्योंकि उन्होंने शास्त्र में ही उसका साम्राज्य माना है—काव्य के लिए वह केवल वांछनीय है।

इसके विपरीत वक्रोक्ति-सिद्धान्त में स्वभाव-सौन्दर्य का वर्णन आहार्य की अपेक्षा अधिक काम्य है : अलंकार की सार्थकता स्वभाव-सौन्दर्य को प्रकाशित करने में ही है अपनी विचित्रता दिखाने में नहीं, स्वभाव-सौन्दर्य को आच्छादित करने वाला अलंकार त्याज्य है।

(४) वक्रोक्ति-सिद्धान्त में काव्य के अन्तरंग का विवेचन अधिक है, अलंकार सिद्धान्त बहिरंग से ही उलझ कर रह जाता है अर्थात् वक्रता द्वारा अभिप्रेत चमत्कार अलंकार की अपेक्षा अधिक अन्तरंग है।

इस प्रकार वक्रोक्ति-सिद्धान्त अलंकार-सिद्धान्त से कहीं अधिक उदार, सूक्ष्म तथा पूर्ण है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त और रीति

रीति-सिद्धान्त के अनुसार रीति काव्य की आत्मा है, और वक्रोक्ति के अनुसार रीति या पदरचना वक्रता का एक भेद है। रीति के लिए कुन्तक ने भी दण्डी की भाँति मार्ग शब्द का प्रयोग किया है।

मार्ग का अर्थ और स्वरूप

मार्ग की परिभाषा तो कुन्तक ने नहीं की परन्तु उनके अनेक वाक्यों में मार्ग शब्द की व्याख्या अवश्य मिलती है :

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः। १।२४।

× + ते च कीदृशाः कविप्रस्थानहेतवः। कवीनां प्रस्थानं प्रवर्तनं तस्य हेतवः काव्यकरणस्य कारणभूताः। २४ वीं कारिका वृत्ति।

अर्थात् मार्ग का अर्थ है कविप्रस्थानहेतु—कवि के प्रस्थान से अभिप्राय है रचना में प्रवृत होना अर्थात् काव्य-रचना।

इसी प्रसंग में आगे चलकर एक बार फिर कुन्तक ने मार्ग शब्द के आशय पर प्रकाश डाला है :

सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः ।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननमेव षट्पदाः ।। १ । २९ ।

+ + + गताः प्रयाताः तदाश्रयेण काव्यानि कृतवन्तः । (वृत्ति)

—यह वही सुकुमार मार्ग है जिससे, खिले हुए पुष्पों के वन में भ्रमरों के समान, सत्कवि जाते रहे हैं। + + जाते रहे हैं अर्थात् जिसका अवलम्बन कर काव्य-रचना करते रहे हैं।

अर्थात् जिसका अवलम्बन कर कवि काव्य-रचना करता है वही मार्ग है।

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार जिस विधि का अवलम्बन कर कवि काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है, उसका नाम मार्ग है : और स्पष्ट शब्दों में काव्य-रचना की रीति का नाम मार्ग है। यह परिभाषा संस्कृत रीतिशास्त्र की मान्य परिभाषा से मूलतः अभिन्न है। दण्डी ने यद्यपि कोई परिभाषा नहीं की, तो भी काव्य-मार्ग शब्द का प्रयोग अपने आप में सर्वथा स्पष्ट है और उसका आशय वही हो सकताहै जो कुन्तक ने दिया है। वामन के अनुसार रीति का अर्थ है शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से युक्त पदरचना : उनके मतानुसार यही वास्तव में काव्य-रचना है। भोज ने इस अर्थ में प्रयुक्त रीति, मार्ग, पन्थ आदि अनेक शब्दों की, व्युत्पत्ति के अनुसार, पर्यायता सिद्ध करते हुए मार्ग अथवा रीति का अर्थ कवि-गमन-मार्ग ही माना है और यही कुन्तक का कवि-प्रस्थान-हेतु है।

मार्ग भेद का आधार

कुन्तक से पूर्व मार्ग-भेद के दो आधार-मान्य थे : एक प्रादेशिक और दूसरा गुणात्मक। वास्तव में मार्गों का नामकरण मूलतः प्रादेशिक आधार पर ही हुआ था—भरत, बाण, भामह तथा दण्डी आदि पूर्व-रीति आचार्यों के विवेचन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि मार्गों का सम्बन्ध भारत के भिन्न भिन्न प्रदेशों से था। किन्तु इन सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में प्रादेशिक आधार में सन्देह भी प्रकट किया है—और भामह ने तो स्पष्ट ही प्रादेशिक आधार पर मार्गों के तारतम्य का निषेध किया है[1], वैदर्भ और गौड़ीय के पार्थक्य को भी उन्होंने अनावश्यक या। अधिक से अधिक औपचारिक माना है : वैदर्भ को अपने आप में श्रेष्ठ और गौड़ीय को अपने आप में निकृष्ट मानना अन्ध गतानुगतिकता है। वामन ने प्रादेशिक आधार का खण्डन कर गुणात्मक

---

१. देखिए लेखक की हिन्दी-काव्यालंकारसूत्र की भूमिका पृ० ३२-३३

आधार की प्रतिष्ठा की है—प्रादेशिक नामकरण को उन्होंने संयोग मात्र माना है। इस विषय में उनका मत यह है :

"किन्तु क्या भिन्न भिन्न द्रव्यों की भाँति काव्य के गुणों की भी उत्पत्ति पृथक-पृथक देशों से होती है जो उनका नामकरण देशों के आधार पर किया गया है ?

नहीं ऐसा नहीं है। वैदर्भी आदि रीतियों के नाम विदर्भादि देशों के नाम पर इसलिए रखे गये हैं कि इन देशों में उनका विशेष प्रयोग मिलता है।

विदर्भ, गौड़ और पांचाल देशों में वहां के कवियों ने क्रमशः वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली रीतियों का उनके वास्तविक रूपों में मुख्यतः प्रयोग किया है। इसलिए इनके नाम विदर्भादि के नामों पर रखे गये हैं, इसलिए नहीं कि इन देशों का उपर्युक्त रीतियों पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा है।" (का० सू० अध्याय २०)।

अर्थात् वामन के अनुसार—(१) रीतियों पर प्रदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

२. रीतियां निश्चय ही गुणात्मक अर्थात् शब्द और अर्थगत सौन्दर्य के आश्रित हैं।

(३) वैदर्भी आदि रीतियों के नाम विदर्भादि प्रदेशों पर इसलिए रखे गये हैं कि उन प्रदेशों के कवियों ने इन रीतियों का इनके वास्तविक रूप में मुख्यतः प्रयोग किया है।—परन्तु यह संयोग मात्र है कि इन प्रदेशों की परम्पराएं ऐसी थीं; द्रव्यादि की भाँति कोई रीति किसी प्रदेश विशेष की उपज नहीं है।

कुन्तक ने अपनी अमोघ शैली में मार्गों के प्रादेशिक आधार का तो तिरस्कार किया ही है—साथ ही अपने व्यंग्य की लपेट में वामन को भी ले लिया है। कुन्तक का विवेचन इस प्रकार है :—

"यहाँ अनेक प्रकार के मतभेद हो सकते हैं क्योंकि (वामन आदि) प्राचीन आचार्यों ने विदर्भादि देश विशेष के आश्रय से वैदर्भी आदि तीन रीतियों का वर्णन किया है, और अन्य (दण्डी) ने वैदर्भ तथा गौड़ीय रूप दो मार्गों का वर्णन किया है। ये दोनों ही मत संगत नहीं हैं क्योंकि रीतियों को देशभेद के आधार पर मानने से तो देशों के अनन्त होने से रीति-भेदों की भी अनन्तता होने लगेगी। और, ममेरी बहिन

से विवाह के समान विशेष रीति से युक्त होने से काव्य की व्यवस्था नहीं की जा सकती क्योंकि देशधर्म तो वृद्धों की व्यवहार-परम्परा मात्र पर आश्रित है, इसलिए उसका अनुष्ठान अशक्य नहीं है। परन्तु उस प्रकार के (सहृदयाह्लादकारी) काव्य की रचना-शक्ति (काव्य-प्रतिभा) आदि कारणसमुदाय की पूर्णता की अपेक्षा रखती है, इसलिए (देश में प्रचलित वृद्ध-व्यवहार) के समान जैसे-तैसे नहीं की सकती है।

और न दाक्षिणात्यों की संगीत-विषयक सुस्वरतादि रूप ध्वनि की रमणीयता के समान उस (काव्य-रचना) को स्वाभाविक कहा जा सकता है क्योंकि वैसा होने पर तो सभी कोई उस प्रकार का काव्य बनाने लगें। और शक्ति के होने पर भी व्युत्पत्ति आदि आहार्य कारण सामग्री (भी) प्रतिनियत-देश-विषय रूप से स्थित नहीं होती है (अर्थात् शक्ति को स्वाभाविक मान लिया जाय तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि शेष व्युत्पत्ति आदि आहार्य सामग्री देश विशेष के आधार पर प्राप्त होती है)।—(ऐसा कोई) नियम न होने से, उस देश में (कवियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों में) उसका अभाव होने से, अन्यत्र प्राप्त होने से। (हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित १।२४ वीं कारिका की वृत्ति)।

उपर्युक्त उद्धरणों में कुन्तक ने प्रादेशिक आधार के विरुद्ध तीन तर्क दिये हैं:

१. काव्य-रचना देशधर्म नहीं है।—देशधर्म तो परम्परागत प्रथाओं पर आश्रित रहता है जिनका अनुकरण किसी के लिए भी अशक्य नहीं है, परन्तु काव्य-रचना तो प्रतिभा की अपेक्षा करती है जिसका सभी में सद्भाव सम्भव नहीं है।

२. काव्य-रचना मधुर स्वर आदि के समान प्रदेश विशेष का भौगोलिक प्रभाव भी नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो उस प्रदेश के सभी व्यक्ति सत्काव्य की रचना करने में समर्थ होते।

३. केवल प्रतिभा ही नहीं व्युत्पत्ति आदि आहार्य गुण भी देशजन्य नहीं हैं, वे भी व्यक्तिनिष्ठ ही हैं।

मार्ग का वास्तविक आधार : स्वभाव

कुन्तक काव्य-रचना में स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान देते हैं और इसी सिद्धान्त के अनुसार वे स्वभाव के आधार पर मार्ग-भेद को संगत मानते हैं:—

"कवियों के स्वभावभेद के आधार पर किया गया काव्यमार्ग का भेद युक्तिसंगत हो सकता है। सुकुमार स्वभाव वाले कवि की उसी प्रकार की (सुकुमार) सहजशक्ति उत्पन्न होती है : शक्ति तथा शक्तिमान् के अभिन्न होने से। और उससे कवि उसी प्रकार के सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है। उन दोनों से सुकुमार मार्ग से ही अभ्यास में तत्पर होता है। उसी प्रकार जिस कवि का स्वभाव इस (सुकुमार स्वभाव) से विचित्र होता है, वह भी सहृदयाह्लादकारी काव्य-निर्माण के प्रस्ताव से सौकुमार्य से व्यतिरिक्त वैचित्र्य से रमणीय ही होता है। उसको उसी प्रकार की कोई विचित्र तदनुरूप शक्ति प्राप्त होती है और उससे वह उसी प्रकार की, वैदग्ध्य-सुन्दर व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है। और उन दोनों से वैचित्र्य से अधिवासित मन वाला (वह कवि) विचित्र मार्ग से अभ्यास करता है। इसी प्रकार इन दोनों (में से किसी एक) प्रकार के कवित्व-मूलक स्वभाव से युक्त कवि की उसी के योग्य मिश्रित शोभाशालिनी कोई शक्ति उत्पन्न होती है। उस (शक्ति) से उन दोनों प्रकार के स्वभाव से सुन्दर व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है और उसके बाद उन दोनों की छाया के परिपोष से सुन्दर अभ्यास करने वाला हो जाता है।

इस प्रकार ये कवि समस्तकाव्यरचनाकलाप के चरम सौन्दर्य से युक्त कुछ अपूर्व सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक काव्य का निर्माण करते हैं। वे ही (सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक)—इन कवियों को प्रवृत्त करने वाले मार्ग कहलाते हैं। यद्यपि कवि-स्वभाव-भेद-मूलक होने से (कवियों और उनके स्वभावों के अनन्त होने से) मार्गों का भी आनन्त्य अनिवार्य है, परन्तु उसकी गणना असम्भव होने से साधारणतः त्रैविध्य ही युक्तिसंगत है।"　　(व० जी० १।२८ वीं कारिका की वृत्ति)।

अर्थात् (१) कुन्तक के अनुसार काव्य-भेद का वास्तविक आधार है कवि-स्वभाव।

(२) स्वभाव के अनुसार ही प्रत्येक कवि की शक्ति होती है—शक्ति के अनुरूप ही वह व्युत्पत्ति का अर्जन करता है और इन दोनों के अनुरूप ही उसका अभ्यास होता है। अतएव काव्य के तीनों हेतु शक्ति, निपुणता और अभ्यास स्वभाव पर ही आश्रित हैं।

(३) प्रत्येक कवि का अपना विशिष्ट स्वभाव होने से कवि-स्वभाव के अनन्त भेद हैं, परन्तु उनके तीन सामान्य वर्ग बनाए जा सकते है : सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक या मध्यम।

(४) तदनुसार काव्यमार्ग के भी मूलतः अनन्त भेद हैं, परन्तु फिर भी उनके तीन सामान्य भेद किये जा सकते हैं : सुकुमार, विचित्र और मध्यम ।

विवेचन

सामान्यतः कुन्तक का यह मन्तव्य मान्य ही है कि प्रदेश की अपेक्षा स्वभाव के आधार पर मार्ग-भेद करना अधिक संगत है। काव्य-शैली का व्यक्ति के साथ प्रत्यक्ष तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसमें संदेह नहीं : आधुनिक आलोचनाशास्त्र में शैली को भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग इसी अर्थ में माना गया है। परन्तु कुन्तक का विवेचन भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। उन्होंने वामन के आशय को अशुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है, अथवा वामन के सिद्धान्त का सम्यक् अध्ययन नहीं किया। वामन ने स्वयं ही प्रादेशिक आधार का प्रबल शब्दों में खण्डन किया है। उनकी रीतियों का आधार गुणात्मक है। प्रादेशिक नामकरण को तो उन्होंने संयोग मात्र माना है और इसमें स्वयं कुन्तक को भी आपत्ति नहीं है : तदेवं निर्वचनसमाख्यामात्रकरणकारणत्वे देशविशेषाश्रयणस्य वयं न विवदामहे। अर्थात् इस प्रकार देश विशेष के आश्रय से (रीतियों के) निर्वचन अथवा नामकरण के विषय में हमारा विवाद नहीं है। १।२४-वीं कारिका की वृत्ति। अतः वामन के साथ कुन्तक ने न्याय नहीं किया, और एक उड़ती हुई बात को लेकर उन पर आक्षेप किया है।

यह तो वामन का मत रहा—परन्तु व्यापक दृष्टि से विचार करने पर प्रादेशिक आधार की कल्पना इतनी अनर्गल नहीं है। शैली के पीछे कवि का व्यक्तित्व और व्यक्तित्व के पीछे देश-काल रहता है : यह सिद्धान्त प्रायः सर्वमान्य-सा ही है। शैली के निर्माण में कवि के व्यक्तित्व का और कवि-व्यक्तित्व के निर्माण में देश-काल का प्रभाव असन्दिग्ध है; इस प्रकार काव्य-शैली के साथ देश का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध अवश्य है। इसके विरुद्ध वामन का यह तर्क है कि काव्य की रचना द्रव्य के समान प्रादेशिक जलवायु का उत्पादन नहीं है, और कुन्तक की आपत्ति यह है कि तब तो फिर किसी प्रदेश के सभी नर-नारी एक-सी काव्य-रचना करने लगेंगे। परन्तु ये दोनो तर्क एकांगी हैं। समान जलवायु में द्रव्य के उत्पादन में भी कर्षक के कौशल का बड़ा महत्व है। कर्षक का कौशल उत्पादन के गुण और परिमाण दोनों में अन्तर डाल देता है, फिर भी भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव को तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी तरह कुन्तक की युक्ति भी पूर्ण नहीं है : एक प्रदेश के क्या सभी व्यक्तियों के स्वभाव एक-से होते हैं ? जब समान जलवायु सभी नर-नारियों

को एक-सा व्यक्तित्व अथवा स्वभाव प्रदान नहीं कर सकती तो सबको समान काव्य-शैली प्रदान कैसे करेगी ? तथापि इस युक्ति के आधार पर प्रादेशिक अथवा भौगोलिक प्रभाव का निषेध तो नहीं किया जा सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्तित्व की शक्ति असीम है—हम भी उसको ही प्रमुख मानते हैं; सामान्य जीवन की अपेक्षा काव्य के क्षेत्र में तो उसका प्रभुत्व और भी अधिक है। परन्तु व्यक्तित्व के निर्माण में और व्यक्तित्व के माध्यम से काव्य-शैली के निर्माण में देश-काल का प्रभाव भी असंदिग्ध है, उसका इतनी सरलता से खण्डन नहीं किया जा सकता।[1] फिर भी, समग्रतः, प्रदेश तथा स्वभाव—इन दोनों आधारों में स्वभाव ही अधिक मान्य है, कुन्तक की इस स्थापना में भी संदेह के लिए स्थान नहीं है। स्वभाव अथवा व्यक्तित्व ही मूलतः प्रतिभा का माध्यम है, और जीवन तथा काव्य दोनों में ही प्रतिभा का प्रभुत्व है। स्वभाव के अनुसार प्रत्येक कवि की अपनी शैली या रीति होती है :

तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः। (दण्डी १।१०१)

अपनी अपनी रीति के काव्य और कविरीति। (देव-शब्दरसायन)

अतएव यदि काव्य-रीतियों का वर्गीकरण ही करना है, तो स्वभाव अथवा व्यक्तित्व के आधार पर ही वह अधिक संगत होगा। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी, यद्यपि क्विन्टीलियन आदि कतिपय आचार्यों ने प्रादेशिक आधार भी ग्रहण किया है तथापि मान्यता स्वभावगत आधार को ही दी गयी है। वहाँ आरम्भ से ही ऐटिक-एशियाटिक आदि की अपेक्षा मधुर-उदात्त अथवा कोमल-परुष आदि शैली-वर्गों का ही अधिक प्रचार रहा है और आज भी ये ही मान्य हैं।

मार्गों का तारतम्य

मार्गों के तारतम्य का खण्डन करने में कुन्तक ने फिर अपने आधुनिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। भामह की भाँति उनका भी यही मत है कि वैदर्भी, गौड़ी आदि को उत्तम और अधम मानना अनुचित है :

"और न उत्तम, अधम तथा मध्यम रूप से रीतियों का त्रैविध्य स्थापित करना ही उचित है। क्योंकि सहृदयाह्लादकारी काव्य की रचना में वैदर्भी के समान सौन्दर्य (अन्य भेदों में) असम्भव होने से मध्यम और अधम का उपदेश व्यर्थ हो जाता है।

---

१ देखिए हिन्दी काव्यालंकारसूत्र की भूमिका पृ० ४४।

ऐसा परित्याग करने के लिए किया गया है, यह (कथन भी) युक्तियुक्त नहीं है। वे (रीतिकार वामन) ही इसको नहीं मानते। और शक्ति अनुसार (थोड़ा बहुत) दरिद्रों को दान करने के समान (यथाशक्ति भला-बुरा) काव्य करणीय नहीं हो सकता।"

+ + + रमणीय काव्य के ग्रहण करने के प्रसंग में सुकुमार-स्वभाव काव्य एक (प्रथा) है। उससे भिन्न अरमणीय काव्य के अनुपादेय होने से। उस (सुकुमार) से भिन्न और रमणीयता-विशिष्ट 'विचित्र' कहलाता है। इन दोनों के ही रमणीय होने से इन दोनों की छाया पर आश्रित अन्य अर्थात् तृतीय भेद का भी रमणीयत्व मानना ही युक्तिसंगत है। इसलिए इन (तीनों भेदों) में अलग अलग अपने निर्दोष स्वभाव से तद्विदाह्लादकारित्व की पूर्णता होने से किसी की न्यूनता नहीं है।"

(व० जी० १।२४ वीं कारिका की वृत्ति)

कुन्तक के तर्क इस प्रकार हैं :

१. काव्य की कसौटी है सहृदयाह्लादकारित्व है—यदि सहृदयाह्लादकारी काव्य की रचना समग्रगुणभूषिता वैदर्भी रीति से हो सकती है, तो अन्य रीतियों की चर्चा व्यर्थ है। किन्तु यदि अन्य रीतियों द्वारा भी यह कार्य सिद्ध हो सकता है तो वैदर्भी की श्रेष्ठता की कल्पना व्यर्थ है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि अन्य रीतियां उतनी आह्लादकारी नहीं हैं, पर भारतीय काव्यदर्शन के अनुसार कुन्तक कदाचित् आह्लाद की कोटियां मानने को प्रस्तुत नहीं हैं।

२. सुकुमार तथा रमणीय का सम्बन्ध एक प्रथा मात्र है : विचित्र मार्ग भी उतना ही रमणीय होता है, और जब सुकुमार और विचित्र दोनों ही रमणीय हैं तो इन दोनों का समन्वय रूप मध्यम मार्ग भी रमणीय ही होगा : अरमणीय तो वास्तव में काव्य ही नहीं है। सहृदयाह्लादकारी होने के कारण तीनों ही काव्य-मार्गों में रमणीयता का परिपूर्ण रूप रहता है—फिर तारतम्य की सम्भावना कहां है ?

कुन्तक की यह स्थापना अत्यन्त आधुनिक है—कुन्तक से पूरे एक हजार वर्ष बाद यूरोप में क्रोचे ने ऐसी ही घोषणा कर सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में कुछ समय के लिए सनसनी पदा करदी थी, और आज की प्रायः सौन्दर्य धारणाएं इसी सिद्धान्त से प्रभावित हैं।

"सुन्दर के अन्तर्गत कोटियां नहीं होती क्योंकि सुन्दर से सुन्दरतर अर्थात् अभिव्यंजक की अपेक्षा अधिक अभिव्यंजक—यथेष्ट की अपेक्षा अधिक यथेष्ट की कल्पना सम्भव नहीं है। (क्रोचे : एस्थेटिक)

इसमें सन्देह नहीं कि इस सिद्धान्त ने स्थूल वर्ग-विभाजन की प्रवृत्ति को नियंत्रित कर सौन्दर्यशास्त्र का उपकार ही किया है, और इसमें सत्य का पर्याप्त अंश विद्यमान है। सामान्यतः भारतीय दर्शन भी आनन्द की कोटियां मानने के पक्ष में नहीं है और तदनुसार भारतीय रसशास्त्र में भी रस के अन्तर्गत कोटिक्रम की स्थिति साधारणतः अमान्य है। फिर भी तात्विक निरूपण के अतिरिक्त व्यावहारिक विवेचन में क्या आनन्द अथवा रस के अन्तर्गत मात्रा-भेद की कल्पना नहीं की जाती? यदि ऐसा है तो रसराज का सारा प्रपंच ही मिथ्या है। यूरोप के काव्यशास्त्र में अरस्तू ने दुःखान्तकी को काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप मान कर कोटिक्रम को स्वीकृति प्रदान की है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक आलोचना के प्रतिनिधि डा० रिचर्ड्स ने भी अन्तः-वृत्तियों के समंजन के आधार पर काव्यगत मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हुए दुःखान्तकी को काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है। जब अन्तःप्रवृत्तियों के समंजन में मात्राभेद माना जा सकता है तो आनन्द में मात्राभेद मानने में क्या आपत्ति हो सकती है? यों तो रिचर्ड्स ने काव्य में आह्लाद की स्थिति अनिवार्य नहीं मानी : परन्तु वह केवल शब्दों का हेर-फेर है। अन्तःवृत्तियों का समीकरण आनन्द से भिन्न स्थिति नहीं है। वास्तव में रिचर्ड्स ने 'प्लेज़र' की अनिवार्यता का खण्डन किया है—उनके यहाँ आनन्द शब्द का पर्याय नहीं : 'प्लेज़र' का निषेध कर वे जिस गम्भीर मनोदशा की व्यंजना करना चाहते हैं वह हमारे आनन्द में सहज ही निहित है। कहने का अभिप्राय यह है कि तत्व रूप में चाहे कुछ भी हो, व्यवहार में तो आनन्द की कोटियां मानी ही जाती हैं अन्यथा काव्य तथा कवियों के सापेक्षिक महत्व की कल्पना निरर्थक हो जाती है क्योंकि काव्य के मूल्यांकन की कसौटी अन्ततः रस अथवा आनन्द ही तो है। ऐसी स्थिति में कुन्तक अथवा क्रोचे का यह अभिमत अत्यन्त तात्विक तथा महत्वपूर्ण होते हुए भी कम से कम व्याहारिक नहीं है। किन्तु कुन्तक सम्भवतः इतनी दूरी न जाते हों—कुन्तक के मन्तव्य में क्रोचे के मन्तव्य का यथावत् अर्थानुसन्धान कदाचित् संगत न हो। कुन्तक वास्तव में इस तथ्य पर बल देना चाहते हैं कि काव्य-मार्ग अपने आप में उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं हैं—न उनके प्रकृत रूपों में तारतम्य ही है। सुकुमार मार्ग की सर्वश्रेष्ठ रचना को विचित्र अथवा मध्यम मार्ग की उसी कोटि की रचना से अधिक उत्कृष्ट मानने का कोई कारण नहीं है : तारतम्य कवि की शक्ति तथा व्युत्पत्ति आदि पर निर्भर तो हो सकता है, परन्तु मार्ग के आधार पर उसकी

कल्पना मिथ्या है—यदि कुन्तक केवल इतना ही कहना चाहते हैं तब तो उनका मन्तव्य सर्वथा ग्राह्य है और उसके साथ मतभेद के लिए कोई स्थान नहीं है।

मार्गभेद और उनका स्वरूप

कुन्तक ने प्रदेश पर आश्रित वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली का निषेध कर स्वभाव के अनुसार सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम या उभयात्मक—इन तीन काव्य-मार्गों का प्रतिपादन किया है और मौलिक रीति से उनके लक्षण किये हैं।

सुकुमार मार्ग :

कुन्तक ने प्रथम उन्मेष की पाँच कारिकाओं में सुकुमार मार्ग का वर्णन इस प्रकार किया है—"कवि की अम्लान प्रतिभा से उद्भिन्न नवीन शब्द तथा अर्थ से मनोहर, और अनायास रचित परिमित अलंकारों से युक्त, पदार्थ के स्वभाव के प्राधान्य से आहार्य कौशल का तिरस्कार करने वाला, रसादि के तत्वज्ञ सहृदयों के मन के अनुरूप होने के कारण सुन्दर (मनःसंवादसुन्दर), अज्ञात रूप से स्थित सौन्दर्य के द्वारा आह्लादकारी, विधाता के वैदग्ध्य से उत्पन्न अलौकिक अतिशय के समान, जो कुछ भी वैचित्र्य प्रतिभा से उत्पन्न हो सकता है वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ जहां शोभा देता है—यह वही सुकुमार नामक मार्ग है जिससे उत्फुल्ल कुसुमवन में भ्रमरों के समान सत्कवि जाते हैं।"　(१।२५-२९)

जैसे :—

प्रत्यंचा से बाँध दिये जाने के कारण जिसकी भुजाएं निश्चल हो गयी हैं, और जिसके (दश) मुखों की परम्परा हाँफ रही है, (ऐसा) इन्द्रजित् रावण (भी) जिस (कार्तवीर्य) के कारागृह में उसकी कृपा होने तक पड़ा रहा। रघुवंश ६।४०।'—यहां वर्णन के अन्य प्रकार से निरपेक्ष, कवि की शक्ति का परिणाम चरम परिपाक को प्राप्त हो गया है।"　(उपर्युक्त कारिकाओं की वृत्ति)।

इस लक्षण से सुकुमार मार्ग के निम्नलिखित तत्व उपलब्ध होते हैं :

(क) सहज प्रतिभा का प्रस्फुरण

(ख) स्वाभाविक सौन्दर्य,

(ग) आहार्य कौशल का अभाव,

(घ) रसज्ञों के मन के अनुरूप सरसता,

(ङ) अलौकिक तथा अविचारित वैदग्ध्य,

(च) शब्द और अर्थ का सहज (प्रतिभाजात) चमत्कार,

(छ) अनायास रचित परिमित अलंकारों की स्थिति, और (ज) अन्त में उदाहरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सुकुमार का अर्थ केवल कोमल अथवा मधुर नहीं है।—कालिदास, सर्वसेन आदि इस मार्ग के प्रसिद्ध कवि हैं।

विचित्र मार्ग

"जहाँ प्रतिभा के प्रथम विलास के समय पर (ही) शब्द और अर्थ के भीतर वक्रता स्फुरित होने लगती है, जहाँ कवि (एक ही अलंकार से) सन्तुष्ट न होने से एक अलंकार के लिए हार आदि में मणियों के जड़ाव के समान दूसरा अलंकार जोड़ते हैं, रत्न-किरणों की छटा के बाहुल्य से भास्वर आभूषणों के द्वारा ढक देने से जैसे कान्ता का शरीर (और भी) भूषित हो जाता है (इसी प्रकार अनेक अलंकारों की जगमगाहट से जहाँ काव्य का कलेवर और भी रमणीय हो जाता है), जहाँ इसी प्रकार भ्राजमान अलंकारों के द्वारा अपनी शोभा के भीतर छिपा हुआ अलंकार्य अपने स्वरूप से प्रकाशित होता है, जहाँ प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित वस्तु भी केवल उक्ति के वैचित्र्य मात्र से चरम सौन्दर्य को प्राप्त हो जाती है, जहाँ वाच्य-वाचक वृत्ति से भिन्न किसी वाक्यार्थ की प्रतीयमानता की रचना की जाती है, जहाँ किसी कमनीय वैचित्र्य से परिपोषित और सरस आशय से युक्त पदार्थ-स्वभाव का वर्णन किया जाता है, जहाँ वक्रोक्ति का वैचित्र्य जीवन के समान प्रतीत होता है और जिसमें किसी अपूर्व अतिशय (चमत्कार) की अभिधा स्फुरित होती है—वह विचित्र मार्ग है।

यह मार्ग अत्यन्त कठिन (दुःसंचर है) है। सुभटों के मनोरथ जिस प्रकार खड्ग-धारा के मार्ग पर चलते हैं, इसी प्रकार चतुर कवि इस मार्ग से विचरण करते रहे हैं।

(१।३४ से ४३)

+ + + +

जैसे :—

कौनसा देश आपने विरह-व्यथा-युक्त और शून्य कर दिया है ?

अथवा

कौन-से पुण्यशाली अक्षर आपके नाम की सेवा करते हैं ?

(हर्ष-चरित १।४०-४१)

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार विचित्र मार्ग की विशेषताएं इस प्रकार हैं :

(क) शब्द और अर्थ का प्रतिभाजात चमत्कार

(ख) अलंकारों की जगमगाहट

(ग) उक्ति-वैचित्र्य

(घ) प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार

(ङ) वक्रोक्ति की अतिरंजना

और (च) उदाहरणों से यह भी स्पष्ट है कि विचित्र मार्ग का ओज से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।—बाणभट्ट, भवभूति तथा राजशेखर प्रभृति कवि इसी मार्ग के अभ्यासी हैं।

(३) मध्यम मार्ग

जहां सहज तथा आहार्य शोभा के अतिशय से युक्त विचित्र तथा सुकुमार (दोनों मार्ग) परस्पर मिश्रित होकर शोभित होते हैं, जहाँ माधुर्य आदि गुण-समूह मध्यम वृत्ति का अवलम्बन कर रचना के सौन्दर्यातिशय को पुष्ट करता है, जहाँ दोनों मार्गों का सौन्दर्य स्पर्धापूर्वक विद्यमान होता है, छाया-वैचित्र्य से मनोरम जिस मार्ग के प्रति सौन्दर्य-व्यसनी (कवि-सहृदय), चित्रविचित्र भूषा के प्रति रसिक नागरिकों के समान, आदरवान् होते हैं—वही मध्यम मार्ग है।

अर्थात् मध्यम मार्ग की विशेषताएं हैं :—

(क) सहज तथा आहार्य शोभा के उत्कृष्ट रूपों का समन्वय।

(ख) मध्यम वृत्ति का अवलम्बन।

मध्यम मार्ग का अवलम्बन करने वाले कवि हैं मातृगुप्त, मायुराज, मंजीर आदि।

मार्गों के गुण

कुन्तक ने मार्गों के दो प्रकार के गुण माने हैं : सामान्य और विशेष। सामान्य गुण दो हैं—औचित्य और सौभाग्य—इनकी सभी मार्गों में समान स्थिति रहती है।

विशेष गुण चार हैं : माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य—इन गुणों की स्थिति भी सभी मार्गों में रहती है, परन्तु प्रत्येक मार्ग में इनका स्वरूप भिन्न हो जाता है ।

सामान्य गुण

औचित्य गुण : जिस 'प्रकार' से उचिताख्यान रूप स्वभावगत महत्व स्पष्टतया परिपुष्ट किया जाता है उसे औचित्य कहते हैं । (व० जी० १.५३)

अथवा

जिसमें वक्ता तथा बोधव्य के शोभातिशायी प्रभाव के कारण वाच्य अर्थ आच्छादित हो जाता है, वह भी औचित्य गुण ही कहलाता है ।

(व० जी० १.५४)

इन लक्षणों के अनुसार औचित्य गुण का मूल तत्व है उचित अर्थात् स्वरूपानुरूप वर्णन । पदार्थ का उसके स्वभाव के अनुरूप यथावत् वर्णन करना ही औचित्य है—यदि पदार्थ का स्वभाव निराभरण रह कर ही पुष्ट होता है तो निराभरण वर्णन में ही औचित्य की स्थिति है, और यदि वह अलंकृति की अपेक्षा करता है तो औचित्य की स्थिति उसके स्वरूप के अनुरूप अलंकारों के नियोजन में है ।

कुन्तक ने औचित्य को उदाहृत करने के लिए अनेक छंद उद्धृत किए हैं :—

१. हाथों में जपमाला लिए हुए, साध्वस (भय या सात्विक भाव) के उत्पन्न हो जाने से जिनके हाथ सन्न (कार्याक्षम अथवा पसीने से तर) हो गये हैं, और जटाओं की सुन्दर रचना किए हुए, दोनों का समागम इस प्रकार हुआ मानो शिव-पार्वती का दूसरा समागम हुआ हो । तापसवत्सराज ३.८४)

२. हे राजन्, सत्पात्रों को अपनी सम्पत्ति दान देकर अब शरीर मात्र से स्थित आप, वनवासियों द्वारा फल चुन लिए जाने के बाद, ठूंठ मात्र शेष नीवार के समान शोभित होते हैं । (रघुवंश—५.१५) ।

---

१. करतलकलिताक्षमालयोः समुदितसाध्वससन्नहस्तयोः ।
कृतरुचिरजटानिवेशयोरपर उमेश्वरयोः समागमः ।। तापसवत्सरा ३.८४

२. शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ।। रघुवंश ५.१५

स्वयं कुन्तक के अनुसार प्रथम उदाहरण में उचित अलंकारयोजना के द्वारा औचित्य गुण का परिपोष हो रहा है, और द्वितीय छंद में महाराज रघु के लोकोत्तर स्वरूप का औदार्य अलंकार के औचित्यको पुष्ट करता हुआ औचित्यगुण की सिद्धि कर रहा है।

प्रत्येक सत्काव्य में औचित्य के उदाहरण सर्वत्र मिलेंगे। हिन्दी के प्राचीन अथवा नवीन काव्य से अनेक छंद अनायास ही उद्धृत किये जा सकते हैं :

मानहुँ मुख-दिखरावनी, दुलहिन करि अनुरागु।
सासु सदन मन ललन हूँ, सौतिन दियौ सुहागु॥

(बिहारी)

यहाँ अलंकार का चमत्कार औचित्य का परिपोष कर रहा है।

अथवा

तुम मांसहीन, तुम रक्तहीन,
हे अस्थिशेष ! तुम अस्थिहीन,
तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण, हे चिर नवीन ! (पंत)

यहाँ बापू के व्यक्तित्व का औदार्य अलंकार के औचित्य का पोषण कर औचित्य गुण को सिद्ध कर रहा है।

सौभाग्य गुण—इस (शब्दादि रूप) उपादेय वर्ग में कवि-प्रतिभा जिस (वस्तु) के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहती है, उस वस्तु के गुण को सौभाग्य कहते हैं। १।५५।

और वह केवल प्रतिभा के व्यापार मात्र से साध्य नहीं है अपितु उस (कवि या काव्य के लिए) विहित समस्त सामग्री से सम्पादन करने योग्य है, यह कहते हैं :

(यह सौभाग्य गुण) सम्पूर्ण (काव्योचित) सामग्री से सम्पादित करने योग्य, सहृदयों के लिए अलौकिक चमत्कारी और काव्य का प्राणस्वरूप है। १।५६।

यथा : तन्वंगी के शरीर में यौवन का पदार्पण होने पर इसकी रूपरेखा धीरे-धीरे कुछ और ही होती जा रही है। उसकी छाती पर बाहुमूल तक स्तनों के उभार

की रेखा पड़ गई है। आंखों में स्नेह-युक्त कटाक्षों का प्रवेश हो गया है। स्मित-रूप सुधा से सिक्त अर्थात् मुस्कराते हुए बात करते समय भौंहें नाचने में कुछ प्रवीण-सी हो चली हैं, मन में काम के अंकुर-से उदय होने लगे हैं और शरीर के अंगों ने लावण्य ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार यौवन के आते ही धीरे धीरे उस तन्वंगी की रूपरेखा कुछ और ही हो गई है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से सौभाग्य का स्वरूप स्वतः स्पष्ट नहीं होता—परन्तु विश्लेषण करने पर इस सामान्य गुण के निम्नलिखित तत्व उपलब्ध होते हैं :—

(क) कल्पना का प्राचुर्य, और

(ख) वक्रता, गुण, अलंकार, आदि समस्त काव्य-सम्पदा का विलास। अर्थात् सौभाग्य से कुन्तक का अभिप्राय कल्पना-विलास अथवा काव्य-समृद्धि का है।

हिन्दी में विद्यापति और सूर के काव्य में और इधर छायावाद की कविता में सौभाग्य गुण का अनन्त वैभव मिलता है : उदाहरण के लिए पंत के पल्लव, गुंजन, स्वर्णकिरण, रजतशिखर, शिल्पी आदि में और प्रसाद की कामायनी में सौभाग्य गुण का अपूर्व उत्कर्ष है।

उदाहरण के लिए लज्जा सर्ग के अन्तर्गत सौन्दर्य का वर्णन देखिए।

विशेष गुण

विशेष गुणों के स्वरूप सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम तीनों मार्गों में भिन्न होते हैं, अतः मार्ग के अनुकूल ही उनके लक्षण किये गये हैं।

सुकुमार मार्ग के गुण

१. माधुर्य : समासरहित मनोहर पदों का विन्यास जिसका प्राण है, इस प्रकार का माधुर्य सुकुमार मार्ग का पहला गुण है।

---

१. दोर्मूलावधि सूत्रितस्तनमुरः स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ
किंचित्तांडवपंडिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते।
चेतः कन्दलितं स्मरव्यतिकरैर्लावण्यमंगैर्धृतं
तन्वंग्यास्तरुणिम्नि सर्पति शनैरन्यैव काचिद्गतिः॥ १२१॥
(काव्यानुशासन में हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत श्लोक)

२. प्रसाद : रस तथा वक्रोक्ति के विषय में अनायास ही अभिप्राय को व्यक्त कर देने वाला तुरन्त अर्थ-समर्पकत्व रूप जो गुण है उसका नाम प्रसाद है।

३. लावण्य : वर्णविन्यास-शोभा से युक्त पद-योजना की थोड़ी-सी सम्पदा से उत्पन्न बन्ध-सौन्दर्य अर्थात् रचना-सौष्ठव का नाम लावण्य है। अर्थात् सुरुचिपूर्ण वर्ण-योजना पर आश्रित रचना-सौष्ठव ही सुकुमार मार्ग का लावण्य गुण है।

४. आभिजात्य : स्वभाव से मसृण छाया-युक्त, श्रुति-कोमल तथा सुखद स्पर्श के समान चित्त से छूता हुआ (बन्ध-सौन्दर्य) आभिजात्य नामक गुण कहलाता है।

जैसा कि पं० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है, यह आभिजात्य गुण भी वास्तव में लावण्य की कोटि का ही गुण है—इसका आधार भी वर्ण-योजना है। दोनों में यह अन्तर प्रतीत होता है कि लावण्य से वर्णों की झंकार अभिप्रेत है और आभिजात्य से कदाचित् उनकी स्निग्धता या मसृणता—एक में वर्ण परस्पर झनक कर क्वणन-सा करते हैं, दूसरे में वे परस्पर घुलते-ढुलकते चले जाते हैं।

कुन्तक के उदाहरण हमारी इस धारणा को पुष्ट करते हैं।

लावण्य— स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमंगनानाम्॥
(रघुवंश १६।५०)

इस श्लोक की बन्ध-रचना में त, न तथा अनुस्वारयुक्त द और ग आदि की सुरुचिपूर्ण आवृत्ति के द्वारा झंकार उत्पन्न की गयी है।

आभिजात्य—

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी। (मेघदूत)

यहां य, ल, ग आदि वर्णों की कोमल ध्वनियां एक दूसरे में घुलती हुई, मसृण प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

हिन्दी रीति-काव्य में देव की या आधुनिक काव्य में पंत की झंकारमयी भाषा लावण्य से और मतिराम की अथवा वर्तमान युग में महादेवी की कोमलकान्त पदावली अभिजात्य गुण से समृद्ध है। दो-एक उदाहरण लीजिए :—

लावण्य—

पीत रँग सारी गोरे अंग मिलि गई देव,
श्रीफल-उरोज-आभा आभासै अधिक-सी ।
छूटी अलकनि छलकनि जलबूँदन की
बिना बेंदी बंदन बदन शोभा बिकसी ।
तजि-तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप-गुंज—
गुँजरत, मंजु-रव बोलै बाल पिक-सी
नीबी उकसाइ नेकु नयन हँसाय हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर तें निकसी ॥ (देव)

आभिजात्य—

आनन पूरनचंद लसै, अरबिंद-बिलास बिलोचन पेखे ।
अंबर पीत लसै चपला, छबि अंबुद मेचक अंग उरेखे ।
काम हूँ तें अभिराम महा, मतिराम हिए निहचै करि लेखे ।
तें बरने निज बैनन सों, सखि मैं निज नैनन सों जनु देखे ॥
(मतिराम)

विचित्र मार्ग के गुण

१. माधुर्य : विचित्र मार्ग के अन्तर्गत पदों के वैदग्ध्य-प्रदर्शक माधुर्य की रचना की जाती है जो शैथिल्य को छोड़ कर रचना के सौन्दर्य का वर्द्धक होता है । १ । ४४ । इस परिभाषा के अनुसार वैचित्र्य के अंगभूत माधुर्य में सुकुमार मार्गगत माधुर्य की अपेक्षा दो तत्वों का विशेषरूप से समावेश है—(१) वैदग्ध्य (२) शिथिलता का अभाव ।

२. प्रसाद : समस्त पदों से रहित तथा कवियों की रचना-शैली का प्रसिद्ध अंग प्रसाद इस विचित्र मार्ग में ओज का किंचित् स्पर्श करता हुआ देखा जाता है । १ । ४५ । अर्थात् सुकुमार मार्ग के प्रसाद गुण से विचित्र मार्ग के प्रसाद गुण में मूल अन्तर यह है कि यहां प्रसाद गुण में ओज का स्पर्श भी है; और ओज का मूल आधार है गाढ़बन्धत्व अतएव विचित्र मार्ग के अंगभूत प्रसाद गुण में समस्त पदरचना

का अनिवार्यतः समावेश हो जाता है। कुन्तक द्वारा उदाहृत छंद इस धारणा को और भी स्पष्ट कर देता है :

अपांगगततारकाः स्तिमितपक्ष्मपालीभृतः
स्फुरत्सुभगकान्तयः स्मितसमुद्गतिद्योतिताः।
विलासभरमन्थरास्तरलकल्पितैकभ्रुवो
जयन्ति रमणेऽर्पिताः समदसुन्दरीदृष्टयः ॥[1]

प्रसाद गुण का एक और लक्षण भी कुन्तक ने दिया है जो इस प्रकार है :—जहां वाक्य में पदों के समान अन्य व्यंजक वाक्य भी ग्रथित किये जाते हैं वह प्रसाद गुण का एक दूसरा ही प्रकार है । १।४६ । इस लक्षण के अनुसार प्रसाद गुण का आधार है वाक्यगुम्फ ।

इस तरह कुन्तक के अनुसार विचित्र मार्गगत प्रसाद गुण के मूल तत्व हैं (१) गाढ़बन्धत्व (२) वाक्यगुम्फ, और इस दृष्टि से यह न केवल सुकुमार मार्ग के ही प्रसाद गुण से भिन्न हो जाता है वरन् वामन तथा आनन्दवर्धन आदि के प्रसाद गुण से भी इसमें वैचित्र्य आ जाता है।

३ लावण्य : यहां अर्थात् इस विचित्र मार्ग में परस्पर-गुम्फित ऐसे पदों से जिनके अंत में विसर्गों का लोप नहीं होता और संयोगपूर्वक ह्रस्व स्वर की बहुलता रहती है लावण्य की वृद्धि हो जाती है। १।४७। वास्तव में यह गुण भी विचित्र मार्ग के प्रसाद गुण की ही कोटि का है—रचना का रूप दोनों में मूलतः भिन्न नहीं है।

४. आभिजात्य : जो न तो अधिक कोमल छाया से युक्त हो और न अत्यन्त कठिन ही हो ऐसे प्रौढ़ि-निर्मित बन्ध-गुण को विचित्र मार्ग के अन्तर्गत आभिजात्य कहते हैं। १।४८।—इस गुण का आधार है प्रौढ़ रचना। प्रौढ़ि का यह स्वभाव है कि उसमें एक अपूर्व संतुलन तथा सामंजस्य रहता है। इसीलिए कुन्तक के इस गुण में न तो अत्यन्त श्रुतिपेशल वर्णयोजना का आग्रह है और न उद्धत्त पदरचना का ही : उसमें तो दोनों की सहज स्वीकृति है। उनके उदाहरण से इस गुण का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है :

१. पाठक इन संस्कृत श्लोकों का अर्थ हिन्दी वक्रोक्तिजीवित में यथास्थान देखलें —यहां उनकी पदरचना से ही प्रयोजन है, अतएव व्याख्या करना आवश्यक है।

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला
परिमलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली
सुतनु कथय कस्य व्यंजयत्यंजसैव
स्मरनरपतिकेली—यौवराज्याभिषेकम् ।।[1]

इस श्लोक में ल, न आदि माधुर्य-व्यंजक कोमल और ण्ड, स्म आदि कठिन, संयुक्त वर्णों का संतुलित प्रयोग प्रौढ़ि का निदर्शक है ।

मध्यम मार्ग के गुण

सुकुमार तथा विचित्र मार्गों की भाँति मध्यम मार्ग में भी उपर्युक्त चार गुणों की अपनी पृथक सत्ता होती है । कुन्तक ने इन गुणों के लक्षण न देकर केवल उदाहरण ही दिये हैं : परन्तु उन्होंने आरम्भ में कुछ ऐसे संकेत अवश्य कर दिये हैं जिनसे मध्यममार्गीय चारों गुणों का सामान्य रूप स्पष्ट हो जाता है ।

माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम् ।।	१।५०

अर्थात् यहाँ माधुर्य आदि गुण-समूह मध्यमा वृत्ति का अवलम्बन कर रचना के सौन्दर्यातिशय को पुष्ट करता है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि मध्यम मार्ग के प्रत्येक गुण में सुकुमार तथा विचित्र मार्गों के उसी गुण की विशेषताओं का सन्तुलन रहता है अर्थात् मध्यम मार्ग के माधुर्य आदि गुणों की स्थिति सुकुमार मार्ग के माधुर्यादि तथा विचित्र मार्ग के माधुर्यादि गुणों की मध्यवर्ती है, उनमें दोनों की सौन्दर्य-विवृत्तियों का समन्वय है ।—इस सामान्य लक्षण के उपरान्त फिर प्रत्येक मार्ग का विशेष लक्षण करना अनावश्यक हो जाता है । वास्तव में मध्यम मार्ग का भी कुन्तक ने कोई विशेष लक्षण न कर उसे पूर्वोक्त दोनों मार्गो का मध्यवर्ती रूप ही माना है क्योंकि मध्यम अथवा उभयात्मक विशेषण अपने आप में इतना स्पष्ट है कि फिर उसकी व्याख्या की अपेक्षा नहीं रह जाती । यही कारण है कि कुन्तक ने मध्यम मार्ग के गुणों के लक्षण नहीं किये—उदाहरण मात्र देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि इन गुणों में पूर्वोक्त दोनों रूपों की मध्यमा वृत्ति का अवलम्बन किया गया है ।

---

१. पाठक इन संस्कृत श्लोकों का अर्थ हिन्दी वक्रोक्ति जीवित में यथास्थान देखलें—यहाँ उनकी पदरचना से ही प्रयोजन है, अतएव व्याख्या करना अनावश्यक है ।

विवेचन

कुन्तक का गुण-विवेचन निश्चय ही उनकी मौलिक प्रतिभा का द्योतक है। उन्होंने केवल नवीन गुणों की उद्भावना ही नहीं की, वरन् गुण के मूलभूत सिद्धान्त में भी संशोधन किया है। कुन्तक के गुरग मार्गों के अंग हैं, आधार नहीं है—अर्थात् विशेष गुणों का सद्भाव मार्ग के स्वरूप तथा तारतम्य का निश्चय नहीं करता: सभी मार्गों में चारों गुण स्वरूप-भेद से विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार गुणों की अधिकता या न्यूनता का प्रश्न नहीं उठता। इसके अतिरिक्त गुरगों में किसी प्रकार का तारतम्य भी नहीं है क्योंकि सभी गुरगों का एक-सा महत्व है और साथ ही सभी मार्गों के गुरगों में भी स्वरूप का भेद है सौन्दर्य की मात्रा का नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि चारों गुणों का काव्य-सौन्दर्य समान है, विभिन्न मार्गों के एक ही नाम के गुणों में भी केवल स्वरूप-भेद है: काव्य-सौन्दर्य समान है, और तीनों मार्गों में गुरगों की संख्या भी समान है। अतएव मार्गों का अपने अपने प्रकृत रूप में समान महत्व स्वतःसिद्ध है—उनमें काव्य-सौन्दर्य की मात्रा का भेद नहीं है केवल प्रकृति का भेद है। कुन्तक का यह तर्क सर्वांगपूर्ण है और उसके उपरान्त मार्गों के तारतम्य के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता।

कुन्तक की दूसरी उद्भावना है गुणों की मार्ग-सापेक्ष्यता—उनके मत में गुरगों की स्वतन्त्र अथवा निरपेक्ष स्थिति नहीं है, उनका स्वरूप मार्ग के अनुसार बदल जाता है। यह स्थापना वास्तव में विचारणीय है। क्या जीवन में माधुर्य आदि गुरग व्यक्ति-सापेक्ष्य हैं? उदाहरण के लिए क्या सरल-सुकुमार व्यक्ति का प्रणय-व्यापार वैचित्र्य-प्रिय व्यक्ति के प्रणय-व्यापार से भिन्न होता है? क्या दोनों की चित्त-द्रुति भिन्न होती है? दोनों में मात्रा का भेद हो सकता है—अभिव्यक्ति का भेद हो सकता है, किन्तु मूल स्वरूप द्रुति का भिन्न कैसे हो सकता है? शकुन्तला और वासवदत्ता के प्रणय की अभिव्यक्ति तो भिन्न अवश्य थी—किन्तु प्रेमानुभूति की दशा में दोनों के मन की द्रुति तो मूलतः एक ही थी। कुन्तक का मत इसके विपरीत नहीं है क्योंकि एक तो वे गुरग को अभिव्यक्ति का ही अंग मानते हैं चित्त की अवस्था नहीं, दूसरे उन्होंने अतिरंजना के रूप में मात्रा-भेद का भी संकेत किया है:

आभिजात्यप्रभृतयः पूर्वमार्गोदिता गुणाः
अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः।

अर्थात् सुकुमार मार्ग के प्रसंग में पूर्वोक्त आभिजात्य आदि गुण विचित्र मार्ग में आहार्य-शोभा को प्राप्त कर अतिरंजित रूप में उपलब्ध होते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सुकुमार मार्ग में माधुर्य आदि सहज होते हैं यहाँ आहार्य तथा अतिरंजित —(किन्तु अतिरंजना का अर्थ सौन्दर्य का आधिक्य नहीं है—उस गुण विशेष का आतिशय्य ही है क्योंकि अधिक मधुर का अर्थ अधिक सुन्दर या अधिक उत्कृष्ट नहीं होता)।

वामन आदि अन्य देहवादियों की भाँति कुन्तक भी गुण को मूलतः रचना का ही अंग मानते हैं। अपने अधिकांश गुणों के विवेचन में उन्होंने वर्णविन्यास, ह्रस्व-दीर्घ अक्षरों की मैत्री, पद-रचना, समास, वाक्य-गुम्फ, आदि का ही आधार ग्रहण किया है: केवल एक स्थान पर—सुकुमार मार्ग के आभिजात्य गुण के प्रसंग में उन्होंने चित्त का उल्लेख किया है:—'सुखद स्पर्श के समान चित्त से छूता हुआ-सा'। इससे दो निष्कर्ष सम्भव हैं एक तो यह कि उपर्युक्त वर्णन केवल लाक्षणिक है, दूसरा यह कि मूलतः देहवादी होते हुए भी कुन्तक ने जिस प्रकार रस के प्रति सर्वत्र अनुराग व्यक्त किया है इसी प्रकार गुण को रचना का अंग मानते हुए भी उन्होंने उसके आन्तरिक चित्तवृत्ति-रूप की सर्वथा उपेक्षा नहीं की। इनमें से कोई-सा भी निष्कर्ष ठीक हो किन्तु इसमें संदेह नहीं है कि कुन्तक का मत वामन के मत के ही अधिक निकट है। जैसा कि हम वामन के गुण-विवेचन के प्रसंग में स्पष्ट कर चुके हैं, गुण मूलतः चित्तवृत्ति-रूप हैं—किन्तु व्यवहार में उनके रचनागत आधार अर्थात् वर्ण-योजना, पद-विन्यास, समास आदि को भी आधार रूप में मान्यता देना अनिवार्य हो जाता है। इस दृष्टि से कुन्तक का मत भी उसी अनुपात में अशुद्ध है जिस अनुपात में कि वह गुण के आन्तरिक रूप की उपेक्षा करता है।

गुणों के स्वरूप-विश्लेषण में भी कुन्तक की धारणाएं अधिक स्पष्ट तथा मान्य नहीं है। सुकुमार मार्ग के अन्तर्गत लावण्य और आभिजात्य में और विचित्र मार्ग के अन्तर्गत प्रसाद तथा लावण्य में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। विचित्र-मार्ग-गत प्रसाद में विसर्गों का अलोप मुख्य आधार माना गया है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि हिन्दी आदि भाषाओं में जहाँ विसर्ग का प्रयोग बहुत कम है, इस गुण की स्थिति ही प्रायः सम्भव नहीं है। तब फिर इसे काव्य का मौलिक गुण कैसे माना जाय? सामान्य गुणों में सौभाग्य की लावण्य और आभिजात्य आदि गुणों से अतिरिक्त क्या स्थिति रह जाती है, यह कहना कठिन है। और फिर, ओज का सर्वथा त्याग किसी प्रकार संगत नहीं है—स्वभाव को आधार मानने पर भी ओज का पृथक महत्व किसी

भाँति कम नहीं होता। वास्तव में ओज की स्थिति लावण्य तथा आभिजात्य गुणों की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट तथा मौलिक है। इस प्रकार गुणों के सम्बन्ध में कुन्तक की उद्‌भावनाएं अधिक तर्क-पुष्ट नहीं हैं : आनन्दवर्धन के गुण-निरूपण में वे कोई सुधार नहीं कर सके, उनकी अपेक्षा मम्मट और जगन्नाथ का विवेचन अधिक ग्राह्य हुआ।

वामन और कुन्तक के विचारों की पारस्परिक संगति

कुन्तक के रीति-सम्बन्धी विचारों का उचित मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि वामन के रीति-सिद्धान्त के प्रकाश में उनकी परीक्षा की जाय।

रीति के लक्षण तथा स्वरूप के विषय में कुन्तक का मत वामन के मत से मूलतः भिन्न नहीं हैं। कुन्तक के अनुसार काव्य-रचना की विधि का नाम मार्ग या रीति है, और वामन ने भी उसे विशिष्ट पदरचना माना है। इस प्रकार दोनों आचार्यों के मत में रचना-विधि ही रीति है।

लक्षणों की शब्दावली से साधारणतः कुछ ऐसा आभास मिलता है कि कुन्तक के मार्ग का स्वरूप वामनीया रीति की अपेक्षा अधिक व्यापक है—कुन्तक का मार्ग काव्यरचना की विधि है और वामन की रीति केवल पदरचना है। परन्तु कुन्तक के सम्पूर्ण विवेचन की परीक्षा करने पर इस भ्रम का निराकरण हो जाता है,—और इसके प्रमाण ये हैं : (१) कुन्तक ने मार्गों का विवेचन बन्ध के प्रसंग में किया है।

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्······।

यह कुन्तक का काव्य-लक्षण है। क्रमशः इसके 'शब्द' 'अर्थ' 'सहितौ' 'वक्र' 'कवि-व्यापार' आदि की व्याख्या करने के उपरांत 'बन्ध' अर्थात् रचना के प्रसंग में ही मार्गों की विवेचना की गई है। (२) मार्गों के समस्त गुणों के निरूपण में बन्ध अर्थात् पदरचना के ही तत्वों का विवेचन है, रचना के व्यापक रूपों का जैसे प्रबन्ध-रचना, प्रकरण-रचना आदि का कोई उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बन्ध का अर्थ यहाँ प्रायः पदरचना ही है।

आधार के विषय में कुन्तक का वामन से पर्याप्त मतभेद है। जहाँ तक प्रादेशिक आधार का प्रश्न है दोनों ने प्रायः एक ही स्वर से उसे अमान्य घोषित किया है। कुन्तक ने वामन पर प्रादेशिक आधार को मान्यता देने का का दोषारोप किया

है, पर वह उनका भ्रम है : वामन ने स्पष्ट शब्दों में प्रादेशिक आधार का निषेध किया है। किन्तु इसके अतिरिक्त भी दोनों के मतों में पर्याप्त वैषम्य है। वामन ने जहाँ गुण को रीति का आधार माना है, वहाँ कुन्तक ने स्वभाव को—वामन ने गुणों की न्यूनाधिकता के आधार पर वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों का निरूपण तथा मूल्यांकन किया है, किन्तु कुन्तक ने स्वभाव को प्रमाण मानते हुए तीनों मार्गों में समान गुणों की स्थिति स्वीकार की है। उधर तारतम्य के विषय में तो दोनों के मन्तव्य सर्वथा विपरीत हैं : वामन ने समग्रगुणभूषिता वैदर्भी को वास्तव में काव्य की मूल रीति स्वीकार किया है—अन्य को काव्योचित नहीं माना, यहाँ तक कि अभ्यास के लिए भी उनकी उपादेयता स्वीकार नहीं की। इसके विपरीत कुन्तक ने तारतम्य का सर्वथा निषेध किया है—उनके मत से रीतियों में काव्य-सौन्दर्य की मात्रा का भेद नहीं है, प्रकार का या प्रकृति का भेद है।

रीतियों के स्वरूप के विषय में प्राचीन और नवीन पण्डितों का प्रायः यह मत रहा है कि कुन्तक के सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग क्रमशः वामनीया वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली के पर्याय मात्र हैं। परन्तु यह समंजन वास्तव में अधिक संगत नहीं है। कुन्तक के मत को अनादृत करने के लिए कदाचित् परवर्ती आचार्यों ने उचित विचार के बिना ही उनके मार्गों का वामनीया रीतियों में अन्तर्भाव कर दिया है। लक्षणों का विश्लेषण करने पर कुन्तकीय मार्गों तथा वामनीया रीतियों का स्वरूप-भेद स्पष्ट हो जाता है। सबसे प्रथम तो वैदर्भी रीति और सुकुमार मार्ग को लीजिए। वामन के अनुसार वैदर्भी रीति समग्र-गुण-सम्पन्न है और इस प्रकार आदर्श काव्य की समानार्थी है—कुन्तक सुकुमार मार्ग के लिए ऐसा कोई दावा नहीं करते। कुन्तक के सुकुमार मार्ग की आत्मा है स्वाभाविकता, वह सहज प्रतिभा की सृष्टि है और आहार्य कौशल का उसमें अभाव है। वामन के वैदर्भी-लक्षण में पूरा बल समस्त गुणों के सद्भाव और दोषों के एकान्त अभाव पर ही दिया गया है, उसमें कहीं आहार्य कौशल की अस्वीकृति नहीं है : वरन् समग्रगुणभषिता होने से उसमें में स्वाभाविक तथा आहार्य दोनों प्रकार की शोभा का समावेश अनिवार्य है। इस वैषम्य के अतिरिक्त दोनों में पर्याप्य साम्य भी है : दोनों ही रसनिर्भरा हैं, दोनों में मधुर—कोमल, परुष तथा प्रसन्न आदि सभी वृत्तियों का समावेश है और दोनों का प्रतिनिधि कवि कालिदास है। किन्तु फिर भी समग्रतः उनमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है, अतएव दोनों को समानार्थी मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। विचित्र मार्ग और गौड़ीया रीति में भी कम असमानता नहीं है : वास्तव में दीनों का मूलवर्ती दृष्टिकोण

ही भिन्न है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों में रचनागत साम्य भी पर्याप्त है अर्थात् समासबहुलता, गाढ़बन्धत्व, वाक्यगुम्फ, अलंकार का प्राचुर्य आदि तत्व दोनों में समान हैं और दोनों के प्रतिनिधि कवि बाणभट्ट आदि भी समान हैं। परन्तु वामन की गौड़ीया जहाँ अग्राह्य है, वहाँ कुन्तक का विचित्र मार्ग अपने ढंग से उतना ही काम्य है जितना सुकुमार मार्ग; उसमें भी रमणीयता की पराकाष्ठा रहती है। कुन्तक ने इसके प्रयोग की 'खड्गधारापथ' विशेषण द्वारा प्रशस्ति की है। वामन के परवर्ती आनन्दवर्धन, मम्मट आदि की परुषा वृत्ति का, जिसे गौड़ीया की समानार्थी माना गया है, मनोवैज्ञानिक आधार सर्वथा भिन्न है : उसका प्राण-तत्व है ओजस् जो मूलतः चित्त की दीप्ति-रूप है। चित्त की दीप्ति-रूप ओजस् और विचित्र स्वभाव अथवा वैचित्र्य-प्रेम दोनों की सत्ता अलग अलग है। विचित्र स्वभाव सहज स्वभाव का विपर्यय तो अवश्य है, परन्तु ओजस्वी का पर्याय नहीं है : ओजस् सहज स्वभाव का भी उतना ही घनिष्ठ अंग हो सकता है जितना विचित्र का। अतएव बाह्य, पदरचनागत साम्य के आधार पर दोनों का एकीकरण संगत नहीं है। निष्कर्ष यह है कि परवर्ती रस-ध्वनिवादियों की परुषा वृत्ति उपनाम गौड़ीया रीति तथा कुन्तक के विचित्र मार्ग की तो कल्पना का आधार ही भिन्न है। हाँ वामन का दृष्टिकोण चूंकि वस्तुपरक है—इस दृष्टि से उनकी 'ओजः—कान्तिमती गौड़ी'—जो गाढ़बन्धत्व, नृत्य-सी करती हुई पदरचना, संगुम्फित विचारधारा तथा रसदीप्ति आदि से सम्पन्न होती है—सहज 'सुकुमार' से भिन्न तथा 'विचित्र' के निकट अवश्य है। परन्तु उनके भी दृष्टिकोण का मौलिक भेद, जिसके अनुसार गौड़ीया अग्राह्या रीति है, विचित्र मार्ग और गौड़ीया रीति की अभेद-कल्पना को सर्वथा विफल कर देता है।—तीसरे मार्ग अर्थात् मध्यम मार्ग और पांचाली रीति में लगभग कोई साम्य नहीं है, कुन्तक के मध्यम मार्ग में भी रमणीयता की वैसी ही पराकाष्ठा है, जैसी सुकुमार अथवा विचित्र मार्ग में; सामान्य रसिक नहीं अरोचकी, अर्थात् ऐसे रसिक जो सदा असाधारण सौन्दर्य की कामना करते हैं, इसी मध्यम मार्ग से संतुष्ट होते हैं। किन्तु वामन की पांचाली रीति 'विच्छाया'[1] है। वामन की पांचाली में जहां केवल माधुर्य और सौकुमार्य का समावेश है, वहां कुन्तक का मध्यम मार्ग चारों गुणों से ही विभूषित नहीं है वरन् आहार्य तथा स्वाभाविक दोनों प्रकार की शोभा का सुन्दर समंजन है। वामन के परवर्ती आचार्यों ने रीति और वृत्ति का एकीकरण करते हुए पांचाली रीति को प्रसादगुणमयी कोमला वृत्ति की समानार्थी माना है। शिंगभूपाल ने वामनीया रीतियों के नाम ही बदल दिये हैं : उनके अनुसार वामन की वैदर्भी कोमला, गौड़ी कठिना और पांचाली मिश्रा हो

१. विच्छाया च—का० सू० १।२।१३ की वृत्ति

जाती है। इस प्रकार समंजन का यह प्रयत्न संस्कृत काव्यशास्त्र में नियमित रूप से चल रहा था। अतएव कुन्तक का मध्यम मार्ग यदि पांचाली का प्रतिरूप मान गया तो इसमें विशेष आश्चर्य नहीं है—क्योंकि शिंगभूपाल आदि ने भी पांचाली को मिश्रा ही माना था। फिर भी, स्थिति चाहे कुछ भी रही हो, एकीकरण का यह प्रयत्न विशेष संगत तथा तर्कपुष्ट नहीं था; वास्तव में परवर्ती आचार्यों ने कुन्तक का धैर्यपूर्वक अध्ययन नहीं किया था।—ग्रन्थ के लुप्त हो जाने से यह सम्भव भी नहीं था।

कुन्तक के गुणों का स्वरूप भी स्वभावतः वामन आदि के गुणों के स्वरूप से अत्यन्त भिन्न है। सुकुमार मार्ग के माधुर्य और प्रसाद गुण तो वामन के शब्दगुण माधुर्य तथा शब्दगुण प्रसाद से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। कुन्तक के सुकुमार-मार्गीय माधुर्य गुण का प्राण है 'समासरहित मनोहर पदों का विन्यास' और उधर वामन का माधुर्य भी पृथक्पदत्व का ही नाम है। कुन्तक का सुकुमारमार्ग गत प्रसाद वामन के शब्दगुण अर्थव्यक्ति तथा अर्थगुण प्रसाद का समतुल्य है। सुकुमारमार्ग के लावण्य और आभिजात्य नाम से तो सर्वथा मौलिक गुण हैं, परन्तु स्वरूप की दृष्टि से वे वामन के कान्ति, उदारता तथा सौकुमार्य नामक शब्दगुणों से मिलते-जुलते हैं। सुकुमारमार्ग-गत लावण्य में जो वर्ण-झंकार है वही वामन के शब्दगुण 'कान्ति' में है जहां उज्ज्वल पदरचना का चमत्कार रहता है, और वही शब्दगुण 'उदारता' में भी है जिसमें पद नृत्य-सा करते हैं। सुकुमारगत आभिजात्य का प्राण है स्निग्ध पदरचना जिसका वामन के दो शब्दगुणों में अन्तर्भाव है—श्लेष में जिसका आधार है मसृणत्व जहाँ अनेक पद एक-से प्रतीत होते हैं, और सौकुमार्य में जहाँ पदरचना कोमल होती है।

विचित्रमार्ग-गत गुणों की स्थिति और भी भिन्न है। माधुर्य तो, जिसमें पृथक्पदत्व के अतिरिक्त शैथिल्य का अभाव तथा वैदग्ध्य का सद्भाव रहता है, वामन के उपर्युक्त उदारता नामक शब्दगुण के निकट है जहाँ पद नृत्य-सा करते हैं—क्योंकि पदों का नर्तन तभी सम्भव है जब पदरचना शैथिल्यरहित तथा वैदग्ध्यपूर्ण हो। प्रसाद में कुन्तक ने ओज अर्थात् गाढ़बन्धत्व और उधर वाक्य-गुम्फ का समावेश कर उसे एक ऐसा नवीन रूप प्रदान कर दिया है जो वामन तथा आनन्दवर्धनादि के प्रसाद से तो एकान्त भिन्न है किन्तु वामनीया ओज के शब्दगुण रूप तथा अर्थगुण रूप दोनों के निकट है। विचित्र मार्ग का लावण्य गुण भी वामन के शब्दगुण ओज या दण्डी के शब्दगुण श्लेष की परिधि में आ जाता है; आभिजात्य ऐसे प्रौढ़ि-निर्मित बन्धगुण का नाम है जो न तो अधिक कोमल छाया से युक्त हो और न अत्यंत कठिन ही हो। यह

'विचित्र'-गुण वास्तव में वामन के किसी गुण की अपेक्षा दण्डी के सौकुमार्य गुण के अधिक सन्निकट है जिसमें एक ओर अतिनिष्ठुर वर्णों का और दूसरी ओर रचना में शैथिल्य उत्पन्न करने वाले अति कोमल वर्णों का त्याग, अथवा—दूसरे शब्दों में—कोमल तथा परुष वर्णों का रमणीय संतुलन रहता है।[1] वामन के गुणों में शब्दगुण समाधि से ही इस गुण का थोड़ा बहुत साम्य है क्योंकि समाधि में भी कोमल तथा परुष वर्णों की संयोजना द्वारा रचना में आरोह-अवरोह का चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। मध्यम मार्ग के गुणों की स्थिति मध्यवर्ती है—उनमें सुकुमार तथा विचित्र मार्गों के गुणों की विशेषताओं का मिश्रण रहता है, अतएव उनका पृथक विवेचन अनावश्यक है।

वक्रोक्ति और रीति-सिद्धान्त

संस्कृत काव्यशास्त्र में ये दोनों देहवादी सिद्धान्त मान गये हैं क्योंकि इनमें से एक में अंगसंस्थावत् रीति को और दूसरे में अलंकृति-रूप वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन-सर्वस्व माना गया है। इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों सिद्धान्तों का आधारभूत दृष्टिकोण वस्तुपरक है किन्तु दोनों की वस्तुपरकता में मात्रा-भेद है। रीति-सिद्धान्त में जहाँ रचना-नैपुण्य मात्र को ही काव्य-सर्वस्व मान कर व्यक्ति-तत्व की लगभग उपेक्षा कर दी गयी है, वहां वक्रोक्ति में स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान दिया गया है। व्यक्ति-तत्व के इसी मात्रा-भेद के अनुपात से रस तथा ध्वनि के प्रति दोनों के दृष्टि-कोण में भेद है। रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति-सिद्धान्त की रस और ध्वनि दोनों के प्रति अधिक निष्ठा है : रीति-सिद्धान्त के अन्तर्गत रस को बीस गुणों में से केवल एक गुण अर्थ-कान्ति का अंग मान कर सर्वथा अमुख्य स्थान दिया गया है, किन्तु वक्रोक्ति-सिद्धान्त में प्रबन्ध-वक्रता, वस्तु-वक्रता आदि प्रमुख भेदों का प्राण-तत्व मान कर रस को निश्चय ही अत्यन्त महत्व प्रदान किया गया है। और वास्तव में यह स्वाभाविक भी था क्योंकि वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना तक ध्वनि अथवा रस-ध्वनि सिद्धान्त का व्यापक प्रचार हो चुका था और कुन्तक के लिए उसके प्रभाव से मुक्त रहना संभव नहीं था। इस प्रकार रस और ध्वनि के साथ वक्रोक्ति का रीति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।—फिर भी दोनों में मूल साम्य यह है कि दोनों काव्य को कौशल या नैपुण्य ही मानते हैं, सृजन नहीं : दोनों के मत से काव्य रचना है आत्माभिव्यक्ति नहीं है।

---

१. अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते।
बन्धशैथिल्यदोषोपि दर्शितः सर्वकोमले॥ (काव्यादर्श १।६९।)

रीति तथा वक्रोक्ति के आधार-तत्व, अंग-उपांग, भेद-प्रभेद आदि का तुलनात्मक विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति का कलेवर निश्चय ही रीति की अपेक्षा कहीं व्यापक है। रीति की परिधि जहां पद-रचना तक ही सीमित है वहाँ वक्रोक्ति की परिधि में प्रकरण-रचना, प्रबन्ध-कल्पना आदि का भी यथावत् समावेश है: रीति की परिधि में, वास्तव में वक्रोक्ति के प्रथम चार भेद अर्थात् वर्णविन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्ध-वक्रता, पदपरार्ध-वक्रता तथा वाक्य-वक्रता ही आते हैं। वामन प्रबन्ध-कौशल के महत्व से अनभिज्ञ नहीं थे—उन्होंने मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध-रचना को अधिक मूल्यवान माना है:

क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत्। १।३।२८

नानिबद्धं चकास्त्येकतेजः परमाणुवत्। १।३।२९

अर्थात् माला और उत्तंस के समान उन दोनों (मुक्तक और प्रबन्ध) की सिद्धि क्रमशः होती है। १।३।२८।

जैसे अग्नि का एक परमाणु नहीं चमकता है इसी प्रकार अनिबद्ध अर्थात् मुक्तक काव्य प्रकाशित नहीं होता है। १।३।२९।

उपर्युक्त सूत्रों से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि वामन के मन में प्रबन्ध-रचना के प्रति कितना आदर है। फिर भी प्रबन्ध में भी वे रीति अर्थात् पदरचना के नैपुण्य को ही प्रमाण मानते हैं—निबद्ध काव्य का महत्व उनकी दृष्टि में कदाचित इसीलिए अधिक है कि उसमें विशिष्ट पदरचना की निरन्तर शृंखला रहती है, इसलिए नहीं कि उसमें जीवन के व्यापक और महत् तत्वों के विराट कल्पना-विधान के लिए विस्तृत क्षेत्र है। इस दृष्टि से कुन्तक की वक्रोक्ति का आधार निश्चय ही अधिक व्यापक और उसकी परिधि अधिक विस्तृत है। आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में यह कहना असंगत न होगा कि वक्रोक्ति वास्तव में काव्यकला[1] की समानार्थी है और रीति काव्यशिल्प[2] की; इस प्रकार वामन की रीति वक्रोक्ति का एक अंग मात्र रह जाती है—और मैं समझता हूं इन दोनों सिद्धान्तों के अन्तर का सार यही है।

---

१. पोयटिक आर्ट २. पोयटिक क्राफ़्ट

वक्रोक्ति और ध्वनि

१. स्वरूपगत साम्य

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का जन्म वास्तव में प्रत्युत्तर रूप में हुआ था। काव्यात्मवाद के विरुद्ध देहवादियों का यह अन्तिम विफल विद्रोह था। काव्य के जिन सौन्दर्य-भेदों की आनन्दवर्धन ने ध्वनि के द्वारा आत्मपरक व्याख्या की थी, उन सभी की कुन्तक ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना-सी प्रतीत होती है।

उपर्युक्त तथ्य को हम उद्धरणों द्वारा पुष्ट करते हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार की है :

जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके 'उस अर्थ को' प्रकाशित करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है। (ध्व० १।१३) 'उस अर्थ' से क्या तात्पर्य है ?

प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही) भासित होता है। (ध्व० १।४)

उस स्वादु अर्थ को बिखेरती हुई बड़े-बड़े कवियों की सरस्वती अलौकिक तथा अतिभासमान प्रतिभा विशेष को प्रकट करती है। (ध्व०।१६)

अतएव यह विशिष्ट अर्थ अलौकिक प्रतिभाजन्य है, स्वादु है, वाच्य से भिन्न कुछ विचित्र वस्तु है और प्रतीयमान है।

अब कुन्तक-कृत वक्रोक्ति की परिभाषा लीजिए :—'प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णनशैली ही वक्रोक्ति है। —यह कैसी है ? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति। वैदग्ध्य का अर्थ है कविकर्म-कौशल।' + + (व० जी० १।१० की वृत्ति)। प्रसिद्ध कथन से भिन्न का अर्थ है (१) 'शास्त्र आदि में उपनिबद्ध शब्द-अर्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न' तथा (२) 'प्रचलित (सामान्य) व्यवहार सरणि का अतिक्रमण करने वाला।'

इन दोनों परिभाषाओं का तुलनात्मक परीक्षण करने पर ध्वनि और वक्रोक्ति का साम्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है।

१. दोनों में प्रसिद्ध वाच्य अर्थ और वाचक शब्द का अतिक्रमण है : आनन्दवर्धन का सूत्र 'यत्रार्थः शब्दो वा···उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' (जहाँ अर्थ अपने आपको और शब्द अपने अर्थ को गौण करके) ही कुन्तक की शब्दावली में 'शास्त्रादिप्रसिद्ध-शब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि' (शास्त्रादि में उपनिबद्ध शब्द-अर्थ के प्रसिद्ध अर्थात् सामान्य प्रयोग से भिन्न) का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों में साधारण का त्याग और असाधारण की विवक्षा है।

२. ध्वनि तथा वक्रोक्ति दोनों में वैचित्र्य की समान वांछा है—आनन्द ने 'अन्यदेव वस्तु' के द्वारा और कुन्तक ने 'विचित्रा अभिधा' के द्वारा इसको स्पष्ट किया है।

३. दोनों आचार्य इस वैचित्र्य-सिद्धि को अलौकिक प्रतिभाजन्य मानते हैं।

किन्तु यह सब होते हुए भी दोनों में मूल दृष्टि का भेद है : ध्वनि का वैचित्र्य अर्थ रूप होने से आत्मपरक है, उधर वक्रोक्ति का वैचित्र्य अभिधा-रूप अर्थात् उक्ति-रूप होने के कारण मूलतः वस्तुपरक है।—इसीलिए हमारी स्थापना है कि वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुपरक परिकल्पना ही है।

(२) भेद-प्रस्तारगत साम्य :

स्वरूप की अपेक्षा ध्वनि तथा वक्रोक्ति के भेद-प्रस्तार में और भी अधिक साम्य है। जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि में काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव से लेकर व्यापक से व्यापक रूप का भी अन्तर्भाव कर उसको सर्वांगपूर्ण बनाने की चेष्टा की

१. शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि व० जी०।
२. प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि व० जी०।

थी, वैसे ही कुन्तक ने बहुत कुछ उनकी पद्धति का ही अवलम्बन कर वक्रोक्ति में काव्य के सभी अवयवों का समावेश कर उसे भी सर्वव्यापक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार वक्रोक्ति और ध्वनि में स्पष्ट सहव्याप्ति है : ध्वनि का चमत्कार जैसे सुप्, तिङ्, वचन, कारक, कृत्, तद्धित, समास, उपसर्ग, निपात, काल, लिंग, रचना, अलंकार, वस्तु, तथा प्रबन्ध आदि में है, वैसे ही वक्रोक्ति का विस्तार भी पद-पूर्वार्ध और पदपरार्ध से लेकर प्रकरण तथा प्रबन्ध तक है। वास्तव में ध्वनि के आत्म-परक सौन्दर्य-भेदों की कुन्तक ने वस्तुपरक व्याख्या करने का ही प्रयत्न किया है इसलिए उनके विवेचन की रूपरेखा अथवा योजना बहुत कुछ वही है जो ध्वनिकार ने अपनी स्थापनाओं के लिए बनाई थी।

ध्वनि तथा वक्रोक्ति के भेदों का तुलनात्मक विवरण देने से यह धारणा सर्वथा स्पष्ट हो जायगी। वक्रोक्ति का सर्वप्रथम भेद है वर्णविन्यास-वक्रता जिसका चमत्कार वर्णरचना पर आश्रित है। इसी को आनन्दवर्धन ने वर्ण-ध्वनि अथवा रचना-ध्वनि कहा है।

पदपूर्वार्ध-वक्रता और ध्वनि :

पदपूर्वार्ध-वक्रता के अंतर्गत रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता, पर्याय-वक्रता, उपचार-वक्रता, विशेषण-वक्रता, संवृति-वक्रता, वृत्ति-वक्रता, लिंगवैचित्र्य-वक्रता और क्रियावैचित्र्य-वक्रता—ये आठ भेद हैं। इनमें से अधिकांश का ध्वनि के विभिन्न रूपों में सहज ही अन्तर्भाव हो जाता है—अथवा यह कहिये कि अधिकांश ध्वनि-भेदों के रूपान्तर हैं। रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता लक्षणामूला ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य भेद का ही रूपान्तर है—यहां तक कि कुन्तक ने अपने दोनों उदाहरण भी ध्वन्यालोक से ही लिए हैं :

(१) ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति।
रइ किरणानुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ॥

अर्थात्

तब ही गुन सोभा लहैं, सहृदय जबहिं सराहिं।
कमल कमल हैं तबहिं जब, रविकर सों बिकसाहिं॥

(२) कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।
वैदेही तु कथं भवष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥

अर्थात्

मैं कठोर हृदय राम हूं, सब कुछ सह लूंगा। परन्तु सीता की क्या दशा होगी?—हा देवि! धर्य रखना।

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में कमल में और द्वितीय में राम पद में चमत्कार है। इसी को आनन्दवर्धन ने अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि और कुन्तक ने रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता नाम से अभिहित किया है।

पदपूर्वार्ध-वक्रता के अन्य भेदों का ध्वनि में समाहार : पदपूर्वार्ध-वक्रता के अन्य भेदों का भी ध्वनि में सहज ही समाहार हो जाता है। जैसे पर्याय-वक्रता पर्याय-ध्वनि का रूपान्तर मात्र है, पारिभाषिक शब्दावली में जिसे शब्दशक्तिमूला अनुरणनरूपव्यंग्य पदध्वनि कहते हैं। स्वयं कुन्तक ने इसी तथ्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

एष एव शब्दशक्तिमूला अनुरणनरूपव्यंग्यस्य पदध्वनेविर्षय :
(व० जी० २। १२ वृत्ति भाग)।

उपचार-वक्रता भी स्पष्टतः लक्षणामूला ध्वनि के द्वितीय भेद अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य ध्वनि की समानार्थी है : दोनों में उपचार अर्थात् लक्षणा का ही चमत्कार है। उधर संवृति-वक्रता तो ध्वनन अथवा व्यंजना पर ही पूर्णतया आश्रित है : यहां सांकेतिक सर्वनाम आदि के द्वारा रमणीय अर्थ की व्यंजना रहती है। पारिभाषिक दृष्टि से यह भी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के ही अंतर्गत आती है; इसमें भी सर्वनाम आदि सांकेतिक शब्दों पर कमनीय अर्थों का अध्यारोप रहता है—ध्वनिवाद की दृष्टि से अनेक कमनीय अर्थों का ध्वनन किया जाता है। वृत्तिवैचित्र्य-वक्रता समास-ध्वनि के समतुल्य है :

सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥ ध्व० ३।१६।

ध्वन्यालोक की इस कारिका में जिन कृत्तद्धित समास-ध्वनि रूपों की विवृत्ति है, वे वृत्तिवैचित्र्य-वक्रता के ही समानान्तर हैं। लिंग का उल्लेख आनन्दवर्धन ने यहां पृथक रूप से नहीं किया किन्तु उनके उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लिंग पर आश्रित रमणीय अर्थ-संकेतों से वे अपरिचित नहीं थे। उपर्युक्त कारिका में भी वचन, कारक, आदि का तो स्पष्ट संकेत है ही—साथ ही 'च' के द्वारा निपात, उपसर्ग, काल

आदि की व्यंजना भी आनन्दवर्धन ने अपने आप स्वीकार की है : च शब्दात् निपातोपसर्ग-कालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते । वास्तव में उपर्युक्त भेद उपलक्षण मात्र हैं—आनन्दवर्धन ने लिंग, प्रत्यय आदि सभी में ध्वनि के चमत्कार की व्यंजना-क्षमता मानी है । इस प्रकार लिंगवैचित्र्य-वक्रता लिंग-ध्वनि की पर्याय सिद्ध होती है । शष दो भेदों विशेषण-वक्रता तथा क्रियावैचित्र्य-वक्रता की स्थिति एकान्त स्वतन्त्र नहीं है—विशेषण-वक्रता को पर्याय-वक्रता का ही एक रूप मानना अनुचित न होगा । इस प्रकार वह तो पर्याय-ध्वनि के अन्तर्गत आ जाती है : वैसे 'च' शब्द के आधार पर विशेषण-ध्वनि की कल्पना भी असंगत नहीं होगी । क्रियावैचित्र्य-वक्रता के अन्तर्गत भी अनेक वक्रता-रूपों का संक्रमण है; उपचारमनोज्ञता उपचार-वक्रता की समतुल्य होने के कारण अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के अंतर्गत आती है । कर्मादि-संवृति संवृति-वक्रता से अधिक भिन्न नहीं है, अतः उसका तो ध्वनि के साथ सहज सम्बन्ध ही है । क्रियाविशेषण-वक्रता भी विशेषण-वक्रता और उसके आगे पर्याय-वक्रता के निकट पहुँच जाती है और अन्त में पर्याय-ध्वनि से मिल जाती है ।

पदपरार्ध-वक्रता और ध्वनि

पदपरार्ध-वक्रता के भी लगभग आठ ही भेद हैं : वैचित्र्य-वक्रता, कारक-वक्रता, वचन-वक्रता, पुरुष-वक्रता, उपग्रह-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता, उपसर्ग-वक्रता और निपात-वक्रता । इनमें से प्रत्यय, काल, कारक, वचन, उपसर्ग, निपात का तो ध्वनिकार की उपर्युक्त कारिका में स्पष्ट उल्लेख ही है; शष दो, पुरुष और उपग्रह को भी, 'च' में गर्भित माना जा सकता है । काल, कारक, प्रत्यय आदि के जिन चमत्कारों को ध्वनिकार ने व्यक्तिनिष्ठ मान कर ध्वनि के भेद-प्रभेदों में स्थान दिया है, उन्हीं को कुन्तक ने वस्तुनिष्ठ मानते हुए वक्रता-भेदों में परिगणित कर लिया है । चमत्कार वे ही हैं, केवल उन्हें परखने का दृष्टि-भेद है ।

वस्तु-वक्रता और वस्तु-ध्वनि

वस्तु-वक्रता की परिभाषा कुन्तक ने इस प्रकार की है : 'वस्तु का उत्कर्षयुक्त स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ (वस्तु) या वाच्य की वक्रता कहलाती है ।' (हिन्दी व० जी० पृ ३।१) । आगे वस्तु-स्वभाव-वर्णन की व्याख्या करते हुए कुन्तक ने इसी प्रसंग में लिखा है : 'वर्णन का अर्थ है प्रतिपादन । कैसे ? केवल वक्र शब्द के विषय रूप से । वक्र अर्थात् नाना प्रकार की (पूर्वोक्त) वक्रता से युक्त जो कोई शब्द-विशेष विवक्षित अर्थ के समर्पण में समर्थ हो—केवल

उस एक ही के गोचर अर्थात् प्रतिपाद्यतया विषय होने से। यहाँ (उस शब्द विशेष के) वाच्य रूप से विषय यह नहीं कहा है, (प्रतिपाद्यतया विषय कहा है) क्योंकि प्रतिपादन तो व्यंग्य रूप से भी हो सकता हैं। (हिन्दी व० जी० ३.१ वृत्तिभाग)।' उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक की वस्तु-वक्रता पूर्णतः नहीं तो कम से कम अंशतः वस्तु-ध्वनि की समानार्थी अवश्य है। अन्तर इतना है कि कुन्तक वस्तु-सौन्दर्य का प्रतिपादन वाच्य रूप में भी सम्भव मानते हैं; किन्तु आनन्दवर्धन उसे केवल व्यंग्य रूप में ही स्वीकार करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहां वस्तुतः आनन्द का ही मत मान्य है क्योंकि मूलरूप में अनुभवगम्य होने से सौन्दर्य वाच्य न होकर व्यंग्य ही हो सकता है, फिर भी कुन्तक की वस्तु-वक्रता—जहाँ तक कि उसका आधार व्यंग्य है—वस्तु-ध्वनि से अभिन्न ही है, इसमें सन्देह नहीं।

वाक्य-वक्रता और अलंकार-ध्वनि

वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत सामान्यतः अर्थालंकारों का सन्निवेश है। वाच्य पर आश्रित अर्थालंकारों का सौन्दर्य तो निश्चय ही अलंकार-ध्वनि के अन्तर्गत नहीं आता, किन्तु कुन्तक ने रूपक, व्यतिरेक, आदि कतिपय अलंकारों का प्रतीयमान रूप भी माना है। ये प्रतीयमान अलंकार स्पष्टतः अलंकार-ध्वनि के ही समरूप है—कुन्तक के प्रतीयमान रूपक को आनन्दवर्धन रूपक ध्वनि नाम से अभिहित कर चुके थे। दोनों का उदाहरण भी एक ही है :—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः॥

अर्थात् हे तरलायतनयने अब लावण्य और कान्ति से दिग्दिगन्तर को परिपूर्ण कर देने वाले तुम्हारे मुख के मन्द मुसकानयुक्त होने पर भी इस में तनिक भी चंचलता दिखाई नहीं पड़ती है, इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह पयोधि जलराशि मात्र है।

उपर्युक्त श्लोक के व्यंग्य रूपक पर दोनों आचार्यों ने अपने अपने ढंग से टिप्पणी की है :

आनन्दवर्धन :—"इस प्रकार के उदाहरणों में संलक्ष्यक्रमव्यंग्य रूपक के आश्रय से ही काव्य का चारुत्व व्यवस्थित होता है, इसलिए (यहाँ) रूपक-ध्वनि व्यवहार (नामकरण) ही उचित है। (हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० १६५)"

कुन्तक—"यह प्रतीयमान रूपक का उदाहरण है—प्रतीयमानरूपकं यथा। (हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—३।१६ की वृत्ति के अन्तर्गत उद्धृत)।"

कुन्तक ने स्वतंत्र विवेचन तो केवल दो तीन ही प्रतीयमान अलंकारों का किया है, किन्तु उनकी वृत्तियों से प्रतीत होता है कि उन्हें उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अनेक अलंकारों के भी प्रतीयमान रूप स्वीकार्य थे।

इस प्रकार वाक्य-वक्रता के प्रतीयमान भेदों में अलंकार-ध्वनि का स्पष्ट अन्तर्भाव है।

प्रबन्ध-वक्रता और प्रबन्ध-ध्वनि

कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता वास्तव में प्रबन्ध-कौशल का ही पर्याय है जिसके अन्तर्गत कथाविधान की विभिन्न प्रणालियों का समाहार किया गया है। परन्तु अपने समष्टि रूप में वह प्रबन्ध-ध्वनि से अभिन्न है। कुन्तक ने स्पष्ट लिखा है: 'किसी महाकवि के बनाये हुए रामकथामूलक नाटक आदि में पाँच प्रकार की (वर्णविन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्ध-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता, वाक्य-वक्रता तथा प्रकरण-वक्रता) वक्रता से सुन्दर सहृदयाह्लादकारी (नायक-रूप) महापुरुष का वर्णन ऊपर से किया गया प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में [कवि का प्रयोजन उस के चरित्र का वर्णन मात्र नहीं होता, अपितु] 'राम के समान आचरण करना चाहिए, रावण के समान नहीं' इस प्रकार का, विधि-निषेधात्मक धर्म का उपदेश (उस काव्य या नाटक का) परमार्थ होता है। यही उस प्रबन्ध काव्य की वक्रता या सौन्दर्य है।' (१।२१ वीं कारिका की वृत्ति)। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह परमार्थ रूप प्रबन्ध-वक्रता ही प्रबन्ध-ध्वनि है। इस समष्टि रूप के अतिरिक्त प्रबन्ध-वक्रता के दो-एक भेद भी ऐसे हैं जो प्रबन्ध-ध्वनि के प्रतिरूप हैं। उदाहरण के लिए प्रबन्ध-वक्रता का छठा भेद कुन्तक के शब्दों में इस प्रकार है:

"कथाभाग का वर्णन समान होने पर भी अपने अपने गुणों से काव्य, नाटक आदि प्रबन्ध पृथक पृथक होते हैं जैसे प्राणों के शरीर में समान होने पर भी उनके अपने अपने गुणों से भेद होता है। ४।२५ का अन्तश्लोक।

(इस प्रकार) नये-नये उपायों से सिद्ध होने वाले, नीतिमार्ग का उपदेश करने वाले, महाकवियों के सभी प्रबन्धों में (अपनी-अपनी) वक्रता अथवा सौन्दर्य रहता है।" ४।२६।

इसका अभिप्राय यह है कि एक ही कथा पर आश्रित काव्य अपने ध्वन्यार्थ के भेद से परस्पर भिन्न हो सकते हैं : कुन्तक के शब्दों में यही प्रबन्ध-वक्रता है और आनन्दवर्धन के शब्दों में प्रबन्ध-ध्वनि।

इसी प्रकार प्रबन्ध-वक्रता का प्रथम भेद भी, जहां प्रतिभाशाली कवि अपने काव्य में उपजीव्य कथा से भिन्न रस का परिपाक कर उसे सर्वथा नवीन रूप प्रदान कर देता है, प्रबन्ध-ध्वनि से भिन्न नहीं है क्योंकि अन्ततः काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से प्रबन्ध-ध्वनि रस रूप ही होती है, अतः रस-परिवर्तन का अर्थ प्रबन्ध-ध्वनि का परिवर्तन ही है। इस भेद विशेष की चर्चा वक्रोक्ति और रस के प्रसंग में करेंगे।

वक्रोक्ति और व्यंजना :

ध्वनि-सिद्धान्त का आधार है व्यंजना शक्ति। कुन्तक मूलतः अभिधावादी हैं—उन्होंने अपनी वक्रोक्ति को विचित्र अभिधा ही माना है। परन्तु उन्होंने लक्षणा और व्यंजना की स्थिति का निषेध नहीं किया—वास्तव में इन दोनों को उन्होंने अभिधा का ही विस्तार माना है, अभिधा के गर्भ में ही इन दोनों की स्थिति उन्हें मान्य है अर्थात् वाचक शब्द में द्योतक और व्यंजक शब्द, वाच्य अर्थ में द्योत्य और व्यंग्य अर्थ स्वयं ही अन्तर्भूत हो जाते हैं।

(प्रश्न)—द्योतक और व्यंजक भी शब्द हो सकते हैं। (आपने केवल वाचक को शब्द कहा है।) उनका संग्रह न होने से अव्याप्ति होगी। (उत्तर)—यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि (वाचक शब्दों के समान व्यंजक तथा द्योतक शब्दों में भी) अर्थप्रतीतिकारित्व की समानता होने से उपचार (गौणी वृत्ति) से वे (द्योतक और व्यंजक) दोनों भी वाचक ही हैं। इसी प्रकार द्योत्य और व्यंग्य दोनों अर्थों में भी बोध्यत्व की समानता होने से वाच्यत्व ही रहता है।

(हिन्दी वक्रोक्तिजीवित पृ० ३७)

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोध में एक प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदाय खड़ा कर देने पर भी कुन्तक ने ध्वनि का तिरस्कार नहीं किया—अथवा नहीं कर सके। वास्तव में ध्वनि का जादू उनके सिर पर चढ़कर बोलता रहा है, इसीलिए अपने सिद्धान्त-निरूपण के आरम्भ से अन्त तक स्थान स्थान पर वे उसे सांकेतिक अथवा स्पष्ट रूप में स्वीकृति देते रहे हैं।

जैसा कि मैंने आरम्भ में ही स्पष्ट किया है इन दोनों आचार्यों की सौन्दर्य-कल्पना में मौलिक भेद नहीं है। दोनों निश्चित रूप से कल्पनावादी हैं—आनन्द-वर्धन और कुन्तक दोनों ने ही अपने सिद्धान्तों में अनुभूति तथा बुद्धि तत्व की अपेक्षा कल्पना-तत्व की महत्व-प्रतिष्ठा की है। किन्तु दोनों की दृष्टि अथवा विवेचन-पद्धति भिन्न है। आनन्दवर्धन कल्पना को आत्मगत मानते हैं अर्थात् कल्पना से तात्पर्य प्रमाता की कल्पना से है : सत्काव्य प्रमाता की कल्पना को उद्बुद्ध कर सिद्धि-लाभ करता है। कुन्तक कल्पना को वस्तुगत मानते हैं—उनकी दृष्टि से यह है तो मूलतः कवि की ही कल्पना, किन्तु रचना के उपरान्त कवि के भूमिका से हट जाने के कारण, वह अब काव्य में सन्निविष्ट हो गई है, अतः उसकी स्थिति काव्य में वस्तुगत ही रह जाती है। इस प्रकार वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धान्तों में बाह्य प्रतिद्वन्द्व होते हुए भी मौलिक साम्य है।—और कुन्तक इससे अवगत थे। एक प्रमाण के द्वारा अपनी स्थापना को पुष्ट कर मैं इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ। कुन्तक के दो मार्गों—सुकुमार और विचित्र—में मूल अन्तर यह है कि एक में स्वाभाविकता का सहज सौन्दर्य है, और दूसरे में वक्रता का प्राचुर्य अर्थात् कल्पना का विलास। इसके लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, विचित्र मार्ग के नाम और गुण दोनों ही इसके साक्षी हैं। कुन्तक ने ध्वनि[1] अथवा प्रतीयमानता को इस कल्पना-विशिष्ट विचित्र मार्ग का प्रमुख गुण घोषित कर कल्पना पर आश्रित वक्रता और ध्वनि के इसी मौलिक साम्य की पुष्टि की है : वक्रता—कल्पना—ध्वनि।

---

१. प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्। व०जी० १।४०

अर्थात् जहां वाच्य-वाचक वृत्ति से भिन्न वाक्यार्थ की किसी प्रतीयमानता की रचना की जाती है।

वक्रोक्ति और रस

यद्यपि कुन्तक ने उच्च स्वर से सालंकारस्य काव्यता की घोषणा की है, फिर भी उनकी सहृदयता रस का अनादर नहीं कर सकी। सिद्धान्त रूप से वक्रोक्ति और रस में वैसा मौलिक साम्य तो नहीं है जैसा ध्वनि और वक्रोक्ति में है, किन्तु सब मिला कर वक्रोक्ति-चक्र में रस का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है : वास्तव में यह कहना असंगत न होगा कि रस के प्रति वक्रोक्ति और ध्वनि दोनों सम्प्रदायों का दृष्टिकोण बहुत कुछ समान है।

काव्य के लक्षण और प्रयोजन के अन्तर्गत रस की महत्ता : सब से पूर्व तो कुन्तक ने काव्य के लक्षण और प्रयोजन के अंतर्गत ही रस का महत्व स्वीकृत किया है। काव्य-लक्षण :—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ १ । १० ।

यहां काव्य-बन्ध के लिए वक्रकविव्यापार के साथ ही तद्विदाह्लादकारिता को भी अनिवार्य माना गया है : तद्विद् का अर्थ है काव्य-मर्मज्ञ अथवा सहृदय…इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य को अनिवार्यतः सहृदय-आह्लादकारी होना चाहिये।

काव्य-प्रयोजन :—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारोवितन्यते ॥ १ । ५

अर्थात् काव्यामृत का रस उसको समझने वाले (सहृदयों) के अन्तःकरण में चतुर्वर्गरूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

चमत्कारो वितन्यते का अर्थ स्वयं कुन्तक की वृत्ति के अनुसार यह है : आह्लादः पुनः पुनः क्रियते अर्थात् आनन्द का विस्तार करता है। इस प्रकार कुन्तक आनन्द को काव्य का चरम प्रयोजन मानते हैं।

यहां यह शंका की जा सकती है कि कुन्तक इतना महत्व आह्लाद को दे रहे हैं—रस को नहीं, अर्थात् काव्यानन्द को रसास्वाद का पर्याय क्यों माना जाय ? भामह आदि अलंकारवादियों ने भी प्रीति अथवा आनन्द को मूल प्रयोजन माना है, परन्तु

उनकी आनन्द-विषयक धारणा रस से भिन्न है। इसी प्रकार कुन्तक का आह्लाद-स्तवन रस का स्तवन नहीं है।—इस शंका का समाधान स्वयं कुन्तक के शब्दों का आधार लेकर किया जा सकता है। सुकुमार मार्ग के विवेचन में कुन्तक ने सहृदय या तद्विद् को स्पष्टतया रसादिपरमार्थज्ञ अर्थात् रसादि के परम तत्व का वेत्ता कहा है : रसादि-परमार्थज्ञ-मनःसंवादसुन्दरः। १। २६। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी कई स्थलों पर तथा कई रूपों में उन्होंने सहृदय को रसज्ञ का ही पर्याय माना है। उदाहरण के लिए सौभाग्य गुण के लक्षण में सहृदय के लिए 'सरसात्मनाम्' शब्द का प्रयोग किया गया है और उसकी व्याख्या करने के लिए 'आर्द्रचेतसाम्' शब्द का :

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम्। १। ५६।
\+ \+ सरसात्मनाम् आर्द्रचेतसाम्........।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक का 'सहृदय' निश्चय रूप से सरसात्मा अथवा आर्द्रचित अथवा रसज्ञ ही है और उसका आह्लाद रसास्वाद से अधिक भिन्न नहीं है।

कुन्तक के मत से काव्य में रस का स्थान

कुन्तक के विवेचन में कई प्रसंगों के अन्तर्गत ऐसी स्पष्ट उक्तियां हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि ध्वनिकार की भाँति वे भी रस को काव्य का परम तत्व मानते हैं। प्रबन्ध-वक्रता के विवेचन में उन्होंने निर्भ्रान्त शब्दों में यह घोषित किया है कि वक्रोक्ति का सबसे प्रौढ़ और उत्कृष्ट रूप प्रबन्ध-वक्रता है :—प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः। ४। २६ वीं कारिका का अंतश्लोक। अर्थात् प्रबन्ध कुन्तक के मत से साधारण कवियों की नहीं वरन् कवीन्द्रों की कीर्ति का मूल कारण है। इसी प्रबन्ध के विषय में उनका यह दृढ़ विश्वास है :

निरन्तररसोद्गारगर्भसंदर्भनिर्भराः
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः॥ ४। ११।

अर्थात् निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले संदर्भों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कथामात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती है। उपर्युक्त दोनों ही उद्धरण अपने आप में अत्यन्त स्पष्ट हैं। उनसे यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि कुन्तक के अनुसार भी काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप है प्रबन्ध और प्रबन्ध का प्राणतत्व है रस—इस प्रकार ध्वनि-काव्य की भाँति वक्रोक्तिजीवित काव्य का भी प्राण-तत्व रस ही सिद्ध होता है।

ध्वनि-सिद्धान्त के समान ही वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अन्तर्गत भी रस को वाच्य नहीं वरन् व्यंग्य माना गया है—इस प्रसंग में कुन्तक ने उद्भट द्वारा मान्य रस के स्वशब्द-वाच्यत्व का उपहास करते हुए लिखा है : उसके (उपर्युक्त मन्तव्य) के विषय में रसों की स्वशब्दवाच्यता हमने आज तक नहीं देखी है। + + इसका यह अभिप्राय हुआ कि शृंगार आदि रस अपने वाचक शब्दों के द्वारा कहे जाकर श्रवण से गृहीत होते हुए चेतन सहृदयों को चर्वणा का चमत्कार—आस्वाद का आनन्द प्रदान करते हैं। इस युक्ति से घृतपूप आदि खाद्य पदार्थ अपने नामों से कहे जाने पर (ही) आस्वादन-सम्पत्ति अर्थात् खाने का आनन्द उत्पन्न कर देते हैं, (यह सिद्ध हो जाएगा)। इस प्रकार उन उदारचरित महाशयों की कृपा से किसी भी पदार्थ के उपभोग-सुख की कामना करने वाले सभी व्यक्तियों के लिए, बिना प्रयत्न के उस पदार्थ का नाम लेने मात्र से त्रैलोक्य-राज्य की सुख-सम्पदा बिना प्रयत्न के सिद्ध हो जाती है।

व० जी० ३।११ की वृत्ति।।

काव्यवस्तु के विवेचन में भी कुन्तक ने रस को अत्यधिक महत्व दिया है। उन्होंने काव्य की वर्ण्य वस्तु को स्पष्ट शब्दों में रसस्वरूप माना है और विविध प्रकार से उसकी रसनिर्भरता का प्रतिपादन किया है : "इस प्रकार स्वभाव-प्राधान्य और रस-प्राधान्य से दो प्रकार की वर्ण्य विषय-वस्तु का सहज सौकुमार्य से रसस्वरूप शरीर ही अलंकार्यता के योग्य है।" व० जी० ३।११ कारिका की वृत्ति। इसका अभिप्राय यह है कि कुन्तक रसनिर्भरता को काव्यवस्तु का प्रमुख अंग मानते हैं—उन्होंने रस-प्रधान वस्तु के अन्तर्गत ही रसों का वर्णन किया है। काव्यवस्तु के चेतन और जड़ नाम से दो भेद करते हुए उन्होंने प्रथम भेद अर्थात् चेतन को ही मुख्य माना है और उसके लिए रसादि का परिपोष आवश्यक ठहराया है :

"मुख्य चेतन (देवादि की) अक्लिष्ट अर्थात् बिना खींचतान के, रत्यादि के परिपोष से मनोहर और अपने जाति-योग्य स्वभाव-वर्णन से परम मनोहर (वस्तु महाकवियों की वर्णना का प्रमुख विषय होती है) व० जी० ३।७। + + + और रत्यादि स्थायी भाव का परिपोष ही रस बन जाता है।"

(उपर्युक्त कारिका का वृत्ति भाग)।

यहीं कुन्तक ने विप्रलम्भ और करुण रस के अनेक उदाहरण देकर अन्य रसों की ओर संकेत कर दिया है : "कोमल रस होने से विप्रलम्भ और करुण रस के उदाहरणों को प्रदर्शित कर दिया है—अन्य रसों के उदाहरण भी स्वयं समझ लेने चाहिएँ।"

जड़ का वर्णन भी काव्य का अंग है—परन्तु जड़ अर्थात् प्राकृतिक दृश्यों अथवा पदार्थों का यह वर्णन प्रायः अपनी रसोद्दीपन-सामर्थ्य के कारण ही काम्य होता है :

"अमुख्य चेतन (सिंहादि तिर्यक् योनि के प्राणियों) और बहुत से जड़ पदार्थों का भी रसोद्दीपन-सामर्थ्य के कारण मनोहर रूप भी कवियों की वर्णना का विषय होता है।" व० जी० ३।८

इस प्रकार काव्य-वस्तु के दोनों रूपों में रस का प्राधान्य है; वास्तव में अपनी रस-बन्धुरता के कारण ही वर्ण्य वस्तु काव्य के लिए इतनी स्पृहणीय होती है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के मार्गों के विवेचन में भी रस को इसी प्रकार उचित महत्व दिया गया है। सुकुमार और विचित्र दोनों मार्गों में कुन्तक ने प्रकारान्तर से रस के चमत्कार का उल्लेख किया है। सुकुमार मार्ग अपने सहज रूप में रसादिपरमार्थज्ञ-मनःसंवादसुन्दर[1] अर्थात् रसादि के परम तत्व को जानने वाले सहृदयों के मन के अनुरूप होने के कारण सुन्दर होता है, और विचित्र मार्ग कमनीय वैचित्र्य से परि-पोषित होने के साथ साथ[2] सरसाकूत—कुन्तक की अपनी वृत्ति के अनुसार रसनिर्भरा-भिप्राय (रसनिर्भर अभिप्राय से युक्त) भी होता है। उधर, तीसरा—मध्यम मार्ग भी, इन दोनों का मिश्र रूप होने के कारण, स्वतः ही रस-पुष्ट होना चाहिए। इस प्रकार तीनों मार्गों में रस का संचरण अनिवार्य है।

सारांश यह है कि काव्य-भेद, काव्य-वस्तु और काव्य-मार्ग—इन तीनों में ही कुन्तक ने रस की महत्व-प्रतिष्ठा की है।

रसवत् अलंकार का निषेध और रस की अलंकार्यता

अन्त में रसवत् अलंकार का निषेध और रस की अलंकार्यता की सिद्धि के द्वारा यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक के मन में रस के प्रति कितना अधिक आग्रह है। वास्तव में रस का तिरस्कार तो कुन्तक के पूर्ववर्ती अलंकारवादियों ने भी नहीं किया, किन्तु उन्होंने रस को अलंकार ही माना है। रस-ध्वनिवादियों की दृष्टि में यह रस का तिरस्कार ही है क्योंकि इस प्रकार आत्मभूत रस आभूषण मात्र रह जाता है। इसी दृष्टि से उन्होंने रसवत् अलंकार का निषेध कर रस की अलंका-

१. १।२६ २. १।४१

र्यता की प्रतिष्ठा की। कुन्तक ने रस के विषय में भामह, दण्डी तथा उद्भट की परम्परा का त्याग कर रस-ध्वनिवादियों का ही अनुसरण किया है :

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
स्वरूपातिरिक्तस्य शब्दार्थसंगतेरपि ॥ ३।११।

अर्थात् रसवत् अलंकार नहीं है और इसके कारण दो हैं— एक तो अपने स्वरूप के अतिरिक्त इसमें अलंकार्य रूप से किसी अन्य की प्रतीति नहीं होती और दूसरे अलंकार्य रस के साथ अलंकार शब्द का प्रयोग होने से शब्द और अर्थ की संगति नहीं बैठती। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि रस अलंकार्य है, अलंकार नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अलंकार्य मान लेने से भी रस की विशेष महत्व-प्रतिष्ठा नहीं होती : रस अधिक से अधिक शरीर बन जाता है, आत्मा फिर भी नहीं बनता। परन्तु यह बात नहीं है—इसी प्रसंग में कुन्तक ने उपर्युक्त सन्देह का निवारण कर दिया है : 'रसवतोऽलंकार इति षष्ठीसमासपक्षोऽपि न सुस्पष्टसमन्वयः। यस्य कस्यचित् काव्यत्वं रसवत्वमेव।' अर्थात् 'रसवान् का अलंकार' इस षष्ठी समास पक्ष का भी स्पष्ट समन्वय नहीं हो सकता है क्योंकि किसी भी काव्य का रसवत्व ही उसका काव्यत्व है। (३।११ वृत्ति भाग)।

इसी प्रसंग में आगे चलकर फिर कुन्तक ने प्रकारान्तर से रस के प्रति अपना पक्षपात व्यक्त किया है। रसवत् के परम्परागत रूप का खण्डन करने के उपरान्त वे अपने मत से उसके वास्तविक स्वरूप का विवेचन करते हैं :—'रस तत्व के विधान से, सहृदयों के लिए आह्लादकारी होने के कारण, जो अलंकार रस के समान हो जाता है, वह अलंकार रसवत् कहा जा सकता है। १।१४।'—उपर्युक्त लक्षण से यह स्पष्ट है, और कुन्तक ने अपनी वृत्ति में कहा भी है कि 'इस प्रकार अर्थात् (रस-तत्व के विधान से) यह अलंकार समस्त अलंकारों का प्राण और काव्य का अद्वितीय सार-सर्वस्व हो जाता है।'

इससे अधिक रस का स्तवन और क्या हो सकता है?

रस और वक्रोक्ति का सम्बन्ध

अब प्रश्न यह रह जाता है कि एक ओर जब अलंकाररूपा वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है, और दूसरी ओर रस भी काव्य का परम तत्व है, तो इन दोनों का समंजन कैसे किया जाय? अर्थात् वक्रोक्ति और रस का वास्तविक सम्बन्ध क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है। कुन्तक की मूल धारणा का सूत्र पकड़ लेने से इस शंका का समाधान हो जाता है। कुन्तक के मत से काव्य का प्राण तो निश्चय ही वक्रोक्ति है: और वक्रोक्ति का अर्थ, जैसा कि हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं, उक्ति-चमत्कार मात्र न होकर कविकौशल अथवा काव्य-कला ही है। कुन्तक के अनुसार काव्य वक्रोक्ति अर्थात् कला है। इस कला की रचना के लिए कवि शब्द-अर्थ की अनेक विभूतियों का उपयोग करता है—अर्थ की विभूतियों में सबसे अधिक मूल्यवान है रस। अतएव रस वक्रोक्तिरूपिणी काव्यकला का परम तत्व है: काव्य की प्राण-चेतना है वक्रता और वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार है रस-सम्पदा। इस प्रकार वक्रोक्ति के साथ रस का सम्बन्ध लगभग वही है जो ध्वनि के साथ है।

रस और ध्वनि का सम्बन्ध दो प्रकार का है: एक तो रस अनिवार्यतः ध्वनि-रूप ही हो सकता है (कथन रूप नहीं), दूसरे रस ध्वनि का सोत्कृष्ट रूप है। इन दोनों सम्बन्धों के विश्लेषण से एक तीसरा तथ्य भी सामने आता है और वह यह कि ध्वनि और रस में, ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार, पलड़ा ध्वनि का ही भारी। रस की स्थिति ध्वनि के बिना सम्भव नहीं है, परन्तु ध्वनि की स्थिति रस-विहीन हो सकती है: वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि भी काव्य के उत्कृष्ट रूप हैं। अतः काव्य में अनि-वार्यता ध्वनि की ही है रस की नहीं। रस के बिना काव्यत्व सम्भव है, ध्वनि के बिना नहीं, इसीलिए आनन्दवर्धन के मत से ध्वनि काव्य की आत्मा है, रस परमश्रेष्ठ तत्व अवश्य है किन्तु आत्मा नहीं है।—कुछ ऐसी ही स्थिति वक्रोक्ति और इस के परस्पर सम्बन्ध की भी है। (१) रस वक्रोक्ति की परम विभूति है, (२) रस की काव्यगत अभिव्यंजना वक्रता-विहीन नहीं हो सकती—रसोत्कर्ष की प्रेरणा से अभिव्यक्ति का उत्कर्ष अनिवार्य है, और अभिव्यक्ति का यही उत्कर्ष वक्रता है। अर्थात् काव्य में रस की स्थिति वक्रता-विरहित सम्भव नहीं है—काव्य से बाहर हो सकती है। किन्तु वह भाव-सम्पदा, काव्य-वस्तु मात्र है काव्य नहीं है। उधर वक्रता तो रस के बिना भी अनेक रूपों में विद्यमान रह सकती है चाहे वे रूप उतने उत्कृष्ट न हों जितना कि रसमय रूप। कम से कम कुन्तक का यही मत है। रस के बिना काव्य जीवित रह सकता है वक्रोक्ति के बिना नहीं। इसी लिए वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है, रस काव्य की अमूल्य सम्पत्ति होते हुये भी जीवित नहीं है। संक्षेप में रस के साथ वक्रोक्ति का यही सम्बन्ध है जो ध्वनि-रस-सम्बन्ध से अधिक भिन्न नहीं है। वास्तव में रस-सम्प्रदाय द्वारा स्थापित रागतत्व के एकाधिपत्य के विरुद्ध ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों ने अपने अपने ढंग से कल्पना की महत्व-प्रतिष्ठा की है। रागतत्व का सौन्दर्य तो दोनों

को स्वीकार्य है किन्तु अपने सहज रूप में नहीं—कल्पना-रंजित रूप में। इस कल्पना-रंजन की प्रक्रिया भिन्न है : ध्वनि-सिद्धान्त के अंतर्गत कल्पना आत्मनिष्ठ है और वक्रोक्ति में वस्तुनिष्ठ। रस के साथ इन दोनों के सम्बन्ध में भी बस इतना ही अन्तर पड़ जाता है। रस और ध्वनि दोनों आत्मनिष्ठ हैं अतएव उनका सम्बन्ध अधिक अंतरंग है : वक्रोक्ति मूलतः वस्तुनिष्ठ है अतः रस के साथ उसका सम्बन्ध आधार-आधेय का ही है।

वक्रोक्ति और औचित्य

जीवन के समान काव्य में भी औचित्य की महिमा अक्षुण्ण है। वास्तव में जीवन के और तदनुसार काव्य के मूल्यों का आधार ही औचित्य है : औचित्य ही जीवन और काव्य दोनों के सत्य, शिव और सुन्दर का प्रमाण है। इसी दृष्टि से कुन्तक के परवर्ती आचार्य क्षेमेन्द्र ने लगभग ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में काव्य में औचित्य-सम्प्रदाय की स्थापना की : "काव्य में अलंकारों का स्थान अलंकार का है, गुण केवल गुण हैं। रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन तो औचित्य ही है।" औचित्य-विचार-चर्चा १।५। औचित्य की परिभाषा करते हुए क्षेमेन्द्र लिखते हैं : "जो जिसके अनुरूप है उसे प्राचीन आचार्यों ने उचित कहा है—उचित का भाव ही औचित्य है।" १।७।—वास्तव में इस अनिवार्य तत्व की उपेक्षा जीवन अथवा काव्य में कौन विवेकशील पुरुष कर सकता था, मेधावी आचार्यों की तो बात ही क्या ? अतएव भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक ने प्रकारान्तर से औचित्य के महत्व को स्वीकृत किया है। कुन्तक भी इसका अपवाद नहीं है। उनके मत से काव्य का प्राण तो निश्चय ही वक्रता है, किन्तु वक्रता का मूल आधार औचित्य ही है : उचिताभिधानजीवितत्वाद् अर्थात् उचित (यथानुरूप) कथन ही (वक्रता का) जीवन है।

तत्र पदस्य तावदौचित्यं × × × वक्रतायाः परं रहस्यम्। उचिताभिधानजीवितत्वाद्। वाच्यस्याप्येकदेशेप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः। १।५७ वीं कारिका की वृत्ति। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार औचित्य वक्रता का प्राण है।

काव्य-लक्षण में औचित्य की स्वीकृति :

कुन्तक ने अपने काव्य-लक्षण, काव्य-गुणों तथा वक्रता-भेदों में भी औचित्य को आधार तत्व माना है। उनका काव्य-लक्षण है :

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवथितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥१।७

यहां शब्दार्थ का 'साहित्य' काव्य के आधार रूप में स्वीकृत किया गया है । और 'साहित्य' से कुन्तक का अभिप्राय निश्चित रूप से शब्द और अर्थ का पूर्ण सामंजस्य ही है :—"समर्थ शब्द के अभाव में अर्थ स्वरूपतः स्फुरित होने पर भी निर्जीव-सा ही रहता है । (इसी प्रकार) शब्द भी वाक्योपयोगी अर्थ के अभाव में अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का भार-सा प्रतीत होता है ।" १।७ वीं कारिका की वृत्ति । इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'साहित्य' का अर्थ है शब्द और अर्थ का उचित सहभाव अथवा सम्बन्ध, और कुन्तक ने प्रथम उन्मेष की सप्तमी कारिका की वृत्ति में अनेक प्रकार से शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के इसी औचित्य का अत्यन्त मार्मिक आख्यान किया है ।

औचित्य गुण

कुन्तक के अनुसार प्रत्येक मार्ग में दो सामान्य गुण और चार विशेष गुण होते हैं । सामान्य गुण हैं औचित्य और सौभाग्य जो तीनों मार्गों में अनिवार्य रूप से वर्तमान रहते हैं :

"एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम् ,
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥ १।५७ ॥

अर्थात्—इन तीनों मार्गों में (औचित्य तथा सौभाग्य) ये दोनों गुण पद, वाक्य तथा प्रबन्ध में व्यापक और उज्ज्वल रूप से वर्तमान रहते हैं ।" इस प्रकार औचित्य गुण सम्पूर्ण काव्य की उज्ज्वल सम्पदा है । औचित्य की परिभाषा कुन्तक ने भी प्रायः वही की है जो उनके लगभग अर्ध-शताब्दी बाद क्षेमेन्द्र ने की थी :

आंजसेन स्वभावस्य महत्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥ व० जी० १।५३ ।

अर्थात्—जिस स्पष्ट वर्णन-प्रकार के द्वारा स्वभाव के महत्व का पोषण होता है वही औचित्य नामक गुण है : इसका मूल आधार है उचित अर्थात् यथानुरूप-कथन । अतएव कुन्तक और क्षेमेन्द्र दोनों की औचित्य-कल्पना सर्वथा समान ही है जिसका आधार है यथानुरूप-कथन ।

वक्रता-भेदों में औचित्य का आधार

वक्रोक्तिकार ने अपने प्रायः सभी वक्रता-भेदों में किसी न किसी रूप में औचित्य का आधार स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए, वर्णविन्यास-वक्रता के विवेचन में कुन्तक ने स्पष्ट लिखा है कि वक्रतापूर्ण वर्ण-योजना अनिवार्य रूप से प्रस्तुतौचित्य-शोभिनी होती है अर्थात् काव्य के अन्तर्गत वर्णों का विन्यास प्रस्तुत प्रसंग के अनुरूप ही होना चाहिए, उससे स्वतन्त्र नहीं।[1] इसी प्रकार पदपूर्वार्ध-वक्रता तथा प्रत्यय-वक्रता के अनेक प्रमुख भेद भी औचित्यमूलक ही हैं :—(१) पर्याय-वक्रता का आधार है उचित पर्याय का चयन अथवा पर्यायौचित्य, (२) विशेषण-वक्रता का आधार है उचित विशेषण का निर्वाचन, (३) वृत्ति-वक्रता में समास-रचना का औचित्य अपेक्षित होता है, और (४) लिंग-वक्रता का आधारभूत सौन्दर्य लिंग-प्रयोग के औचित्य के ही आश्रित है। इसी प्रकार प्रत्यय-वक्रता के भी प्रमुख भेदों में कारक, पुरुष, संख्या, काल, उपग्रह आदि के औचित्य का ही चमत्कार वर्तमान रहता है। वक्रता का चतुर्थ भेद है वाक्य-वक्रता जिसके दो रूप हैं : (१) वस्तु-वक्रता, (२) अर्थालंकार। इन दोनों में भी कुन्तक ने औचित्य को ही प्रमाण माना है। वस्तु-वक्रता के प्रसंग में कुन्तक ने एक स्थान पर औचित्य को वस्तु-वर्णन का आधारभूत अनिवार्य सिद्धान्त घोषित किया है। स्वभावोक्ति का निराकरण करते हुए उन्होंने लिखा है :—"स्वभाव के (स्वरूप के) कथन के बिना वस्तु का वर्णन ही सम्भव नहीं हो मकता क्योंकि स्वभाव से रहित वस्तु निरुपाख्य अर्थात् असत्कल्प हो जाती है।" १।१२ की वृत्ति। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह स्वभाव-वर्णन अथवा स्वरूप-वर्णन 'उचित अभिधान' अथवा क्षेमेंद्र के 'सदृशम् किल यस्य यत्' अर्थात् यथानुरूपवर्णन से मूलतः अभिन्न है। ऐसे ही अर्था-लंकार के प्रयोग में भी औचित्य ही प्रमाण है। कुन्तक के मत से अलंकारों का वर्ण्य विषय के अनुरूप उचित प्रयोग ही वांछनीय है : "वाच्य अलंकार उपमा आदि का अधिक उपयोग उचित नहीं हो सकता क्योंकि उससे स्वाभाविक सौन्दर्य के अतिशय में मलिनता आने का भय रहता है।" ३।१ कारिका की वृत्ति।—यह अनधिक प्रयोग वास्तव में अलंकारौचित्य का ही दूसरा नाम है। इसके अतिरिक्त दीपक आदि कतिपय विशेष अलंकारों के प्रसंग में कुन्तक ने औचित्य का स्पष्ट उल्लेख भी किया है : "औचित्य के अनुरूप सुन्दर और सहृदयों के आह्लादकारक (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत) पदार्थों के अप्रकट अर्थात् प्रतीममान धर्म को प्रकाशित करने वाला अलंकार दीपक अलंकार है।" ३।१५।

---

१. वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्तलनादयः।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः ॥ २।२ ॥

अन्त में प्रकरण तथा प्रबन्ध-वक्रता के प्रसंग में भी कुन्तक ने अनेक प्रकार से औचित्य का स्तवन किया है। उदाहरण के लिए प्रबन्ध-वक्रता का एक प्रमुख भेद है उत्पाद्य-लावण्य जिसके दो रूप हैं (१) अविद्यमान की कल्पना (२) विद्यमान का संशोधन। इन दोनों वक्रता-भेदों का आधार स्पष्ट रूप से औचित्य-कल्पना ही है :— कवि अपनी प्रसिद्ध कथा के अनौचित्य के परिहार और औचित्य के संरक्षण के निमित्त ही उपर्युक्त चमत्कारपूर्ण पद्धतियों का प्रयोग करता है। कुन्तक ने इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है : "उत्पाद्यलवलावण्यादिति द्विधा व्याख्येयम्। क्वचिदसदेवोत्पाद्यम् अथवा आहृतम्। क्वचिदौचित्यत्यक्तं सदप्यन्यथासम्पाद्यम् सहृदयाह्लादनाय।" ४।४ कारिका की वृत्ति। अर्थात् उत्पाद्य-लावण्य के दो रूप हैं (१) अविद्यमान की कल्पना, और (२) सहृदय के आह्लाद के निमित्त औचित्यरहित विद्यमान का अन्यथा प्रतिपादन। इसके अतिरिक्त प्रकरण-वक्रता के दो अन्य भेद हैं (क) प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक रूप में नियोजन। और (ख) प्रकरणों का पूर्वापर-अन्विति-क्रम। ये दोनों भेद भी औचित्य की ही आधारशिला पर अवस्थित हैं।

प्रबन्ध-वक्रता के कुन्तक ने सब मिला कर छह भेदों का निरूपण किया है, इनमें से दो-तीन भेदों में औचित्य की अवस्थिति स्पष्ट है। उदाहरण के लिए, द्वितीय भेद में नायक के चरित्र का उत्कर्ष करने वाली चरम-घटना पर ही कथा का उपसंहार करने का विधान है क्योंकि शेष कथा-भाग नीरस इतिवृत्त मात्र रह जाता है, और पंचम भेद में प्रबन्ध काव्य का नामकरण ऐसा किया जाता है कि नाम से ही प्रधान कथा का द्योतन हो जाय। यहां द्वितीय भेद में अवांछित का त्याग औचित्य का ही परिणाम है, और पंचम भेद में क्षेमेन्द्र के नामौचित्य का संकेत है।

प्रतिपादन-योजना में साम्य

वास्तव में वक्रोक्ति तथा औचित्य दोनों सिद्धान्तों की प्रतिपादन-योजना में ही मूलगत साम्य है। कुन्तक और क्षेमेन्द्र दोनों ने काव्य के सूक्ष्मतम तत्व से लेकर महत्तम रूप तक प्रायः एक ही क्रम से अपने सिद्धान्त का विस्तार कर उसे सर्वव्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार वर्ण तथा लिंग, कारक आदि से लेकर वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्ध तक वक्रता का साम्राज्य है, इसी प्रकार औचित्य का भी :—

पदे, वाक्ये प्रबन्धार्थे, गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां, कारके, लिंगे, वचने च विशेषणे॥

काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥

औचित्य--वि० च० ७-१० ।

परन्तु इस योजना-साम्य का कारण कदाचित् यह नहीं है कि क्षेमेन्द्र ने कुन्तक का अनुकरण किया है : हम समझते हैं कि इस साम्य का कारण यह है कि दोनों ही ध्वनिकार की योजना को आदर्श मान कर चले हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वक्रोक्ति और औचित्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु फिर भी उन दोनों को पर्याय अथवा एक रूप मान लेता संगत नहीं होगा। कुन्तक ने औचित्य को वक्रोक्ति का जीवन मानते हुए भी दोनों को एक-रूप नहीं माना। उनकी मान्यता तो केवल यह है कि वक्रता अथवा काव्य-सौन्दर्य का मूल आधार औचित्य है क्योंकि, (उन्हीं के स्पष्ट शब्दों में) औचित्य की यत्किंचित् हानि से भी सहृदय के आह्लाद में व्याघात त्पन्न हो जाता है……वाक्यस्याप्येकदेशे-प्यौचित्यविरहात् सहृदयाह्लादकारित्वहानिः। अतएव कुन्तक के मत से औचित्य काव्य-सौन्दर्य अथवा वक्रता का अनिवार्य किन्तु सामान्य गुण मात्र है, न व्यावर्तक धर्म है और न पर्याय ही। अर्थात् सौन्दर्य के सभी रूपों में औचित्य की अवस्थिति अनिवार्य है, परन्तु औचित्य के सभी रूपों में कदाचित् वक्रता की अनिवार्य स्थिति कुन्तक को मान्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त दोनों सम्प्रदायों के मूल दृष्टिकोण में स्पष्ट अन्तर है। वक्रोक्ति का आधार है वस्तुनिष्ठ कल्पना और औचित्य का आधार है व्यक्तिनिष्ठ विवेक—आधुनिक शब्दावली में वक्रोक्तिवाद जहाँ रोमानी काव्यरूप की प्रतिष्ठा करता है, वहाँ औचित्य-सिद्धान्त विचारगत सौष्ठव की, और इन दोनों का मिलनतीर्थ है रस जहाँ दो भिन्न दिशाओं से आकर ये लीन हो जाते हैं।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति का, काव्य-सम्प्रदाय अथवा आत्मभूत काव्य-सिद्धान्त के रूप में, विवेचन तो नहीं हुआ, परन्तु वक्रता के मौलिक तत्व की मान्यता वहाँ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सदा रही है। वास्तव में तथ्य और कल्पना का प्रतिद्वन्द्व किसी न किसी रूप में प्रत्येक युग और प्रत्येक देश की चिन्ताधारा में उपस्थित होता आया है। इसका जन्म एक प्रकार से काव्य की सृष्टि के साथ ही हो जाता है—काव्य के सम्बन्ध में यही पहला विचार है और यही कारण है कि पाश्चात्य सभ्यता के आदिम युग में ही उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगी थी। प्लेटो-पूर्व युग में काव्यशास्त्र का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं होता, परन्तु काव्य तथा दर्शन ग्रन्थों में इस बात के संकेत निश्चय ही मिल जाते हैं कि उस युग में काव्यशास्त्र का अस्तित्व अवश्य था, चाहे उसका स्वतंत्र नाम रहा हो या न रहा हो।

प्लेटो के पूर्ववर्ती विचारक और प्लेटो

पश्चिम का आदि कवि है होमर। यों तो होमर के काव्य में भी एक ऐसा उद्धरण है (जिसे बोसांके ने पाश्चात्य कला-चेतना का प्रथम सूत्र माना है और जिसे एटकिन्स ने 'कला की माया' का प्राथमिक अभिज्ञान कहा है) जिसमें काव्यगत वक्रता की प्रच्छन्न स्वीकृति मिलती है,[1] परन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण वह विवाद है जो होमर के काव्य को लेकर प्लेटो से पहले दो-तीन शताब्दियों तक चलता रहा। इस विवाद में निश्चय रूप से तथ्य और कल्पना अथवा भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दा-वली में वार्ता और वक्रता का प्रश्न ही प्रकारान्तर से उठाया गया है। दार्शनिकों ने

---

१. होमर की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं : ढाल सोने की बनी हुई थी, परन्तु (उस पर अंकित) जुती हुई भूमि श्यामल प्रतीत होती थी। यह उसकी कला का चमत्कार था।

होमर की इस आधार पर भर्त्सना की कि उसके वर्णन प्राकृतिक तथ्यों के विपरीत हैं अतः मिथ्या हैं, और काव्य-प्रेमियों ने तथ्य और कल्पना के भेद को पहचानते हुए उनकी काव्यगत वक्रता का अनुमोदन किया। इस युग में एक प्रसिद्ध आचार्य हुए जार्जिआस (पाँचवीं शताब्दी ई० पू०)। उनका ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है, परन्तु दो अभिभाषण अवश्य प्राप्त हैं जिनसे उनके काव्य-सम्बन्धी विचारों का परिचय मिल जाता है। अन्य काव्यतत्वों के साथ साथ जार्जिआस ने भाषा के सौन्दर्य पर भी विशेष बल दिया है : 'उन्होंने ही सबसे पहले यह निर्देश किया कि (गद्य में) अलंकारों का प्रयोग करना चाहिए, इतिवृत्त-वर्णन के स्थान पर रूपकादि का उपयोग करना चाहिए—अर्थात् सामान्य रूप से गद्य में भी कविता के रंग और वैचित्र्य का समावेश करना चाहिए।[१] इन शब्दों में वक्रता की स्पष्ट स्वीकृति है क्योंकि रंग और वैचित्र्य वक्रता के ही पर्याय हैं।

प्लटो-पूर्व युग का, काव्यशास्त्र की दृष्टि से, सर्वप्रमुख ग्रन्थ है, एरिस्टोफ़ेनीज़ (रचना-काल ४२५-३८८ ई० पू०) का हास्य-नाटक फ्रॉग्स (मेंढक)। इसमें यूनानी भाषा के दो वरिष्ठ नाटककारों—ऐस्काइलस तथा यूरिपाइडीज़ के आलोचनात्मक विवाद का अत्यन्त सजीव हास्यमय वर्णन है। इस विवाद के अन्तर्गत दोनों कलाकारों की वैयक्तिक आलोचना के अतिरिक्त, काव्य के अनेक सामान्य सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है। अतएव इसमें ऋजु और वक्र अभिव्यंजनाओं अथवा काव्य-मार्गों की भी थोड़ी-सी समीक्षा स्वभावतः मिल जाती है। एस्काइलस (मानों कुन्तक के विचित्र मार्ग का अनुयायी होने के कारण) काव्य में वक्रता-वैचित्र्य का पक्षपाती है :

"नहीं, उनकी बाह्य वसन-सज्जा भी देखने में रंगोज्ज्वल तथा वैभवपूर्ण होनी चाहिए—हमारे जैसी नहीं।" यूरिपाइडीज़ की निन्दा करते हुए वह कहता है :— 'तुमने उन उदात्त चरित्रों को (उनके भावों को) गुदड़ी से परिवृत्त कर दिया।' आप देखें कि उपर्युक्त उद्धरणों में से पहले में वक्रता का स्तवन और दूसरे में वार्ता (ग्राम्य उक्ति) का ही प्रकारान्तर से तिरस्कार किया गया है।

इसके उपरान्त प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) का समय आ जाता है—प्लेटो ने भी अपने पूर्ववर्ती यवन दार्शनिकों का ही साथ दिया और की वक्रता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने प्राकृत तथ्य की अपूर्ण अथवा मिथ्या-अनुकृति मान कर काव्य की

---

१. एटकिन्स

निन्दा की। उनके मतानुसार एक तो स्वयं प्राकृत तथ्य ही विचार के तथ्य (सत्य) की अनुकृति है, और फिर काव्य तो उसकी भी अपूर्ण या मिथ्या अनुकृति है, अतएव वह सत्य से और भी दूर है। इसका अभिप्राय यही है कि प्लेटो भी विचार के सत्य और कल्पना के सत्य का भेद नहीं पहचान पाये।—कुन्तक ने वस्तु-वक्रता के प्रसंग में इस रहस्य का उद्घाटन किया है: उनका तर्क है कि किसी प्राकृत पदार्थ के सभी अंग-उपांगों का इतिवृत्त वर्णन (प्लेटो के शब्दों में पूर्ण अनुकृति) प्रस्तुत कर देने में कोई चमत्कार नहीं है; कवि की दृष्टि तो उसके केवल उन्हीं अंगों तथा रूपों को ग्रहण करती है जो आकर्षक हैं अर्थात् वह समग्र पदार्थ का स्थूल वर्णन न कर केवल उसके मर्म को ही ग्रहण करती है। यह मर्म-ग्रहण ही वस्तु-वक्रता है जो पूर्ण अनुकृति की अपेक्षा अधिक पूर्ण तथा सत्य भी है। प्लेटो ने इसी वस्तु-वक्रता के रहस्य को—सामान्य रूप में वार्ता तथा वक्रता के भेद को—नहीं समझा है, इसीलिए उन्होंने काव्य का तिरस्कार किया है।

होमर से प्लेटो के समय तक पाश्चात्य काव्य-चिंता के अन्तर्गत वक्रता के विषय में इसी प्रकार के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष संकेत प्राप्त होते हैं। उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य का यह मौलिक प्रश्न उस आदिम युग में भी उठ खड़ा हुआ था और मनीषी उसकी ओर आकृष्ट होने लगे थे।

अरस्तू (ईसा-पूर्व ३८४-३२१)

अरस्तू ने तथ्य और कल्पना के भेद को स्पष्ट करते हुए काव्यगत वक्रता के रहस्य को पहचाना है। उन्होंने प्लेटो की भ्रान्ति का संशोधन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि काव्यगत अनुकृति स्थूल अर्थ में पदार्थ का अनुकरण न होकर उसका कल्पनात्मक पुनःसृजन ही है—अतः न वह अपूर्ण है और न मिथ्या, उसमें तथ्य की विकृति नहीं संस्कार मिलता है, क्योंकि वह तो तथ्य के मर्म को शब्दबद्ध करती है। इस दृष्टि से काव्य का सत्य भौतिक सत्य की अपेक्षा अधिक मार्मिक होता है। अर्थात् काव्य की जिस वक्रता को प्लेटो ने मिथ्या कल्पना मान कर तिरस्कृत किया है, अरस्तू ने उसे काव्य का प्राणभूत सौन्दर्य माना है। अरस्तू का वह प्रसिद्ध वाक्य इस प्रकार है: "उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि का कर्तव्य-कर्म जो हुआ है उसका वर्णन करना नहीं है वरन् जो हो सकता है उसका वर्णन करता है—अर्थात् जो सम्भावना अथवा आवश्यकता के अनुसार हो सकता है उसका वर्णन करना है।" (पोयटिक्स : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस पृ० २६) 'जो हो सकता है'—अर्थात् 'जो सम्भावना अथवा आवश्यमकता के अनुरूप है', वास्तव में, यह भावना का वही सत्य

है जो द्रष्टा, वक्ता अथवा श्रोता को ग्राह्य है। कुन्तक ने इसी को वस्तु का 'सहृदयाह्लादकारीस्वस्पन्द' अर्थात् सहृदयों को आह्लाद देने वाला धर्म कहा है। प्रथम उन्मेष में नवमी कारिका की वृत्ति के अन्तर्गत कुन्तक ने लिखा है : "यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है फिर भी (काव्य में) ऐसे धर्म से उसका सम्बन्ध वर्णन किया जाता है जो सहृदयों के हृदय में आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ हो सकता है। और उस (धर्म) में ऐसी सामर्थ्य सम्भव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता, अथवा रस को परिपुष्ट करने की अंगता अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है।" उपयुक्त दोनों उद्धरणों का आशय एक ही है : भेद शब्दावली का है, पहले उद्धरण में दार्शनिक की सांकेतिक शब्दावली है, और दूसरे में काव्य-रसिक की वाक्छटा।

इस प्रकार अरस्तू ने अपने ढंग से वस्तु-वक्रता का प्रतिपादन किया है।

शैली के प्रसंग में तो अरस्तू ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वक्रता की महत्ता स्वीकार की है। उनके दोनों ग्रन्थों के – काव्यशास्त्र (पोयटिक्स) तथा रीतिशास्त्र (रहै्टरिक्स) के—अनेक उद्धरण वक्रता का पोषण करते हैं :—

१. "प्रचलित प्रयोग से वैचित्र्य भाषा को एक प्रकार की गरिमा प्रदान करता है। + + + इसलिए भाषा में वैचित्र्य का रंग देना चाहिए क्योंकि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है और जो प्रशंसा का विषय है वह आह्लाद का भी विषय होता है।" (रहै्टरिक्स पृ० १५०)*

२. "भाषा का गुण यह है कि वह स्पष्ट तो हो किन्तु उसका स्तर नीचा न हो। प्रचलित (रूढ़) शब्दों पर आश्रित पदावली सबसे स्पष्ट होती है, परन्तु उसका स्तर नीचा होता है। + + + असाधारण शब्दावली से सामान्य भाषा में गरिमा आती है और उसका रूप सुन्दर हो जाता है, असाधारण शब्दावली से मेरा अभिप्राय है : दूसरी भाषाओं से गृहीत शब्द, लाक्षणिक प्रयोग, विस्तारित पद तथा प्रचलित शब्दावली से भिन्न अन्य सभी प्रकार का वैचित्र्य।" (पोयटिक्स—पृ० ४८)

(३) "इन साधनों का प्रयोग केवल भाषा में लावण्य का समावेश करने के लिए ही करना चाहिए। ऐसा करने से अन्य भाषाओं के शब्द, लाक्षणिक प्रयोग, और कल्पित तथा अन्य सभी प्रकार के शब्द जिनका मैंने उल्लेख किया है भाषा शैली को साधारण तथा निम्न स्तर पर नहीं आने देंगे, और प्रचलित शब्द अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक होंगे।" (पृ० ४९)

* हॉब्स डाइजैस्ट।

४. "यद्यपि वे सारे साधन जिनका मैंने उल्लेख किया है, उचित रीति से प्रयुक्त होने पर भाषा-शैली को विशिष्टता प्रदान करते हैं—यह बात समस्त शब्दों तथा अन्य भाषा के शब्दों के लिए भी उतनी ही सत्य है, तथापि सबसे अधिक वैचित्र्य का समावेश लाक्षणिक प्रयोगों से होता है क्योंकि मौलिकता की आवश्यकता इन्हीं में होती है और यह प्रतिभा के द्योतक भी हैं।" (पृ० ५०)

लाक्षणिक प्रयोगों का विस्तार से विवेचन करते हुए अरस्तू ने अन्यत्र लिखा है—

५. "उपचार का अर्थ है किसी दूसरी संज्ञा का आरोप, यह आरोप जाति का व्यक्ति पर हो सकता है, या व्यक्ति का जाति पर या व्यक्ति का व्यक्ति पर, या साम्य की परिकल्पना द्वारा। उदाहरण के लिए 'यहां मेरा जहाज़ खड़ा है।' इस पंक्ति में जाति का व्यक्ति पर आरोप है क्योंकि 'लंगर डालना' भी खड़े होने का ही एक विशेष रूप है।' 'ओडीसियस हज़ारों वीर कृत्य कर चुका है—' यहां व्यक्ति का आरोप जाति पर है क्योंकि 'हज़ारों' 'अनेक' का ही एक रूप-भेद है, और इसलिए 'अनेक' के स्थान पर इसका प्रयोग होने लगा है। व्यक्ति के व्यक्ति पर आरोप का उदाहरण इस वाक्य-युग्म में मिलेगा—'लोहे के द्वारा जीवन-रक्त का शोषण करता हुआ' और 'कठोर लोहे से काटता हुआ'—यहां 'शोषण करता हुआ' और 'काटता हुआ' इन दो शब्दों का प्रयोग पर्याय रूप में हुआ है क्योंकि दोनों हं 'छेदन' या 'अपहरण' क्रिया के रूप विशेष हैं। साम्य-स्थापन उस स्थिति में होता है जब एक वस्तु का दूसरी वस्तु से वही सम्बन्ध होता है जो तीसरी का चौथी से, और वक्ता चौथी का दूसरी के लिए और दूसरी का चौथी के लिए प्रयोग कर देता है। + +

दूसरा उदाहरण लीजिये :—

वृद्धावस्था का जीवन से वही सम्बन्ध है जो सन्ध्या का दिवस से, अतएव सन्ध्या को 'मरणासन्न दिवस' या वृद्धावस्था को 'जीवन-सन्ध्या' कहा जाता है।" (पृ० ४६-४७)

कहने की आवश्यकता नहीं कि यही कुन्तक की उपचार-वक्रता है :

यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते।
लेशेनापि भवत्कांचिद् वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम्॥

इसका भावार्थ यह है :—

जहां अन्य (अर्थात् प्रस्तुत वर्ण्यमान पदार्थ) का सामान्य धर्म अत्यन्त व्यवहित (दूरवाले) पदार्थ पर लेशमात्र सम्बन्ध से आरोपित किया जाता है, वहां उपचार-वक्रता होती है।

दोनों के उदाहरणों में भी इतना ही अधिक साम्य है। कुन्तक के अनुसार (१) स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः अर्थात् 'आकाश मेघों की स्निग्ध श्यामलता से लिपा हुआ था' और (२) सूचिभेद्यैस्तमोभिः—'सूचीभेद्य अधंकार से' में उपचार-वक्रता है। अरस्तू के अनुसार इन दोनों में व्यक्ति का जाति पर आरोप है क्योंकि 'लीपना' 'ढंकना' या 'फैलाना' क्रिया का ही एक रूप-भेद है और 'सूचीभेद्यता' 'घनत्व' का।

इन संकेतों के अतिरिक्त अरस्तू के कथावस्तु-विवेचन में प्रबन्ध-वक्रता तथा प्रकरण-वक्रता के कई रूपों के पूर्व-संकेत मिल सकते हैं। प्रबन्ध-काव्य और इतिवृत्त के विभेद को तीव्र शब्दों में व्यक्त करने वाला निम्नलिखित वाक्य प्रबन्ध-वक्रता की असंदिग्ध स्वीकृति का द्योतक है :

"प्रबन्ध काव्यों की रचना इतिहास की भाँति नहीं होनी चाहिए।"

(पृ० ५१)

कुन्तक ने भी ठीक इन्हीं शब्दों में प्रबन्ध-वक्रता के रहस्य को अभिव्यक्त किया है : गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः। ४।११। अर्थात् प्रबन्ध काव्यों में कवियों की वाणी केवल इतिवृत्त पर आश्रित होकर जीवित नहीं रहती।

इसी प्रकार अरस्तू के विपर्यास तथा विवृत्ति नामक दोनों प्रबन्ध-चमत्कारों का, जिन्हें उन्होंने प्रबन्ध-कल्पना का उत्कृष्टतम रूप माना है, कुन्तक की प्रकरण-वक्रता के उत्पाद्य-लावण्य आदि भेदों में सहज ही अंतर्भाव हो जाता है। इस प्रसंग का विस्तृत विवेचन 'कुन्तक और प्रबन्ध-कल्पना' के अंतर्गत हो चुका है : यहां उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी।

रोमी आचार्य : सिसरो और होरेस (ईसा-पूर्व प्रथम शती)

यूनान के पश्चात् रोम संस्कृति और साहित्य का केन्द्र बना। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अरस्तू की परम्परा सिसरो, होरेस आदि रोमी तथा डायोनीसियस और डेमै-

ट्रियस प्रभृति यूनानी आचार्यों के ग्रन्थों में आगे बढ़ी। रोमी संस्कृति और साहित्य के मूल आधार थे गरिमा और औचित्य—अथवा औचित्यमूलक गरिमा। सिसरो तथा होरेस ने स्वभावतः अपने विवेचन में इन्हीं दो तत्वों को महत्व दिया है और इनके आधार पर अभिव्यंजना में भी संयम, स्पष्टता, अग्राम्यता, गंभीर पद-रचना आदि गुणों पर ही अधिक बल दिया है। यों तो कुन्तक ने भी औचित्य को ही वक्रता का आधार माना है, परन्तु जैसा कि हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है वक्रता और औचित्य का व्यावर्तक धर्म भिन्न है : वक्रोक्तिवाद जहां रोमानी काव्य-रूप की प्रतिष्ठा करता है वहां औचित्य विचारगत सौष्ठव की। अतएव इन दोनों में प्रकृति का भेद है और निसर्गतः रोमी प्रकृति के साथ कुन्तक की वक्रता की विशेष संगति नहीं बैठती, यद्यपि न रोमी काव्यशास्त्र वक्रता का पूर्ण बहिष्कार कर सकता है और न कुन्तक औचित्य का; कुन्तक ने तो उसे अनिवार्य तत्व ही माना है।

सिसरो स्वतंत्रचेता तथा तेजस्वी पुरुष थे। उन्होंने भव्य औचित्य (डेकोरम) को जीवन और साहित्य का प्राणतत्व माना माना है। भव्यता में असामान्यता का भी अन्तर्भाव है, अतएव उसके साथ वक्रता की स्वीकृति भी उसी मात्रा में स्वतः हो जाती है। सिसरो उद्देश्य के अनुरूप तीन प्रकार की शैलियों की स्थिति मानते हैं : ऋजु-सरल अनलंकृत शैली उपदेश के लिए, मध्यम शैली—जिसमें रंग की छटा हो किन्तु साथ ही संयम भी हो—प्रसादन के लिए, और उदात्त शैली—जो भव्य तथा सप्राण हो—संप्रेरित करने के लिए। इन में से रंग की छटा वक्रता की द्योतक है : प्रसादन के लिए सिसरो संयत वक्रता के पक्षपाती हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि सामान्य व्यवहार की भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग गुरुतम अपराध है।[1] परन्तु अन्यत्र अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है :[2] सुष्ठु शैली उपयुक्त शब्द-चयन पर आश्रित है। उपयुक्त का अर्थ है जनता के वास्तविक व्यवहार की शब्दावली जो स्वतन्त्र शब्द-जाल मात्र न हो—ऐसी शब्दावली जो जनपदीय घिसे-पिटे तथा ग्राम्य तत्वों से मुक्त हो और गरिमा एवं छटा प्रदान करने वाले असाधारण रूपों तथा लाक्षणिक प्रयोगों से सम्पन्न हो। इस प्रकार सिसरो औचित्य के साथ अलंकार रूप में वक्रता को भी प्रश्रय दे देते हैं। वास्तव में कुन्तक और सिसरो की दृष्टि में भेद है : कुन्तक के लिए साहित्य का प्राण है वक्रता—औचित्य उसका सामान्य उपबन्ध है, किन्तु सिसरो के अनुसार प्राणतत्व है औचित्य पर वक्रता की छटा भी विद्यमान होने से उसका आकर्षण और बढ़ जाता है। होरेस ने वक्रता को इतनी भी मान्यता नहीं दी

---

१. ओरेटॅरे १।१२। २. वही ३।१७१।

है : उनकी शास्त्रवादी दृष्टि संगति, अनुपात तथा अनुक्रम आदि पर ही केन्द्रित रही है। ये तत्व यद्यपि वक्रता के विरोधी नहीं हैं, फिर भी मूलतः कदाचित् ऋजुता के साथ ही इनका घनिष्ठतर सम्बन्ध है।

लांजाइनस (ईसा की तीसरी शती)

यूनानी रोमी आचार्यों में वक्रता का सबसे प्रबल समर्थन लांजाइनस ने किया है, परन्तु यह समर्थन अप्रत्यक्ष रूप में ही किया गया है। लांजाइनस के प्रसिद्ध निबन्ध का प्रतिपाद्य है 'उदात्त भावना'। यह 'उदात्त भावना' निश्चय ही जीवन और काव्य के असाधारण तत्वों पर आधृत रहती है। इस प्रकार उदात्त की परिकल्पना में वक्रता का प्रवेश अनिवार्य रूप से हो जाता है। लांजाइनस ने अनेक स्थलों पर वक्रता के महत्व पर प्रकाश डाला है :

(१) " + + + उदात्त भावना एक प्रकार का अभिव्यंजनागत चमत्कार अथवा विशिष्ट गुण है और महान कवियों तथा लेखकों ने इसी के द्वारा अमर ख्याति का अर्जन किया है। क्योंकि जो असाधारण है अथवा सामान्य से विलक्षण है, वह श्रोता के मन में प्रवृत्ति मात्र जगा कर नहीं रह जाता है, वह तो आह्लाद का उद्रेक करता है।"

(२) "उदात्त शैली के पाँच मुख्य आधार है। प्रथम और सबसे प्रमुख हैं महान परिकल्पना-शक्ति + + + दूसरा है प्रबल और अन्तःप्रेरित आवेग। अलंकार-विधान के अन्तर्गत दो प्रकार के अलंकार आते हैं—विचार से सम्बद्ध और अभिव्यंजना से सम्बद्ध। इसके उपरान्त है भाषागत आभिजात्य जिसके अन्तर्गत शब्द-चयन, लाक्षणिक प्रयोग और भाषा का अलंकरण आदि प्रसाधन आते हैं। पाँचवां आधार है— + + रचना की गरिमा और औदार्य।"

इन आधार-तत्वों में से प्रायः सभी वक्रतामूलक हैं। पहला वस्तु-वक्रता तथा प्रकरण-वक्रता के अन्तर्गत आता है। दूसरा भी रस के आश्रय से उसी के अन्तर्गत माना जा सकता है। शेष का सम्बन्ध वाक्य-वक्रता से है।

(३) "इस प्रकार हम सभी प्रसंगों में कह सकते हैं कि जो उपयोगी अथवा आवश्यक है उसे तो मनुष्य साधारण समझता है, किन्तु जो चमत्कारपूर्ण और विस्मयकारी है वह उसकी प्रशंसा तथा आदर का पात्र है।"

"मैं तो यह अच्छी तरह समझता हूं कि उदात्त प्रतिभा निर्दोषता से दूर ही होती है। क्योंकि अनिवार्य शुद्धता में क्षुद्रता की आशंका रहती है और उदात्त में कुछ न कुछ त्रुटि रह जाती है।"

इस प्रकार वक्रता लांजाइनस की उदात्त-विषयक परिकल्पना का एक मूल तत्व है; जो उदात्त है वह अनिवार्यतः सामान्य से विलक्षण अथवा वक्र होगा। यहीं कुन्तक और उनके दृष्टिकोण का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। कुन्तक के अनुसार काव्य का प्राणतत्व है वक्रता, उदात्त या भव्य उसका एक प्रकार है जो वीर रस तथा ऊर्जस्वी भावना से पुष्ट होता है: इसके अतिरिक्त कोमल, मधुर, विचित्र आदि उसके अन्य रूप भी होते हैं। उधर लांजाइनस के मत से काव्य की आत्मा है भव्यता। यह भव्यता अनिवार्य रूप से वक्रता-विशिष्ट होगी, परन्तु सभी प्रकार की वक्रता भव्य नहीं हो सकती—अर्थात् वक्रता भव्यता की अभिव्यंजना का प्रकार मात्र है, पर्याय नहीं है।

लांजाइनस के अतिरिक्त अन्य यूनानी-रोमी आचार्यों ने वक्रता पर कोई विशेष बल नहीं दिया। लांजाइनस के पूर्ववर्ती डायोनीसियस और परवर्ती डिमेट्रियस आदि यूनानी आचार्य तथा क्विन्टीलियन आदि रोमी विद्वान वास्तव में रीतिकार ही थे जिनका ध्यान अनुक्रम, अनुपात संगति आदि रचना-तत्वों पर ही प्रायः केन्द्रित रहा, उनके रीतिनिष्ठ दृष्टिकोण में वक्रता जैसे रोमानी तत्व के लिए विशेष स्थान नहीं था।

रोम के पतन के साथ काव्यशास्त्र का यह यूनानी-रोमी युग समाप्त हो जाता है और यूरोप के इतिहास में मध्ययुग का आरम्भ होता है। यह समय यूरोप के काव्यशास्त्र के लिए एक प्रकार से अंधकार-युग है। इस युग में काव्य, नाटक, इतिहास, आदि सभी क्षेत्रों में सर्जना का इतना दुर्दाम वेग था कि काव्य-विवेचन के लिए कोई अवकाश न रहा। कुछ सामान्य प्रतिभा के लेखकों ने इस दिशा में प्रयत्न किया भी, परन्तु वे या तो यूनानी-रोमी रीति-लक्षणों की पुनरावृत्ति मात्र करते रहे, या रीतिशास्त्र के नाम पर व्याकरण, छन्दशास्त्र, अलंकार, चित्रकाव्य आदि का रूढ़िबद्ध व्याख्यान-विवेचन करते रहे। काव्य का तात्विक विवेचन इस युग में नहीं हुआ।

ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज्म में उद्धृत लांजाइनस के ग्रन्थ 'उदात्त' का अनुवाद (डबल्यू० रॉबर्ट्स) (१) पृ १६६ (२) पृ० १७० (३) पृ० १८८, १८५

दान्ते *(तेरहवीं शती)*

यूरोप के अंधकारमय मध्ययुग के सबसे उज्ज्वल नक्षत्र दान्ते हैं; उन्होंने केवल सर्जन के क्षेत्र में ही नहीं विवेचन के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इस दिशा में उनकी सबसे बड़ी सिद्धि थी युग की आवश्यकता के अनुसार रीतिबद्ध लैटिन के विरुद्ध 'उज्ज्वल जनवाणी' इटालियन की गौरव-प्रतिष्ठा[1]। उज्ज्वल जन-वाणी से अभिप्राय उनका उस भाषा से था जो काव्यरूढ़ एवं रीतिबद्ध नहीं हो गई थी वरन् जीवन की विचित्रता और प्रफुल्लता से सम्पन्न थी। इस प्रकार दान्ते ने उज्ज्वल जनवाणी की प्रतिष्ठा द्वारा अभिव्यक्ति के क्षेत्र में रोमानी वक्रता की प्रतिष्ठा की है। इस स्थापना की पुष्टि में उनके शब्द-विवेचन तथा शैली-सम्बन्धी वक्तव्य भी उद्धृत किये जा सकते हैं। दान्ते के अनुसार शब्द मूलतः तीन प्रकार के होते हैं: कुछ शब्द बच्चों की तरह तुतलाते हैं, कुछ में स्त्रियोचित पेलवता होती है और कुछ शब्दों में पौरुष होता है। अन्तिम वर्ग के शब्दों में कुछ ग्राम्य होते हैं और कुछ नागर; नागर शब्दों में कुछ मसृण और चिक्कण होते हैं, कुछ प्रकृत तथा अनगढ़।

"इन शब्दों में से मसृण और प्रकृत को ही हम उदात्त शब्दावली कहते हैं, चिक्कण और अनगढ़ शब्दों में आडम्बर मात्र रहता है। + + उदात्त शैली में तुतले शब्दों के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि वे अतिपरिचित शब्द होते हैं, स्त्रैण शब्द अपनी स्त्रैणता के कारण और ग्राम्य शब्द अपनी परुषता के कारण त्याज्य हैं। नागर शब्दावली के चिक्कण और अनगढ़ शब्द भी ग्राह्य नहीं हैं। इस प्रकार केवल मसृण और प्रकृत शब्द रह जाते हैं, और ये ही शब्द भव्य हैं।"

उपर्युक्त शब्द-विवेचन में दान्ते ने अपने ढंग से—अशास्त्रीय शैली में—मुख्य रूप से वर्णविन्यास-वक्रता और सामान्य रूप से पर्याय-वक्रता आदि वक्रोक्ति-भेदों का विवेचन किया है। परिचित शब्दों का बहिष्कार, ग्राम्य तथा अनगढ़ का त्याग वर्ण-विन्यास के आधार पर शब्द की वक्रता का ही प्रतिपादन है। इसी प्रकार शैली के चार भेदों में से निर्जीव एवं रुचिविहीन तथा केवल सुरुचिपूर्ण, आदि का अस्वीकार और सुरुचिपूर्ण, सुन्दर तथा उदात्त गुणों से विभूषित सर्वांगसुन्दर शैली की शुभाशंसा भी 'वक्रताविचित्रगुणालंकारसम्पदा' की ही प्रतिष्ठा है। इस प्रकार दान्ते काव्य-रचना के क्षेत्र में अपनी कल्पना के मुक्त प्रवाह द्वारा और काव्य-विवेचन के क्षेत्र में स्वतन्त्र चिन्तना द्वारा अर्थ तथा वाणी की वक्रताओं के लिए द्वार खोल देते हैं।

---

(१) उज्ज्वल वह है जो दूसरों को उज्ज्वल करे और स्वयं उज्ज्वल हो।
(डी वल्गेरी एलोक्वेन्शिया)

पुनर्जागरण काल

दान्ते को यूरोप के मनीषियों ने 'प्राचीनों में अन्तिम और आधुनिकों में प्रथम' माना है। उनका समय वास्तव में यूरोप के इतिहास में अन्धकार-युग था—दान्ते ने कुछ समय के लिए उसे अपनी प्रखर प्रतिभा से आलोकित तो अवश्य कर दिया किन्तु फिर भी अन्धकार दूर होते होते लगभग दो शताब्दियां बीत गईं और सोलहवीं शताब्दी में जाकर पुनर्जागरण का प्रभात हुआ। यह युग वास्तव में स्वर्णयुग है जिसमें यूरोप की अवरुद्ध प्रतिभा सहस्त्रमुखी होकर तरंगायित हो उठी। इटली, स्पेन, इंग्लैंड आदि सभी देशों में यह अदम्य सर्जना का युग था : एक ओर प्राचीन अमर वाङ्मय का पुनरुद्धार हुआ और दूसरी ओर नवीन उत्कृष्ट साहित्य का सृजन। जीवन और साहित्य में शास्त्रीय मूल्यों के स्थान पर रोमानी मूल्यों की प्रतिष्ठा होने लगी और रीति के स्थान पर वक्रता-वैचित्र्य का आकर्षण बढ़ने लगा। सोलहवीं शती में इटालियन भाषा के आलोचकों तथा रीतिकारों के लेखों में वक्रता-वैचित्र्य का स्वर स्पष्ट सुनाई देता है :

१. मैं सत्य और कल्पना के मिश्रण की बात इसलिए करता हूँ क्योंकि इतिहासकार की भाँति कवि वस्तुओं या घटनाओं का यथावत् वर्णन करने के लिए बाध्य नहीं होता : उसका काम तो यह दिखाना है कि वे कैसी होनी चाहिए थीं।
(डेनियलो—१५३६ ई०)

२. अब हम एक सार्वमान्य और शाश्वत निर्णय पर पहुँच सकते हैं—और वह यह कि विज्ञान, कला, इतिहास—कोई भी विषय काव्य का प्रतिपाद्य हो सकता है किन्तु शर्त यह है कि उसका प्रतिपादन काव्यमय रीति से हो। (पैट्रिज़ी, १५८६ ई०)।

इन उद्धरणों में 'कल्पना का मिश्रण' 'यथावत् वर्णन का त्याग' और 'काव्यमय रीति'—ये तीनों ही वक्रता के प्रकार हैं।

इंगलैंड में प्रतिभा का विस्फोट और भी वेग से हुआ—शेक्सपियर ने शास्त्र-रीति का तिरस्कार कर विषय-वस्तु में विक्षेप और तदनुकूल शैली में वैचित्र्य-वक्रता को आग्रह के साथ ग्रहण किया। यह युग वास्तव में वैचित्र्य का ही युग था, इसमें एक ओर परम्परा की पुनःप्रतिष्ठा और दूसरी ओर नवीन प्रयोग की आतुरता थी।

अंगरेज़ आलोचक सर फ़िलिप सिडनी की आलोचना में श्रद्धा और विद्रोह दोनों के ही तत्व लिम जाते हैं—उन्होंने परम्परावादी होरेस आदि का अनुसरण न कर लांजाइनस का अनुकरण किया, शिक्षण तथा मनोरंजन की अपेक्षा संप्रेरणा को काव्य की सिद्धि माना और इस प्रकार रोमानी मूल्यों के प्रति अपना अनुराग व्यक्त किया। बैन जॉन्सन जैसे शास्त्रनिष्ठ आलोचक ने भी साहसपूर्वक यह उद्घोषणा की : 'अरस्तू और अन्य आचार्यों को उनका देय मिलना चाहिए किन्तु यदि हम उनसे आगे सत्य तथा औचित्य-विषयक अन्वेषणाएं करें तो हमारे प्रति यह विद्वेष क्यों ?'[1] फिर भी समग्र रूप में परम्परा में ही जॉन्सन की निष्ठा अचल रही और उन्होंने उद्भावना की अपेक्षा रीति तथा अनुशासन पर, और इधर वैचित्र्य-वक्रता की अपेक्षा स्पष्टता, समास-गुण, औचित्य-विवेक आदि पर ही अधिक बल दिया।

नव्यशास्त्रवाद (सतरहवीं-अठारहवीं शती)

पुनर्जागरण युग के उपरांत सतरहवीं शती में यूरोपीय आलोचना में क्रमशः नव्यशास्त्रवाद का आरम्भ होता है। नव्यशास्त्रवाद का जन्म फ़्रांस में हुआ—फ़्रांस के कोरनेई तथा बोइलो की आलोचनाओं में वह पुष्पित हुआ और इंगलैंड में पोप के साहित्य में उसका पूर्ण विकास हुआ। नव्यशास्त्रवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि प्राचीन अमर साहित्य का अनुकरण ही साहित्य-सृजन की सफलता का रहस्य है : उनके अनुकरण से विवेक और सुरुचि प्राप्त होती है और विवेक अथवा सुरुचि का नाम ही प्रकृति है। इस प्रकार नव्यशास्त्रवाद में रीति की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई और वक्रता-वैचित्र्य की, आडम्बर मात्र मान कर, भर्त्सना की गई। बोइलो ने इटली के काव्य के वक्रता-वैचित्र्य की नकली हीरों से तुलना की और सत्कवियों को उनका बहिष्कार करने की चेतावनी दी। इंगलैंड में ड्राइडन का दृष्टिकोण अधिक स्वतंत्र तथा संतुलित था ; उन्होंने निष्ठा के साथ साथ आवश्यक उद्भावना पर बल दिया। उन्होंने अभिव्यंजना के क्षेत्र में गरिमा और भव्यता का स्वागत किया किन्तु औचित्य को प्रमाण माना। कहने का अभिप्राय यह है कि ड्राइडन की दृष्टि रीतिबद्ध नहीं थी—प्राचीन रीति का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया, परन्तु वैचित्र्य भी उन्हें इतना ही मान्य था जितना कुन्तक को। पोप ने उनका अनुसरण न कर बोइलो के ही प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की है। पोप में वक्रता की स्वीकृति केवल उसी अनुपात से मिलती है जिस अनुपात से रीति-सिद्धान्त में वक्रोक्ति-सिद्धान्त की। अर्थात् पोप का दृष्टिकोण शुद्ध रीतिवादी है—परन्तु कुन्तक की वक्रता का क्षेत्र तो सर्वव्यापी है और रीति

---

१. डिस्कवरीज़।

अर्थात् पदरचना का सौन्दर्य भी वक्रता का एक प्रकार है। पद-लालित्य-रसिक पोप ने अपनी रचनाओं में इसी सीमित अर्थ में वक्रता को स्वीकृति दी है। अन्यथा बोइलो की भाँति उन्होंने भी शैलीगत वैचित्र्य-वक्रता का तिरस्कार ही किया है, "मिथ्या वाग्मिता ही अशुद्ध शैली है। उसकी स्थिति एक ऐसे शीशे के समान है, जो चारों ओर अपने भड़कीले रंगों को बिखेर देता है जिनके कारण हम पदार्थों के सहज रूपों को नहीं देख पाते। सभी में एक-जैसी चमक-दमक उत्पन्न हो जाती है किसी में कोई भेद नहीं रहता।" (ऐसे ऑन क्रिटिसिज्म) उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि पोप शैलीगत वक्रताओं के विरुद्ध हैं और इस प्रकार की शैली को अशुद्ध शैली तथा मिथ्या वाग्मिता का पर्याय मात्र मानते हैं। मिथ्या अलंकरण तथा शब्दाडम्बर का तिरस्कार कुन्तक ने भी किया है। परन्तु दोनों में दृष्टि का भेद है : पोप तो स्वच्छ-शुद्ध शैली के पक्षपातवश वैचित्र्य मात्र का विरोध करते हैं।

ऐडिसन (अठारहवीं शती)

ऐडिसन पोप के ही समसामयिक थे, परन्तु उनकी दृष्टि कहीं अधिक उदार और मुक्त थी, उन्होंने काव्य में कल्पना के महत्व की पुनः प्रतिष्ठा की। लांजाइनस के उपरान्त पहली बार कल्पना की इतने स्पष्ट शब्दों में स्थापना करने के कारण ही ऐडिसन को आज यूरोपीय काव्यशास्त्र के इतिहास में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। कल्पना की यह स्वीकृति प्रकारान्तर से वक्रता की भी स्वीकृति है, और एडिसन के प्रतिपादन द्वारा दान्ते के पश्चात् शताब्दियों बाद यूरोप के काव्यशास्त्र में वक्रता के प्रति सम्मान की भावना का उदय होता है। एडिसन ने वक्रता के अनेक रूपों को अपने ढंग से स्वीकार किया है :

१. "+ + मैं स्पष्टीकरण के लिए केवल ये शब्द और जोड़ देना चाहता हूं कि प्रत्येक प्रकार के भाव-साम्य में चमत्कार नहीं है; केवल वही साम्य इसके अंतर्गत आता है जिसमें आह्लाद और विस्मय उत्पन्न करने की क्षमता हो : चमत्कार के लिए ये दो गुण अनिवार्य हैं—विशेषकर विस्मय। कोई भी सादृश्य अथवा साम्य-वर्णन तभी चमत्कार के अन्तर्गत आ सकता है जब समान तथ्य अपने प्रकृत रूप में एक दूसरे के बहुत अधिक निकट न हों क्योंकि जहां साम्य सर्वथा स्पष्ट है वहां विस्मय की उद्बुद्धि नहीं होती। एक व्यक्ति के संगीत की दूसरे के संगीत से उपमा देने अथवा किसी पदार्थ की शुभ्रता की दूध या बर्फ़ से तुलना करने या उसके रंगों को इन्द्रधनुष के रंगों के समान कहने में तब तक कोई चमत्कार नहीं है जब तक इस स्पष्ट

साम्य के अतिरिक्त लेखक किसी ऐसी संगति की अन्वेषणा नहीं कर लेता जो पाठक के मन में विस्मय की उद्बुद्धि कर सके।" (स्पैक्टेटर अंक ६२)। उपर्युक्त उद्धरण में एडिसन वार्ता और वक्रता के भेद की व्याख्या कर रहे हैं : साधारण साम्य-स्थापना वार्ता मात्र है, जब कवि उसमें किसी वैचित्र्य की उद्भावना करता है तभी उसमें चमत्कार का समावेश होता है। आह्लाद और विस्मय पर आश्रित यही चमत्कार कुन्तक की वक्रता है।

कुन्तक के समान एडिसन भी 'कोरे चमत्कार' की निन्दा करते हैं : "जिस प्रकार वास्तविक चमत्कार इस तरह के भाव या तथ्य-साम्य तथा संगति में निहित है, इसी प्रकार मिथ्या चमत्कार का आधार होता है पृथक वर्णों का साम्य तथा संगति जैसे कतिपय अनुप्रास-भेदों या एकाक्षर आदि में, या शब्दों का साम्य तथा संगति जैसे यमकादि में, अथवा समग्र वाक्य या रचनागत साम्य और संगति जैसे खड्ग-बंध आदि में।" (स्पेक्टेटर अंक ६२)।

तुलना कीजिए :

व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेः वाच्यवाचकयोः परस्पर-स्पर्धित्वलक्षणसाहित्यविरहः पर्यवस्यति।

अर्थात् व्यसन के कारण प्रयत्नपूर्वक (अनुप्रास यमकादि) की रचना करने से प्रस्तुत (रसादि) की हानि हो जाती है और इस प्रकार शब्द और अर्थ के परस्पर-स्पर्धा-रूप साहित्य का अभाव हो जाता है। (हिन्दी व० जी० २। ४ कारिका की वृत्ति)।

एक अन्य स्थान पर एडिसन ने वस्तु-वक्रता का भी बड़ा सुन्दर विवेचन किया है : "मैं पहले कल्पना के ऐसे आह्लाद का विचार करूंगा जो बाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष अवलोकन से उपलब्ध होता है, जो महान हैं, असाधारण अथवा विलक्षण हैं तथा सुन्दर हैं। + + +

महान से मेरा अभिप्राय विशाल आकार का नहीं है, वरन् सम्पूर्ण दृश्य की अखण्ड विराटता का है। + + +

प्रत्येक नवीन तथा असाधारण वस्तु से कल्पना के आनन्द की उद्बुद्धि होती है क्योंकि इससे आत्मा एक सुखद विस्मय की भावना से ओतप्रोत हो जाती है।

+ + + +

किन्तु आत्मा पर सौन्दर्य से अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव और किसी तत्व का नहीं पड़ता। सौन्दर्य से कल्पना के द्वारा हमारी आत्मा एक प्रच्छन्न परितोष की भावना से व्याप्त हो जाती है और महान तथा असाधारण का आकर्षण मानो पूर्ण हो जाता है।"[1]

यह कुन्तक के 'सहृदयाह्लादकारी स्वस्पन्दसुन्दर' पदार्थ की प्रकारान्तर से विवेचना है, जिसकी व्याख्या कुन्तक ने भी प्रायः समान शब्दों में की है : 'यस्मात् प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित्परिस्पन्देन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृत-प्रस्तावसमुचितेन केनचिदुत्कर्षेण वा समाच्छादितस्वभावाः सन्तः + + + चेतन-चमत्कारितां आपद्यन्ते।' हिन्दी व० जी० १.६ वीं कारिका की वृत्ति। अर्थात् कवि का विवक्षित पदार्थ (१) विशेष रूप से प्रतिभात (प्रतिभोल्लिखित), (२) किसी विशेष स्वभाव से युक्त (३) प्रसंगोचित अपूर्व उत्कर्ष से समाच्छादित होकर सहृदय के चित्त को चमत्कृत करता है।

इसी प्रकार भाषा-शैली में भी एडिसन ने वक्रता की उपादेयता स्वीकार की है :

"रचना के आचार्य इस रहस्य से भली भाँति परिचित थे कि अनेक सुन्दर पद या उक्तियां जन-सामान्य के प्रयोग द्वारा 'भ्रष्ट' होकर काव्य अथवा साहित्यिक वक्तृता के उपयुक्त नहीं रह जातीं। + +

अतएव महाकाव्य की भाषा के लिए प्रसाद गुण पर्याप्त नहीं है—उसमें भव्यता का भी समावेश रहना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें साधारण प्रयोग तथा पदावली से विलक्षणता होनी चाहिए। कवि के विवेक का एक बड़ा प्रमाण यह भी है कि वह अपनी भाषा-शैली में सामान्य 'मार्गों' का त्याग करे किन्तु साथ ही उसे जड़ तथा अप्राकृतिक भी न होने दे।"[2]

---

१. स्पेक्टेटर अंक ४१२।
२. स्पेक्टेटर अंक २८५।

स्वच्छन्दतावाद का पूर्वाभास

अठारहवीं शती का उत्तरार्ध

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रीति-बद्ध प्रकृति तथा रूढ़ि-बद्ध काव्य-शिल्प के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई। इंगलैंड में यंग आदि और जर्मनी में लैसिंग शिलर, गेअटे आदि ने कवि-प्रतिभा के स्वातन्त्र्य और कला की स्वच्छन्दता की प्रबल शब्दों में पुनःप्रतिष्ठा की। यंग ने प्राचीन के अनुकरण की अपेक्षा मौलिक-सृजन का स्तवन किया और नव्यशास्त्रवादियों द्वारा प्रतिपादित रीतिवाद की निन्दा की। उन्होंने रूढ़ और सामान्य मार्ग के त्याग तथा वैचित्र्य-वक्रता के ग्रहण का अनुमोदन किया :

"रूढ़ मार्ग को त्याग कर ही कवि कीर्ति प्राप्त कर सकता है, उसके लिये लीक को छोड़ना आवश्यक है, सामान्य मार्ग से जितनी दूर तुम्हारा पथ होगा उतना ही यश तुम्हें मिलेगा। × × ×

कविता में गद्य के विवेक की अपेक्षा कुछ अधिक रहता है, उसमें कुछ ऐसे रहस्य विद्यमान रहते हैं जिनकी व्याख्या नहीं केवल प्रशंसा ही की जा सकती है—जिससे केवल गद्यमय व्यक्ति उनके दिव्य-चमत्कार के प्रति नास्तिक हो जाते हैं।"[1]

प्रसिद्ध जर्मन आलोचक लैसिंग ने भी अत्यन्त सूक्ष्म-गहन रीति से काव्य के भावात्मक रूप की स्थापना की और अपने परवर्ती स्वच्छन्दतावादी कवि-कलाकारों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। काव्य और चित्र के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ 'लेओकोऊन' में एक स्थान पर वस्तु-वक्रता का अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है—

"इसी प्रकार कवि भी काव्यरचना के समय अपनी अविरल अनुक्रिया में वस्तु के केवल एक ही गुण का ग्रहण कर सकता है, इसलिए उसे ऐसे ही गुण का चयन करना चाहिए जो वस्तु का सबसे सजीव चित्र मन में जगा सके + +

"कवि का अभीष्ट केवल अर्थ-बोध कराना नहीं होता, उसका वर्णन केवल स्पष्ट-सरल हो यही पर्याप्त नहीं है, यद्यपि गद्य-लेखक का इतने से ही परितोष हो सकता है। वह तो अपनी कविता द्वारा पाठक के मन में उद्बुद्ध विचारों को जीवन्त

---

१. कन्जैक्चर्स ऑन ओरिजिनल कम्पोज़िशन।

रूप देना चाहता है जिससे कि हम उस समय वर्णनीय पदार्थ के वास्तविक ऐन्द्रिय प्रभाव की अनुभूति कर सकें और माया के इन क्षणों में हमें उसके साधनों का—अर्थात् शब्दों का ज्ञान ही न रहे ।"

साधारण गुणों का यह त्याग और विशेष प्रभावक गुणों का ग्रहण वस्तु-वक्रता का मूल सिद्धान्त है—कुन्तक ने भी लगभग समान शब्दों में उसका विवेचन किया है : "इसका अभिप्राय यह हुआ कि यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है, फिर भी उस प्रकार के धर्म से उसका धर्म (काव्य में) वर्णित किया जाता है जो सहृदयों के हृदय में आनन्द उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है, और उसमें ऐसी सामर्थ्य सम्भव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रस को परिपुष्ट करने की अंगता अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है । (हिन्दी व० जी० ९ वीं कारिका की वृत्ति)

शिलर और गेअटे लैसिंग के ही समसामयिक थे ।—शिलर ने जर्मनी में स्वच्छन्दतावाद का प्रबल समर्थन किया । अपनी प्रसिद्ध रचना 'सरल और भाव-प्रधान काव्य' में उन्होंने वास्तव में प्राचीन अमर काव्य तथा नवीन स्वच्छन्दतावादी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए स्वच्छन्दतावादी मूल्यों की स्थापना की है—और वस्तुनिष्ठ सरलता के स्थान पर भावपरक वैचित्र्य-वक्रता का अनुमोदन किया है । गेअटे प्रकृति से स्वच्छन्दतावादी कलाकार थे, उनकी रचनाओं में रम्य और अद्भुत के प्रति प्रबल आकर्षण मिलता है । वैसे सिद्धान्त में गेअटे ने प्राचीनों की शास्त्रीय परम्परा की स्थान स्थान पर दुहाई दी है, परन्तु जैसा कि शिलर ने एक बार लिखा था, उनके काव्य की आत्मा और तदनुसार उनके कलात्मक दृष्टिकोण का निर्माण, उनकी इच्छा के विरुद्ध, निश्चय ही रोमानी तत्वों से हुआ है ।

"सूक्ष्म अवयवों के अंकन में कलाकार को निश्चय ही श्रद्धा तथा निष्ठा के साथ प्रकृति का अनुकरण करना चाहिए । + + + किन्तु कलासृजन के उच्चतर क्षेत्र में, जिसके कारण चित्र वास्तव में चित्र बनता है, उसे स्वच्छन्दता रहती है और वह कल्पना का उपयोग कर सकता है ।"[1]

प्रकृति का सर्वथा अनुकरण न कर कल्पना के उपयोग द्वारा—वस्तु के चित्र में उसके प्रकृत रूप से विलक्षणता उत्पन्न करना ही वस्तु-वक्रता है । इस प्रकार इन कलाकारों ने अपनी विवेचना और रचना के द्वारा अंगरेजी काव्य के उस समृद्ध युग के लिए द्वार खोल दिया जो इतिहास में रोमानी युग के नाम से प्रसिद्ध है ।

---

१. कन्वरसेशन्स विद ऐकरमैन ।

स्वच्छन्दतावाद

मान्य आलोचकों के अनुसार स्वच्छन्दतावादी कला के आधार-तत्व हैं रम्य और अद्भुत और उसकी प्रेरक शक्ति है अदम्य आवेग। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार इस युग का दृष्टिकोण आवेग की प्रधानता के कारण निश्चय ही रसवादी है—परन्तु अभिव्यंजना में रम्य और अद्भुत का वैभव-विलास होने के कारण वक्रता की वांछा भी उसमें कम नहीं है : उसका विरोध वास्तव में रीतिवाद से है जो यूरोप में नव्यशास्त्रवाद का आश्रय लेकर प्रकट हुआ था। भारतीय काव्यशास्त्र में भी रसवाद और वक्रोक्तिवाद में कोई मौलिक विरोध नहीं है—वक्रता वस्तुतः रमणीयता का ही दूसरा नाम है और कुन्तक ने स्थान स्थान पर उसे रस-निर्भर अथवा रस-परिपुष्ट माना है। इस प्रकार रस और वक्रता एक दूसरे के पूरक हैं विरोधी नहीं। यूरोप के रोमानी काव्य में रम्य के साथ अद्भुत के प्रति भी प्रबल आग्रह विद्यमान है, अवएव उसमें तो रस के साथ साथ वक्रता-वैचित्र्य का समावेश भी उसी अनुपात से हुआ है।

अंगरेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तन वर्ड्सवर्थ द्वारा लिखित 'लिरिकल बैलड्स की भूमिका' के साथ होता है : वह मानों युग परिवर्तन की उद्घोषणा थी। वर्ड्सवर्थ की प्रकृति सरल और गम्भीर थी, उनकी भावुकता वैचित्र्य-विलास की अपेक्षा जीवन और जगत के सरल गम्भीर रूपों में अधिक रमती थी। उधर अपने समसामयिक काव्य की कृत्रिम समृद्धि के प्रति उनके मन में घोर वितृष्णा की भावना जगी हुई थी। अतएव उन्होंने मूल मानव-मनोवृत्तियों पर आश्रित शुद्ध रसवाद की अत्यधिक आग्रह के साथ प्रतिष्ठा की। कविता उनके मत से प्रबल मनोवेगों का सहज उच्छलन है—वह शांति के क्षणों में भाव-स्मरण है। मानव की सहज-शुद्ध रागात्मक प्रवृत्तियों का परितोष उसका उद्देश्य है। शुद्धता के प्रति इस प्रबल आग्रह के कारण वर्ड्सवर्थ अपने सिद्धान्त निरूपण में स्थान स्थान पर वक्रता-वैचित्र्य का तिरस्कार करते प्रतीत होते हैं :

(१) "इन कविताओं में मेरा उद्देश्य रहा है जन-साधारण के जीवन से घटनाओं तथा स्थितियों का चयन करना तथा उन्हें जनता के वास्तविक व्यवहार की भाषा से चुनी हुई शब्दावली में अभिव्यक्त करना।"

(२) "सामान्यतः मैंने ग्रामीण तथा निम्न वर्ग के जनजीवन को अपना विषय बनाय है + + + क्योंकि ये लोग अपनी सामाजिक स्थिति तथा संकुचित एवं परिवर्तनहीन कार्यक्षेत्र के कारण सामाजिक दम्भ से अपेक्षाकृत मुक्त रहते हैं और अपनी भावनाओं तथा धारणाओं को सरल तथा अलंकारहीन भाषा में व्यक्त करते हैं।"

(३) वर्ड्सवर्थ ने उन कवियों की निन्दा की है "जो यह समझते हैं कि अपने को जन-साधारण की अनुभूतियों से पृथक रख तथा अपने कल्पना-प्रसूत रुचि-चापल्य के लिए खाद्य प्रस्तुत कर वे अपनी तथा अपनी कला की मान-वृद्धि कर रहे हैं।"

(४) "पाठक देखेंगे कि इन रचनाओं में अमूर्त भावनाओं या विचारों का मानवीकरण बहुत ही कम किया गया है—शैली का उन्नयन करने, उसे गद्य-भाषा से ऊपर उठाने के साधन रूप में इस प्रकार के प्रयोगों का सर्वथा बहिष्कार किया गया है। मेरा उद्देश्य यह रहा है कि जन-व्यवहार की वास्तविक भाषा का अनुकरण किया जाय और यथासम्भव उसे ही ग्रहण किया जाय। + + + इन रचनाओं में तथाकथित काव्य-भाषा का प्रयोग नहीं है।"

(५) "यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि गद्य और कविता की भाषा में न कोई मूल भेद है और न हो सकता है।"

(६) तथाकथित काव्य-भाषा की निन्दा करते हुए वर्ड्सवर्थ ने लिखा है: "सभी राष्ट्रों के प्राचीन कवियों ने सच्ची घटनाओं से उद्बुद्ध मनोवेग की प्रेरणा से रचना की है। उन्होंने सहज मानव-भाषा का प्रयोग किया है: चूंकि उनकी अनुभूति प्रबल थी, अतः उनकी भाषा ओजपूर्ण और सालंकार थी। बाद में कवियों ने अथवा कवियशःप्रार्थी व्यक्तियों ने देखा कि इस प्रकार की भाषा में बड़ा प्रभाव है, और प्रबल मनोवेगों के अभाव में ही उनके मन में भी इसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने की वांछा उत्पन्न हुई तो उन्होंने इन अलंकारों का यन्त्रवत् प्रयोग आरम्भ कर दिया। कहीं कहीं तो इनका उचित उपयोग किया गया, परन्तु अधिकतर इनका आरोपण ऐसी भावनाओं और विचारों पर होने लगा जिनसे इनका कोई सहज सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार अज्ञात रूप से एक ऐसी भाषा का जन्म हो गया जो किसी भी स्थिति में जन-भाषा से अत्यन्त भिन्न थी। + + +

१, २, ३, ४, ५, ६—प्रिफ़ेस टू लिरिकल बैलड्स।

आगे चल कर यह कुप्रवृत्ति और भी बढ़ गई और कविगण अपनी रचनाओं में ऐसी शब्दावली का प्रयोग करने लगे जो बाहर से तो आवेग की सालंकार शब्दावली के समान प्रतीत होती थी, परन्तु वास्तव में वह उनकी अपनी ही करामात होती थी और मनमाने ढंग पर सुरुचि तथा प्रकृति से भिन्न होती थी।

यह ठीक है कि प्राचीन कवियों की भाषा जन-साधारण की भाषा से बहुत-कुछ भिन्न होती थी क्योंकि वह असाधारण क्षणों की वाणी होती थी। + + + परवर्ती काव्य की विकृतियों को इस तथ्य से बड़ा प्रोत्साहन मिला; इसकी आड़ में परवर्ती कवियों ने ऐसी शब्दावली का निर्माण कर डाला जो सच्ची काव्य-भाषा से एक बात में अवश्य समान थी, और वह यह कि सामान्य व्यवहार में उसका प्रयोग नहीं होता था—वह साधारण से भिन्न थी।

+ + + इस प्रकार की विकृतियों का एक देश से दूसरे देश में आयात होता रहा, ज्यों ज्यों संस्कार-परिष्कार की भावना बढ़ती गयी त्यों त्यों कवियों की भाषा अधिकाधिक विकृत होती गयी और उसके प्रकृत मानव-तत्व नाना प्रकार के चमत्कारों, वैचित्र्य-वक्रताओं, चित्रालंकारों तथा प्रहेलिकाओं के आडम्बर में लुप्त होते गये।"

उपर्युक्त उद्धरणों में वर्ड्सवर्थ ने वक्रता-वैचित्र्य पर निर्मम प्रहार किये हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो वे वक्रोक्तिवाद के घोर विरोधी हैं। परन्तु स्थिति इतनी विषम नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि वक्रता-विलास वर्ड्सवर्थ की गम्भीर प्रकृति के अनुकूल नहीं था, और यह भी सत्य है कि युगप्रवर्तक के उत्साह तथा आवेश में उन्होंने कुछ अत्युक्तियाँ भी की हैं जिनका निराकरण उनके अपने काव्य से ही हो जाता है, फिर भी उनके विचारों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह विरोध मूलतः वक्रता से न होकर कृत्रिम अथवा मिथ्या वक्रता-विलास से ही है। संयत वक्रता का उन्होंने स्वयं अनेक प्रकार से महत्व स्वीकार किया है।

(१) "जिस प्रकार की कविता का समर्थन मैं कर रहा हूं, उसकी शब्दावली यथासम्भव मानव-व्यवहार की भाषा से चुनी हुई होती है, और जहाँ कहीं यह चयन सुरुचि एवं सहृदयता के साथ किया जाता है, वहाँ इसके द्वारा ही भाषा में कल्पनातीत विलक्षणता आ जाती है तथा वह जन-साधारण की भाषा की क्षुद्रता और ग्राम्यता से एकदम ऊपर उठ जाती है, और फिर छन्द का योग हो जाने पर तो, मेरा विश्वास

है कि उसमें इतनी विलक्षणता का समावेश अवश्य हो जाता है जिससे किसी भी विवेकशील व्यक्ति का परितोष हो सके।"

(२) "कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जो आवेग-प्रेरित होते हैं और मैंने उनका इसी रूप में प्रयोग किया है।"

(३) "क्योंकि यदि कवि उपयुक्त विषय का निर्वाचन करेगा तो स्वभावतः वह विषय यथाप्रसंग आवेगों को जन्म देता चलेगा जिनकी भाषा विवेकपूर्ण उचित चयन करने पर, उदात्त एवं वैचित्र्य-सम्पन्न और लाक्षणिक प्रयोगों तथा अलंकारों से विभूषित हो जायगी।"

४. "दूसरी ओर यदि कवि के शब्द आवेग-दीप्त तथा सहृदय की भावना की उचित उद्‌बुद्धि करने में समर्थ हों, × × × तो उनसे छान्दिक संगीत-जन्य आनन्द की और भी वृद्धि होगी।"

सारांश यह है कि वर्ड्‌सवर्थ का दृष्टिकोण शुद्ध रसवादी है और वक्रता के कृत्रिम चमत्कार उन्हें सर्वथा असह्य हैं, परन्तु वे रसाश्रित वक्रता-वैचित्र्य और रमणीयता की महत्ता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। वास्तव में उन्होंने काव्य के इस सिद्धान्त को स्पष्ट शब्दों में स्वीकृति दी है कि रस की दीप्ति से शैली अनिवार्यतः वक्रता-सम्पन्न हो जाती है—और यही काव्य का अन्तिम सिद्धान्त भी है जहां रस और वक्रोक्ति सम्प्रदाय एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी न होकर पूरक बन जाते हैं।

कॉलरिज ने वर्ड्‌सवर्थ की अतिरंजनाओं का प्रतिवाद करते हुए इस सिद्धान्त का अत्यन्त सूक्ष्म-गहन एवं निर्भ्रान्त विवेचन किया है। वर्ड्‌सवर्थ की अत्युक्तियों का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने यही लिखा है कि समसामयिक कवियों के वागाडम्बर से क्षुब्ध होकर वर्ड्‌सवर्थ ने अपने दृष्टिकोण को थोड़ा संकुचित कर लिया था। इसी वितृष्णा के कारण उनका वक्तव्य अतिव्याप्त हो गया है। कॉलरिज ने इस अतिव्याप्ति का निराकरण किया है और काव्य के प्रकृत, विवेक-सम्मत वागर्थ-सम्पृक्ति के सिद्धान्त का मार्मिक प्रतिपादन किया है।

"मैं पाठक को स्मरण कराना चाहता हूँ कि जिन मन्तव्यों का मुझे खण्डन करना है वे इन वाक्यों में अन्तर्निहित हैं—'मानव-व्यवहार की वास्तविक भाषा से

१, २, ३, ४, प्रिफ़ेस टू लिरिकल बैलड्स से उद्धृत।

चयन;' में इनकी (अर्थात् ग्रामीण तथा निम्न वर्ग के लोगों की) भाषा का अनुकरण और यथासम्भव वास्तविक जन-भाषा का ग्रहण करना चाहता हूँ;' 'गद्य और कविता की भाषा में न कोई भेद है और न हो सकता है।'(क)

इन तीनों स्थापनाओं का कॉलरिज ने क्रमशः खण्डन किया है। उनका तर्क है कि 'वास्तविक भाषा' प्रयोग शुद्ध नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी भाषा होती है जो वैयक्तिक, वर्गगत और सार्वजनीन तत्वों से युक्त होती है। अतएव 'वास्तविक भाषा' जैसी कोई वस्तु नहीं है—'वास्तविक' के स्थान पर साधारण शब्द का प्रयोग अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण तथा निम्नवर्ग की जनता की भाषा का ग्रहण भी काव्य के लिये श्रेयस्कर नहीं हो सकता क्योंकि शिक्षा-दीक्षा के अभाव में उसका विचार-क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता है, अतएव उसकी अभिव्यक्ति के साधन सर्वथा सीमित तथा अस्पष्ट होते हैं।

गद्य और पद्य की भाषा के अभेद का निषेध कॉलरिज ने विस्तार से तथा अत्यन्त समर्थ युक्तियों के द्वारा किया है :

१. "छन्द का आविर्भाव आवेग-दीप्ति के कारण होता है, अतः यह आवश्यक है कि छन्दोमयी रचना की भाषा भी सर्वत्र आवेग-दीप्त हो। × × ×। कविता का सम्बन्ध, वर्ड्सवर्थ ने ठीक ही कहा है, आवेग से है। × × × और ज़िस प्रकार प्रत्येक आवेग का अपना स्पन्दन होता है, उसी प्रकार उसकी अपनी अभिव्यक्ति का विशेष प्रकार भी होता है।"

२. "छन्द के प्रयोग से चित्रमय तथा सजीव भाषा का प्रचुर प्रयोग आवश्यक ही नहीं वरन् सहज-स्वाभाविक हो जाता है। × × × जहां तक छन्द के प्रभाव का सम्बन्ध है, छन्द से सामान्य भावना तथा अवधान की सजीवता एवं तीव्रता में वृद्धि होती है। यह प्रभाव उत्पन्न होता है विस्मय भाव के निरन्तर उद्बोधन और जिज्ञासा की बार-बार उद्दीप्ति तथा परितृप्ति से। औषध-सिक्त वातावरण अथवा उद्दीप्त वार्तालाप के समय मदिरा की भाँति उनका प्रबल किन्तु अलक्षित प्रभाव पड़ता है।"

छन्द स्वयं अवधान को तीव्र करता है—और यह प्रश्न उठता है कि अवधान

(क) बायोग्रेफ़िया लिटरेरिया परिच्छेद १७
(१), (२) वही।

को तीव्र करने का क्या प्रयोजन है ? × × × इसका एक ही युक्तियुक्त उत्तर मेरे मन में आता है और वह यह कि मैं छन्दोबद्ध रचना इसलिए करता हूँ क्योंकि गद्य से भिन्न भाषा का प्रयोग करने वाला हूँ ।

× × ×

अतएव गद्य और कविता की भाषा में तात्विक अन्तर है और होना चाहिए ।"

इस प्रकार कॉलरिज ने अपने कवि मित्र की सम्मति में संशोधन करते हुए वक्रता की अनिवार्यता की पुनः प्रतिष्ठा की है । उनका स्पष्ट मत है कि कविता की शैली में आवेग की दीप्ति के कारण, एक प्रकार का वक्रता-वैचित्र्य स्वभावतः ही उत्पन्न हो जाता है : यह वैकल्पिक नहीं है, अनिवार्य है, अतएव वक्रता भी काव्य-शैली का अनिवार्य तत्व है ।

रोमानी युग की आलोचना और कविता दोनों में वक्रता की महिमा में वृद्धि होती गयी । (१) डीक्विन्सी ने भाषा को आत्मा का व्यक्त रूप माना है—जो उसकी (भाषा की) व्यंजना-शक्ति तथा वक्रता की ही प्रबल स्वीकृति मात्र है । उनके अनुसार साहित्य के दो भेद हैं (१) ज्ञान का साहित्य जिसका आधार तथ्य और माध्यम इतिवृत्त शैली है, और (२) प्रेरणा का साहित्य, जिसका आधार मानव-मनोवेग तथा कल्पना, और माध्यम उच्छ्वासमयी वक्र शैली है । शेली ने 'कविता के पक्ष में' नामक प्रसिद्ध निबन्ध में एक ओर कविता के शब्दों के विद्युत्-प्रभाव तथा स्फुलिंग शक्ति का अत्यन्त उच्छ्वास के साथ उल्लेख किया है और दूसरी ओर वस्तु-वक्रता का मार्मिक प्रतिपादन किया है । "कविता विश्व के ऊपर से परिचय-जन्य साधारणता का आवरण हटा कर उसके सुप्त सौन्दर्य का उद्घाटन कर देती है ।" कीट्स की कविता में वक्रता-वैचित्र्य-सम्पदा का अपूर्व उल्लास है । उन्होंने भाषा की चित्र-शक्ति का अद्भुत विकास किया है —अंगरेज़ी आलोचकों का मत है कि उनकी भाषा में केवल रूप और रस की ही नहीं गन्ध की व्यंजना करने की भी अपूर्व क्षमता है । वास्तव में वक्रता का ऐसा वैभव अन्यत्र दुर्लभ है ।

स्वच्छन्दतावाद के उपरान्त

स्वच्छन्दतावाद के आवेगमय विस्फोटों के उपरान्त यूरोप की चिन्ताधारा में विज्ञान के वर्धमान प्रभाव के कारण फिर विचार-विवेक की प्रतिष्ठा होने लगी । फ्रांस में सेंट-ब्युव (साँ बुव) ने काव्य में व्यक्ति-तत्व पर बल देते हुए भी प्राचीनों के संयम-

संस्कार का स्तवन किया और व्यापक आधार पर शास्त्रीय मूल्यों की फिर से स्थापना की। टेन ने साहित्य पर जाति, देश, काल आदि के नियामक प्रभाव को महत्व देते हुए ऐतिहासिक आलोचना का व्यवस्थापन किया। इन आलोचकों की विचार-पद्धति ही सर्वथा भिन्न थी—उसमें वक्रता, ऋजुता आदि कला-दृष्टियों के लिए स्थान नहीं था: यद्यपि यह भी सत्य है कि वक्रता से इनका कोई विरोध नहीं था। इंगलैंड में विक्टोरिया का युग संयम और सुरुचि का प्रतीक था। मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य में 'उदात्त गम्भीरता' को प्रमाण माना और काव्य-वस्तु को प्रधानता दी: उन्होंने काव्यशैली को भी उचित मान दिया, परन्तु उसे 'वस्तु के अधीन' ही माना। सामान्यतः कला-विलास का आर्नल्ड की दृष्टि में विशेष मूल्य नहीं था, उन्होंने वक्रता-वैचित्र्य तथा अलंकरण आदि के प्राचुर्य का विशेष आदर नहीं किया। किंग लीअर की आलोचना करते हुए आर्नल्ड ने लिखा है: 'अभिव्यंजना की यह अति-वक्रता वास्तव में एक अद्भुत गुण विशेष का आवश्यकता से अधिक उपयोग है: वह गुण है—दूसरों की अपेक्षा सुन्दर रीति से कथन करने की क्षमता। किन्तु फिर भी इस गुण का इतना अधिक—इतनी दूर तक प्रयोग किया गया है कि मसियो गिज़ो की इस आलोचना का आशय सहज ही हृद्गत हो जाता है—"शेक्सपियर ने अपनी भाषा में केवल एक को छोड़ सभी शैलियों का प्रयोग किया है और वह एक शैली है सरल शैली।"[1]

कीट्स की प्रसिद्ध कविता इज़ाबेला के विरुद्ध भी आर्नल्ड का यही निर्णय है: "इज़ाबेला कविता सुन्दर तथा रमणीय शब्दों और चित्रों का परिपूर्ण भांडार है: प्रायः प्रत्येक पद में एक न एक ऐसी सजीव और चित्रमय अभिव्यंजना है जिसके द्वारा वर्ण्य वस्तु मनःचक्षु के सम्मुख चमक उठती है और पाठक का चित्त सहसा आनन्द से तरंगित हो उठता है। + + + किन्तु कार्य-व्यापार और कथा-वस्तु? कार्य-व्यापार अपने आप में सुन्दर है, परन्तु कवि ने उसका भावन इतने निर्जीव रूप में तथा विधान इतनी शिथिलता से किया है कि उसका प्रभाव कुछ नहीं रह जाता। कीट्स की कविता पढ़ने के उपरांत पाठक यदि उसी कहानी को डेकामेरन में पढ़े तो उसे यह अनुभव होगा कि वही कार्यव्यापार एक ऐसे महान कलाकार के हाथों में पड़कर कितना सार्थक और रोचक बन जाता है जो सबसे अधिक ध्यान अपने 'उद्देश्य' को देता है और अभिव्यंजना को अभीष्ट अर्थ के अधीन रखता है।[2]

१.—२. प्रिफ़ेस टू पोइम्स।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि आर्नल्ड के मन में वक्रता-विलास के लिए अधिक मान नहीं था। किन्तु कला की गरिमा के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी—इसमें भी सन्देह नहीं है। वे वक्रता के विषयगत रूपों का आदर करते थे। प्राचीनों की विषय-वस्तु के काव्यमय स्वरूप और उसके सम्यक् विन्यास का उन्होंने स्थान स्थान पर स्तवन किया है : "उनका ध्यान विषय-वस्तु के काव्यात्मक स्वरूप और उसके विन्यास पर पहले जाता था।"[1] वस्तु का यह काव्यात्मक स्वरूप वास्तव में कुन्तक की वस्तु-वक्रता और उसका विन्यास प्रकरण-वक्रता अथवा प्रबन्ध-वक्रता का ही पर्याय है। उधर शैलीगत वक्रता की भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की है, किन्तु उसे वस्तु से निरपेक्ष रूप में स्वीकार नहीं किया है। उनके मत से वस्तु और शैली का सौन्दर्य परस्पर-सम्बद्ध है : "कवि की विषय-वस्तु में जिस मात्रा में उदात्त काव्यमय तत्व तथा गंभीरता का अभाव रहेगा, उसी मात्रा में उसकी शैली में भी उदात्त काव्यमय पदावली और प्रवाह का अभाव होगा। इसी प्रकार जिस मात्रा में उसकी शैली में उदात्त काव्यमय पदावली तथा प्रवाह का अभाव होगा, उसी मात्रा में उसकी विषय-वस्तु में भी उदात्त काव्यमय तत्व और गम्भीरता का अभाव रहेगा।"[2]

कहने का अभिप्राय यह है कि आर्नल्ड ने वक्रता के स्वच्छन्द विलास को तो स्वीकार नहीं किया, किन्तु उसके गम्भीर रूपों को निश्चय ही उचित महत्व दिया है—जहां वक्रता औचित्य से अनुशासित और गम्भीर सत्य से अनुप्राणित रहती है।

आर्नल्ड का युग काव्य में टेनीसन और स्विनबर्न जैसे कला-विलासी कवियों का भी युग था : स्विनबर्न की कविता में वैचित्र्य-वक्रता का उन्मुक्त विहार है। परन्तु युग की चिंताधारा ने उसे स्वीकार न कर रस्किन और आर्नल्ड जैसे गम्भीर-चेताओं की संयत सौन्दर्य-धारणाओं को ही ग्रहण किया :

"सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में भी अलंकृत कला परिष्कृत रुचि के व्यक्ति के मन में यह धारणा छोड़ जाती है कि यह सर्वोत्कृष्ट कला के नमूने नहीं हैं, इस कला में कुछ अतिशय समृद्धि है—यह न अपने आप में संस्कृत है और न प्रेक्षक या पाठक के चित्त का ही संस्कार करती है।" (बेजहाट; १८६४ ई०)।

यह शुद्धतावादी प्रवृत्ति प्रसिद्ध रूसी साहित्यकार टालसटाय के कला-सिद्धान्त में पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। टालसटाय ने सौन्दर्य और आनन्द को कला का मूल

---

१. प्रिफ़ेस टू पोइम्स।

२. स्टडी आफ़ पोइट्री।

तत्व मानने में आपत्ति की और मानवता की रागात्मक एकता को कला का आधार घोषित किया : "—अन्त में यह (कला) आनन्द नहीं है, वरन् मानव एकता का साधन है जो मानव-मानव को सह-अनुभूति के द्वारा परस्पर-सम्बद्ध करती है।"[1] यहां वक्रोक्ति सिद्धान्त का जिसका, उद्गम सौन्दर्य और उस पर आश्रित आनन्द-सिद्धान्त है, चरम निषेध हो जाता है।

परन्तु टाल्सटाय का यह सिद्धान्त अपने अतिवाद के कारण आप ही विफल हो गया। इस प्रकार की अति-गम्भीरता और शुद्धता के विरुद्ध मानव की सौन्दर्य और आनन्द-चेतना ने विद्रोह किया जिसके फलस्वरूप एक ओर नवीन सौन्दर्यशास्त्र और दूसरी ओर मनोविज्ञान पर आधृत आलोचना-सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ। सौन्दर्य पर आश्रित 'कला कला के लिए'[2] सिद्धान्त जिसका विकास उन्नीसवीं शती के अन्त में ही पेटर तथा ह्विसलर के निबन्धों में हो चुका था, क्रमशः, क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में दार्शनिक भूमिका प्राप्त कर शास्त्र रूप में प्रतिष्ठित हो गया। उधर आनन्द का सिद्धान्त मनोविश्लेषण-शास्त्र के आचार्यों की गवेषणाओं में नवीन वैज्ञानिक रूप धारण कर सामने आ गया।

अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद

(इन्दौर के भाषण में) शुक्लजी के इस वक्तव्य के उपरांत कि क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान है, इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन हिन्दी काव्यशास्त्र का एक रोचक विषय बन गया है। शुक्लजी का यह निर्णय अधिक सुविचारित नहीं है, क्रोचे की इस धारणा से चिढ़ कर कि 'कला में विषय-वस्तु की कोई सत्ता नहीं है—अभिव्यंजना ही कला है' शुक्लजी ने आवेश में आकर अभिव्यंजनावाद का द्विगुण तिरस्कार करने के लिए ही कदाचित् ऐसा कह दिया है। वास्तव में शुक्लजी का यह वक्तव्य है तो क्रोचे और कुन्तक दोनों के साथ ही अन्याय, फिर भी आधुनिक आलोचनाशास्त्र के प्रकाश में कुन्तक के सिद्धान्त को और भी स्पष्ट करने के लिए दोनों का सापेक्षिक विवेचन अनुपयोगी नहीं है।

क्रोचे की मूल धारणाएं :

क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक हैं जिन्होंने अपने ढंग से आत्मा की अन्तः सत्ता की प्रतिष्ठा की है। उनके अनुसार आत्मा की दो क्रियाएं हैं (१) विचारात्मक[3]

---

१. व्हाट इज़ आर्ट (१८९८)। २. 'ल आर्त पोर 'ल आर्त

३. थ्योरिटीकल एक्टिविटी

(२) व्यवहारात्मक ।[1] "विचारात्मक क्रिया अथवा ज्ञान के दो रूप हैं : ज्ञान स्वयंप्रकाश्य होता है अथवा प्रमेय, कल्पना द्वारा प्राप्त ज्ञान अथवा प्रमा (बुद्धि) द्वारा प्राप्त ज्ञान, व्यष्टि (विशेष) का ज्ञान अथवा समष्टि (सामान्य) का ज्ञान, विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान अथवा उनके परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान : वास्तव में ज्ञान या तो बिम्ब का उत्पादक होता है या धारणा का।"

व्यवहारात्मक क्रिया का आधार है संकल्प जिसका फल ज्ञान में नहीं वरन् कर्म में प्रकट होता है। व्यवहारात्मक क्रिया के भी दो भेद हैं : (१) आर्थिक[2] अर्थात् सांसारिक योगक्षेम से सम्बद्ध, और (२) नैतिक अर्थात् सत्-असत् से सम्बद्ध। विचार और व्यवहार में संगति की स्थापना करते हुए क्रोचे ने आर्थिक क्रिया को व्यवहार का सौन्दर्यशास्त्र और नैतिक क्रिया को उसका तर्कशास्त्र कहा है।

१. कला का सम्बन्ध ज्ञान के प्रथम भेद अर्थात् स्वयंप्रकाश्य ज्ञान से है—इसी का नाम सहजानुभूति भी है। कला, क्रोचे के मत से, सहजानुभूति ही है। सहजानुभूति पदार्थ-बोध से भिन्न है : पदार्थ-बोध के लिए पदार्थ की स्थिति अनिवार्य है, किन्तु सहजानुभूति उसके अभाव में भी होती है—उसके लिए वास्तविक और सम्भाव्य में भेद नहीं है। सहजानुभूति संवेदन से भी भिन्न है : संवेदन एक प्रकार का अरूप स्पन्दन है : आत्मा इसका अनुभव तो करती है, पर इसे अभिव्यक्त नहीं कर सकती। यह एक प्रकार का अमूर्त विषय है जो जड़ है—निष्क्रिय है। इसका केवल इतना ही महत्व है कि इसके आधार पर सहजानुभूतियों में परस्पर भेद हो जाता है। किन्तु सहजानुभूति अनिवार्यतः अभिव्यंजना रूप ही होती है—अतएव वह अभिव्यंजना से अभिन्न है—प्रत्येक सच्ची सहानुभूति अभिव्यंजना भी होती है। जो अभिव्यंजना में मूर्त नहीं होती, वह सहजानुभूति न होकर संवेदन मात्र है। आत्मा निर्माण, सृजन तथा अभिव्यक्ति के रूप में ही सहजानुभूति करती है।[3]

सारांश यह है कि सहजानुभूतिमय ज्ञान अभिव्यंजनात्मक होता है। बौद्धिक क्रिया से स्वतंत्र, वास्तव-अवास्तव तथा देशकाल के बोध से निरपेक्ष। सहजानुभूति प्रकृत अनुभूति से—संवेदन की तरंगों से अथवा चेतना के विषय से अपने 'रूप' के कारण भिन्न है, और यह 'रूप' ही अभिव्यंजना है। अतएव सहजानुभूति का अर्थ है अभिव्यक्ति : केवल अभिव्यक्ति न कम न अधिक।[4] यही कला है।

---

(१) प्रेक्टिकल एक्टिविटी एस्थेटिक पृ० १४.

(२) आर्थिक शब्द का प्रयोग यहाँ प्राचीन शास्त्रीय अर्थ में किया गया है—सांसारिक जीवन के लिए उपयोगी। (३) एस्थेटिक पृ० ८। (४) पृ० ११।

२. इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः कलाकार है क्योंकि प्रायः सभी में सहजानुभूति की क्षमता रहती है। जो सहजानुभूति कर सकता है, वह अभिव्यंजना में भी समर्थ है और इसलिए कलाकार भी है। फिर मान्य कलाकार तथा सामान्य व्यक्ति में क्या भेद है? यह भेद सहजानुभूति के प्रकार का नहीं है, तीव्रता का भी नहीं है—केवल व्यापकता का है। अर्थात् सामान्य व्यक्ति की सहजानुभूति से कलाकार की सहजानुभूति न तो प्रकार में भिन्न है और न तो तीव्रता की मात्रा में। कुछ व्यक्तियों में आत्मा की जटिल स्थितियों को अभिव्यक्त करने की शक्ति तथा प्रवृत्ति औरों की अपेक्षा अधिक होती है, इनको ही विशेष अर्थ में कलाकार कहते हैं। इस प्रकार यह अन्तर मात्रा का नहीं है, विस्तार का है। 'कवि-प्रतिभा जन्मजात होती है' कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक संगत है कि 'मनुष्य जन्मजात कवि होता है।'[1]

३. तत्व और रूप अथवा वस्तु और अभिव्यंजना के विषय में क्रोचे का मत काव्यशास्त्र की परम्परा से भिन्न है। सौन्दर्य वस्तु में निहित है, अथवा अभिव्यंजना में, अथवा दोनों में? यदि वस्तु से अभिप्राय अनभिव्यक्त भावतत्व अथवा अन्तः संस्कारों का और अभिव्यंजना से तात्पर्य व्यक्तीकरण की क्रिया का है तो न सौन्दर्य वस्तु में निहित है और न वस्तु तथा अभिव्यंजना के योग में। सौन्दर्य के सृजन में अभिव्यक्ति का भाव-तत्व में योग नहीं किया जाता, वरन् भाव-तत्व ही अभिव्यक्ति के द्वारा मूर्त रूप धारण करता है, अर्थात् यह भाव-तत्व ही मानों अभिव्यंजना के रूप फिर प्रकट हो जाता है जो अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होता है। अतएव सौन्दर्य अभिव्यंजना का नाम है—उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

४. कला मूलतः एक आध्यात्मिक क्रिया है, कलाकृति उसका मूर्त भौतिक रूप है जो सदैव अनिवार्य नहीं होता। कला-सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पाँच चरणों में विभक्त की जा सकती है—(अ) अरूप संवेदन (आ) अभिव्यंजना अर्थात् अरूप संवेदनों की आंतरिक समन्विति—सहजानुभूति (इ) आनन्दानुभूति (सफल अभिव्यंजना के आनन्द की अनुभूति (ई) आन्तरिक अभिव्यंजना अथवा सहजानुभूति का शब्द, ध्वनि, रंग, रेखा आदि भौतिक तत्वों में मूर्तीकरण और (उ) काव्य, चित्र इत्यादि—कलाकृति का भौतिक मूर्त रूप। इन पाँचों में मुख्य क्रिया (अर्थात् वास्तविक कला-सर्जना) दूसरी है।

(१) पृ०-१३-१४

५. सहजानुभूति अथवा आंतरिक सौन्दर्यानुभूति तो ऐच्छिक नहीं है किन्तु यह हमारी इच्छा पर निर्भर है कि उसे बाह्य रूप प्रदान करें या न करें अर्थात् बाह्य रूप में प्रस्तुत कर उसको सुरक्षित रखें या न रखें और दूसरों के लिए प्रेषणीय बनाएं या न बनाएं। इस दूसरी प्रक्रिया के लिए शिल्पविधान की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए अनेक भौतिक उपकरण अपेक्षित होते हैं—उन भौतिक उपकरणों के प्रयोग की अनेक विधियां, अनेक नियम आदि होते हैं जिन्हें सामान्य रूप से कला-शास्त्र—काव्यशास्त्र आदि के नाम से अभिहित किया जाता है। इससे कुछ व्यक्तियों के मन में यह भ्रांति उत्पन्न हो जाती है कि आंतरिक अभिव्यंजना का भी शिल्प-विधान और उसके उपकरण होते हैं। परन्तु यह तो सम्भव ही नहीं है: आन्तरिक अभिव्यंजना के उपकरण नहीं होते क्योंकि उसका कोई उद्देश्य ही नहीं होता। कारण स्पष्ट है : अभिव्यंजना मूलतः एक आन्तरिक क्रिया है जो व्यवहार तथा उसका निर्देशन करने वाले बौद्धिक ज्ञान से पहले होती है, और जो इन दोनों से स्वतन्त्र है। जहाँ अभिव्यंजना के आन्तरिक रूप के शिल्पविधान की चर्चा की जाती है, वहाँ उसे अभिव्यंजना से अभिन्न ही मानना चाहिए।

६. कला भाव रूप न होकर ज्ञान रूप ही है क्योंकि सहजानुभूति ज्ञान का ही एक रूप है। वह धारणा से मुक्त होती है। तथाकथित पदार्थ-बोध की अपेक्षा अधिक सरल होती हैं, परन्तु होती ज्ञान रूप ही है। सहजानुभूति को एक विशिष्ट अनुभूति—सौन्दर्यानुभूति मानना भी व्यर्थ है क्योंकि उसमें कोई वैशिष्ट्य या वैचित्र्य नहीं होता।[1]

७. कला अथवा अभिव्यंजना अखण्ड होती है। प्रत्येक अभिव्यंजना का एक ही रूप होता है। संवेदनों को एकान्वित करने की क्रिया का नाम ही तो अभिव्यंजना है। इसी धारणा के आधार पर कला में एकता अथवा अनेकता में एकता के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है क्योंकि अभिव्यंजना अनेक का एक में समन्वय ही तो है। इसलिए किसी कला के भाग करना या काव्य को दृश्यों, प्रकरणों, उपमाओं तथा वाक्यों में विभक्त करना उचित नहीं है। इससे कला का नाश हो जाता है जिस प्रकार हृदय, मस्तिष्क, स्नायु, पेशी आदि में विश्लिष्ट करने से प्राणी की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार अलंकार और अलंकार्य तथा अन्य रीतिशास्त्रीय काव्यावयवों की कल्पना भी मिथ्या है।

(१) एस्थेटिक पृ० १७-१९

८. कला अथवा अभिव्यंजना का वर्गीकरण भी असंगत है। अभिव्यंजना में न सरल और मिश्र का भेद होता है, न आत्मपरक और वस्तुपरक का, न यथार्थ और प्रतीकात्मक का, न सहज और अलंकृत का, न अभिधा और लक्षणा का। अभिव्यंजना इकाई ही है, वह जाति नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनुवाद की भी सम्भावना नहीं है क्योंकि अनुवाद तो एक भिन्न अभिव्यंजना ही हो जाता है।

९. अभिव्यंजना में कोटिक्रम का भेद भी नहीं होता : कला की अथवा सौन्दर्य की श्रेणियां नहीं होतीं : सुन्दर से सुन्दरतर की कल्पना सम्भव नहीं है। सफल अभिव्यंजना ही अभिव्यंजना है—असफल अथवा अपूर्ण अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं है। हां, कुरूपता की श्रेणियाँ अवश्य होती हैं : कुरूप से कुरूपतर, कुरूपतम तक उसकी श्रेणियां हो सकती हैं।

१०. अभिव्यंजना अपना उद्देश्य आप ही है—अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त उसका कोई अपर उद्देश्य नहीं होता। तदनुसार कला का अपने से भिन्न कोई उद्देश्य नहीं है : शिक्षण, प्रसादन, कीर्ति, धन आदि कुछ नहीं। कला कला के लिए ही है। आनन्द भी उसका सहचारी अवश्य है किन्तु लक्ष्य नहीं है। कला का तो एक ही कार्य है—आत्मा को विशद करना। संकुल भावनाओं को अभिव्यक्त कर देने से आत्मा मुक्त हो जाती है जैसे बादलों के बरस जाने पर आकाश निर्मल हो जाता है। कला की यही चरम सिद्धि है। इसीलिए कला अपने मूल रूप में नैतिकता, उपयोगिता आदि के बंधनों से भी मुक्त है। किन्तु यह कला के मूल (आंतरिक) रूप का ही लक्षण है—कला को जब कलाकार मूर्तरूप प्रदान करता है तब वह सामाजिक नियमों के अधीन हो जाता है, उस स्थिति में उसे अपनी उन्हीं सहजानुभूतियों को मूर्त रूप देने का अधिकार रह जाता है जो समाज के लिए हितकर हैं।

संक्षेप में काव्य के विषय में क्रोचे के मूल सिद्धान्त ये ही हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में स्पष्ट अन्तर है, फिर भी उन में कुछ मौलिक साम्य भी है जिसके आधार पर दोनों की सम्बन्ध-कल्पना सर्वथा अनर्गल प्रतीत नहीं होती।

क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्त

साम्य :

१. क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में एक मौलिक साम्य तो यही है कि दोनों अभिव्यंजना को ही काव्य का प्राणतत्व मानते हैं। क्रोचे की वक्र उक्ति अथवा

वैदग्ध्यभंगीभणिति मूलतः उक्ति या भणिति—दूसरे शब्दों में अभिव्यंजना ही है। जिस प्रकार कुन्तक की उक्ति अथवा भणिति से आशय वाक्य मात्र का न होकर समस्त कवि-व्यापार या काव्य-कौशल का है, इसी प्रकार क्रोचे की अभिव्यंजना की परिधि में सभी प्रकार का रूपविधान आ जाता है। इस दृष्टि से दोनों कलावादी आचार्य हैं।

२. दोनों ने काव्य में कल्पना-तत्व को प्रमुखता दी है। क्रोचे की सहजानुभूति तो निश्चय ही कल्पनात्मक क्रिया है—उन्होंने स्पष्ट ही कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। कुन्तक ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया था, परन्तु उनकी 'वक्रता' 'कवि-व्यापार' 'वैदग्ध्य' 'उत्पाद्य-लावण्य', आदि में कल्पना की व्यंजना असंदिग्ध है। वास्तव में जैसा कि डा० डे आदि का मत है, वक्रोक्ति का आधार कल्पना ही है।

३. क्रोचे और कुन्तक दोनों ही अभिव्यंजना अथवा उक्ति को मूलतः अखण्ड, अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं। क्रोचे की भाँति कुन्तक ने भी स्पष्ट कहा है कि तत्व दृष्टि से उक्ति अखण्ड है, उसमें अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं हो सकता—इस प्रसंग में दोनों की शब्दावली तक मिल जाती है। (देखिए अलंकार और अलंकार्य प्रसंग—)। इसी प्रकार काव्य में एक अर्थ के लिए एक ही शब्द का प्रयोग होता है : 'अन्यूनमनतिरिक्त' शब्द-प्रयोग, काव्योक्ति अथवा वक्रोक्ति के लिए अनिवार्य है। यही अभिव्यंजना की अद्वितीयता है : 'पर्यायवाची अन्य (शब्दों) के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक (शब्द ही वस्तुतः) शब्द कहलाता है—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।१।९'

(हिन्दी व० जी० पृ० ३८)।

४. क्रोचे और कुन्तक दोनों ही सफल अभिव्यंजना अथवा सौन्दर्याभिव्यंजना में श्रेणियां नहीं मानते। कुन्तक ने काव्यमार्गों के विवेचन में यह अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि उनमें मूलतः प्रकार का भेद है : सौन्दर्य की मात्रा का नहीं है : 'न च रीतीनाम् उत्तमाधममध्यमभेदेन त्रैविध्यम् व्यवस्थापयितुम् न्याय्यम्।'

क्रोचे ने भी अपने ढंग से यही कहा है कि एक सफल अभिव्यंजना (वास्तव में उन्होंने सफल विशेषण को भी व्यर्थ ही माना है क्योंकि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं है) और दूसरी सफल अभिव्यंजना में सौन्दर्य की मात्रा का अथवा श्रेणी का भेद नहीं है। दोनों ही अपने आप में पूर्ण हैं।

वैषम्य :

परन्तु क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है।

१. पहला अंतर तो यही है कि क्रोचे मूलतः दार्शनिक हैं जिन्होंने सम्पूर्ण अलंकारशास्त्र का निषेध किया है। कुन्तक इसके विपरीत मूलतः आलंकारिक हैं जिन्होंने लोकोत्तरचमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि और उसके द्वारा काव्य की सम्यक् व्युत्पत्ति के लिए कृतसंकल्प होकर अलंकारशास्त्र की रचना की है :

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये,
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।

इस प्रकार दोनों के दृष्टिकोण में ही मौलिक भेद है।

२. क्रोचे के प्रतिपाद्य का मूल आधार है उक्ति : जिसमें वक्र और ऋजु—वक्रता और वार्ता का भेद नहीं है। क्रोचे के अनुसार वक्रोक्ति भी सहजोक्ति ही है क्योंकि अभीष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए वही एकमात्र उक्ति हो सकती थी। कुन्तक ने वक्रता और वार्ता अर्थात् चमत्कारपूर्ण तथा चमत्कारहीन उक्ति में स्पष्ट भेद माना है : उन्होंने अनेक मान्य अलंकारों का निषेध ही इस आधार पर किया है कि उनमें चमत्कार नहीं है। उनके विदग्ध और वक्र आदि विशेषण वार्ता और वक्रोक्ति के भेदक हैं।

३. क्रोचे के अनुसार काव्य की आत्मा सहजानुभूति है और कुन्तक के अनुसार कवि-व्यापार। इन दोनों में कवि-व्यापार की परिधि अधिक व्यापक है : उसके अन्तर्गत काव्य का भावन-व्यापार और रचना-प्रक्रिया, क्रोचे के शब्दों में सहजानुभूति तथा बाह्य अभिव्यंजना दोनों का समावेश है। कुन्तक ने वक्रता (सौन्दर्य) को मूलतः तो प्रतिभा द्वारा अंतःस्फुरित ही माना है :

प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते॥

अर्थात् 'प्रतिभा के प्रथम विलास के समय ही (जहां) शब्द और अर्थ के भीतर वक्रता स्फुरित होती हुई-सी प्रतीत होने लगती है' १।२४। परन्तु इसके साथ ही रचना;

निबन्धन आदि का महत्व भी उन्होंने निश्चय रूप से स्वीकार किया है। इस प्रकार सौन्दर्य का प्रातिभ अन्तःस्फुरण तथा रचना-कौशल दोनों ही कुन्तक के कवि-व्यापार के अंग हैं; यह ठीक है कि दोनों में अन्तःस्फुरण का ही महत्व अधिक है—वही सौन्दर्य का मूल रूप भी है, फिर भी रचना-कौशल भी उतना ही अनिवार्य है। मूल तत्व अन्तःस्फुरण ही है, परन्तु कवि-व्यापार रचना के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। क्रोचे ने बाह्य-रचना[1] की सत्ता तो स्वीकार की है पर उसे सर्वथा आनुषंगिक माना है: वह सहजानुभूति की पुनरुद्‌बुद्धि का विभावक, स्मृति का सहायक आदि तो है, काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण का यह अत्यन्त मौलिक भेद है। भारतीय काव्यशास्त्र में भी मूर्त कलाकृति को इस रूप में ग्रहण किया गया है: उसके द्वारा सहृदय के चित्त में वासना रूप से स्थित स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होकर रस में परिणत हो जाता है। कुन्तक का भी इस मत से विरोध नहीं है। परन्तु यह तो सृजन के उपरान्त की स्थिति है। सृजन की प्रक्रिया में अन्तःस्फुरण निश्चय ही मूल क्रिया है, किन्तु वह पर्याप्त तो नहीं है: जब तक उसको शब्द-अर्थ में बिम्बित नहीं किया जाता तब तक तो उसका कला रूप ही प्रस्तुत नहीं होता—मूर्त आकार धारण कर ही वह काव्य अथवा कला रूप में ग्राह्य होता है। अतएव रचना-कौशल (अर्थात् व्युत्पत्ति और अभ्यास) का महत्व गौण होते हुए भी अनिवार्य है। इसी दृष्टि से कुन्तक ने स्वाभाविक प्रतिभा को मूर्धन्य पर स्थान देकर फिर बाद में व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी उसके द्वारा अनुशासित मान लिया है और इस प्रकार वे भी काव्य के अनिवार्य हेतु बन गये हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि क्रोचे ने जहाँ केवल आन्तरिक क्रिया—आध्यात्मिक सृजन, अथवा पारिभाषिक शब्दावली में सहजानुभूति को ही काव्य-सर्वस्व माना है वहाँ कुन्तक ने इस आध्यात्मिक क्रिया अथवा प्रातिभ अन्तःस्फुरण को काव्य का मूल उद्‌गम मानते हुए रचना-कौशल को भी अपने कवि-व्यापार का अनिवार्य अंग माना है। यह दार्शनिक की तत्व-दृष्टि और शास्त्रकार की व्यवहार-दृष्टि का भेद है।

४. क्रोचे के अनुसार सौन्दर्य और उसकी प्रतिरूप अभिव्यंजना अपना उद्देश्य आप ही है: आनन्द उसका सहचारी भाव तो है, परन्तु उद्देश्य नहीं है। कुन्तक आनन्द को सौन्दर्य की सिद्धि ही नहीं वरन् कारण भी मानते हैं। सौन्दर्य

१. ऐक्सटरनलाइज़ेशन

का निर्णायक धर्म उसका आह्लादकत्व ही है। उनके मत से अर्थ की रमणीयता उसके सहृदय-आह्लादकारित्व में ही निहित है—अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः। १।६।—क्रोचे के अनुसार काव्य का उद्देश्य है आत्मा का विशदीकरण, किन्तु कुन्तक परम आनन्दवादी हैं: वे आनन्द को चतुर्वर्गफलास्वाद से भी बढ़कर मानते हैं।

५. वस्तु-तत्व के विषय में भी दोनों में पर्याप्त मतभेद है। क्रोचे के सिद्धान्त की अपेक्षा कुन्तक के सिद्धान्त में वस्तु-तत्व की अधिक स्वीकृति है। क्रोचे तो उसे अरूप संवेदन-जाल या प्रकृत सामग्री मात्र मानते हैं जिसका अभिव्यंजना के बिना काव्य में कोई अस्तित्व नहीं है। कुन्तक भी विषय की अपेक्षा उसके नियोजन को ही अधिक महत्व देते हैं, परन्तु वे विषय के महत्व को अस्वीकार नहीं करते। उनकी प्रबन्ध-वक्रता में वस्तु तथा रस का महत्व अनेक रूपों में स्वीकृत है और उधर वस्तु-वक्रता का सौन्दर्य तो वस्तु पर ही आश्रित है।

इस प्रकार क्रोचे के अभिव्यंजना-सिद्धान्त का वक्रता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। वह वास्तव में अभिव्यंजना का दर्शन है, काव्यशास्त्र है भी नहीं। परन्तु यूरोप में जल्दी ही उसके आधार पर अभिव्यंजनावाद नाम से एक कला-सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। इस सम्प्रदाय के नेताओं में स्वभावतः क्रोचे की अपेक्षा अधिक जोश था और उस जोश में उन्होंने अभिव्यंजना-सिद्धान्त का अखण्ड एवं तत्व रूप में ग्रहण न कर खण्ड रूप में व्यावहारिक धरातल पर प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। क्रोचे का सिद्धान्त तो एक सार्वभौम मौलिक सिद्धान्त था जो काव्य और कला के सभी रूपों तथा सभी देशों और कालों के कवि-कलाकारों पर समान रूप से घटित होता था, परन्तु उनके अनुयायी (पिरांडेलो आदि) अभिव्यंजनावादी नाटक, कविता, चित्र आदि की रचना करने लगे। यह सब क्रोचे के सिद्धान्त के प्रतिकूल था। इन लोगों ने वास्तव में क्रोचे के सिद्धान्त की मूल धारणा को ग्रहण न कर उसके कतिपय निष्कर्षों को ही ग्रहण कर लिया। क्रोचे का एक निष्कर्ष यह था कि प्रत्येक उक्ति अपने आप में स्वतन्त्र, अन्य से भिन्न तथा अद्वितीय होती है, और दूसरा निष्कर्ष यह था कि सहजानुभूति अनिवार्यतः बिम्ब रूप में ही अभिव्यक्त होती है, तीसरा यह था कि कला अपना उद्देश्य आप है। इन खण्ड सिद्धान्तों को लेकर बीसवीं शती के प्रथम चरण में यूरोप के कला-जगत में (१) प्रभाववाद (२) बिम्बवाद (३) घनवाद

१. इम्प्रेशनिज़्म २. इमेजिज़्म ३. क्यूबिज़्म

(४) वक्रतावाद (५) अतिवस्तुवाद आदि अनेक सिद्धान्तों या सम्प्रदायों का आविर्भाव हो गया जिन्हें मनोविश्लेषणशास्त्र के अन्तर्गत अवचेतन-सम्बन्धी अन्वेषणों से उचित-अनुचित पोषण मिलता रहा।

उपर्युक्त सभी वादों में सामान्य परम्परागत अभिव्यक्ति के विरुद्ध असामान्य अभिव्यंजना-प्रणालियों की किसी न किसी रूप में प्रतिष्ठा की गयी है और इस दृष्टि से इन में वक्रता-वैचित्र्य का अपना महत्व है। उदाहरण के लिए प्रभाववाद को लीजिए। इसका आविर्भाव तो यद्यपि उन्नीसवीं शती के अन्त में चित्रकला के क्षेत्र में हुआ था, परन्तु बीसवीं शती के आरम्भ में कमिंग्स, ऐमी लोवेल आदि के द्वारा साहित्य में भी इसका प्रवर्तन हो गया था। प्रभाववाद में अन्तःसंस्कारों को अनूदित करने के निमित्त ही भाषा का प्रयोग किया जाता है। प्रभाववाद का मूल आधार है स्थायी तथा वास्तविक तथ्य के स्थान पर अस्थायी प्रतीति का अंकन। प्रभाववादी वस्तु को वैसी ही अंकित करता है जैसी कि वह क्षण विशेष में उसे प्रतीत होती है : वह उसके वास्तविक स्थायी रूप-आकार का चित्रण नहीं करता। इस प्रकार प्रभाववाद का उद्देश्य क्षणिक प्रभावों को शब्द-बद्ध करना ही है, और इस उद्देश्य के प्रति उसे इतना अधिक आग्रह रहता है कि तत्व और रूप लगभग उसके हाथ से निकल जाते हैं—केवल अन्तःसंस्कार रह जाते हैं। शैली के क्षेत्र में इन कवियों ने लेखन-सम्बन्धी विचित्रताओं तथा छन्द-पंक्तियों की विषमताओं के अतिरिक्त कहीं अनमेल स्वतंत्र शब्दों के योग और कहीं शब्दच्छेद आदि के द्वारा अभीष्ट 'प्रभाव' उत्पन्न करने का साग्रह प्रयत्न किया है।

दूसरा वाद था बिम्बवाद जो प्रभाववाद का ही औरस पुत्र था। इस आंग्ल-अमरीकी काव्य-आन्दोलन का समय बीसवीं शती का द्वितीय दशक था—और नेता थे ऐज़रा पाउन्ड। इस सिद्धान्त का आविर्भाव स्वच्छन्दतावाद की प्रतिक्रिया रूप में हुआ था। बिम्बवाद की मूल धारणा यह है कि कला अथवा कविता का माध्यम केवल बिम्ब है : काव्यगत अनुभूतियां बिम्बों में ही प्रकट हो सकती हैं, साधारण व्याकरण-सम्मत भाषा कविता का सहज माध्यम नहीं है। अतएव ये स्पष्ट तथा निश्चित ऐन्द्रिय बिम्ब-विधान को ही काव्य का मूल आधार मानते हैं। छन्द में इन्होंने इसी

---

४. प्रिंसिपल ऑफ़ ऑब्लीक आर्ट

५. सुर-रियलिज़्म।

तथ्य को सामने रखकर नवीन लयों का आविष्कार करते हुए कविता को नवीन कलेवर प्रदान किया। इसी का एक सगोत्रीय घनवाद था, यह भी वास्तव में चित्रकला का ही शब्द था जो बाद में काव्य में भी आ गया। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि हम प्रत्येक वस्तु को घन रूप में ही देखते हैं जिसमें लम्बाई, चौड़ाई के साथ गहराई भी रहती है : यही वस्तु का समग्र ग्रहण है। चित्रकला तथा काव्यकला या अन्य किसी भी कला में वस्तु का घन रूप में ही अंकन होना चाहिए। इन वादों में सबसे नया है वक्रतावाद जिसका मूल आधार यह है कि प्रत्येक वस्तु पर हमारी दृष्टि तिरछी ही पड़ती है : अतएव यह तिरछापन या वक्रता ही हमारे वस्तु-दर्शन की स्वाभाविक विधि है। यह वाद भी आरम्भ में चित्रकला से ही सम्बद्ध था, परन्तु क्रमशः काव्य में भी इसका प्रवेश हो गया। इसके अनुसार वक्रता ही हमारे ग्रहण और अभिव्यंजन की सहज विधि है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि ये सभी कला-सिद्धान्त केवल वक्रता ही नहीं अतिवक्रता का प्रतिपादन करते हैं—जिसमें विचित्रता तथा लोकातिक्रांतगोचरता का अतिचार मिलता है। शुक्ल जी के प्रहार का लक्ष्य वास्तव में ये ही अतिवाद थे। वे इन वैचित्र्यवादियों से इतने रुष्ट हो गये थे कि बेचारे क्रोचे और कुन्तक पर बरस पड़े। परन्तु क्रोचे इस प्रसंग में निर्दोष थे और कुन्तक ने भी कहीं किसी अतिवाद का समर्थन नहीं किया। क्रोचे के सिद्धान्त में तो वैचित्र्य की ही स्वीकृति नहीं है—कुन्तक का वक्रता-वैचित्र्य भी औचित्य पर पूर्णतया अवलम्बित है। कुन्तक की वक्रता सुन्दरता की ही पर्याय है जिसका आधार औचित्य है—जिसमें इन वैचित्र्यमूलक विकृतियों के लिए कोई स्थान नहीं है।

इंगलैंड के वर्तमान आलोचक आई०ए० रिचर्ड्स इन अतिवादों का खण्डन पहले ही कर चुके थे। उन्होंने स्वस्थ-प्रकृत चेतन मन को ही प्रमाण मानकर साधारण व्यावहारिक मनोविज्ञान के आधार पर काव्य-मूल्यों की स्थापना की। उन्होंने काव्य की अनुभूति में मानस-चित्रों तथा अभिव्यक्ति में चित्रभाषा को अनिवार्य माना और वादगत वक्रता-विकृतियों के स्थान पर शुद्ध वक्रता की प्रतिष्ठा की। उनका भाषा-विषयक वक्तव्य इसका प्रमाण है : "किसी उक्ति का प्रयोग अर्थ-संकेत के लिए हो सकता है, यह अर्थ-संकेत सत्य हो सकता है अथवा मिथ्या। यह भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग है : किन्तु भाषा का प्रयोग उन भावगत तथा प्रवृत्तिगत प्रभावों के निमित्त भी हो सकता है जो अर्थ-संकेतों से उत्पन्न होते हैं। यह भाषा का रागात्मक प्रयोग है।" (प्रिंसिपिल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म पृ० २६७-६८)।

इन्हीं दोनों भेदों को अन्य मनोवैज्ञानिकों ने शून्यभाषा[1] और बिम्बभाषा[2] या चित्रभाषा कहा है। भाषा का यह रागात्मक प्रयोग या चित्रभाषा स्पष्टतः कुन्तक की वक्रता के प्रथम चार भेदों—वर्ण-वक्रता, पदपूर्वार्ध-वक्रता, पदपरार्ध-वक्रता, तथा वाक्य-वक्रता का संघात है। इसे काव्य का अनिवार्य माध्यम मान कर रिचर्ड्स आदि ने वक्रता को ही प्रकारान्तर से स्वीकार किया है।

यूरोपीय काव्यशास्त्र में वक्रता-सिद्धान्त की स्वीकृति-अस्वीकृति का, संक्षेप में, यही इतिहास है। काव्य-सम्प्रदाय के रूप में वक्रोक्तिवाद चाहे भारतीय काव्यशास्त्र तक ही सीमित रहा हो, परन्तु उसका आधारभूत सिद्धान्त काव्य का एक मौलिक सिद्धान्त है, अतएव उसकी सत्ता सार्वभौम है। वक्रता की प्रतिष्ठा वास्तव में कल्पनामूलक काव्यकौशल के साथ सम्बद्ध है: और इस रूप में यूरोप के काव्यशास्त्र में भी आरम्भ से ही, प्रकारान्तर से, उसका अत्यंत मनोयोगपूर्वक विवेचन होता आया है।

---

(१) साइफ़र-लैंग्वेज (२) इमेज-लैंग्वेज़।

हिन्दी और वक्रोक्ति-सिद्धान्त

जैसा कि 'ऐतिहासिक विकास' प्रसंग से स्पष्ट है, वक्रोक्ति-सिद्धान्त कुन्तक के साथ ही समाप्त हो गया था। उसका अतीत तो थोड़ा बहुत था भी, भविष्यत् कुछ नहीं रहा। संस्कृत काव्यशास्त्र में भी एकाध शताब्दी के उपरान्त ही उसकी चर्चा समाप्त हो गई। मूलतः अलंकार की ही एक शाखा होने के कारण और साथ ही वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ के लुप्त हो जाने के कारण भी, वक्रोक्ति-सिद्धान्त के स्वतंत्र अस्तित्व का लोप हो गया। अतएव हिन्दी काव्यशास्त्र के लिए भी वक्रोक्तिवाद अज्ञात ही रहा।

परन्तु कुन्तक की वक्रता तो काव्य का कोई एक विशेष अंग न होकर वस्तुतः कवि-व्यापार का ही पर्याय है : उसकी स्थापना साहित्य में वैदग्ध्य अथवा कविकौशल —आधुनिक शब्दावली में साहित्य के कला पक्ष की प्रतिष्ठा है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य अथवा किसी भी साहित्य में वक्रता-सम्बन्धी चिन्तना का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। हिन्दी रीतिशास्त्र में कुन्तक की वक्रता का चाहे उल्लेख न हुआ हो, परन्तु हिन्दी काव्य में तो आरम्भ से ही वक्रता-वैभव मिलता है। हिन्दी के आदि काल में ही स्वयम्भू आदि अपभ्रंश अथवा पुरानी हिन्दी के कवियों को लीजिए, चाहे चन्द आदि पिंगल-डिंगल के कवियों को, सभी में वक्रता के एक-दो नहीं समस्त भेद सरलता से उपलब्ध हो सकते हैं। स्वयम्भू तथा चन्द के प्रबन्ध काव्यों में अनुप्रासादि शब्दालंकारों में वर्ण-वक्रता, उपमादि अर्थालंकारों में वाक्य-वक्रता, वस्तु-चयन में वस्तु-वक्रता, लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक प्रयोगों में पदपूर्वार्ध एवं पदपरार्ध-वक्रता और प्रबन्ध-विधान में प्रकरण तथा प्रबन्ध-वक्रता के लगभग समस्त भेद-प्रकार मिलते हैं। स्वयम्भू ने तो आरम्भ में ही अपने कला-विधान को स्पष्ट कर दिया है—उनकी निम्नोद्धृत प्रसिद्ध चौपाइयों में अनेक वक्रता-भेदों का उल्लेख है :

अक्खर-वास जलोह मणोहर । सुयंलकार - छंद मच्छोहर ।।
दीह - समास - पवाहा बंकिय । सक्कय पायय-पुलिणालंकिय ।।
देसी - भाषा उभय तडुज्जल । कवि-दुक्कर घण-सद्द सिलायल ।।
अत्थ-बहल कल्लोला णिट्ठिय । आसा-सय-सम ऊह परिट्ठिय ।।

यहाँ मनोहर अक्षर-वास वर्णविन्यास-वक्रता है, सुन्दर अलंकार-विधान वाक्य-वक्रता है, संस्कृत-प्राकृत शब्दों तथा घन-शब्दों के प्रयोग में पर्याय-वक्रता की स्वीकृति है, बंकिम समास-प्रवाह समास-वक्रता का रूप है और अर्थ बाहुल्य वस्तु-वक्रता का। परन्तु प्रश्न प्रयोग का नहीं है, सिद्धान्त का है। सिद्धान्त की दृष्टि से स्वयम्भू तथा चन्द आदि का वक्रोक्तिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है : उन्होंने कुन्तक की वक्रोक्ति को प्रसाधन रूप में ग्रहण किया है, आत्मा रूप में नहीं। सम्भव है स्वयम्भू को कुन्तक का नाम भी ज्ञात नहीं था। अपने ग्रन्थ में उन्होंने भरत, भामह और दण्डी का उल्लेख तो किया है और यह सम्भावना है कि उनके मूल काव्य-सिद्धान्तों से वे परिचित भी रहे हों; परन्तु कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को उस समय तक कवि-समाज भूल चुका था।

णा णिसुणिउं पंच महायकव्वु । णउ भरहुण लक्खणु छन्दु सव्वु ।।
णउ बुज्झिउँ पिंगल पच्छारु । णउ भामह, दण्डिऽलंकारु ।।

विद्यापति वक्रता के दोनों रूपों के आचार्य थे। ये दो रूप हैं : पारिभाषिक तथा व्यावहारिक : पारिभाषिक रूप में वक्रता काव्य-सौन्दर्य अथवा चारुता की पर्याय है, सामान्य रूप में वक्रता का अर्थ है विदग्धता। विद्यापति का काव्य चारुता का तो अक्षय भाण्डार है ही, साथ ही उसमें वैदग्ध्य (बांकपन) का भी अपूर्व वैभव है। उन्होंने अपनी भाषा-शैली को बालचन्द्र के समान चारु कहा है जिसका मूल गुण है नागर-मन-मोहिनी शक्ति—

बालचन्द विज्जावइ भाषा । दुहुँ नहिं लागइ दुज्जन-आसा ।
ओ परमेसर हर सिर सोहई । ई निच्चय नायर मन मोहई ।।

नागरता का अर्थ स्पष्टतः विदग्धता है, कुन्तक की वैदग्ध्यभंगीभणिति—

कत विदग्ध जन रस अनुगमन अनुभव काहु न पेख ।

जिस रस का अनुभव विदग्ध जन ही कर सकते हों, वह निश्चय ही विदग्ध अथवा

वक्र वाणी में ही अभिव्यक्त हो सकता है। वास्तव में वक्रता के स्फुट भेदों का विद्यापति के पदों में अपूर्व उल्लास है।

भक्तियुग के पूर्वार्ध में निर्गुण सन्तों की वाणी को भी वक्रता का बल प्राप्त था : कबीर की कविता में व्युत्पत्ति-जन्य चारुता तो विशेष नहीं है, परन्तु प्रतिभा-जन्य विदग्धता[1] इतनी अधिक है कि शुक्ल जी जैसे अननुकूल आलोचक को भी उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी पड़ी है। वास्तव में उन्होंने चमत्कार-शैली का सप्रभाव प्रयोग किया है : व्यंग्य और वक्रता की चमक उनकी 'सीधी' और 'उलटी' दोनों वाणियों में मिलती है।[2] मूलतः तो रहस्यवादी होने के कारण काव्यशास्त्र के ध्वनिवाद से ही इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु रहस्यवाद की सांकेतिक शैली तथा प्रतीक-विधान में वक्रता की भी स्पष्ट स्वीकृति है। प्रेममार्गी संतों में ये गुण और भी प्रचुर मात्रा में वर्तमान हैं : जायसी और उनके सहयोगियों ने काव्य में सांकेतिक भाषा तथा प्रतीक-पद्धति का प्रयोग अधिक निपुणता के साथ किया है : यह 'निपुणता' ही वक्रता है। समस्त वस्तु-विधान को ही समासोक्ति में बाँधने वाली इनकी शैली प्रबन्ध-वक्रता का अपूर्व उदारहण है।

सगुण-भक्ति-काव्य में यद्यपि रसवाद की प्रधानता रही, फिर भी भाव की समृद्धि के साथ साथ कला-वैचित्र्य का भी सम्यक् विकास हुआ। लीला-पुरुषोत्तम की क्रीड़ाओं ने कृष्ण-भक्त कवियों के लिए वक्रता-विलास का अपार क्षेत्र उद्घाटित कर दिया। सूर की लीला-रसिक प्रतिभा शब्द और अर्थ की असंख्य वक्रताओं के साथ आत्म-विभोर होकर खेली है। विद्यापति की भाँति—वरन् विद्यापति से भी अधिक, सूर के काव्य में वक्रता के दोनों पक्षों का—सौन्दर्य-रूपों और विदग्ध उक्तियों का अक्षय वैभव है। सूर का भ्रमरगीत तो भाव-प्रेरित वक्रोक्तियों का अनन्त भाण्डार है। कहीं शब्द को लेकर, कहीं अर्थ को लेकर, कहीं उपमान को लेकर, कहीं विशेषण को लेकर, कहीं क्रिया को लेकर, कहीं लिंग को लेकर सूर की भावुकता ने अद्भुत क्रीड़ाएं की हैं। तुलसी की प्रकृति गम्भीर थी। उनकी दृष्टि में राम नाम के परम रस के अभाव में 'वैचित्र्य-भंगी-भणिति' का विशेष मूल्य नहीं था :

---

१. विट

२. यद्यपि वे पढ़े-लिखे न थे, पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य-चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी उक्तियों में विरोध और असम्भव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था। (हिंदी साहित्य का इतिहास, अष्टम संस्करण-पृ० ७९)

भनिति विचित्र सुकवि-कृत जोऊ। राम बिनु सोह न सोऊ ॥

परन्तु व्यवहार में वक्रता की उपेक्षा उन्होंने भी नहीं की। अपने काव्य के जिन गुणों के प्रति वे सचेष्ट हैं उनमें वक्रता का भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारों से उल्लेख है :

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरन्द सुबासा।
धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर से बहु भाँती ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में 'अनूप अरथ' कुन्तक की वस्तु-वक्रता का पर्याय है, और अवरेब का स्पष्ट अर्थ वक्रता ही है। इस उद्धरण से यह संकेत मिल जाता है कि तुलसी वक्रता को भी काव्य के प्रसाधन के रूप में स्वीकार करते थे।

रीतिकाल

सगुण भक्ति के प्रौढ़ि काल में ही रीतिकाव्य की परम्परा चल पड़ी थी—और केशव आदि आचार्यों के ग्रन्थों में विधिवत् काव्यशास्त्र का विवेचन आरम्भ हो गया था। रीतिकाल में भी यों तो रसवाद का ही प्राधान्य रहा, तथापि ध्वनि, रीति-गुण तथा अलंकार की भी समय-समय पर अवतारणा होती रही : परन्तु वक्रोक्तिवाद का नामोल्लेख तक किसी ने नहीं किया। रुद्रट के अनुकरण पर संस्कृत के परवर्ती काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति का स्थान वक्रीकृता उक्ति के अर्थ में शब्दालंकार वर्ग के अंतर्गत अंतिम रूप से निश्चित हो गया था—हिन्दी के रीतिकार उसी का यथावत् अनुकरण करते रहे। केवल केशव इसका अपवाद थे जिन्होंने मम्मटादि का अनुसरण न कर प्रायः पूर्वध्वनि आचार्यों का ही मार्ग-ग्रहण किया। उन्होंने वक्रोक्ति को वक्रीकृता उक्ति रूप शब्दालंकार न मान कर वक्र अर्थात् विदग्ध उक्ति रूप अर्थालंकार ही माना है। कविप्रिया के बारहवें प्रभाव में 'उक्ति' अलंकार के पाँच भेदों का वर्णन है :

वक्र, अन्य, व्यधिकरण कहि, और विशेष समान।
सहित सहोकति में कही, उक्ति सु पंच प्रमान ॥

इनमें से प्रथम भेद है वक्रोक्ति :

केशव सूधी बात में बरणत टेढ़ो भाव।
वक्रोकति तासों कहत, सदा सबै कविराव ॥

केशव के अनुसार जहां सीधी-सरल उक्ति में वक्र भाव व्यक्त किया जाय, वहां वक्रोक्ति होती है। अर्थात् केशव की वक्रोक्ति का मूल आधार है विदग्धता जिसमें केवल उक्ति-

चमत्कार या शब्द-कौतुक न होकर भाव-प्रेरित वक्रता रहती है। उन्होंने वक्रोक्ति के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं :

उदाहरण १

ज्यों-ज्यों हुलास सों केशवदास, विलास निवास हिये अवरेख्यो।
त्यों-त्यों बढ़्यो उर कंप कछू भ्रम, भीत भयो किधौं शीत विशेख्यो।
मुद्रित होत सखी बरही मम नैन सरोजनि साँच कै लेख्यो।
तैं जु कह्यो मुख मोहन को अरविंद सो है, सो तो चन्द सो देख्यो॥

यहां खण्डिता की वचन-वक्रता है। खण्डिता नायिका अपनी सखी से कहती है कि तू ने मोहन के मुख को अरविन्द के सदृश बताया था—परन्तु पर-नायिका के कज्जल आदि चिह्नों से युक्त वह तो मुझे (कलंकयुक्त) चन्द्रमा के समान प्रतीत हुआ क्योंकि एक तो उसका दर्शन कर मुझे मानों शीत के कारण कम्प हो गया और दूसरे मेरे नेत्र-कमल बरबस मूँद गये। प्रस्तुत उक्ति में विदग्धता अर्थात् बाँकपन का भी अभाव नहीं है; परन्तु प्राधान्य वस्तुतः शब्द और अर्थ के उन चारु चमत्कारों का ही है जिनका विवेचन कुन्तक ने अपने कतिपय वक्रता-भेदों के अन्तर्गत किया है।

उदारहण २

अंग अली धरियै अँगियाऊ न आजु तें नींद न आवन दीजै।
जानति हौ जिय नाते सखीन के, लाज हू को अब साथ न लीजै।
थोरेहि द्यौस तें खेलन तेऊ लगीं उनसों, जिन्हें देखि कै जीजै।
नाह के नेह के मामले आपनी छाँहहु को परतीति न कीजै॥

सामान्यतः तो इस उक्ति में सखी की वंचना पर मार्मिक व्यंग्य है किन्तु उसका आधार मूलतः कुन्तक की लिंग-वक्रता का चमत्कार ही है।

केशव के परवर्ती अधिकांश आचार्यों ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार ही माना है और रुद्रट के आधार पर उसके काकु और श्लेष दो भेद किये हैं।

चिंतामणि : और भाँति को वचन जो और लगावै कोइ।
कै सलेष कै काकु सों वक्रोकति है सोइ॥
(कविकुलकल्पतरु २।५)

जसवन्तसिंह : वक्रोक्ती स्वर श्लेष सों अर्थ-फेर जो होइ,
रसिक अपूरब हौ पिया, बुरो कहत नहिं कोइ।
(भाषाभूषण—अलंकार संख्या १८९)

भूषण : जहां श्लेष सों काकु सों, अरथ लगावै और।
वक्र उकति वाकों कहत, भूषन कवि-सिरमौर ॥
(शिवराज भूषण पृ० १२७)

दास : व्यर्थ काकु ते अर्थ को, फेरि लगावै तर्क।
वक्र उक्ति तासौं कहैं जे बुध-अम्बुज-अर्क ॥
(काव्यनिर्णय पृ० २०८)

देव : काकु बचन अश्लेष करि, और अरथ ह्वै जाइ।
सो वक्रोक्ति सु बरनियै, उत्तम काव्य सुभाइ ॥
(भाव विलास पृ० १४८)

जसवन्तसिंह तथा भूषण ने वक्रोक्ति-विवेचन शब्दालंकार के अन्तर्गत न कर अर्थालंकार के अन्तर्गत ही किया है और उधर दास ने भी श्लेषादि अलंकार वर्ग के अन्तर्गत उसका निरूपण किया है। हिन्दी के इन आचार्यों ने स्वीकृत परम्परा का त्याग कर रुय्यक अथवा विद्याधर का अनुकरण क्यों किया यह कहना कठिन है—परन्तु यह असंदिग्ध है कि इस वर्गीकरण का मूल स्रोत रुय्यक का अलंकार-सर्वस्व ही है जिसमें रुय्यक ने रुद्रट की परिभाषा को यथावत् ग्रहण करते हुए भी वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है। परवर्ती रीतिकारों ने भी इसी परिभाषा की पुनरावृत्ति की है। सभी ने शब्दभेद से ही यही कहा है कि काकु और श्लेष के आधार पर उक्ति के वक्रीकरण का नाम वक्रोक्ति है।

रीतियुग के लक्ष्य काव्य में अवश्य, कुन्तक की वक्रता का सुष्ठ प्रयोग मिलता है। इस युग के अधिकांश समर्थ कवियों की रचनाओं में वर्ण-वक्रता, पद-वक्रता तथा वाक्य-वक्रता की छटा दर्शनीय है। खण्डिता तथा वचन-विदग्धा एवं क्रिया-विदग्धा नायिकाओं की उक्तियों में वैदग्ध्य का भी अपूर्व चमत्कार है। बिहारी ने तो बांकपन को और भी आग्रह के साथ ग्रहण किया है। जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है वक्रता वस्तुतः ध्वनि का व्यक्त रूप है : कल्पना का आत्मगत रूप ध्वनि है और वस्तुगत व्यक्त रूप वक्रता है। बिहारी सिद्धान्ततः ध्वनिवादी थे—अतएव उनकी अभि-

व्यंजना में बांकपन का समावेश स्वतः ही हो गया है, और अपनी कविता की इस वक्रता या बांकपन के प्रति वे जागरूक भी थे :

> गढ़-रचना, बरुनी, अलक, चितवनि, भौंह, कमान।
> आघु बँकाई हीं चढ़ै, तरुनि, तुरंगम, तान॥
>
> (बिहारी रत्नाकर ३१६)

अर्थात् दुर्ग-रचना, बरुनी, अलक, चितवन, भौंह, कमान, तरुणी, तुरंगम और तान (संगीत की तान) का अर्घ (मूल्य) बँकाई— बंकिमा अथवा वक्रता—से ही बढ़ता है। यहाँ काव्य का उल्लेख नहीं है, किन्तु 'तान' में उसका अन्तर्भाव माना जा सकता है। वस्तुतः उपर्युक्त दोहे में बरुनी, अलक, चितवन, तरुणी और तान ये सौन्दर्य के विभिन्न रूपों के उपलक्षण हैं, और गढ़रचना तथा तुरंगम ओज के। अतः यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक ही है कि बिहारी की दृष्टि में सौन्दर्य का पूर्ण उत्कर्ष वक्रता द्वारा ही होता है। इस बाँकपन के लिए वास्तव में बिहारी के मन में बड़ा मोह था :

> तिय कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिहि भौंह-कमान।
> चल चित बेझैं चुकति नहिं बंक बिलोकनि-बान॥ (३५६)
>
> अनियारे दीरघ दृगनु किती न तरुनि समान।
> वह चितवनि औरै कछू जिहिं बस होत सुजान॥ (५८८)
>
> कियौ जु, चिबुक उठाइ कै, कंपित कर भरतार।
> टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति टेढ़ैं तिलक लिलार॥ (५१८)

बिहारी के प्रतिद्वन्द्वी देव का दृष्टिकोण इसके विपरीत था : स्वभाव से अत्यन्त भावुक यह कवि वक्रता का प्रेमी नहीं था। इसीलिए उसने शब्द-शक्तियों में अभिधा को और अलंकारों में उपमा और स्वभाव को ही प्रधानता दी है :

१. अभिधा उत्तम काव्य है ···।

(२) अलंकार में मुख्य हैं, उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारनि विषै, परसत प्रगट प्रभाव॥

उन्होंने अभिधात्मक अर्थात् शुद्ध भावात्मक काव्य को सुधा के समान और व्यंजना-वक्रता-मूलक काव्य को तिक्त[1] पेय के समान माना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि

(१) जलजीरा

देव का काव्य वक्रता की सम्पदा से रिक्त है—हमारे कहने का अभिप्राय यही है कि शुद्ध रसवादी देव ने वक्रता को कोई स्वतंत्र महत्व नहीं दिया : उनकी दृष्टि में हृदय के रस का ही महत्व है, कल्पना-वैदग्ध्य का नहीं।

रीति युग के लक्ष्य काव्य में वक्रता का चरम विकास घनानन्द के कवित्तों में मिलता है। उनके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही वक्रता की प्रतिष्ठा है।

सिद्धान्त—

(१) घन आनन्द बूझनि अंक बसै, बिलसै रिझवार सुजान धनी।

(२) उर-भौन में मौन को घूँघट कै दुरि बैठी बिराजति बात बनी।

(३) सूछम उसास गुन बुन्यौ ताहि लखै कौन ?
पौन-पट रँग्यौ पेखियत रंग-राग में।

(४) अचिरज यहै औरै होत रंग-राग में।

इन उद्धरणों में घनानन्द ने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में काव्य में वक्रता के महत्व की स्थापना की है। (१) प्रीति (अर्थात् रस) बूझनि अथवा वक्रता-वैदग्ध्य के अंक में आसीन होकर ही शोभा को प्राप्त करती है। (२) उक्ति हृदय के भवन में अपने सौन्दर्य को छिपाये बैठी रहती है—अर्थात् उक्ति का सौन्दर्य भाव-प्रेरित व्यंजना में ही है। (३) वाणी तो सूक्ष्म श्वासों से बुना हुआ अदृश्य वितान है : यह वायवी पट भाव के रंग में रँग कर ही दृश्य रूप धारण करता है। अर्थात् अरूप वाणी भाव की प्रेरणा से चित्रमय बन जाती है। (४) यह सामान्य वाणी भाव के रंग में एक विचित्र ही रूप धारण कर लेती है।

व्यवहार—

१. लाजनि लपेटी चितवनि भेद-भाय-भरी,
लसति ललित लोल चख-तिरछानि मैं।
छबि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु मुसकानि मैं।
दसन-दमक फैलि हियैं मोती माल होति,
पिय सों लड़कि प्रेम-पगी बतरानि मैं।
आनन्द की निधि जगमगति छबीली बाल,
अंगनि अनंग रंग ढुरि मुरिजानि मैं।

इस पद में सौन्दर्य के जिस रूप का वर्णन है उसमें बंकिमा के चमत्कार का ही प्राधान्य है। चितवन भेद-भाय-भरी है, दृष्टि कटाक्ष-युक्त है और गति में बंकिमा है।

२. *बदरा बरसैं रितु मैं घिरिकै नितही अँखियाँ उघरी बरसैं।*

३. *उजरनि बसी है* हमारी अँखियानि देखौ सुबस सुदेस जहाँ रावरे बसत हौ।

४. *झूठ की सचाई* छाक्यो त्यों हित कचाई पाक्यो, ताके गुन गन घनआनंद कहा गनौं।

५. मति दौरि थकी न लहै ठिक ठौर *अमोही के मोह-मिठास* ठगी।

उपर्युक्त पंक्तियों की रेखांकित शब्दावली में वक्रता का चमत्कार स्वतःस्पष्ट है, अतएव उसका व्याख्यान अनावश्यक है। बिहारी तथा घनानन्द और उनके पूर्ववर्ती मुबारक आदि कवियों के काव्य में भारतीय संस्कारों के अतिरिक्त फ़ारसी का भी गहरा प्रभाव है और यह वक्रता-विलास, यह उक्ति-वैचित्र्य, बात का यह बांकपन बहुत कुछ उसी का परिणाम है।

रीतिकाल के उपरांत जो रीति-परम्परा चलती रही, उसमें वक्रोक्ति-विषयक कोई नवीन उद्भावना नहीं हुई। कविराजा मुरारिदान, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, सेठ अर्जुनदास केडिया, मिश्रबन्धु आदि प्रायः समस्त आधुनिक रीतिकारों ने वक्रोक्ति को उसी रूप में ग्रहण किया है जिस रूप में उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने किया था। परिभाषा सभी की वही है :

१. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार : "किसी के कहे हुए वाक्य का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा—श्लेष से अथवा काकु-उक्ति से—अन्य अर्थ कल्पना किये जाने को वक्रोक्ति अलंकार कहते हैं। अर्थात् वक्ता ने जिस अभिप्राय से जो वाक्य कहा हो, उसका श्रोता द्वारा भिन्न अर्थ कल्पना करके उत्तर दिया जाना। भिन्न अर्थ की कल्पना दो प्रकार से हो सकती है—श्लेष द्वारा और काकु द्वारा। अतः वक्रोक्ति के दो भेद हैं—श्लेष-वक्रोक्ति और काकु-वक्रोक्ति। (अलंकारमंजरी पृ० ४)।

२. मिश्रबन्धु (१. शुकदेवबिहारी मिश्र तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र) : वक्रोक्ति—में दूसरे की उक्ति का अर्थ काकु या श्लेष से बदला जाता है। वक्रोक्ति शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दो प्रकार की—वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है, एक

शब्द-वक्रोक्ति, दूसरी अर्थ-वक्रोक्ति। जहाँ शब्द बदल देने से यह अलंकार न रहे वहाँ शब्द-वक्रोक्ति समझी जायगी, जो कवियों ने शब्दालंकार का भेद माना है।

नोट— हम वक्रोक्ति को अर्थालंकार में मानते हैं। ऐसा मानने की तर्कावली श्लेष अलंकार (नं० २६) वाली ही है। × × अर्थात्—इस कारण जहाँ शब्द परिवर्तन से अलंकार न रहे, वहाँ शब्दालंकार वाला सिद्धान्त नहीं टिकता। इस हेतु यहाँ यह सिद्धान्त मानना चाहिए कि जहां सुनने में सुन्दर लगे, वहां शब्दालंकार हो, और जहां अर्थ विचारने में सौन्दर्य ज्ञात हो, वहां अर्थालंकार।
(साहित्य-पारिजात पृ० ३२३, ३२५, १७८)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वक्रोक्ति के सम्बन्ध में मूल धारणा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। केवल इतना अन्तर अवश्य पड़ा है कि पं० शुकदेवबिहारी मिश्र आदि ने उसको शब्दालंकारवर्ग के अन्तर्गत न रख कर अर्थालंकारवर्ग के अन्तर्गत ही रखा है। और यह वर्णन-क्रम मात्र का भेद नहीं है वे स्पष्टतः तथा सकारण उसको अर्थालंकार मानते हैं: उनका तर्क है कि जो अलंकार केवल श्रुति-सुखद हो वह शब्दालंकार है और जिसके अर्थ में चमत्कार हो वह अर्थालंकार। आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि जो अलंकार वाक्चित्र मात्र उत्पन्न करने की क्षमता रखता है वह शब्दालंकार है और जो मानस-चित्र भी उत्पन्न करता है वह अर्थालंकार है: रिचर्ड्स ने पहले में सम्बद्ध मूर्तिविधान और दूसरे में स्वतंत्र मूर्तिविधान की कल्पना की है। मिश्रद्वय का यह तर्क परम्परा-मान्य तर्क से भिन्न है। जैसा कि उन्होंने स्वयं ही लिखा है, उन्हें प्राचीन आलंकारिकों का यह सिद्धान्त प्रमान्य है कि जहां चमत्कार शब्द के आश्रित हो अर्थात् शब्द-परिवर्तन से जहां चमत्कार नष्ट हो जाए वहां शब्दालंकार होता है, और जहां शब्द-परिवर्तन के उपरान्त भी चमत्कार यथावत् बना रहे वहाँ अर्थालंकार होता है। यह स्थापना निश्चय ही साहसपूर्ण है और एकदम अग्राह्य भी नहीं है। वास्तव में तो यह समस्या श्लेष के कारण उत्पन्न हुई है जिसके विषय में संस्कृत के आलंकारिकों में प्रचण्ड विवाद चला है, और स्वतन्त्रचेता मिश्र जी ने अपने ढंग से सामान्य विवेक के आधार पर इसका समाधान करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उनका समाधान भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। इस प्रकार यमक भी अर्थालंकार वर्ग के अन्तर्गत आ जाता है क्योंकि उसका चमत्कार भी केवल श्रवण मात्र से—अर्थ-ज्ञान के बिना—हृद्गत नहीं होता, पर स्वयं मिश्र जी ने उसे शब्दालंकार माना है। अतएव परम्परा की अस्वीकृति से कोई विशेष सिद्धि नहीं होती। वक्रोक्ति को प्राचीनों ने इसी कारण से शब्दालंकार माना है क्योंकि उसका आधार शब्द-चमत्कार ही है: काकु में उच्चारण का चमत्कार है, श्लेष में शब्द-विशेष का। मिश्र

जी के तर्कानुसार वक्रोक्ति का चमत्कार मूलतः अर्थ का ही चमत्कार है, इसलिए उसे अर्थालंकार ही मानना संगत होगा। इसमें सन्देह नहीं कि वक्रोक्ति का आश्रय चाहे उच्चारण-वक्रता हो या शब्द-विशेष परन्तु उसमें निश्चय ही व्यंग्य का चमत्कार रहता है और ऐसी दशा में उसकी अर्थालंकार-कल्पना भी सर्वथा अनर्गल नहीं है। संस्कृत के रुय्यक, विद्यानाथ तथा अप्पय दीक्षित, और इधर हिन्दी के के जसवन्तसिंह, भूषण आदि कतिपय आचार्यों ने भी उसे अर्थालंकारवर्ग के अन्तर्गत ही रखा है।

आधुनिक युग के आलोचक

द्विवेदी युग में संस्कृत-हिन्दी की रीति-परम्परा से भिन्न पाश्चात्य पद्धति पर आधुनिक हिन्दी आलोचना का जन्म हुआ। इस नवीन अलोचना-पद्धति में काव्य के प्राचीन और नवीन सिद्धातों तथा मूल्यों का समन्वय अथवा मिश्रण था। इसका प्रारम्भ तो भारतेन्दु के युग में ही हो चुका था, परन्तु सम्यक् विकास द्विवेदी-युग में ही हुआ। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त मिश्रबन्धु, पं० पद्मसिंह शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आदि ने आलोचना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों को ग्रहण किया—और अपने अपने ढंग से प्राचीन तथा नवीन काव्य एवं काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन किया। द्विवेदी जी ने मुख्यतः काव्य के शिक्षा तथा आनन्द पक्षों को ही महत्व दिया है, परन्तु चमत्कार का भी अवमूल्यन नहीं किया। उन्होंने अपने अनेक निबन्धों में काव्य में कला-चमत्कार का समर्थन किया है और इस प्रकार वक्रता को मान्यता दी है :

"शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार होना परमावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं—कोई विलक्षणता ही नहीं—तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्षेमेन्द्र की राय है—

'न हि चमत्कारविरहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्' यदि कवि में चमत्कार पैदा करने की शक्ति नहीं तो वह कवि कवि नहीं, और यदि चमत्कारपूर्ण नहीं तो काव्य का काव्यत्व भी नहीं। अर्थात् जिस गद्य या पद्य में चमत्कार नहीं वह काव्य या कविता की सीमा के भीतर नहीं आ सकता।

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण
काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
लावण्यहीनमिव यौवनमंगनानाम्॥

काव्य चाहे कैसा भी निर्दोष क्यों न हो, उसके सुवर्ण चाहे कैसे ही मनोहर क्यों न हों—यदि उसमें अनमोल रत्न के समान कोई चमत्कारपूर्ण पद न हुआ तो वह, स्त्रियों के लावण्य-हीन यौवन के समान, चित्त पर नहीं चढ़ता।

एक विरहिणी अशोक को देखकर कहती है—तुम खूब फूल रहे हो, लताएं तुम पर बेतरह छाई हुई हैं, कलियों के गुच्छे सब कहीं लटक रहे हैं, भ्रमर के समूह जहां तहां गुंजार कर रहे हैं। परन्तु मुझे तुम्हारा यह आडम्बर पसन्द नहीं। इसे हटाओ। मेरा प्रियतम मेरे पास नहीं। अतएव मेरे प्राण कण्ठगत हो रहे हैं।

इस युक्ति में कोई विशेषता नहीं—इसमें कोई चमत्कार नहीं। अतएव इसे काव्य की पदवी नहीं मिल सकती। अब एक चमत्कारपूर्ण उक्ति सुनिए। कोई वियोगी रक्ताशोक को देखकर कहता है—नवीन पत्तों से तुम रक्त (लाल) हो रहे हो, प्रियतमा के प्रशंसनीय गुणों से मैं भी रक्त (अनुरक्त) हूं। तुम पर शिलीमुख (भ्रमर आ रहे हैं, मेरे ऊपर भी मनसिज के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख (बाण) आ रहे हैं। कान्ता के चरणों का स्पर्श तुम्हारे आनन्द को बढ़ाता है, उसके स्पर्श से मुझे भी परमानन्द होता है, अतएव हमारी तुम्हारी दोनों की अवस्था में पूरी-पूरी समता है। भेद यदि कुछ है तो इतना ही कि तुम अशोक हो और मैं सशोक। इस उक्ति में सशोक शब्द रखने से विशेष चमत्कार आ गया। उसने 'अनमोल रत्न' का काम किया। यह चमत्कार किसी पिंगल-पाठ का प्रसाद नहीं और न किसी काव्यांग-विवेचक ग्रन्थ के नियम-परिपालन का ही फल है।" (संचयन, पृ० ६६-६७)

२. यदि किसी कवि की कविता में केवल शुष्क विचारों का विजृम्भण है, यदि उसकी भाषा निरी नीरस है, यदि उसमें कुछ भी चमत्कार नहीं तो ऊपर जिन घटनाओं की कल्पना की गई उनका होना कदापि सम्भव नहीं।

जो कवि शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास और वाक्य-समुदाय के आकार प्रकार की काट-छांट में भी कौशल नहीं दिखा सकते उनकी रचना विस्मृति के अन्धकार में अवश्य ही विलीन हो जाती है। जिसमें रचना-चातुर्य तक नहीं उसकी कवियशोलिप्सा विडम्बना-मात्र है। किसी ने लिखा है—

तान्यर्थरत्नानि न सन्ति येषां
सुवर्णसंघेन च ये न पूर्णाः
ते रीतिमात्रेण दरिद्रकल्पा
यान्तीश्वरत्वं हि कथं कवीनाम् ?

जिनके पास न तो अर्थ-रूपी रत्न ही हैं और न सुवर्ण-रूपी सुवर्ण-समूह ही वे कवियों की रीति मात्र का आश्रय लेकर—-काँसे और पीतल के दो-चार टुकड़े रखने वाले किसी दरिद्र-कल्प मनुष्य के सदृश भला कहीं कवीश्वरत्व पाने के अधिकारी हो सकते हैं ?"

(संचयन : आजकल की कविता, पृ० १००-१०१)

द्विवेदीजी का दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट है। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र तथा अंगरेज़ी के उत्तर-मध्यकालीन आलोचना-सिद्धान्तों के संस्कार ग्रहण किये थे। स्वभाव से वे नीतिवादी पुरुष थे किन्तु काव्य के आनन्द-तत्व से भी अनभिज्ञ नहीं थे। 'कान्ता-सम्मित उपदेश'—अथवा 'आह्लाद के माध्यम से शिक्षा' को ही वे काव्य का चरम लक्ष्य मानते थे। उनकी दृष्टि में नीति-शिक्षा काव्य का मूल उद्देश्य है परन्तु वाक्-वैदग्ध्य के बिना उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है। अतएव द्विवेदी जी के मत से वक्रता अथवा उक्ति-चमत्कार सत्काव्य का अनिवार्य माध्यम है : वह आत्मा नहीं है, परन्तु बाह्य व्यक्तित्व अवश्य है। उनके उपर्युक्त उद्धरण (१) से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि केवल मधुर भाव, या केवल उत्तम विचार काव्य के लिए पर्याप्त नहीं हैं। काव्य-विषय तो स्वर्ण-मात्र है, जब तक उसमें चमत्कार-रूपी अनमोल रत्न नहीं जड़ा जाएगा तब तक उसका सौन्दर्य नहीं चमकेगा : रत्न जड़ने की यही क्रिया कुन्तक की कविव्यापार-वक्रता है जिसे द्विवेदी जी, क्षेमेन्द्र के मतानुसार, सत्काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं।

यह तो सिद्धान्त की बात रही। व्यवहार में वस्तुतः वक्रता का इतना दुष्काल हिन्दी के किसी काव्य-युग में नहीं मिलता जितना द्विवेदी युग में। स्वयं द्विवेदी जी तथा उनके प्रभाव से समसामयिक कवियों ने भाषा की शुद्धि पर इतना अधिक बल दिया कि उसका लावण्य सर्वथा उपेक्षित हो गया। खड़ी बोली उस समय वैसे भी अर्ध-विकसित काव्य-भाषा थी— द्विवेदी जी के कठोर नियंत्रण के कारण उसमें स्वच्छता और शुद्धता का समावेश तो हुआ किन्तु लावण्य का प्रस्फुटन अवरुद्ध हो गया। परिणाम यह हुआ कि द्विवेदी युग की काव्य-शैली एकान्त अभिधात्मक तथा अवक्र हो गई। रामचरित उपाध्याय की कविता वक्रता के घोर अभाव का उदाहरण है। सिद्धान्ततः ये कवि चमत्कार अथवा उक्ति के वक्रता-वैचित्र्य से विमुख नहीं थे; द्विवेदी जी की भाँति इन सभी की उसमें पूरी आस्था थी, परन्तु इनकी अपनी परि-सीमाएं थीं। वह काव्य के क्षेत्र में संक्रान्ति का काल था जिसमें सृजन की अपेक्षा निर्माण की प्रवृत्ति अधिक सजग थी, अतः चेष्टा और प्रयत्न के उस युग में सौन्दर्य-दृष्टि के सम्यक् विकास तथा उससे उद्भूत वक्रता-वैभव के लिए अवकाश न था :

इस युग में वक्रता को उचित प्रश्रय वस्तुतः प्राचीन काव्य के रसिक आचार्यों से ही मिला। इनमें पं० पद्‌मसिंह शर्मा, कविवर जगन्नाथदास रत्नाकर तथा कवि श्री हरिऔध सर्व-प्रमुख थे। बिहारी-काव्य-रसिक पं० पद्‌मसिंह जी तो बांकपन पर सौ जान से फ़िदा थे :—

(१) "इस प्रकार के स्थलों में ऐसा कोई अवसर नहीं जहाँ इन्होंने 'बात में बात' पैदा न कर दी हो।" (बिहारी सतसई पृ० २५)

(२) आजकल का सम्भ्रान्त शिक्षित समाज कोरी 'स्वभावोक्ति' पर फ़िदा है, अन्य अलंकारों की सत्ता उसकी परिष्कृत रुचि की आँख में काँटा सी खटकती है, और विशेषकर 'अतिशयोक्ति' से तो उसे कुछ चिढ़ सी है। प्राचीन साहित्य-विधाताओं के मत में जो चीज़ कविता-कामिनी के लिये नितान्त उपादेय थी, वही इसके मत में सर्वथा हेय है। यह भी एक रुचि-वैचित्र्य का 'दौरात्म्य' है। जो कुछ भी हो, प्राचीन काव्य वर्तमान परिष्कृत सुरुचि के आदर्श पर नहीं रचे गये, उन्हें इस नये गज़ से नहीं नापना चाहिये, प्राचीनता की दृष्टि से परखने पर ही उनकी ख़ूबी समझ में आ सकती है। 'सतसई' भी एक ऐसा ही काव्य है, बिहारी उस प्राचीन मत के अनुयायी थे जिसमें 'अतिशयोक्तिशून्य' अलंकार चमत्काररहित माना गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, पर्याय, और निदर्शना आदि अलंकार अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होकर ही जीवनलाभ करते हैं—अतिशयोक्ति ही उन्हें जिला देकर चमकाती है, मनोमोहक बनाती है, उनमें चारुत्व लाती है—यह न हो तो वे कुछ भी नहीं, बिना नमक का भोजन,ताररहित सितार और लावण्यहीन रूप हैं।

'अतिशयोक्ति' के विषय में आचार्य 'भामह' की यह शुभ सम्मति है—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारस्तया विना॥"

× × ×

—अर्थात् काव्य में सर्वत्र 'वक्रोक्ति' (अतिशयोक्ति) ही का चमत्कार है, यही अर्थ को चमकाकर दिखाती है, कवि को इसमें प्रयत्न करना चाहिये, सब अलंकारों में एक इसी की करामात तो काम कर रही है। + + + + पुराने काव्यों में 'नेचुरल सादगी'—(जिसे कुछ लोग 'स्वभावोक्ति' भी कहते हैं) के उदाहरण कुछ कम नहीं हैं। पर उनमें भी कुछ निराला चमत्कार है। 'तेरे चेहरे पर भौंह के नीचे

आँखें हैं, और मुँह के भीतर दाँत हैं'—इस क़िस्म की सादगी कविता की शोभा नहीं बढ़ा सकती—कविता का सिंगार या अलंकार नहीं कहला सकती, यह आँख और दाँत वाली बात साफ़, सीधी और सच हो सकती है, कोई सादगीपसन्द सज्जन अपनी परिभाषा में इसे 'स्वभावोक्ति' भी कह सकते हैं, पर यह साहित्य-सम्मत 'स्वभावोक्ति' नहीं है।

नवीन आदर्श के अनुयायी काव्यविवेचक प्राचीन काव्यों का विवेचन करते समय इसे न भूलें, और यह भी याद रखें कि सब जगह 'सादगी' ही आदर नहीं पाती, 'कविता' की तरह और और भी कुछ चीजें ऐसी हैं, जहां 'वक्रता' (बाँकपन, बंकई) ही क़दर और क़ीमत पाती है। विहारी ही ने कहा है—

'गढ़-रचना बरुनी अलक चितवनि भौंह कमान।
आघु-बंकई ही ब (च)ढ़ै तरुनि तुरंगम तान॥'

[बिहारी की सतसई पृ० २१७]

(३) "अन्य कवियों की अपेक्षा विहारी ने विरह का वर्णन बड़ी विचित्रता से किया है, इनके इस वर्णन में एक निराला बाँकपन—कुछ विशेष वक्रता है, व्यंग्य का प्राबल्य है, अतिशयोक्ति का (जो कविता की जान और रस की खान है) और अत्युक्ति का अत्युत्तम उदाहरण है। जिस पर रसिक सुजान सौ जान से फ़िदा हैं। इस मज़मून पर और कवियों ने भी ख़ूब ज़ोर मारा है, बहुत ऊँचे उड़े हैं, बड़ा तूफ़ान बाँधा है, क़यामत बरपा कर दी है, पर विहारी की चाल—इनका मनोहारी पद-विन्यास सबसे अलग है। उस पर नीलकण्ठ दीक्षित की यह उक्ति पूरे तौर पर घटती है—

वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि
वाक्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः
अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव दोषः
सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम्॥[1]"

(विहारी सतसई पृ० १६०)

---

१. वक्रोक्ति-बांकपन ही जहां विभूषण है, वाक्या (च्या) र्थ का बाध—शब्दों के सीधे प्रसिद्ध अर्थ का तिरस्कार ही जहाँ अत्यन्त आदरणीय प्रकर्ष है। अभिधा शक्ति से वाच्यार्थ का प्रकट करना ही जहां दोष है, कवियों का वह व्यंजना-प्रधान टेढ़ा मार्ग सबसे निराला है।

उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण का परिणाम इस प्रकार है :—

(१) शर्मा जी प्राचीन वक्रतावादी आचार्यों—भामह आदि—की भाँति वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्याय तथा समस्त अलंकार-प्रपंच का मूल आधार मानते हैं। कुन्तक का मत भी भामह के मत से मूलतः भिन्न नहीं है। वास्तव में वह भामह के उक्त सिद्धान्त का ही पल्लवन है।

(२) वे स्वभावोक्ति के प्रति विशेष आकृष्ट नहीं हैं—स्वभावोक्ति भी उन्हें अपनी सादगी के कारण नहीं वरन् बांकपन के कारण ही काव्य-कोटि में ग्राह्य है।

(३) संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा के अनुसार वे हैं तो रसध्वनिवादी[1] ही, परन्तु रसध्वनि के माध्यम रूप में वे वक्रोक्ति को भी कविता की जान तथा रस का आधार मानते हैं।

कविवर रत्नाकर ने सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों में ही वक्रता के प्रति प्रबल आकर्षण व्यक्त किया है। 'काव्य क्या है ?'—इसका विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है :

"यह बात तो सर्वमान्य तथा युक्तियुक्त है कि काव्य एक प्रकार का वाक्य ही है। अतः इस विषय में विशेष लिखना अनावश्यक है। अब 'सामान्य वाक्य' तथा काव्य में जो मुख्य भेद है वह हम अपने मतानुसार संक्षेपतः निवेदित करते हैं। सामान्य अर्थात् काव्यातिरिक्त वाक्यों का उद्देश्य श्रोता को किसी वस्तु, घटना अथवा वृतान्त आदि का बोध करा देना मात्र होता है। उस वाक्य से यदि श्रोता को किसी प्रकार का हर्ष अथवा विषाद उत्पन्न होता है तो उस वर्ण्य विषय के उसके निमित्त प्रिय अथवा अप्रिय होने के कारण वह हर्ष अथवा विषाद लौकिक मात्र होता है, अर्थात् श्रोता अथवा उसके पक्ष के लोगों के उससे लौकिक तथा व्यक्तिगत इष्टानिष्ट-सम्बन्ध के कारण होता है, जैसे—'रावण मारा गया' इस वाक्य से राम के पक्षवालों को हर्ष तथा मंदोदरी आदि को विषाद सम्भावित है। काव्य वाक्य का उद्देश्य, वर्णन-वैदग्ध्य तथा वाक्पटुतादि के द्वारा श्रोताओं के हृदय में एक विशेष प्रकार का आनन्दोत्पादन होता है। वह आनन्द वर्णित विषय-जनित हर्ष विषाद से कुछ पृथक ही होता है। उसको साहित्यकारों ने 'अलौकिक' माना है, अर्थात् वह वर्णित

१. "इस प्रकार के रसध्वनिवादी काव्य के निर्माता ही वास्तव में 'महाकवि' पद के समुचित अधिकारी हैं।" (बिहारी की सतसई पृ० २१)।

विषय से श्रोता के इष्टानिष्ट सम्बन्ध के कारण नहीं होता। वह कवि के द्वारा किसी विषय को एक विशेष प्रकार से वर्णित करने के कारण सहृदय श्रोता के हृदय में उत्पन्न होता है। इसी अलौकिक आह्लादजनक ज्ञानगोचरता को पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयता' कहा है। वाक्य में उक्त रमणीयता के लाने के भिन्न भिन्न साधन तथा भिन्न भिन्न लक्षण स्वीकृत किये गए हैं। किसी आचार्य ने अलंकार, किसी ने रीति, किसी ने रस, किसी ने वक्रोक्ति तथा किसी ने ध्वनि को काव्य के मुख्य लक्षण में परिगणित किया है। हमारी समझ में ये सब अलग अलग अथवा मिल जुल कर रमणीयता लाने की मुख्य निर्दिष्ट सामग्री मात्र हैं।" (कविवर बिहारी पृ० ३)

रत्नाकर जी का वक्तव्य भी स्पतःस्पष्ट ही है। उनके मतानुसार :—

१. रमणीय वाक्य का नाम काव्य है।

२. रमणीय वाक्य सामान्य वाक्य से भिन्न होता है। सामान्य वाक्य का प्रयोजन है वस्तु-बोध, और रमणीय वाक्य का उद्देश्य है चमत्कार की उत्पत्ति। यही प्राचीन आलंकारिकों की शब्दावली में वार्ता और वक्रता का भेद है।

३. यह चमत्कार काव्य-वस्तु से उत्पन्न नहीं होता।—काव्य-वस्तु से भी आनन्द की उत्पत्ति सम्भव है, परन्तु वह लौकिक होता है। काव्य-चमत्कार अलौकिक होता है जो कवि के वर्णन-कौशल पर निर्भर रहता है, और कवि का वर्णन-कौशल कुन्तक की कविव्यापार-वक्रता ही है।

४. रस, अलंकार, रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति काव्य के तत्व हैं जिनके द्वारा काव्य के मूल आधार 'रमणीयता' का निर्माण होता है। इनमें से किसी एक को काव्य का प्राणतत्व मानना असंगत है—ये सभी मिल कर काव्य के 'रमणीय' रूप का निर्माण करते हैं।

इस विवेचन से यह व्यक्त होता है कि रत्नाकर जी समन्वयवादी आचार्य हैं जो समस्त काव्य-सम्प्रदायों के महत्व को स्वीकार कर उनको प्रतिस्पर्धी न मान कर परस्पर सहयोगी मानते हैं। वस्तुतः आज तर्क और विवेक के आधार पर यही मत मान्य भी हो सकता है; परन्तु क्या उपर्युक्त उद्धरण में वक्रता के प्रति उनका पक्षपात लक्षित नहीं होता? काव्य के चमत्कार को वस्तु से पृथक कवि के वर्णन-चातुर्य में मान कर वे भाव की अपेक्षा कला अथवा रस की अपेक्षा कविव्यापार-वक्रता को

ही प्रमुखता दे रहे हैं। और उनका अपना मुक्तक काव्य, जिसमें सूर और बिहारी दोनों के वाक्वैदग्ध्य का चमत्कार एकत्र मिल जाता है, हमारे निष्कर्ष की पुष्टि करता है :—

स्याम सहतूत लौं सलूनी रस-रासि भरी,
सूधी तैं सहस्रगुनी टेढ़ी भौंह मीठी है।
(शृंगार लहरी-१२२)

इस युग में वक्रता पर सबसे प्रबल प्रहार किया शुक्लजी ने। दर्शन और मनोविज्ञान की सहायता से भारतीय रस-सिद्धान्त को सांस्कृतिक-नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित कर शुक्लजी सर्वथा आश्वस्त हो गये थे। अतएव अन्य काव्य-मूल्यों के लिए उनके मन में स्थान नहीं था : चमत्कार के प्रति वे विशेष रूप से निर्मम थे। उनका विश्वास था कि चमत्कार का सम्बन्ध मनोरंजन से है—'इससे जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य मानते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूंढ़ा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।'[1] 'परन्तु काव्य का लक्ष्य निश्चय ही कहीं गंभीर तथा उदात्त है—और जो लोग इससे ऊँचा और गम्भीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते।'[2] शुक्लजी की निश्चित धारणा थी कि चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य काव्य का नित्य लक्षण नहीं हो सकता : ऐसी अनेक मार्मिक उक्तियां हो सकती हैं जिनमें किसी प्रकार का वैचित्र्य अथवा वक्रता न हो, साथ ही ऐसी भी अनेक वक्र उक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं जो चमत्कार रहने पर भी सरसता के अभाव में काव्य-संज्ञा की अधिकारिणी नहीं है। शुक्लजी ने अपनी पहली स्थापना की पुष्टि में पद्माकर, मंडन तथा ठाकुर की ये पंक्तियां उद्धृत की हैं :

१ नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी। (पद्माकर)

२ चिर जीवहु नन्द को बारो अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥ (मंडन)

वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तो पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन की परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिए इतनो तो बिशेष कैं जानति ह्वै है॥ (ठाकुर)

शुक्लजी के मत से 'पद्माकर का वाक्य सीधा-सादा है', 'मण्डन ने प्रेम-गोपन के जो

१. २. कविता क्या है? चिंतामणि भाग, पृ० १६८।

वचन कहलाए हैं वे ऐसे ही हैं जैसे स्वभावतः मुंह से निकल पड़ते हैं। उनमें विदग्धता की अपेक्षा स्वाभाविकता कहीं अधिक झलक रही है'; और 'ठाकुर के सवैये में भी अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर नये प्रेमी के चित्त के वितर्क की सीधे-सादे शब्दों में, बिना किसी वैचित्र्य या लोकोत्तर चमत्कार के व्यंजना की गई है।'— अर्थात् ये सभी उक्तियां वक्रता-वैचित्र्य से रहित होने पर भी निश्चय ही सत्काव्य हैं, इनकी मार्मिक रसव्यंजना इनके काव्यत्व का प्रमाण है।

शुक्लजी की दूसरी स्थापना यह है कि भाव-स्पर्श के अभाव में केवल उक्ति-वैचित्र्य अथवा चमत्कार काव्य नहीं है, और इसकी पुष्टि में उन्होंने केशवदास के कतिपय उद्धरण प्रस्तुत किये हैं :

पताका—

अति सुन्दर अति साधु। थिर न रहत पल आधु।
परम तपोमय मानि। दण्डधारिणी जानि॥

इनके विषय में उनका निर्णय है कि ये पंक्तियाँ मर्म का स्पर्श नहीं करतीं अतः कोई भावुक इन उक्तियों को शुद्ध काव्य नहीं कह सकता?

इन युक्तियों का अभिप्राय यह नहीं है कि शुक्लजी वक्रता का सर्वथा निषेध ही करते हैं। वे तो केवल दो तथ्यों पर बल देते हैं : (१) वक्रता (या चमत्कार) अपने आप में काव्यत्व के लिए पर्याप्त नहीं है और (२) वक्रता काव्यत्व के लिए अनिवार्य भी नहीं है। किन्तु वक्रता-वैचित्र्य के उपयोग को वे अवश्य स्वीकार करते हैं—भाव-प्रेरित वक्रता की उन्होंने भी अत्यन्त उच्छ्वासपूर्ण वाणी में प्रशंसा की है : 'भावोद्रेक से उक्ति में जो एक प्रकार का बांकपन आ जाता है, तात्पर्य-कथन के सीधे मार्ग को छोड़ कर वचन जो एक भिन्न प्रणाली ग्रहण करते हैं, उसी की रमणीयता काव्य की रमणीयता के भीतर आ सकती है।' (भ्रमरगीत-सार की भूमिका पृ० ७१)। इस भाव-प्ररित वक्रोक्ति को वे काव्यजीवित भी मानने को प्रस्तुत हैं।

वास्तव में शुक्लजी रसानुभूति की श्रेणियां मानते हैं और उन्हीं के आधार पर काव्य और सूक्ति में स्पष्ट भेद मानते हैं :—"यह तो ठीक है कि काव्य सदा उक्ति-रूप ही होता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि यह उक्ति सदा विचित्र, लोकोत्तर या अद्भुत हो। जो उक्ति श्रवणगत होते ही श्रोता को भावलीन कर दे वह काव्य है,

और जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति। काव्य से सच्ची रसानुभूति और सूक्ति से निम्न कोटि की रसानुभूति होती है जो मनोरंजन से मिलती-जुलती होती है।"

इस प्रकार 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' के सिद्धान्त के प्रति शुक्लजी का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है : "उक्ति की वहीं तक की वचन-भंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हमसे कुन्तलजी का "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके आगे नहीं। कुन्तलजी की वक्रता बहुत व्यापक है जिसके अन्तर्गत वे वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनों लेते हैं। सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में वे काव्यत्व मानते हैं। योरप में भी आजकल क्रोसे के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद ज़ोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षणाप्रधान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता में ही, उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करने वाला वाक्य? वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक ठीक बात की न भी हो। पर जैसा कि हम कह चुके हैं, मनोरंजन मात्र को काव्य का उद्देश्य न मानने वाले उनकी इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षणा में उसका प्रयोजन अवश्य ढूंढ़ेंगे।"

(चिंतामणि पृ०

संक्षेप में वक्रोक्ति के विषय में शुक्ल जी की धारणाएँ इस प्रकार हैं :

१. सत्काव्य में वक्रता का स्वतंत्र महत्व नहीं है : (अ) वक्रता मात्र काव्य नहीं है और (आ) न वक्रता के अभाव में काव्यत्व की अत्यंत हानि ही होती है अर्थात् वक्रता काव्य के लिए अनिवार्य भी नहीं है।

२. काव्य में वक्रता का महत्व तभी है जब वह भाव-प्रेरित हो। भाव-प्रेरित वक्रता निश्चय ही उत्कृष्ट काव्य है।

३. भाव-स्पर्श से रहित केवल वक्र उक्ति सूक्ति मात्र है : सूक्ति से मनोरंजन के ढंग की निम्न कोटि की रसानुभूति होती है।

४. कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त वहीं तक मान्य है जहाँ तक वक्रोक्ति भावानुमोदित रहती है : वक्रोक्तिवाद में जहाँ केवल चमत्कार की प्रतिष्ठा है अर्थात् उक्ति-वैचित्र्य का ही महत्व है विषय-वस्तु का नहीं, वहाँ गम्भीरचेता सहृदय उसका समर्थन नहीं कर सकता।

५. कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त और क्रोचे के अभिव्यंजना-सिद्धान्त का मूल आधार एक ही है : उक्ति-वैचित्र्य।

विवेचन

आचार्य शुक्ल के निष्कर्ष अत्यंत प्रबल हैं। शुक्लजी रसवादी हैं और उनका दृष्टिकोण वक्रोक्ति के प्रति लगभग वही है जो रसवादी का होना चाहिए। काव्य मूल रूप में भावना का ही व्यापार है, इसमें संदेह नहीं, अतएव भावना का अभाव निश्चय ही काव्यत्व का अभाव है। इसलिए शुक्लजी का यह मन्तव्य सर्वथा अकाट्य है कि केवल वक्रता काव्य नहीं है। केवल वक्रता से भी एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न होता है, परन्तु वह मनोरंजन की कोटि का होता है जो काव्य-जन्य परिष्कृत आनन्द की कोटि से अत्यन्त निम्नतर कोटि है[1]। कुन्तक की भी यही धारणा है : उन्होंने मार्मिक भावस्पर्श से विरहित कोरे चमत्कार को हेय ही माना है।

तब फिर कुन्तक और शुक्ल जी में क्या मतभेद है ? दोनों में वस्तुतः एक ही मौलिक मतभेद है और वह यह कि कुन्तक काव्य में वक्रता की स्थिति अनिवार्य मानते हैं, किन्तु शुक्ल जी नहीं मानते। कुन्तक का मत है सालंकारस्य काव्यता; परन्तु शुक्ल जी का आग्रह है कि वक्रता के बिना केवल मार्मिक भावस्पर्श के सद्भाव में भी काव्य की हानि नहीं होती। इन में कौन-सा मत मान्य है ? हमारा उत्तर है कुन्तक का। यद्यपि हमें मूल सिद्धान्त शुक्लजी का ही ग्राह्य है, फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में शुक्लजी का तर्क मनोविज्ञान के विरुद्ध है। उन्होंने पद्माकर, मंडन तथा ठाकुर की जिन उक्तियों को अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है उनमें से एक में भी वक्रता का अभाव नहीं है : पद्माकर की उक्ति तो व्यंग्य से वक्र है, मंडन की उक्ति में 'गरीब' शब्द में अपूर्व वक्रता है। ठाकुर की भावाभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध है, परन्तु उसमें भी वक्रता का अभाव देखना अलंकारशास्त्र के मर्मज्ञ के लिए सम्भव नहीं है : उदाहरण के लिए सबसे पहले तो 'वा' शब्द ही अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि (रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता) से वक्र है, फिर 'निरमोहिनी' तथा 'रूप की रासि' में पृथक् रूप

१. चिंतामणि भाग २, पृ० २२०।

से विशेषण-वक्रता और सम्मिलित रूप से सूक्ष्म वैषम्यमूलक अलंकार का चमत्कार भी उपेक्षणीय नहीं है। वास्तव में यह सम्भव ही नहीं है कि भाव के स्पर्श से वाणी में कोई चमत्कार ही उत्पन्न न हो : भाव की दीप्ति से भाषा अनायास ही दीप्त हो जाती है—चित्त की उदीप्ति से वाणी में भी उत्तेजना आ जाती है, और भाषा की यह दीप्ति अथवा वाणी की उत्तेजना ही उसे वार्ता से भिन्न वक्रता का रूप प्रदान कर देती है। अतएव न तो उपर्युक्त उक्तियों में वक्रता का अभाव है और न किसी अन्य रमणीय उक्ति में ही सम्भव हो सकता है—मार्मिक उक्ति में वक्रता का निषेध मनोविज्ञान के स्वतःसिद्ध नियम का निषेध है।

इसके अतिरिक्त शुक्लजी ने वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का एकीकरण कर दोनों पर वस्तु-तत्व के तिरस्कार का आरोप लगाया है। वह भी ठीक नहीं है। एक तो वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का एकीकरण भी अमान्य है, दूसरे कुन्तक ने वस्तु-तत्व का तिरस्कार नहीं किया, जैसा कि स्वयं शुक्ल जी ने भी माना है। कुन्तक ने वस्तु-वक्रता के रूप में वस्तु-तत्व के महत्व को स्पष्टतः स्वीकार किया है। क्रोचे भी आन्तरिक अभिव्यंजना में ही वस्तु-तत्व का महत्व स्वीकार नहीं करते—बाह्य मूर्त अभिव्यंजना में वस्तु-तत्व उनको भी सर्वथा मान्य है। इसके अतिरिक्त संवेदन आदि के रूप में भी वस्तु-तत्व उन्हें ग्राह्य है। वास्तव में वस्तु-तत्व की ऐसी अवहेलना कि 'व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो' कुन्तक ने तो की ही नहीं, क्रोचे ने भी इस सीमा तक नहीं की : हाँ क्रोचे के अनुयायी अभिव्यंजनावादियों ने अवश्य की है। शुक्लजी ने उनका दोष क्रोचे के माथे और संस्कृत तथा हिन्दी के चमत्कारवादियों का दोष कुन्तक के माथे मढ़कर काव्य की इस छिछली मनोवृत्ति के विरुद्ध अपना क्षोभ व्यक्त किया है। इस प्रकार उनका यह आरोपण बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक है। एक कारण यह भी हो सकता है कि कदाचित् कुन्तक का ग्रन्थ तो उनको मूल रूप में उपलब्ध नहीं हुआ था, और क्रोचे का भी उन्होंने कदाचित् आमूल अध्ययन नहीं किया था।

छायावाद युग के प्रादुर्भाव के साथ हिन्दी साहित्य में वक्रता की एक बार फिर साग्रह प्रतिष्ठा हुई। आरम्भ में छायावाद के प्रवर्तकों को वक्रता के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि आचार्य शुक्ल जैसे तत्वदर्शी आलोचक को भी उसे (छायावाद को) शैली का एक प्रकार मात्र मानने को बाध्य होना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ में अन्य कविता से उसका भेदक धर्म बहुत कुछ शैलीगत वक्रता ही थी। परन्तु वास्तव में शैलीगत वक्रता की स्थिति वस्तु-वक्रता के बिना असम्भव है, और प्रसाद, मुकुटधर

पाण्डेय, माखनलाल चतुर्वेदी आदि की आरम्भिक रचनाओं में इतिवृत्त के स्थान पर रमणीय भावमय वस्तु का ग्रहण भी इतना ही स्पष्ट है जितना अभिधात्मक शैली के स्थान पर वक्र शैली का।

छायावाद का युग वास्तव में वक्रता के वैभव का स्वर्ण-युग है। उसके समर्थ कवियों ने व्यवहार में जहां वक्रता का अपूर्व उत्कर्ष किया वहां सिद्धान्त में भी उसकी अत्यन्त मार्मिक रीति से प्रतिष्ठा की। प्रसादजी के विश्लेषण के अनुसार रीतिकविता में बाह्य वर्णन अर्थात् घटना या शारीरिक रूप आदि का प्राधान्य था : नवीन कविता में भावना का प्राधान्य हुआ जो आंतरिक स्पर्श से पुलकित थी। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा से बाह्य स्थूल आकार में भी विचित्रता उत्पन्न हो गई और हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा का प्रयोग होने लगा : 'शब्दविन्यास पर ऐसा पानी चढ़ा' कि उससे अभिव्यंजना में एक तड़प उत्पन्न हो गई। अभिव्यक्ति के इस निराले ढंग में अपना स्वतंत्र लावण्य था। इसी लावण्य की शास्त्रीय प्रतिष्ठा में प्रयत्नशील प्रसाद की शोधप्रिय दृष्टि 'वक्रोक्तिजीवितम' पर भी पड़ी और उन्होंने कुन्तक के प्रमाण देकर छायावाद की आप्तता सिद्ध की : "इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुन्तक ने वक्रोक्ति-जीवित में कहा है—

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेययोरन्तःस्फुरतीव विभाव्यते।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और क्रान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध्य-भंगी-भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। (शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—लोचन २०८) कुन्तक के मत में ऐसी भणिति शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी होती है। यह रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक के शब्दों में यह उज्ज्वल छायातिशय रमणीयता वक्रता की उद्भासिनी है।

(काव्यकला तथा अन्य निबन्ध पृ० ९०)

इस विवेचन से यह सिद्ध है कि प्रसाद जी कुन्तक की वक्रता को वास्तविक काव्य का आन्तरिक गुण मानते थे। रीतिकाल तथा द्विवेदी युग की कविता के विरुद्ध जिस नवीन कविता का सृजन वे कर रहे थे वही उनके अपने मत से कविता का

सच्चा स्वरूप था और उसका आधार था भाव-भंगिमा तथा शब्द-भंगिमा अर्थात् कुन्तक की शब्द-वक्रता तथा वस्तु-वक्रता। इस प्रकार वे कुन्तक की वक्रता को समग्र रूप में ग्रहण करते थे।

छायावाद में वक्रता के दोनों रूपों का—विदग्धता और चारुता दोनों का ही वैभव मिलता है। प्रसाद तथा पंत में जहाँ चारुता का चरम उत्कर्ष है, वहां निराला में विदग्धता का। महादेवी के प्रणय-काव्य में भाव-प्रेरित वक्रता का सुन्दर विकास है। वास्तव में छायावाद का कोष इतना समृद्ध है कि कुन्तक के नाना वक्रता-रूपों के जितने प्रचुर उदाहरण इस एक दशक की कविता में अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं उतने शताब्दियों तक प्रसारित काव्य-धारा में नहीं मिल सकते।

पंत ने सिद्धान्त रूप में भी, नवीन विचारों के प्रकाश में वक्रता की व्याख्या में योगदान किया। इस प्रसंग में काव्य-भाषा तथा अलंकार के सम्बन्ध में उनके आरम्भिक वक्तव्य उल्लेखनीय हैं :

१. "कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है—उसके शब्द सस्वर होने चाहिए जो बोलते हों × × × जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों।"

२. "अलंकार वाणी की सजावट के लिए नहीं, + + + वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। (प्रवेश—पल्लव)। पहले उद्धरण में पंतजी कुन्तक की 'चित्रच्छायां मनोहराम् २।३४। और दूसरे में 'सालंकारस्य काव्यता' की व्याख्या कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त 'पर्याय-वक्रता' का तो पंत ने नये ढंग से अपूर्व व्याख्यान किया है : वह केवल हिन्दी के लिए ही नहीं संस्कृत काव्यशास्त्र के लिए भी नवीन है।

छायावाद युग के आलोचकों में श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु तथा प्रो० गुलाबराय ने वक्रोक्ति का अधिक विशद विवेचन किया है। एक तो छायावाद द्वारा काव्य में वक्रता का मूल्य अपने आप ही बहुत बढ़ गया था, दूसरे इन आलोचकों की दृष्टि नवीन के प्रति अधिक उदार थी। और तीसरे उन्होंने कदाचित् कुन्तक और क्रोचे दोनों का अधिक मनोयोगपूर्वक अध्ययन भी किया था : क्रोचे का ये विधिवत् मनन कर चुके थे और कुन्तक की कृति भी तब तक अधिक सुलभ हो चुकी थी। इन सब कारणों से इनकी धारणाएं निश्चय ही अधिक स्पष्ट हैं। सुधांशु जी ने अपने ग्रंथ

'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का पहले भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से, और आगे चलकर अभिव्यंजनावाद की सापेक्षता में विवेचन किया है। इस ग्रंथ में भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से वक्रोक्ति की परिभाषा, वक्रता के छह भेद, तथा रस, ध्वनि, अलंकार से वक्रोक्ति का सम्बन्ध, आदि प्रश्नों पर संक्षेप में किन्तु विशदता से विचार किया है। इस प्रसंग में सुधांशु जी के कतिपय निष्कर्ष ये हैं :

१. कुन्तक की वक्रोक्ति का आधार कल्पना है, यद्यपि इस शब्द का प्रयोग उन्होंने नहीं किया।

२. कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त भामह के अलंकार-सिद्धान्त का ही परिष्कृत एवं सुगठित नवीन रूप है।

३. वक्रता के आधार-तत्व लोकोत्तर वैचित्र्य का तद्विदाह्लाद के साथ तादात्म्य कर कुन्तक रस-सिद्धान्त को मानने के लिए बाध्य-से हो जाते हैं।

४. कुन्तक ने ध्वनि-सिद्धान्त से कई बातें उधार ली हैं।

अभिव्यंजनावाद के प्रसंग में सुधांशु जी ने शुक्ल जी के इस मत का युक्तिपूर्वक प्रतिवाद किया है कि अभिव्यंजनावाद वक्रोक्तिवाद का ही नया रूप या विलायती उत्थान है। उनके मत से दोनों की प्रकृति में ही भेद है। वक्रोक्ति का अलंकार से घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु अभिव्यंजना के लिए अलंकार का स्वतन्त्र मूल्य नहीं है : वक्रोक्ति में अलंकार सहगामी है, अभिव्यंजना में अनुगामी। अभिव्यंजना में स्वभावोक्ति का भी मान है, परन्तु वक्रोक्तिवाद में उसके लिए कोई स्थान नहीं है।

सुधांशुजी के निष्कर्ष प्रायः मान्य ही हैं; कुछ-एक का संकेत उन्होंने डा० सुशील कुमार डे से भी ग्रहण किया है। अभिव्यंजना और वक्रोक्ति का यह पार्थक्य-विश्लेषण तत्व रूप में तो मान्य है ही परन्तु उसमें दो-एक भ्रान्तियां भी हैं। उदाहरण के लिए यह सत्य नहीं है कि वक्रोक्तिवाद में स्वभावोक्ति के लिए स्थान ही नहीं है। जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है कुन्तक स्वभावोक्ति की काव्यता का निषेध नहीं करते उसकी अलंकारता-मात्र का निषेध करते हैं : उनकी वक्रता में स्वभाव का बड़ा महत्व है।

प्रो० गुलाबराय ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया है। उन्होंने भी वक्रोक्ति-वाद तथा अभिव्यंजनावाद के ऐकात्म्य का निषेध किया है : "अब हम देख सकते हैं कि

क्रोचे का 'उक्ति-वैचित्र्य' से कहां तक सम्बन्ध है ? क्रोचे ने उक्ति को प्रधानता दी है, उक्ति-वैचित्र्य को नहीं; उसके मत से सफल अभिव्यक्ति या केवल अभिव्यक्ति कला है। इसीलिए अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद की समानता नहीं है जैसा कि शुक्लजी ने माना है।"

बाबूजी की भेद-विवेचना सुधांशुजी की विवेचना का अधिक विशद तथा परिष्कृत रूप है। उनके मत से "अभिव्यंजनावाद में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद ही नहीं है। उक्ति केवल एक ही प्रकार की हो सकती है। यदि पूर्ण अभिव्यक्ति वक्रोक्ति द्वारा होती है तो वही स्वभावोक्ति या उक्ति है, वही कला है। वाग्वैचित्र्य का मान वैचित्र्य के कारण नहीं है, वरन् यदि है तो पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण।"—अर्थात् अभिव्यंजनावाद पर वक्रतावाद का आरोप करना इसलिए अनुचित है कि अभिव्यंजनावाद में तो केवल उक्ति का ही महत्व है; यह उक्ति अखण्ड है, इसमें ऋजु और वक्र या प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद नहीं हो सकता।

वास्तव में स्थिति यही है—अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में मौलिक अन्तर है और वह यह कि अभिव्यंजनावाद में उक्ति का केवल एक ही रूप मान्य है—वह वक्र हो या ऋजु; उसमें वार्ता तथा वक्रता का भेद नहीं होता। परन्तु वक्रोक्तिवाद वार्ता से भिन्न विदग्ध उक्ति को ही काव्य मानता है। उपर्युक्त उद्धरण में बाबूजी ने वक्रोक्ति का विपरीत शब्द स्वभावोक्ति दिया है, परन्तु कुन्तक स्वभावोक्ति में वक्रता का निषेध नहीं करते; अतएव स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति में वैपरीत्य नहीं है : वैपरीत्य वस्तुतः वार्ता और वक्रोक्ति में है।

छायावाद के उपरान्त प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इसमें छायावाद के अन्य तत्वों की भाँति शैलीगत वक्रता-विलास का भी विरोध हुआ। स्वयं पंत जी यह कहने लगे कि

तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिए अलंकार ?

प्रगति-काव्य में विदग्ध चारुता के स्थान पर जन-मन को प्रभावित करने वाली 'खरी और खड़ी' शैली की मांग हुई। वक्रता-विलास को दिमाग़ी ऐयाशी ठहराया गया और लोकातिक्रान्तगोचरता को अस्वस्थ बूर्ज़ुआ साहित्य का दम्भ मात्र मान कर एक असाहित्यिक प्रवृत्ति घोषित किया गया। प्रगतिवादी आलोचक ने दावा किया कि भारत

का किसान पंत को भाषा का प्रयोग सिखा सकता है। कुन्तक की विदग्धता त्राहि त्राहि कर उठी। हां, वक्रता के दूसरे रूप का, जिसे अंगरेज़ी में आयरनी कहते हैं, प्रगतिवाद में सम्मान अवश्य बढ़ गया—परन्तु उससे कदाचित् कुन्तक का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है।

प्रगतिवाद की सहगामिनी वर्तमान युग की अन्य प्रवृत्ति है प्रयोगवाद; यह यूरोप की नवीन बौद्धिक काव्य-प्रवृत्तियों से प्रभावित प्रवृत्ति है जो वस्तु तथा शैली-शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग की अनिवार्यता पर बल देती है। यूरोप के प्रभाववाद, बिम्बवाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद आदि, वादवैचित्र्य का इस पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से गहरा प्रभाव है। उपर्युक्त वादों की भाँति हिन्दी का प्रयोगवाद भी अतिवक्रता से आक्रान्त है : यह वक्रता केवल आंतरिक ही नहीं है, वह प्रायः 'सीधी-तिरछी लकीरों, छोटे-बड़े टाइप, सीधे या उलटे अक्षरों' के विन्यास के द्वारा भी अपने को व्यक्त करती रहती है। मैं सोचता हूं कि आज यदि कुन्तक जीवित होते तो इन चमत्कारों से त्रस्त होकर अपने वक्रता-सिद्धान्त का ही त्याग कर देते।

छायावाद के बाद का युग वास्तव में काव्य के ह्रास का युग है। सृजन की अन्तःप्रेरणा के अभाव में इस युग के साहित्य पर बौद्धिकता का प्रभाव गहरा होता गया—परिमाणतः आलोचना के अतिरिक्त शेष साहित्यांग क्षीण होते गये। आलोचना के क्षेत्र में अवश्य अच्छी चहल-पहल रही है। एक ओर गम्भीर आलोचक छायावाद का मंडन करते रहे हैं, दूसरी ओर नवीन आलोचक छायावादी मूल्यों के खण्डन और प्रगतिशील तथा बौद्धिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में संलग्न हैं। काव्यशास्त्र में भी एक जहाँ नवीन वादों की विषय-वस्तु और शैली-शिल्प की आग्रह-पूर्वक चर्चा हो रही है और वहाँ दूसरी ओर प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों को भी हिन्दी में प्रस्तुत करने का प्रयत्न चल रहा है। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप वक्रोक्तिवाद पर भी विचार-विनिमय हुआ है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का अभिव्यंजनावाद तथा अन्य आधुनिक काव्य-सिद्धान्तों के प्रकाश में संक्षिप्त विवेचन किया है। 'रीतिकाव्य की भूमिका' की रचना के कुछ समय पश्चात् पं० बल्देव उपाध्याय का प्रसिद्ध ग्रन्थ भारतीय साहित्यशास्त्र (भाग २ और भाग १) प्रकाशित हुआ। द्वितीय भाग में उपाध्याय जी ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। वास्तव में हिन्दी में वक्रोक्तिवाद का यह प्रथम प्रामाणिक व्याख्यान है—विद्वान लेखक ने वक्रोक्ति के लक्षण, ऐतिहासिक विकास, वक्रोक्ति तथा अन्य सिद्धान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध, वक्रोक्ति के भेद-प्रभेद आदि का विस्तार से वर्णन-विवेचन किया है।

उपाध्याय जी संस्कृत के मान्य विद्वान हैं, अतएव उनका निरूपण मूल ग्रन्थ पर प्रत्यक्षतः आश्रित होने के कारण अत्यन्त विशद है। उपाध्याय जी के विवेचन के अपने गुण दोष हैं। तथापि हिन्दी में वक्रोक्ति-सिद्धान्त की समग्र रूप में अवतारणा करने का श्रेय वास्तव में उन्हीं को है : उनसे पूर्व वक्रोक्ति पर जो कुछ लिखा गया था वह डा० सुशीलकुमार डे तथा प्रो० काणे की भूमिकाओं पर ही आश्रित था। शुक्ल जी ने अभिव्यंजनावाद के साथ उसकी तुलना कर उसके पुनराख्यान की एक नवीन दिशा की ओर संकेत किया था, परन्तु स्वयं शुक्ल जी का ज्ञान वक्रोक्ति के विषय में अत्यन्त सीमित तथा असम्बद्ध-सा था। इसलिए उनके निष्कर्षों से वक्रोक्ति का स्वरूप तो अधिक स्पष्ट नहीं हुआ, वरन् कुछ भ्रान्तियां ही उत्पन्न हो गईं। इन सभी बातों को देखते हुए उपाध्याय जी का वक्रोक्ति-वर्णन निश्चय ही अपना महत्व रखता है। उन्होंने कुन्तक को हृदय से मान्यता प्रदान की है : '+ + वक्रोक्ति काव्य का नितान्त व्यापक, रुचिर तथा सुगूढ़ तत्व है।'

इस प्रकार कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त धीरे धीरे हिन्दी काव्यशास्त्र का अंग बनता जा रहा है। हिन्दी का आलोचक अब भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का महत्व समझने लगा है और उसे यह अनुभव होने लगा है कि पाश्चात्य सिद्धान्तों के साथ भारत के प्राचीन सिद्धान्तों का पर्यालोचन भी काव्य के सत्य को हृद्गत करने में सहायक हो सकता है। परन्तु केवल प्राचीन की अवतारणा मात्र पर्याप्त नहीं है : उसको आज की साहित्यिक चेतना में अन्तर्भूत करना पड़ेगा और उसकी एक मात्र विधि है पुनराख्यान।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त की परीक्षा

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अनेक पक्षों का विस्तृत विवेचन कर लेने के उपरान्त अब उसकी परीक्षा एवं मूल्यांकन सरल हो गया है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक काव्य-सिद्धान्त है। इसके अन्तर्गत कुन्तक ने एक ओर वर्ण-चमत्कार, शब्द-सौन्दर्य, विषय-वस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत-विधान, प्रबन्ध-कल्पना आदि समस्त काव्यांगों का, और दूसरी ओर अलंकार, रीति, ध्वनि तथा रस आदि सभी काव्य-सिद्धान्तों का समाहार करने का प्रयत्न किया है। कालक्रमानुसार अन्य सभी सिद्धान्तों का पश्चाद्वर्ती होने के कारण वक्रोक्ति-सिद्धान्त को उन सभी से लाभ उठाने का सुयोग प्राप्त था और उसके मेधावी प्रवर्तक ने निश्चय ही उसका पूरा उपयोग किया है। इस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य के पर्याय रूप में प्रतिष्ठित किया है। काव्य-सौन्दर्य के समस्त रूप—सूक्ष्म से सूक्ष्म वर्ण-चमत्कार से लेकर अधिक से व्यापक रूप प्रबन्ध-कौशल तक सभी वक्रता के ही प्रकार हैं; इसी प्रकार अलंकार, रीति (पदरचना), गुण, ध्वनि, औचित्य तथा रस भी वक्रता के प्रकार-भेद अथवा पोषक तत्व हैं। अतएव वक्रोक्ति-सिद्धान्त का पहला गुण उसकी व्यापकता है।

वक्रोक्ति केवल वाक्‌चातुर्य अथवा उक्ति-चमत्कार नहीं है, वह कवि-व्यापार अर्थात् कविकौशल या कला की प्रतिष्ठा है। आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में वक्रोक्तिवाद का अर्थ कलावाद ही है।—अर्थात् काव्य का सर्व-प्रमुख तत्व कला या उपस्थापन-कौशल ही है। इस प्रसंग में भी कुन्तक अतिवादी नहीं है। उन्नसवीं-बीसवीं शती के पाश्चात्य कलावादियों की भाँति उन्होंने विषय-वस्तु का निषेध नहीं किया : उन्होंने तो स्पष्ट रूप में यह माना है कि काव्य-वस्तु स्वभाव से रमणीय होनी चाहिए अर्थात् काव्य में वस्तु के उन्हीं रूपों का वर्णन अभीष्ट है जो सहृदय-आह्लादकारी हों। परन्तु यहां भी महत्व वस्तु का नहीं है; वस्तु का महत्व होने से तो 'कवि कहँ कौन निहोर ?' कवि का क्या महत्व हुआ ? यहाँ भी वास्तविक मूल्य

वस्तु के सहृदय-रमणीय धर्मों के उद्घाटन का ही है : सामान्य धर्मों का अभिज्ञान तो जनसाधारण भी कर लेते हैं किन्तु विशेष सहृदय-आह्लादकारी धर्मों का उद्घाटन कवि का प्रातिभ नयन ही कर सकता है। अतएव महत्व यहां भी उद्घाटन या चयन रूप कवि-व्यापार का ही है, और यह भी कला ही है : चाहें तो इसे आप कला का आन्तरिक रूप कह लीजिए, परन्तु है यह भी कला ही।

मनोमय जीवन के तीन पक्ष हैं (१) बोध-पक्ष, (२) अनुभूति-पक्ष और (३) कल्पना-पक्ष। इनमें से काव्य में वस्तुतः अनुभूति और कल्पना-पक्ष का ही महत्व है— बोध-पक्ष तो सामान्य आधार मात्र है। प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायों में इन्हीं दो तत्वों के प्राधान्य को लेकर विरोध चलता रहा है। रस-सम्प्रदाय में स्पष्टतः अनुभूति का प्राधान्य है : उसके अनुसार काव्य का प्राणतत्व है भाव; भाव के आधार पर ही काव्य सहृदय को प्रभावित करता हुआ उसके चित्त में वासना रूप से स्थित भाव को आनन्द रूप में परिणत कर देता है। इस प्रकार काव्य मूलतः भाव का व्यापार है। इसके विपरीत अलंकार सिद्धान्त में काव्य का आह्लाद भाव की परिणति नहीं है वरन् एक प्रकार का कल्पनात्मक (मानसिक-बौद्धिक) चमत्कार है। रस-सिद्धान्त के अनुसार काव्य के आस्वाद में मूलतः हमारी चित्तवृत्ति उद्दीपित होती है, परन्तु अलंकार-सिद्धांत के अनुसार हमारी कल्पना की उद्दीप्ति होती है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त भी वास्तव में अलंकार-सिद्धान्त का ही विकास है : अलंकार में जहां कल्पना का सीमित रूप गृहीत है, वहां वक्रोक्ति में उसका व्यापक रूप ग्रहण किया गया है। अलंकार-सिद्धान्त की कल्पना का आधार कॉलरिज की 'ललित[1] कल्पना' है और वक्रोक्ति-सिद्धान्त की कल्पना का आधार कॉलरिज की मौलिक[2] कल्पना है। इस प्रकार वक्रोक्ति का आधार है कल्पना : वक्रोक्ति = कविव्यापार (कला) = मौलिक कल्पना। परन्तु यह कल्पना कविनिष्ठ है सहृदयनिष्ठ नहीं है और यही ध्वनि के साथ वक्रोक्ति के मूल भेद का कारण है। ध्वनि की 'कल्पना' सहृदयनिष्ठ होने के कारण व्यक्तिपरक है। कुन्तक की कल्पना कविकौशल पर आश्रित होने के कारण काव्यनिष्ठ और अंततः वस्तुनिष्ठ बन जाती है।

कुन्तक की कल्पना अनुभूति के विरोध में खड़ी नहीं हुई। उनकी कला को रस का, और उनकी कल्पना को अनुभूति का परिपोष प्राप्त है। वक्रोक्ति और रस के प्रसंग में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कुन्तक ने रस को वक्रोक्ति का प्राणरस माना है। अतः कुन्तक के सिद्धान्त में अनुभूति का गौरव अक्षुण्ण है। किन्तु प्रश्न सापेक्षिक

१. फ़ैन्सी २. प्राइमरी इमेजिनेशन।

महत्व का है। यों तो रस-सिद्धान्त में भी कल्पना का महत्व अतवर्य है। क्योंकि विभानुभाव-व्यभिचारी का संयोग उसके द्वारा ही सम्भव है। वस्तुतः कला और रस के सिद्धान्तों में मूल अन्तर कल्पना और अनुभूति की प्राथमिकता का ही है : कला-सिद्धान्त में प्राणतत्व है कल्पना, अनुभूति उसका पोषक तत्व है; उधर रस-सिद्धान्त में मूल तत्व है अनुभूति, कल्पना उसका अनिवार्य साधन है। यही स्थिति वक्रोक्ति और रस की है—कुन्तक ने रस को वक्रता का सबसे समृद्ध अंग माना है, परन्तु अंगी वक्रता ही है। इसका एक परिणाम यह भी निकलता है कि रस के अभाव में भी वक्रता की स्थिति सम्भव है : रस वक्रता का उत्कर्ष तो करता है, परन्तु उसके अस्तित्व के लिए सर्वथा अनिवार्य नहीं है। कुन्तक ने ऐसी स्थिति को अधिक प्रश्रय नहीं दिया; उन्होंने प्रायः रस-विरहित वक्रता का तिरस्कार ही किया है। फिर भी वक्रोक्ति को काव्य-जीवित मानने का केवल एक ही अर्थ हो सकता है और वह यह कि उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है : रस के बिना भी वक्रता की अपनी सत्ता है। और स्पष्ट शब्दों में, वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अनुसार ऐसी स्थिति तो आसकती है जब काव्य रस के बिना भी वक्रता के सद्भाव में जीवित रह सकता है,[1] किन्तु ऐसी स्थिति सम्भव नहीं है जब वह केवल रस के आधार पर वक्रता के अभाव में भी जीवित रहे।

कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त के ये ही दो पक्ष हैं

इनमें से दूसरी स्थिति अधिक सम्भाव्य नहीं है क्योंकि रस की दीप्ति से उक्ति में वक्रता का समावेश अनिवार्यतः हो जाता है : रस अथवा भाव के दीप्त होने से उक्ति अनायास ही दीप्त हो उठती है, और उक्ति की यही दीप्ति कुन्तक की वक्रता है। अतएव उक्ति में रस के सद्भाव में वक्रता का अभाव हो ही नहीं सकता—कम से कम कुन्तक की वक्रता का अभाव तो सम्भव ही नहीं है। शुक्ल जी ने जहां इस तथ्य का निषेध किया है, वहां उन्होंने वक्रता को स्थूल चमत्कार—शब्द-क्रीड़ा या अर्थ-क्रीड़ा अथवा परिगणित विशिष्ट अलंकार के अर्थ में ही ग्रहण किया है। परन्तु कुन्तक की वक्रता तो इतनी सूक्ष्म और व्यापक है कि वह शुक्लजी के प्रायः सभी तथाकथित वक्रताहीन उद्धरणों में अनेक रूपों में उपस्थित है। इसलिए काव्य में वक्रता की अनिवार्यता में तो सन्देह नहीं किया जा सकता, किन्तु वह होगी भाव-प्रेरित ही। ऐसी अवस्था में प्राथमिक महत्व भाव का ही हुआ।

---

१. इसमें सन्देह नहीं कि कुन्तक ने बार-बार इस स्थिति को बचाने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह बच नहीं सकती अन्यथा 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' वाक्य ही निरर्थक हो जाता है।

पहली स्थिति वास्तव में चिन्त्य है : काव्य रस अर्थात् भाव-रमणीयता के अभाव में वक्रता मात्र के बल पर जीवित रह सकता है। भाव-सौन्दर्य से हीन शब्द-क्रीड़ा या अर्थ-क्रीड़ा में निश्चय ही एक प्रकार का चमत्कार होता है, परन्तु वह काव्य का चमत्कार नहीं है क्योंकि इस प्रकार के चमत्कार से हमारी कुतूहल-वृत्ति का ही परितोष होता है, उससे अंतश्चमत्कार या आनन्द की उपलब्धि नहीं होती जो काव्य का अभीष्ट है। कुन्तक ने स्वयं स्थान स्थान पर इस धारणा का अनुमोदन किया है, परन्तु यहीं और इसी मात्रा में उनके वक्रोक्ति-सिद्धान्त का भी खण्डन हो जाता है। वक्रता काव्य का अनिवार्य माध्यम है यह सत्य है, परन्तु वह उसका जीवित या प्राण-तत्व है यह सत्य नहीं है। अनिवार्य माध्यम का भी अपना महत्व है : व्यक्तित्व के अभाव में आत्मा की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है, फिर भी व्यक्तित्व आत्मा अथवा जीवित तो नहीं है। यही वक्रोक्तिवाद की परिसीमा है और यही कलावाद की या कल्पनावाद की।

किन्तु वक्रोक्तिवाद की सिद्धि भी कम स्तुत्य नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि के अतिरिक्त इतना व्यवस्थित विधान किसी अन्य काव्य-सिद्धान्त का नहीं है, और काव्य-कला का इतना व्यापक एवं गहन विवेचन तो ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत भी नहीं हुआ। वास्तव में काव्य के वस्तुगत सौन्दर्य का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण केवल हमारे काव्यशास्त्र में ही नहीं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी सर्वथा दुर्लभ है। कुन्तक से पूर्व वामन ने रीति-गुण, और भामह, दण्डी आदि ने अलंकार तथा गुण के विवेचन में भी इसी दिशा में सफल प्रयत्न किया था किन्तु उनकी परिधि सीमित थी : वे पदरचना तथा शब्द-अर्थ के स्फुट सौन्दर्य-तत्वों का विश्लेषण ही कर सके थे। कुन्तक ने काव्य-रचना के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व से लेकर अधिक से अधिक व्यापक तत्व का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत कर भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में एक नवीन पद्धति का उद्घाटन किया है। काव्य में कला का गौरव स्वतःसिद्ध है, वस्तुतः उसके मौलिक तत्व दो ही हैं : रस और कला। इस दृष्टि से कला का विवेचन काव्यशास्त्र में रस के विवेचन के समान ही महत्वपूर्ण है। वक्रोक्ति सिद्धान्त ने इसी कला-तत्व की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत कर भारतीय काव्यशास्त्र में अपूर्व योगदान किया है।

आचार्य कुन्तक-कृत

वक्रोक्तिजीवितम्

की

हिन्दी व्याख्या

आमुख

ग्रन्थ गाथा—

इस ग्रन्थ के इसके पूर्व दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इन दोनों संस्करणों का सम्पादन ढाका विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष श्रीयुत 'सुशीलकुमार दे' महोदय ने किया है। इनमें से पहिला संस्करण १९२३ में प्रकाशित हुआ था। उसमें केवल दो ही उन्मेष थे। दूसरा संस्करण १९२८ में प्रकाशित हुआ था। उसमें प्रथम दो उन्मेषों के अतिरिक्त तृतीय उन्मेष की दस कारिकाओं को सम्पादित रूप में और तृतीय उन्मेष के शेष भाग तथा चतुर्थ उन्मेष को असम्पादित परिशिष्ट के रूप में दिया गया था। इस प्रकार इन दोनों ही संस्करणों में यह ग्रन्थ अपूर्ण ही रहा है।

प्रथम संस्करण का सम्पादन कार्य 'श्री सुशीलकुमार दे' महोदय ने योरोप में, प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् 'प्रो० जैकोबी' महोदय के सहयोग से किया था। सन् १९२० में मद्रास के हस्त लिखित पुस्तकों के राजकीय पुस्तकालय की सूची में सबसे पहिले इस 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ का नाम तथा परिचय प्रकाशित हुआ। उस समय श्रीयुत 'सुशीलकुमार दे' महोदय 'इंडिया आफ़िस लाइब्रेरी लन्दन' में कार्य कर रहे थे। उस विशाल पुस्तकालय के अध्यक्ष श्रीयुत 'प्रो० एफ० डब्ल्यू० थामस महोदय' ने इस ग्रन्थ की ओर सुशीलकुमार दे महोदय का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। और उन्होने 'इण्डिया आफ़िस' के द्वारा इस ग्रन्थ को ऋण रूप में प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया। परन्तु उसमें उनको सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। तब 'डा० थामस' के विशेष प्रयत्न से मद्रास पुस्तकालय के अध्यक्ष महोदय ने उस ग्रन्थ की एक प्रमाणित प्रतिलिपि तैयार करवा कर १९२० में इंग्लैण्ड में श्री 'दे' महोदय के पास भेज दी थी। परन्तु वह अत्यन्त अशुद्ध थी। जिसके कारण कुछ समय तक वह यों ही रखी रही। उस पर कोई कार्य नहीं किया जा सका।

इसी बीच में 'प्रो०जैकोबी' को यह मालूम हुआ कि संस्कृत अलङ्कार-शास्त्र के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की प्रतिलिपि 'श्रीयुत दे महोदय' के पास है। तो उन्होंने श्री 'दे' महोदय को बर्न-यूनिवर्सिटी में जहाँ कि 'श्री जैकोबी' महोदय कार्य कर रहे थे आने के लिए निमन्त्रित किया। और वहाँ बैठ कर श्री'दे'महोदय तथा 'जैकोबी' महोदय दोनों ने मिल कर प्रथम तथा द्वितीय दो उन्मेषों का सम्पादन किया। जब ये लोग तृतीय और चतुर्थ उन्मेष पर पहुँचे तो आगे का पाठ इन लोगों की समझ में न आ सका

इसलिए उस अवशिष्ट भाग के सम्पादन-कार्य को स्थगित कर देना पड़ा। इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रथम तथा द्वितीय उन्मेष के सम्पादन का कार्य श्रीयुत 'जैकोबी' महोदय तथा श्रीयुत 'सुशीलकुमार दे' महोदय के संयुक्त प्रयत्न से पूर्ण हो गया। परन्तु अवशिष्ट भाग का सम्पादन, मूल प्रति के अत्यन्त अशुद्ध होने के कारण सम्भव न हो सका।

सन् १९२२ में श्रीयुत 'दे' महोदय भारत लौट आए और कलकत्ता विश्वविद्यालय में कार्य करने लगे। तब उन्होंने एक फिर मद्रास पुस्तकालय से उस मूल प्रति को कलकत्ता विश्वविद्यालय के द्वारा उधार लेने का प्रयत्न किया। परन्तु इस बार भी उनको इस कार्य में सफलता नहीं मिल सकी। और वे स्वयं मद्रास जा कर रह सकने की स्थिति में नहीं थे। इसलिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर 'श्री आशुतोष मुकर्जी' महोदय के सामने उन्होंने अपनी कठिनाई उपस्थित की। श्री मुकर्जी महोदय ने कृपा पूर्वक 'श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री' को विशेष रूप से मद्रास जा कर उसकी एक नवीन प्रतिलिपि तैयार करने के लिए नियुक्त किया। 'श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री' ने मद्रास जाकर वहाँ के इस विभाग के मुख्य कार्यवाहक 'श्रीरामकृष्ण कवि' महोदय की सहायता से एक नई प्रतिलिपि अपने हाथों से तैयार की। इस प्रति से प्रथम द्वितीय उन्मेषों में रह गई बहुत सी त्रुटियों का संशोधन करने में बहुत सहायता मिली। बल्कि उसमें एक स्थान पर पाँच पृष्ठों के लुप्त भाग की भी पूर्ति हो गई। ये पाँच पृष्ठ वस्तुतः मद्रास पुस्तकालय की मूल प्रति में नहीं थे। श्री रामकृष्ण कवि महोदय ने किसी अन्य स्थान से उनकी पूर्ति की थी। परन्तु वे वस्तुतः उस ग्रन्थ के भाग ही थे। क्योंकि बाद में मिली हुई दूसरी पाण्डुलिपि में वे ज्यों के त्यों पाए जाते हैं। इस प्रकार इन दो प्रतिलिपियों के आधार पर सम्पादित प्रथम दो उन्मेष का एक संस्करण सन् १९२३ में प्रकाशित कर दिया गया। यह ही वक्रोक्ति-जीवित का प्रथम संस्करण था। जिससे कुन्तक का यह बहुमूल्य ग्रन्थ विद्वानों के सामने आया।

मद्रास पुस्तकालय के कार्यकर्ता श्री 'रामकृष्ण कवि' महोदय ने, जिन्होंने इन प्रतिलिपियों के तैयार करने में सहायता दी थी, श्रीयुत 'दे' महोदय को यह भी सूचित किया था कि उनके पुस्तकालय में जो 'वक्रोक्तिजीवितम्' की प्रति है वह जैसलमेर के एक अध्यापक के पास प्राप्त हुई एक हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि मात्र है। मद्रास पुस्तकालय की ओर से हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रह के लिए घूमने वाले पण्डितों में से एक पण्डित ने जैसलमेर के एक अध्यापक महोदय के पास 'वक्रोक्तिजीवितम्' की हस्तलिखित प्रति होने की सूचना पाकर उसको प्राप्त करने का

प्रयत्न किया। परन्तु वे अध्यापक महोदय किसी भी मूल्य पर उसको देने को तैयार नहीं हुए। तब उन्होंने अध्यापक महोदय की मूलप्रति से मद्रास पुस्तकालय के लिए एक प्रतिलिपि तैयार की। वही प्रतिलिपि श्री 'दे' महोदय द्वारा सम्पादित होकर अन्त में इस रूप में आई।

श्रीयुत 'रामकृष्ण कवि' महोदय ने २५ फरवरी १६२५ को श्रीयुत 'सुशील कुमार दे' महोदय के नाम लिखे हुए अपने एक पत्र में यह लिखा था कि—

"वक्रोक्तिजीवित के सम्बन्ध में जो प्रतिलिपि आपको लन्दन भेजी गई थी वह हमारे यहाँ [मद्रास पुस्तकालय में] विद्यमान प्रति की पूर्णतः यथार्थ प्रतिलिपि है। साथ ही जिस मूल प्रति से हमारे यहाँ की प्रति तैयार की गई है उसकी भी यथार्थ प्रतिलिपि है। और इस प्रतिलिपि से जितनी भी प्रतिलिपियाँ तैयार की जावेंगी उन सब में वे सब अशुद्धियाँ जो भी आपके पास भेजी गई प्रतिलिपि में हैं, पाई जावेंगी। इस विषय में मैं आपको यह भी सूचित करना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ की मूल प्रति के स्वामी [जैसलमेर के अध्यापक महोदय] अपने ग्रन्थ का एक संस्करण स्वयं प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रहे हैं उसमें पाँच उन्मेष होंगे। अध्यापक महोदय पाँच उन्मेष वाले इस ग्रन्थ को अपने विद्यार्थियों को अनेक बार पढ़ा चुके हैं। और सारा ग्रन्थ उनको कण्ठस्थ है। परन्तु इस समाचार से आपके संस्करण के प्रकाशन में कोई बाधा नहीं पड़नी चाहिए।"

श्रीयुत 'रामकृष्ण कवि' महोदय ने श्रीयुत 'सुशीलकुमार दे' महोदय के नाम लिखे हुए अपने इस पत्र में जैसलमेर के अध्यापक महोदय की ओर से प्रकाशित होने वाले पाँच उन्मेषों के जिस संस्करण के, शीघ्र प्रकाशित होने की सूचना दी थी वह संस्करण आज तक भी कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। यदि उस सूचना से अनुत्साहित हो कर श्री 'दे' महोदय अपने इस अपूर्ण संस्करण को प्रकाशित न करते तो इस बहुमूल्य ग्रन्थ का, वर्तमान विद्वानों को कोई पता न चल सकता था। अपूर्ण होने पर भी श्रीयुत 'दे' महोदय के इस संस्करण के प्रकाशित हो जाने से विद्वानों को 'कुन्तक' के 'वक्रोक्ति-जीवितम्' का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्याप्त सामग्री मिल गई है और वह बहुत उपयोगी रहा है।

सन् १६२४ में ओरिएंटल कान्फ्रेंस का अधिवेशन मद्रास में हुआ। श्रीयुत 'दे' महोदय को भी उसमें सम्मिलित होने के लिए मद्रास जाने का अवसर मिला। उस समय श्रीयुत 'रामकृष्ण कवि' महोदय वहाँ नहीं थे। 'दे' महोदय ने एक सप्ताह मद्रास में रह कर उस मूलप्रति से अपने संस्करण का मिलान किया परन्तु उसके पाठ संशोधन आदि में उससे कोई नई सहायता प्राप्त नहीं हुई। अर्थात् जो प्रतिलिपि दुबारा उनके पास भेजी गई थी वह पर्याप्त विश्वसनीय प्रतिलिपि थी। हाँ यहाँ के अन्य पण्डितों

ने यह बतलाया कि इसकी मूल प्रति कहीं मालाबार के किनारे पाई गई थी। जब कि इसके पूर्व मिले समाचार में वह जैसलमेर के किसी अध्यापक के पास से प्राप्त हुई हस्तलिखित पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि थी।

इसी बीच में सन् १९२३ में जैसलमेर के हस्तलिखित पुस्तकों के जैन-भण्डार के श्रीयुत 'सी० डी० दलाल' महोदय द्वारा सम्पादित सूचीपत्र [गायकवाड़ सीरीज नं० २१ पृष्ट ९२, ९३] में इस ग्रन्थ की एक और हस्तलिखित प्रति का विवरण प्रकाशित हुआ। उसके आधार पर श्रीयुत 'दे' महोदय की ओर से ढाका विश्वविद्यालय के अधिकारियों द्वारा उस हस्तलिखित प्रति को प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया परन्तु इस प्रयत्न से भी कोई सफलता नहीं मिली। जैन-भण्डार, के अतिरिक्त जैसलमेर दरवार, और पश्चिमी राजपूताना के रेजीडेण्ट महोदय तक को भेजे हुए प्रार्थना पत्रों का भी कोई फल नहीं निकला। अन्त में रेजीडेण्ट महोदय के प्रयत्न से उसकी एक प्रमाणित प्रतिलिपि सन् १९२६ में प्राप्त हो सकी। यह प्रतिलिपि पूर्व प्रतिलिपियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध और सन्तोष जनक थी इसके आधार पर ग्रन्थ के पाठ आदि का पुनः संशोधन किया गया।

परन्तु दुर्भाग्यवश यह प्रति भी अपूर्ण थी। इसमें केवल दो उन्मेष और तृतीय उन्मेष का लग-भग एक तिहाई भाग जितना कि द्वितीय संस्करण में सम्पादित भाग के रूप दिया गया है विद्यमान था। इसके आधार पर ग्रन्थ का पुनः सम्पादन करके यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया था। इसमें उतना ही भाग सम्पादित रूप में दिया जा सका जितना इस जैसलमेर वाली प्रति में भी पाया जाता है। इसलिए इन दोनों प्रतिलिपियों के आधार पर 'दे' महोदय ने उसको सम्पादित करके प्रकाशित कर दिया। परन्तु तृतीय उन्मेष का जो भाग सम्पादित करने का प्रयत्न 'दे' महोदय ने किया है, वह पर्याप्त रूप से सन्तोष जनक नहीं है। विशेषतः अन्तिम दो तीन पृष्ट तो पाठ की अशुद्धियों और त्रुटियों से अत्यन्त भरे हुए हैं। बीच बीच में से पाठ छूटे हुए हैं। जिसके कारण उनकी ठीक सङ्गति भी नहीं लग सकती है।

तृतीय उन्मेष के शेष अंश और चतुर्थ उन्मेष का जैसलमेर की प्रति में कोई पता नहीं चलता है। उसकी केवल एक प्रति जो मद्रास पुस्तकालय की प्रति से तैयार की गई थी श्रीयुत दे महोदय के पास थी। इस अपूर्ण और त्रुटित पाठों वाली प्रति के आधार पर ही श्रीयुत 'दे महोदय' ने अवशिष्ट भाग को परिशिष्ट के रूप में असम्पादित दशा में ही इस द्वितीय संस्करण में छाप दिया।

इसके बाद अब तक इस ग्रन्थ की और कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई है। इसलिए शेष भाग के पुनः सम्पादन का कोई नया प्रयत्न सम्भव हो नहीं हो सका है।

हमारी सम्पादन पद्धति—

प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन प्राय: पाण्डुलिपियों के आधार पर किया जाता है। एक ग्रन्थ की जितनी भी पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हो सकें उनका संग्रह कर उनमें से किसी एक को प्रमुख आधार मान कर अन्य पाण्डुलिपियों में पाए जाने वाले पाठ भेदों का निर्देश करते हुए अधिक से अधिक प्रामाणिक पाठ निर्धारित करने का यत्न किया जाता है। इसे हम 'पाण्डुलिपिमूलक सम्पादन पद्धति' कह सकते हैं। साधारणतः सभी ग्रन्थों के सम्पादन में इस 'पाण्डुलिपिमूलक सम्पादन पद्धति' का ही अवलम्बन किया जाता है। वक्रोक्तिजीवित के जो दो संस्करण इसके पूर्व प्रकाशित हुए थे उनका सम्पादन भी इसी पद्धति के आधार पर हुआ था। परन्तु पाण्डुलिपियों की भ्रष्टता, अपूर्णता, दुर्लभता और अप्रामणिकता के कारण उस पद्धति से ग्रन्थ का प्रामाणिक संस्करण तैयार करने में सफलता नहीं मिल सकी। प्रामाणिकता का प्रश्न तो पीछे आता तृतीय और चतुर्थ उन्मेष का तो सुसम्बद्ध पाठ भी नहीं दिया जा सका। आदरणीय श्री 'सुशीलकुमार दे' महोदय तथा श्री 'जैकोबी' सदृश धुरन्धर विद्वानों के वर्षों के प्रयत्न और परिश्रम के बाद भी इन दो उन्मेषों का सुबोध एवं सम्बद्ध संस्करण तैयार नहीं हो सका। इसलिए 'दे' महोदय को जो कुछ सामग्री उनके पास थी उसको असम्पादित रूप में ही प्रकाशित करना पड़ा। उन्होंने इस असम्पादित सामग्री को भी प्रकाशित कर दिया यह अच्छा ही किया। अन्यथा 'पाण्डुलिपिमूलक सम्पादन पद्धति' से उनका सम्पादन सम्भव न होने से यह अप्रकाशित सामग्री यों ही पड़ी रहती और थोड़े समय में वह बिलकुल ही विलुप्त हो जाती। इस भाग में दिए हुए कुन्तक के महत्त्व पूर्ण सिद्धान्तों का हमें कुछ भी परिचय प्राप्त न होता।

हमारे सामने जब इस भाग के सम्पादन का प्रश्न आया तो समस्या पहिले से अधिक कठिन थी। 'पाण्डुलिपिमूलक सम्पादन पद्धति' से इस ग्रन्थ पर जो कुछ भी कार्य हो सकता था उसे पूर्व सम्पादक महोदय कर ही चुके थे। उस दिशा से कार्य में और किसी प्रगति के होने की आशा नहीं थी। उसके अतिरिक्त और कोई नवीन पाण्डुलिपि आदि सामग्री उपलब्ध नहीं थी। तब किस आधार पर इसका सम्पादन किया जाय यह विकट प्रश्न था। और उसको यों ही छोड़ दिया जाय यह भी उचित नहीं प्रतीत हुआ। तब हमने इस शेष भाग के सम्पादन के लिए अपनी स्वतन्त्र 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' का अवलम्बन किया। 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' का अभिप्राय यह है कि हमें ग्रन्थ के पाठ निर्धारण के लिए केवल पाण्डुलिपियों के ही आश्रित न रह कर स्वतन्त्र विवेक से भी काम लेना चाहिए। यह हो सकता है कि किसी एक स्थल का पाठ सभी पाण्डुलिपियों में एक सा पाया जाता हो परन्तु वह शुद्ध न हो।

ऐसी दशा में हम 'पाण्डुलिपिमूलक सम्पादन पद्धति' के आधार पर उनको शुद्ध मानने के लिए बाधित नहीं हैं। पाण्डुलिपियों के सर्वसम्मत पाठ को भी उपेक्षा करके हमें वहाँ शुद्ध पाठ देना चाहिए। यही 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' का आशय है।

इस 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' का अवलम्बन करते हुए हमें इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि हम उस अशुद्ध पाठ को बिलकुल विलुप्त न कर दें। बल्कि मूल ग्रन्थ के पाठ से हटा कर उसको पाद टिप्पणी रूप में नीचे सुरक्षित कर दें। क्योंकि हो सकता है कि हमारा विवेक इस समय हमें धोखा दे रहा हो। कालान्तर में हमें स्वयं इस पाठ की उपयोगिता समझ में आ जाय। अथवा 'तर्काप्रतिष्ठनात्' के सिद्धान्त के अनुसार किसी अन्य विद्वान् को उसकी सङ्गति लगाने का मार्ग मिल जाय। इसलिए 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' का अवलम्बन करते समय जहाँ हमें पाण्डुलिपियों के सर्वसम्मत पाठ की भी उपेक्षा करके अपने 'विवेकानुमोदित' पाठ को निर्धारित करने का अधिकार है वहाँ उस अशुद्ध पाठ को भी पाद टिप्पणी के रूप में सुरक्षित रखना भी हमारा कर्त्तव्य है। यही हमारी 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' का सार है।

तृतीय और चतुर्थ उन्मेष के सम्पादन में 'पाण्डुलिपिमूलक सम्पादन पद्धति' की असफलता के कारण हमने उसको छोड़ कर इसी 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' का अवलम्बन किया है। उसके द्वारा ही हम इन दोनों उन्मेषों को बोधगम्य बनाने में समर्थ हो सके हैं। अन्यथा 'पाण्डुलिपिमूलक सम्पादन पद्धति' का अवलम्बन कर यदि हम पूर्व संस्करण का अनुगमन करते तो इन दोनों उन्मेषों के आधे भाग को भी हम न समझ सकते थे और न उसकी व्याख्या ही प्रस्तुत कर सकते थे। क्योंकि पूर्व संस्करण और उनकी आधारभूत पाण्डुलिपियाँ अधिक-पाठ, असङ्गत-पाठ, अस्थान-पाठ, अस्पष्ट-पाठ, और पाठ-लोप आदि अनेक दोषों से भरी हुई हैं। इस कारण ग्रन्थ का न विषय समझ में आता है न कोई सङ्गति लगती है और न कोई व्याख्या की जा सकती है। अनेक जगह ऐसे पाठ पाए जाते हैं जो वस्तुतः दूसरे प्रकरण में दिए जाने चाहिए थे परन्तु पाण्डुलिपियों के लेखक के प्रमाद वश अन्यत्र लिख दिए गए हैं। जैसे किसी अन्य अलङ्कार के प्रकरण की पंक्तियाँ अन्य अलङ्कार के प्रकरण में आजायँ, या अन्य कारिका की वृत्ति भाग की पंक्तियाँ अन्य कारिका की वृत्ति में आ जायँ तो उन स्थानों पर उन पंक्तियों की सङ्गति लगना असम्भव है। उससे ग्रन्थ एक दम दुर्ज्ञेय सा प्रतीत होने लगता है। ऐसे स्थान पर 'पाण्डुलिपिमूलक सम्पादन पद्धति' हमारी कोई सहायता नहीं कर सकती है। 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' के द्वारा ही हम पाठ का उद्धार कर सकते हैं। और वही हमने किया है। उदाहरणार्थ—

१. तृतीय उन्मेष की १९वीं कारिका में दीपकालङ्कार का विवेचन किया है। इसके वृत्ति भाग में निम्नलिखित पंक्तियाँ पूर्व संस्करण में छपी हुई थीं—

तस्मादेव सहृदयहृदयसंवादमाहात्म्यात् 'मुखमिन्दुः' इत्यादौ न केवल रूपकमिति यावत्, किं तारुण्यतरोः इत्येवमादावपि। तस्मादेव च सूक्ष्मव्यतिरिक्तं वा न किञ्चिदुपमानात् साम्यं तस्य निमित्तमिति सचेतसः प्रमाणम्।

इन पंक्तियों का दीपकालङ्कार से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे वस्तुतः रूपकालङ्कार से सम्बन्ध रखने वाली पंक्तियाँ हैं। पाण्डुलिपि के लेखक के प्रमादवश वे दीपकालङ्कार से सम्बद्ध कारिका के वृत्ति भाग में जोड़ दी गई थी। और 'पाण्डुलिपि मूलक सम्पादन पद्धति' के आधार पर वे दीपकाङ्कार से सम्बद्ध १९वीं कारिका के वृत्तिभाग के साथ छाप दी गई थी। हमने अपनी 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' के आधार पर उनका उद्धार कर उनको यथा स्थान पहुँचाया है। ग्रन्थ का ४०४ तथा ४०७वें पृष्ठ देखो।

२. इसी प्रकार—

न पुनर्जन्यत्वप्रमेयत्वादि सामान्यम्। यस्मात् पूर्वोक्तलक्षणेन साम्येन वर्णनीयं सहृदयहृदयहारितामवतरति। [पृ० १०६]

ये पंक्तियाँ भी रूपकालङ्कार से सम्बन्ध रखती है परन्तु पूर्व संस्करण में वे दीपकालङ्कार से सम्बन्ध रखने वाली १९वीं कारिका के वृत्ति भाग के साथ छपी हुई थीं। हमने अपनी 'विवेकाश्रित कद्धति' के आधार पर उनको वहाँ से हटाकर पृष्ठ ४०६ पर यथा स्थान छापा हैं।

पहिले वाली पंक्तियों में तो रूपक का स्पष्ट रूप से उल्लेख है इसलिए उनको पढ़ते ही दीपकालङ्कार के प्रसङ्ग में उनकी अनुपयुक्तता की प्रतीति हो जाती थी। और उनका रूपक से सम्बन्ध है यह भी प्रतीत हो जाता है। विवेक से केवल यह निश्चय करना रहता है कि रूपक के प्रकरण में इनका उचित स्थान क्या है। परन्तु इन पंक्तियों में ऐसा कोई शब्द नहीं है जिससे हम यह समझ सकें कि ये पंक्तियां दीपक के प्रसङ्ग की नहीं है या रूपक के प्रसङ्ग की है। इसलिए उनका निकालना बड़ा कठिन था। पर 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' के आधार पर ही उनको अनुचित स्थान से हटा कर उचित स्थान पर ला सके हैं। उसके अतिरिक्त इस स्थान परिवर्तन का और कोई आधार नहीं था। वे पंक्तियाँ १९वीं कारिका के वृत्ति भाग के अन्त में छपी हुई थी। परन्तु वहाँ उनकी सङ्गति नहीं लग रही थी। इधर २०वीं कारिका के वृत्ति में 'साम्यमुद्वहत् समत्वं धारयत्' ये शब्द आए हुए थे। उनका विचार करते समय यह ध्यान आया कि दीपक के प्रसङ्ग में आए हुए 'साम्य' या 'सामान्य'

शब्द का अर्थ कोई जन्यत्व, प्रमेयत्व आदि साम्य न ले ले इसलिए वृत्तिकार ने उसका निषेध करते हुए ये शब्द लिखे हैं। इस प्रकार 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति ने ही इन शब्दों के उचित स्थान का निर्धारण करने में सहायता की।

३. इसी प्रकार चतुर्थ उन्मेष की अन्तिम २६वीं कारिका के वृत्ति भाग के अन्त में निम्न पंक्तियाँ छपी हुई थीं—

यथा नागानन्दे। तत्र दुर्निवारवैरादपि वैनतेयान्तकादेक···सकल कारुणिक चूड़ामणिः शंखचूड़ं जीमूतवाहनो देहदानादभिरक्षन्न केवलं तत्कुल—

इन पंक्तियों का वहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है यह बात तो पंक्तियों को पढ़ते ही स्पष्ट हो जाती है। परन्तु उनका उचित स्थान कहाँ है यह ढूँढना तनिक कठिन था। हमने अपनी 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' के आधार पर १३वीं कारिका के वृत्ति भाग के अन्त में उनका उचित स्थान निश्चित कर वहीं [पृ० ५३६ पर] उनको छापा है।

इसी 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' के आधार पर हमने अनेक स्थलों पर पाए जाने वाले अधिक और असङ्गत पाठों को मूल ग्रन्थ से हटा कर पाद टिप्पणियों में स्थान दिया है। इस प्रकार के असङ्गत या अधिक पाठ न केवल असम्पादित भाग में ही पाए जाते हैं अपितु तृतीय उन्मेष का जो भाग सम्पादित रूप में छपा था उसमें भी पाए जाते हैं। हमने जहाँ इन अधिक पाठ या असङ्गत पाठों को मूल ग्रन्थ से निकाला है वहाँ सब जगह उसको पाद टिप्पणियों में दे दिया है।

इस प्रकार हमने अपनी इस 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' के आधार पर तृतीय एवं चतुर्थ उन्मेष के अस्थान पाठ, अधिक पाठ और असङ्गत पाठों का संशोधन तो यथा सम्भव कर दिया है। परन्तु लुप्त पाठों की पूर्ति का प्रश्न इससे भी अधिक कठिन है। हमने उसको भी अपनी इस पद्धति से सुलझाने का प्रयत्न किया है परन्तु सर्वत्र नहीं। जहाँ ऐसा प्रतीत हुआ कि यहाँ एक, दो या तीन शब्द ही छूटे हुए थे वहाँ हमने उनकी पूर्ति अपने विवेक के आधार पर करने का यत्न किया है और उसमें सफलता भी मिली है। उदाहरणार्थ पृ० ३५० पर 'अपि न किञ्चिदसङ्गतम्' यह पाठ हमने बढ़ाया है। पूर्व संस्करण में वह लुप्त पाठ माना गया था। इस बढ़ाए हुए पाठ को हमने इटैलिक में दिया है। पृ० ३९६ पर केवल 'तच्च' बढ़ा देने से पाठ की सङ्गति लग जाती हैं। इसलिए उन स्थानों पर हमने उपयुक्त पाठ देकर लुप्त पाठ की पूर्ति कर दी है। परन्तु जहाँ अधिक पाठ छूटा हुआ प्रतीत हुआ यहाँ इस पद्धति का अवलम्बन हमने नहीं किया है। क्योंकि उसमें ग्रन्थकार के अभिप्राय का अनुसरण करना कठिन होता। इसलिए ऐसे स्थलों पर हमने पाठ लोप सूचक पुष्प चिन्ह दे दिए

हैं। और उनका सङ्केत पाद टिप्पणियों में भी कर दिया है।

पाठ लोप के स्थलों में कुछ स्थल ऐसे भी हैं जिनमें उस लुप्त हुए पाठ के बिना भी अर्थ की सङ्गति में कोई बाधा नहीं होती है। जान पड़ता है कि ऐसे स्थलों पर पाठ लोप चिन्ह भ्रान्तिवश ही दे दिए गए थे। उदाहरणार्थ पृ० ३८६ पर ❀विशिष्ट लिङ्गसामर्थ्याच्च ❀ काव्यस्य सरसतामुल्लासयंस्तद्विदाह्लादमादधानः। इत्यादि में पुष्पचिन्हित स्थान पर पाठ लोप माना गया था। परन्तु उसके अर्थ में कोई असङ्गति नहीं है। अतः वहाँ वस्तुतः पाठ लोप नहीं अपितु पाठ लोप की भ्रान्ति ही है। इस प्रकार के स्थलों में ग्रन्थ की व्याख्या आदि करने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं हुई। फिर भी हमने पुराने पाठ लोप के स्थल को चिन्हाङ्कित कर दिया है।

इस प्रकार हमने अपनी 'विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति' का अवलम्बन कर तृतीय तथा चतुर्थ उन्मेष के इस असम्पादित भाग को अधिक से अधिक सुन्दर और सुसम्बद्ध रूप में सम्पादित करने का प्रयत्न किया है। फिर भी ऐसे दुरूह कार्य में त्रुटियाँ रह जाना स्वभाविक है। परन्तु यह निश्चित है कि इस 'विवेकाश्रित पद्धति' के अवलम्बन से ही यह लगभग सारा ग्रन्थ सुसम्बद्ध और सुबोध हो गया है। त्रुटियाँ जो कुछ रह गई हैं उन्हें यदि अवसर मिला तो अगले संस्करण में ठीक करने का यत्न किया जायगा।

अधिकांश आधुनिक विद्वान् प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन में 'पाण्डुलिपि मूलक सम्पादन पद्धति' का ही उपयोग करते हैं और केवल उसी को वैज्ञानिक सम्पादन पद्धति मानते हैं। विवेकाश्रित सम्पादन पद्धति के लिए उनके यहाँ कोई स्थान नहीं है। परन्तु देखने में यह आया है कि तथा कथित 'वैज्ञानिक' सम्पादन पद्धति का अवलम्बन करने वाले विद्वानों द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में कहीं कहीं नितान्त अशुद्ध पाठों को ही प्रामाणिक पाठ मान कर ज्यों का त्यों छाप दिया गया है। 'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः' की यह अवैज्ञानिक पद्धति ग्रन्थकार और सम्पादक दोनों के गौरव को क्षति पहुँचाती है। अतएव ऐसे अवसरों वर विवेकाश्रित पद्धति का अवलम्बन करना आवश्यक है। विशेषतः वक्रोक्तिजीवित जैसे ग्रन्थ का सम्पादन तो उसके बिना सम्भव ही नहीं था। अतएव हमने उसका अवलम्बन किया है।—

'प्रतीक पद्धति'

तृतीय और चतुर्थ उन्मेष के लुप्त पाठों के विषय में विचार कर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस भाग में लिखते समय कुन्तक ने प्रायः 'प्रतीक पद्धति' का अवलम्बन किया है। 'प्रतीक पद्धति से हमारा यह अभिप्राय यह है कि कुन्तक ने इस भाग को परिमार्जित ग्रन्थ के रूप में नहीं लिखा है अपितु वे जो कुछ लिखना चाहते

थे उसके संक्षिप्त सङ्केत ही यहाँ उन्होंने अङ्कित किए हैं। इसी लिए उसमें उदाहरण प्रायः अधूरे हैं। कारिकाएँ बिल्कुल ही नहीं पाई जाती हैं। और वृत्ति भी अनेक स्थलों पर प्रतीक मात्र ही उपलब्ध होती हैं।

कुन्तक का केवल एक यही ग्रन्थ पाया जाता है। इसकी रचना तीन कक्षा या तीन समयों में हुई है। सबसे पहिले उन्होंने ग्रन्थ की मूल कारिकाओं की रचना की और उसका नाम भामह आदि के ग्रन्थों के समान 'काव्यालङ्कार' रखा। उसके बाद उसकी वृत्ति की रचना भी स्वयं ही की और इसका नाम 'वक्रोक्तिजीवित' रखा। इसकी चर्चा हमने अपनी व्याख्या के बिल्कुल प्रारम्भ में ही की है। इस वृत्ति की रचना में उन्होंने दो बार श्रम किया जान पड़ता है। पहिले उन्होंने एक रूप रेखा तैयार की और फिर उसको परिमार्जित कर अन्तिम रूप दिया। सभी ग्रन्थकार प्रायः इस पद्धति का अवलम्बन करते हैं। इसलिए कुन्तक ने भी इस पद्धति को अपनाया है यह स्वभाविक ही है। प्रथम और द्वितीय उन्मेष में तो वे इन दोनों श्रेणियों को पार कर गए हैं। अर्थात् पहिले अपरिमार्जित रूप में लिख चुकने के बाद उसे परिमार्जित कर अन्तिम रूप दे दिया है। इसलिए उतना भाग पूर्ण और स्पष्ट है। परन्तु तृतीय चतुर्थ उन्मेष की उन्होंने केवल रूपरेखा तैयार की थी उसको परिमार्जित कर अन्तिम रूप नहीं दे सके थे इसलिए वह भाग अपूर्ण सा प्रतीत होता है। इसीलिए उसमें जगह-जगह पाठ छूटे हुए से प्रतीत है और उदाहरण आदि अधूरे से पाए जाते हैं। इसकी परिमार्जित प्रति तैयार करते समय ये जो न्यूनताएँ रह गई हैं उन सबकी पूर्ति हो, जाती, परन्तु अस्वस्थता के कारण या अन्य किसी कारण से उनको इस भाग को परिमार्जित करने का अवसर नहीं मिल पाया। इसलिए यह ग्रन्थ त्रुटिपूर्ण रह गया प्रतीत होता है।

इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि इस भाग में कारिकाएँ बिल्कुल नहीं पाई जाती हैं। केवल वृत्ति और उदाहरण मिलते हैं। कारिकाएँ कुन्तक ने पहिले अलग लिख ली थी। इस प्रति की दूसरी परिमार्जित प्रतिलिपि तैयार करनी ही है इस विचार से इसमें कारिकाओं को दुबारा न लिख कर केवल उनके प्रतीकों द्वारा उनकी वृत्ति ही यहाँ अङ्कित है। इसी प्रकार अनेक उदाहरण भी पूर्ण रूप में न लिख कर प्रतीक मात्र लिख दिए हैं। कहीं-कहीं वृत्ति भाग के गद्य में भी इसी प्रकार का लाघव कर गए हैं। इसीलिए इसमें अपूर्णता प्रतीत होती है।

कारिकाओं की रचना—

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस भाग में कारिकाओं का बिल्कुल अभाव है। उनके केवल प्रतीकमात्र ही वृत्ति भाग में पाए जाते हैं। उन्हीं के आधार पर

कारिकाओं का पुनर्निर्माण किया गया है । सौभाग्य की बात है कि कुन्तक ने अपनी कारिकाओं की व्याख्या में 'खण्डान्वय' की पद्धति अपनाई है । इस पद्धति में कारिका का प्रायः प्रत्येक पद वृत्ति भाग में आ जाता है । वृतिभाग में आए हुए इन्हीं प्रतीक पदों को जोड़ देने से कारिका बन जाती है । इसी मार्ग का अवलम्बन कर इस भाग की कारिकाओं का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न श्री 'दे' महोदय ने किया था । उसी रूप में इन पुनर्निमाण की हुई कारिकाओं को हमने दिया है । इस बात का उल्लेख हमने उन कारिकाओं के साथ प्रायः कर दिया है। और पृ० ३०६ पर इस विषय का विशेष रूप से उल्लेख भी कर दिया है ।

ग्रन्थ की पूर्णता—

पिछले दोनों संस्करणों तथा उनकी आधार भूत पाण्डुलिपियों में ग्रन्थ के अन्त में 'असमाप्तोऽयं ग्रन्थः' इस प्रकार की पुष्पिका दी गई है जिससे प्रतीत होता है ये सब लोग ग्रन्थ को असमाप्त मानते हैं । अभी हमने श्री 'दे महोदय' के नाम श्री 'राम कृष्ण कवि' महोदय द्वारा लिखे गए पत्र का उद्धरण दिया था । उस पत्र के देखने से प्रतीत होता है कि जैसलमेर के अध्यापक महोदय के पास वक्रोक्तिजीवित की जो प्रति है उसमें पाँच उन्मेष हैं । इसलिए उपलब्ध संस्करण अवश्य ही 'असमाप्त' और अपूर्ण है यह धारणा होना स्वभाविक है । तदनुसार अब तक सभी विद्वान् इस ग्रन्थ को असमाप्त मानते हैं । परन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं । हमारे विचार से यह ग्रन्थ जहाँ समाप्त हो रहा है वहीं इसकी समाप्ति है । पाँच उन्मेष वाले 'वक्रोक्तिजीवितम' की बात केवल किंवदन्ती और कल्पना मात्र है । उसमें कोई तथ्य नहीं है ।

हमारे इस मत का आधार यह है कि ग्रन्थ विषय की दृष्टि से अपने में परिपूर्ण है प्रथम उन्मेष की १८वीं कारिका में ग्रन्थकार ने ६ प्रकार की वक्रता का 'उद्देश' या निर्देश किया था । अपनी 'उद्दिष्ट' इन्हीं ६ प्रकार की वक्रताओं का विवेचन करने के लिए ही उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की है । प्रथम उन्मेष उसका अवतरणिका भाग है । उसमें काव्य साहित्य विषयक प्रारम्भिक चर्चा के बाद ६ प्रकार की वक्रता का 'उद्देश' [नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनं उद्देशः] किया है । और उनका सामान्य परिचय दिया है । इसके बाद द्वितीय उन्मेष में पहिली तीन वक्रताओं का तृतीय उन्मेष में 'वाक्यवक्रता' रूप चौथी वक्रता का तथा चतुर्थ उन्मेष में 'प्रकरणवक्रता' तथा 'प्रबन्धवक्रता' रूप पाँचवी तथा छठी प्रकार की वक्रता का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है । इस प्रकार उनका प्रतिपाद्य विषय इस भाग में पूर्णरूप से समाप्त हो जाता है । उसका कोई भी भाग ऐसा शेष नहीं रह जाता है कि जिसके लिए आगे और ग्रन्थ की रचना आवश्यक होती । इसलिए हमारा मत है कि इस ग्रन्थ को 'असमाप्त'

ग्रन्थ नहीं कहना चाहिए। इसीलिए हमने इस संस्करण के अन्त में 'असमाप्तोऽयं ग्रन्थः' इस प्रकार की पुष्पिका न देकर 'समाप्तोऽयं ग्रन्थः' इस प्रकार की पुष्पिका दी है और उसके साथ ही इस सब हेतु का विस्तारपूर्वक उल्लेख भी कर दिया है।

कुन्तक का कालनिर्णय—

१—'कुन्तक' ने अपने ग्रन्थ में कालिदास भवभूति राजशेखर आदि अनेक कवियों के ग्रन्थों से प्रचुर मात्रा में उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। और नामतः भी उनका उल्लेख किया है। 'वक्रोक्ति-जीवित' के पृ० १५५-५६ पर स्पष्ट ही इन महाकवियों का नामतः उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—

एवं सहजसौकुमार्यसुभगानि कालिदाससर्वसेनादीनां काव्यानि दृश्यन्त। तत्र सुकुमार्गमार्गस्वरूपं चर्चनीयम्। तथैव च विचित्रवक्रत्वविजृम्भितं हर्षचरिते प्राचुर्येण भट्टबाणस्य विभाव्यते। भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते। तस्मात् सहृदयैः सर्वत्र सर्वमनुसर्तव्यम्।

इससे सिद्ध होता है कि कुन्तक सातवीं आठवीं शताब्दी तक के इन कवियों के बाद हुए थे।

२—कुन्तक ने ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य का उल्लेख यद्यपि नाम से नहीं किया है परन्तु वह उनके ग्रन्थ तथा सिद्धान्त से भली प्रकार परिचित हैं यह बात उनके ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर स्पष्ट प्रतीत होती है। आनन्दवर्धनाचार्य के 'विषमबाणलीला' नामक ग्रन्थ का निम्न श्लोक जो ध्वन्यालोक [पृष्ठ १००] में भी दिया गया है कुन्तक ने अपने ग्रन्थ के द्वितीयोन्मेष में उदाहरण संख्या २६ पृ० १६६ पर उद्धृत किया है—

ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पंति।
रइकिरणानुग्गहिआई होंती कमलाई कमलाइ॥
[तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि]॥

तृतीय उन्मेष की दशम कारिका में रसवदलङ्कार का खण्डन करते हुए कुन्तक ने ध्वन्यालोककार के मत की आलोचना बहुत विस्तार के साथ की है। और उसमें ध्वन्यालोक की निम्न कारिका भी उद्धृत की है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥

—ध्वन्यालोक २, ५।

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'कुन्तक' ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य के बाद हुए हैं। 'आनन्दवर्धनाचार्य' का नाम राजतरङ्गिणी के निम्न श्लोक में स्पष्ट रूप से पाया जाता है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवमणः ॥

—राजतरङ्गिणी ५,३४ ।

काश्मीर के इतिहास में 'अवन्तिवर्मा' का राज्यकाल ८५७ से ८८४ ई० तक माना जाता है। अतः 'आनन्दवर्धनाचार्य' का समय यही, नवम शताब्दी में माना जाता है। वक्रोक्ति-जीवितकार कुन्तक ने 'विषमबाणलीला' नामक काव्य ग्रन्थ से तथा 'ध्वन्यालोक' से भी आनन्द वर्धनाचार्य के श्लोकों तथा मत का उल्लेख अपने 'वक्रोक्ति-जीवित' ग्रन्थ में किया है इस लिए वे निश्चय से इनके बाद हुए हैं।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य कुन्तक के काल निर्णय की पूर्व वर्ती सीमा रेखा हैं तो दूसरी ओर महिमभट्ट उनकी उत्तरवर्ती सीमा रेखा हैं। कुन्तक के उत्तरवर्ती आचार्यों में सबसे पहिले 'व्यक्तिविवेक' के निर्माता महिमभट्टने उनका उल्लेख इस प्रकार किया है।

काव्यकाञ्चनकशाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि ।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया ॥

—व्यक्ति विवेक ५८, तथा ३७१ ।

व्यक्तिविवेक के इस श्लोक में कुन्तक का नामतः स्पष्ट उल्लेख होने के कारण यह स्वयं सिद्ध है कि 'कुन्तक' 'महिमभट्ट' के पूर्ववर्ती है। महिमभट्ट का समय ११वीं शताब्दी में माना जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कुन्तक का काल नवम शताब्दी के आनन्दवर्धनाचार्य तथा ११वीं शताब्दी के महिमभट्ट के बीच में अर्थात् दशम शताब्दी के किसी भाग में निर्धारित किया जा सकता है।

३—ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धनाचार्य के प्रसिद्ध टीकाकार श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य का समय भी इन दोनों के बीच में ही पड़ता है। क्योंकि वे आनन्दवर्धन के टीकाकार हैं इसलिए उनके बाद होना स्वाभाविक है। दूसरी ओर महिमभट्ट ने उनकी 'लोचन' टीका के अनेक अंशों की आलोचना अपने ग्रन्थ में की है। उदाहरणार्थ ध्वन्यालोक की 'लोचन' टीका के पृ० ३१ के एक विस्तृत उद्धरण को आलोचना के लिए महिमट्ट ने अपने 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के पृ० १९ पर उद्धृत किया है। इसलिए लोचनकार अभिनवगुप्तपादाचार्य का काल भी कुन्तक के समान आनन्द-

वर्धन और महिमभट्ट के बीच में दशम शताब्दी के किसी भाग में ही निर्धारित किया जा सकता है। इसलिए कुन्तक तथा अभिनवगुप्त का समय एक दूसरे के बहुत निकट पड़ता है। फिर भी इन दोनों को समकालीन नहीं माना जा सकता है। अपितु 'कुन्तक' निश्चित रूप से अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती ही हैं। क्योंकि अभिनवगुप्त कृत ध्वन्यालोक की 'लोचन' टीका में कुन्तक के मत की छाया कई जगह पाई जाती है। उदाहरणार्थ कुन्तक ने प्रथम उन्मेष में लिङ्ग वैचित्र्य-वक्रता का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

अन्यदपि लिङ्गवैचित्र्यवक्रत्वम्। यत्रानेकलिङ्गसम्भवेऽपि सौकुमार्यात् कविभिः स्त्रीलिङ्गमेव प्रयुज्यते 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' इति कृत्वा। [पृष्ठ ३६]

द्वितीय उन्मेष में इसी लिङ्गवैचित्र्य-वक्रता का वर्णन करते हुए कुन्तक ने फिर लिखा है—

सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गञ्च प्रयुज्यते।
शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीतिपेशलम् ॥

—२, २२। पृ० २५५

इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

यथेयं ग्रीष्मोष्मव्यतिकरवती पाण्डुरभिदा
मुखोद्भिन्नम्लानानिलतरलवल्लीकिसलया।
तटी तारं ताम्यत्यतिशशियशाः कोऽपि जलद-
स्तथा मन्ये भावी भुवनवलयाक्रान्तिसुभगः ॥

अत्र त्रिलिङ्गत्वे सत्यपि सौकुमार्यात् स्त्रीलिङ्गमेव प्रयुक्तम्।

—वक्रोक्तिजीवित पृ० २५५

अभिनवगुप्त ने 'लोचन' के पृष्ठ १६० पर लिखा है कि—

तथा हि 'तटी तारं ताम्यति' इत्यत्र तटशब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः 'स्त्रीति नामापि मधुरमिति' कृत्वा।

अभिनवगुप्त के इस विवेचन के ऊपर कुन्तक के उपर्युक्त सिद्धान्त तथा विवेचन की छाया स्पष्ट रूप से दिखलाई दे रही है। इसलिए कुन्तक का समय आनन्दवर्धन के बाद और और महिमभट्ट तथा अभिनवगुप्त से पूर्व दशम शताब्दी में निश्चित होता है।

ग्रन्थकार का नाम—

मद्रास पुस्तकालय से प्राप्त प्रतिलिपि की पुष्पिकाओं में इस ग्रन्थ के निर्माता का 'कुन्तल' या 'कुन्तलक' नाम से उल्लेख किया गया है। परन्तु जैसलमेर वाली प्रति की पुष्पिकाओं में 'कुन्तक' नाम से ग्रन्थकार का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार इन

दोनों प्रतियों में ग्रन्थकार के नाम में थोड़ा सा भेद पाया जाता है। इनमें से जैसलमेर वाली प्रति में पाया जाने वाला 'कुन्तक' नाम ही ठीक जान पड़ता है। क्योंकि उत्तरवर्ती साहित्य में जहाँ भी इस ग्रन्थ के लेखक का नामतः उल्लेख आया है वहाँ सर्वत्र 'कुन्तक' नाम का ही व्यवहार किया गया है। वक्रोक्तिजीवित के प्रथमोन्मेष में आए हुए 'संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः' इत्यादि २८वें उदाहरण श्लोक की 'कुन्तक' द्वारा की गई विवेचना की आलोचना करते हुए 'व्यक्तिविवेककार' महिमभट्ट ने उसे विधेयाविमर्ष दोष से ग्रस्त बतलाया है। उसी प्रसङ्ग में एक श्लोक में जिसे कि हम अभी पृ० १३ पर उद्धृत कर चुके हैं महिम भट्ट ने 'काव्यकाञ्चनकशाश्ममानिना' यह विशेषण देते हुए 'कुन्तक' इस नाम से ही वक्रोक्तिजीवितकार का उल्लेख किया है। इसलिए वक्रोक्ति जीवित के लेखक का नाम कुन्तक ही प्रतीत होता है।

महिम भट्ट के अतिरिक्त गोपा भट्ट ने भी अपने 'साहित्य-सौदामिनी' नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में साहित्य शास्त्र के सभी प्रधान आचार्यों का कीर्तन किया है। उसमें उन्होंने दण्डी तथा वामन के बाद तीसरा स्थान कुन्तक को दिया है। कुन्तक का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

वक्रानुरञ्जिनीमुक्तिं शुक इव मुखे वहन् ।
कुन्तकः क्रीड़ति सुखं कीर्तिस्फटिकपञ्जरे ॥

यहाँ भी 'कुन्तक' नाम से ही वक्रोक्तिकार का उल्लेख हुआ है।

अरुणाचल नाथ ने भी कुमारसम्भव की टीका में दो जगह 'यदाह कुन्तकः' 'यदाह कुन्तकाचार्यः' लिख कर 'कुन्तक' नाम से ही इस ग्रन्थकार का उल्लेख किया है। इस प्रकार साहित्य के अनेक ग्रन्थों में 'कुन्तक' नाम से इस ग्रन्थ के निर्माता का उल्लेख पाया जाता है। इसलिए मद्रास वाली प्रति के 'कुन्तल' तथा 'कुन्तलक' दोनों पाठ अशुद्ध हैं। और जैसलमेर वाली प्रति के अनुसार इस ग्रन्थ के निर्माता का नाम 'कुन्तक' ही है, 'कुन्तल' या 'कुन्तलक' नहीं।

वक्रोक्तिजीवित का विश्लेषण—

जिस प्रकार ध्वन्यालोककार ने अपने ग्रन्थ को चार उद्योतों में पूर्ण किया है उसी शैली पर कुन्तक ने अपने ग्रन्थ को चार उन्मेषों में समाप्त किया है। ध्वन्यालोक के समान इस ग्रन्थ की रचना भी कारिका तथा वृत्ति रूप दो भागों में हुई है। और दोनों भागों के लेखक एक ही व्यक्ति हैं। कुन्तक के मूल कारिकात्मक ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' और वृत्तिभाग का नाम 'वक्रोक्तिजीवित' है। इस बात को कुन्तक ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में प्रथम कारिका में ही स्पष्ट कर दिया है।

प्रथमोन्मेष—इन चार उन्मेषों में से प्रथम उन्मेष एक प्रकार से प्रारम्भिक

भूमिका या प्रवेश परक है। इसमें काव्य के प्रयोजन आदि का प्रतिपादन तथा ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय 'षड्विध वक्रता' का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस उन्मेष में कुल ५८ कारिकाएँ हैं। इनमें से पहली पाँच कारिकाओं में काव्य के प्रयोजन आदि का वर्णन किया है। उसके बाद ६ से १० कारिका तक काव्य के लक्षण के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। कुन्तक के मतानुसार संक्षेप में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' यह काव्य लक्षण है। इस लक्षण के स्पष्टीकरण के लिए १६-१७ कारिका में 'शब्द', अर्थ तथा साहित्य तीनों का विवेचन कर काव्य लक्षण की व्याख्या पूर्ण की गई है। इस बीच में ११, से १५ तक की पाँच कारिकाओं से उन्होंने 'स्वभावोक्ति' को अलङ्कार मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है। उसका यह अभिप्राय है कि पदार्थ का स्वभाव जिसका कि वर्णन स्वभावोक्ति में होता है वह तो 'अलङ्कार्य' है 'अलङ्कार' नहीं। यदि उसको 'अलङ्कार' मान लिया जायगा तो फिर उसके अतिरिक्त 'अलङ्कार्य' क्या रह जायगा। इसलिए 'स्वभावोक्ति' को 'अलङ्कार' नहीं कहना चाहिए। इस प्रकार १ से १७ कारिका तक काव्य के प्रयोजन तथा लक्षण आदि की विवेचना की गई है। यह भाग ग्रन्थ का भूमिका रूप कहा जा सकता है।

इसके बाद ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय 'वक्रता' का परिचय दिया गया है। इसमें १८ से २१ तक चार कारिकाओं में ऊपर कहे हुए 'वक्रता' के छः प्रकारों का साधारण परिचय दिया गया है। कुन्तक ने ७वीं कारिका में काव्य का लक्षण किया था उसमें एक 'बन्ध' शब्द आया था। २२वीं और २३वीं कारिका में 'बन्ध' की विवेचना की है। इसी 'बन्ध' के प्रसङ्ग में तीन प्रकार के काव्य 'मार्गों' का विवेचन किया है। कुन्तक के ये 'मार्ग' वस्तुतः वामन की रीतियों के स्थानापन्न हैं। मुख्य भेद यह है कि वामन आदि ने रीतियों का विभाजन देश विशेष के नाम पर पाञ्चाली, वैदर्भी, गौड़ी आदि नामों से किया है। कुन्तक का कहना है कि देश के आधार पर तो देशों के अनन्त होने से 'रीतियों' के भेद भी अनन्त हो जावेंगे। इसलिए देश के आधार पर रीतियों के सिद्धान्त का खण्डन कर कुन्तक ने अपने तीन मार्गों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥१, २४॥

कुन्तक के मत में कवियों के व्यवहार के आधारभूत सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम ये तीन प्रकार के 'मार्ग' हैं। रीतियों के दैशिक आधार को निकाल कर उनके आन्तरिक गुणों के आधार पर कुन्तक ने अपने तीन 'मार्गों' का निर्धारण किया है। इसलिए जैसे रीतियों के साथ गुणों का विवेचन आ जाता है इसी प्रकार कुन्तक के

'मार्गों' के साथ ओज, प्रसाद तथा माधुर्य आदि गुणों का निरूपण भी समाविष्ट हो गया है । परन्तु कुन्तक के यहाँ इन ओज, प्रसाद, माधुर्य के अतिरिक्त लावण्य, अभिजात्य आदि अन्य भी गुण हैं । कुन्तक ने २५ से २६ तक पाँच कारिकाओं में सुकुमार मार्ग का और उसके बाद ३०-३३ चार कारिकाओं में क्रमशः माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा अभिजात्य इन चार गुणों का प्रतिपादन किया है । ये चारों गुण सुकुमार मार्ग में प्रयुक्त होते हैं इसलिए सुकुमार मार्ग के साथ इन चारों गुणों का निरूपण कर दिया है ।

इसके बाद ३४ से ४३ तक १० कारिकाओं 'विचित्र मार्ग' का निरूपण और उसके साथ ४४ से ४८ तक पाँच कारिकाओं में विचित्र मार्ग के उपयोगी गुणों का विवेचन किया गया है । इस 'विचित्र मार्ग' में भी माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और अभिजात्य ये चार ही गुण उपयुक्त होते हैं । परन्तु यहाँ उनके लक्षण पहिले से भिन्न हैं । इन्हीं लक्षणों का प्रतिपादन पाँच कारिकाओं में किया गया है । जैसे वामन ने दस शब्द गुण तथा अर्थ गुण माने । इन शब्द गुणों तथा अर्थ गुणों के नामों में भेद नहीं हैं । दस शब्द गुणों के जो नाम हैं दस अर्थगुणों के भी वे ही नाम हैं । परन्तु उनके लक्षण दोनों जगह अलग अलग हो जाते हैं । इसी प्रकार कुन्तक के जो माधुर्य प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य ये चार गुण 'सुकुमार मार्ग' में उपयुक्त होते हैं वे ही चार गुण 'विचित्र मार्ग' में भी उपयुक्त होते हैं । परन्तु उनके लक्षण दोनों जगह अलग अलग होते हैं। 'सुकुमार मार्ग' के उपयोगी इन चारों गुणों के लक्षण ३० से ३३ तक चार कारिकाओं में और 'विचित्र मार्ग' के उपयोगी इन्हीं चार गुणों के लक्षण ४४ से ४८ तक पाँच कारिकाओं में दिए गए हैं ।

इसके बाद ४६ से ५२ तक चार कारिकाओं में तीसरे मार्ग अर्थात् 'मध्यम मार्ग'का विवेचन किया गया है यह 'मध्यम मार्ग' जैसा कि उसके नाम से ही विदित होता है सुकुमार तथा विचित्र दोनों मार्गों के बीच का मार्ग है उसमें दोनों प्रकार के मार्गों के लक्षण तथा गुण पाए जाते हैं । परन्तु जैसे अनेक रंगों के मिश्रण से एक विचित्र चमत्कार उत्पन्न हो जाता है इसी प्रकार इन दोनों मार्गों के मिश्रण से इस मध्यम मार्ग में कुछ विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है । इसीलिए उसको अलग मार्ग माना है । और बहुत से विद्वान् उसको बहुत पसन्द करते हैं । कुन्तक ने कहा है—

अत्रारोचकिनः केचिच्छायावैचित्र्यरञ्जके ।
विदग्धनेपथ्यविधौ भुजङ्गा इव सादराः ॥१, ५२ ॥

मध्यम मार्ग के निरूपण के बाद ५३ से ५७ कारिका तक पाँच कारिकाओं में कुन्तक ने औचित्य तथा सौभाग्य नामक दो गुणों का और प्रतिपादन किया है। ये दोनों

गुण तीनों मार्गों में उपयुक्त होते हैं। इसलिए सामान्य गुण होने से उनका प्रतिपादन अन्त में किया गया है। इस प्रकार कुन्तक के तीनों मार्गों में प्रयुक्त होने वाले छः गुण हो जाते हैं। इनमें से माधुर्य, प्रसाद, ये दो नाम तो अन्य आचार्यों के अभिमत गुणों के नामों के आधार पर ही हैं। शेष लावण्य, अभिजात्य, औचित्य तथा सौभाग्य ये चारों गुण कुन्तक की अपनी कल्पना स्वरूप है। प्राचीन आचार्यों के ओज गुण का नाम भी कुन्तक ने ४५वीं कारिका में लिया है ।

इस उन्मेष की अन्तिम कारिका की रचना शार्दूलविक्रीड़ित छन्द में की गई है। यों तो वह प्रथमोन्मेष की अन्तिम कारिका है पर उसमें द्वितीय उन्मेष के विषय की अवतारणा की गई है।

द्वितीयोन्मेष—प्रथमोन्मेष में ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'षड्विध वक्रता' का सामान्य निरूपण किया गया था। इस द्वितीय उन्मेष में उसी 'षड्विध वक्रता' का विस्तारपूर्वक विशेष विवेचन प्रारम्भ किया गया है। प्रथमोन्मेष में कुल ५८ कारिकाएँ थीं, द्वितीयोन्मेष कुल ३५ कारिकाओं में पूर्ण हो गया है। इन षड्विध वक्रताओं में से इसमें केवल तीन वक्रताओं का ही निरूपण किया गया है। इसमें पहिली से सातवीं कारिका तक वक्रता के प्रथम भेद 'वर्णविन्यास वक्रता' का विवेचन किया गया है। इसी वर्णविन्यास वक्रता को अलङ्कार सम्प्रदाय में अनुप्रास तथा यमक रूप शब्दालङ्कार कहा जाता है।

आगे द्वितीय उन्मेष की ८ से लेकर २५वीं कारिका तक की १८ कारिकाओं में षड्विध वक्रता के दूसरे भेद 'पदपूर्वार्द्ध वक्रता' का निरूपण किया गया है। प्रथमोन्मेष में इस 'पदपूर्वार्द्ध वक्रता' का जो संक्षिप्त परिचय दिया था उसमें इसके (१) रूढ़ि वक्रता, (२) पर्याय वक्रता, (३) उपचार वक्रता, (४) विशेषण वक्रता, (५) संवृति वक्रता और (६) वृत्तिवैचित्र्य वक्रता ये छः अवान्तर भेद दिखलाए थे। और तिङन्त पद के पूर्वार्द्ध अर्थात् धातु की वक्रता का वहाँ उल्लेख नहीं किया था। यहाँ उस धातु वैचित्र्य वक्रता का भी समावेश कर लिया गया है और 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' के अन्तर्गत ही कृदादि प्रत्यय और मुम आदि आगम जो वस्तुतः पद का ही भाग बन जाता है उनकी वक्रता को तथा भाववक्रता, लिङ्गवक्रता एवं 'क्रिया वैचित्र्य वक्रता' को भी पदपूर्वार्द्ध वक्रता में सम्मिलित कर लिया है। इस प्रकार इस उन्मेष में पदपूर्वार्द्ध वक्रता के पूर्वोक्त पाँच भेदों के स्थान पर ग्यारह भेद वर्णित हुए हैं। उन अवान्तर भेदों का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—

१. रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता [कारिका ८, ९]।
२. पर्यायवैचित्र्य वक्रता [कारिका १०, ११, १२]।
३. उपचार वक्रता [कारिका १३, १४]।
४. विशेषण वक्रता [कारिका १५,]।
५. संवृति वक्रता [कारिका १६]।
६. कृदादि वक्रता [कारिका १७]।
७. आगम वक्रता [कारिका १८]।
८. वृत्ति वक्रता [कारिका १९] इसी का नाम समासवक्रता भी है।
९. भाव वक्रता [कारिका २०]।
१०. लिङ्गवैचित्र्य वक्रता [कारिका २१, २२, २३]।
११. क्रियावैचित्र्य वक्रता [कारिका २४, २५]

इस प्रकार प्रथम उन्मेष में जिस 'पदपूर्वार्द्ध वक्रता' के केवल छः भेद किए गए थे उसके यहाँ ६ के बजाय ११ भेद हो गए हैं।

इसके बाद २६ से ३४ तक नौ कारिकाओं में 'षड्विध वक्रता' के तृतीय भेद प्रत्यय वक्रता' अथवा 'पद उत्तरार्द्ध वक्रता' का निरूपण किया गया है। इस 'प्रत्यय वक्रता' के अवान्तर भेदों के नाम तथा उनके वर्णन का क्रम इस प्रकार है—

१. काल वक्रता [का० २६]
२. कारक वक्रता [कारिका २७ २८]।
३. संख्या वक्रता [का० २९]
४. पुरुष वक्रता [का० ३०]।
५. उपग्रह वक्रता [का० ३१।
६. प्रत्ययमाला वक्रता [का० ३२]

आत्मनेपद या प्रस्मैपद के प्रयोग के कारण जो वक्रता होती है उसको 'उपग्रह वक्रता' कहते हैं। 'सुप्तिङुपग्रह लिङ्गनराणां' इत्यादि वचन में आत्मनेपद परस्मैपद के लिए ही उपग्रह शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः उपग्रह शब्द से यहाँ उन्हीं का ग्रहण करना चाहिए।

प्रत्ययमाला प्रक्रिया के अनुसार 'जहाँ वन्देतराम्' आदि के समान प्रत्ययान्त से दूसरा प्रत्यय होता है उसे प्रत्यय माला वक्रता नाम दिया गया है।

इस प्रकार प्रत्यय वक्रता के ६ भेदों के निरूपण के बाद उपसर्ग तथा निपात की वक्रता का प्रतिपादन कारिका ३३ में किया गया है। यह उपसर्ग और निपात की

वक्रता वस्तुतः पदवक्रता के अन्तर्गत हैं। परन्तु उनके गौण होने से उनको यहाँ प्रत्यय वक्रता के बाद स्थान मिला है। इसके बाद ३४वीं कारिका में इन अनेक प्रकार की वक्रताओं के सङ्कर से होने वाली चित्रच्छाया मनोहर 'सङ्कर वक्रता' का उल्लेख किया है और अन्त में इस प्रकरण का उपसंहार कर द्वितीय उन्मेष को समाप्त कर दिया गया है।

तृतीयोन्मेष—पिछले अर्थात् द्वितीय उन्मेष में 'षड्विध वक्रता' में से प्रथम तीन भेदों का निरूपण किया गया था। उसके बाद चौथा भेद 'वाक्य वक्रता' है। इसलिए इस तृतीय उन्मेष में उस वाक्य वक्रता का विचार किया गया है कुन्तक का मत यह है कि इस 'वाक्य वक्रता' में सारे अलङ्कार वर्ग का अन्तर्भाव हो जाता है। 'यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति'। इसलिए 'वाक्य वक्रता' के विवेचन के रूप इस उन्मेष में अलङ्कारों के विषय में विचार किया गया है। इसमें यद्यपि एक ही वक्रता के एक ही भेद का विवेचन किया गया है परन्तु उसके अवान्तर विस्तार में सारे अलङ्कार वर्ग के आजाने से उसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। और उसका कलेवर भी और सब उन्मेषों की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है। यह उन्मेष अपने आकार और विस्तार की दृष्टि से ही नहीं अपितु अन्य दृष्टियों से भी इस ग्रन्थ का सबसे मुख्य और महत्त्वपूर्ण भाग है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग हम इसलिए कह रहे हैं कि इसमें कुन्तक ने अलङ्कारों के विवेचन के विषय में एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है। उसने अलङ्कारों के अधिक विस्तार को घटाकर अलङ्कारों की गणना को बहुत परिमित करने का प्रयत्न किया है। अलङ्कारों की विवेचना में कुन्तक ने अपने पूर्ववर्ती भामह के ग्रन्थ को आधार मानकर अलङ्कारों की विवेचना की है। परन्तु भामह के अधिकांश अलङ्कारों के विवेचन को अपर्याप्त तथा त्रुटित मान कर उनका अपने प्रकार से नए ढंग से विवेचन किया है और बहुत से अलङ्कारों का अन्य अलङ्कारों में अन्तर्भाव करके अलङ्कारों की संख्या बहुत कम कर दी है। इसलिए वस्तुतः यह तृतीय उन्मेष कुन्तक के इस ग्रन्थ का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है।

किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि कुन्तक के ग्रन्थ के इस सबसे महत्त्वपूर्ण भाग की अविकल प्रति हमको नहीं मिल सकी है। श्री 'सुशीलकुमार दे' महोदय ने जो वक्रोक्तिजीवितम् का संस्करण प्रकाशित किया था उसमें इस उन्मेष की केवल ११वीं कारिका तक के भाग को ही सम्पादित किया था। उसका भी पाठ बहुत अधिक खण्डित और त्रुटिपूर्ण था। इसलिए उसको भी असम्पादित भाग ही कहना चाहिए। ग्रन्थ के शेष भाग अर्थात् तृतीय उन्मेष के अवशिष्ट भाग तथा चतुर्थ उन्मेष का सम्पादन श्री 'दे महोदय' नहीं कर सके। उनको जो सामग्री प्राप्त हुई थी उसके खण्डित, अस्पष्ट

त्रुटिपूर्ण होने आदि के कारण उसका सुसम्पादित पाठ देना सम्भव नहीं था। परन्तु फिर भी उन्होंने बहुत प्रयत्न करके उसका पढ़ने का प्रयत्न किया। और जहाँ कहीं का जितना भाव समझ में आया उस सबको अपने ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट रूप में छाप दिया था। मूल ग्रन्थ की प्राप्ति के विषय में 'दे महोदय' के कार्य के बाद अब तक और कोई नया प्रकाश नहीं पड़ा है इसलिए मूल पाठ की स्थिति अब भी ज्यों की त्यों है। परन्तु हमने अपने इस संस्करण में इतना किया है कि 'दे महोदय' के उस परिशिष्ट भाग को भी उनके सम्पादित शेष भाग के अनुसार ही फिर से व्यवस्थित कर उसकी व्याख्या कर दी है। इस संस्करण में शेष भाग का मुद्रण आदि पहिले के सम्पादित भाग के अनुसार ही व्यवस्थित कर दिया गया है। कहीं कहीं एक जगह का पाठ दूसरी जगह पहुँच गया था उसको भी निकालकर यथा स्थान पहुँचा देने का प्रयत्न किया है। कहीं कहीं अशुद्ध पाठ का शोधन भी कर दिया है। परन्तु जो खण्डित पाठ था उसको पूरा करने का कोई साधन न होने से उसको पुष्पचिन्हों द्वारा प्रकट कर दिया है। इस सुधार के आधार पर इस तृतीय उन्मेष के विषय आदि का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

तृतीयोन्मेष कुल ४६ कारिकाओं में समाप्त हुआ है। इनमें से केवल ११वीं कारिका तक के भाग को श्री 'दे महोदय' ने सम्पादित किया है। द्वितीय उन्मेष तक (१) वर्णविन्यास वक्रता, (२) पदपूर्वार्द्ध वक्रता तथा (३) प्रत्यय वक्रता के रूप में केवल वाचक वक्रता का ही विचार किया गया है। वाच्य वक्रता अथवा अर्थ वक्रता का विवेचन नहीं हुआ है। इस तृतीयोन्मेष में मुख्य रूप से वाक्य वक्रता का विचार करेंगे। इसलिए वाक्य वक्रता का विचार प्रारम्भ करने के पूर्व प्रतिपाद्य वस्तु अथवा अर्थ की वक्रता का विचार प्रथम दो कारिकाओं में किया गया है। इनमें वस्तु के सुन्दर स्वभाव का वर्णन एक प्रकार की वस्तु वक्रता और कवि के सहज या आहार्य शिक्षा अभ्यास आदि से सम्पादित कौशल से वस्तु का वर्णन यह दूसरे प्रकार की वस्तु वक्रता कहलाती है। तीसरी तथा चौथी कारिका में यह बतलाया है कि जैसे चित्र की रचना में चित्र के उपकरणों से भिन्न चित्रकार का कौशल कुछ विशेष वक्रता उत्पन्न करता है इसी प्रकार काव्य में वर्णविन्यासवक्रता या पदवक्रता आदि से भिन्न वाक्य वक्रता का कुछ और ही प्रकार का विशेष चमत्कार होता है।

इसके बाद ६ से १० तक पांच कारिकाओं में वर्णनीय वस्तु का विभाग और उसकी काव्य में उपयोगिता का प्रतिपादन किया है। काव्य के वर्णनीय पदार्थ दो प्रकार के होते हैं एक चेतन और दूसरे जड़। चेतन पदार्थों के भी दो भेद हैं एक

प्रधान चेतन और दूसरे गौण चेतन । मनुष्य और उससे उत्कृष्ट श्रेणी के देवता आदि प्रधान चेतन हैं और मनुष्य से निम्न श्रेणी के पशु, पक्षी आदि प्राणी अप्रधान या गौण चेतन हैं । इनमें से प्रधान चेतन का वर्णन रति आदि के परिपोष से मनोहर रूप में वर्णित होना चाहिए । अर्थात् रसों का परिपाक मुख्य चेतन मनुष्य या देव आदि को ही आलम्बन विभाव बना कर दिखलाना चाहिए पशु पक्षी आदि में नहीं । पशु पक्षी आदि का वर्णन उनके स्वभाव वर्णन के साथ स्वभाविक रूप में रसों के सहायक रूप में ही करना चाहिए । इसी प्रकार जड़ पदार्थों का प्रयोग भी रसों के उद्दीपक सामग्री के रूप में ही करना चाहिए । यह जो चेतन अचेतन पदार्थों का स्वरूप है यही काव्य में वर्णन का विषय होता है । इसके वर्णन के मुख्यतः दो प्रयोजन हैं एक रसादि का परिपोष या अभिव्यक्ति और दूसरा धर्म अर्थ आदि पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि की शिक्षा । यह बात दसवीं कारिका तक कुन्तक ने प्रतिपादित की है ।

इसके बाद ११वीं कारिका से कुन्तक ने अलङ्कारों का विवेचन प्रारम्भ कर दिया है । सबसे पहिले उन्होंने 'रसवत् अलङ्कार' का विवेचन प्रारम्भ किया है । प्रसिद्ध उपमा आदि अलङ्कारों के साथ भामह ने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित नाम के चार अलङ्कारों का विवेचन किया है । जहां रस किसी अन्य पदार्थ का अङ्ग बन जाय वहाँ रसवत् अलङ्कार होता है । इस प्रकार के 'रसवत्' अलङ्कार के लक्षण भामह, उद्भट आदि ने किए हैं । कुन्तक ने उनका बहुत विस्तार के साथ खण्डन किया है । उनका कहना यह है कि इनमें जो कुछ पदार्थ का स्वरूप वर्णित होता है । वह तो 'अलङ्कार्य' रूप होता है उससे अतिरिक्त कुछ और उपलब्ध नहीं होता है । अतएव भामह आदि के अभिमत 'रसवत्' को अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है । ११वीं कारिका की वृत्ति में बहुत विस्तार के साथ इसका विवेचन किया गया है । परन्तु इस कारिका के वृत्तिभाग का पाठ बड़ा त्रुटिपूर्ण तथा खण्डित है । इसलिए उसकी सुसंगत व्याख्या करना कठिन है । इस ११वीं कारिका की वृत्ति के बाद श्री 'दे महोदय' का सम्पादित भाग समाप्त हो जाता है ।

इसके बाद तृतीय उन्मेष की ३५ कारिकाएँ और शेष रह जाती हैं परन्तु ग्रन्थ की मूल प्रतिलिपि के दोष के कारण उस भाग का सम्पादन सम्भव नहीं हो सका और दे महोदय जहाँ जितना पढ़ सके हैं उसको उसी प्रकार उन्होंने परिशिष्ट रूप में दे दिया है । इस भाग में एक विशेषता यह और है कि ग्रन्थ में मूल कारिकाओं का लेख नहीं मिलता है केवल खण्डित और त्रुटित वृत्ति भाग ही मिलता है । परन्तु वृत्ति भाग में जो प्रतीक देकर व्याख्या की गई है उन प्रतीकों को जोड़ कर कारिका का अनुमान के आधार पर निर्माण किया जा सकता है । इस भाग की जिन

३५ कारिकाओं का हम उल्लेख कर रहे हैं उनका निर्माण इसी प्रकार वृत्ति ग्रन्थ में आए हुए प्रतीकों आधार पर किया गया है। यह अनुमान होता है कि ग्रन्थकार ने पहिले मूल कारिकाओं का निर्माण किया था वह केवल मूल कारिकाओं का ग्रन्थ जिसका नाम 'काव्यालङ्कार' या अलङ्कार था अलग लिखा हुआ था उसके आधार पर वृत्ति ग्रन्थ की रचना ग्रन्थकार ने की। यहाँ आगे ग्रन्थकार ने व्याख्या प्रारम्भ करने के पूर्व मूल कारिका को उद्धृत करना छोड़ दिया है और केवल वृत्ति लिखनी प्रारम्भ कर दी है। सम्भवतः यह वृत्ति भाग एक प्रारम्भिक कार्य के रूप में लिखा होगा जिसे पुनः संशोधित रूप में लिखने का उनका विचार होगा। इसीलिए इसमें कारिकाएँ नहीं लिखी हैं। यही कारण मालूम होता है जिसके कारण ग्रन्थ में वृत्ति भाग भी बहुत जगह अपूर्ण रह गया है। और अन्त में ग्रन्थ समाप्ति का उपसंहारात्मक पुष्पिका आदि भी नहीं लिखी गई है। यह सब ग्रन्थकार ग्रन्थ की दूसरी शुद्ध परिमार्जित प्रतिलिपि में लिखना चाहते थे जिसे लिखने का या तो उनको अवसर नहीं मिला अथवा उनकी लिखी हुई प्रति अब तक नहीं मिल सकी है। इसी लिए ग्रन्थ का बीच बीच का पाठ त्रुटि पूर्ण और अन्त का भाग असमाप्त सा उपलब्ध हो रहा है।

हाँ तो इस असम्पादित भाग का प्रारम्भ 'रसवत्' के बाद के 'प्रेयोलङ्कार' के विवेचन से होता है। भामह ने तो इन अलङ्कारों के लक्षण न करके केवल उदाहरण मात्र दे दिए हैं। इस पर कुन्तक ने 'उदाहरणमात्रमेव लक्षणं मन्यमानः' कह कर भामह की चुटकी ली है। फिर दण्डी के 'प्रेयोलङ्कार' के 'प्रेयः प्रियतराख्यानं' इस लक्षण को लेकर उसका भी 'रसवत्' अलङ्कार के खण्डन में दी हुई युक्तियों से ही खण्डन किया है। अर्थात् जिस 'प्रियतराख्यान' को आप अलङ्कार कहना चाहते हैं उससे भिन्न वहाँ 'अलङ्कार्य' रूप में तो कुछ उपलब्ध ही नहीं होता है। इसलिए उसको 'अलङ्कार' नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'ऊर्जस्वि' तथा 'समाहित' का भी खण्डन किया है। यह सब खण्डन १२-१३ तक तीन कारिकाओं में किया गया है। परन्तु १३वीं कारिका पूर्ण उपलब्ध नहीं हो सकी है।

इसके बाद १४-१५ कारिका में कुन्तक ने अपने अभिमत 'रसवदलङ्कार' के लक्षण का निरूपण किया है। उनका कहना है कि जहाँ उपमादि अलङ्कार के साथ रस का विशेष रूप से समावेश हो जाता है वहाँ उपमा आदि 'अलङ्कारों' को 'रसवदुपमा आदि नाम से कहा जाना चाहिए। भामह आदि समान कोई अलग 'रसवत्' अलङ्कार नहीं है। उपमा आदि अलङ्कारों के ही रसवदुपमा और साधारण उपमा आदि रूप से दो भेद हो जा हैं। यही स्थिति प्रेय, ऊर्जस्वि तथा समाहित के विषय में भी समझनी चाहिए। यह कुन्तक का अपना मत है।

इसके बाद कुन्तक ने दीपकालङ्कार का विवेचन किया है। उसमें भी भामह आदि के अभिमत लक्षण का खण्डन कर १७वीं कारिका में दीपक का अपना लक्षण किया है। उसमें विशेषता यह है कि भामह आदि के अनुसार क्रिया पद ही दीपक पद हो सकता है परन्तु कुन्तक क्रिया के अतिरिक्त वस्तु को भी दीपक मानते हैं। अर्थात् वस्तु वाचक पद भी दीपक पद के रूप में प्रयुक्त हो सकता है। १८वीं कारिका में दीपक के केवल दीपक तथा पंक्तिसंस्थ दीपक ये दो भेद किए हैं। पंक्तिसंस्थ दीपक को अन्य लोगों ने माला दीपक नाम से लिखा है। १९वीं कारिका में वस्तु दीपक का निरूपण किया है। इसके बाद २०-२१ कारिका में रूपक तथा २२-२३ कारिका में अप्रस्तुत प्रशंसा का निरूपण किया है और २४वीं कारिका में पर्यायोक्त अलङ्कार का विवेचन किया है। २५ से २८ तक चार कारिकाओं में उत्प्रेक्षालङ्कार का और २९वीं कारिका में अतिशयोक्ति विषय में विवेचन किया गया है।

इसके बाद साम्यमूलक अलङ्कारों का विवेचन किया है। ३०-३१ कारिकाओं में उपमा-विवेचन करने के बाद उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, उसी के साथ अनन्वय [का० ३२] परिवृत्ति [का० ३३] और निदर्शन [का० ३४] इन पाँचों अलङ्कारों को सादृश्यमूलक अलङ्कार मान कर उपमा के भीतर ही इन सबका अन्तर्भाव दिखलाया है। यह विवेचन ३४वीं कारिका तक किया है। उसी के अन्तर्गत श्लेषालङ्कार का विवेचन है। श्लेष के बाद ३५-३६ कारिकाओं में व्यतिरेक का विवेचन किया है।

उसके बाद ३७-३८ कारिकाओं में समासोक्ति का वर्णन है। कुन्तक का विचार यह है कि समासोक्ति को श्लेष के अन्तर्गत ही मानना चाहिए अलग अलङ्कार मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि समासोक्ति में श्लेष अवश्य रहता है। श्लेष के बिना समासोक्ति नहीं हो सकती है। अतः समासोक्ति श्लेष का ही भेद है अलग अलङ्कार नहीं। उसके बाद सहोक्ति का विवेचन है। सहोक्ति का जो लक्षण और उदाहरण भामह के मतानुसार माना गया है उसके विषय में कुन्तक का यह कहना है कि यदि वही सहोक्ति का लक्षण तथा उदाहरण है तो सहोक्ति को अलग अलङ्कार मानने की आवश्यकता नहीं। वह सादृश्यमूलक उपमालङ्कार में अन्तर्भूत हो सकती है। इस प्रकार भामह के अभिमत सहोक्ति के लक्षण का खण्डन करके उन्होंने अपने ढंग से सहोक्ति का अलग विवेचन किया है। यह ३७वीं कारिका में है। यह लक्षण उनका समासोक्ति के लक्षण से मिलता-जुलता है। इसलिए उन्होंने सहोक्ति का दूसरा नाम समासोक्ति भी माना है। इसका प्रतिपादन कारिका ३८ में किया है। इसके बाद कारिका ३९ में दृष्टान्त तथा ४० में अर्थान्तरन्यास का निरूपण किया है। उसके बाद ४१ में आक्षेप, ४२ में विभावना, ४३ में ससन्देह, ४४ में अपन्हुति का निरूपण किया है। और ४५वीं कारिका में अन्य सब

अलङ्कारों का इन्हीं अलङ्कारों में अन्तर्भाव दिखला दिया है। इस प्रकार कुन्तक ने अनेक अलङ्कारों की स्वतन्त्र सत्ता का खण्डन कर अपने अभिमत अन्य अलङ्कारों में ही उनके सब का अन्तर्भाव दिखला दिया है। अन्तिम ४६वीं कारिका इस उन्मेष की उपसंहारात्मक कारिका है।

चतुर्थ उन्मेष—वक्रोक्तिजीवित का चतुर्थोन्मेष भी ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत के समान सबसे छोटा भाग है। इसमें कुल २६ कारिकाएँ हैं। सौभाग्य से इस उन्मेष की मूल प्रति की स्थिति तीसरे उन्मेष की प्रति की अपेक्षा अच्छी है। इस कारण इसकी सभी कारिकाएँ प्रायः, वृत्ति के प्रतीकों के आधार पर ठीक बन गई हैं। कुन्तक की षड्विध वक्रताओं में से (१) वर्णविन्यास वक्रता, (२) पदपूर्वार्द्ध वक्रता और (३) प्रत्यय वक्रता इन तीन का विस्तृत विवेचन द्वितीय उन्मेष में और वाक्य वक्रता का विस्तृत विवेचन तृतीयोन्मेष में हो चुका है। अब वक्रता के मुख्य भेदों में ६ भेदों में से 'प्रकरण वक्रता' तथा 'प्रबन्ध वक्रता' ये दो भेद शेष रह जाते हैं। इन दोनों भेदों का विवेचन कुन्तक ने इस चतुर्थ उन्मेष में किया है। इस उन्मेष की २६ कारिकाओं में से प्रारम्भिक १५ कारिकाओं में 'प्रकरण वक्रता' तथा १० कारिकाओं में प्रबन्ध वक्रता का विवेचन किया गया है। इनमें से 'प्रकरण वक्रता' के ६ और 'प्रबन्ध वक्रता' के छः अवान्तर भेद दिखलाए हैं। प्रकरण वक्रता के आठ भेद मुख्य रूप से इस प्रकार कहे गए हैं।

१. पात्रों की प्रवृत्ति वक्रता [कारिका १, २]।
२. उत्पाद्यकथा वक्रता [कारिका ३, ४]।
३. उपकार्योपकारकभाव वक्रता [कारिका ५, ६]।
४. आवृत्ति वक्रता [कारिका ७, ८]।
५. प्रासङ्गिक प्रकरण वक्रता [कारिका ९]।
६. प्रकरण रस वक्रता [कारिका १०]।
७. अवान्तरवस्तु वक्रता [कारिका ११]।
८. नाटकान्तर्गत नाटक वक्रता [कारिका १२, १३]।
९. मुखसन्ध्यादि विनिवेश वक्रता [कारिका १४, १५]।

इस प्रकार 'प्रकरण वक्रता' के नौ अवान्तर भेदों के निरूपण के बाद कुन्तक ने अपने ग्रन्थ के अन्तिम प्रतिपाद्य विषय 'प्रबन्ध वक्रता' का निरूपण करते हुए उसके छः अवान्तर भेदों का निरूपण किया है। इनका संक्षेप इस प्रकार किया जा सकता है—

१. प्रबन्धरस परिवर्तन वक्रता [कारिका १६, १७]।
२. समापन वक्रता [कारिका १८, १९]।
३. कथाविच्छेद वक्रता [कारिका २०, २१]।
४. आनुषङ्गिक फल वक्रता [कारिका २२, २३]।
५. नामकरण वक्रता [कारिका २४]।
६. कथासाम्य वक्रता [कारिका २५]।

अन्तिम २६वीं कारिका उपसंहारात्मक है जिसमें यह कहा गया है कि नए नए उपायों से नीति की शिक्षा देने वाले महाकवियों की सभी रचनाओं में किसी न किसी प्रकार की वक्रता अवश्य रहती है।

यह संक्षेप में कुन्तक के इस महत्त्वपूर्ण 'वक्रोक्तिजीवितम्' ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय की रूपरेखा है। इस विश्लेषण को पढ़ जाने से पाठकों को ग्रन्थ के समझने में और अधिक सरलता होगी, ऐसी आशा है।

आभार—

इस ग्रन्थ की रचना एक विशेष योजना के अनुसार हुई है। इस योजना के जन्मदाता श्री डा० नगेन्द्र जी हैं। उन्हीं की योजना के अनुसार १९५२ में हिन्दी ध्वन्यालोक प्रकाशित हुआ। जिस पर उत्तरप्रदेशीय शासन तथा विन्ध्यप्रदेशीय शासन ने पुरस्कार देकर सम्मानित किया। १९५३ में 'हिन्दी तर्कभाषा' का प्रकाशन हुआ। उसको भी उत्तरप्रदेशीय शासन तथा विन्ध्यप्रदेशीय शासन ने पुरस्कार देकर सम्मानित किया। सन् १९५४ में 'हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र प्रकाशित' हुआ। इस पर भी पुरस्कार देकर उत्तरप्रदेशीय शासन ने उसको समादृत किया है। इसी योजना के अन्तर्गत अस्त्र यह 'हिन्दीवक्रोक्तिजीवित' आपके हाथ में आरहा है। अगले वर्ष सम्भवतः 'हिन्दी काव्य प्रकाश' आपके पास पहुँचेगा। यह सब कार्य श्री डॉ० नगेन्द्र जी की योजना के अनुसार चल रहा है अतः हमें उनका आभारी होना चाहिए।

'हिन्दी ध्वन्यालोक' तथा हिन्दी तर्कभाषा का प्रकाशन भिन्न-भिन्न स्थानों से हुआ था। परन्तु गतवर्ष से इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए दिल्ली के प्रमुख प्रकाशक 'श्री आत्माराम एण्ड संस' का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो गया है। दिल्ली विश्वविद्यालय की हिन्दी अनुसन्धान परिषद् की ओर से सम्पादित इन सभी ग्रन्थों के प्रकाशन का भार आत्माराम एण्ड संस के अध्यक्ष 'श्री रामलाल पुरी' महोदय ने अपने ऊपर ले लिया है। उन्हीं के प्रयत्न से यह ग्रन्थ इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित हो रहा है। इसलिए हमें उनका आभारी होना चाहिए।

क्षमा याचना—

पाण्डुलिपि के त्रुटित होने के कारण इस ग्रन्थ का सम्पादन बड़ा कठिन कार्य था। कल्पनातीत परिश्रम करके उसको तैयार किया गया है। उस श्रमाधिक्य के कारण तथा अन्त में शरीर अत्यन्त अस्वस्थ हो जाने से अन्तिम भाग के प्रूफों का ठीक संशोधन नहीं हो सका। पर्याप्त प्रयत्न करने पर जहाँ-तहाँ त्रुटियाँ रह गई हैं। इनके लिए हम इस समय क्षमा चाहते हैं। अवसर मिला तो द्वितीय संस्करण में उनका परिमार्जन करने का यत्न किया जायगा।

परिशिष्ट सूची आदि के तैयार करने का कार्य चिरञ्जीव स्नातक नित्यानन्द तथा उपस्नातक ओम्प्रकाश ने किया है, अतः वे साधुवाद के पात्र हैं—

नववर्ष
चैत्र शु० १, सं० २०१२
२५ मार्च, १९५५

विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि
आचार्य
गुरुकुल विश्वविद्यालय, बृन्दावन

विषय-सूची

प्रथम उन्मेष [१-१६८]

तृतीय उन्मेष [पृ० २९३-४८२]

ॐ

श्रीमद्राजानककुन्तकविरचितं

वक्रोक्तिजीवितम्

प्रथमोन्मेषः

अथ श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिता
'वक्रोक्तिदीपिका' हिन्दीव्याख्या ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥[1]

यस्य प्रसादमासाद्य वाचि चार्थे च वक्रता ।
स्पन्दते तमहं वन्दे नित्यानन्दं परेश्वरम् ॥
साहित्यदर्शनपरान् प्रथितान् प्रबन्धान्
व्याख्यातुमस्ति मम चेतसि काऽपि कांक्षा ॥
तामेव नित्यमनुसृत्य प्रयत्नशीलो
वक्रोक्तिजीवितमिदं विशदीकरोमि ॥

श्रीमद्राजानक कुन्तकविरचित 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक इस ग्रन्थ के दो भाग हैं। एक 'कारिका भाग' और दूसरा 'वृत्ति भाग' । ध्वन्यालोक आदि के समान इस ग्रन्थ में भी कारिका भाग तथा वृत्ति भाग दोनों के रचयिता स्वयं कुन्तक ही हैं। उन्होंने अपनी लिखी मूल कारिकाएँ लिखकर उन पर स्वयं ही वृत्ति भी लिखी है। 'भामह', 'वामन' आदि अलङ्कारशास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों को प्रायः 'काव्यालङ्कार' नाम से प्रसिद्ध किया है। राजानक कुन्तक ने भी उसी शैली का अवलम्बन कर अपने मूल कारिका भाग का नाम 'काव्यालङ्कार' रखा है और उसके वृत्ति भाग का नाम 'वक्रोक्तिजीवितम्' रखा है। यह अनुमान इस आधार पर किया जाता है कि इस ग्रन्थ की प्रथम कारिका की वृत्ति में उन्होंने स्वयं लिखा है—

'अस्य ग्रन्थस्यालङ्कार इत्यभिधानम्, उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम्, उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनम्, इति ।

---

१. ऋग्वेद १०, १२५, ५ ।

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनम् ।
शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नुमः ॥१॥

परन्तु इस ग्रन्थ का 'अलङ्कार' अथवा 'काव्यालङ्कार' नाम है यह बात वृत्ति-ग्रन्थ की इन पंक्तियों तक ही सीमित रही । साहित्यशास्त्र में कुन्तक का ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नाम से नहीं अपितु केवल 'वक्रोक्तिजीवितम्' नाम से ही प्रसिद्ध है ।

इस वृत्ति भाग का मङ्गलाचरण करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

[केवल] शक्तिमात्र [प्रकृतिमात्र] उपकरण से [वाले] तीनों लोकों के वैचित्र्य रूप चित्रकर्म की रचना करने वाले शिव को हम [ग्रन्थकार तथा उनके पाठक, व्याख्याता आदि] सब नमस्कार करते हैं ॥१॥

इस मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक में ग्रन्थकार ने अपने इष्टदेव शिव को जगत् त्रितय के वैचित्र्य रूप चित्रकर्म के निर्माता के रूप में स्मरण किया है । ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में उक्ति-वैचित्र्य रूप 'वक्रता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करेंगे । इसलिए 'विदग्ध-भङ्गीभणिति' रूप 'वक्रोक्ति' के निरूपण करनेवाले ग्रन्थ के आरम्भ में 'जगत्-त्रितय-वैचित्र्य' रूप 'चित्रकर्म' के निर्माता का स्मरण सर्वथा प्रासङ्गिक तथा विषयानुरूप ही है । इसी दृष्टि से ग्रन्थकार ने इस रूप में यहाँ अपने इष्टदेव का स्मरण किया है ।

लोक में तथा काव्य में दोनों ही जगह वस्तु-सौन्दर्य के विषय में प्रायः दो प्रकार के दृष्टिकोण पाए जाते हैं । कुछ लोगों को वस्तु का स्वाभाविक सौन्दर्य प्रिय होता है और किन्हीं को कृत्रिम सौन्दर्य अधिक रुचिकर प्रतीत होता है । कोई लोग उद्यान में कृत्रिम रूप से सजाकर लगाई हुई लताओं के सौन्दर्य के प्रेमी हैं तो किन्हीं को वनों में स्वाभाविक रूप से पुष्पित और पल्लवित लताओं का सौन्दर्य अधिक आकर्षक प्रतीत होता है । यही बात काव्य के विषय में भी लागू होती है । काव्य में कुछ लोग बिलकुल स्वाभाविक ढंग से कही गई बात को अधिक चमत्कारजनक मानते हैं और कुछ लोग कृत्रिम रूप से अलंकृत भाषा में वर्णन को अधिक हृदयग्राही मानते हैं । इसीलिए साहित्यशास्त्र में 'स्वभावोक्तिवादी' और 'वक्रोक्तिवादी' दो प्रकार के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है । दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' नामक ग्रन्थ में इन दोनों प्रकारों का निरूपण करते हुए लिखा है—

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ॥[1]

कुन्तक, इनमें से 'वक्रोक्ति' सिद्धान्त के मानने वाले हैं । वैसे कुन्तक के पूर्व

१. काव्यादर्श, २, ३६३ ।

यथातत्त्वं विवेच्यन्ते भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः
यदि तन्नाद्भुतं नाम दैवरक्ता हि किंशुकाः ॥२॥
स्वमनीषिकयैवाथ तत्त्वं तेषां यथारुचि।
स्थाप्यते प्रौढ़िमात्रं तत्परमार्थो न तादृशः ॥३॥

'भामह' आदि आचार्यों ने भी 'वक्रोक्ति' को काव्य का जीवनाधायक मूल तत्त्व माना है। 'भामह' ने लिखा है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥[1]

परन्तु 'वक्रोक्ति' का जैसा वर्णन कुन्तक ने किया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता है। इसीलिए कुन्तक इस 'वक्रोक्ति' सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। परन्तु कुन्तक के इस 'वक्रोक्ति' सिद्धान्त का विरोधी 'स्वभावोक्ति' सिद्धान्त है जो इस वैचित्र्य में विश्वास नहीं रखता है। उसका कहना है कि वस्तु का यदि यथार्थ रूप से वर्णन किया जाय तो उसमें वैचित्र्य का कोई स्थान नहीं है। उसमें जो कुछ सौन्दर्य है वह सब स्वाभाविक है। उसमें जो विचित्रता के वर्णन करने का प्रयत्न किया जाता है वह पदार्थ का वास्तविक रूप नहीं अपितु स्वबुद्धि से कल्पित होने से कृत्रिम है। इस स्वभावोक्ति पक्ष के आशय का निरूपण कुन्तक ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही करना आवश्यक समझा है। और वृत्ति ग्रन्थ के मङ्गल श्लोक के बाद दूसरे ही श्लोक में उन्होंने इस सिद्धान्त की चर्चा इस प्रकार की है—

[पूर्वपक्ष स्वभाववादी सिद्धान्त] यदि संसार के [त्रैलोक्यवर्तिनः] पदार्थों को वास्तविक रूप से [यथातत्त्वं] निरूपण किया जाय तो [आपके पूर्वोक्त मङ्गल श्लोक में कहा हुआ वैचित्र्य या] अद्भुत [नामक] कोई पदार्थ नहीं है। [किंशुक] ढाक के फूल स्वभावतः लाल [दैव रक्ताः] होते हैं। [उसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थों का सौन्दर्य] स्वाभाविक ही होता है ॥२॥

और [वक्रोक्ति के प्रेमी] यदि अपनी बुद्धि से कल्पना करके ही अपनी रुचि के अनुसार उन [पदार्थों] के स्वरूप [तत्त्व] की स्थापना करते हैं तो वह [उनका] 'प्रौढ़िवाद' मात्र [जबरदस्ती] है। वास्तविक अर्थ वैसा नहीं है। [इसलिए वैचित्र्यवादी अथवा वक्रोक्तिवादी दृष्टिकोण यथार्थ नहीं है। स्वभाववादी दृष्टिकोण ही यथार्थ है।] ॥३॥

कुन्तक 'वक्रोक्ति' सिद्धान्त का प्रतिपादन करने जा रहे हैं। पर उनके विरोधी 'स्वभावोक्तिवादी' लोग उस वैचित्र्य सिद्धान्त अथवा वक्रोक्तिवाद को स्वमनः

---

१. भामह काव्यालङ्कार २, ८५।

इत्यसत्तर्कसन्दर्भे स्वतन्त्रेऽप्यकृतादरः ।
साहित्यार्थसुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम् ॥४॥
येन द्वितयमप्येतत् तत्त्वनिर्मितिलक्षणम् ।
तद्विदामद्भुतामोदचमत्कारं विधास्यति ॥५॥

ग्रन्थारम्भेऽभिमतदेवतानमस्कारकरणं समाचारः । तस्मात्तदेव तावदुपक्रमते—

वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम् ।
देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्वलाम् ॥१॥

कल्पित और अयथार्थ सिद्धान्त कहते हैं। इसलिए कुन्तक को सबसे पहले अपने सिद्धान्त की उपयोगिता प्रदर्शित करने की और भी आवश्यकता हो जाती है। इसीलिए ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के मङ्गलाचरण के प्रसङ्ग में ही इस विरोधी पक्ष का दो श्लोकों में अनुवाद करके पूर्वपक्ष दिखलाया है। अगले दो श्लोकों में इस पूर्वपक्ष का निराकरण और अपने वक्रोक्तिपक्ष की उपादेयता का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

[स्वभावोक्तिवादियों के] इस प्रकार के स्वतन्त्र [अहेतुक, अप्रामाणिक अथवा स्वतन्त्र, अपने शास्त्र, साहित्यशास्त्र, में स्वभावोक्तिवाद की ओर से प्रस्तुत किए जाने वाले] अनुचित तर्क सन्दर्भ की पर्वाह न करके मैं [अपने सिद्धान्त के अनुसार] साहित्यार्थ रूप सुधा के सागर [साहित्यशास्त्र] के सार [भूत वक्रोक्ति सिद्धान्त] को प्रकाशित [करने के लिए इस ग्रन्थ का निर्माण] करता हूँ ॥४॥

जिस [ग्रन्थ] से [इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय अर्थात् वक्रोक्ति रूप अभिनव] तत्त्व की स्थापना [निर्मिति] और [उसका प्रतिपादक यह लक्षण अर्थात्] ग्रन्थ दोनों ही उसको समझने वाले [सहृदय विद्वानों] को अद्भुत आनन्द [अथवा अद्भुत अर्थात् वैचित्र्य या वक्रता का आमोद अर्थात् सौन्दर्य] और चमत्कार प्रदान करेंगे ॥५॥

इस प्रकार वृत्तिकार कुन्तक अपने वृत्ति ग्रन्थ का मङ्गलाचरण करके अपने 'काव्यालङ्कार' नामक मूल कारिका ग्रन्थ की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। और इस काव्यालङ्कार ग्रन्थ के मङ्गलाचरण श्लोक की अवतारणा करते हैं—

ग्रन्थ के आरम्भ में अभिमत देवता को नमस्कार करने की परिपाटी [समाचारः] है इसलिए सबसे पहले उसी [देवता नमस्कार रूप मङ्गलाचरण] को प्रारम्भ करते हैं।

महाकवियों के मुखचन्द्र रूप नाट्य भवन में नर्तन करने वाली और सुभाषितों के विलास से सुन्दर अभिनय से [उज्ज्वल] मनोहारिणी [सरस्वती] देवी को मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

इति। देवीं वन्दे, देवतां स्तौमि। कामित्याह, कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम्। कवीन्द्राः कविप्रवरास्तेषां वक्त्रेन्दुर्मुखचन्द्रः स एव लास्यमन्दिरं नाट्यवेश्म, तत्र नर्तकीं लासिकाम्। किं विशिष्टाम्, सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम्। सूक्तिपरिस्पन्दाः सुभाषितविलसितानि तान्येव सुन्दरा अभिनयाः, सुकुमाराः सात्विकादयः, तैरुज्वलां भ्राजमानाम्। या किल सत्कविवक्त्रे लास्यवेश्मनीव नर्तकी सविलासमभिनयविशिष्टा नृत्यन्ती विराजते, तां वन्दे नौमि, इति वाक्यार्थः। तदिदमत्र तात्पर्यं, यत् किल प्रस्तुतं वस्तु किमपि काव्यालङ्कारकरणं, तदधिदैवतभूतां एवंविधरामणीयकहृदयहारिणीं वाग्रूपां सरस्वतीं स्तौमीति ॥१॥

एवं नमस्कृत्येदानीं वक्तव्यवस्तुविषयभूतान्यभिधानाभिधेयप्रयोजनान्यासूत्रयति-

वाचो विषयनैयत्यमुत्पादयितुमुच्यते।
आदिवाक्येऽभिधानादि निर्मितेर्मानसूत्रवत् ॥६॥

यह [इष्टदेवता नमस्कार रूप मङ्गलाचरण किया है। वैसे १ आशीर्वाद, २ नमस्कार और वस्तु निर्देश रूप तीन प्रकार की मङ्गलाचरण की शैलियाँ पाई जाती हैं।] 'देवीं वन्दे' का अर्थ देवता की स्तुति करता हूँ, यह है। किस [देवी] की [वन्दना करते हैं] यह बतलाते हैं। कविराजों के मुखचन्द्र रूप नाट्य मन्दिर की नर्तकी की। कवीन्द्र अर्थात् कविप्रवर [कविराज, महाकवि] उनका वक्त्रेन्दु अर्थात् मुखचन्द्र। वही लास्यमन्दिर अर्थात् नाट्य भवन, उसमें नाचनेवाली अर्थात् लास्य करनेवाली। कैसी [किंविशिष्टां देवीं] को [वन्दना करता हूँ, यह कहते हैं] सूक्तिपरिस्पन्द रूप सुन्दर अभिनयों से उज्ज्वला को। सूक्तिपरिस्पन्द अर्थात् सुभाषितों का विलास, वही है सुन्दर अभिनय, अर्थात् सुकुमार सात्विकादि भाव, उनसे उज्ज्वला अर्थात् प्रकाशमान। जो नाट्य भवन में हावभाव-युक्त, अभिनयसहित, नर्तकी के समान सत्कवियों के मुख में विराजती है उस [सरस्वती देवी] को नमस्कार करता हूँ। यह [इस मङ्गल] वाक्य का अर्थ है। इसका तात्पर्य यह है कि जो प्रस्तुत वस्तु [वक्रोक्ति] वाक्य शोभा का आधायक अपूर्व [किमपि] साधन है उसकी अधिष्ठात्री देवता और इस प्रकार के [अपूर्व] सौन्दर्य से हृदय को हरण करनेवाली वाणी रूप सरस्वती [देवी] की स्तुति करता हूँ ॥१॥

इस प्रकार [इष्टदेवता को] नमस्कार करके अब [ग्रन्थ के] प्रतिपाद्य वस्तु के विषयभूत नाम, [प्रतिपाद्य] विषय और प्रयोजन [आदि रूप अनुबन्ध चतुष्टय] को [अगली दूसरी कारिका में वर्णन करते हुए] लिखते हैं—

वाणी के विषय को निश्चित करने [विषय से सम्बद्ध बात ही ग्रन्थ में

इत्यन्तरश्लोकः ॥१॥

लिखी जाय; इस दृष्टि से विषय का निर्धारण करने] के लिए [मङ्गलाचरण श्लोक के बाद] आदि श्लोक [अर्थात् द्वितीय कारिका] में, रचना [भवन आदि के निर्माण] के मानसूत्र [भवन निर्माण के आरम्भ में जैसे डोरी डालकर जमीन पर लकीर खींच दी जाती है ताकि नींव खोदने वाले उनके अनुसार ही नींव खोदें। उस] के समान [अपने विषय को नियत करने के लिए हम अपने ग्रन्थ के आरम्भ में] नाम आदि [विषय प्रयोजन, अधिकारी तथा सम्बन्ध रूप अनुबन्ध चतुष्टय] को कहते हैं ॥६॥

यह बीच का श्लोक है ॥१॥

कुन्तक ने इस ग्रन्थ की रचना करते समय सबसे पहले मूल ग्रन्थ को कारिका रूप में लिखा था और उसका नाम 'काव्यालङ्कार' रखा था। जैसे कि, इसी कारिका में ग्रन्थ के अभिधान आदि को कहने की प्रतिज्ञा करके 'काव्यस्यायमलङ्कारः विधीयते' लिखकर उसके नाम की सूचना दी है। और उसकी वृत्ति में भी 'ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्' लिख अपने ग्रन्थ का 'काव्यालङ्कार' अथवा 'अलङ्कार' यह नाम सूचित किया है। कुन्तक के मूल ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' अथवा 'अलङ्कार' है; यह बात यद्यपि कुन्तक ने स्वयं अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिख दी है। परन्तु उसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। सभी लोग कुन्तक के ग्रन्थ को 'वक्रोक्तिजीवितम्' नाम से कहते हैं। यह 'वक्रोक्तिजीवितम्' वस्तुतः 'काव्यालङ्कार' की व्याख्या या वृत्ति ग्रन्थ है। परन्तु मूल 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ अलग नहीं मिलता है। 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक वृत्ति ग्रन्थ के साथ ही मिलता है इसलिए 'काव्यालङ्कार' नाम प्रचलित नहीं हुआ। वक्रोक्तिजीवितम् नाम ही प्रसिद्ध हुआ।

कुन्तक ने पहले मूल कारिकाएँ लिखी थीं। उसके बाद जब उनकी व्याख्या लिखनी प्रारम्भ की तो स्थल-स्थल पर उन्होंने संग्रह रूप कुछ अन्य श्लोकों की रचना भी की थी; ऐसे श्लोकों को उन्होंने अपने वृत्ति ग्रन्थ में 'अन्तरश्लोक' कहकर उद्धृत किया है। जैसे इसी 'वाचो विषयनैयत्यमुत्पादयितुमुच्यते' इत्यादि श्लोक को 'अन्तरश्लोक' बीच का श्लोक कहा है। अर्थात् वह कारिका के समान महत्त्व का नहीं है परन्तु वृत्ति ग्रन्थ से अधिक महत्त्व का है। इसलिए 'अन्तरश्लोक' है। कहीं इस प्रकार के दो श्लोक और दो से अधिक श्लोक भी लिखे हैं। उनको 'इत्यन्तरश्लोकौ' या 'इत्यन्तरश्लोकाः' शब्दों से यथास्थान उद्धृत किया है। 'काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति' के निर्माता वामन ने भी इस प्रकार के श्लोक स्थल-स्थल पर लिखे हैं। और ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने भी इस शैली का अवलम्बन किया है। कुन्तक ने इस प्रकार के श्लोकों को 'अन्तरश्लोक' नाम दिया है और आनन्दवर्धनाचार्य ने उनको 'संग्रह' श्लोक तथा वामन ने केवल 'श्लोकः' नाम से उद्धृत किया है।

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
काव्यास्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥२॥

अलङ्कारो विधीयते अलङ्करणं क्रियते। कस्य काव्यस्य। कवेः कर्म काव्यं, तस्य। ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्कारास्तत् किमर्थमित्याह, अपूर्वः तद्व्यतिरिक्तार्थाभिधायी।

तदपूर्वत्वं तदुत्कृष्टस्य तन्निकृष्टस्य च द्वयोरपि सम्भवतीत्याह, कोऽपि, अलौकिकः सातिशयः। सोऽपि किमर्थमित्याह लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये, असामान्याह्लादविधायिविचित्रभावसम्पत्तये। यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः।

लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिए यह कुछ [सर्वोत्कृष्ट] अपूर्व काव्य के अलङ्कार [काव्यालङ्कार] की रचना की जा रही है ॥२॥

इसके पहले भी भामह, वामन और रुद्रट आदि अनेक आचार्यों ने काव्यालङ्कार नाम से अपने ग्रन्थों की रचना की है। और उसमें काव्य के अलङ्कारों का निरूपण किया है। परन्तु हम अपने इस 'काव्यालङ्कार' में वक्रता रूप जिस काव्य के अलङ्कार का निरूपण करने जा रहे हैं, उसका निरूपण आज तक किसी ने नहीं किया है, इसलिए वह अपूर्व है। काव्य का अतिशय सौन्दर्याधायक होने से वह 'वक्रता' कुछ लोकोत्तर अपूर्व तत्त्व है। इस बात को ग्रन्थकार ने 'कोऽप्यपूर्वः' शब्दों से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

'अलङ्कारो विधीयते' का अर्थ अलङ्कार की रचना की जाती है। किसके, काव्य के। कवि का कर्म [रचना] काव्य है उस [काव्य] के [अलङ्कार की रचना की जाती है।] [प्रश्न—भामह, वामन, रुद्रट आदि प्रणीत] बहुत से प्राचीन उस [काव्य] के अलङ्कार ['काव्यालङ्कार'] विद्यमान हैं फिर [आप यह प्रयत्न] किसलिए [कर रहे हैं इस प्रश्न के उत्तर रूप] यह कहते हैं। अपूर्वः, उन [काव्यालङ्कार ग्रन्थों] से भिन्न [वक्रता रूप नवीन तत्त्व] अर्थ का प्रतिपादक [होने से हमारा यह प्रयत्न केवल पिष्टपेषणमात्र नहीं है अपितु वस्तुतः अपूर्व] है।

[प्रश्न] वह अपूर्वत्व तो उन [प्राचीन काव्यालङ्कारों] से उत्कृष्ट और निकृष्ट दोनों का ही हो सकता है। [तो आपका यह नया प्रयास प्राचीन आचार्यों से उत्कृष्ट तो हो ही नहीं सकता है, फिर इस रद्दी निकृष्ट नये ग्रन्थ को लिखने से क्या लाभ ?] इस [शङ्का के समाधान] के लिए यह कहते हैं—कोऽपि अर्थात् लोकोत्तर, अतिशययुक्त [हमारा प्रयत्न है। निकृष्ट नहीं]। वह [अपूर्व प्रयत्न या ग्रन्थ] भी किस [प्रयोजन के] लिए [रच रहे हैं] यह कहते हैं। लोकोत्तर

अलङ्कारशब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते। तत्कारित्वसामान्यादुपचारादुपमादिषु। तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणादिषु। तथैव च तदभिधायिनी ग्रन्थे। शब्दार्थयोरेकयोगक्षेमत्वादैक्येन व्यवहारः। यथा गौरिति शब्दः गौरित्यर्थ इति।

तदयमर्थः। ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्, उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम्, उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनमिति ॥२॥

एवमलङ्कारस्य प्रयोजनमस्तीति स्थापितेऽपि तदलङ्कार्यस्य काव्यस्य प्रयोजनं विना, तदपि सदपार्थकमित्याह—

चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिए। अर्थात् [काव्य में] असाधारण आह्लाददायक सौन्दर्य [वैचित्र्यभाव] के सम्पादन के लिए। यद्यपि बहुत से 'काव्यालङ्कार' विद्यमान हैं परन्तु [उनमें से] किसी से भी इस प्रकार के [लोकोत्तर] वैचित्र्य [काव्यसौन्दर्य] की सिद्धि नहीं हो सकती है।

अलङ्कार शब्द शरीर के शोभातिशयजनक होने से मुख्यतया कटक [कुण्डल] आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। और [काव्य में] उस [शोभा] के जनकत्व की समानता से [सादृश्यमूलक लक्षणा रूप] गौणीवृत्ति [उपचार] से उपमा आदि [काव्य के अलङ्कारों] में, और उसी प्रकार [उपचार से] उन [अलङ्कारों] के सदृश [काव्यशोभाजनक] गुण [तथा वामनाभिप्रेत रीति] आदि में, और उसी प्रकार उपचार से उन [गुण, रीति, अलङ्कार आदि] के प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ [के अर्थ] में [अलङ्कार शब्द का प्रयोग होता] है। शब्द और अर्थ के तुल्य योग क्षेम [अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः, प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेमः] वाला होने से [शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार दोनों के लिए] एकरूप से [अलङ्कार शब्द का] व्यवहार होता है। जैसे गौ यह शब्द [के लिए] और 'गौ' यह अर्थ [के लिए, दोनों के लिए गौः इस एक ही शब्द का व्यवहार होता है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ दोनों के शोभाधायक धर्मों के लिए 'अलङ्कार' इस सामान्य शब्द का प्रयोग होता] है।

इसलिए [संक्षेप में इस कारिका का] यह अभिप्राय हुआ कि इस [वक्रोक्तिजीवितम् के मूल कारिका का रूप] ग्रन्थ का 'अलङ्कार' [अथवा 'काव्यालङ्कार'] यह नाम है। उपमा आदि प्रमेय समुदाय इसका अभिधेय [प्रतिपाद्य विषय] है और पूर्व प्रतिपादित [लोकोत्तरचमत्कारी] वैचित्र्य [काव्य सौन्दर्य] की सिद्धि [इस ग्रन्थ का] प्रयोजन है ॥२॥

इस प्रकार [आपके इस काव्यालङ्कार नामक] अलङ्कार [ग्रन्थ] का प्रयोजन है [उसकी रचना व्यर्थ नहीं है] यह निश्चित हो जाने पर भी, उस

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥३॥

हृदयाह्लादकारकश्चित्तानन्दजनकः काव्यबन्धः, सर्गबन्धादिर्भवतीति सम्बन्धः । कस्येत्याकांक्षायामाह, अभिजातानाम् । अभिजाताः खलु राजपुत्रादयो धर्माद्युपेयार्थिनो विजिगीषवः क्लेशभीरवश्च, सुकुमाराशयत्वात्तेषाम् । तथा सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्य, क्रीडनकादिप्रख्यता प्राप्नोतीत्याह, धर्मादिसाधनोपायः । धर्मादेरुपेयभूतस्य चतुर्वर्गस्य साधने सम्पादने तदुपदेशरूपत्वादुपायस्तत्प्राप्तिनिमित्तम् ।

तथापि तथाविधपुरुषार्थोपदेशपरैरपरैरपि शास्त्रैः किमपराद्धमित्यभिधीयते, सुकुमारक्रमोदितः । सुकुमारः सुन्दरः सहृदयहृदयहारी

[काव्यालङ्कार] के अलङ्कार्य [रूप मुख्य] काव्य के प्रयोजन [के अस्तित्व तथा प्रतिपादन] के बिना [काव्यालङ्कार का प्रयोजन] होने पर भी वह [काव्यालङ्कार का निर्माण] व्यर्थ है । इसलिए [अपने 'काव्यालङ्कार' की सार्थकता के निर्वाह के लिए आवश्यक काव्य के प्रयोजन को, अगली ३, ४, ५ इन तीन कारिकाओं में] कहते हैं ।

काव्यबन्ध उच्चकुल में समुत्पन्न [परिश्रमहीन और मन्दबुद्धि राजकुमार आदि] के हृदयों को आह्लादित करनेवाला और कोमल मृदु शैली से कहा हुआ धर्मादि की सिद्धि का मार्ग है । [इसलिए अत्यन्त उपादेय है] ॥३॥

हृदयाह्लादकारक अर्थात् चित्त को आनन्द देनेवाला । काव्यबन्ध अर्थात् सर्गबन्ध [महाकाव्य, मुक्तक] आदि होता है यह [मुख्य वाक्य का 'भवति' इस क्रिया के साथ] सम्बन्ध है । किसका [हृदयाह्लादकारक होता है] इसकी जिज्ञासा होने पर [समाधानार्थ] कहते हैं—अभिजातानाम् अर्थात् उच्चकुलोत्पन्नों के [हृदय का आह्लादकारक होता है] । उच्चकुल में उत्पन्न होनेवाले राजपुत्र आदि, धर्मादि [रूप] प्राप्य [पुरुषार्थ चतुष्टय] के इच्छुक, विजय की इच्छा रखनेवाले [किन्तु क्लेश] परिश्रम से डरनेवाले होते हैं । उनके सुकुमार स्वभाव होने से । [उनका परिश्रम से डरना स्वाभाविक है] इस प्रकार उन [राजपुत्रादि] के हृदय को प्रसन्न करनेवाला होने पर काव्यबन्ध को खिलौने की समानता प्राप्त होती है । इसलिए कहते हैं [कि काव्य केवल खिलौनों के समान मनोरञ्जक ही नहीं है अपितु] धर्मादि [पुरुषार्थ चतुष्टय] की प्राप्ति का उपाय [भी] है । प्राप्तव्य [उद्देश्यभूत] धर्मादि रूप चतुर्वर्ग के साधन अर्थात् सम्पादन में उसका उपदेश रूप [बतलाने वाला] होने से उपाय अर्थात् उसकी प्राप्ति का निमित्त होता है ।

तो भी उस प्रकार के [प्राप्तव्य] पुरुषार्थ का उपदेश करनेवाले अन्य शास्त्रों

क्रमः परिपाटीविन्यासस्तेनोदितः कथितः सन् । अभिजातानामाह्लादकत्वे सति प्रवर्तकत्वात् काव्यबन्धो धर्मादिप्राप्त्युपायतां प्रतिपद्यते । शास्त्रेषु पुनः कठोरक्रमाभिहितत्वाद् धर्माद्युपदेशो दुरवगाहः । तथाविधे विषये विद्यमानोऽप्यकिञ्चित्कर एव ।

राजपुत्राः खलु समासादितविभवाः समस्तजगतीव्यवस्थाकारितां प्रतिपद्यमानाः श्लाघ्योपायोपदेशशून्यतया स्वतन्त्राः सन्तः समुचितसकलव्यवहारोच्छेदं प्रवर्तयितुं प्रभवन्तीत्येतदर्थमेतद्व्युत्पत्तये व्यतीतसच्चरितराजचरितं तन्निदर्शनाय निबध्नन्ति कवयः । तदेवं शास्त्रातिरिक्तं प्रगुणमस्त्येव प्रयोजनं काव्यबन्धस्य ॥३॥

मुख्यं पुरुषार्थसिद्धिलक्षणं प्रयोजनमास्तां तावत्, अन्यदपि लोकयात्राप्रवर्तननिमित्तं भृत्यसुहृत्स्वाम्यादिसमावर्जनमनेन विना न सम्भवतीत्याह—

ने क्या अपराध किया है [कि आप उनको छोड़कर काव्य के लिए यह प्रयत्न कर रहे हैं।] इस [शङ्का के निवारण] के लिए कहते हैं—सुकुमार क्रम से कहा हुआ [साधन] है। सुकुमार अर्थात् सुन्दर सहृदयों के हृदय को हरण करनेवाला जो क्रम अर्थात् रचना-शैली उस सरल शैली से कहा हुआ [साधन] है। अभिजातों [उच्चकुलोत्पन्न राजपुत्र आदि] के आह्लादक होने पर [सत्कार्यों में] प्रवर्तक होने से काव्यबन्ध धर्मादि की प्राप्ति का उपाय हो जाता है। और शास्त्रों में कठिन शैली से कहा होने के कारण धर्मादि का उपदेश मुश्किल से समझ में आता है। इसलिए उस प्रकार के ['सुकुमार-मति' और परिश्रमहीन राजपुत्रादि के] विषय में [राजपुत्रादि के लिए] वह [धर्मादि का उपदेश, शास्त्रादि में] विद्यमान होने पर भी [उनकी समझ में न आने से] व्यर्थ ही रहता है।

[काव्य के प्रयोजन के प्रतिपादन में आपने अभिजात राजपुत्रादि का ही ध्यान क्यों रखा है, सामान्य पाठक का निर्देश क्यों नहीं किया इसके लिए कहते हैं] राजपुत्र आदि [वयस्क होकर यथासमय पैतृक] वैभव को प्राप्त करके समस्त [राज्य] पृथ्वी के व्यवस्थापक बनकर उत्तम उपदेश से शून्य होने के कारण स्वतन्त्र होकर समस्त उचित लोकव्यवहार का नाश करने में समर्थ हो सकते हैं, इसलिए उनके [औचित्य या कर्तव्याकर्तव्य के] परिज्ञान के लिए, कवि; अतीत सच्चरित्र [रामचन्द्र आदि] राजाओं के चरित्र को [काव्य रूप में] लिखते हैं। इसलिए शास्त्र से अतिरिक्त काव्य का [और भी अधिक] महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है ही। [जिसके कारण काव्य विशेष रूप से उपादेय है।] ॥३॥

इस पुरुषार्थ सिद्धि [अर्थात् चतुर्वर्गफलप्राप्ति और राजपुत्रादि की उपदेशसिद्धि] रूप [प्रयोजन] को रहने भी दें [छोड़ दें,] किन्तु लोकयात्रा [लोकव्यवहार] के सञ्चालन के लिए भृत्य, मित्र, स्वामी आदि का आकर्षण आदि अन्य

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥४॥

व्यवहारो लोकवृत्तं, तस्य परिस्पन्दो व्यापारः क्रियाक्रमलक्षणस्तस्य सौन्दर्यं रामणीयकं तद्, व्यवहारिभि-र्व्यवहर्तृभिः, सत्काव्याधिगमादेव कमनीयकाव्यपरिज्ञानादेव नान्यस्माद्, आप्यते लभ्यते, इत्यर्थः । कीदृशं तत्सौन्दर्यं नूतनौचित्यम् । नूतनमभिनवलौकिकमौचित्यमुचितभावो यस्य । तदिदमुक्तं भवति, महतां हि राजादीनां व्यवहारे वर्ण्यमाने तदङ्गभूताः सर्वे मुख्यामात्यप्रभृतयः समुचितप्रातिस्विककर्तव्यव्यवहारनिपुणतया निबध्यमानाः सकलव्यवहारिवृत्तोपदेशतामापद्यन्ते ततः सर्वःकश्चित् कमनीयकाव्ये कृतश्रमः समासादितव्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यातिशयः श्लाघनीयफलभाग् भवतीति ॥४॥

योऽसौ चतुर्वर्गलक्षणः पुरुषार्थस्तदुपार्जनविषयव्युत्पत्तिकारणतया

[कार्य] भी इस [काव्य] के बिना भली प्रकार सम्भव नहीं हो सकते हैं। यह [बात अगली कारिका में] कहते हैं।

व्यवहार करनेवाले [लौकिक] पुरुषों को अनुदिन के नूतन औचित्य से युक्त; व्यवहार, चेष्टा आदि का सौन्दर्य; सत्काव्य के परिज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है [इसलिए भी काव्य उपादेय है]। ॥४॥

व्यवहार अर्थात् लोकाचार, उसका परिस्पन्द अर्थात् क्रियाओं के क्रम रूप में व्यापार, उसका सौन्दर्य अर्थात् रमणीयता। वह [लोकाचार के अनुष्ठान का सौन्दर्य] व्यवहार करनेवाले [सामान्य लौकिक] जनों को उत्तम काव्यों के परिज्ञान से ही होता है। अन्य [किसी साधन] से प्राप्त नहीं हो सकता है। यह अभिप्राय है। वह सौन्दर्य कैसा है कि, नूतन औचित्य-युक्त। नूतन अर्थात् अपूर्व अलौकिक औचित्य अर्थात् उचितत्व जिसका है। [ऐसा लोकव्यवहार का सौन्दर्य काव्य से ही प्राप्त हो सकता है अन्य प्रकार से नहीं] इसका यह अभिप्राय हुआ कि [उत्तम काव्यों में] राजा आदि के व्यवहार का वर्णन करने पर उनके अङ्गभूत प्रधान मन्त्री आदि सब ही के अपने-अपने [प्रातिस्विक] उचित कर्तव्य और व्यवहार में निपुण रूप में ही [काव्य में] वर्णित होने से [उसके पढ़ने वाले] व्यवहार करने वाले समस्त जनों को [उनके उचित] व्यवहार की शिक्षा देने वाले होते हैं। इसलिए सुन्दर काव्यों में परिश्रम करनेवाला [सर्वः कश्चित् सब कोई] प्रत्येक व्यक्ति लोकव्यवहार की क्रियाओं में सौन्दर्य को प्राप्त कर श्लाघनीय फल का पात्र होता है ॥४॥

और [तीसरी कारिका में] जो इस चतुर्वर्ग रूप पुरुषार्थ [धर्मादि] को, उस

काव्यस्य पारम्पर्येण प्रयोजनमित्याम्नातः, सोऽपि समयान्तरभावितया तदुपभोगस्य तत्फलभूताह्लादकारित्वेन तत्कालमेव पर्यवस्यति । अतस्तदतिरिक्तं किमपि सहृदयहृदयसंवादसुभगं तदात्वरमणीयं प्रयोजनान्तरमभिधातुमाह ।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥५॥

चमत्कारो वितन्यते चमत्कृतिर्विस्तार्यते, ह्लादः पुनः पुनः क्रियत इत्यर्थः । केन, काव्यामृतरसेन । काव्यमेवामृतं तस्य रसस्तदास्वादस्तदनुभवस्तेन । क्वेत्यभिदधाति, अन्तश्चेतसि । कस्य, तद्विदाम् । तं विदन्ति जानन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञास्तेषाम् । कथम्, चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य । चतुर्वर्गस्य धर्मादेः फलं तदुपभोगस्तस्यास्वादस्तदनुभवस्तमपि प्रसिद्धातिशयमतिक्रम्य विजित्य पस्पशप्रायं सम्पाद्य ।

[धर्मादि] के उपार्जन के विषय में व्युत्पत्ति कराने वाला होने से, काव्य का परम्परा से प्रयोजन बतलाया है, वह [धर्मादि का फल काव्य के अध्ययनकाल में नहीं अपितु समयान्तर में होता है इसलिए] भी उसके फलभोग के कालान्तरभावी होने से, उसके फलभूत आह्लाद के जनक होने से उस [समयान्तररूप] काल में ही परिणत होता है। [अध्ययनकाल में उससे कोई लाभ नहीं है] इसलिए उससे भिन्न सहृदयों के हृदय के अनुरूप सुन्दर और उसी [अध्ययन समय में ही] काल में रमणीय दूसरा प्रयोजन बतलाने के लिए [अगली कारिका] कहते हैं—

काव्यामृत का रस उस [काव्य] को समझने वालों [सहृदयों] के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार को उत्पन्न करता है। ॥५॥

'चमत्कारो वितन्यते' का अर्थ अलौकिक आनन्द [चमत्कृति] का सञ्चार किया जाता है, यह है। बार-बार आनन्द की अनुभूति कराता है यह अभिप्राय है। किससे [यह आनन्दानुभूति होती है] काव्यामृतरस से। काव्य ही [मानों] अमृत है, उस का रस अर्थात् उसका आस्वाद, उसका अनुभव, उससे। कहाँ [वह अनुभूति होती है] यह कहते हैं। अन्तः अर्थात् चित्त में। किसके [चित्त में] उस [काव्य] को समझने-वालों के। उस [काव्य] को जो जानते हैं वह तद्वित् [काव्यज्ञ] हुए, उनके [हृदय में चमत्कार उत्पन्न करता है]। कैसे, कि चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर। चतुर्वर्ग धर्मादि का फल अर्थात् उसका उपभोग, उसका आस्वाद अर्थात् उसका अनुभव, प्रसिद्ध महत्त्व वाले उस [चतुर्वर्ग रूप फल] को भी अतिक्रमण करके, जीत करके

तदयमभिप्रायः । योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादःप्रकृष्टपुरुषार्थतया सर्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धः, सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कारकलामात्रस्य न कामपि साम्यकलनां कर्तुमर्हतीति । दुःश्रव-दुर्भण-दुरधिगमत्वादिदोषदुष्टोऽध्ययनावसर एव सुदुःसहदुःखदायी शास्त्रसन्दर्भस्तत्कालकल्पितकमनीयचमत्कृतेः काव्यस्य न कथञ्चिदपि स्पर्धामधिरोहतीत्येतदप्यर्थतोऽभिहितं भवति ।

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।
आह्लाद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् ॥७॥

भूमिका [सदृश] बनाकर [अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करता है] ।

ग्रन्थकार ने यहाँ 'पस्पश' शब्द का प्रयोग किया है। व्याकरण महाभाष्य का प्रथम आह्निक 'पस्पशाह्निक' नाम से प्रसिद्ध है। उसमें व्याकरण के प्रयोजन आदि प्रारम्भिक बातों का वर्णन है। मुख्य और अधिक महत्त्वपूर्ण विषय का निरूपण आगे के आह्निकों में किया गया है। इसी प्रकार काव्य से धर्मादि की शिक्षा अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य का परिज्ञान उसका मुख्य फल नहीं गौण फल है। मुख्य फल तो आनन्दानुभूति है। इसी बात को सूचित करने के लिए ग्रन्थकार ने यहाँ 'पस्पशप्रायं सम्पाद्य' इस शब्द का प्रयोग किया है। वैसे 'भूमिका' अर्थ में 'पस्पश' शब्द प्रचलित नहीं है।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि जो चतुर्वर्ग फल का आस्वाद [अर्थात् पुरुषार्थ चतुष्टय], प्रकृष्ट पुरुषार्थ होने से सब शास्त्रों के प्रयोजन रूप में प्रसिद्ध है, वह भी इस काव्यामृत रस की चर्वणा के चमत्कार की कलामात्र के साथ भी किसी प्रकार की तनिक भी बराबरी नहीं कर सकता है। सुनने में कटु, बोलने में कठिन, और समझने में मुश्किल आदि [अनेक] दोषों से दुष्ट और पढ़ने के समय में ही अत्यन्त दुःखदायी, शास्त्र सन्दर्भ, पढ़ने के साथ [तत्काल] ही सुन्दर, चमत्कार [आनन्दानुभूति] को उत्पन्न करने वाले काव्य की बराबरी [स्पर्धा] किसी प्रकार भी नहीं कर सकता है। यह बात भी अर्थापत्ति से [कथित होती है] निकलती है।

इसी बात को दिखलाने के लिए काव्य और शास्त्र की तुलना निम्नलिखित दो श्लोकों में की गई है।

शास्त्र कड़वी औषधि के समान [दुःखजनक होता हुआ] अविद्यारूप व्याधि का नाश करता है। और काव्य आनन्ददायक [सुस्वादु] अमृत के समान [आनन्ददायक होता हुआ] अज्ञानरूप रोग का नाश करता है ॥७॥

आयत्याञ्च तदात्वे च रसनिःस्यन्दसुन्दरम् ।
येन सम्पद्यते काव्यं तदिदानीं विचार्यते ॥८॥[1]

इत्यन्तरश्लोकौ ॥५॥

जिसके द्वारा काव्य उस समय [अध्ययनकाल में] और पीछे [परिणामरूप में दोनों समय] रस के प्रवाह से सुन्दर बनता है, अब [अगले ग्रन्थ भाग में] उसका विचार [प्रारम्भ] करते हैं ॥८॥

यह दोनों 'अन्तरश्लोक' हैं ।

इन पिछली तीन कारिकाओं में कुन्तक ने काव्य के प्रयोजनों का निरूपण किया है। इनमें मुख्यतः (१) राजपुत्रादि को कर्तव्याकर्तव्यरूप धर्मादि की शिक्षा, (२) राजा, अमात्य, सेनापति, सुहृद्, स्वामी, भृत्य आदि को उनके उचित व्यवहार की शिक्षा, और (३) लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति यह तीन प्रकार के काव्य के फल बतलाए हैं। यह तीनों फल काव्य का अध्ययन करनेवालों की दृष्टि से लिखे गये हैं। काव्य के निर्माता कवि की दृष्टि से कोई फल नहीं कहा गया है। 'कुन्तक' से पहिले 'भामह' आदि आचार्यों ने काव्य-निर्माता कवि की दृष्टि से कीर्ति आदि को भी काव्य-फल माना है। भामह ने काव्य फलों का निरूपण करते हुए लिखा है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥[2]

इसमें भामह ने 'साधुकाव्यनिबन्धनम्' अर्थात् उत्तम काव्य 'रचना' के फल दिखलाए हैं। वह रचना के फल मुख्यतः काव्य-रचना करनेवाले कवि की दृष्टि से ही हो सकते हैं पाठक की दृष्टि से नहीं। परन्तु कीर्ति को छोड़कर शेष सब फल कवि के समान पाठक को भी प्राप्त हो सकते हैं। इसीलिए जहाँ विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों ने भामह के इस श्लोक को उद्धृत किया है वहाँ 'साधुकाव्य निबन्धनम्' के स्थान पर 'साधुकाव्यनिषेवणम्' पाठ रखा है।

वामन ने काव्य के प्रयोजनों का निरूपण करते हुए लिखा है—

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ।[3]

अर्थात् कवि की दृष्टि से कीर्ति और पाठक की दृष्टि से प्रीति यह दो ही काव्य के मुख्य प्रयोजन हैं। अर्थात् वामन की दृष्टि में लोकव्यवहार की शिक्षा काव्य

---

१. वामन काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति की कामधेनु टीका के प्र० ६ पर उद्धृत है।

२. भामह, काव्यालङ्कार, १, २।

३. काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १, १, ५।

अलंकृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता ॥६॥

अलंकृतिलङ्करणम् । अलंक्रियते ययेति विगृह्य । सा विवेच्यते विचार्यते । यच्चालङ्कार्यमलङ्करणीयं वाचकरूपं वाच्यरूपञ्च तदपि विवेच्यते । तयोः सामान्यविशेषलक्षणद्वारेण स्वरूपनिरूपणं क्रियते । कथम्, अपोद्धृत्य । निकृष्य, पृथक् पृथगवस्थाप्य, यत्र समुदायरूपे तयोरन्तर्भावस्तस्माद्विभज्य ।

का मुख्य प्रयोजन नहीं है । काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इन सबका समन्वय करते हुए लिखा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥[1]

इसमें काव्य के ६ फल बतलाए हैं । उनमें से (१) यशसे, (२) अर्थकृते, तथा (३) शिवेतरक्षतये; यह तीन प्रयोजन मुख्यतः कवि से सम्बद्ध हैं और (१) व्यवहारविदे, (२) सद्यः परनिर्वृतये और (३) कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे, यह तीन प्रयोजन मुख्यतः पाठक की दृष्टि से रखे गये हैं । कवि की दृष्टि से सबसे मुख्य फल यश की प्राप्ति, दूसरा अर्थ की प्राप्ति, और तीसरा शिवेतर अर्थात् अशिव अकल्याण की निवृत्ति है । पाठक की दृष्टि से सबसे मुख्य फल सद्यःपरनिर्वृति अर्थात्, परमानन्द की प्राप्ति है । जिसे यहाँ कुन्तक ने 'अन्तश्चमत्कार' कहा है ॥५॥

[उपमादि] अलङ्कार और [उसके] अलङ्कार्य [शब्द तथा अर्थ] को अलग-अलग करके उनकी विवेचना उस [काव्य की व्युत्पत्ति] का उपाय होने से [ही] की जाती है । [वास्तव में तो] अलङ्कारसहित [शब्द और अर्थ, अर्थात् तीनों की समष्टि] काव्य है । [अतः तीनों का अलग-अलग विवेचन उचित नहीं है। फिर भी उस अलग-अलग विवेचन से काव्य-सौन्दर्य को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है इसलिए उनको अलग-अलग करके विवेचन करने की शैली अलङ्कार-ग्रन्थों में पाई जाती है] ॥६॥

अलंकृति का अर्थ अलङ्कार है । जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय [उसको अलङ्कार कहते हैं] इस प्रकार का विग्रह करने से [अलंकृति शब्द अलङ्कार के लिए प्रयुक्त होता है] उसका [काव्यालङ्कार ग्रन्थों में] विवेचन अर्थात् विचार किया जाता है । और जो [उस अलंकृति का] अलङ्करणीय, [अर्थात्] वाचक [शब्द] रूप तथा वाच्य [अर्थ] रूप है उसका भी विवेचन [विचार] किया जाता है। [अर्थात्] सामान्य तथा विशेष लक्षण द्वारा उसका स्वरूप निरूपण किया जाता है । किस प्रकार ।

---

१. काव्य प्रकाश १, २ ।

केन हेतुना, तदुपायतया। तदिति काव्यं परामृश्यते। तस्योपायस्तदुपायस्तस्य भावस्तदुपायता तया हेतुभूतया। तस्मादेवंविधो विवेकः काव्यव्युत्पत्त्युपायतां प्रतिपद्यते। दृश्यते च समुदायान्तःपातिनामसत्यभूतानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम्। यथा पदान्तर्भूतयोः प्रकृतिप्रत्ययोः, वाक्यान्तर्भूतानां पदानाञ्चेति।

अपोद्धृत्य अर्थात् अलग करके निकालकर, पृथक्-पृथक् करके। जिस समुदाय [रूप वाक्य] में उन दोनों [अलङ्कार्य शब्द, अर्थ तथा अलंकृति] का अन्तर्भाव है उससे विभक्त करके [उनका विवेचन काव्यालङ्कार ग्रन्थों में किया जाता है।] किस कारण से [विवेचन किया जाता है], उस [काव्य के समझने] का उपाय होने से। तत् पद काव्य का ग्राहक है। उसका उपाय तदुपाय हुआ। उसका भाव तदुपायता, हुई। उसके कारण से [विवेचन किया जाता है]। इसलिए इस प्रकार का विवेचन काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय हो जाता है। [केवल इसी लिए शब्द और अर्थ रूप अलङ्कार्य तथा उनके अलङ्कारों का अलग-अलग विवेचन काव्यालङ्कार ग्रन्थों में किया जाता है। वास्तव में तो काव्य की दृष्टि से उन तीनों की अलग-अलग सत्ता नहीं है। अपितु उनकी समष्टि का ही नाम काव्य है। व्यष्टि का कोई महत्त्व नहीं है] परन्तु समुदाय के अन्तःपाती असत्य पदार्थों का भी [कभी-कभी] व्युत्पत्ति के लिए [शास्त्रों में] विवेचन पाया जाता है। जैसे [वैयाकरणों के मत में वाक्य के अन्तर्गत पदों का और पदों के अन्तर्गत वर्णों का अलग-अलग कोई अस्तित्व नहीं है। फिर भी] पदों के अन्तर्गत प्रकृति प्रत्यय का, और वाक्य के अन्तर्गत पदों का। अलग-अलग विवेचन व्याकरण ग्रन्थों में किया जाता है। इसी प्रकार काव्य में शब्द तथा अर्थ रूप अलङ्कार्य और अलङ्कारों की [अलग-अलग स्थिति न रहते हुए भी उनको अलग-अलग करके विवेचन किया जाता है]।

पदों से भिन्न उनके अवयवभूत प्रकृति प्रत्यय अथवा वर्णों की, और वाक्य से भिन्न उसके अवयव रूप पदों की अलग कोई वास्तविक स्थिति नहीं है अपितु केवल 'पदस्फोट' अथवा केवल 'वाक्यस्फोट' ही यथार्थ है। इस बात का प्रतिपादन करते हुए वैयाकरण भूषणसार में लिखा है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥[1]

---

१. वैयाकरण भूषण सार, कारिका ६८।

यद्येवमसत्यभूतोऽप्यपोद्धारस्तदुपायतया क्रियते तत् किं पुनः सत्यमित्याह—'तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता'।

अयमत्र परमार्थः। सालङ्कारस्यालङ्करणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वम्। तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोग इति ॥६॥

सालङ्कारस्य काव्यतेति सम्मुग्धतया किञ्चित् काव्यस्वरूपमासूत्रितम् निपुणं पुनर्न निश्चितम्। किं लक्षणं वस्तु काव्यव्यपदेशभाग् भवतीत्याह—

यदि इस प्रकार काव्य व्युत्पत्ति का उपाय होने से असत्य भूत [अलङ्कार तथा अलङ्कार्य अथवा शब्द तथा अर्थ] उन दोनों का पार्थक्य [मानकर अलग-अलग निरूपण] किया जाता है तो फिर [वस्तुतः] सत्य क्या है, इसको कहते हैं। 'तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता'। सालङ्कार [शब्दार्थ] की काव्यता है यह यथार्थ [तत्त्व] है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि अलङ्कारसहित अर्थात् अलङ्करणसहित, सम्पूर्ण अर्थात् अवयवरहित समस्त समुदाय की काव्यता अर्थात् कविकर्मत्व है। इसलिए अलंकृत [वाक्य] का ही काव्यत्व है [अर्थात् अलङ्कार काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है] न कि काव्य में अलङ्कार का योग होता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि कुन्तक के मत में अलङ्कार काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है। केवल शोभाधायक धर्म नहीं है। अतएव साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाश के काव्य-लक्षण का खण्डन करते हुए जो अलङ्कारों को काव्य का शोभाधायक धर्म माना है स्वरूपाधायक नहीं माना है वह कुन्तक के अभिप्राय के विपरीत है। वामन ने भी अपनी काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति के आरम्भ में 'काव्यग्राह्यमलङ्कारात्' तथा 'सौन्दर्यमलङ्कारः' इन दो सूत्रों द्वारा कुन्तक के ही मत का समर्थन किया है। विशेष विवरण के लिए काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति की हिन्दी व्याख्या देखो ॥६॥

[पिछली कारिका में] सालङ्कार की काव्यता होती है यह अस्पष्ट-सा काव्य का स्वरूप निरूपण किया है परन्तु स्पष्ट रूप से नहीं कहा है कि किस प्रकार की वस्तु काव्य नाम [से व्यवहार] के योग्य होती है। इसलिए [उसको स्पष्ट रूप से निरूपण करने अर्थात् स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण करने के लिए] कहते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥७॥[1]

शब्दार्थौ काव्यम्, वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्। द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः। तेन यत्केषाञ्चिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति, केषाञ्चिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति, पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति। तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विह्लादकारित्वं वर्तते, न पुनरेकस्मिन्। यथा—

भण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ।
यदि सलीलोल्लापिनि गच्छसि तत्किं त्वदीयं मे ॥६॥[2]

काव्यमर्मज्ञों के आह्लादकारक, सुन्दर [वक्र] कवि व्यापार से युक्त रचना [बन्ध] में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य [कहलाते] हैं।७।

'शब्दार्थौ काव्यं' अर्थात् वाचक [शब्द] और वाच्य [अर्थ] दोनों मिलकर काव्य हैं। [अलग-अलग नहीं] दो [शब्द और अर्थ मिलकर] एक [काव्य कहलाते] हैं, यह विचित्र ही [सी] उक्ति है। [अर्थात् हम वक्रोक्ति को काव्य का जीवित निर्धारण करने जा रहे हैं। वह बात काव्य के लक्षण से भी स्पष्ट होती है। शब्द और अर्थ यह दोनों मिलकर एक काव्य नाम को प्राप्त करते हैं यह कथन स्वयं एक प्रकार की वक्रता से पूर्ण होने से वक्रोक्ति है]। इसलिए यह जो किन्हीं का मत है कि कवि कौशल से कल्पित किया गया है सौन्दर्यातिशय जिसका ऐसा केवल शब्द ही काव्य है, और किन्हीं का रचना के वैचित्र्य से चमत्कारकारी अर्थ ही काव्य है [यह जो मत है] यह दोनों पक्ष खण्डित हो जाते हैं। [अर्थात् न केवल शब्द को और न केवल अर्थ को काव्य कहा जा सकता है, अपितु शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं]। इसलिए जैसे प्रत्येक तिल में तेल रहता है इसी प्रकार [शब्द तथा अर्थ] दोनों में ही तद्विदाह्लादकारित्व [काव्यत्व] होता है। किसी एक में नहीं। जैसे—

आनन्दस्यन्दी सुन्दर [शरत्पूर्णिमा के] चन्द्रमा के समान [सुन्दर या प्रकाशमान] मुख वाली, सुन्दर हाव-भावों के साथ बात करने वाली, [सलीलं लीलाभिः सहितं उल्लपितुं वक्तुं शीलं यस्यास्तथाभूते] रक्तचरण वाली [इन दोनों श्लोकों का अर्थ एक साथ होता है इसलिए अगले श्लोक के 'अरुणचरणे' पद का यहाँ अन्वय हो रहा है] हे सुन्दरि [तरुणि], अनल्परूप से मणि-मेखला का शब्द करती हुई और निरन्तर नूपुर की मनोरम ध्वनि करती हुई तुम यदि अपने पति [या प्रिय] के घर को जाती हो

---

१. महिम भट्ट के 'व्यक्ति विवेक' में पृ० २८ पर तथा समुद्रबन्ध में पृ० ८ पर यह कारिका उद्धृत की गई है।

२. रुद्रट काव्यालङ्कार २, २२-२३।

अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥१०॥

प्रतिभादारिद्र्यदैन्यादतिस्वल्पसुभाषितेन कविना वर्णसावर्ण्यरम्यतामात्रमत्रोदितम्। न पुनर्वाच्यवैचित्र्यकणिका काचिदस्तीति ।

यत्किल नूतनतारुण्यतरङ्गितलावण्यलटभकान्तेः कान्तायाः कामयमानेन केनचिदेतदुच्यते । यदि त्वं तरुणि रमणमन्दिरं व्रजसि तत्किं त्वदीयं रणरणकमकारणं मम करोतीत्यतिग्राम्येयमुक्तिः । किञ्च, न अकारणम् । यतस्तस्यास्तदनादरेण गमनेन तदनुरक्तान्तःकरणस्य विरहविधुरताशङ्काकातरता कारणं रणरणकस्य। यदि वा परिसरणस्य मया किमपराद्धमित्यकारणतासमर्पकम्, एतदप्यतिग्राम्यतरम्। सम्बोधनानि च बहूनि मुनिप्रणीतस्तोत्रामन्त्रण-

---

तो तुम्हारा वह जाना [त्वदीयं तत् परिसरणं] मुझे व्यर्थ ही क्यों सता रहा है [दुःख दे रहा है] ।९-१०।

यह श्लोक काव्यप्रकाश में भी उद्धृत हुए हैं। परन्तु द्वितीय श्लोक के प्रारम्भ में काव्यप्रकाश में 'अनणरणन्' पाठ है। वक्रोक्तिजीवित में 'अननुरणन्' पाठ सम्भवतः संशोधन की भूल से हो गया है। हमने 'अनणुरणन्' पाठ ही रखा है।

[यहाँ] प्रतिभा के दारिद्र्य और दैन्य के कारण अत्यन्त स्वल्प सुभाषित [वक्तव्य] वाले [अर्थात् जिसके पास कहने योग्य, वर्णन करने योग्य कोई सुन्दर पदार्थ नहीं है, ऐसे] कवि ने [अनुप्रास के प्रलोभन में] वर्णों की समानता की रम्यतामात्र का कथन किया है। परन्तु अर्थ चमत्कार का लश भी उसमें नहीं है।

और जो नवयौवन से तरङ्गित लावण्य तथा सुन्दर [लटभ] कान्ति वाले [किसी युवक] की कान्ता को चाहने वाला कोई [उपनायक इस श्लोक में जो यह] कह रहा है कि तुम यदि पतिगृह को जाती हो तो तुम्हारा वह [गमन, परिसरण] मुझे बिना कारण के कष्ट क्यों देता है। यह [वक्रता, सौन्दर्ययुक्त न होकर] अत्यन्त ग्राम्य उक्ति है। और ['किं मे रणरणकमकारणं कुरुते' यह 'रणरणक' अर्थात् दुःख] अकारण नहीं है। क्योंकि उस [कामुक] का अनादर करके उस [सुन्दरी] के [चले] जाने से उसके प्रति अनुरक्त अन्तःकरण वाले उस [उपनायक] की विरहविधुरता की शङ्का ही उसके दुःख का कारण है। अथवा यदि [तुम्हारे] परिसरण [गमन] का मैंने क्या बिगाड़ा [अपराध किया] है इस प्रकार [परिसरण, गमन में] कारणता के अभाव का कथन करना हो तो यह भी

---

१. 'लटभललनाभोगसुलभः'। 'तस्याः पादनखश्रेणिः शोभते लटभभ्रुवः'। 'न कस्य लोभं लटभा तनोति। केशवन्धविभवैर्लटभानाम्। आदि में 'लटभ' शब्द सुन्दर अर्थ वाचक है।

कल्पानि न काञ्चिदपि तद्विदामाह्लादकारितां पुष्णन्तीति यत्किञ्चदेतत् ।

वस्तुमात्रञ्च शोभातिशयशून्यं न काव्यव्यपदेशमर्हति । यथा—

प्रकाशस्वाभाव्यं विदधति न भावास्तमसि यत्
तथा नैते ते स्युर्यदि किल तथा तत्र न कथम् ।
गुणाध्यासाभ्यासव्यसनदृढ़दीक्षागुरुगुणो
रविव्यापारोऽयं किमथ सदृशं तस्य महसः ॥११॥

अत्र हि शुष्कतर्कवाक्यवासनाधिवासितचेतसा प्रतिभाप्रतिभातमात्रमेव वस्तु व्यसनितया कविना केवलमुपनिबद्धम् । न पुनर्वाचकवक्रताविच्छित्तिलवोऽपि लक्ष्यते । यस्मात्तर्कवाक्यशय्यैव शरीरमस्य श्लोकस्य । तथा च,

---

अत्यन्त ग्राम्य कथन होगा । और [एक साथ ही दिए हुए] बहुत से सम्बोधन, मुनिप्रणीत स्तोत्र पाठ के समान [उपहासजनक से] प्रतीत होते हैं । और काव्यमर्मज्ञों की आह्लादकारिता का तनिक भी पोषण नहीं करते हैं । इसलिए यह [उदाहरण] ऐसा ही [रद्दी-सा, व्यर्थ] है । [उसे काव्य नहीं कहना चाहिए] । शोभातिशय से रहित वस्तुमात्र को काव्य नाम से नहीं कहा जा सकता है । जैसे—[निम्न उदाहरण भी चमत्कारहीन होने से काव्य नहीं कहा जा सकता है]—

[घट पट आदि] पदार्थ [स्वयं] प्रकाश स्वरूप नहीं होते हैं । क्योंकि वे अन्धकार में वैसे [प्रकाश स्वरूप] नहीं दीखते । यदि वे वैसे [प्रकाशस्वरूप] हैं तो अन्धकार में वैसे [प्रकाशस्वभाव] क्यों नहीं हैं । [नील, पीत रूप आदि] गुणों का [पदार्थों में] अध्यास [मिथ्या प्रतीति] करने के अभ्यास और व्यसन की दृढ़ दीक्षा के कारण प्रबल गुण वाला यह सूर्य का व्यापार है [जो सब पदार्थों को प्रकाशित करता है । उस [सूर्य] के तेज के समान और क्या है । [कुछ भी नहीं] ।११।

यहाँ शुष्क तर्क वाक्य [अनुमान वाक्य] की वासना से अधिवासित चित्त वाले कवि ने अभ्यासवश [व्यसनितया] केवल प्रतिभा से कल्पित वस्तुमात्र को [श्लोक में] उपनिबद्ध कर दिया है । परन्तु [उसमें] शब्द सौन्दर्य का लवलेश भी दिखलाई नहीं देता है । क्योंकि तर्क इस श्लोक का स्वरूप [शरीर] अनुमान वाक्य [तर्क वाक्य] पर ही आश्रित है । जैसे कि, अन्धकार से अतिरिक्त पदार्थ रूप धर्मी [स्वयं] प्रकाश स्वभाव वाले नहीं होते हैं, यह [इस अनुमान वाक्य रूप श्लोक में प्रतिज्ञा या] साध्य है । अन्धकार में उस प्रकार के [स्वयं प्रकाश स्वभाव] न होने से यह [उक्त साध्य की सिद्धि के लिए] हेतु है [अतः यह किसी नैयायिक का अनुमान वाक्यमात्र प्रतीत होता है, काव्य नहीं] ।

तमोव्यतिरिक्ताः पदार्था धर्मिणः प्रकाशस्वभावा न भवन्ति, इति साध्यम्। तमस्यतथाभूतत्वादिति हेतुः।

दृष्टान्तस्तर्हि कथं न दर्शितः? तर्कन्यायस्यैव चेतसि प्रतिभासमानत्वात्। तथोच्यते—

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
स्थाप्येते, विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥१२॥

[प्रश्न] यदि इस श्लोक में अनुमान वाक्य ही प्रस्तुत किया गया है [तो अनुमान वाक्य में अपेक्षित] तो दृष्टान्त क्यों नहीं दिखलाया है ?

[उत्तर] तर्क की नीति के ही चित्त में प्रतिभासमान होने से। [दृष्टान्त इस अनुमान वाक्य में, नहीं दिया है। अर्थात् बौद्ध आदि के न्याय के सिद्धान्त के अनुसार विशिष्ट विद्वानों के लिए अनुमान वाक्य में दृष्टान्त का होना आवश्यक नहीं है]। जैसा कि [निम्नलिखित श्लोक में] कहा है—

उस [हेतु और साध्य के साध्य साधन भाव] को न समझ सकने वाले [अल्पज्ञ पुरुष] के लिए [ही] दृष्टान्त में साध्य-साधन भाव [तद्भाव हेतुभावौ] दिखाए [स्थापित किए] जाते हैं। [विद्वानों के लिए उनकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि विद्वान् उस साध्य-साधन भाव को स्वयं समझ सकते हैं। इसलिए] विद्वानों के लिए केवल हेतु ही कहना चाहिए।१२।

न्यायदर्शन में अनुसार परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग अनिवार्य माना गया है, परन्तु अन्य शास्त्रों में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन के प्रयोग के विषय में अन्य कई प्रकार के मत पाये जाते हैं। सांख्य कारिका की 'माठर-वृत्ति' में पाँचवी कारिका की व्याख्या में प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण केवल इन तीन अवयवों का ही प्रतिपादन आवश्यक माना गया है। प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक 'शालिकनाथ' ने अपनी 'प्रकरण पञ्चिका'[१] में और कुमारिलभट्ट के अनुयायी मीमांसक पार्थसारथिमिश्र ने श्लोक वार्तिक[२] की व्याख्या में तीन अवयवों के ही प्रयोग का प्रतिपादन किया है। प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र तथा अनन्तवीर्य[३] ने चार अवयवों का प्रयोग मानने वाले किसी मीमांसक सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है। परन्तु उस प्रकार का कोई मीमांसक सम्प्रदाय इस समय मिलता नहीं है। बौद्ध तथा कुछ जैन तार्किक[४] हेतु तथा दृष्टान्त इन दो अवयवों का ही प्रयोग मानते हैं अथवा केवल

---

१. पृ० ८३, ८४।

२. अनुमान श्लोक ५४।

३. प्रमेय र० ३,३७।

४. प्रमाणवार्तिक १, २८, स्याद्वाद र० पृ० ५५९।

इति । विदधतीति विपूर्वो दधातिः करोत्यर्थे वर्तते । स च करोत्यर्थोऽत्र न सुस्पष्टसमन्वयः प्रकाशस्वाभाव्यं न कुर्वन्तीति । प्रकाशस्वाभाव्यशब्दोऽपि चिन्त्य एव । प्रकाशः स्वभावो यस्यासौ प्रकाशस्वभावः । तस्य भाव इति भावप्रत्यये विहिते पूर्वपदस्य वृद्धिः प्राप्नोति । अथ स्वभावस्य भावः स्वाभाव्यमित्यत्रापि भावप्रत्ययान्ताद्भावप्रत्ययो न प्रचुरप्रयोगार्हः । तथा प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यञ्चेति विशेषणसमासोऽपि न समीचीनः ।

हेतु से भी काम चलाने का प्रतिपादन करते हैं । जैसा कि इस श्लोक में प्रतिपादन किया है । जैन आचार्य 'माणिक्य नन्दी' ने प्रदेश भेद की दृष्टि से दो अथवा पाँच अवयवों के प्रयोग का निर्देश किया है । उनके अनुसार 'वाद' प्रदेश में तो पाँच अवयवों के प्रयोग का नियम समझना चाहिए और 'शास्त्र' प्रदेश में अधिकारिभेद से दो अथवा पाँच अवयवों का प्रयोग वैकल्पिक है । यहाँ कुन्तक ने जो श्लोक उद्धृत किया है उसमें केवल हेतु रूप एक अवयव के प्रयोग का औचित्य प्रतिपादन किया गया है । वह बौद्ध अथवा जैन सिद्धान्त के अनुरूप है । यह उद्धृत श्लोक कहाँ का है यह पता नहीं चला । कुन्तक ने जो एक हेतुमात्र के प्रयोग का समर्थन किया है वह हेतु की मुख्यता को ध्यान में रखकर सामान्य रूप से कर दिया है । उससे कुन्तक को बौद्ध या जैन मानना उचित नहीं होगा । क्योंकि कुन्तक ने अपने मङ्गलाचरण में स्पष्ट रूप से शिव को नमस्कार किया है ।

[ऊपर उदाहरण रूप में उद्धृत 'प्रकाशस्वाभाव्य' वाले श्लोक में] विदधति इस [प्रयोग] में वि [उपसर्ग] पूर्वक धा [दधाति] धातु कृ [डुकृञ् करणे] धातु [करोति] के अर्थ में [प्रयुक्त] है । और वह, करोति [कृञ् धातु] का अर्थ [यहाँ] स्पष्ट रूप से समन्वित नहीं होता है । प्रकाशस्वाभाव्य नहीं करते हैं । [यह अर्थ स्पष्ट रूप से सङ्गत नहीं प्रतीत होता है । अतः उसका प्रयोग अनुचित है] । और 'प्रकाशस्वाभाव्य' शब्द [का प्रयोग] भी चिन्त्य [अशुद्ध] है । [क्योंकि] प्रकाश जिसका स्वभाव है वह प्रकाश स्वभाव [हुआ] उसका भाव इस [अर्थ] में [प्रकाश स्वभाव शब्द से फिर एक और] भावप्रत्यय [ष्यञ] करने पर पूर्व पद की वृद्धि, प्राप्त होती है । [पूर्वपद की वृद्धि होकर प्राकाशस्वाभाव्यं प्रयोग बनेगा, 'प्रकाशस्वाभाव्यं' प्रयोग नहीं बनेगा] । और यदि [पहिले] स्वभाव का भाव स्वाभाव्य [ऐसा प्रयोग बनाकर फिर उसका प्रकाश के साथ समास करके 'प्रकाशस्वाभाव्यं' पद को बनाने का प्रयत्न करे तो भी ठीक नहीं होगा । [क्योंकि] इस [स्वाभाव्य प्रयोग] में भी भाव प्रत्ययान्त [भाव शब्दान्त स्वभाव शब्द] से [फिर] भाव प्रत्यय का विशेष प्रयोग नहीं होता है । इसलिए [पहिले स्वाभाव्यं पद बनाकर उसका प्रकाश शब्द के साथ] प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यं च यह विशेषण [कर्मधारण] समास भी उचित नहीं है । [अतः, यह प्रयोग ठीक नहीं है] ।

तृतीये च पादेऽत्यन्तासमर्पकसमासभूयस्त्ववैशसं न तद्विदाह्लादकारितामावहति। 'रविव्यापार' इति रविशब्दस्य प्राधान्येनाभिमतस्य समासे गुणीभावो न विकल्पितः। पाठान्तरस्य 'रवेः' इति सम्भवात्।

ननु वस्तुमात्रस्यालङ्कारशून्यतया कथं तद्विदाह्लादकारित्वमिति चेत्, तन्न। यस्मादलङ्कारेणाप्रस्तुतप्रशंसालक्षणेनान्यापदेशतया स्फुरितमेव कविचेतसि। प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाणशकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकविविरचितवक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति। तथा चैकस्मिन्नेव वस्तुनि, अवहितानवहितकविद्वितयविरचितं वाक्यद्वयमिदं महदन्तरमावेदयति—

और [उक्त प्रकाशस्वाभाव्यं वाले श्लोक के] तृतीय पाद में अत्यन्त [अर्थ के] असमर्पक [अर्थ बोध के बाधक] समासों का बाहुल्यरूप अत्याचार [सहृदय] काव्यमर्मज्ञों के लिए आह्लादकारक नहीं होता है। [चतुर्थ चरण में] रविव्यापार इस [समस्त पद] में प्राधान्येन अभिमत रवि शब्द को समास में गुणीभाव से नहीं बचाया गया है [जो कि बचाया जा सकता था। 'रविव्यापारोऽयं' के स्थान पर समास को तोड़कर] 'रवेः' [व्यापारोऽयं] यह पाठान्तर भी सम्भव होने से। [रविव्यापारः इस समस्त पद का प्रयोग उचित नहीं हुआ है। क्योंकि उससे रवि का अभिमत प्राधान्य नहीं रहता है। इसलिए शोभातिशय से शून्य और अनेक दोषग्रस्त यह 'प्रकाशस्वाभाव्यं' वाला श्लोक काव्य कहलाने योग्य नहीं है]।

[प्रश्न, यदि शोभातिशयशून्य वस्तुमात्र को काव्य नहीं कहा जा सकता है तो, अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे किन्हीं स्थलों में] अलङ्कारशून्य होने से वस्तुमात्र का सहृदयहृदयाह्लादकारित्व कैसे होता है?

[उत्तर] यह शङ्का हो तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि [ऐसे उदाहरणों में] अन्योक्ति [अन्यापदेश] के रूप में अप्रस्तुत प्रशंसा रूप अलङ्कार कवि [तथा पाठक] के चित्त में स्फुरित हो ही जाता है। और पहिले बिना गढ़े हुए पत्थर के टुकड़े सी [लगने वाली] मणि के समान, प्रतिभा से प्रतिभासमान वस्तु विदग्धकविरचित वाक्य [काव्य] में उपारूढ़ होकर [वाद को] सान पर घिसे हुए मणि के समान मनोहर होकर [काव्यमर्मज्ञ] सहृदयों के आह्लादकारित्व को प्राप्त करती है। इसीलिए एक ही विषय [वस्तुनि] में सावधान और असावधान कवि द्वारा रचित [निम्नाङ्कित] दो वाक्य [श्लोक] प्रचुर भेद को प्रदर्शित करते हैं।

यह श्लोक किरातार्जुनीय के नवमसर्ग का २६वाँ श्लोक है। रुद्रट के काव्यालङ्कार की टीका में नमिसाधु ने पृ० ६९ पर इसको उद्धृत भी किया है।

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णवाष्पकलुषानभिगृह्णन् ।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः ॥१३॥[1]

क्रमादेकद्वित्रिप्रभृति परिपाटीः प्रकटयन्
कलाः स्वैरं स्वैरं नवकमलकन्दांकुररुचः ।
पुरन्ध्रीणां प्रेयो विरहदहनोद्दीपितदृशां
कटाक्षेभ्यो बिभ्यन्निभृत इव चन्द्रोऽभ्युदयते ॥१४॥

एतयोरन्तरं सहृदयहृदयसंवेद्यमिति तैरेव विचारणीयम् । तस्मात् स्थितमेतत्, न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं, नाप्यर्थस्येति । तदिदमुक्तम्—

रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥१५॥[2]

गरम गरम आँसुओं से कलुषित मानिनी जनों के दृष्टिपातों [कटाक्षों] को ग्रहण करता हुआ, डरता-डरता-सा धीरे-धीरे उदय होता हुआ चन्द्रमा आकाश [में आया] को चला ।१३।

यह सावधान रहने वाले महाकवि 'भारवि' की उक्ति है । इसी विषय को किसी दूसरे अनवहित, असावधान कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है ।

नवीन कमलकन्द से समान कान्ति वाली कलाओं को, एक-दो-तीन की परिपाटी से धीरे-धीरे प्रकट करते हुए, प्रियों के विरहाग्नि से दीप्त नेत्र वाली [क्रुद्ध] स्त्रियों के कटाक्षों से डरता हुआ मानो छिपा हुआ-सा चन्द्रमा उदय हो रहा है ।१४।

इन दोनों का अन्तर सहृदय संवेद्य है यह [अन्तर] वही [सहृदय] समझ [विचार] सकते हैं । इसलिए यह बात निश्चित हुई कि न केवल रमणीयता विशिष्ट शब्द काव्य है और न [केवल] अर्थ । [अपितु शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि में 'व्याप्यवृत्ति' काव्यत्व है] । यह बात [भामह ने अपने काव्यालङ्कार १,१५-१७ में] कही [भी] है—

अन्यों [अनेक आलङ्कारिकों] ने रूपकादि [अर्थालङ्कार] अलङ्कार वर्ग का अनेक प्रकार से निरूपण किया है । [क्योंकि अलङ्कारों के बिना गुणादियुक्त काव्य भी इस प्रकार शोभित नहीं होता है जिस प्रकार कि] सुन्दर होने पर भी, अलङ्कारों के बिना स्त्री का मुख [पूर्ण रूप से] शोभित नहीं होता है ।१५।

---

१. किरात ९, २६, तथा रुद्रट का० अ० टीका पृ० ६९ ।

२. भामह काव्यालङ्कार १,१५ ।

रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङाञ्च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम् ॥१६॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः ॥१७॥[1]

तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। एवमवस्थापिते द्वयोः काव्यत्वे कदाचिदेकस्य मनाङ्मात्रन्यूनतायां सत्यां काव्यव्यवहारः प्रवर्ततेत्याह,—सहिताविति। सहितौ सहितभावेन साहित्येनावस्थितौ।

ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वादेतयोर्न कथञ्चिदपि साहित्यविरहः। सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्, वक्रताविचित्रगुणालङ्कारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः तेन—

दूसरे लोग [जो शब्दालङ्कार को प्रधान मानते हैं] रूपकादि [अर्थालङ्कारों] अलङ्कारों को [शब्द सौन्दर्य तथा अर्थ के अनुभव के बाद प्रतीत होने से] बाह्य [अप्रधान] कहते हैं और सुबन्त तिङन्त पदों के सौन्दर्य [अलंकृति] को ही वाणी का [प्रधान] अलङ्कार मानते हैं।१६।

इसी [सुबन्त तिङन्त पदों के सौन्दर्य] को [शब्दालङ्कारप्रधानतावादी] 'सौशब्द्य' कहते हैं। [वही काव्य में अधिक चमत्कारजनक होने से प्रधान है] अर्थ [अर्थालङ्कारों] की व्युत्पत्ति इतनी चमत्कारजनक नहीं होती है। [इसलिए शब्दालङ्कार ही प्रधान और रूपकादि अर्थालङ्कार बाह्य अथवा अप्रधान हैं। यह दूसरे लोगों का मत है] परन्तु हम [भामह] को तो शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार भेद से दोनों ही इष्ट हैं।१७।

इसलिए शब्द और अर्थ दोनों सम्मिलित रूप से काव्य हैं यह स्थिर हुआ। इस प्रकार [शब्द तथा अर्थ] दोनों के काव्यत्व के निर्धारित हो जाने पर कभी [उन दोनों में से] किसी एक की कुछ न्यूनता हो जाने पर भी काव्य व्यवहार होने लगे [जो कि इष्ट नहीं है] इसलिए [उस एक में काव्य व्यवहार के निवारण के लिए] कहते हैं, 'सहितौ'। सहितौ अर्थात् सहभाव से 'साहित्य' से अवस्थित [शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं]।

[प्रश्न] वाच्य और वाचक के सम्बन्ध के [नित्य] विद्यमान होने से इन दोनों [शब्द और अर्थ] के साहित्य [सहभाव] का अभाव कभी नहीं होता है। [तब शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् यह कहने का क्या प्रयोजन है] ?

[उत्तर] सत्य है। [सभी वाक्यों में शब्द और अर्थ का सहभाव या साहित्य रहता है] किन्तु यहाँ विशिष्ट [प्रकार का] साहित्य अभिप्रेत ने कैसा [विशिष्ट

---

१. भामह काव्यालङ्कार १, १६–१७।

मम सर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥१८॥
ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥१९॥

अत्रारुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुषः शशिनः कामपरिक्षामवृत्तेः कामिनी-कपोलफलकस्य च पाण्डुत्वसाम्यसमर्थनादर्थालङ्कारपरिपोषः शोभातिशयमावहति । वक्ष्यमाणवर्णविन्यासवक्रतालक्षणः शब्दालङ्कारोऽप्यतितरां रमणीयः । वर्णविन्यासविच्छित्तिविहिता लावण्यगुणसम्पदस्त्येव ।

सहभाव अभिप्रेत है । इसका उत्तर देते हैं] वक्रता [सौन्दर्य] से विचित्र गुणों तथा अलङ्कारों की सम्पत्ति [सौन्दर्य] का परस्पर स्पर्धा पर आ जाना [रूप विशिष्ट प्रकार का साहित्य काव्यत्व का प्रयोजक है] इसलिए—

मेरे मत में सर्वगुण-युक्त और मित्रों के समान परस्पर सङ्गत शब्द और अर्थ दोनों एक दूसरे के लिए शोभाजनक होते हैं [वही काव्य पद वाच्य होते हैं] । जैसे—।१८।

उसके बाद [प्रातःकाल के समय] अरुण के आगमन से कान्तिरहित हुआ चन्द्रमा, [काम] सम्भोग से दुर्बल कामिनी के कपोल के समान पीला पड़ गया । [पाण्डुता को प्राप्त हो गया] ।१९।

इस [उदाहरण] में अरुणोदय के कारण कान्तिरहित चन्द्रमा के, सम्भोग [काम] से क्षीण हुई कामिनी के कपोलतल के साथ पाण्डुत्व की समानता के समर्थन से अर्थालङ्कार का परिपोष [उसको] शोभातिशय प्रदान करता है । और आगे कहा जाने वाला वर्णविन्यास वक्रता [अनुप्रास] रूप शब्दालङ्कार भी अत्यन्त रमणीय है । [इसलिए] वर्णविन्यास के सौन्दर्य से उत्पन्न [अर्थगत] लावण्य गुण की सम्पत्ति [भी इस उदाहरण में] है ही । [अतः शब्द और अर्थ का विशिष्ट साहित्य होने से यह पद्य काव्य कहलाने योग्य है] ।

'ततोऽरुणपरिस्पन्द' इत्यादि श्लोक अलङ्कार शास्त्र के ग्रन्थों में बहुत उद्धृत हुआ है । राजशेखर की काव्यमीमांसा के पृ० ६७ पर, हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के पृ० २०६ पर, और मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में पृ० ४९६ पर इस पद्य को उद्धृत किया है । सुभाषितावली [२१३३] में इस पद्य को वाल्मीकि का पद्य बतलाया है । और काव्यप्रकाश के टीकाकार कमलाकरभट्ट तथा चक्रवर्ती दोनों ने इसे द्रोणपर्व के

रात्रि-युद्ध के अन्त में प्रभात-वर्णन का पद्य बताया है। परन्तु वस्तुतः यह पद्य न रामायण में पाया जाता है और न महाभारत में। मालूम नहीं कहाँ से लिया गया है।

हमने अपने 'साहित्य-मीमांसा' नामक ग्रन्थ में 'साहित्य' शब्द का विवेचन इस प्रकार किया है—

निखिलं वाङ्मयं लोके यावच्छब्दस्य गोचरम्।
शब्दार्थयोस्तु साहित्यात् सर्वं साहित्यमिष्यते ॥१॥
शब्दार्थौ सहितौ काव्यमिति कृत्वा च लक्षणम्।
कृतः काव्यपरामर्शी शब्दोऽयं भामहादिभिः ॥२॥
ततोऽलङ्कारशास्त्रादि सम्बद्धं काव्यतोऽखिलम्।
जातं वेदान्तवत् सर्वं साहित्यव्यपदेशभाक् ॥३॥
परेषां वाङ्मयाङ्गानां भिन्नाः संज्ञाः पृथक् श्रुताः।
काव्यलङ्कारगो जातः परिशेषात्ततोऽप्ययम् ॥४॥

एवं साहित्यशब्दोऽयमर्थभेदाद् द्विधा कृतः।
व्याप्यः काव्यादिगस्त्वेको व्यापको वाङ्मयेऽखिले ॥६॥
लिखितेनैव रूपेणाधुना साहित्यनिर्मितिः।
शक्या, किन्तु पुरासीत् साऽलिखितेति 'श्रुतिः' 'स्मृतिः' ॥७॥
पुरा साहित्यशब्दोऽयं दृष्ट काव्यादिगोचरः।
नव्य एव प्रयोगोऽस्य दृश्यते वाङ्मयेऽखिले ॥८॥

शब्दाः सन्त्येव सन्त्यर्थाः सम्बन्धोऽपि तयोर्ध्रुवः।
किन्तु वैशिष्ट्यमेवैषां साहित्येऽस्ति प्रयोजकम् ॥६॥
तुल्यार्थकेषु शब्देषु नैकेषु विस्फुरत्स्वपि।
कविर्विशिष्टमादत्ते कञ्चिदेकन्तु सुन्दरम् ॥१०॥
अनन्तेष्वपि चार्थेषु विशिष्टा एव केचन।
साहित्ये वाथ काव्ये वा सन्ति किन्तूपयोगिनः ॥११॥
इतिहासादिसिद्धं वा लोकसिद्धमथापि वा।
कवयः काव्यमार्गेऽर्थं त्वन्यथापि प्रयुञ्जते ॥१२॥
सम्बन्धोऽपि द्वादशधा भोजराजेन वर्णितः।
तेषां विशिष्ट एवात्र साहित्येऽस्ति प्रयोजकः ॥१३॥
विशिष्टोऽर्थश्च शब्दश्च सम्बन्धेऽपि विशिष्टता।
शब्दार्थयोस्तु साहित्ये विशिष्टैरुपवर्णिता ॥१४॥

यथा च—

लीलाइ कुवलग्रं कुवलग्रं व सीसे समुव्वहंतेण ।
सेसेण सेसपुरिसाण पुरिसग्रारो समुव्वसिग्रो ॥२०॥
[लीलया कुवलयं कुवलयमिव शीर्षे समुद्वहता ।
शेषेण शेषपुरुषाणां पुरुषकारः समुपहसितः ॥ इतिच्छाया]

'साहित्यार्थसुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम् ।'
कुन्तकेन प्रतिज्ञाय कृतमित्थं विवेचनम् ॥१५॥

"शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा ।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते ॥
शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनौ ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥
साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
ग्रन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः" ॥
एवं साहित्यशब्दस्य चार्थतत्त्वविवेचनम् ।
कुन्तकेन कृतं स्वीये ग्रन्थे वक्रोक्तिजीविते ॥१६॥

दर्शनाद् वर्णनाच्चैव साहित्यमर्थशब्दयोः ।
दर्शनं वर्णनं काव्यबीजं 'तौतेन' दर्शितम् ॥१७॥
ग्रतोऽभिनवगुप्तस्य भट्टतौतोऽस्ति यो गुरुः ।
ऋषित्वं तेन सम्प्रोक्तं कवीनां काव्यकर्मणि ॥१८॥
"नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात् ।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः ।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः ॥
तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः ।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना ॥"
एवं श्री भट्टतौतेन स्वग्रन्थे काव्यकौतुके ।
ऋषित्वं दर्शनात् प्रोक्तं कवित्वं वर्णनात् तथा ॥२०॥[1]

ग्रौर जैसे—

[कुवलय शब्द के ग्रर्थ नील कमल ग्रौर कु ग्रर्थात् पृथ्वी का वलय ग्रर्थात् मण्डल पृथ्वीमण्डल यह दो हैं ।] लीलाकमल के समान पृथ्वीमण्डल को ग्रनायास [लीलया] धारण करते हुए शेष [नाग] ने, शेष [सब] पुरुषों के पुरुषार्थ [पराक्रम] का उपहास-सा किया ।२०।

१. साहित्यमीमांसा १ ।

अत्राप्रस्तुतप्रशंसोपमालक्षणवाच्यालङ्कारवैचित्र्यविहिता हेलामात्रविरचितयमकानुप्रासहारिणी समर्पकत्वसुभगा कापि काव्यच्छाया सहृदयहृदयमाह्लादयति ।

द्विवचनेनात्र वाच्यवाचकजातिद्वित्वमभिधीयते । व्यक्तिद्वित्वाभिधाने पुनरेकपदव्यवस्थितयोरपि काव्यत्वं स्यादित्याह—'बन्धे व्यवस्थितौ' । बन्धो वाक्यविन्यासः, तत्र व्यवस्थितौ । विशेषेण लावण्यादिगुणालङ्कारशोभिना सन्निवेशेन कृतावस्थानौ। सहिताविव्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम् । अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः प्रसज्येत । यथा—

यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा और उपमा रूप [वाच्य] अर्थालङ्कार के वैचित्र्य से उत्पन्न, और अनायासविरचित यमकानुप्रास [रूप शब्दालङ्कार] से मनोहर, समर्पकत्व [झटिति अर्थ-बोधकत्व] के कारण सुन्दर [शब्द तथा अर्थ का] कुछ अपूर्व रचना सौन्दर्य सहृदय के हृदय को आह्लादित करता है ।

[मूल कारिका में प्रयुक्त शब्दार्थौ पद में] द्विवचन से यहाँ [वाच्य और वाचक] अर्थ और शब्द के जातिगत द्वित्व [अर्थात् वाक्य के समस्त शब्दों और समस्त अर्थों का साहित्य] कहा गया है । [क्योंकि उसके अभाव में] व्यक्ति द्वित्व [अर्थात् एक शब्द और एक अर्थ के साहित्य] का कथन होने पर तो एक पद में स्थित [शब्द और अर्थ के साहित्यों] का भी काव्यत्व प्राप्त होने लगेगा । इसलिए कहा है 'बन्धे व्यवस्थितौ' । बन्ध अर्थात् वाक्य-रचना । उसमें व्यवस्थित अर्थात् विशेष लावण्यादि [साधक] गुण अलङ्कार आदि से शोभित विन्यास [विशेष] से स्थित [शब्द और अर्थ] । सहितौ इस [पद] में भी पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार [व्यक्तिगत साहित्य न मानकर जातिगत साहित्य मानने से] शब्द का स्वजातीय [शब्द] की अपेक्षा से शब्दान्तर के साथ और अर्थ [वाच्य] का [सजातीय] अर्थान्तर के साथ 'परस्परस्पर्धित्व' रूप 'साहित्य' ही विवक्षित है । [अर्थात् जिस वाक्य का प्रत्येक शब्द दूसरे शब्द के साथ और प्रत्येक अर्थ दूसरे अर्थ के साथ, सौन्दर्य के लिए 'अहमहमिका' से मानो प्रतिस्पर्धा कर रहा हो । ऐसा वाक्य ही 'साहित्य' से युक्त अतएव काव्यपद से वाच्य है।] अन्यथा [इस प्रकार के शब्द और अर्थ के साहित्य से विरहित वाक्य में] तद्विदाह्लादकारित्व नहीं बन सकता है । जैसे—

यह श्लोक महाकवि भवभूति के प्रसिद्ध नाटक मालती माधव से लिया गया है । कापालिक को मालती के वध के लिए उद्यत देखकर माधव कह रहा है ।

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनम्।
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः ॥२१॥[1]

अत्र किल कुत्रचित् प्रबन्धे कश्चित् कापालिकः कामपि कान्तां व्यापादयितुमध्यवसितो भवन्नेवमभिधीयते। यदपगतसारः संसारः, हृतसर्वस्वं त्रैलोक्यं, आलोककमनीयवस्तुवर्जितो जीवलोकः, सकललोकलोचननिर्माणं निष्फलप्रायं, त्रिभुवनविजयित्वदर्पहीनः कन्दर्पः, जगज्जीर्णारण्यकल्पमनया विना भवतीति किं त्वमेवंविधमकरणीयं कर्तुं व्यवसित इति।

एतस्मिन् श्लोके महावाक्यकल्पे वाक्यान्तराण्यवान्तरवाक्यसदृशानि तस्याः सकललोकलोभनीयलावण्यसम्पत्प्रतिपादनपराणि परस्परस्पर्धीन्यतिरमणीयान्युपनिबद्धानि कमपि काव्यच्छायातिशयं पुष्णन्ति। मरणशरणं बान्धवजनमिति न पुनरेतेषां कलामात्रमपि स्पर्धितुमर्हतीति न तद्विदामाह्लादकारि।

अरे तू [इस मालती को मारकर] संसार को असार, त्रिभुवन को रत्नविहीन [अपहृत रत्न] विश्व को अन्धकारमय, [मालती के] बान्धव लोगों को मरण का शरण, कामदेव को दर्पहीन, जगत् के नेत्रों के निर्माण को व्यर्थ और जगत् को जीर्ण अरण्य बना देने पर क्यों तुल गया है ? ।२१।

इस [श्लोक में] किसी प्रबन्ध [मालतीमाधव नाटक अङ्क ५, श्लोक० ३०] में किसी कापालिक के किसी स्त्री [मालती] को मारने को उद्यत होने पर उससे इस प्रकार कहा गया है कि [इसके मरने से इसके अभाव में] संसार सारहीन, त्रैलोक्य रत्नसर्वस्व से रहित, जीवलोक आलोक [सौन्दर्य] से कमनीय वस्तु से विहीन, समस्त जनों के नेत्रों का निर्माण निष्फलप्राय, कामदेव त्रिभुवनविजयित्व के दर्प से रहित और जगत् जीर्णारण्य के समान हो जायगा, इसलिए तू इस प्रकार के न करने योग्य [अनुचित] कार्य के करने को क्यों उद्यत हो रहा है ?

इस महावाक्य के सदृश श्लोक में अवान्तर वाक्य के सदृश [अन्य समस्त] वाक्य उस [मालती] की सकललोकलोभनीय सौन्दर्य सम्पत्ति के प्रतिपादन परक, एक दूसरे से स्पर्धा करने वाले से, अत्यन्त सुन्दर रूप से ग्रथित होकर काव्य के कुछ अनिवर्चनीय सौन्दर्य को प्रकट करते हैं। [परन्तु इन अवान्तर वाक्यों में से], मरणशरणं बान्धवजनम्' यह [अवान्तर वाक्य] इन [असारं संसारं आदि अन्य अवान्तर वाक्यों] की कलामात्र के साथ भी स्पर्धा करने योग्य नहीं है। इसलिए [वह] काव्यमर्मज्ञों के लिए आह्लाद-

---

१. मालती माधव ५, ३०।

बहुषु च रमणीयेष्वेकवाक्योपयोगिषु युगपत्प्रतिभासपदवीमवतरत्सु, वाक्यार्थ-परिपूरणार्थं तत्प्रतिमं प्राप्तुमपरं, प्रयत्नेन प्रतिभा प्रसाद्यते। तथा चास्मिन्नेव प्रस्तुतवस्तुसब्रह्मचारि वस्त्वन्तरमपि सुप्रापमेव—

'विधिमपि विपन्नाद्भुत-विधिम्' इति।

प्रथमप्रतिभातपदार्थप्रतिनिधि-पदार्थान्तरासम्भवे सुकुमारतरापूर्वसमर्पणेन कामपि काव्यच्छायामुन्मीलयन्ति कवयः। यथा—

रुद्राद्रेस्तुलनं स्वकण्ठविपिनोच्छेदो हरेर्वासनं।
कारावेश्मनि, पुष्पकापहरणम् ॥२२॥[1]

इत्युपनिबद्धच पूर्वोपनिबद्धपदार्थानुरूपवस्त्वन्तरासम्भवादपूर्वमेव
—'यस्येदृशाः केलयः'।

कारी नहीं हैं। एक [श्लोक] वाक्य के उपयोगी बहुत से रमणीय वाक्यों के एक साथ स्फुरित होने पर [भी श्लोक की पूर्ति में कुछ कमी रह जाय पर उस श्लोक] वाक्य के अर्थ को पूर्ण करने के लिए उन ही के समान [सुन्दर अविशिष्ट] अन्य [वाक्य] को ढूँढ़ने के लिए बड़े प्रयत्न से बुद्धि लगानी होती है। [परन्तु यहाँ कवि ने 'मरणशरणं बान्धवजनम्' इस वाक्य के स्थान पर अन्य अवान्तर वाक्यों के सदृश उनसे स्पर्धा करने वाला अन्य वाक्य के खोजने का प्रयत्न नहीं किया है। यों ही भरती के लिए 'मरणशरणं बान्धवजनम्' यह अवान्तर वाक्य बीच में डाल दिया है। इसलिए श्लोक का चमत्कार कम हो गया है। यदि कवि प्रयत्न करता तो इसके स्थान पर अधिक चमत्कारी वाक्य मिल सकता था] क्यों कि इस [श्लोक] में प्रस्तुत वस्तु के समान [चमत्कारी] दूसरी वस्तु [अन्य अवान्तर वाक्य] भी सरलता से मिल सकता है। जैसे ['मरणशरणं बान्धवजनम्' के स्थान पर] 'विधिमपि विपन्नाद्भुतविधिम्' यह [पाठ कर देने से यह दोष दूर हो सकता है]।

[और कहीं-कहीं] प्रथम प्रतीत हुए पदार्थ के स्थान पर प्रतिनिधि रूप, अन्य अवान्तर वाक्यों] से स्पर्धा करने वाले अन्य पदार्थ का [मिलना] सम्भव न होने पर कुछ और भी अधिक सुकुमार अपूर्व शैली से वर्णन करके कवि लोग कुछ अनिर्वचनीय काव्यशोभा का प्रकट करते [हुए देखे जाते] हैं। जैसे [बाल रामायण नाटक के अङ्क १, श्लोक ५१ में निम्न प्रकार चमत्कार उत्पन्न किया गया है]—

कैलाश को उठाना, अपने अनेक शिरों को [शिव को प्रसन्न करने के लिए] काट डालना, इन्द्र को कारावास में डाल देना, [कुबेर के] पुष्पक [विमान] को छीन लेना—।२२।

इस प्रकार [रावण के उत्कर्ष का] वर्णन करके, पूर्वोपनिबद्ध पदार्थों के अनुरूप

---

१. बाल रामायण १,५१।

इति न्यस्तम् । येनान्येऽपि कामपि कमनीयतामनीयन्त । यथा च—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः ।
तां सम्प्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
बद्धोत्कण्ठमिदं मनः, किं— ॥२३॥[1]

इति । सम्प्रत्यपि तामेवंविधां वीक्षितुं प्रवृत्तस्य मम मनः किमिति बद्धोत्कण्ठमिति परिसमाप्तेऽपि तथाविधवस्तुविन्यासो विहितः—

—'अथवा प्रेमासमाप्तोत्सवम्'

इति । येन पूर्वेषां जीवितमिवार्पितम् ।

यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत्प्राधान्येनैव वाक्योपनिबन्धः, तथापि कविप्रतिभाप्रौढ़िरेव प्राधान्येनावतिष्ठते ।

[महत्त्वशाली] अन्य पदार्थ का [मिलना] असम्भव होने से [पुष्पकापहरणं के आगे] 'जिसकी इस प्रकार की क्रीड़ाएँ हैं' [यस्येदृशः केलयः] ।

यह [अवान्तर वाक्य कवि ने] रख दिया है । जिससे [न केवल यह वाक्य उनकी स्पर्धा में आ गया है अपितु उसके कारण] अन्य [वाक्य] भी कुछ अपूर्व शोभा को प्राप्त हो गये हैं ।

और जैसे [तापस वत्सराज चरितम् के निम्नलिखित श्लोक में]—

उसके मुखचन्द्र को देखकर दिवस बिता दिया, उसके साथ वार्तालाप में सन्ध्या व्यतीत की और कामदेव के द्वारा उत्साहित उसके देहार्पण द्वारा रात्रि व्यतीत कर दी । परन्तु अब भी [मेरे आने की प्रतीक्षा में] रास्ते में आँखें गड़ाए हुई उसको देखने के लिए मेरा मन उत्कण्ठित क्यों हो रहा है ।२३।

यहाँ अब भी 'इस प्रकार की [मार्गदत्तनयनां] उसको देखने के लिए तत्पर मेरा मन क्यों उत्कण्ठित है' इस प्रकार [वाक्य के] समाप्त हो जाने पर भी [कवि ने श्लोक के अन्त में] 'अथवा प्रेमासमाप्तोत्सवम्' प्रेम का उत्सव कभी समाप्त नहीं होता है । यह कहकर ऐसी वस्तु [वाक्य या वाक्यार्थ] का विन्यास कर दिया है जिसने पूर्व वाक्यों में जान-सी डाल दी है ।

यद्यपि इन दोनों [वाक्यों या उदाहरणों] में उस [शब्दार्थ के 'साहित्य' के प्राधान्य से ही वाक्य की रचना की गई है फिर भी [उस रचना में] कवि की प्रतिभा की प्रौढ़ता ही प्रधान रूप से स्थित होती है । [इसलिए 'असारं संसारं' आदि श्लोक में 'मरणशरणं बान्धवजनम्' वाले वाक्यार्थ का शेष वाक्यार्थों के साथ परस्परस्पर्धित्व रूप 'साहित्य' की न्यूनता हो जाने से वह हलका पड़ जाता है और 'तद्वक्त्रेन्दु' आदि श्लोक में कवि प्रतिभा के बल से अर्थ का अर्थान्तर के साथ परस्पर स्पर्धी 'साहित्य' होने से श्लोक में और भी अधिक चमत्कार उत्पन्न हो गया है] ।

---

१. तापस वत्सराज चरितम् १, ६८ ।

शब्दस्यापि शब्दान्तरेण साहित्यविरहोदाहरणं यथा—

चारुतावपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः ।
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मी स्तां मदो दयितसङ्गमभूषः ॥२४॥[1]

दयितसङ्गमस्तामभूषयदिति वक्तव्ये, कीदृशो मदः, दयितसङ्गमो भूषा यस्येति । दयितसङ्गमशब्दस्य प्राधान्येनाभिमतस्य समासवृत्तावन्तर्भूतत्वाद् गुणीभावो न तद्विदाह्लादकारी । दीपकालङ्कारस्य च काव्यशोभाकारित्वेनोपनिबद्धस्य निर्वहणावसरे त्रुटितप्रायत्वात् प्रक्रमभङ्गविहितं सरसहृदयवैरस्यमनिवार्यम् । 'दयितसङ्गतिरेनम्' इति पाठान्तरं सुलभमेव ।

[इस प्रकार 'असारं संसारं' इत्यादि उदाहरण में अर्थ का अर्थान्तर के साथ साहित्य का विरह दिखला कर अब] शब्द का भी दूसरे शब्द के साथ साहित्य के विरह का उदाहरण [दिखलाते हैं] जैसे—

सौन्दर्य ने उन [स्त्रियों] के शरीर को शोभित किया, उस [चारुता] को पूर्णयौवन के योग ने [भूषित किया] और उस [पूर्ण नवयौवन] को कामदेव की लक्ष्मी ने [भूषित किया] और उस [कामदेव की लक्ष्मी] को प्रियसङ्गम से अलंकृत मद ने [भूषित किया] ॥२४॥

[यह श्लोक माघ काव्य के दशम सर्ग का ३३वाँ श्लोक है । इसमें] दयितसङ्गम ने उस [मकरकेतनलक्ष्मी] को भूषित किया यह कहना चाहिए था उसके स्थान पर [मद के] कैसे मद ने, कि दयितसङ्गम [प्रियसङ्गम] जिसका भूषण है [ऐसे मद ने भूषित किया यह कहा है] इसमें प्राधान्येन अभिमत दयितसङ्गम शब्द के समास में अन्तर्भूत हो जाने से गुणीभाव [हो जाता है और वह] काव्यमर्मज्ञों के लिए आह्लादकारी नहीं है ।

और काव्य के शोभातिशयकारी के रूप में उपनिबद्ध दीपकालङ्कार के, अन्त में भानप्राय हो जाने से 'प्रक्रमभङ्ग' से उत्पन्न सरस हृदयों का वैरस्य [का अनुभव] अनिवार्य है । [इस दोष से बचने के लिए] 'दयितसङ्गतिरेनम्' यह पाठान्तर सुलभ ही है । [यदि कवि इस पाठान्तर का प्रयोग करता तो दयितसङ्गमभूषः इस शब्द का अन्य शब्दों के साथ साहित्य का जो विरह अब अनुभव होता है वह न होता] ।

इसका अभिप्राय यह है कि इस श्लोक के अन्तिम चरण की रचना 'तां मदो दयितसङ्गतिरेनम्' इस प्रकार होनी चाहिए थी ।

---

१. शिशुपाल वध १०,३३ ।

कुन्तक ने इस श्लोक में दीपक अलङ्कार माना है। दीपकालङ्कार का लक्षण वामन ने अपनी काव्यालङ्कार सूत्र में वृत्ति में इस प्रकार किया है।

उपमानोपमेयवाक्येषु एका क्रिया दीपकम्।
तत्त्रैविध्यं, आदिमध्यान्तवाक्यवृत्तिभेदात् ॥[1]

अर्थात् उपमान और उपमेय वाक्यों में एक क्रिया का योग होने पर 'दीपक' अलङ्कार होता है। 'चारुता वपुरभूषयदासाम्' आदि 'माघ' के श्लोक में पठित भिन्न-भिन्न वाक्यों में उपमानोपमेय भाव-कल्पना करना कठिन है। इसलिए 'वामन' का दीपकालङ्कार का लक्षण वहाँ सुसङ्गत नहीं हो सकता है।

'भामह' ने अपने 'काव्यालङ्कार' में दीपकालङ्कार का लक्षण तो स्पष्ट नहीं किया है, पर उसके भेद आदि का विस्तार से निरूपण किया है—

आदि मध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा॥ २५॥
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्।
त्रिभिर्निदर्शनैश्चेदं त्रिधा निर्दिश्यते यथा॥२६॥[2]

इस रूप में दीपक के तीन भेदों का प्रतिपादन कर उनके उदाहरण इस प्रकार दिए हैं—

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभंगुरम्।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां साऽसह्यां मनसः शुचम्॥२७॥
मालिनीरंशुकभृतः स्त्रियोऽलंकुरुते मधुः।
हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपत्यकाः॥२८॥
चीरीमतीररण्यानीः सरितः शुष्यदम्भसः।
प्रवासिनाञ्च चेतांसि शुचिरन्तं निनीषति॥२९॥

'भामह' के दिए हुए दीपकालङ्कार के इन उदाहरणों में से भी उपमान उपमेय भाव-कल्पना करना कठिन है। इसलिए यह प्रतीत होता है कि 'भामह' आदि आचार्य दीपकालङ्कार में केवल एक क्रिया के सम्बन्ध को ही आवश्यक मानते हैं। उन अनेक वाक्यों में उपमानोपमेय भाव को आवश्यक नहीं मानते हैं। कुन्तक ने भी इसी भाव को ध्यान में रखकर 'चारुतावपुरभूषयदासां' इत्यादि श्लोक में दीपकालङ्कार का निर्देश किया है। उनका यह उदाहरण भामह के प्रथम उदाहरण से बिलकुल मिलता है।

मम्मट विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों ने जिन अनेक पदार्थों में एक धर्म

१. वामन काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति ४, ३, १८-१९।

२. भामह काव्यालङ्कार ३, २५-२६। ३ वही २८-२९।

द्वयोरप्येतयोरुदाहरणयोः प्राधान्येन प्रत्येकमेकतरस्य साहित्यविरहो व्याख्यातः परमार्थतः पुनरुभयोरेकतरस्य साहित्यविरहोऽन्यतरस्यापि पर्य-

---

का सम्बन्ध हो उन सबका प्रकृत अथवा अप्रकृत दोनों प्रकार का होना दीपकालङ्कार में आवश्यक माना है। मम्मट ने दीपकालङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है—

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्॥[1]

विश्वनाथ ने दीपक का लक्षण इस प्रकार किया है—

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्॥[2]

यह दीपकालङ्कार के नवीन लक्षण भी उक्त श्लोक में कठिनता से सङ्गत हो सकेंगे। इसलिए मल्लिनाथ ने इस श्लोक में दीपकालङ्कार न मानकर 'एकावली' अलङ्कार माना है। उन्होंने लिखा है—

अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषकत्वादेकावली।
यत्रोत्तरोत्तरेषां स्यात् पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमात्॥
विशेषकत्वकथनमसावेकावली मता।
इति तल्लक्षणात्।

कुन्तक ने स्वयं दीपकालङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है—

औचित्यावहयम्लानं तद्विदाह्लादकारणम्।
अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद्वस्तु दीपकम्॥
एकं प्रकाशकं सन्ति भूयांसि भूयसां क्वचित्।
केवलं पंक्तिसंस्थंवा द्विविधं परिदृश्यते॥[3]

इसी के अनुसार 'अभूषपत्' इस एक पद को अनेक वाक्यों का प्रकाशक मानकर कुन्तक ने यहाँ दीपकालङ्कार निर्धारित किया है।

[अर्थ तथा शब्द के साहित्य विरह के 'असारं संसारं' तथा 'चारुतावपु'०] इन दोनों उदाहरणों में से प्रत्येक [उदाहरण] में एक [अर्थ तथा शब्द] के प्राधान्य से [अर्थ अथवा शब्द के] 'साहित्य' का अभाव दिखलाया है। वास्तव में तो उन दोनों में से किसी एक के साहित्य का अभाव होने पर दूसरे का साहित्य विरह स्वयं ही आ

---

१. का० प्र० १०, १०३।
२. साहित्य दर्पण १०।
३. वक्रोक्तिजीवितम् ३, १६।

वस्यति । तथा चार्थः समथवाचकाऽसद्भावे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एवावतिष्ठते शब्दोऽपि वाक्योपयोगिवाच्यासम्भवे वाच्यान्तरवाचकः सन् वाक्यास्य व्याधिभूतः प्रतिभातीत्यलमतिप्रसंगेन ।

प्रकृतन्तु । कीदृशे, बन्धे, 'वक्रकविव्यापारशालिनि' । वक्रो योऽसौ शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी षट्प्रकारवक्रताविशिष्टः कविव्यापारस्तत्क्रियाक्रमस्तेन शालते श्लाघते यस्तस्मिन् । एवमपि कष्टकल्पनोपहतेऽपि प्रसिद्धव्यतिरेकित्वमस्तीत्याह—'तद्विदाह्लादकारिणि' । तदिति काव्यपरामर्शः । तद्विदन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञाः, तेषामाह्लादं करोति यस्तस्मिन्, तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे व्यवस्थितौ । वक्रता वक्रताप्रकारास्तद्विदाह्लाकारित्वञ्च प्रत्येकं यथाऽवसरमेवोदाहरिष्यते ॥७॥

एवं काव्यस्य सामान्यलक्षणे विहिते विशेषमुपक्रमते । तत्र शब्दार्थयस्तावत्स्वरूपं निरूपयति—

जाता है । इसलिए [अर्थ को भली प्रकार प्रकाशित करने में] समर्थ शब्द के अभाव में [उत्तम चमत्कारी] अर्थ स्वरूपतः स्फुरित होने पर भी निर्जीव-सा ही रहता है । [इसी प्रकार] शब्द भी वाक्योपयोगी [चमत्कारी] अर्थ के अभाव में [किसी साधारण] अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का भारभूत [व्याधिभूत] सा प्रतीत होने लगता है ।

इसलिए [इस प्रसक्तानुप्रसक्त विषय के] अधिक [करने] विस्तार की आवश्यकता नहीं है ।

प्रकृत [कारिका की व्याख्या] तो [इस प्रकार है कि]—किस प्रकार के बन्ध में [शब्द और अर्थ का साहित्य होना चाहिए] 'मनोहर कवि व्यापार से युक्त' [बन्ध] में । वक्र अर्थात् शास्त्रादि में प्रसिद्ध शब्द और अर्थ के उपनिबन्धन से भिन्न, [आगे कही जाने वाली] छः प्रकार की वक्रता से युक्त, जो कवि व्यापार अर्थात् कवि की रचना [क्रिया] का क्रम, उससे जो [बन्ध] शोभित अथवा प्रशंसित होता है उस [बन्ध] में [साहित्य से अवस्थित शब्द तथा अर्थ काव्य कहलाते हैं] । इस प्रकार [लक्षण करने पर] भी कष्ट कल्पना से उपहत [बन्ध] में भी प्रसिद्ध भिन्नत्व हो सकता है [वह भी काव्य कहलाने लगेगा] इसलिए [उसके निवारणार्थ] कहते हैं—'तद्विदाह्लादकारिणि' । तत् इस [पद] से काव्य का ग्रहण होता है । उस [काव्य] को जानते हैं वह 'तद्विद्' अर्थात् काव्यमर्मज्ञ [हुए] । उनको आह्लाद अर्थात् आनन्ददायक जो [बन्ध] उस तद्विदाह्लादकारी बन्ध में व्यवस्थित [शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं] । वक्रता, वक्रता के भेद और तद्विदाह्लादकारित्व को अलग-अलग यथास्थान [आगे उदाहरणों द्वारा] दिखलावेंगे ॥७॥

इस प्रकार काव्य का सामान्य लक्षण कर चुकने के बाद, [काव्य के]

वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि ।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमतयोः ॥८॥

इति एवंविधं वस्तु प्रसिद्धं प्रतीतम् । यो वाचकः स शब्दः, यो वाच्यश्चाभिधेयः सोऽर्थः इति । ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः । तदसंग्रहान्नाव्याप्तिः । यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव । एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचाराद् वाच्यत्वमेव । तस्माद् वाचकत्वं वाच्यत्वं च शब्दार्थयोर्लोके सुप्रसिद्धं यद्यपि लक्षणं, तथाप्यस्मिन्, अलौकिके काव्यमार्गे काव्यवर्त्मनि, अयमेतयोर्वक्ष्यमाणलक्षणः परमार्थः, किमप्यपूर्वं तत्त्वमित्यर्थः ॥८॥

कीदृशमित्याह—

विशेष लक्षण का [निरूपण] प्रारम्भ करते हैं। उनमें से पहिले [काव्य के अङ्गभूत] शब्द तथा अर्थ के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

यद्यपि [साधारणतः] वाच्य अर्थ, और वाचक शब्द [होता है यह बात] प्रसिद्ध ही है, फिर भी इस काव्यमार्ग में [केवल वाच्य को अर्थ और केवल वाचक को शब्द नहीं कहते हैं। अपितु] उन [शब्द तथा अर्थ] का वास्तविक अर्थ यह [अगली कारिका में दिखलाया हुआ] है ।८।

इति अर्थात् इस प्रकार की बात प्रसिद्ध है कि जो वाचक होता है वह शब्द होता है और जो वाच्य होता है वह अर्थ होता है । [प्रश्न] द्योतक और व्यञ्जक भी शब्द हो सकते हैं [आपने केवल वाचक को शब्द कहा है । उस वाचक पद से द्योतक तथा व्यञ्जक शब्दों का] उनका संग्रह न होने से अव्याप्ति होगी । [उत्तर] यह नहीं कहना चाहिए । क्योंकि [वाचक शब्दों के समान व्यञ्जक तथा द्योतक शब्दों में भी] अर्थप्रतीतिकारित्व की समानता होने से उपचार [गौणी वृत्ति] से वह [द्योतक तथा व्यञ्जक] दोनों भी वाचक ही [कहे जा सकते] हैं। इसी प्रकार द्योत्य और व्यङ्ग्य् दोनों अर्थों में भी बोध्यत्व [प्रत्येयत्व] की समानता [होने] से वाच्यत्व ही रहता है । इसलिए वाचकत्व और वाच्यत्व लोक में [क्रमशः] शब्द तथा अर्थ का प्रसिद्ध लक्षण है, फिर भी इस अलौकिक काव्यमार्ग में अर्थात् कवियों की पद्धति में [केवल वाचकत्व या वाच्यत्व शब्द तथा अर्थ का यथार्थ लक्षण नहीं है अपितु] यह आगे [अगली नवम कारिका में] कहे जाने वाला इन दोनों [शब्दों] का वास्तविक 'अर्थ' अर्थात् कुछ अपूर्व रहस्य है ॥८॥

[वह अपूर्व रहस्य तत्त्व] कैसा है यह [अगली कारिका में] कहते हैं—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥९॥

स शब्दः काव्ये यस्तत्समुचितसमस्तसामग्रीकः । कीदृक्, 'विवक्षितार्थैकवाचकः' । विवक्षितो योऽसौ वक्तुमिष्टोऽर्थस्तदेकवाचकः, तस्य एकः केवल एव वाचकः । कथम्, अन्येषु सत्स्वपि । अपरेषु तद्वाचकेषु बहुष्वपि विद्यमानेषु । तथा च, सामान्यात्मना वक्तुमभिप्रेतो योऽर्थस्तस्य विशेषाभिधायी शब्दः सम्यग् वाचकतां न प्रतिपद्यते । यथा—

कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारैः
रत्नान्यमूनि मकराकर मावमंस्थाः ।
किं कौस्तुभेन भवतो विहितो न नाम
याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥२५॥[1]

[पर्यायवाची] अन्य [शब्दों] के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक [शब्द ही वस्तुतः] शब्द [कहलाता] है [अर्थात् अनेक पर्यायवाचक शब्दों के होते हुए भी उन सब की अपेक्षा विलक्षण रूप से जो अर्थ को प्रकाशित कर सके केवल वही शब्द काव्यमार्ग में 'शब्द' कहा जाता है। इसी प्रकार] सहृदयों को आनन्दित करने वाला अपने [स्पन्द] स्वभाव से सुन्दर [पदार्थ ही काव्यमार्ग में वस्तुतः] 'अर्थ' [शब्द से व्यवहार किये जाने योग्य होता] है ।९।

काव्य में [वस्तुतः] शब्द वह है जो उस [काव्य] के योग्य समस्त सामग्री से युक्त है । कैसा, कि, विवक्षित अर्थ का जो अकेला वाचक हो [अन्य कोई शब्द जिस अर्थ को प्रकट न कर सके उस अर्थ को प्रकाशित करने वाला] विवक्षित अर्थात् [कवि] जिसको कहना चाहता है उसका अद्वितीय वाचक, उसका केवल अकेला [एकमात्र] वाचक [पद ही काव्य में 'शब्द' कहा जा सकता है] । कैसे, अन्य [अनेक समानार्थक] शब्दों के रहते हुए भी । उस अर्थ के वाचक अन्य बहुत से [शब्दों] के विद्यमान होने पर भी । [जो कवि के विवक्षित अर्थ को पूर्ण रूप से कह सके वही 'शब्द' कहलाता है] इसलिए सामान्य रूप से जो अर्थ विवक्षित है उसके लिए विशेष [अर्थ] का कथन करने वाला शब्द भली प्रकार से वाचक [रूप से प्रयुक्त] नहीं हो सकता है । जैसे—

हे मकराकर [समुद्र] इन [अपने भीतर स्थित बहुमूल्य] रत्नों को, लहरों द्वारा चलाए गये पत्थरों के कठोर प्रहारों से तिरस्कृत मत करो । क्या [इन रत्नों में से अकेले एक] 'कौस्तुभ' [रत्न] ने ही पुरुषोत्तम [विष्णु भगवान्] को भी तुम्हारे आगे याचना के लिए हाथ फैलाने वाला नहीं बना दिया । [अर्थात् उन रत्नों में से

---

१ भल्लट शतक ६२, सुभाषितावली सं० ८६६ में इसको भागवत त्रिविक्रम का श्लोक कहा है । काव्य प्रकाश पृ० ३६७ पर भी उद्धृत हुआ है ।

अत्र रत्नसामान्यात्कर्षाभिधानमुपक्रान्तम्। 'कौस्तुभेन' इति रत्नविशेषाभिधायी शब्दस्तद्विशेषोत्कर्षाभिधानमुपसंहरतीति प्रक्रमोपसंहारवैषम्यं न शोभातिशयमावहति।

न चैतद् वक्तुं शक्यते, यः कश्चिद् विशेषे गुणग्रामगरिमा विद्यते स सर्वः सामान्येऽपि सम्भवत्येवेति। यस्मात्—

वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम्।
नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥२६॥[1]

तस्मादेवंविधे विषये सामान्याभिधाय्येव शब्दः सहृदयहृदयहारितां प्रतिपद्यते। तथा चास्मिन् प्रकृते पाठान्तरं सुलभमेव—

'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इति।

अकेले 'कौस्तुभ' के कारण ही पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् तुम्हारे सामने याचक के समान हाथ फैला कर खड़े होते हैं। अतः जिन रत्नों के कारण तुमको इतना गौरव प्राप्त होता है उनका तिरस्कार मत करो] ।२५।

यहाँ सामान्यतः [सब] रत्नों के उत्कर्ष का निरूपण प्रारम्भ किया था किन्तु [अन्त में] 'कौस्तुभेन' कौस्तुभ [रत्न विशेष] ने [यह कहकर] इस रत्न विशेष को कथन करने वाले [कौस्तुभ] शब्द से उन [रत्नों] में से विशेष [रत्न] का कथन करके उसका उपसंहार किया है। इसलिए उपक्रम और उपसंहार का वैषम्य शोभातिशय को उत्पन्न नहीं करता है। [इसलिए यहाँ रत्न विशेष वाचक कौस्तुभ पद का प्रयोग उचित नहीं है। उसके स्थान पर रत्न सामान्य के वाचक किसी शब्द का प्रयोग ही किया जाना चाहिए था उसके न होने से यह पद्य 'भग्नप्रक्रमता' दोष से युक्त हो गया है]।

और यह नहीं कहा जा सकता है कि विशेष [अर्थ] में जो कुछ गुण-गरिमा है वह सब सामान्य [अर्थ] में भी हो ही सकता है। [इसलिए सामान्य वाचक शब्द के स्थान पर विशेष वाचक कौस्तुभादि शब्द का प्रयोग दोषाधायक नहीं है।] क्योंकि, [तंत्राख्यायिका नामक ग्रंथ में कहा है]—

घोड़ा, हाथी, धातु [लोह], लकड़ी, पत्थर, कपड़ा, स्त्री, पुरुष और जल [आदि समस्त पदार्थों] का [अपने ही सजातीय अन्य पदार्थ की अपेक्षा] अन्तर और महान् अन्तर होता है ॥२६॥

इसलिए इस प्रकार के [कल्लोलवेल्लित आदि श्लोक के सदृश] स्थलों में सामान्य [रत्न आदि] का बोधक शब्द ही सहृदयों का हृदयहारी हो सकता है [हृदयहारित्व को प्राप्त करता है]। इसलिए प्रकृत [कल्लोलवेल्लित आदि श्लोक]

---

१. तन्त्राख्यायिका १,४०; सुभाषित रत्नभाण्डागार पृ० १७०।

यत्रविशेषात्मना वस्तु प्रतिपादयितुमभिमतं तत्र विशेषाभिधायकमेवाभिधानं निबध्नन्ति कवयः। यथा—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमतो कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥२७॥[1]

अत्र परमेश्वरवाचकशब्दसहस्त्रसम्भवेऽपि 'कपालिनः' इति बीभत्सरसालम्बनविभाववाचकः शब्दो जुगुप्सास्पदत्वेन प्रयुज्यमानः कामपि वाचकवक्रतां विदधाति। 'सम्प्रति' 'द्वयं' चेत्यतीव रमणीयम्। यत्किल पूर्वमेका सैव दुर्व्यसनदूषितत्वेन शोचनीया सञ्जाता, सम्प्रति पुनस्त्वया तस्यास्तथाविधदुरध्यवसायसाहायकमिवारब्धमित्युपहस्यते। 'प्रार्थना' शब्दोऽप्यतितरां रमणीयः, यस्मात् काकतालीययोगेन तत्समागमः कदाचिन्न वाच्यतावहः।

में [विशेष रत्न वाचक 'कौस्तुभ' शब्द के स्थान पर सामान्य वाचक] दूसरा पाठ भी मिल ही सकता है। [अर्थात् तीसरे चरण को बदलकर इस प्रकार लिखना उचित होगा]—

एकेन किं न विहितो भवतः स नाम,

क्या [उन अनेक रत्नों में से अकेले] एक ही [कौस्तुभ नामक रत्न] ने उस [पुरुषोत्तम विष्णु भगवान्] को भी तुम्हारा [सामने हाथ फैलाने वाला] याचक नहीं बना दिया है।

और जहाँ विशेष रूप से वस्तु का प्रतिपादन करना अभिमत हो वहाँ कवि लोग विशेष [अर्थ] के अभिधायक [शब्द] को ही प्रयुक्त, [उपनिबद्ध] करते हैं। जैसे—

अब इस समय उस 'कपाली' [कपालों को माला रूप में धारण करने वाले शिव] के समागम की प्रार्थना से एक तो कलामय [चन्द्रमा] की वह सुन्दर कला और दूसरी इस लोक के नेत्रों की कौमुदी रूप तुम [पार्वती] यह दोनों [वस्तुएँ] शोचनीयता को प्राप्त हो रही हैं।।२७।

[यह महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव नामक काव्य का ५, ७१ श्लोक है। शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या करती हुई पार्वती के समीप वटुवेषधारी शिव आकर उसको शिव की ओर से विमुख करने के लिए कह रहे हैं] यहाँ शिव [परमेश्वर] के वाचक सहस्त्रों शब्दों के होने पर भी 'कपालिनः' यह वीभत्स रस के आलम्बन विभाव का वाचक शब्द [शिव के प्रति] घृणा के व्यञ्जक रूप से उपनिबद्ध होकर कुछ अपूर्व शब्द-सौन्दर्य

---

१. कुमारसम्भव ५, ७१।

'प्रार्थना' पुनरत्रात्यन्यन्तं कौलीनकलङ्ककारिणी। 'सा च' 'त्वञ्च' इति द्वयो-रप्यनुभूयमानपरस्परस्पर्धिलावण्यातिशयप्रतिपादनपरत्वेनोपात्तम् । 'कलावतः,' 'कान्तिमती' इति च मत्वर्थीयप्रत्ययेन द्वयोरपि प्रशंसा प्रतीयत इत्येतेषां प्रत्येकं कश्चिदप्यर्थः शब्दान्तराभिधेयतां नोत्सहते।

[कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम् । यस्मात प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित्परिस्पन्देन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृत-प्रस्तावसमुचितेन केनचिदुत्कर्षेण वा समाच्छादितस्वभावाः सन्तो विवक्षा-विधेयत्वेनाभिधेयतापदवीमवतरन्तस्तथाविधविशेषप्रतिपादनसमर्थेनाभिधाने-नाभिधीयमानाश्चेतनचमत्कारितामापद्यन्ते।] यथा—

[वाचकवक्रता] को उत्पन्न कर रहा है। [श्लोक में] 'सम्प्रति, और 'द्वयं' [यह दोनों पद] भी अत्यन्त सुन्दर हैं। क्योंकि पहिले तो अकेली वह [चन्द्रमा की कला] ही [कपाली के समागम की प्रार्थना रूप] दुर्व्यसन से दूषित होने से शोचनीया थी और अब तुमने भी उसके उस प्रकार के दुर्भाग्यपूर्ण कार्य में सहायता देना प्रारम्भ कर दिया, इस प्रकार [ब्रह्मचारी वटु द्वारा पार्वती का] उपहास किया जा रहा है। [श्लोक में प्रयुक्त] 'प्रार्थना' शब्द भी अत्यन्त रमणीय है। क्योंकि काकतालीय न्याय से [अकस्मात्] उस [कपाली शिव] का समागम कदाचित् निन्दनीय न होता। परन्तु उस [कपाली] के विषय में 'प्रार्थना' [वस्तुतः] कुलीनता के लिए अत्यन्त कलङ्ककारिणी है। [यह भाव प्रार्थना-पद से व्यक्त होकर काव्यशोभा को अपूर्वता प्रदान कर रहा है]। 'सा च' 'त्वं च' [श्लोक के यह दोनों पद] दोनों [चन्द्रमा की कान्तिमती कला और पार्वती] के अनुभूयमान परस्परस्पर्धी लावण्यातिशय के प्रतिपादक रूप से गृहीत हुए हैं [और बड़े चमत्कारजनक हैं]। 'कलावतः' और 'कान्तिमती' [इन दोनों पदों में] इस 'मत्वर्थीय प्रत्यय' से दोनों की प्रशंसा प्रतीत हो रही है। इसलिए इन [उपर्युक्त समस्त पदों] में से किसी भी [शब्द के] अर्थ को [उसके पर्यायवाची] किसी अन्य शब्द से नहीं कहा जा सकता है। [उस विशिष्ट अर्थ का वाचक केवल वही शब्द है जिसे कवि ने स्वयं श्लोक में प्रयुक्त किया है। वही 'विवक्षितार्थैकवाचकः' शब्द काव्य में 'शब्द' पद से कहा जाता है]।

[इसलिए] कवि के विवक्षित विशेष [अर्थ] के कथन करने की क्षमता ही वाचकत्व अर्थात् शब्द का लक्षण है। जिससे उस [काव्य-निर्माण के] समय [कवि की] प्रतिभा में उल्लिखित [विशेष रूप से प्रतिभात] किसी विशेष स्वभाव से युक्त स्फुरित होते हुए, अथवा प्रकृत प्रकरण के योग्य किसी अपूर्व गौरव से समाच्छादित होते हुए पदार्थ [कवि की] विवक्षा के अनुगत [विधेय] रूप से वाच्य हुए उस प्रकार के विशेष। [अर्थ] के प्रतिपादन में समर्थ शब्द से कथित होकर सहृदयों [चेतन] के

संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव स जातिमात्रविहितो हेवाकलेशः किल।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽप्यसंरम्भवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेसरी ॥२८॥

अत्र करिणां 'कीट' व्यपदेशेन तिरस्कारः, तोयदानां च 'शकल' शब्दाभिधानेनानादरः। 'सर्वस्य' इति यस्य कस्यचित् तुच्छतरप्रायस्येत्यवहेला, जातेश्च 'मात्र'शब्दविशिष्टत्वेनावलेपः। हेवाकस्य 'लेश' शब्दाभिधानेनाल्पताप्रतिपत्तिरित्येते विवक्षितार्थैकवाचकत्वं द्योतयन्ति। 'घटाबन्ध' शब्दश्च प्रस्तुतमहत्त्वप्रतिपादनपरत्वेनोपात्तस्तन्निबन्धनतां प्रतिपद्यते।

विशेषाभिधानाकांक्षिणः पुनः पदार्थस्वरूपस्य तत्प्रतिपादनपरविशेषणशून्यतया शोभाहानिरुत्पद्यते। यथा—

लिए चमत्कार जनक होते हैं। जैसे—

हाथी रूप [तुच्छ] कीड़े अथवा मेघ के [क्षुद्र] टुकड़े के [शब्द को सुनकर उसके] उद्देश्य से सिंह का जो क्रोध है वह [सिंहत्व] जातिमात्र से उत्पन्न सभी [सिंहों] का साधारण स्वभाव है। इसलिए [यह सोचकर] दिग्गजों और प्रलयकाल के मेघों के घटाबन्धों में भी संरम्भ [क्रोध] न करने वाला जो यह पार्वती [अम्बिका] का सिंह है वह और कहाँ अधिक चमकेगा। [और कहाँ अधिक संरम्भ को प्राप्द करेगा] ।२८।

इस [उदाहरण] में हाथियों को 'कीट' कहकर [उनके प्रति] तिरस्कार [प्रदर्शित किया गया है] और मेघों का 'शकल' [टुकड़ा] शब्द से अनादर [सूचित किया गया है]। 'सर्वस्य' [पद के प्रयोग] से जिस किसी अत्यन्त तुच्छप्राय इस [के सूचन] से [उसके प्रति] अवहेलना [निबद्ध की गई है]। जाति के 'मात्र' शब्द से विशिष्ट [करके जातिमात्रविहितो कथन] होने से [अम्बिकाकेसरी का] अभिमान [सूचित होता है]। 'हेवाक' [स्वभाव] का लेश शब्द के कथन से अल्पता [तुच्छता] की प्रतीति [होती है] इसलिए यह [सब शब्द अपने] 'विवक्षतार्थैक वाचकत्व' को द्योतित करते हैं। और 'घटाबन्ध' शब्द प्रस्तुत [अम्बिका-केसरी के] महत्त्व के प्रतिपादन के अभिप्राय से प्रयुक्त होकर उस [महत्त्व प्रतीति] का कारण होता है। [यहाँ विशिष्ट अर्थों के अभिधान के लिए कवि ने विशिष्ट शब्दों का ही प्रयोग किया है]।

विशेष रूप से कथन के योग्य [आकांक्षी] पदार्थ स्वरूप के, उस [विशेष अर्थ] के प्रतिपादन में समर्थ विशेषणों से शून्य होने से [काव्य की] शोभा की हानि होती है। [इसका उदाहरण देते हैं] जैसे—

यत्रानुल्लिखिताख्यमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे—
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लंघ्य यत्सम्पदः
तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥२६॥[1]

अत्र 'आभास' शब्दः स्वयमेव मात्रादिविशिष्टत्वमभिलषँल्लक्ष्यते। पाठान्तरम्—'छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता'। इति। एतच्च वाचकवक्रताप्रकारस्वरूपनिरूपणावसरे प्रतिपदं प्रकटीभविष्यतीत्यलमतिप्रसङ्गेन।

अर्थश्च वाच्यलक्षणः कीदृशः? काव्ये यः 'सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः'। सहृदयाः काव्यार्थविदस्तेषामाह्लादमानन्दं करोति यस्तेन स्वस्पन्देन

उस [चिन्तामणि नामक मणि विशेष] के होने पर ब्रह्मा की यह सारी रचना [संसार] नाम लेने योग्य भी नहीं है, जिसके उत्कर्ष की अवधि [चिन्तामणि अमुक वस्तु से उत्कृष्ट है इस प्रकार उसके उत्कर्ष की सीमा] की कल्पना करना भी [उसके] अत्यन्त तिरस्कार की चरम सीमा है। और जिस का वैभव प्राणियों के मनोरथ [कल्पना] की पहुँच से भी परे है [जिसके सामर्थ्य तथा वैभव को प्राणी सोच भी नहीं सकते हैं] जिसकी एक झलक [आभासमात्र] से ही मणि बन जाने वाले पत्थरों [के गणना प्रसङ्ग] में उस [चिन्तामणि नामक] मणि [विशेष] को [अन्य मणियों के समान] पत्थर मानना ही उचित है। [यह सोपहास व्यङ्ग्य वचन है। अर्थात् अन्य मणियों के समान चिन्तामणि को भी एक पत्थर समझ लेना अनुचित है। यह अन्योक्ति है। किसी अत्यन्त विशिष्ट गुणयुक्त कार्यकर्ता को भी अन्य सबके समान एक साधारण सेवक या कार्यकर्त्ता मान लेना उचित नहीं है। उसके गुणों का यथार्थ और उचित आदर होना चाहिए] ।२६।

यह श्लोक काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में उदाहरण संख्या २७३ पर उद्धृत हुआ है। वहाँ श्लोकारम्भ में तत्र के स्थान पर यत्र पाठ है। वक्रोक्तिजीवितम् में श्लोक का आरम्भ तत्र पाठ से हुआ है। परन्तु यत्र का पाठ ही अधिक उपयुक्त है। इसलिए मूल में हमने काव्य प्रकाश के समान 'यत्र' पाठ ही रखा है।

यहाँ [इस उदाहरण में प्रयुक्त] आभास शब्द स्वयं [अपूर्ण होने से] मात्र [आभासमात्र] आदि विशिष्टत्व को चाहता हुआ दिखाई देता है। [अर्थात् आभासमात्र से पत्थरों को मणि बना देने वाले, इस प्रकार मात्र शब्द के प्रयोग करने पर

---

१. काव्यप्रकाश पृ० ३९४ पर भी उद्धृत है।

आत्मीयेन स्वभावेन सुन्दरः सुकुमारः। तदेतदुक्तं भवति—यद्यपि पदार्थस्य नानाविधधर्मखचितत्त्वं सम्भवति तथापि तथाविधेन धर्मेण सम्बन्धः समाख्यायते यः सहृदयहृदयाह्लादमाधातुं क्षमते। तस्य च तदाह्लादसामर्थ्यं सम्भाव्यते येन काचिदेव स्वभावमहत्ता रसपरिपोषाङ्गत्वं वा व्यक्तिमासादयति। यथा—

ही वाक्य में सौन्दर्य आ सकता है। उसका प्रयोग न होने से काव्य-सौन्दर्य की हानि हो रही है। अतएव उसके स्थान पर] दूसरा पाठ—

छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम्।

यह [परिवर्तित पाठ अधिक उपयुक्त] है। यह [सब] वाचक वक्रता उसके भेद और स्वरूप के निरूपण के अवसर पर प्रतिपद [स्वयं] प्रकट हो जायगा। इसलिए [यहाँ] अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ तक काव्यमार्ग में किस प्रकार का शब्द वस्तुतः 'शब्द' कहा जा सकता है, इस बात का प्रतिपादन किया है। अब कारिका के उत्तरार्द्ध में उसी प्रकार के 'अर्थ' का निरूपण करते हैं—

और वाच्य रूप अर्थ कैसा [काव्य में अभिप्रेत है]। काव्य में जो सहृदयों के हृदयों का आह्लादकारी अपने स्वभाव से सुन्दर हो। सहृदय अर्थात् काव्य के मर्मज्ञ 'उनके आह्लाद अर्थात् आनन्द को करने वाला जो स्वस्पन्द अर्थात् अपना स्वभाव उससे सुन्दर' अर्थात् सुकुमार। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है फिर भी उस प्रकार के धर्म से [उसका] सम्बन्ध [काव्य में] वर्णन किया जाता है जो [धर्म विशेष] सहृदयों के हृदय में आनन्द को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है। और उस [धर्म] में ऐसी सामर्थ्य सम्भव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रस को परिपुष्ट करने की क्षमता [अङ्गता] अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है। जैसे—

यह श्लोक वराहमिहिर के सदुक्तिकर्णामृतम् नामक ग्रन्थ में तथा सुभाषित-रत्नभाण्डागार में सङ्कलित हुआ है। परन्तु उसका रचयिता कौन है यह नहीं कहा जा सकता है। सदुक्तिकर्णामृतम् में 'खरकुहरविशत्तोयतुच्छेषु' यह पाठान्तर पाया जाता है।

दंष्ट्रापिष्टेषु सद्यः शिखरिषु न कृतः स्कन्धकण्डूविनोदः
सिन्धुष्वङ्गावगाहः खुरकुहरगलत्तुच्छतोयेषु नाप्तः ।
लब्धाः पातालपङ्के न लुठनरतयः पोत्रमात्रोपयुक्ते
येनोद्धारे धरित्र्याः स जयति विभुताविघ्नितेच्छो वराहः ॥ ३० ॥[1]

अत्र च तथाविधः पदार्थपरिस्पन्दमहिमा निबद्धो यः स्वभावसम्भविनस्तत्परिस्पन्दानन्तरस्य संरोधसम्पादनेन स्वभावमहत्तां समुल्लासयन् सहृदयाह्लादकारितां प्रपन्नः ।

यथा च—

[वराहावतार के समय] जिस [वराह रूपधारी विष्णु भगवान्] ने दाँत [के लगने] से ही तुरन्त चूर्ण हो जाने वाले पर्वतों पर कन्धे की खुजली नहीं मिटाई। खुर के कुहरों में ही जिनका तुच्छ [अति स्वल्प] पानी समा गया है ऐसे समुद्रों में स्नान [भी] नहीं किया और केवल पोतने योग्य [स्वल्प] पाताल की पङ्क में लोटने का आनन्द [भी] नहीं उठा पाया। अपने विभुत्व के कारण [वराहजीवनोचित जलावगाहन, पङ्कलोटन आदि विषय में] अपूर्ण कामना वाले वह वराह [रूपधारी विष्णु भगवान्] सब से उत्कृष्ट हैं ॥३०॥

यहाँ उस प्रकार की वराहावतार का स्वाभाविक महिमा वर्णित है जो [वराह के] स्वाभाविक [स्कन्धघर्षण, जलावगाहन, और पङ्कलुठन आदि] अन्य व्यापारों के निरोध द्वारा [वराह रूपधारी विष्णु भगवान् की] स्वाभाविक महत्ता को प्रकट करता हुआ सहृदयों के हृदय [के आह्लादकारित्व को प्राप्त हो रहा है] का आह्लादकारी हो रहा है।

यहाँ गद्यभाग में वक्रोक्तिजीवितम् के पूर्व संस्करण में 'निबद्धोदयः' पाठ छपा है। उसकी अपेक्षा 'निबद्धो यः' यह पाठ अधिक अच्छा है।

और जैसे [इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण निम्न पद्य है]

यह श्लोक महाकवि कालिदास कृत रघुवंश के १४वें सर्ग का ७०वाँ श्लोक है। उसमें लक्ष्मण के द्वारा वाल्मीकि आश्रम के समीप सीता को छोड़ दिये जाने के बाद, सीता के रुदन को सुनकर उस रोने की आवाज़ का अनुसरण करते हुए वाल्मीकि मुनि के उसके पास जाने का वर्णन है। कवि लिखता है—

---

१. 'सदुक्ति कर्णामृत में वराह मिहिर के नाम से दिया है।

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ३१ ॥[1]

अत्र कोऽसौ मुनि वाल्मीकिरिति पर्यायपदमात्रे वक्तव्ये परमकारुणिकस्य निषादनिर्भिन्नशकुनिसन्दर्शनमात्रसमुत्थितः शोकः श्लोकत्वमभजत यस्येति तस्य तदवस्थजनकराजपुत्रीदर्शनविवशवृत्तेरन्तःकरणपरिस्पन्दः करुणरसपरिपोषाङ्गतया सहृदयहृदयाह्लादकारी कवेरभिप्रेतः । यथा च—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्सन्देशाद्धृदयनिहितादागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ।३२।[2]

कुश और समिधाओं के लाने के लिए निकले हुए [वाल्मीकि] मुनि रोने की आवाज़ [जिधर से आ रही थी उस] का अनुसरण करते हुए उसके पास पहुँचे । जिन [वाल्मीकि मुनि] का निषाद के द्वारा मारे गये [क्रौञ्च] पक्षी को देखने से उत्पन्न हुआ शोक [मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ इत्यादि प्रथम] श्लोक के रूप में परिणत हुआ ॥३१॥

यहाँ वह कौन से मुनि थे [इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए] वाल्मीकि [मुनि] केवल इस नाम के कथन करने के अवसर पर 'जिस परम कारुणिक का निषाद द्वारा मारे गये [क्रौञ्च] पक्षी के दर्शनमात्र से उत्पन्न शोक, श्लोकत्व को प्राप्त हो गया,' उनका, उस प्रकार की [पूर्णगर्भा और वन में परित्यक्ता] अवस्था वाली जनकराजपुत्री [सीता] के दर्शन से विवशवृत्ति, अन्तःकरण का व्यापार [अथवा स्वभाव । कुन्तक 'परिस्पन्द' शब्द का प्रयोग स्वभाव अर्थ में बहुत करते हैं ।] करुणरस के परिपोषण में सहायक [अङ्ग] होकर सहृदयहृदयाह्लादकारी [हो यह बात इस श्लोक के निर्माता महाकवि कालिदास को] कवि को अभिमत है ।

[इसी प्रकार का तीसरा उदाहरण महाकवि कालिदास के मेघदूत से निम्न प्रकार दिया जा सकता है ।] और जैसे—

हे सौभाग्यवती [सुहागिन] मुझे [अपने] पति का, हृदय में रखे हुए [अर्थात् पत्र रूप में नहीं मौखिक] उसके सन्देश [को तुम्हारे पास पहुँचाने के प्रयोजन] से तुम्हारे समीप आया हुआ, अम्बुवाह [मेघ, नामक] मित्र समझो । जो मार्ग में विश्राम करने वाले प्रवासियों के समूहों को अपनी प्रबल और मधुर [गर्जन की] ध्वनि से, [अपनी प्रियतमा रूप] अबलाओं की [पतियों के प्रवास-काल में बिना शृङ्गार के बाँधे हुए केशों की] वेणी को खोलने [और पति के आगमन पर यथोचित शृङ्गार करने] के लिए उत्सुक [बनाकर] घर भेजता है ॥३२॥

---

१. रघुवंश १४, ७०। २. मेघदूत ५६ ।

अत्र प्रथममामन्त्रपदार्थस्तदाश्वासकारिपरिस्पन्दनिबन्धनः । 'भर्तुर्मित्रं मां विद्धि' इत्युपादेयत्वमात्मनः प्रथयति। तच्च न सामान्यम्, 'प्रियम्' इति विश्रम्भकथापात्रताम् । इति तामाश्वास्य उन्मुखीकृत्य च तत्सन्देशात् त्वत्समीपमागमनमिति प्रकृतं प्रस्तौति। 'हृदयनिहितात्' इति स्वहृदयनिहितं सावधानत्वं द्योत्यते। ननु चान्यः कश्चिदेवंविधव्यवहारविदग्धबुद्धिः कथं न नियुक्त इत्याह, ममैवात्र किमपि कौशलं विजृम्भते । 'अम्बुवाहम्' इत्यात्मनस्तत्कारिताभिधानं द्योतयति। यः 'प्रोषितानां वृन्दानि त्वरयति,' सञ्जातत्वराणि करोति। कीदृशानां, 'श्राम्यतां,' त्वरायामसमर्थानामपि। 'वृन्दानि' इति बाहुल्यात् तत्कारिताभ्यासं कथयति । केन, 'मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिः'। माधुर्यरमणीयैः शब्दैः, विदग्धदूत

यहाँ [इस श्लोक में] प्रथम सम्बोधन पद [अविधवे] का अर्थ उस [यक्ष की पत्नी] को आश्वासन देने वाले व्यापार का कारण होता है । [अविधवे शब्द से यह सूचित होता है कि तुम्हारा पति जीवित है । अतः यह सर्व-प्रथम सम्बोधन पद यक्षपत्नी के लिए अत्यन्त आश्वासदायक है]। 'मुझे [अपने] पति का मित्र समझो' यह [वाक्य] अपनी [मेघ की] उपादेयता [और विश्वसनीयता] को सूचित करता है। और वह [मित्र] भी सामान्य नहीं [अपितु] 'प्रिय' [मित्र] इस [पद] से विश्रम्भकथा [सब प्रकार की गोप्य कथा] की [भी] पात्रता को सूचित करता है । इस प्रकार [प्रथम चरण में] उस [वियोगिनी यक्षपत्नी] को आश्वासन देकर और [अपनी बात सुनने के लिए] उन्मुख करके 'उसके सन्देश से तुम्हारे पास आया हूँ' इस [कथन] से प्रकृत [विषय] को प्रस्तुत करता है। 'हृदयनिहित' पद से हृदय में स्थित [या सन्देश का हृदयनिहितत्त्व अर्थात् पत्र रूप नहीं अपितु मौखिकत्व और] सावधानत्ता द्योतित होती है। [यक्षपत्नी के मन में शङ्का हो सकती है कि] इस प्रकार के [सन्देश ले जा सकने के] व्यवहार में निपुण मति वाला कोई अन्य व्यक्ति [इस सन्देश लाने के कार्य में] क्यों नियुक्त नहीं किया। [तुमको ही क्यों भेजा है ?] इस [शङ्का के निवारण] के लिए कहते हैं, [मुझे जो इस कार्य के लिए भेजा गया है] इसमें कुछ मेरा ही कौशल कारण है। [मेरे समान सुन्दर रूप में और जल्दी, अन्य कोई इस कार्य को नहीं कर सकता है। इस बात का उपपादन करने के लिए आगे हेतु देता है] 'अम्बुवाह' इस [पद] से [वहन करना ही मेरा कार्य है। जब जल को ले जा सकता हूँ तो सन्देश को वहन करने की क्षमता भी मुझ में है। इस प्रकार] अपनी तत्कारिता [सन्देशवहनकारिता] और [उसके साथ ही] नाम को सूचित करता है। 'जो प्रवासियों के समूहों' [हजारों प्रवासियों] को 'त्वरयति' जिनको [घर] जाने की जल्दी पड़ गई है इस प्रकार का कर देता है। किस प्रकार के [प्रवासियों को, कि] 'विश्राम करते हुए' [थकावट के कारण] जल्दी करने में असमर्थ होने पर भी

प्ररोचनावचनप्रायैरित्यर्थः । क्व, 'पथि' मार्गे । यदृच्छया यथा कथाञ्चिदहमे-तदाचरामीति । किं पुनः प्रयत्नेन सुहृत्प्रेमनिमित्तं संरब्धबुद्धिं न करोमीति । कीदृशानि वृन्दानि, 'अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि' । अबलाशब्देनात्र तत्प्रेयसी-विरहवैधुर्यासहत्वं भण्यते । तद्वेणिमोक्षोत्सुकानीति तेषां तदनुरक्तचित्त-वृत्तित्वम् ।

तदयमत्र वाक्यार्थः । विधिविहितविरहवैधुर्यस्य परस्परानुरक्तचित्तवृत्ते-र्यस्य कस्यचित् कामिजनस्य समागमसौख्यसम्पादनसौहार्दे सदैव गृहती-व्रतोऽस्मीति । अत्र यः पदार्थपरिस्पन्दः कविनोपनिबद्धः प्रबन्धस्य, 'मेघदूतत्त्वे' परमार्थतः स एव जीवितमिति सुतरां सहृदयहृदयाह्लादकारी ।

[मेघ की आवाज सुनते ही उठकर घर को भागने के लिए तैयार हो जाते हैं]। 'वृन्दानि' इस [पद] से बाहुल्य [सूचन] द्वारा उस क्रिया के करने के अभ्यास को सूचित करता है। किस से [वृन्दानि त्वरयति] 'गम्भीर और मधुर ध्वनियों से,' माधुर्य से, रमणीय शब्दों से, चतुर दूत के प्ररोचना शब्दों के समान [अर्थात् मानों कोई दूत उन प्रवा-सियों के पास आकर उनको अपनी पत्नी के पास चलने के लिए तैयार कर रहा हो। उसके शब्दों के समान मधुर अपने गर्जन के शब्द से मैं उन विश्राम करते हुए पथिकों को घर जाने के लिए उत्सुक कर देता हूँ] यह अभिप्राय हुआ । कहाँ [विश्राम करते हुए, कि] 'मार्ग में' । [अर्थात् उनको उत्सुक करने के लिए मुझे किसी स्थान विशेष की आवश्यकता नहीं होती है अपितु] स्वेच्छा से जैसे [भी हो] तैसे यह [कार्य] कर सकता हूँ । फिर [अपने] मित्र [यक्ष] के प्रेम [की पूर्ति] के लिए प्रयत्न से उत्सुक [संरब्ध बुद्धि] क्यों नहीं कर सकता हूँ । किस प्रकार के वृन्दों को । [अपनी वियो-गिनी पत्नी रूप] 'अबलाओं के वेणी को खोलने के लिए उत्सुक' [वृन्दों को]। 'अबला' शब्द से यहाँ उनकी प्रियतमाओं के विरह-दुःख को सहन करने की अक्षमता को सूचित किया गया है । 'तद्वेणिमोक्षोत्सुकानि' इस [पद] से उन [प्रवासियों] का उन [वियोगिनी पत्नियों] के प्रति अनुरक्तचित्तत्व [सूचित किया गया है] ।

इस प्रकार श्लोक [वाक्य] का यह अभिप्राय हुआ कि [तुम दोनों के समान] भाग्यवश विरह-दुःख भोगने वाले और परस्पर अनुरक्त चित्त सभी प्रेमीजनों के समागम सुख के सम्पादन रूप प्रिय कार्य को करने का मैंने सदैव से व्रत लिया हुआ है । यहाँ [इस श्लोक में] कवि ने जो [मेघरूप] पदार्थ का स्वभाव वर्णित किया है, वस्तुतः [इस मेघदूत नामक] काव्य के मेघदूतत्व [मेघदूत इस नामकरण] में वही [कारण] जीवन है । इसलिए [यह अर्थ] स्वयं ही सहृदयों के लिए अत्यन्त आनन्ददायक है ।

न पुनरेवंविधो यथा—

सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी,
सीता जवात् त्रिचतुराणि पदानि गत्वा ।
गन्तव्यमद्य कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा,
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥३३॥[1]

अत्र असकृत् प्रतिक्षणं, कियदद्य गन्तव्यमित्यभिधानलक्षणः परिस्पन्दो न स्वभावमहत्तामुन्मीलयति, न च रसपरिपोषाङ्गतां प्रतिपद्यते । यस्मात् सीतायाः सहजेन केनाप्यौचित्येन गन्तुमध्यवसितायाः सौकुमार्यादेवंविधं वस्तु

[इसके विपरीत नीचे दिये हुए श्लोक में दिखलाया हुआ] इस प्रकार का [अर्थ सहृदयहृदयाह्लादकारी] नहीं होता है। जैसे—

[यह श्लोक बालरामायण नाटक के पञ्चम अङ्क का ३४वाँ श्लोक है। उसमें वन को जाते समय सीता की अवस्था और उसकी सुकुमारता का वर्णन किया गया है]। शिरीष के समान कोमल सीता ने [अयोध्या] नगरी के बाह्य भाग में हा [पहले-पहल] जल्दी से तीन-चार क़दम चलकर [उतने में ही श्रान्त हो जाने के कारण] आज कितनी दूर [और] चलना है बार-बार यह कहते हुए, रामचन्द्र की आँखों में प्रथम बार आँसुओं को प्रवाहित कर दिया ॥३३॥

अर्थात् सीता वन को बड़े उत्साह से चली थीं। परन्तु अभी तो वह अयोध्या नगरी की सीमा को भी पार न कर पाई थी कि दो-चार क़दम चलकर ही थक गईं, और रामचन्द्र से बार-बार पूछने लगीं कि आज अभी और कितना चलना है ? इसको देखकर रामचन्द्र की आँखों में आँसू आ गये। इससे पहले तक कभी रामचन्द्र रोए नहीं थे। परन्तु सीता की इस अवस्था को देखकर वह विवश रोने लगे। यह कवि का भाव है। महाकवि तुलसीदास ने इसी पद्य का छायानुवाद इस प्रकार दिया है—

पुरतें निकसीं रघुवीरवधू, धरि धीर दिये मग में पग द्वै,
झलकीं भरि भाल कनीं जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै।
पुनि बूझति हैं चलनो अब केतक पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै,
सिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अतिचारु चलीं जल च्वै॥

यहाँ [इस श्लोक में] 'असकृत्' बार-बार अर्थात् प्रतिक्षण और 'आज कितना चलना है' यह कथन रूप [स्वभाव या] व्यापार, न स्वभाव की महत्ता को प्रकट करता है और न रस के परिपोष में सहायक [अङ्ग] होता है। क्योंकि [पत्नीत्व के नाते] किसी स्वाभाविक औचित्य के कारण [राम के साथ वन को] जाने का निश्चय कर

---

१. बालरामायण ४, ३४।

हृदये परिस्फुरदपि वचनमारोहतीति सहृदयैः सम्भावयितुं न पार्यते । न च प्रतिक्षणमभिधीयमानमपि राघवाश्रुप्रथमावतारस्य सम्यक् सङ्गतिं भजते । सकृदाकर्णनादेव तस्योत्पत्तेः । एतच्चात्यन्तरमणीयमपि मनाङ्मात्रचलितावधानत्वेन कवेः कदर्थितम् । तस्माद् 'अवशम्' इत्यत्र पाठः कर्त्तव्यः ।

तदेवंविधं विशिष्टमेव शब्दार्थयोर्लक्षणमुपादेयं । तेन नेयार्थापार्थादयो दूरोत्सारितत्वात् पृथङ् न वक्तव्याः ॥९॥

एवं शब्दार्थयोः प्रसिद्धस्वरूपातिरिक्तमन्यदेव रूपान्तरमभिधाय, न तावन्मात्रमेव काव्योपयोगि किन्तु वैचित्र्यान्तरविशिष्टमित्याह—

लेने वाली सीता के हृदय में [उसके] सुकुमार होने से [कष्ट पड़ने पर] इस प्रकार की वस्तु [जो भाव इस पद्य में व्यक्त किया गया है वह] स्फुरित होने पर भी [उस जैसी दृढ़ प्रतिज्ञ आदर्श नारी के] मुँह से निकल सकती है यह बात सहृदय पाठक कल्पना भी नहीं कर सकता है । [इसलिए सीता के विषय में इस प्रकार का कथन उसके स्वभाव की महत्ता को बढ़ाने वाला नहीं है] । और न 'प्रतिक्षण कहे जाने पर रामचन्द्र के [नेत्रों में] प्रथम बार आँसुओं को प्रवाहित किया' [इस कथन] की भली प्रकार सङ्गति लगती है । एक बार सुनने से ही उस [आँसुओं के प्रवाह] की उत्पत्ति [उचित] होने से [असकृद् ब्रुवाणा रामाश्रुणः प्रथमावतारं कृतवती यह कथन भी सुसङ्गत नहीं होता है । इसलिए] यह [पद्य] अत्यन्त रमणीय होने पर भी कवि की थोड़ी-सी असावधानी से बिगड़ गया है । इसलिए यहाँ [असकृत् के स्थान पर] 'अवशम्' [गन्तव्यमद्य कियदित्यवशं ब्रुवाणा] यह पाठ रखना चाहिए था ।

इसलिए [शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् इस काव्य लक्षण में] इस प्रकार का शब्द और अर्थ का विशिष्ट ही लक्षण लेना चाहिए । [सामान्य शब्द और अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए] । इस [प्रकार के विशिष्ट शब्द और अर्थ के लिए ही काव्य शब्द का प्रयोग होने] से 'नेयार्थ' और 'अपार्थ' [नामक काव्य-दोष] आदि एकदम निकल जाते हैं [उनकी कोई सम्भावना ही काव्य में नहीं रहती है । क्योंकि उस प्रकार के शब्द या अर्थ काव्य ही नहीं कहलाते हैं]; इसलिए उन [दोषों] का अलग वर्णन करने की आवश्यकता नहीं रहती है ॥९॥

इस प्रकार [काव्य के लक्षण में अभिप्रेत] शब्द और अर्थ के, प्रसिद्ध स्वरूप से अतिरिक्त कुछ अन्य ही [विशेष प्रकार के] रूपान्तर को यह कहकर, केवल उतना ही काव्य में उपयोगी नहीं है किन्तु कुछ अन्य प्रकार के वैचित्र्य से युक्त [शब्दार्थ स्वरूप ही काव्य में उपयुक्त होने योग्य होता है] यह [बात इस १०वीं कारिका में] कहते हैं—

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥१०॥

उभौ द्वावप्येतौ शब्दार्थावलङ्कार्यावलङ्करणीयौ, केनापि शोभातिशयकारिणालङ्करणेन योजनीयौ । किं तत् तयोरलङ्करणमित्यभिधीयते, 'तयोः पुनरलंकृतिः' । तयोर्द्वित्वसंख्याविशिष्टयोरप्यलंकृतिः पुनरेकैव, यया 'द्वावप्यलंक्रियेते।

काऽसौ, वक्रोक्तिरेव । वक्रोक्तिः, प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । कीदृशी, वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः । वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं, तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः । विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते ।

तदिदमत्र तात्पर्यम् । यत् शब्दार्थौ पृथगवस्थितौ केनापि व्यतिरिक्तेनालङ्करणेन योज्येते । किन्तु वक्रतावैचित्र्ययोगितयाभिधानमेवानयोरलङ्कारः ।

यह दोनों [शब्द और अर्थ] अलङ्कार्य होते हैं । और चतुरतापूर्ण शैली से कथन [वैदग्ध्यभङ्गीभणिति] रूप वक्रोक्ति ही उन दोनां [शब्द तथा अर्थ] का अलङ्कार होती है ॥१०॥

यह शब्द और अर्थ दोनों ही अलङ्कार्य अर्थात् [अलङ्कार द्वारा] अलङ्करणीय अर्थात् शोभातिशयकारी किसी न किसी अलङ्कार से युक्त करने योग्य होते हैं । उनका वह अलङ्कार कौनसा है यह, 'और उन दोनों का अलङ्कार' [इत्यादि पदों से] कहते हैं । उन द्वित्व संख्या से युक्त [शब्द तथा अर्थ] का अलङ्कार, केवल एक [वक्रोक्ति] ही हैं, जिससे [शब्द और अर्थ] दोनों ही अलंकृत होते हैं ।

[प्रश्न] वह [शब्द अर्थ दोनों का एक ही अलङ्कार] कौनसा है । [उत्तर कहते हैं] वक्रोक्ति ही [शब्द तथा अर्थ दोनों का एकमात्र अलङ्कार है] । प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन शैली ही वक्रोक्ति [कही जाती] है । कैसी, वैदग्ध्यपूर्ण शैली से कथन [वक्रोक्ति है] । वैदग्ध्य अर्थात् चतुरतापूर्ण कवि कर्म [काव्य-निर्माण] का कौशल, उसकी भङ्गी शैली या शोभा उससे भणिति अर्थात् [वर्णन] कथन करना । विचित्र [असाधारण] प्रकार की वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति कहलाती है ।

यहाँ इसका यह अभिप्राय हुआ कि शब्द और अर्थ [अलङ्कार्य रूप से] अलग स्थित है और वे [उनसे भिन्न] किसी अन्य अलङ्कार से युक्त किये जाते हैं । किन्तु

१. यहाँ पुराने संस्करण में 'यथा द्वावप्यंक्रियेते' पाठ छपा हुआ है । यह पाठ वस्तुतः अशुद्ध है । यया के स्थान पर यथा छप गया है और 'द्वावप्यंक्रियेते' में 'ल' छूट गया है । उसको जोड़ देने से 'यया द्वावप्यलंक्रियेते' यह पाठ शुद्ध होगा ।

तस्यैव शोभातिशयकारित्वात् । एतच्च वक्रताव्याख्यानावसर एवोदाहरिष्यते ॥१०॥

ननु च किमिदं प्रसिद्धार्थविरुद्धं प्रतिज्ञायते, यद्वक्रोक्तिरेवालङ्कारो नान्यः कश्चिदिति । यतश्चिरन्तनैरपरं स्वभावोक्तिलक्षणमलङ्करणमाम्नातम् । तच्चातीवरमणीयम् । इत्यसहमानस्तदेव निराकर्तुमाह—

अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥११॥

येषामलङ्कारकृतामलङ्कारकाराणां स्वभावोक्तिरलंकृतिः, या स्वभावस्य पदार्थधर्मलक्षणस्य परिस्पन्दस्य उक्तिरभिधा, सैवालंकृतिरलङ्करणं प्रतिभाति, ते सुकुमारमानसत्वाद् विवेकक्लेशद्वेषिणः । यस्मात् स्वभावोक्तिरिति कोऽर्थः ।

वक्रता वैचित्र्य के उपयोगी रूप से कथन करना ही उनका अलङ्कार है । उसी [कथन] के शोभातिशयकारी होने से । वक्रता के [भेदों] के व्याख्यान के अवसर पर ही इसके उदाहरण देंगे ॥१०॥

[प्रश्न] प्रसिद्ध अर्थ के विरुद्ध आप यह प्रतिज्ञा कैसे करते हैं कि वक्रोक्ति ही [एकमात्र] अलङ्कार है अन्य [कोई अलङ्कार] नहीं है । क्योंकि [दण्डी आदि] अन्य प्राचीन आचार्यों ने स्वभावोक्ति रूप अन्य अलङ्कार [भी] कहा है और वह अत्यन्त सुन्दर [होने से उपेक्षणीय नहीं] है ।

[उत्तर] इस [स्वभावोक्ति वादी के पूर्वपक्ष] को सहन न कर सकने के कारण [वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक] उसी [स्वभावोक्तिवाद] के निराकरण करने के लिए [अगली ११ से १५ तक पाँच कारिकाओं में युक्तियाँ] कहते हैं—

जिन [दण्डी सदृश] आलङ्कारिक आचार्यों के मत में स्वभावोक्ति [भी] अलङ्कार है उनके मत में और अलङ्कार्य क्या रह जाता है । [अर्थात् स्वभाव ही अलङ्कार्य है । उसको अलङ्कार मान लेने पर फिर 'अलङ्कार्य' किसको कहा जायगा । अतः अलङ्कार्य भूत स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानना उचित नहीं है] ॥११॥

जिन अलङ्कारकारों अर्थात् अलङ्कार [शास्त्र] के रचने वाले आचार्यों के मत में 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार है अर्थात् जो पदार्थ के [स्वरूपाधायक] धर्मभूत स्वभाव की उक्ति अर्थात् कथन वही [जिनको] अलंकृति अर्थात् अलङ्कार प्रतीत होता है वह विवेचन शक्ति से रहित [सुकुमारबुद्धि] होने से [अलङ्कार्य और अलङ्कार के] विवेक [भेद, 'विचिर पृथग्भावे'] का कष्ट नहीं उठाना चाहते हैं । [यदि उसके विवेचना का कष्ट करें तो उन्हें विदित हो जाय कि स्वभावोक्ति अलङ्कार नहीं अलङ्कार्य है क्योंकि] स्वभावोक्ति इस [शब्द] का क्या अर्थ है ? स्वभाव ही का वर्णन [होने पर

स्वभाव एवोच्यमानः। स एव यद्यलङ्कारस्तत्किमन्यत् तद्व्यतिरिक्तं काव्य-शरीरकल्पं वस्तु विद्यते यत्तेषामलङ्कार्यतया विभूष्यत्वेनावतिष्ठते पृथगवस्थिति-मासादयति। न किञ्चिदित्यर्थः ॥११॥

ननु च पूर्वमेवावस्थापितं यत्, वाक्यस्यैवाविभागस्य सालङ्कारस्य काव्यत्वमिति [१,६] तत्किमर्थमेतदभिधीयते? सत्यम्। किन्तु तत्रासत्यभूतोऽपि, अपोद्धारबुद्धिविहितो विभागः कर्तुं शक्यते वर्णपदन्यायेन वाक्यपद-न्यायेन चेत्युक्तमेव। एतदेव प्रकारान्तरेण विकल्पयितुमाह—

स्वभावोक्ति कही जा सकती है। यही स्वभावोक्ति शब्द का अर्थ हुआ]। वह [स्वभाव-वर्णन] ही यदि अलङ्कार है तो फिर उस [स्वभाव-वर्णन] से भिन्न काव्य के शरीर स्थानीय कौन-सी वस्तु है जो उनके मत में 'अलङ्कार्य' तथा अर्थात् विभूष्यत्वेन स्थित हो। [स्वभावोक्ति से] पृथग् [अपनी] सत्ता को प्राप्त करे। अर्थात् और कुछ नहीं है [जिसे 'अलङ्कार्य' कहा जा सके। स्वभाव-वर्णन ही 'अलङ्कार्य' है। अतः उसको 'अलङ्कार' कहना उचित नहीं है।] ॥११॥

[पूर्वपक्ष, इस पर स्वभावोक्ति वादी प्रश्न करता है कि आपने अर्थात् वक्रोक्ति वादी ने ही ग्रन्थ की १, ६ कारिका में] पहले यह [सिद्धान्त] स्थापित किया है कि [अलङ्कार्य और अलङ्कार के] विभाग से रहित सालङ्कार [शब्दार्थ रूप] वाक्य का ही काव्यत्व है। तो [जब आप स्वयं अलङ्कार्य और अलङ्कार का विभाग नहीं मानते हैं तब हम से] यह क्यों कहते हैं [कि स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानने पर अलङ्कार्य क्या होगा। हम भी अलङ्कार और अलङ्कार्य का विभाग नहीं मानते हैं। आप ऐसा समझ सकते हैं]।

[उत्तरपक्ष] ठीक है। [हम अलङ्कार्य और अलङ्कार का वास्तविक विभाग नहीं मानते हैं] किन्तु [हमारे मत में] वहाँ भेदविवक्षा [अपोद्धार बुद्धि] से पूर्वोक्त [पृ० १६ पर दिखलाये हुए] 'वर्णपद न्याय' से अथवा 'वाक्यपद न्याय' से [जिस प्रकार वैयाकरण सिद्धान्त में पद से भिन्न उसके अवयव रूप 'वर्ण' नहीं होते हैं और वाक्य से भिन्न उसके अवयवभूत 'पदों' की स्वतन्त्र वास्तविक स्थिति नहीं है फिर भी प्रकृति, प्रत्यय, क्रिया, कारक, आदि व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार काव्य में भी अलङ्कार तथा अलङ्कार्य की अलग पारमार्थिक स्थिति न होने पर भी भेद विवक्षा में अलङ्कार्य अलङ्कार] विभाग किया जा सकता है। यह कह ही चुके हैं। [इसलिए यहाँ भी अलङ्कार्य तथा अलङ्कार का भेद होना आवश्यक है। भले ही वह पारमार्थिक न हो। 'स्वभावोक्ति-वाद' में अलङ्कार्य भूत पदार्थस्वरूप को ही अलङ्कार मान लेने पर वह भेद नहीं बनता है। अतः यह स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का पक्ष ठीक नहीं है]। इसी बात को प्रकारान्तर से प्रतिपादन करने के लिए [विकल्पयितुं] कहते हैं—

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥१२॥

स्वभावव्यतिरेकेण स्वपरिस्पन्दं विना निःस्वभावं वक्तुमभिधातुमेव न युज्यते, न शक्यते । वस्तु वाच्यलक्षणम् । कुतः, तद्रहितं तेन स्वभावेन रहितं वर्जितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते । उपाख्याया निष्क्रान्तं निरुपाख्यम् । उपाख्या, शब्दः, तस्यागोचरभूतमभिधानायोग्यमेव सम्पद्यते । यस्मात् स्वभावशब्दस्येदृशी व्युत्पत्तिः, भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययौ इति भावः, स्वस्यात्मनो भावः स्वभावः । तेन स एव यस्य कस्यचित् पदार्थस्य प्रख्योपाख्यावतारनिबन्धनम् । तेन वर्जितं असत्कल्पं वस्तु शशविषाणप्रायं शब्दज्ञानागोचरतां प्रतिपद्यते । स्वभावयुक्तमेव सर्वथाभिधेयपदवीमवतरतीति शाकटिकवाक्यानामपि सालङ्कारता प्राप्नोति, स्वभावोक्तियुक्तत्वेन ॥१२॥

[स्वभावोक्ति को जब अलङ्कार मानोगे तब उससे भिन्न कुछ अन्य अलङ्कार्य होगा । परन्तु उस] स्वभाव के [स्वरूप के कथन के] बिना वस्तु का वर्णन [कथन] ही सम्भव नहीं हो सकता है । क्योंकि उस [स्वभाव] से रहित वस्तु [शशविषाण, वन्ध्यापुत्र आदि के समान] तुच्छ असत्कल्प [निरुपाख्य] हो जाती है ॥१२॥

स्वभाव व्यतिरेकेण अर्थात् स्व-स्वरूप [स्वपरिस्पन्द] के बिना निःस्वभाव, स्वरूप रहित [वस्तु] का वर्णन ही नहीं किया जा सकता है । वस्तु अर्थात् वाच्यभूत [का वर्णन] क्यों [नहीं हो सकता है] ? तद्रहित अर्थात् उस स्वभाव से रहित अर्थात् वर्जित [वस्तु] क्योंकि 'निरुपाख्य' हो जाती है । उपाख्या से निष्क्रान्त [इस विग्रह में 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इस वार्तिक से समास होकर] निरुपाख्य [पद बनता है और उसका अर्थ अवर्णनीय या तुच्छ असत्कल्प आदि होता है । क्योंकि] उपाख्या [शब्द का अर्थ] 'शब्द' है । [उससे निष्क्रान्त अर्थात्] उसका अगोचर [अविषय] भूत [वस्तु] वर्णन के अयोग्य ही हो जाता है । क्योंकि स्वभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है। जिससे [अर्थ का] कथन [अभिधान] और ज्ञान [प्रत्यय] होते हैं वह 'भाव' है । और 'स्व' का अर्थात् अपना 'भाव' [अर्थात् स्वरूप जिससे पदार्थ का कथन और ज्ञान रूप व्यवहार होता है वह] 'स्वभाव' [स्वरूप] है । इसलिए वह [स्वभाव या स्वरूप] ही सब पदार्थों [यस्य कस्यचित् पदार्थस्य] का ज्ञान और कथन [प्रख्या ज्ञान, और उपाख्या माने कथन] रूप व्यवहार का कारण होता है । उस [स्वभाव अर्थात् स्वरूप] से रहित वस्तु शशविषाण सदृश शब्द और ज्ञान [व्यवहार] के अगोचर हो जाती है । [उसका शब्द से कथन या ज्ञान नहीं हो सकता है] क्योंकि स्वभाव

एतदेव युक्त्यन्तरेण विकल्पयति—

शरीरं चेदलङ्कारः किमलंकुरुते परम् ।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥१३॥

यस्य कस्यचिद् वर्ण्यमानस्य वस्तुनो वर्णनीयत्वेन स्वभाव एव वर्ण्य-शरीरम् । स एव चेदलङ्कारो, यदि विभूषणं, तत्किमपरं तद्व्यतिरिक्तं विद्यते यदलंकुरुते विभूषयति । स्वात्मानमेवालङ्करोतीति चेत्, तदयुक्तम्, अनुपपत्तेः । यस्मादात्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति । शरीरमेव शरीरस्य न कुत्र-चिदप्यंसमधिरोहतीत्यर्थः । स्वात्मनि क्रियाविरोधात् ॥१३॥

[स्वरूप] युक्त वस्तु ही सर्वथा कथन करने योग्य होती है । इसलिए [स्वभाव कथन, स्वरूप कथन, स्वभावोक्ति, अलङ्कार्य ही हो सकता है अलङ्कार नहीं । और यदि स्वभाव वर्णन को आप अलङ्कार मानने का आग्रह ही करते हैं तो आपके मत में] स्वभावोक्ति से युक्त होने से [अत्यन्त अशिक्षित और मूर्ख] गाड़ी हाँकने वालों के वाक्यों में भी सालङ्कारता [अतएव काव्यत्व] प्राप्त होने लगेगी । [जो कि अभीष्ट नहीं है । अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार नहीं है] ॥१२॥

इस बात को दूसरी युक्ति से फिर कहते हैं—

[स्वभाव अर्थात् स्वरूप तो काव्य का शरीर स्थानीय है] वह शरीर ही यदि [स्वभावोक्ति नामक] अलङ्कार हो जाय तो वह [स्वभावोक्ति अलङ्कार] दूसरे किस [अलङ्कार्य] को अलंकृत करेगा । [वह स्वभाव या स्वरूप ही अलङ्कार्य हो और स्वाभावोक्ति ही अलङ्कार हो यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि संसार में] कहीं कोई स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता है ॥१३॥

किसी भी वर्ण्यमान वस्तु का स्वभाव [स्वरूप] ही वर्णनीय होने से वर्ण्य शरीर से रूप होता है । वह [वर्ण्य शरीर रूप स्वभाव] ही यदि अलङ्कार अर्थात् विभूषण हो जाय तो उससे भिन्न और [अलङ्कार्य] क्या है जिसको [यह स्वभावोक्ति अलङ्कार] अलंकृत अर्थात् विभूषित करता है । यदि यह कहो कि [स्वभावोक्ति अलङ्कार] स्वयं अपने स्वरूप को अलंकृत करता है, तो यह अनुपपन्न [युक्तिविरुद्ध] होने से अनुचित है । क्योंकि [संसार में] कहीं भी [कोई] अपने आप अपने कन्धे पर नहीं चढ़ता है । शरीर ही शरीर के कन्धे पर कहीं नहीं चढ़ता है, यह अभिप्राय हुआ । स्वयं अपने में [अधि-रोहणादि रूप स्वाश्रित] क्रिया का विरोध होने से । [इसलिए भी स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानना उचित नहीं है] ॥१३॥

अन्यच्च, अभ्युपगम्यापि ब्रूमः—

भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे ।
भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥१४॥
स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे सङ्करस्ततः ।
अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥१५॥

भूषणत्वे स्वभावस्य अलङ्कारत्वे स्वपरिस्पन्दस्य यदा भूषणान्तरमलङ्कारान्तरं विधीयते तदा विहिते कृते तस्मिन् सति, द्वयी गतिः सम्भवति । काऽसौ ? तयोः स्वभावोक्त्यलङ्कारान्तरयोः भेदावबोधो भिन्नत्वप्रतिभासः प्रकटः सुस्पष्टः कदाचिदप्रकटश्चापरिस्फुटो वेति । तदा स्पष्टे प्रकटे तस्मिन् सर्वत्र सर्वस्मिन् कविविषये संसृष्टिरेवैकालंकृतिः प्राप्नोति । अस्पष्टे तस्मिन्नप्रकटे सर्वत्रैकैकः

और [दुर्जनतोष न्याय से यदि थोड़ी देर के लिए स्वभावोक्ति को अलङ्कार मान भी लिया जाय तो] उसको मानकर भी हम कहते हैं [कि इष्टसिद्धि नहीं होगी। क्योंकि]—

स्वभाव [स्वभावोक्ति] को अलङ्कार मानने पर [काव्य में उसके अतिरिक्त उपमा आदि] अन्य अलङ्कार की रचना होने पर उन दोनों [अर्थात् स्वभावोक्ति तथा उपमादि अन्य अलङ्कारों] के भेद का ज्ञान स्पष्ट होता है अथवा अस्पष्ट। [यह बतलाओ] ॥१४॥

[स्वभावोक्ति अलङ्कार का अन्य उपमादि अलङ्कारों से भेदज्ञान] स्पष्ट होने पर [उन दोनों अलङ्कारों की निरपेक्ष स्थिति होने से 'मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इस लक्षण के अनुसार] सर्वत्र संसृष्टि [अलङ्कार] होगा। और [उपमादि के साथ स्वभावोक्ति के भेदज्ञान के] स्पष्ट न होने पर [अङ्गाङ्गिभाव रूप से अथवा एकाश्रयानुप्रवेश अथवा सन्देह रूप तीन प्रकार के सङ्करों में से किसी प्रकार का] सङ्कर ही सर्वत्र होने लगेगा। इसलिए [शुद्ध रूप से उपमादि] अन्य अलङ्कारों का विषय [उदाहरण] ही नहीं बचेगा [अर्थात् शुद्ध उपमादि अलङ्कार जहाँ रह सकें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलेगा] ॥१५॥

स्वभाव के भूषण होने पर अर्थात् स्वरूप [स्वपरिस्पन्द] के अलङ्कार मानने पर जब [उपमादि] अन्य अलङ्कार बनाये [रचे] जाते हैं तब उनके रचे जाने पर दो प्रकार की स्थिति हो सकती है। वह [दो प्रकार की गति] कौनसी है ? उन दोनों अर्थात् स्वभावोक्ति [अलङ्कार] और अन्य [उपमादि] अलङ्कारों का भेदावबोध अर्थात् भेद का ज्ञान प्रकट अर्थात् स्पष्ट [रूप से हो] अथवा कभी

सङ्करोऽलङ्कारः प्राप्नोति। ततः को दोषः स्यादित्याह—'अलङ्कारान्तराणाञ्च विषयो नावशिष्यते'। अन्येषामलङ्काराणामुपमादीनां विषयो गोचरो न कश्चिदवशिष्यते, निर्विषयत्वमेवायातीत्यर्थः। ततस्तेषां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः।

यदि वा तावेव संसृष्टिसङ्करौ तेषां विषयत्वेन कल्प्येते तदपि न किञ्चित्। तैरेवालङ्कारकारैस्तस्यार्थस्यानङ्गीकृतत्वात् इत्यनेनाकाशचर्वणप्रतिमेनालमलीकनिबन्धनेन।

प्रकृतमनुसरामः। सर्वथा यस्य कस्यचित् पदार्थजातस्य कविव्यापारविषयत्वेन वर्णनापदवीमवतरतः स्वभाव एव सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्यशरीरत्वेन वर्णनीयतां प्रतिपद्यते। स एव च यथायोगं शोभातिशयकारिणा येन

अप्रकट अर्थात् अस्पष्ट रूप से हो। तब [उन दोनों से प्रथम पक्ष में] उस [स्वाभावोक्ति अलङ्कार के उपमा आदि अन्य अलङ्कारों के साथ भेद के ज्ञान के] के स्पष्ट होने पर सर्वत्र अर्थात् समस्त कविवाक्यों [काव्यों] में [स्वभावोक्ति तथा उपमादि अन्य अलङ्कारों की अनपेक्षतया स्थिति होने से 'मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इस लक्षण के अनुसार] केवल संसृष्टि ही एक अलङ्कार होगा। और उस [भेदज्ञान] के अस्पष्ट होने पर [अङ्गाङ्गिभाव अथवा एकाश्रयानुप्रवेश अथवा सन्देह सङ्कर इन तीन प्रकार के सङ्करों में से किसी न किसी प्रकार का] एक सङ्करालङ्कार ही सर्वत्र होने लगेगा। उससे क्या हानि होगी यह कहते हैं। और [शुद्ध या केवल उपमादि अलङ्कार जहाँ हों ऐसा] अन्य अलङ्कारों का विषय [उदाहरण] ही शेष नहीं रह जावेगा। अन्य उपमादि अलङ्कारों का विषय अर्थात् क्षेत्र कहीं भी नहीं रहेगा। अर्थात् [वह उपमादि अन्य अलङ्कार] निर्विषय हो जाता है। अतः उनके लक्षणों का करना व्यर्थ हो जाता है।

अथवा [इस वैयर्थ्य को बचाने के लिए] यदि वह संसृष्टि और सङ्कर ही उन [उपमादि अलङ्कारों] के विषय मान लिये जायँ तो भी वह कुछ बनता नहीं है। उन्हीं [स्वभावोक्ति को स्वतन्त्र अलङ्कार प्रतिपादन करने वाले] आलङ्कारिकों के द्वारा [अर्थात् उपमादि अलङ्कार केवल संसृष्टि या सङ्कर रूप में ही उपलब्ध हो सकते हैं। स्वतन्त्र रूप से उनकी सत्ता सम्भव नहीं है] इस बात के स्वीकृत न होने से। [यह कहना भी उचित नहीं है]। इसलिए आकाश-चर्वण के समान [असम्भव और] मिथ्या [पदार्थ. अर्थात् स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का] लिखना व्यर्थ है।

[उसको छोड़कर] प्रकृत का अनुसरण करते हैं। सब प्रकार से किसी भी पदार्थ के कविव्यापार के विषय रूप से वर्णनीयता को प्राप्त होने पर उसका सहृदयाह्लादकारी स्वभाव [स्वरूप] ही काव्य के शरीर रूप में वर्णनीयता को प्राप्त होता है। वह ही [अलङ्कार्य होने से] यथोचित सब अलङ्कारों से युक्त किया

केनचिदलङ्कारेण योजयितव्यः । तदिदमुक्तं, 'अर्थः सहृदयहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्द सुन्दरः' । [१, ६] इति, 'उभावेतावलङ्कार्यौ' [१, १०] इति च ॥१५॥

एवं शब्दार्थयोः परमार्थमभिधाय 'शब्दार्थौ' इति [१, ७] काव्यलक्षणवाक्ये पदमेकं व्याख्यातम् । इदानीं 'सहितौ' इति [१, ७] व्याख्यातुं साहित्यमेतयोः पर्यालोच्यते ।

शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा ।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते ॥१६॥

शब्दार्थावभिधानाभिधेयौ सहिताववियुक्तौ सदा सर्वकालं प्रतीतौ स्फुरतः, ज्ञाने प्रतिभासेते । ततस्तावेव सहिताववियुक्तौ इति किमपूर्वं विधीयते न किञ्चिदभूतं निष्पाद्यते । सिद्धं साध्यत इत्यर्थः । तदेवं शब्दार्थयोः निसर्गसिद्धं साहित्यम् । कः सचेताः पुनस्तदभिधानेन निष्प्रयोजनमात्मानमायासयति ।

जाना चाहिये । यही बात 'अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः' इस [प्रथमोन्मेष की नवम कारिका में] और 'उभावेतावलङ्कार्यौ' इस [दशम कारिका] में कह चुके हैं । ॥१४-१५॥

इस प्रकार ['शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस काव्यलक्षण की व्याख्या करते हुए] शब्द और अर्थ [इन दोनों पदों] के [काव्य में अभिप्रेत] वास्तविक अर्थ का कथन करके 'शब्दार्थौ' ['शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' १, ७] इस काव्य के लक्षण वाक्य में [से 'शब्दार्थौ' इस] एक पद की व्याख्या कर दी । अब [लक्षणवाक्य के दूसरे] 'सहितौ' इस [१, ७ पद] की व्याख्या करने के लिए उन दोनों [शब्द तथा अर्थ] के 'साहित्य' [सहभाव] का विचार करते हैं—

[प्रश्न] शब्द और अर्थ तो सदा साथ-साथ ही ज्ञान में भासते [स्फुरित होते] हैं । [क्योंकि 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः' इस नियम के अनुसार शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होने से शब्द और अर्थ की साथ-साथ ही प्रतीति होती है । उनका 'साहित्य' सदा ही बना रहता है] । इसलिए [काव्य के लक्षण में] 'सहितौ' इस [पद] से [आप] कौन सी नई बात प्रतिपादन कर रहे हैं । [कोई नई अपूर्व बात आप नहीं कह रहे हैं । तब आपका यह लक्षण करना व्यर्थ प्रयास है] ॥१६॥

शब्द और अर्थ अर्थात् वाचक और वाच्य सदा सब कालों में 'सहित' अर्थात् अवियुक्त रूप में ही प्रतीति अर्थात् ज्ञान में स्फुरित अर्थात् प्रतिभासित होते हैं । तब उन्हीं दोनों को सहित अर्थात् अवियुक्त यह कहकर कौनसी नई बात कह रहे हैं । कोई अपूर्व अर्थ सिद्ध नहीं होता है [अर्थात्] केवल पिष्टपेषण [सिद्ध साधन] ही होता है । यह अभिप्राय हुआ । इस प्रकार शब्द और अर्थ का 'साहित्य' नित्यसिद्ध है । [सहितौ इस शब्द से] उसको फिर कहकर कौन बुद्धिमान् [व्यक्ति] अपने आपको व्यर्थ परिश्रम में डालेगा ।

सत्यमेतत्। किन्तु न वाच्यवाचकलक्षणशाश्वतसम्बन्धनिबन्धनं वस्तुतः साहित्यमुच्यते। यस्मादेतस्मिन् साहित्यशब्देनाभिधीयमाने कष्टकल्पनोपरचितानि गाङ्कुटादिवाक्यानि, असम्बद्धानि शाकटिकादिवाक्यानि च सर्वाणि साहित्य-शब्देनाभिधीयेरन्। तेन पदवाक्यप्रमाणव्यतिरिक्तं किमपि तत्वान्तरं साहित्य मिति विभागोऽपि न स्यात्।

ननु च पदादिव्यतिरिक्तं यत्किमपि साहित्यं नाम तदपि सुप्रसिद्धमेव, पुनस्तदभिधानेऽपि कथं न पौनरुक्त्यप्रसङ्गः?

अतएवैतदुच्यते, यदिदं साहित्यं नाम तदेतावति निःसीमनि समया-ध्वनि साहित्यशब्दमात्रेणैव प्रसिद्धम्। न पुनरेतस्य कविकर्मकौशलकाष्ठाधि-रूढिरमणीयस्याद्यापि कश्चिदपि विपश्चिदयमस्य परमार्थ इति मनाङ्मात्रमपि विचारपदवीमवतीर्णः। तदद्य सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणां सत्कविवचसामन्तरामोदं मनोहरत्वेन परिस्फुरदेतत सहृदयषट्चरणगोचरतां नीयते ॥१६॥

[उत्तर] ठीक है। [पिष्टपेषण करना वस्तुतः बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है]। किन्तु [यहाँ काव्य लक्षण में] वस्तुतः शब्द और अर्थ के वाच्य वाचक रूप नित्य सम्बन्ध को लेकर 'साहित्य' नहीं कहा गया है। क्योंकि इस [नित्य सम्बन्धमूलक साहित्य] का 'साहित्य' शब्द से कथन मानने पर [तो] क्लिष्टकल्पना द्वारा रचे गये 'गाङ्कुटादि ['गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' पाणिनि व्याकरण के १, २, १ इस सूत्र रूप] वाक्य, और गाड़ीवान आदि के असम्बद्ध वाक्य आदि सब ही [वाक्य] 'साहित्य' कहलाने लगेंगे। उससे, व्याकरण [पद], मीमांसा [वाक्य] और न्याय [प्रमाण], से भिन्न 'साहित्य' कुछ और ही तत्त्व है यह विभाग भी न हो सकेगा। [इसलिए शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्धमूलक 'साहित्य' यहाँ अभिप्रेत नहीं है]।

[प्रश्न] व्याकरणादि शास्त्रों से भिन्न [पदादिव्यतिरक्तं] जो 'साहित्य' [नामक शास्त्र] है वह भी प्रसिद्ध [सबको ज्ञात] ही है। फिर [आप जो उसका लक्षण कर रहे हैं।] उसको कहने से पुनरुक्ति क्यों नहीं होती?

[उत्तर] इसीलिए हम कहते हैं कि यह जो [वास्तविक] 'साहित्य' है वह [आज तक अर्थात् ग्रन्थकार कुन्तक के समय तक] इतने [विस्तृत] असीम समय की परम्परा में केवल [नाममात्र को] 'साहित्य' शब्द से प्रसिद्ध रहा है। परन्तु कविकर्म के कौशल की काष्ठा-प्राप्ति से रमणीय 'इस [साहित्य शब्द] का यह वास्तविक अर्थ है' इस बात का आज [तक] भी किसी विद्वान् ने तनिक भी विचार नहीं किया है। इसलिए आज हम सरस्वती के हृदयारविन्द के मकरन्दविन्दुसमूह से सुन्दर और सत्कवि-वाक्यों के आन्तरिक आमोद से मनोहर स्वरूप से अनुभव होने वाले इस

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ १७॥

सहितयोर्भावः साहित्यम् । अनयोः शब्दार्थयोर्या काप्यलौकिकी चेतनचमत्कारकारितायाः कारणं, अवस्थितिर्विचित्रैव विन्यासभङ्गी । कीदृशी, अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी, परस्परस्पर्धित्वरमणीया । यस्यां द्वयोरेकतरस्यापि न्यूनत्वं निकर्षो न विद्यते नाप्यतिरिक्तत्वमुत्कर्षो वास्तीत्यर्थः ।

ननु च तथाविधं साम्यं द्वयोरुपहतयोरपि सम्भवतीत्याह, 'शोभाशालितां प्रति' । शोभा सौन्दर्यमुच्यते । तया शालते श्लाघते यः स शोभाशाली, तस्य भावः शोभाशालिता, तां प्रति सौन्दर्यश्लाघितां प्रतीत्यर्थः । सैव च सहृदयाह्लादकारिता ।

[साहित्य शब्द के अर्थ] को सहृदय रूप भ्रमरों के सामने प्रस्तुत करते हैं । [अर्थात् 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य आदि के लिए अवश्य होता है परन्तु उनका वास्तविक अर्थ यहाँ क्या होना चाहिए । इस बात का विचार अब तक किसी विद्वान् ने नहीं किया है । इसलिए हम जो उस 'साहित्य' शब्द के वास्तविक अर्थ का विवेचन कर रहे हैं वह पिष्टपेषण या पुनरुक्ति रूप नहीं है ।] ॥ १६ ॥

[काव्य की] शोभाशालिता [सौन्दर्याधायकता] के प्रति इन दोनों [शब्द तथा अर्थ] की न्यून और आधिक्य से रहित [परस्परस्पर्द्धि समभाव से] कुछ अनिर्वचनीय [लोकोत्तर] मनोहर स्थिति [ही] 'साहित्य' [शब्द का यथार्थ अर्थ] है ॥१७॥

सहित [शब्द तथा अर्थ] का भाव 'साहित्य' है । इन [सहित] शब्द और अर्थ की सहृदय आह्लादकारिता की कारणभूत जो कोई अलौकिक अवस्थिति अर्थात् विचित्र रचनाशैली [है वही साहित्य है] । कैसी कि—न्यूनता और अधिकता से रहित होने से मनोहारिणी, अर्थात् परस्परस्पर्द्धित्व से रमणीया । जिसमें [शब्द-अर्थ] दोनों में से किसी भी एक का न्यूनत्व अर्थात् अपकर्ष नहीं है और न अतिरिक्तत्व अर्थात् उत्कर्ष ही है । [ऐसी अन्यूनातिरिक्तत्व विशिष्ट स्थिति को 'साहित्य' कहते हैं] यह अभिप्राय है ॥१७॥

[प्रश्न] इस प्रकार का साम्य दोनों दूषित [शब्दार्थ में] भी हो सकता है । [तो क्या उसको भी 'साहित्य' कहा जा सकेगा] ?

[उत्तर] इस [शङ्का के निवारण के] लिए कहते हैं । 'शोभाशालितां प्रति' । शोभा सौन्दर्य को कहते हैं उससे जो शोभित प्रशंसित होता है वह शोभाशाली हुआ । उसका भाव शोभाशालिता, उसके प्रति अर्थात् सौन्दर्यशालिता के प्रति यह अर्थ हुआ । और यही सहृदय आह्लादकारिता है । उस [सौन्दर्यशालिता अथवा

तस्यां स्पर्धित्वेन याऽसाववस्थितिः परस्परसाम्यमुभगमवस्थानं सा साहित्य-मुच्यते। तत्र वाचकस्य वाचकान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण साहित्यमभिप्रेतम्। वाक्ये काव्यलक्षणस्य परिसमाप्तत्वादिति प्रतिपादितमेव [१, ७]।

ननु च वाचकस्य वाच्यान्तरेण, वाच्यस्य वाचकान्तरेण कथं न साहित्यमिति चेत्।

तन्न, क्रमव्युत्क्रमे प्रयोजनाभावादसमन्वयाच्च। तस्मादेतयोः शब्दार्थयोर्यथास्वं यस्यां स्वसम्पत्सामग्रीसमुदायः सहृदयाह्लादकारी परस्पर-स्पर्धया परिस्फुरति, सा काचिदेव वाक्यविन्याससम्पत् साहित्यव्यपदेशभाग् भवति।

मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः।
अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः ॥३४॥

सहृदयाह्लादकारिता] के लिए ['चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' के समान 'तस्यां' यहाँ निमित्त में सप्तमी है] स्पर्धित्वेन [अन्यूनानतिरिक्तत्वेन] जो स्थिति अर्थात् परस्पर समानता से सुन्दर रूप में जो [शब्द और अर्थ] की स्थिति है वह 'साहित्य' कहलाती है। उस [साहित्य] में [काव्य के शब्दों से एक] शब्द का दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ 'साहित्य' अभिप्रेत है। [अनेक शब्द तथा अनेक अर्थ रूप] वाक्य में काव्य के लक्षण की परिसमाप्ति होती है यह [१, ७ सातवीं कारिका में] प्रतिपादन ही कर चुके हैं।

[प्रश्न] एक शब्द का दूसरे अर्थ के साथ और एक अर्थ का दूसरे शब्द के साथ 'साहित्य' क्यों नहीं मानते हो। यह प्रश्न करो तो—

[उत्तर] वह ठीक नहीं है। [एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ 'साहित्य' होना चाहिए। इस] क्रम के परिवर्तन में कोई प्रयोजन न होने से और [परिवर्तित रूप का] समन्वय न हो सकने से। [इस क्रम का परिवर्तन करना उचित नहीं है]। इसलिए जिस रचना में इन शब्द तथा अर्थों का यथायोग्य अपनी [अन्यूनानतिरिक्त रूप] सम्पत्सामग्री का समुदाय सहृदयाह्लादकारी परस्पर स्पर्धा से स्फुरित होता है वह कोई [विशिष्ट] ही वाक्य-रचना 'साहित्य' नाम की अधिकारिणी होती है।

[यही बात निम्नलिखित अन्तरश्लोकों में कही गई है]।

मार्गों [रीतियों] की अनुकूलता से सुन्दर, माधुर्यादि गुणों से युक्त, वक्रता [बाँकपन] के अतिशय से युक्त अलङ्कार का विन्यास [जिसमें विद्यमान है वह] ॥३४॥

वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम् ।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ॥३५॥
सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा ।
पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते ॥३६॥

एतेषाञ्च पद-वाक्य-प्रमाण-साहित्यानां चतुर्णामपि प्रतिवाक्यमुपयोगः। १. तथा चैतत्पदमेवं स्वरूपं गकारौकारविसर्जनीयात्मकं, एतस्य चार्थस्य प्रातिपदिकार्थपञ्चकलक्षणस्य आख्यातपदार्थषट्कलक्षणस्य वाचकमिति पदसंस्कारलक्षणस्य व्यापारः। २. पदानाञ्च परस्परान्वयलक्षणसम्बन्धनिबन्धनमेतद्वाक्यार्थतात्पर्यमिति वाक्यविचारलक्षणस्योपयोगः। ३. प्रमाणेन प्रत्यक्षादिनैतदुपपन्नमिति युक्तियुक्तत्वं नाम प्रमाणलक्षणस्य प्रयोजनम्। ४. इदमेव परिस्पन्दमाहात्म्यात् सहृदयहृदयहारितां प्रतिपन्नमिति साहित्यस्योपयुज्यमानता।

वृत्तियों के औचित्य से मनोहारी रसों का परिपोषण, उचित रूप से [शब्द और अर्थ] दोनों में स्पर्धा से जहाँ रहता है ॥३५॥

काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करने वाले व्यापार से सुन्दर [शब्द और अर्थ की] वह कुछ अनिर्वचनीय [अतिसुन्दर] स्थिति' पद [व्याकरण] आदि [वाक्य मीमांसा, तथा प्रमाण न्यायशास्त्र[वाङ्मय का सार [सर्वोत्तम भाग] 'साहित्य' [शब्द से] कहा जाता है ॥३६॥

इन व्याकरण, मीमांसा, न्याय तथा साहित्य चारों का ही प्रत्येक वाक्य में [अर्थात् बहुत अधिक] प्रयोग होता है। १. जैसे गकार औकार विसर्जनीयात्मक यह [गौः] इस प्रकार का पद, इस प्रातिपदिकार्थ पञ्चक [१ प्रातिपदिकार्थ, २ लिङ्ग, ३ परिमाण, ४ वचन और ५ कारक] अथवा आख्यातार्थ षट्क [१ व्यापाराश्रय कर्त्ता, २ फलाश्रय कर्म, ३ काल, ४ पुरुष, ५ वचन, और ६ भाव] रूप इस [अमुक] अर्थ का वाचक है। यह 'पद संस्कार शास्त्र' [व्याकरण शास्त्र] का काम [व्यापार] है। २. पदों के परस्परान्वय रूप सम्बन्धमूलक [पदों के परस्पर अन्वय के उपस्थित होने वाला] यह वाक्यार्थ का तात्पर्य है, यह 'वाक्यविचार शास्त्र' [मीमांसा]का उपयोग है। ३. प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यह उपपन्न है। इस प्रकार युक्तियुक्तत्व [का प्रतिपादन] 'प्रमाणशास्त्र' [न्याय] का प्रयोजन है। [इन सब स्थलों में 'लक्षण' शब्द का अर्थ 'शास्त्र' है] ४. यह [वाक्य विशेष] ही स्वभावगत सौन्दर्य से सहृदयों की हृदयहारिता को प्राप्त हो जाता है यह 'साहित्य' [शास्त्र] की उपयोगिता है।

इन[व्याकरण आदि शास्त्रों]में से यद्यपि प्रत्येक का अपने-अपने विषय[क्षेत्र]में प्राधान्य और अन्यों का [उस क्षेत्र में] गुणीभाव है, किन्तु फिर भी सारे वाङ्मय के

एतेषां यद्यपि प्रत्येकं स्वविषये प्राधान्यमन्येषां गुणीभावस्तथापि सकल-वाक्परिस्पन्दजीवितायमानस्यास्य साहित्यलक्षणस्यैव कविव्यापारस्य वस्तुतः सर्वत्रातिशायित्वम् । यस्मादेतदमुख्यतयापि यत्र वाक्यसन्दर्भान्तरे स्वपरि-मलमात्रेणैव संस्कारमारभते तस्यैतदधिवासशून्यतामात्रेणैव रामणीयकविरहः पर्यवस्यति । तस्मादुपादेयतायाः परिहाणिरुत्पद्यते । तथा च स्वप्रवृत्तिवैयर्थ्य-प्रसङ्गः । शास्त्रातिरिक्तप्रयोजनत्वं शास्त्राभिधेयचतुर्वर्गफलाधिकत्वञ्चास्य पूर्वमेव प्रतिपादितम् [१, ३, ५] ।

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा ।
गीतवद् हृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत् ॥३७॥
वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम् ।
यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत् सताम् ॥३८॥
शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम् ।
विना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपश्चिताम् ॥३९॥

प्राणभूत 'साहित्य' रूप [यहाँ लक्षण शब्द का अर्थ स्वरूप है] कविव्यापार का ही वस्तुतः सबसे अधिक महत्त्व है । क्योंकि यह [साहित्य का भाव] जहाँ अमुख्य रूप से भी जिस अन्य [व्याकरण प्रधान भट्टिकाव्य जैसे] वाक्य समूह [रचना] में अपनी परिमल मात्र [गन्धमात्र 'नाममात्र'] से ही संस्कार करता है [जहाँ साहित्य का अंश गौण हो जाता है] इस [साहित्य] के अधिवास [प्राधान्येन] से रहित होने मात्र से ही उस [वाक्यसन्दर्भ] की रमणीयता का अभाव हो जाता है । और उस [रमणीयताभाव] के कारण [उस वाक्य सन्दर्भ या काव्य] की उपादेयता की हानि हो जाता है । इसलिए [उस गुणीभूत काव्य की] अपनी रचना [प्रवृत्ति] व्यर्थ हो जाती है । [व्याकरण, मीमांसा, न्याय आदि] शास्त्रों से [साहित्य-शास्त्र का] भिन्न प्रयोजनत्व और शास्त्रों के प्रतिपाद्य चतुर्वर्ग [रूप फल] से अधिक फलत्व इस [साहित्य] का पहिले [१, ३, ५ कारिकाओं में] ही प्रतिपादन कर चुके हैं ।

[यही बात निम्नलिखित संग्रह श्लोकों में भी कही है]—

अर्थ का विचार किये बिना भी [अपनी] रचना के सौन्दर्य से [ही] सङ्गीत [के शब्दों] के समान जो काव्यमर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करता है ॥३७॥

अर्थ की प्रतीति हो जाने के बाद पद और वाक्य के अर्थ से भिन्न [व्यङ्ग्य स्वरूप] जो ठंडाई आदि [पानक] के आस्वाद के समान अन्तःकरण में कुछ अपूर्व आस्वाद [आनन्द] प्रदान करता है ॥३८॥

प्राणों के बिना शरीर और स्फूर्ति के बिना जीवन [जैसे व्यर्थ और निर्जीव है उस] के समान जिस [साहित्य तत्त्व] के बिना विद्वानों के वाक्य निर्जीव [आकर्षण-विहीन, चमत्काररहित] हो जाते हैं ॥३९॥

यस्मात् किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम् ।
सरस्वती समभ्येति तदिदानीं विचार्यते ॥४०॥

इत्यन्तरश्लोकाः ॥१७॥

एवं सहिताविति व्याख्याय कविव्यापारवक्रत्वं व्याचष्टे—

कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट् ।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः ॥१८॥

कवीनां व्यापारः कविव्यापारः, काव्यक्रियालक्षणस्तस्य वक्रत्वं वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि वैचित्र्यं, तस्य प्रकाराः प्रभेदाः षट् सम्भवन्ति। मुख्यतया तावन्त एव सम्भवन्तीत्यर्थः। तेषां प्रत्येकं प्रकाराः बहवो भेदा विशेषाः। कीदृशाः विच्छित्तिशोभिनः वैचित्र्यभङ्गीभ्राजिष्णवः। सम्भवन्तीति सम्बन्धः ॥१८॥

जिससे केवल सहृदय संवेद्य कुछ अपूर्व सौन्दर्य सरस्वती को प्राप्त होता है उस [वक्रोक्ति रूप कविव्यापार] का अब [अगले ग्रन्थ भाग में] विचार [प्रारम्भ] करते हैं। ॥४०॥

यह अन्तरश्लोक [संग्रह श्लोक] है। ॥१७॥

इस प्रकार [शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् इस काव्य लक्षण के] सहितौ [इस पद] की व्याख्या करने के बाद कवियों के व्यापार की 'वक्रता' [बाँकपन, लोकोत्तरता] की व्याख्या [प्रारम्भ] करते हैं—

कवियों के व्यापार की 'वक्रता' के [मुख्यतः] छः प्रकार हो सकते हैं। उन [छः भेदों] में से प्रत्येक [भेद] के वैचित्र्य से शोभित होने वाले अनेक भेद हो सकते हैं। ॥१८॥

कवियों का काव्य-रचना रूप व्यापार [यहाँ] कवि-व्यापार [समझना चाहिए]। उसका वक्रत्व या बाँकपन अर्थात् प्रसिद्ध [गुण अलङ्कार आदि] प्रस्थान से भिन्न जो [काव्य का सौन्दर्य या] वैचित्र्य, उसके ६ प्रकार या भेद हो सकते हैं। [अर्थात् वैसे उनके अवान्तर भेद तो बहुत हो जाते हैं परन्तु] मुख्य रूप से उतने [अर्थात् ६] ही हो सकते हैं। [फिर] उनमें से प्रत्येक के बहुत से प्रकार या भेद [हो जाते] हैं। किस प्रकार के [वे अवान्तर भेद हैं कि] 'वैचित्र्य से सुन्दर लगने वाले' अर्थात् वैचित्र्य [युक्त रचना] शैली से चमकते हुए [अवान्तर भेद] हो सकते हैं यह [भवति क्रिया का अध्याहार करके] सम्बन्ध होता है ॥१८॥

तदेव दर्शयति—

वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्द्धवक्रता ।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः ॥१९॥

१ वर्ण विन्यासवक्रता—

वर्णानां विन्यासो वर्णविन्यासः । अक्षराणां विशिष्टन्यसनं, तस्य वक्रत्वं वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणा वैचित्र्येणोपनिबन्धः । सन्निवेश-विशेषविहितस्तद्विदाह्लादकारी शब्दशोभातिशयः । यथा—

प्रथममरुणच्छायस्तावत् ततः कनकप्रभः
तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ।
प्रसरति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे
सरसविसिनीकन्दच्छेदच्छविमृगलाञ्छनः ॥४१॥

उसी [वक्रता के षड्विध मुख्य प्रकार] को दिखलाते हैं—(१) वर्णविन्यास वक्रता, (२) पदपूर्वार्द्ध-वक्रता और वक्रता का तीसरा प्रकार (३) प्रत्यय-वक्रता भी है। [यह तीन भेद इस कारिका में दिखलाये हैं। शेष तीन भेद अगली दो अर्थात् २०, २१ कारिकाओं में दिखलावेंगे] ॥१९॥

१ वर्ण विन्यास वक्रता—

वर्णों का विन्यास वर्णविन्यास है। [अर्थात्] अक्षरों का विशेष प्रकार से [रचना में] रखना [वर्ण-विन्यास कहलाता है]। उसका वक्रत्व, वक्रता [बांकपन] प्रसिद्ध [साधारण] शैली से [भिन्न प्रकार से] [वैचित्र्य से] रचना। सन्निवेशविशेष से विहित सहृदयाह्लादकारी शोभातिशय ['वर्णविन्यासवक्रता' कहलाती] है। जैसे—

यह श्लोक सुभाषितावली सं० २००४, काव्यप्रकाश पृ० २६० श्लोक सं० १३९, सरस्वतीकण्ठाभरण १, ८७, सदुक्तिकर्णामृतम् ३९६, शृङ्गारतिलक [वाग्भट्] पृ० ४५, अलङ्कारशेखर ८, १, में उद्धृत हुआ है। काव्यप्रकाश की 'चन्द्रिका' नामक व्याख्या में इसको 'मालतीमाधव' नामक भवभूति के नाटक में चन्द्रोदय के वर्णन में लिखा गया बतलाया है। परन्तु 'मालतीमाधव' में यह श्लोक नहीं मिलता है।

इसमें चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

[चन्द्रमा उदय के समय सबसे] प्रथम [अत्यन्त] लाल वर्ण का, उसके बाद [थोड़ा और उदय होने पर] सोने के समान [पीली] कान्ति का, उसके बाद विरह-सन्तप्त सुन्दरी के कपोल तल के समान [पीत] कान्ति वाला, और उसके बाद रात्रि के प्रारम्भ में अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ और सरस [ताजे] मृणाल खण्डों के समान कान्ति वाला [मृगलञ्छन युक्त] चन्द्रमा चढ़ने लगता है ॥ ४१ ॥

अत्र वर्णविन्यासवक्रतामात्रविहितः शोभातिशयः सुतरां समुन्मीलितः। एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्। अत्र च प्रभेद-स्वरूपनिरूपणं लक्षणावसरे [२, १] करिष्यते।

२ पदपूर्वार्द्ध वक्रता—

पदस्य सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा यत्पूर्वार्द्धं प्रातिपदिकलक्षणं धातुलक्षणं वा तस्य वक्रता वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यम्। तत्र च बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति।

[क]—यत्र रूढ़िशब्दस्यैव प्रस्तावसमुचितत्वेन वाच्यप्रसिद्धधर्मान्तराध्यारोपगर्भत्वेन निबन्धः स पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रथमः प्रकारः। यथा—

रामोऽस्मि सर्वं सहे ॥४२॥[1]

इसमें केवल वर्ण-विन्यास की वक्रता से उत्पन्न सौन्दर्य का अतिशय साफ़ दिखलाई दे रहा है। यही 'वर्णविन्यास-वक्रता' प्राचीन आलङ्कारिकों में 'अनुप्रास' [नाम से] प्रसिद्ध है। इसके अवान्तर भेदों के स्वरूप का निरूपण [२, १ में उनके] लक्षण के अवसर पर करेंगे।

२—पदपूर्वार्द्धवक्रता—सुबन्त या तिङन्त रूप पद[2] का जो पूर्वार्द्ध [सुबन्त पद का पूर्वार्द्ध] प्रातिपदिक अथवा [तिङन्त पद का पूर्वार्द्ध] धातु रूप, उसकी वक्रता बाँकपन, अर्थात् विन्यास का वैचित्र्य [उसी को 'पदपूर्वार्द्ध-वक्रता' कहते हैं]। उस [पदपूर्वार्द्ध वक्रता] के बहुत से प्रकार हो सकते हैं।

[क]—जहाँ रूढ़ि शब्द का ही प्रकरण के अनुरूप, वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म से भिन्न धर्म के अध्यारोप को लेकर प्रयोग किया जाय वह 'पदपूर्वार्द्ध-वक्रता' का प्रथम प्रकार है। जैसे—

मैं [कठोरहृदय] 'राम' हूँ सब सह लूँगा ॥४२॥

यह अंश, 'महानाटक' के पञ्चम अङ्क के ७वें श्लोक में से लिया गया है। यह श्लोक 'ध्वन्यालोक' पृ० ६६, 'काव्यप्रकाश' पृ० १८८, अभिधावृत्तिमातृका' पृ० ११, में उद्धृत हुआ है। 'साहित्यदर्पण' में इसी को 'धर्मीगत फल' की व्यञ्जना का उदाहरण माना है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथंभ विष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

---

१. महानाटक ५, ७। २. सुप्तिङन्तं पदम् अष्टा० १, ४, १४।

[ख]—द्वितीयः । यत्र संज्ञाशब्दस्य वाच्यप्रसिद्धधर्मस्य लोकोत्तरातिशयाध्यारोपं गर्भीकृत्योपनिबन्धः यथा—

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परां
अस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ।

स्निग्ध एवं श्याम कान्ति से आकाश को व्याप्त करने वाले, और बलाका [बक-पंक्ति] जिनमें बिहार कर रही है ऐसे मेघ [भले ही उमड़ें] शीकरों, [छोटे-छोटे जलकणों] से युक्त [शीतल मन्द] समीर [भले ही बहे] और मेघों के मित्र मयूरों की आनन्दभरी कूकें भी चाहे जितनी [श्रवणगोचर] हों, मैं तो [कठोर हृदय] 'राम' हूँ, सब कुछ सह लूंगा । परन्तु [अतिसुकुमारी कोमलहृदया वियोगिनी] वैदेही की क्या दशा होगी । हा देवि ! धैर्य रखना ।

इसमें 'राम' शब्द केवल वाच्यभूत साधारण राम अर्थ को नहीं कहता है । अपितु वाच्यत्वेन प्रसिद्ध साधारण राम से भिन्न अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्व रूप धर्मान्तर का अध्यारोप करके प्रत्युक्त किया गया है । इसलिए यह 'पदपूर्वार्द्ध-वक्रता' के प्रथम प्रकार का उदाहरण है । आनन्दवर्धनाचार्य आदि ध्वनि सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों ने इसी को 'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि' का उदाहरण माना है ।

[ख]—दूसरा [पदपूर्वार्द्धवक्रता का प्रकार वह होता है] जहाँ [रूढ़ि] संज्ञा शब्द वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म में लोकोत्तर अतिशय का अध्यारोप गर्भ में रखकर प्रयुक्त किया जाता है । [इसका अभिप्राय यह हुआ कि पहिला भेद धर्मिगत अतिशय का और दूसरा भेद धर्मगत अतिशय का बोधक होता है । व्यञ्जनावाद में भी फल के धर्मीगत तथा धर्मगत रूप से दो भेद किये गये हैं] । जैसे—

यह श्लोक 'काव्यप्रकाश' पृ० १८२ उदाहरण सं० १०९ पर उद्धृत हुआ है । काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने उसे 'राघवानन्द' नामक अप्राप्य नाटक का श्लोक बतलाया है । परन्तु उनमें थोड़ा-सा मतभेद है । 'माणिक्यचन्द्र' उसे रावण के प्रति कुम्भकर्ण की उक्ति बतलाते हैं । और 'चन्द्रिकाकार' उसे रावण के प्रति विभीषण की उक्ति बतलाते हैं । श्री ध्रुव जी द्वारा सम्पादित 'मुद्राराक्षस' नाटक की भूमिका में पृ० २२ पर लिखा है कि 'सदुक्तिकर्णामृत' में यह 'विशाखदत्त' के श्लोक के रूप में उद्धृत हुआ है । 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पृ० ३४१ पर यह श्लोक बिना लेखक का नाम दिये हुए उद्धृत किया गया है ।

'चन्द्रिकाकार' के अनुसार इस श्लोक में विभीषण रावण से कह रहा है कि—

यह [खरदूषणादि का मारने वाला और सकलजनप्रिय] रामचन्द्र [अपने] पराक्रम [दयालुता आदि] गुणों से समस्त लोकों में अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त है । परन्तु [इतने प्रसिद्ध व्यक्ति को भी अभिमानवश] आप नहीं जानते हैं तो यह

वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥४३॥[1]

अत्र 'राम' शब्दो लोकोत्तरशौर्यादिधर्मातिशयाध्यारोपपरत्वेनोपात्तो वक्रतां प्रथयति ।

हमारे [लङ्कावासियों के] दुर्भाग्य से ही है । [हम लङ्कावासी राक्षसों का विनाश समीप आ गया है इसीलिए आप इतने विश्वविख्यात राम को भी अपने अभिमानवश क्षुद्र मानकर 'हम नहीं जानते' यह कह रहे हो । अन्यथा] केवल एक बाण के प्रहार से पंक्तिबद्ध और विशाल [सप्त] तालों [में उत्पन्न] विवरों से निकलते हुए [सङ्गीत के] सप्त स्वरों से, चारण के समान वायु [भी] जिनके यश का गायन कर रहा है [उसको आप न जानते यह कैसे हो सकता था । इस न जानने का कारण केवल हमारा दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है । अन्य कुछ नहीं] ॥४३ ॥

यहाँ 'राम' शब्द लोकोत्तर शौर्यादि धर्म के अतिशय के अध्यारोप परत्वेन प्रयुक्त होने से [पद पूर्वार्द्ध] वक्रता को सूचित करता है ।

'पदपूर्वार्द्ध-वक्रता' के अभी तक दो भेद दिखलाए हैं और दोनों के उदाहरणों में 'राम' पद में ही वक्रता का प्रतिपादन किया है । इन दोनों में भेद यह है कि प्रथम उदाहरण में, वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म से भिन्न धर्मान्तर को अध्यारोप और दूसरे में वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म में ही लोकोत्तर अतिशय का अध्यारोप गर्भित है । इसको अधिक स्पष्ट रूप से यों कहना चाहिए कि प्रथम भेद में वाच्यत्वेन प्रसिद्ध राम रूप धर्मी में 'अत्यन्त दुःख सहिष्णुत्व' रूप धर्मान्तर का अध्यारोप कर धर्मीगत वैशिष्ट्य सूचित किया गया है और दूसरे उदाहरण में राम के प्रसिद्ध शौर्यादि गुणों में ही लोकोत्तरत्व का अध्यारोप करके धर्मगत वैशिष्ट्य सूचित किया गया है । वैसे यह दोनों उदाहरण बहुत मिलते हुए हैं ।

काव्यप्रकाश में इस उदाहरण में 'असौ' पद से सर्वनाम का, 'भुवनेषु' पद में प्रातिपदिक का, 'गुणैः' पद में बहुवचन रूप वचन का, 'अस्मत्' पद से केवल तुम्हारा या केवल हमारा नहीं अपितु समस्त लङ्कावासियों का और 'भाग्यविपर्ययात्' पद से अन्यथा विपरिणाम द्वारा कथन का वीररस-व्यञ्जकत्व प्रतिपादन किया है । अर्थात् कुन्तक ने इसमें केवल एक 'राम' पद में ही 'वक्रता' का प्रतिपादन किया है जब कि काव्यप्रकाशकार ने इसके अनेक पदों में व्यञ्जकत्व अथवा वक्रता का प्रतिपादन माना है ।

---

१. राघवानन्द नाटक ।

[ग]—'पर्यायवक्रत्वं' नाम प्रकारान्तरं पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः। यत्रानेकशब्दाभिधेयत्वे वस्तुनः किमपि पर्यायपदं प्रस्तुतानुगुणत्वेन प्रयुज्यते। यथा—

वामं कज्जलवद्विलोचनमुरो रोहद्विसारिस्तनं
मध्यं क्षाममकाण्ड एव विपुलाभोगा नितम्बस्थली।
सद्यः प्रोद्‍गतविस्मयैरिति गणैरालोक्यमानं मुहुः
पायाद्वः प्रथमं वपुः स्मररिपोर्मिश्रीभवत् कान्तया॥ ४४॥

अत्र 'स्मररिपोः' इति पर्यायः कामपि वक्रतामुन्मीलयति। यस्मात् कामशत्रोः कान्तया मिश्रीभावः शरीरस्य न कथञ्चिदपि सम्भाव्यते, इति गणानां सद्यः प्रोद्गतविस्मयत्वमुपपन्नम्। सोऽपि पुनः पुनः परिशीलने नाश्चर्यकारीति 'प्रथम' पदस्य जीवितम्।

एतच्च 'पर्यायवक्रत्वं' वाच्यासम्भविधर्मान्तरगर्भीकारेणापि दृश्यते। यथा—

[ग]—पदपूर्वार्द्ध [प्रातिपदिक] वक्रता का [तीसरा] अन्य प्रकार 'पर्याय वक्रता' है। जिसमें वस्तु का अनेक शब्दों से कथन सम्भव होने पर [भी] प्रकरण के अनुरूप होने से कोई [सर्वातिशायी] विशेष पद [ही] प्रयुक्त किया जाता है। जैसे—

[पार्वती के साथ संयोग होने के कारण जिसका] वाम नेत्र कज्जलयुक्त [हो गया है] वक्षःस्थल पर [बाईं ओर] बड़ा-सा स्तन उदय हो रहा है। कमर बिना बात के ही पतली हो गई है और नितम्ब का अत्यन्त विस्तार हो गया है। कान्ता [पार्वती] के साथ प्रथम बार [अर्द्धनारीश्वर के रूप में] संयुक्त होते हुए स्मरारि [शिव] का तुरन्त [संयुक्त होने और देखने के साथ ही] विस्मययुक्त हुए गणों के द्वारा देखे जाने वाला शरीर तुम्हारी रक्षा करे ॥४४॥

यहाँ [शिव के वाचक अनेक पद रहते हुए भी विशेष रूप से छाँटकर प्रयुक्त किया हुआ] 'स्मररिपोः' यह पर्याय शब्द कुछ अपूर्व चमत्कार को प्रकाशित कर रहा है। क्योंकि कामदेव के शत्रु शिव के शरीर का स्त्री के शरीर के साथ संयोग किसी प्रकार भी सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिए गणों का [उस संयोग को देखकर] 'सद्यः' विस्मययुक्त हो जाना भी युक्तिसङ्गत है। वह [संयोग] भी बार-बार देखने पर आश्चर्यजनक नहीं रह सकता है यह [श्लोक में प्रयुक्त हुए] 'प्रथम' इस पद का प्राण [चमत्कारजनक सार] है। [इसलिए यह 'पर्यायवक्रता' का उदाहरण है]।

यह 'पर्यायवक्रता' वाच्यार्थ में असम्भव धर्मान्तर के गर्भित होने पर भी हो सकती है। जैसे—

यह उद्धरण वणीसंहार नाटक के तृतीयाङ्क पृ० ४६ से लिया गया है। यह व्यक्तिविवेक पृ० ४५ तथा साहित्यदर्पण आदि में भी उद्धृत हुआ है। दुःशासन के वध के प्रसङ्ग में भीम, कर्ण का उपहास करता हुआ उससे कह रहा है—

अङ्गराज सेनापते राजवल्लभ रक्षैनं भीमाद् दुःशासनम् । इति ॥ ४५ ॥

अत्र त्रयाणामपि पर्यायाणामसम्भाव्यमानतत्परित्राणपात्रत्वलक्षणम-किञ्चित्करत्वं गर्भीकृत्योपहस्यते रक्षैनमिति ।

[घ] पदपूर्वार्द्धवक्रताया 'उपचारवक्रत्वं' नाम प्रकारान्तरं विद्यते । यत्रामूर्तस्य वस्तुनो मूर्तद्रव्याभिधायिना शब्देनाभिधानमुपचारात् । यथा—

'निष्कारणं निकारकणिकापि मनस्विनां मानसमायासयति'

यथा वा—

'हस्तापचेयं यशः' ।

'कणिका' शब्दो मूर्त्तवस्तुस्तोकार्थाभिधायी स्तोकत्वसामान्योपचारादमूर्त-स्यापि निकारस्य स्तोकाभिधानपरत्वेन प्रयुक्तस्तद्विदाह्लादकारित्वाद्वक्रतां पुष्णाति ।

'हस्तापचेयम्' इति मूर्त्तपुष्पादिवस्तुसम्भविसंहतत्वसामान्योपचाराद-मूर्तस्यापि यशसो 'हस्तापचेयम्' इत्यभिधानं वक्रत्वमावहति ।

अरे राजा साहब [अङ्गराज], सेनापति महोदय, राजा [दुर्योधन] के प्रिय [कर्ण जी अगर आप में सामर्थ्य हो तो आओ मुझ] भीम से [इस] दुःशासन को बचा लो [मैं इसका खून पीने जा रहा हूँ] ॥४५॥

इसमें [दिये हुए अङ्गराज, सेनापते और राजवल्लभ इन] तीनों पर्यायों [विशेषणों] में उसकी रक्षा के सामर्थ्य की असम्भाव्यता रूप अकिञ्चित्करत्व को गर्भित करके 'इसको बचाओ' इस प्रकार [कर्ण का] उपहास किया जा रहा है ।

[घ] पदपूर्वार्द्धवक्रता का 'उपचारवक्रता' नामक [चौथा] अन्य प्रकार है । जहाँ अमूर्त्त, वस्तु का मूर्त्त वस्तु के वाचक शब्द द्वारा [सादृश्य लक्षणामूलक] उपचार से कथन किया जाय । जैसे—

बिना कारण अपमान की कणिका [लेशमात्र] भी मनस्वियों के मन को दुःखी कर देती है ।

और जैसे [इसी का दूसरा उदाहरण]—

हाथ से बटोरने [इकट्ठा करने] योग्य यश ।

[इनमें से पहले उदाहरण में] मूर्त्त वस्तु के स्वल्प भाग का वाचक 'कणिका' शब्द अल्पता रूप साम्य के कारण उपचार से अमूर्त्त [भाववाचक] 'अपमान' की अल्पता के बोधन के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ, सहृदयों का आह्लादकारी होने से वक्रता को परिपुष्ट करता है ।

[दूसरे उदाहरण में] 'हस्तापचेयम्' इस [पद के प्रयोग] से मूर्त्त पुष्पादि वस्तुओं में सम्भव एकत्रीकरण [संहतत्त्व] के साम्य के कारण उपचार से अमूर्त्त यश का भी [पुष्पादि के समान] 'हस्तापचेयत्व' का कथन, वक्रता को व्यक्त करता है ।

द्रवरूपस्य वस्तुनो वाचकशब्दस्तरङ्गितत्वादिधर्मनिबन्धनः किमपि सादृश्यमात्रमवलम्ब्य संहतस्यापि वाचकत्वेन प्रयुज्यमानः कविप्रवाहे प्रसिद्धः। यथा—

श्वासोत्कम्पतरङ्गिणि स्तनतटे। इति ॥४६॥

क्वचिदमूर्तस्यापि द्रवरूपार्थाभिधायी वाचकत्वेन प्रयुज्यते। यथा—

एकां कामपि कालविप्रुषममी शौर्योष्मकण्डूव्यय-
व्यग्राः स्युश्चिरविस्मृतामरचमूडिम्बाहवा बाहवः ॥४७॥

द्रव रूप वस्तु का वाचक शब्द, तरङ्गितत्त्व आदि धर्म के कारण किसी [रमणीय] सादृश्य को लेकर ठोस [द्रव्य] के वाचक रूप में भी प्रयुक्त होता हुआ कवि-समाज में प्रसिद्ध है। [अर्थात् द्रववाचक शब्द का ठोस अर्थ के लिए भी प्रयोग कवियों में देखा जाता है। यहाँ 'कवि-प्रवाह' शब्द भी इस भाव से विशेष रूप से प्रयुक्त किया गया है] जैसे—

श्वासजन्य कम्प से तरङ्गित स्तन तट में ॥४६॥

यह पद्यांश कवीन्द्रवचनसमुच्चय में संख्या ४५० पर उद्धृत है। वक्रोक्तिजीवित में भी आगे उस पूर्ण श्लोक को उद्धृत किया गया है जिसका यह एक भाग है।

यहाँ ठोस स्तनतट को द्रव वाचक तरङ्ग से युक्त [तरङ्गित] कहा है। उस शब्द के प्रयोग से श्वास से कम्पित स्तन में तरङ्ग के साम्य का प्रतिपादन कर कवि ने विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। इसलिए यह भी 'पद पूर्वार्द्ध-वक्रता' के 'उपचार-वक्रता' नामक चतुर्थ भेद का उदाहरण है। इसी 'उपचार-वक्रता' का एक और प्रकार आगे दिखलाते हैं।

कहीं अमूर्त्त [अर्थ] के लिए भी द्रव पदार्थ का वाचक [शब्द], वाचक रूप से प्रयुक्त होता है। जैसे—

यह श्लोक कहाँ का है यह पता नहीं चलता। पूरा श्लोक तृतीय उन्मेष में फिर उद्धृत किया गया है। जो इस प्रकार है—

लोको यादृशमाह साहसधनं तं क्षत्रियापुत्रकं,
स्यात् सत्येन स तादृगेव न भवेद् वार्ता विसंवादिनी।
एकां कामपि कालविप्रुषममी शौर्योष्मकण्डूव्यय-
व्यग्राः स्युश्चिरविस्मृतामरचमूडिम्बाहवा बाहवः॥

उस साहसी [मुझ से युद्ध करने का दुःसाहस करने वाले। तुच्छ] क्षत्रिया पुत्र [तुच्छता सूचन के लिए 'क' प्रत्यय का और 'क्षत्रिया' शब्द का प्रयोग किया गया है] को लोग जैसा [शूर] कहते हैं वह सचमुच वैसा ही [भले ही] हो [और उसके विषय में कही जाने वाली] बात सत्य ही हो सही—

एतयोस्तरङ्गिणीति विप्रुषमिति च वक्रतामावहतः ।

[ङ] 'विशेषणवक्रत्वं' नाम पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रकारो विद्यते । यत्र विशेषणमाहात्म्यादेव तद्विदाह्लादकारित्वलक्षणं वक्रत्वमभिव्यज्यते । यथा—

दाहोऽम्भः प्रसृतिम्पचः प्रचयवान् वाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः ।
किञ्चान्यत् कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥४८॥[1]

[किन्तु] बहुत दिन से देवताओं की सेना के सैनिकों के साथ का युद्ध भी [देवताओं के पराजित हो जाने के कारण] जिनको विस्मृत हो गया है, ऐसे मेरे बाहु थोड़ी देर के लिए [कामपि कालविप्रुषं] शौर्य की उष्णता से उत्पन्न खुजली को मिटाने के लिए व्यग्र हो रहे हैं । [अतः उसके साथ युद्ध करना ही है] ॥४७॥

[श्वासोत्कम्प०, तथा एकां कामपि] इन दोनों [उदाहरणों] में [क्रमशः मूर्त्त के और अमूर्त्त के लिए द्रव पदार्थाभिधायी] 'तरङ्गिणि' यह और 'विप्रुषं' [बूँद] यह [पद प्रयुक्त होकर] वक्रता को उत्पन्न करते हैं । [अर्थात् उपचार-वक्रता से युक्त हैं] ।

[ङ] 'विशेषणवक्रता' [भी] 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का [पाँचवाँ] प्रकार है । जहाँ विशेषण के माहात्म्य से ही सहृदयाहलादकारित्व रूप वक्रत्व अभिव्यक्त होता है । जैसे—

यह श्लोक 'विद्धशालभञ्जिका' के द्वितीयाङ्क का २१वाँ श्लोक है । सुभाषितावली सं० १४११, कवीन्द्रवचनामृत सं० २७६, रुय्यक पृ० ६८, जयरथ पृ० ४१, अलङ्कारशेखर पृ० ६८, और चित्रमीमाँसा पृ० १०३ पर भी उद्धृत हुआ है ।

[तुम्हारे वियोग में उस नायिका के शरीर का] दाह चुल्हुओं पानी को सुखा देने वाला, आँसू नाली में बहने योग्य [प्रचुर मात्रा में] है, [उष्ण] निश्वास हिलते हुए प्रज्वलित दीपमाला के समान है और [सारा] शरीर सफ़ेदी में डूबा हुआ है । और अधिक क्या कहूँ सारी रात तुम्हारे मार्ग की ओर वाले झरोखे में अपने हाथ के छाते से [हाथ को छाते समान चन्द्रमा के सामने लगाकर] चाँदनी को रोके हुए वह [तुम्हारी प्रतीक्षा में] बैठी रहती है ॥४८॥

---

१. विद्धशालभञ्जिका २, २१ ।

अत्र दाहो, वाष्पः, श्वासो, वपुरिति न किञ्चिद्वैचित्र्यमुन्मीलितम्। प्रत्येकं विशेषणमाहात्म्यात् पुनः काचिदेव वक्रताप्रतीतिः ।

यथा च—

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पस्तनकलशया मन्युमन्तर्निगृह्य ।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्य वाष्पं
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥४६॥[1]

अत्र 'चकितहरिणीहारि' इति क्रियाविशेषणं नेत्रत्रिभागसङ्गस्य गुरुसन्निधानविहिताप्रगल्भत्वरमणीयस्य कामपि कमनीयतामावहति, चकितहरिणीहारिविलोचनसाम्येन ।

[च] अयमपरः पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रकारो यदिदं 'संवृतिवक्रत्वं' नाम । यत्र पदार्थस्वरूपं प्रस्तावानुगुण्येन केनापि निकर्षेणोत्कर्षेण वा युक्तं व्यक्ततया साक्षादभिधातुमशक्यं संवृत्तिसामर्थ्योपयोगिना शब्देनाभिधीयते । यथा—

यहाँ [केवल विशेष्य रूप] दाह, वाष्प, श्वास और वपु इन [शब्दों] से कोई वैचित्र्य प्रकट नहीं होता है । किन्तु प्रत्येक के साथ विशेषण [दाहः के साथ 'प्रसृतिम्पचः', वाष्पः के साथ 'प्रणालोचितः', श्वासः के साथ 'प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिका', और वपुः के साथ 'पाण्डिम्नि मग्नं' इन विशेषणों के लग जाने से] के माहात्म्य से कुछ और ही चारुता की प्रतीति होने लगती है ।

और जैसे [उसी 'विशेषणवक्रता' का और उदाहरण]—

गुरुजनों [सास-श्वसुर आदि] के समीप होने के कारण लज्जा से सिर झुकाए कुचकलशों, को कम्पित करने वाले मन्यु [क्रोधावेग] को हृदय में [ही] दबाकर [भी] आँसू टपकाते हुए, चकित हरिणी [के दृष्टिपात] के समान हृदयाकर्षक नेत्र का त्रिभाग [कटाक्ष] जो मेरे ऊपर जमाया [या फेंका] सो [उसके द्वारा] क्या उसने [मुझ से तिष्ठ] ठहरो, मत जाओ, यह नहीं कहा ॥४६॥

यहाँ 'चकितहरिणीहारि' यह क्रियाविशेषण [चकितहरिणी के मनोहर लोचन के साथ साम्य से] गुरुओं [सास श्वसुर आदि] के समीप [स्त्री द्वारा] किये हुए अप्रगल्भता से रमणीय [नेत्र त्रिभाग] कटाक्ष की [गड़ाने] आसक्ति को कुछ अपूर्व सौन्दर्य प्रदान कर रहा है ।

[च] यह जो 'संवृत्तिवक्रता' है वह 'पदपूर्वार्द्ध-वक्रता' का [छठा] और प्रकार है । जहाँ प्रकरण के अनुरूप किसी अपकर्ष अथवा उत्कर्ष [विशेष] के कारण पदार्थ का स्वरूप व्यक्त रूप से साक्षात् नहीं कहा जा सकता है और [अर्थ] छिपाने की सामर्थ्य से युक्त किसी शब्द से [अस्पष्ट रूप] कहा जाता है । वहाँ 'संवृत्ति-वक्रता' होती है] जैसे—

---

१. शार्ङ्गधरपद्धतिः ३४६४।

सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ॥५०॥

अत्र वत्सराजो वासवदत्ताविपत्तिविधुरहृदयस्तत्प्राप्तिलोभवशेन पद्मावतीं परिणेतुमीहमानस्तदेवाकरणीयमित्यवगच्छन् तस्य वस्तुनो महापातकस्येवाकीर्तनीयतां ख्यापयति, 'किमपि' इत्यनेन संवरणसमर्थेन सर्वनामपदेन ।

यथा च—

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थराया
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।

यह श्लोक 'तापसवत्सराजचरित' के चतुर्थ अङ्क में आया है । वक्रोक्तिजीवित के चतुर्थ उन्मेष में पूरा श्लोक इस प्रकार उद्धृत हुआ है

चतुर्थेऽङ्के राजा सकरुणमात्मगतम्—

चक्षुर्यस्य तवाननादपगतं नाभूत क्वचिन् निर्वृतं
येनैषा सततं त्वदेकशयनं वक्षःस्थली कल्पिता ।
येनोद्भासितया बिना बत जगच्छून्यं क्षणाज्जायते
सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ॥

अपनी पत्नी वासवदत्ता की विपत्ति के समाचार से दुःखित हृदय राजा उदयन ज्योतिषियों के कथनानुसार उसकी प्राप्ति की आशा से जब पद्मावती से विवाह करने को उद्यत होता है तो उस समय वह स्वगत रूप से अपने मन में कह रहा है ।

जिस [वत्सराज उदयन अर्थात्] मेरी आँख ने तुम्हारे मुख से हटकर और कहीं सुख नहीं पाया, जिसने [अपने] इस वक्षःस्थल को सदा केवल तुम्हारी शय्या [विश्राम स्थली] बनाया, जिसकी [अर्थात् मेरी] अनुपस्थिति में उद्भासित [शोभित] न होने के कारण [तुम्हारे लिए भी] पल भर में जगत् जीर्णारण्य [के समान सारहीन, और भयानक] बन जाता था—

हे प्रियतमे [एकपत्नीत्व का] मिथ्या व्रत धारण करने वाला वह मैं आज [पद्मावती के साथ विवाह करके अत्यन्त निन्दनीय] कुछ भी करने को तैयार हो गया हूँ ॥५०॥

यहाँ [अपनी पत्नी] वासवदत्ता की [मृत्यु के समाचार रूप] विपत्ति से खिन्न हृदय वत्सराज [उदयन] उस [वासवदत्ता] की [पुनः] प्राप्ति के लोभवश पद्मावती के साथ विवाह करने की इच्छा करते हुए उस [विवाह] को अनुचित [अकरणीय] समझकर महापातक के समान उस [विवाह] की अकीर्तनीयता को 'किमपि' इस संवरण समर्थ सर्वनाम पद से सूचित करता है । [अतः 'संवृतिवक्रता' का उदाहरण है] ।

और जैसे [संवृति वक्रता का दूसरा उदाहरण]—

अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्या
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥५१॥[1]

अत्र 'किमपि' इति तदाकर्णनविहितायाश्चित्तचमत्कृतेरनुभवैकगोचरत्व-लक्षणमव्यपदेश्यत्वं प्रतिपाद्यते । 'तानि' इति तथाविधानुभवविशिष्टतया स्मर्यमाणानि । 'नाप्यर्थवन्ति' इति स्वसंवेद्यत्वेन व्यपदेशाविषयत्वं प्रकाश्यते । तेषां च 'न च यानि निरर्थकानि' इत्यलौकिकचमत्कारकारित्वादपार्थकत्वं निवार्यते । त्रिष्वप्येतेषु 'विशेषणवक्रत्वं' प्रतीयते ।

[छ] इदमपरं पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रकारान्तरं सम्भवति 'वृत्तिवैचित्र्य-वक्रत्वं' नाम । यत्र समासादितवृत्तीनां कासाञ्चिद्विचित्राणामेव कविभिः परिग्रहः क्रियते । यथा—

यह श्लोक 'बिल्हण' की 'चौरपञ्चाशिका' सं० ३६, का कहा जाता है । परन्तु बर्लिन वाले संस्करण में नहीं मिलता है । 'सुभाषितावली' सं० १२८०, 'जल्हण' कृत 'सूक्तिमुक्तावली' सं० ७४२, और 'दशरूपक' की 'अवलोक' नामक व्याख्या में इसे कलशक का श्लोक कहा गया है । हेमचन्द्र ने पृ० ८९, और समुद्रबन्ध पृ० ९ पर यह बिना कवि नाम के उद्धृत हुआ है ।

मद से अलसाई हुई और निद्रा से आँखें बन्द किए हुए उस सुन्दरी के [मुझ को लक्ष्य में रखकर कहे हुए और अस्पष्ट होने के कारण समझ में न आ सकने से] न सार्थक ही और न अर्थहीन ही वह मधुर अक्षर आज भी मेरे हृदय में न जाने क्या प्रतिध्वनित कर रहे हैं ॥ ५१ ॥

यहाँ [किमपि ध्वनन्ति के] 'किमपि' इस [पद] से उनके [उच्चारण के समय] सुनने से उत्पन्न आनन्द की अनुभवैकगोचरता रूप अवर्णनीयता का प्रतिपादन किया गया है । 'तानि' इस [पद] से उस प्रकार के [आनन्दमय] अनुभव-विशिष्ट रूप से स्मर्यमाण [पदों की अनुभवैकगोचरता रूप अनिर्वचनीयता सूचित होती] है । 'नाप्यर्थवन्ति' इस [पद] से [केवल] स्वसंवेद्य होने से अनिर्वचनीयता प्रकाशित होती है । और 'न च यानि निरर्थकानि' इससे उनके अलौकिक चमत्कारकारी होने से [उनकी] निरर्थकता का निवारण किया गया है । इन तीनों में ही 'विशेषण वक्रता' प्रतीत होती है ।

[छ] यह 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रत्व' भी 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का [सातवाँ भेद] अन्य प्रकार हो सकता है । [वृत्ति शब्द का अर्थ यहाँ सम्बन्ध है । सम्बन्ध के वैचित्र्य से जहाँ वक्रता हो उसे 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' कहते हैं । समासादितवृत्तीनां अर्थात्] जहाँ प्राप्त [अनुभूत अर्थात् अनुभवसिद्ध] सम्बन्धों में से कवि, किसी विशेष [सम्बन्ध] का ही ग्रहण करते हैं । [वहाँ 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' होती है] जैसे—

---

१. चौरपञ्चाशिका सं० ३६ ।

मध्येऽङ्कुरं पल्लवाः ॥५२॥[1]

यथा च—

पाण्डिम्नि मग्नं वपुः ॥५३॥[2]

यथा वा—

सुधाविसरनिष्यन्दसमुल्लासविधायिनि
हिमधामनि खण्डेऽपि न जनो नोन्मनायते ॥५४॥

[ज] अपरं 'लिङ्गवैचित्र्यं' नाम 'पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः' प्रकारान्तरं दृश्यते। यत्र भिन्नलिङ्गानामपि शब्दानां वैचित्र्याय सामानाधिकरण्योपनिबन्धः। यथा—

इत्थं जड़े जगति को नु बृहत्प्रमाण-
कर्णः करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम् ॥५५॥[3]

अंकुर के बीच में पल्लव है। [यहाँ अंकुर के बीच में पल्लवों की स्थिति उनकी सुकुमारता के अतिशय को व्यक्त करने वाली होने से वक्रताजनक है। यह श्लोक खण्ड, 'विद्धशालाभञ्जिका' का है] ॥५२॥

और जैसे [वृत्तिवैचित्र्यवक्रता का ही दूसरा उदाहरण]—

शरीर सफ़ेदी में डूब रहा है। [यह अभी पिछले उद्धृत किए हुए ४८वें श्लोक का भाग है। वियोग दुःख में पीले पड़ जाने के लिए 'पाण्डिम्नि मग्नं वपुः' का प्रयोग अत्यन्त शोभाधायक होने से 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' का उदाहरण है] ॥ ५३ ॥

अथवा [उसी 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' का तीसरा उदाहरण] जैसे—

अमृत धारा के प्रवाह से आह्लादित करने वाले [पूर्णिमा के अतिरिक्त अन्य तिथियों के] अपूर्ण चन्द्रमा [के उदय] में भी [प्रियजन के वियोग की दशा में] मनुष्य उन्मना न होता हो सो बात नहीं है। [यहाँ अपूर्ण चन्द्रमा भी मनुष्य को उन्मन कर देता है। फिर पूर्णिमा के चन्द्रमा की तो बात ही क्या कहना। यह कथन चमत्कारविधायक होने से 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' का उदाहरण है] ॥५४॥

[ज] पदपूर्वार्द्धवक्रता का [आठवाँ] अन्य प्रकार 'लिङ्गवैचित्र्य' पाया जाता है। जहाँ वैचित्र्य सम्पादन के लिए भिन्न लिङ्ग के शब्दों का भी समानाधिकरण रूप से प्रयोग होता है। [वहाँ 'लिङ्गवक्रता' नामक पदपूर्वार्द्धवक्रता का भेद होता है] जैसे—

यह पद्य 'सुभाषितावली' में सं० ६२८ पर भट्ट वासुदेव के नाम से, आया है। और वक्रोक्तिजीवित में आगे द्वितीय उन्मेष में पूरा पद्य इस प्रकार उद्धृत हुआ है—

इत्थं जड़े जगति को नु बृहत्प्रमाण-
कर्णः करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम्।

---

१. विद्धशालभञ्जिका १, २३। २. उदाहरण सं० ४८ देखो।

३. सुभाषितावली सं० ६२८, भट्टवासुदेवस्य।

यथा च—

मैथिली तस्य दाराः[1] इति ॥५६॥

अन्यदपि 'लिङ्गवैचित्र्यवक्रत्वम्'। यत्रानेकलिङ्गसम्भवेऽपि सौकुमार्यात् कविभिः स्त्रीलिङ्गमेव प्रयुज्यते, 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' [२, २२] इति कृत्वा। यथा—

इत्यागतं झटिति योऽलिनमुन्ममाथ
मातङ्ग एव किमतः परमुच्यतेऽसौ ॥

यह अन्योक्ति है। हाथी के कान भी बड़े हैं और कर अर्थात् सूंड या हाथ भी बड़ा है। अतः यह हमारी विपत्ति की बात को भली प्रकार सुन सकता है और उसके प्रतिकार के लिए कुछ कर भी सकता है यह समझकर भ्रमर उसके पास आया। परन्तु उसने तुरन्त कान फड़फड़ाकर उसको भगा दिया। इसी प्रकार किसी बड़े समर्थ व्यक्ति के पास कोई दुःखी पुरुष अपनी बात लेकर आवे और वह उसको यों ही भगा दे तो उस हाथी और उस व्यक्ति को 'मातङ्ग' ['मातङ्ग' शब्द का अर्थ हाथी और चाण्डाल दोनों होते हैं] के अतिरिक्त और क्या कहा जाय।

जड़ जगत् में [हाथी के समान] इस प्रकार बड़े-बड़े कानों वाला और बड़ प्रशस्त हाथ वाला [सुनने और कर सकने में समर्थ] कथन करने का पात्र और कौन होगा [कोई नहीं] ॥ ५५ ॥

'बृहत्प्रमाणकर्णः कः ध्वनितस्य पात्रम् भवेत्' यहाँ 'कः' तथा 'पात्रं' में भिन्न लिङ्ग शब्दों का समानाधिकरण से प्रयोग किया गया है। उससे वाक्य में वक्रता का आधान होता है। अतः यह 'लिङ्गवक्रता' का उदाहरण है।

और [इसी 'लिङ्गवक्रता' का दूसरा उदाहरण] जैसे—

मैथिली [सीता] उसकी पत्नी है।

यहाँ 'मैथिली' शब्द स्त्रीलिङ्ग एकवचनान्त और 'दाराः' पद नित्य बहुवचनान्त पुलिङ्ग शब्द है। उन दोनों का समानाधिकरण्य से साथ प्रयोग होने यह 'लिङ्गवक्रता' का उदाहरण है।

'लिङ्गवक्रता' का और भी प्रकार हो सकता है। जहाँ [एक शब्द में] अनेक लिङ्ग सम्भव होने पर भी सौकुमार्यातिशय [द्योतन करने] के लिए कवि लोग 'स्त्री यह नाम ही सुन्दर है' [२, ३२२,] ऐसा मानकर, स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग करते हैं। जैसे—

---

१. बालरामायण ३, २७।

एतां पश्य पुरस्तटीम् । इति ॥५७॥

[झ] पदपूर्वार्द्धस्य धातोः 'क्रियावैचित्र्यवक्रत्वं' नाम वक्रत्वप्रकारान्तरं विद्यते । यत्र क्रियावैचित्र्यप्रतिपादनपरत्वेन वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरमणीयान् प्रयोगान् निबध्नन्ति कवयः। तत्र क्रियावैचित्र्यं बहुविधं विच्छित्तिविततव्यवहारं दृश्यते । यथा—

रइकेलिहिअणिअंसणकरकिसलअरूद्धणअणजुअलस्स ।
रूद्दस्स तइअणअणं पव्वइपरिचुम्बिअं जअइ ॥५८॥[1]
[रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरूद्धनयनयुगलस्य ।
रूद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र समानेऽपि हि स्थगनप्रयोजने साध्ये, तुल्ये च लोचनत्वे, देव्याः परिचुम्बनेन यस्य निरोधः सम्पाद्यते तद्भगवतस्तृतीयं नयनं 'जयति' सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति वाक्यार्थः। अत्र 'जयति' इति क्रियापदस्य किमपि सहृदयहृदयसंवेद्यं वैचित्र्यं परिस्फुरदेव लक्ष्यते ।

सामने इस तटी [किनारे] को देखो ।

तट शब्द सभी लिङ्गों में प्रयुक्त हो सकता है । परन्तु कवि ने सौकुमार्यातिशय द्योतन के लिए यहाँ उसका प्रयोग केवल स्त्रीलिङ्ग में किया है ।

यहाँ तक सुबन्त पद के पूर्वार्द्ध अर्थात् प्रातिपादिक की वक्रता के अनेक भेद दिखलाए। इसी प्रकार तिङन्त पदों के पूर्वार्द्ध अर्थात् धातु, या क्रिया के वैचित्र्य के कुछ भेद आगे दिखलाते हैं ।

(झ) [तिङन्त] पद के पूर्वार्द्ध धातु का 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' नामक वक्रता का और [नवाँ] भेद है । जहाँ क्रिया वैचित्र्य के प्रतिपादनपर रूप से वैदग्ध्य भङ्गी भणिति से रमणीय [क्रिया पदों के] प्रयोगों को कविगण प्रयुक्त करते हैं [वहाँ 'क्रिया-वक्रता' होती है] जैसे—

रतिक्रीडा के समय नङ्गी हो जाने के कारण करकिसलयों से जिनके दोनों नेत्र [पार्वती के द्वारा] बन्द कर लिए गये हैं ऐसे रुद्र का [तृतीय नेत्र को बन्द करने का और कोई उपाय न होने से] पार्वती द्वारा परिचुम्बित [चुम्बन करके ढंका हुआ] तृतीय नेत्र 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कर्ष युक्त है ॥ ५८ ।।

यहाँ [शिव के तीनों नेत्रों के] बन्द करने का प्रयोजन अर्थात् साध्य, समान होने पर भी और [तीनों नेत्रों में] लोचनत्व समान होने पर भी देवी [पार्वती] के परिचुम्बन से जिसका निरोध [बन्द करना] सम्पादन किया गया है वह भगवान् [शिव] का तृतीय नेत्र 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कर्ष से युक्त है । यह [इस श्लोक] वाक्य

---

१. गाथा सप्तशती ४५५ ।

यथा वा—

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥५९॥[1]

अत्र नखानां सकललोकप्रसिद्धच्छेदनव्यापारव्यतिरेकि किमप्यपूर्वमेव प्रपन्नार्तिच्छेदनलक्षणं क्रियावैचित्र्यमुपनिबद्धम् ।

यथा च—

स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥६०॥[2]

अत्र च पूर्ववदेव क्रियावैचित्र्यप्रतीतिः ।

का अर्थ है । इसमें 'जयति' इस क्रियापद का सहृदयसंवेद्य कुछ अपूर्व वैचित्र्य स्फुरित होता हुआ प्रतीत होता है ।

[अथवा] जैसे ['क्रिया-वक्रता' का दूसरा उदाहरण]—

स्वयं अपनी इच्छा से सिंह [नृसिंह] रूप धारण किए हुए [मधुरिपु] विष्णु भगवान् के, अपनी निर्मल कान्ति से चन्द्रमा को खिन्न [लज्जित] करने वाले, शरणागतों के दुःखनाशन में समर्थ नख तुम सबकी रक्षा करें ॥ ५९ ॥

[यह ध्वन्यालोक के वृत्तिभाग का मङ्गलश्लोक है] इसमें नखों का सकललोक प्रसिद्ध जो छेदन व्यापार है उससे भिन्न प्रकार का शरणागतों के दुःखनाशन रूप कुछ अपूर्व क्रियावैचित्र्य उपनिबद्ध किया गया है। [अतः यह 'क्रियावक्रता' का उदाहरण है] ।

और जैसे [उसी 'क्रियावक्रता' का तीसरा उदाहरण]—

वह शम्भु [शिव] के बाण से उत्पन्न अग्नि तुम्हारे दुःख [और पापों] को भस्म करे ॥६०॥

यहाँ भी पूर्व [उदाहरण] के समान [सकललोकप्रसिद्ध अन्य वस्तुओं के दहन से भिन्न दुरित-दहन रूप कुछ अपूर्व] 'क्रियावैचित्र्य' की प्रतीति होती है ।

यह 'अमरुक-शतक' का दूसरा श्लोक है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुंकान्तं,
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः,
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

---

१. ध्वन्यालोक मङ्गलाचरण ।

२. अमरुक-शतक २ ।

यथा च—

कएणुप्पलदलमिलिअलोअरोहिं, हेलालोलणमाणिअअरणअरोहिं ।
लोलइ लीलावईहि णिरुद्धओ, सिढिलअचाओ जअइ मअरद्धओ ॥६१॥
[कर्णोत्पलदलमिलितलोचनै र्हेलालोलनमानितनयनाभिः ।
लीलया लीलावतीभिर्निरुद्धःशिथिलीकृतचापो जयति मकरध्वजः ॥
इति संस्कृतम्]

अत्र लोचनैर्लीलया लीलावतीभिर्निरुद्धः स्वव्यापारपराङ्मुखीकृतः सन् शिथिलीकृतचापः कन्दर्पो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते इति किमुच्यते यतस्तास्तथाविधविजयावाप्तौ सत्यां जयन्तीति वक्तव्यम् ।

इसका अर्थ इस प्रकार है—

त्रिपुरदाह के समय शम्भु के बाण से समुद्भूत, त्रिपुर की युवतियों के द्वारा आर्द्रापराध [तत्कालकृत पराङ्गनोपभोगादि रूप अपराध से युक्त] कामी के समान हाथ छूने पर झटक दिया गया, जोर से ताड़ित होने पर भी वस्त्र के छोर को पकड़ता हुआ, केशों को छूते समय हटाया गया, पैरों पर पड़ा हुआ भी सम्भ्रम [क्रोध या भय] के कारण न देखा गया, और आलिङ्गन करने [का प्रयत्न करते] पर आँसुओं से पूर्ण नेत्र कमल वाली [कामपक्ष में ईर्ष्या के कारण और अग्नि-पक्ष में बचाव की आशा रहित होने के कारण रोती हुई] त्रिपुर सुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत [कामी पक्ष में प्रत्यालिङ्गन द्वारा स्वीकृत न करके और अग्नि-पक्ष में झटककर फेंका गया]।

शम्भु का शराग्नि तुम्हारे दुःखों [अथवा पापों] को भस्म करे।

और जैसे [उसी क्रियावैचित्र्य का चौथा उदाहरण]—

क्रीड़ा में हिलाते हुए कर्णोत्पलों के स्पर्श से नेत्रों को सम्मानित करने वाली, कानों के [भूषण रूप में धारण किये हुए] कमलों के पत्रों से मिलते हुए नेत्रों [के संकेत] से लीलावती [सुन्दरियों] के द्वारा; [अपने चापारोपण व्यापार से] रोका गया [अतएव] शिथिल धनुष वाला कामदेव [विजयी] सर्वोत्कर्ष युक्त होता है ॥६१॥

यहाँ [लीलावती] सुन्दरियों के द्वारा लीलापूर्वक [किये गये] नेत्रों [के संकेत] से रोका गया अर्थात् अपने [चापारोपण रूप] व्यापार से विमुख किया गया होकर शिथिल चाप वाला कामदेव 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कर्ष से युक्त होता है। यह क्या कहते हैं [अर्थात् यह बात उतनी चमत्कारयुक्त नहीं है] क्योंकि [कामदेव के प्रयास के बिना ही अथवा उसके ऊपर भी] उस प्रकार की विजय-प्राप्ति सिद्ध हो जाने से [कामदेव नहीं अपितु] वह [सुन्दरियाँ] ही सर्वोत्कर्ष युक्त होती हैं। यह कहना चाहिए।

तदयमत्राभिप्रायः—यत् तल्लोचनविलासानामेवंविधं जैत्रताप्रौढ़भावं पर्यालोच्य चेतनत्वेन स स्वचापारोपणायासमुपसंहृतवान् । यतस्तेनैव त्रिभुवन-विजयावाप्तिः परिसमाप्यते ममेति मन्यमानस्य तस्य सहायत्वोत्कर्षातिशयो 'जयति' इति क्रियापदेन कर्तृतायाः कारणत्वेन कवेश्चेतसि परिस्फुरितः । तेन किमपि क्रियावैचित्र्यमत्र तद्विदाह्लादकारि प्रतीयते ।

यथा च—

तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥६२॥

अत्र 'जल्पन्ति' 'वदन्ति' इत्यादि न प्रयुक्तं, यस्मात् तानि कयापि विच्छित्त्या किमप्यनाख्येयं समर्पयन्तीति कवेरभिप्रेतम् ।

इसका यह अभिप्राय है कि उनके नेत्रों के हावभावों [विलासों] के ही इस प्रकार की विजयशीलता प्रौढ़ता को विचारकर बुद्धिमान् [चेतन] होने से उस [कामदेव] ने अपने चापारोपण के प्रयत्न को समाप्त कर दिया । क्योंकि उसी [लीलावतियों के नेत्रविलास] से मेरी त्रिभुवन विजय सिद्ध हो जाती है ऐसा मानने वाले उस [कामदेव] के सहायकत्वोत्कर्ष का अतिशय [लीलावतियों के नेत्रविलास में] 'जयति' इस क्रिया पद से कर्तृत्व के कारणत्व रूप से कवि के हृदय में परिस्फुरित हुआ है [उसी को कवि ने इस रूप में यहाँ उपनिबद्ध कर दिया है]। उससे [जयति] इस क्रिया का सहृदयहृदया-ह्लादकारी कुछ अपूर्व वैचित्र्य यहाँ प्रतीत हो रहा है । [अतएव यह भी क्रिया-वैचित्र्य का सुन्दर उदाहरण है] ।

और जैसे [इसी क्रिया वैचित्र्य का तीसरा उदाहरण पूर्वोक्त 'निद्रानिमीलित' इत्यादि ५१ श्लोक का निम्नभाग]—

[प्रियतमा के स्वप्न अथवा मदावस्था में उच्चारण किये हुए] वह अक्षर हृदय में कुछ अपूर्व ध्वनि करते हैं ॥६२॥

यहाँ [कहने के अर्थ में] 'जल्पन्ति' या 'वदन्ति' आदि [पद] प्रयुक्त नहीं किए [अपितु 'ध्वनन्ति' पद का प्रयोग किया है] । क्योंकि वह [प्रियतमा के अव्यक्त शब्द] किसी अनिर्वचनीय शैली से किसी अनाख्येय वस्तु को समर्पित करते हैं । [उस अनिर्वच-नीय अनाख्येय अपूर्व वस्तु की अभिव्यक्ति 'जल्पन्ति', 'वदन्ति' आदि पदों से नहीं हो सकती है । अपितु 'ध्वनन्ति' पद से ही हो सकती है] यह कवि का अभिप्राय है । [इसीलिए उसने 'ध्वनन्ति' पद का ही प्रयोग किया है । यह 'क्रिया-वैचित्र्य' का तीसरा उदाहरण है] ।

'वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रय' इति। वक्रभावस्यान्योऽपि प्रभेदो विद्यते। कीदृशः, 'प्रत्ययाश्रयः'। प्रत्ययः सुप् तिङ् च यस्याश्रयः स्थानं स तथोक्तः। तस्यापि बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति, संख्यावैचित्र्यविहितः, कारक-वैचित्र्यविहितः, पुरुषवैचित्र्यविहितश्च। तत्र संख्यावैचित्र्यविहितः—यस्मिन वचनवैचित्र्यं काव्यबन्धशोभायै निबद्धयते। यथा—

मैथिली तस्य दाराः। इति ॥६३॥

यथा च—

फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणी सरोजाकराः ॥६४॥

अत्र द्विवचनबहुवचनयोः सामानाधिकरण्यमतीव चमत्कारकारि।

इस प्रकार पद पूर्वार्द्ध वक्रता के १० भेदों का निरूपण कर अब वक्रता के मुख्य प्रकारों में से तीसरे भेद 'प्रत्यय वक्रता' का निरूपण करते हैं—

वक्रता का एक और [मुख्य भेदों में तीसरा] प्रकार 'प्रत्ययाश्रित' [प्रत्ययवक्रता] भी है। [वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः। यह इस १६वीं कारिका का उत्तरार्द्ध भाग है। उसको प्रतीक रूप से उद्धृत कर उसकी व्याख्या करते हैं] वक्रता का अन्य भेद भी है। कैसा कि, प्रत्यय के आश्रित रहने वाला। प्रत्यय अर्थात् सुप् या तिङ् [प्रत्यय] वह आश्रय अर्थात् स्थान है जिसका, वह उस प्रकार का [प्रत्ययाश्रय प्रभेद] है। उस [प्रत्यय वक्रता] के भी बहुत से भेद हो सकते हैं। [जैसे] (१) 'संख्यावैचित्र्यकृता;' (२) 'कारक-वैचित्र्यकृत; (३) पुरुष-वैचित्र्यकृत; [आदि] उनमें से संख्यावैचित्र्यकृत [प्रत्ययवक्रता उसको कहते हैं] जिसमें काव्य की शोभा के लिए वचनवैचित्र्य की रचना की जाती है जैसे—

मैथिली [सीता] उस [रामचन्द्र] की पत्नी हैं ॥६३॥

यहाँ 'मैथिली' एक वचन और 'दाराः' बहुवचन का प्रयोग है। उससे उक्ति में वैचित्र्य प्रतीत होता है। इसलिए यह 'वचनवक्रता' या 'प्रत्ययवक्रता' का उदाहरण है। इसके पूर्व यही पद्यांश 'लिङ्गवक्रता' के उदाहरण में प्रस्तुत किया जा चुका है। क्योंकि उसमें 'मैथिली' पद स्त्रीलिङ्ग तथा 'दाराः' पद पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। इसलिए यह उदाहरण वस्तुतः 'लिङ्गवक्रता' और 'वचनवक्रता' अर्थात् 'प्रत्ययवक्रता' दोनों का दिया गया है।

और जैसे [उसी वचनवक्रता रूप प्रत्ययवक्रता का दूसरा उदाहरण]—

[उसके] नेत्र खिले हुए कमलों के वन तथा दोनों हाथ कमलाकर है ॥६४॥

यहाँ [उपमेयभूत 'नयने' तथा 'पाणी' पदों में प्रयुक्त] द्विवचन और [उपमान भूत 'फुल्लेन्दीवरकाननानि' तथा 'सरोजाकराः' पदों में प्रयुक्त हुए] बहुवचन इन दोनों का समानाधिकरण्य [सह प्रयोग] अत्यन्त चमत्कारजनक है। [इसलिए यह संख्या-वैचित्र्यकृत 'प्रत्ययवक्रता' का उदाहरण है]।

कारकवैचित्र्यविहितः—यत्राचेतनस्यापि पदार्थस्य चेतनत्वाध्यारोपेण चेतनस्यैव क्रियासमावेशलक्षणं रसादिपरिपोषणार्थं कर्तृत्वादिकारकं निबध्यते । यथा—

स्तनद्वन्द्वं मन्दं स्नपयति बलाद्वाष्पनिवहो
हठादन्तः कण्ठं लुठति सरसः पञ्चमरवः ।
शरज्ज्योत्स्नापाण्डुः पतति च कपोलः करतले
न जनीमस्तस्याः क इव हि विकारव्यतिकरः ॥६५॥

अत्र वाष्पनिवहादीनामचेतनानामपि चेतनाध्यारोपेण कविना कर्तृत्वमुपनिबद्धम् । यत्तस्या विवशायाः सत्यास्तेषामेवंविधो व्यवहारः सा पुनः स्वयं किञ्चिदप्याचरितुं समर्थेत्यभिप्रायः । अन्यच्च कपोलादीनां तदवयवानामेतदवस्थत्वं प्रत्यक्षतयाऽस्मदादिगोचरतामापद्यते । तस्याः पुनर्योऽसावन्तर्विकारव्यतिकरस्तं तदनुभवैकविषयत्वाद्वयं न जानीमः ।

यथा च—

['प्रत्ययवक्रता' का दूसरा भेद] कारकवैचित्र्यकृत [होता है]—जहाँ अचेतन पदार्थ में भी चेतनत्व का अध्यारोप करके रसादि के परिषोषण के लिए [उनमें] चेतन की ही क्रिया का समावेश रूप कर्तृत्वादि कारक [के रूप में उस अचेतन पदार्थ] का वर्णन किया जाता है [वहाँ कारकवैचित्र्यकृत प्रत्ययवक्रता होती है] जैसे—

आँसुओं का प्रवाह धीरे-धीरे दोनों स्तनों को नहला रहा है, मधुर पञ्चम स्वर बलात् कण्ठ के भीतर अवरुद्ध हो रहा है और शरज्ज्योत्सना के समान धवलवर्ण कपोल तल हाथ पर पड़ा हुआ है । [उसका वाह्य रूप तो इस प्रकार है परन्तु] न जाने उसका [मानसिक-आन्तर] विकार किस प्रकार [अनिर्वचनीय] है ॥६५॥

यहाँ वाष्प निवह आदि अचेतन पदार्थों में भी चेतनत्व का अध्यारोप करके कवि ने [उनमें स्नपयति, लुठति और पतति क्रियाओं का] कर्तृत्व प्रतिपादन किया है । इसलिए कि उसके विवश होने पर उन [वाष्पनिवह आदि अचेतन कर्त्ताओं] का जब इस प्रकार का व्यवहार है तब स्वयं तो कुछ भी [मरण आदि असम्भाव्य कार्य] करने में समर्थ [हो सकती] है यह [कवि का] अभिप्राय है । और उसके कपोल आदि अवयवों की वह अवस्था प्रत्यक्ष रूप से हमको दिखाई देती है । परन्तु उसका जो यह अन्तर्विकार का सम्बन्ध है उसको, केवल उसी के अनुभवगोचर होने से हम नहीं जान सकते हैं [यह भी कवि का अभिप्राय कहा जा सकता है इसलिए यह क्रियावैचित्र्य का भेद है] ।

और जैसे [क्रियावैचित्र्य का तीसरा उदाहरण]—

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः ।
अस्त्यैवेतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥६६॥

यह श्लोक राजशेखरकृत बालरामायण नाटक के द्वितीय अङ्क से लिया गया है। परशुराम ने शिव से धनुर्विद्या सीखी थी, कार्तिकेय तथा कार्तवीर्य सहस्त्रार्जुन को जीतकर और समस्त क्षत्रियों का नाश करके समस्त पृथ्वी कश्यप को दान करदी थी। और अपने परशु के द्वारा समुद्र को दूर फेंक कर वहाँ अपना निवासस्थान बनाया था। तथा पिता की आज्ञा से अपनी माता रेणुका का गला काट दिया था। इत्यादि परशुराम सम्बन्धिनी कथा इस श्लोक की पृष्ठभूमि है। इसमें प्रयुक्त हुआ 'हन्तकार' शब्द एक पारिभाषिक शब्द है। उसका लक्षण करते हुए मार्कण्डेय पुराण में लिखा है—

ग्रासप्रमाणा भिक्षा स्यादग्रं ग्रासचतुष्टयम् ।
अग्रं चतुर्गुणं प्राहुर्हन्तकारं द्विजोत्तमाः ॥

अर्थात् ग्रास के परिमाण से भिक्षा दी जानी चाहिए। पहिले चार ग्रास भिक्षा कहलाते हैं। और उसके बाद के चतुर्गुण अर्थात् सोलह ग्रास को 'हन्तकार' कहते हैं। अर्थात् पहिले चार ग्रास योग्य भिक्षा प्रत्येक गृहस्थ सुविधा तथा प्रसन्नतापूर्वक दे सकता है। इसलिए वह तो उचित 'भिक्षा' है, बाद सोलह ग्रास तक की भिक्षा तनिक अनखाकर देता है। अतएव उसको 'हन्तकार' कहा है।

इस श्लोक में 'विजितः' के अर्थ में 'विजेयः' शब्द का प्रयोग किया गया है इसलिए कृत्य प्रत्यय 'क्त' प्रत्यय के अर्थ में अवाचक है। ऐसा मानकर काव्यप्रकाशकार ने [श्लोक सं० २०१] पदैकदेशगत अवाचकत्व दोष के उदाहरण के रूप में इस श्लोक को उद्धृत किया है।

बालरामायण में यह परशुराम के प्रति रावण की उक्ति है। चन्द्रिकाकार ने इसे परशुराम के प्रति रावण के दूत की उक्ति लिखा है जो ठीक नहीं है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

[हे परशुराम यह ठीक है कि] त्रिपुरविजयी [शिवजी तुम्हारे] धनुर्विद्या के आचार्य हैं और कार्तिकेय को तुमने जीत लिया है [विजितः प्रयुक्त होना चाहिए था, परन्तु उसके प्रयुक्त करने पर छन्दोभङ्ग हो जाता अतः कवि ने विजेयः का प्रयोग कर दिया है परन्तु वह उचित नहीं हुआ है] शस्त्र [परशु] से फेंका गया समुद्र [का जल उससे रिक्त हुआ स्थान] तुम्हारा घर है [यह भी ठीक है] यह पृथ्वी तुम्हारे द्वारा कश्यप को दी हुई [षोडशग्रासात्मिका भिक्षा] 'हन्तकार' है। यह सब ठीक है। फिर भी [व्यर्थ ही अपनी माता] रेणुका के कण्ठ को काटने वाले तुम्हारे परशु के साथ स्पर्धा [उसके साथ युद्ध का विचार करते हुए] करते हुए मेरी तलवार लज्जित होती है ॥६६॥

अत्र 'चन्द्रहासो लज्जत' इति पूर्ववत् कारकवैचित्र्यप्रतीतिः।

पुरुषवैचित्र्यविहितं वक्रत्वं विद्यते—यत्र प्रत्यक्तापरभावविपर्यायासं प्रयुञ्जते कवयः काव्यवैचित्र्यार्थं युष्मदि अस्मदि वा प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रं निबध्नन्ति। यथा—

अस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ॥६७॥

अत्र त्वं न जानासीति वक्तव्ये वैचित्र्याय 'देवो न जानाति' इत्युक्तम्। एवं युष्मदादिविपयसः क्रियापदं विना प्रातिपदिकमात्रेऽपि दृश्यते। यथा—

अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने
न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥६८॥

इसमें [अचेतन में चेतनत्व का अध्यारोप करके] तलवार लज्जित होती है इस [कथन] से पूर्ववत् कारकवैचित्र्य की प्रतीति होती है। [अतः यह कारकवैचित्र्य का तीसरा उदाहरण है]।

[प्रत्ययवक्रता का तीसरा भेद] 'पुरुषवैचित्र्यवकत्व' [वहाँ होता] है, जहाँ प्रथम पुरुष का [मध्यम अथवा उत्तम पुरुष रूप] अन्य के साथ विपर्ययास का कवि लोग प्रयोग करते हैं। [अर्थात्] काव्य के वैचित्र्य के लिए [मध्यमपुरुष बोधक] युष्मद् [शब्द] अथवा [उत्तमपुरुष बोधक] अस्मद् [शब्द] के प्रयोग करने के स्थान पर प्रातिपदिकमात्र [प्रथमपुरुष] का प्रयोग करते हैं। जैसे—

यदि आप [रावण] उस [लोकप्रसिद्ध रामचन्द्र] को नहीं जानते हैं [यह अभिमानवश कहते हैं] तो वह हमारे [लङ्कावासियों के] दुर्भाग्य से ही है [अर्थात् हमारे दुर्भाग्य का सूचक है। यह श्लोक जिसका यह चतुर्थ चरण है पीछे उदाहरण सं० ४३ पर उद्धृत किया जा चुका है] ॥६७॥

यहाँ 'त्वं न जानासि' तुम नहीं जानते इस [मध्यमपुरुष के] के स्थान पर 'देवो न जानाति' आप नहीं जानते [यह प्रथमपरुष प्रातिपदिक-मात्र का प्रयोग किया गया है। [उससे काव्य में चमत्कार उत्पन्न हो गया है। इसलिए यह 'पुरुषवक्रता' का उदाहरण है]।

इसी प्रकार क्रियापद के बिना प्रातिपदिकमात्र के प्रयोग से भी युष्मदादि पद का विपर्यास देखा जाता है। जैसे—

हे तपोधने! यह सेवक कुछ पूछना चाहता है यदि कोई गोपनीय बात न हो तो उत्तर देने की कृपा करे ॥६८॥

अत्र 'अहं प्रष्टुकाम' इति वक्तव्ये ताटस्थ्यप्रतीत्यर्थं 'अयं जन' इत्युक्तम् ।

यथा वा—

सोऽयं दम्भधृतव्रतः ॥६६॥ इति

अत्र सोऽहमिति वक्तव्ये पूर्ववत् अयम् इति वैचित्र्यप्रतीतिः ।

एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिताः । शिष्टाश्च सहस्रशः सम्भवन्तीति महाकविप्रवाहे सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयाः ॥१६॥

यहाँ 'मैं [उत्तमपुरुष] पूछना चाहता हूँ' यह कहने के स्थान पर उदासीनता के बोधन के लिए [अहं के स्थान पर] 'अयं जनः' 'यह सेवक' यह कहा है। [उससे भी उक्ति में चमत्कार आ गया है इसलिए यह भी 'पुरुषवक्रता' का उदाहरण है]।

यह पद्यांश कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग के ४०वें श्लोक का उत्तरार्द्ध भाग है। पूरा श्लोक इस प्रकार है।

अतोऽत्र किञ्चिद् भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः ।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥

अथवा जैसे [पुरुषवक्रता का तीसरा उदाहरण]—

वह यह मिथ्याव्रत धारण किए हुए [न जाने क्या करने पर उतर आया है] है ॥६६॥

[यह पूरा श्लोक पहिले आगे चतुर्थ उन्मेश में दिया जायगा] इसमें 'सोऽहं' 'वह मैं' यह कहने के स्थान पर पूर्ववत् [उत्तम पुरुष के स्थान पर प्रथम पुरुष 'यह' प्रयुक्त किया है] उससे उक्ति में वैचित्र्य की प्रतीति हो रही है।

यह वक्रता के मुख्य रूप से कुछ भेद उदाहरणार्थ [यहाँ] दिखला दिए हैं। और भी सैकड़ों भेद हो सकते हैं। इसलिए सहृदय लोग महाकवियों के प्रवाह में [उन भेदों को] स्वयं देख लें ॥१६॥

इस प्रकार इस १९वीं कारिका में वक्रता के निम्न भेद गिनाए हैं—

[१] वर्णविन्यासवक्रता [जिसे प्राचीन आचार्य अनुप्रास और यमक कहते हैं]।

[२] पदपूर्वार्द्धवक्रता [अर्थात् प्रातिपदिक वक्रता तथा धातु वक्रता अथवा क्रिया वक्रता] 'प्रातिपदिक वक्रता' रूप पदपूर्वार्द्ध वक्रता के निम्न भेद दिखलाये हैं-

[क] रूढ़िवैचित्र्य वक्रता जिसके अन्तर्गत (अ) वाच्यप्रसिद्ध धर्मान्तराध्यारोप और (ब) वाच्यप्रसिद्धधर्म में लोकोत्तरातिशयाध्यारोप।

इनको प्राचीन ध्वनिवादी 'आचार्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य-ध्वनि' कहते हैं।

[ख] पर्यायवक्रता के दो भेद—(अ) प्रस्तुतानुगुण विशेष पर्यायपद का प्रयोग और (ब) वाच्यासम्भविधर्मान्तरगर्भीकृत पर्याय पद का प्रयोग। इन दोनों

एवं वाक्यावयावानां पदानां प्रत्येकं वर्णाद्यवयवद्वारेण यथासम्भवं वक्रभावं व्याख्याय, इदानीं पदसमुदायभूतस्य वाक्यस्य वक्रता व्याख्यायते—

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥२०॥

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यः । वाक्यस्य पदसमुदायभूतस्य । 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्' इति यस्य प्रतीतिस्तस्य श्लोकादेर्वक्रभावो

प्रकार के प्रयोगों को मम्मट आदि ने परिकारालङ्कार माना है जिसका लक्षण निम्न प्रकार है—

'विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः'

ग. उपचारवक्रता के २ भेद—(क) अमूर्त के लिए मूर्तवाचक शब्द का प्रयोग और (ख) ठोस द्रव्य के लिए द्रववाचक शब्द का प्रयोग।

घ. विशेषणवक्रता के दो उदाहरण ।

ङ. संवृतिवक्रता के दो उदाहरण ।

च. वृत्तिवैचित्र्यवक्रता या सम्बन्धवक्रता के दो उदाहरण ।

छ. लिङ्गवैचित्र्य या लिङ्गवक्रता के दो भेद—(अ) भिन्न लिङ्गों का समानाधिकरण और (ब) सौकुमार्यातिशय के द्योतन के लिए केवल स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग ।

ज. क्रियावैचित्र्य रूप पदपूर्वार्द्ध वक्रता के पाँच उदाहरण—

(ग) प्रत्ययाश्रित वक्रता—

(अ) संख्यावैचित्र्यकृतवक्रता, (ब) कारकवैचित्र्यकृतवक्रता और (स) पुरुषवैचित्र्यकृतवक्रता । यह तीन भेद ।

इस प्रकार वाक्य के अवयवभूत पदों में प्रत्येक के अलग-अलग वर्णादि अवयवों के द्वारा यथासम्भव वक्रता को दिखलाकर अब पदों के समुदाय भूत वाक्य की वक्रता का प्रतिपादन करते हैं—

वाक्य का वक्रभाव [पदवक्रता से भिन्न] अन्य ही है । जिसके सहस्रों भेद हो सकते हैं । और जिसमें यह [उपमादि रूप प्रसिद्ध] समस्त अलङ्कार वर्ग का अन्तर्भाव हो जायगा ॥२०॥

वाक्य की वक्रता [पदवक्रता से] अन्य है । वाक्य की, अर्थात् पदसमुदाय रूप [वाक्य] की । 'अव्यय, कारक, विशेषण [आदि] से युक्त क्रिया [आख्यात] वाक्य [कहलाती] है' इस प्रकार [के लक्षण द्वारा] जिसकी प्रतीति होती है उस [वाक्य] श्लोकादि [रूप वाक्य] का वक्रभाव अर्थात् वर्णन-शैली का वैचित्र्य अन्य अर्थात्

भङ्गीभणितिवैचित्र्यं, अन्यः पूर्वोक्तवक्रताव्यतिरेकी समुदायवैचित्र्यनिबन्धनः कोऽपि सम्भवति । यथा—

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं[1]
वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः ।
त्वामाश्रयं प्राप्य तया नु कोपात्
सोढाऽस्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥७०॥

एतत् सीतया तथाविधकरुणाक्रान्तान्तःकरणया वल्लभं प्रति सन्दिश्यते । यदुपस्थितां सेवासमापन्नां लक्ष्मीमपास्य श्रियं परित्यज्य, पूर्वं यस्त्वं मया सार्धं वनं प्रपन्नो विपिनं प्रयातस्तस्य तव स्वप्नेऽप्येतन्न सम्भाव्यते । तया पुनस्तस्मादेव कोपात् स्त्रीस्वभावसमुचितसपत्नीविद्वेषात् त्वद्गृहे वसन्ती न सोढाऽस्मि ।

तदिदमुक्तं भवति—यत् तस्मिन् विधुरदशाविसंष्ठुलेऽपि समये तथा-

पूर्वोक्त [(१) वर्णविन्यासवक्रता, (२) पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा (३) प्रत्ययाश्रित-वक्रता] वक्रता से भिन्न, समुदाय [रूप वाक्य] वैचित्र्यमूलक [वाक्य का] कुछ अपूर्व वक्रभाव हो सकता है । जैसे—

[यह रघुवंश का १४, ६० श्लोक है । इसमें परित्यक्ता सीता लक्ष्मण के लौटते समय उनके द्वारा रामचन्द्र के पास यह सन्देश भेज रही है कि] पहिले [राज्याभिषेक के समय सेवार्थ] उपस्थित हुई लक्ष्मी को छोड़कर तुम मेरे साथ वन को चले गये थे । इसलिए आज तुम्हारा आश्रय पाकर [सपत्नी सुलभ] क्रोध के कारण उसने तुम्हारे घर मेरा रहना सहना नहीं किया ॥७०॥

[परित्याग के समय] उस प्रकार के [अनिर्वचनीय] करुण [रस] से आक्रान्त हृदय वाली सीता पति के पास यह सन्देश भेज रही है कि—उपस्थित अर्थात् सेवा के लिए आई हुई लक्ष्मी को दूर करके अर्थात् श्री को छोड़कर, पहिले [राज्याभिषेक के समय] जो तुम [रामचन्द्र] मेरे साथ वन को चले गए [वह] तुमसे स्वप्न में भी यह [लक्ष्मी के अर्थात् अपने परित्याग की] आशा नहीं करती थी । [इसलिए आज] उसी क्रोध से स्त्री-स्वभाव के अनुरूप सपत्नी-विद्वेष के कारण [बदला लेने के लिए] उसने तुम्हारे घर में [रहती हुई मुझ को सहन नहीं किया ।] मेरा रहना सहन नहीं किया ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि [वनवास के समय की] उस दुःखमयी अवस्था के

---

१. रघुवंश १४, ६० ।

विधप्रसादास्पदतामध्यारोप्य यदिदानीं साम्राज्ये निष्कारणपरित्यागतिरस्कार-पात्रतां नीताऽस्मि, इत्येतदुचितमनुचितं वा विदितव्यवहारपरम्परेण भवता स्वयमेव विचार्यतामिति ।

स च वक्रभावस्तथाविधो यः सहस्रधा भिद्यते बहुप्रकारं भेदमासादयति । सहस्रशब्दोऽत्र संख्याभूयस्त्वमात्रवाची, न नियतार्थवृत्तिः, यथा सहस्रदलमिति । यस्मात् कविप्रतिभानन्त्यान्नियतत्वं न सम्भवति । योऽसौ वाक्यस्य वक्रभावो बहुप्रकारः, न जानीमस्तं कीदृशमित्याह—'यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति' । यत्र यस्मिन्नसावलङ्कारवर्गः कविप्रवाहप्रसिद्धप्रतीति रुपमादिरलङ्करणकलापः सर्वः सकलोऽप्यन्तर्भविष्यति अन्तर्भावं व्रजिष्यति । पृथक्त्वेन नावस्थास्यते, तत्प्रकारभेदत्वेनैव व्यपदेशमासादयिष्यतीत्यर्थः । स चालङ्कारवर्गः स्वलक्षणावसरे प्रतिपदमुदाहरिष्यते ॥२०॥

एवं वाक्यवक्रतां व्याख्याय वाक्यसमूहरूपस्य प्रकरणस्य तत्समुदायात्मकस्य च प्रबन्धस्य वक्रता व्याख्यायते—

कठिन समय में भी उस प्रकार की कृपापात्रता प्रदान करके अब साम्राज्य पाने पर [आपने] जो मुझ को निष्कारण परित्याग से तिरस्कार का पात्र बना दिया है यह [आपके लिए] उचित है अथवा अनुचित इसका व्यवहारपरम्परा को समझने वाले आपको स्वयं विचार करना चाहिए ।

और वह [वाक्य का] वक्रभाव ऐसा है जिसके सहस्रों भेद हो सकते हैं । सहस्र शब्द यहाँ केवल संख्या के बाहुल्य का वाचक है, निश्चित अर्थ [१०००] का बोधक नहीं । जैसे सहस्रदलम् [पद कमल के लिए प्रयुक्त होता है । उसमें भी सहस्र शब्द नियत सहस्र संख्या का नहीं अपितु संख्या बाहुल्य का वाचक है] । क्योंकि कवि प्रतिभा के अनन्त होने से [कविप्रतिभाजन्य वाक्यवक्रता का भी] नियतत्व सम्भव नहीं है । यह जो वाक्य का बहुत प्रकार का वक्रभाव है वह कैसा है उसको हम नहीं जानते [यह शङ्का हो सकती है] इसलिए कहते हैं—जिसमें यह [प्रसिद्ध उपमादि] सारा अलङ्कार समुदाय अन्तर्भूत हो जायगा । यत्र यस्मिन् जिस [वाक्य-वक्रता] में कवि समुदाय में प्रसिद्ध प्रतीति वाला यह सारा अलङ्कार वर्ग अर्थात् उपमा आदि अलङ्कार समुदाय सब का सब अन्तर्भूत हो जायगा अर्थात् अन्तर्भाव को प्राप्त हो जायगा । अलग स्थित नहीं रह सकेगा । उस [वाक्यवक्रता] के प्रकार या भेद के रूप में ही व्यवहृत होगा । यह अभिप्राय है । उस अलङ्कार वर्ग के [अलङ्कारों के] अपने लक्षणों के अवसर पर अलग-अलग उदाहरण दिये जावेंगे ॥२०॥

इस प्रकार [संक्षेप से] 'वाक्यवक्रता' का प्रतिपादन [निर्देश या उद्देश्यमात्र] करके [अब] वाक्यसमूह रूप 'प्रकरण' और 'प्रकरण समुदाय' रूप प्रबन्ध की वक्रता का प्रतिपादन करते हैं—

वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः ।
उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः ॥२१॥

वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यं, प्रबन्धैकदेशभूते प्रकरणे यादृशोऽस्ति यादृगें विद्यते, प्रबन्धे वा नाटकादौ सोऽप्युच्यते कथ्यते। कीदृशः,'सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः' । सहजं स्वाभाविकं, आहार्यं व्युत्पत्युपार्जितं, यत्सौकुमार्यं रामणीयकं तेन मनोहरो हृदयहारी यः स तथोक्तः।

तत्र प्रकरणे वक्रभावो यथा—रामायणे मारीचमायामयमाणिक्यमृगानुसारिणो रामस्य करुणाक्रन्दाकर्णनकातरान्तःकरणया जनकराजपुत्र्या तत्प्राणपरित्राणाय स्वजीवितपरिरक्षानिरपेक्षया लक्ष्मणो निर्भर्त्स्य प्रेषितः।

तदेतदत्यन्तमनौचित्ययुक्तम् । यस्मादनुचरसन्निधाने प्रधानस्य तथाविधव्यापारकरणमसम्भावनीयम् । तस्य च सर्वातिशयचरितयुक्तत्वेन वर्ण्य-

---

[वाक्य समुदायात्मक] 'प्रकरण' अथवा [प्रकरण-समुदायात्मक] 'प्रबन्ध' में सहज [स्वाभाविक] और आहार्य [व्युत्पत्ति द्वारा उपार्जित] सौकुमार्य से मनोहर जिस प्रकार का वक्रभाव है उसको [भी इस २१वीं कारिका में] कहते हैं ॥२१॥

वक्रभाव अर्थात् रचनावैचित्र्य, प्रबन्ध [काव्य नाटक आदि] के एकदेश [अवयव] भूत 'प्रकरण' में जैसा है, अथवा [प्रकरण-समुदायात्मक] 'प्रबन्ध' अर्थात् नाटकादि में जैसा [वक्रभाव] है वह भी [इस कारिका में] कहा जाता है। कैसा कि सहज और आहार्य सौकुमार्य से मनोहर। सहज माने स्वाभाविक और आहार्य माने व्युत्पत्ति से उपार्जित जो सौकुमार्य अर्थात् सौन्दर्य उससे मनोहर हृदयहारी जो वह उस प्रकार का 'सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः' हुआ।

उनमें से प्रकरण में वक्रभाव का उदाहरण जैसे—रामायण में छद्मधारी स्वर्णमय मारीच मृग के पीछे जाने वाले रामचन्द्र के करुण आक्रन्दन को सुनकर भयभीत अन्तःकरण वाली जनकराज की पुत्री [सीता] ने उनके प्राणों की रक्षा करने के लिए अपने जीवन की रक्षा की पर्वाह न करके डाँट-डपटकर लक्ष्मण को भेजा है।

यह [वर्णन] अत्यन्त अनुचित हुआ है। क्योंकि अनुचर [रूप लक्ष्मण] के समीप विद्यमान होने पर भी प्रधान [रामचन्द्र] का [मृग को मारने या पकड़ने के लिए जाने रूप] उस प्रकार का करना असम्भव-सा है। [अर्थात् जब लक्ष्मण वहाँ विद्यमान थे और वे सीता तथा राम की सब प्रकार की सेवा करते थे। तो इस समय मृग के पीछे उनका जाना ही अधिक युक्तिसङ्गत हो सकता है। राम का जाना नहीं। यह एक प्रकार का अनौचित्य रामायण के वर्णन में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त इसी प्रसङ्ग में दूसरे प्रकार का अनौचित्य यह पाया

मानस्य तेन कनीयसा प्राणपरित्राणसम्भावनेत्येतदत्यन्तमसमीचीनमिति पर्यालोच्य, 'उदात्तराघवे' कविना वैदग्ध्यवशेन मारीचमृगमारणाय प्रयातस्य परित्राणार्थं लक्ष्मणस्य, सीतया कातरत्वेन रामः प्रेरित इत्युपनिबद्धम्।

अत्र च तद्विदाह्लादकारित्वमेव वक्रत्वम्।

यथा च 'किरातार्जुनीये' किरातपुरुषोक्तिषु वाच्यत्वेन स्वमार्गणमार्गणमात्रमेवोपक्रान्तम्। वस्तुतः पुनरर्जुनेन सह तात्पर्यार्थपर्यालोचनया विग्रहो 'वाक्यार्थतामुपनीतः।

जाता है कि] काव्य के मुख्य पात्र [वर्ण्यमान] और सर्वातिशय युक्त चरित्र वाले [काव्य नायक] उस [रामचन्द्र] के प्राणों की रक्षा छोटे [भाई] के द्वारा किये जाने की सम्भावना यह [भी] अत्यन्त अनुचित है। यह [ही] विचार कर [वर्तमान समय में अप्राप्य किन्तु दशरूपक के श्लोक में हेमचन्द्र द्वारा तथा साहित्य-दर्पण आदि में उद्धृत] 'उदात्तराघव' [नामक नाटक] में वैदग्ध्य के वशीभूत [कवि ने] मारीच मृग के मारने के लिए गये हुए लक्ष्मण के परित्राण के लिए कातर होकर सीता ने राम को प्रेरित किया है इस प्रकार का वर्णन किया है।

इस [उदात्तराघव के वर्णन] में सहृदयाह्लादकारित्व ही वक्रत्व है। [यह प्रकरण वक्रता का उदाहरण हुआ। इसी का दूसरा उदाहरण आगे किरातार्जुनीय काव्य में से देते हैं]।

और जैसे 'किरातार्जुनीय' [भारवि निर्मित काव्य] में किरात पुरुष के वचनों में वाच्य रूप से केवल अपने बाणों की खोज मात्र का वर्णन किया है। परन्तु वास्तव में तात्पर्यार्थ की पर्यालोचना से अर्जुन के साथ युद्ध [उस प्रकरण की] वाक्यार्थता को प्राप्त हुआ है। [अर्थात् युद्ध की भूमिका बाँधी गई है]।

किरातार्जुनीय महाकाव्य में व्यास मुनि के आदेश से दिव्यास्त्र की प्राप्ति के लिए अर्जुन की तपस्या का वर्णन है। उसी तपस्या के प्रसङ्ग में ग्यारहवें सर्ग में मुनिरूपधारी इन्द्र, अर्जुन के आश्रम में आकर और संवाद के बाद प्रत्यक्ष होकर अर्जुन, को शिव की आराधना का उपदेश देते हैं। उस परामर्श के अनुसार अर्जुन शिव की आराधना में तत्पर हो जाते हैं। उसी अवसर पर वराह रूप धारण कर एक मूकदानव अर्जुन के बध के लिए आता है। उससे अर्जुन की रक्षा और परीक्षा के लिए शिवजी किरात का रूप धारण कर और किरात वेषधारी अपने गणों की सेनासहित मृगया के व्याज से अर्जुन के आश्रम के समीप आते हैं। यह कथा बारहवें सर्ग तक की है। तेरहवें सर्ग में उस वराह रूपधारी मूकदानव के ऊपर किरात-वेषधारी शिव तथा अर्जुन दोनों एक साथ बाण छोड़ते हैं। जिसमें अर्जुन का बाण लगने से वराह की मृत्यु हो जाती है। अर्जुन उसके समीप जाकर उसके शरीर में से

तथा च तत्रैवोच्यते—

प्रयुज्य सामाचरितं विलोभनं,
भयं विभेदाय धियः प्रदर्शितम् ।
तथाभियुक्तं च शिलीमुखार्थिना,
यथेतरन्न्याय्यमिवावभासते ॥७१॥

अपना बाण निकालने लगते हैं। उसी समय शिव जी का भेजा हुआ वनेचर सैनिक आकर कहता है कि यह बाण हमारे सेनापति का है। अतः तुम उसको दे दो अन्यथा तुम्हारे लिए अच्छा नहीं होगा। वनेचर का यहाँ पर बड़ा लम्बा वक्तव्य है। जो इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

शान्तता विनययोगि मानसं भूरिधाम विमलं तपः श्रुतम् ।
प्राह ते नु सदृशी दिवौकसामन्ववायमवदातमाकृतिः ॥ १३, ३७ ॥

इसमें साम से अपने कथन का प्रारम्भ किया है। उसके बाद ५१वें श्लोक में अपने सेनापति के साथ मित्रता का प्रलोभन दिखलाते हुए वनेचर कहता है—

मित्रमिष्टमुपकारि संशये मेदिनीपतिरयं तथा च ते ।
तं विरोध्य भवता निरासि मा सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता ॥१३, ५१॥

उसके बाद ६१वें श्लोक में भय का प्रदर्शन भी किया है—

शक्तिरर्थपतिषु स्वयंग्रहं प्रेम कारयति वा निरत्ययम् ।
कारणद्वयमिदं निरस्यतः प्रार्थनाधिकबले विपत्फला ॥१३, ६१॥
तत् तितिक्षितमिदं मया मुनेरित्यवोचत वचश्चभूपतिः ।
बाणमत्रभवते निजं दिशन्नाप्नुहि त्वमपि सर्वसम्पदः ॥ १३, ६८॥

३७ से लेकर ७१ तक ३४ श्लोकों में वनेचर ने साम, दाम, दण्ड, भेद सब प्रकार का प्रयोग कर अर्जुन से बाण दे देने को कहा है। वह वस्तुतः शिव तथा अर्जुन के युद्ध की भूमिका है। यही इस प्रकरण की वक्रता है। वनेचर के कथन का उत्तर १४वें सर्ग में अर्जुन ने दिया है। उसी में से यह श्लोक यहाँ उद्धृत किया है। उसमें वनेचर के वचनों का निर्देश करते हुए अर्जुन कहते हैं कि—

जैसा कि वहीं कहा है—

[सबसे पहिले अपने वक्तव्य के प्रारम्भ में 'शान्तता' आदि १३, ३७ श्लोक में तुमने] साम का प्रयोग करके [फिर मित्रमिष्टमुपकारि इत्यादि ५१वें श्लोक में अपने राजा के साथ मित्रता का]लोभ दिखलाया है। उसके बाद ['शक्तिरर्थपतिषु' ६१ तथा 'तत् तितिक्षितं' मुनेः इत्यादि ६८ तक अनेक श्लोकों में] विचार को बदल देने के लिए भय भी दिखाया है। और इस बाण को लेने के लिए इस प्रकार का कथन तुमने किया है जिससे अन्याय्य बात भी [अन्यत्] न्याय्य-सी प्रतीत होने लगती है ॥७१॥

प्रबन्धे वक्रभावो यथा—कुत्रचिन्महाकविविरचिते रामकथोपनिबन्धे नाटकादौ पञ्चविधवक्रतासामग्रीसमुदायसुन्दरं सहृदयहृदयहारि महापुरुषवर्णनमुपक्रमे प्रतिभासते। परमार्थतस्तु विधिनिषेधात्मकधर्मोपदेशः पर्यवस्यति, रामवद्वर्तितव्यं न रावणवदिति।

यथा च तापसवत्सराजे कुसुमसुकुमारचेतसः सरसविनोदैकरसिकस्य नायकस्य चरितवर्णनमुपक्रान्तम्। वस्तुतस्तु व्यसनार्णवे निमज्जन्निज़ो राजा तथाविधनयव्यवहारनिपुणैरमात्यैस्तैस्तैरुपायैरुत्तारणीय इत्युपदिष्टम्। एतच्च

अर्जुन के पास जब किरात वेषधारी शिव सेना सहित आये हैं तब वह युद्ध के लिए तैयार होकर ही आये हैं। वराह को मारने के लिए अर्जुन के साथ यद्यपि उन्होंने भी बाण छोड़ा था परन्तु वह वराह के नहीं लगा लक्ष्यभ्रष्ट होकर कहीं अन्यत्र चला गया। वराह का बध शिव के बाण से नहीं अपितु अर्जुन के बाण से हुआ था। फिर भी शिव को तो युद्ध का एक बहाना ढूंढ़ना था इसलिए अर्जुन के बाण पर ही शिव जी ने अपना अधिकार जमाने का यह प्रयास किया है। और उनके इस प्रयास से अर्जुन के साथ युद्ध का अवसर मिल गया है। इस प्रकार यह बाण की खोज का बहाना वस्तुतः युद्ध की भूमिका मात्र है। यही इस सारे प्रकरण का सौन्दर्य या 'वक्रता' है। इसी के लिए कुन्तक ने इस प्रकरण को यहाँ उद्धृत किया है। 'प्रकरण-वक्रता' के बाद आगे 'प्रबन्ध-वक्रता' को दिखलाते हुए कहते हैं—

प्रबन्ध [रामायण महाभारत आदि महाकाव्य या नाटक आदि] में वक्रभाव [का उदाहरण] जैसे—किसी महाकवि के बनाए हुए, रामकथामूलक नाटक आदि में [१. वर्णविन्यासवक्रता, २. पदपूर्वार्द्धवक्रता, ३. प्रत्ययाश्रितवक्रता ४. वाक्यवक्रता और ५. प्रकरणवक्रता] इस पाँच प्रकार की वक्रता से सुन्दर सहृदयहृदयाह्लादकारी [नायक रूप] महापुरुष का वर्णन ऊपर से [मोटे रूप से] किया गया प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में [कवि का प्रयोजन केवल उस महापुरुष के चरित्र का वर्णन करना मात्र नहीं होता है अपितु] 'राम के समान आचरण करना चाहिए रावण के समान नहीं' इस प्रकार का विधि और निषेधात्मक धर्म का उपदेश [उस काव्य या नाटक का] फलितार्थ होता है। [यही उस प्रबन्ध काव्य आदि की वक्रता या सौन्दर्य है]।

और जैसे तापसवत्सराज [नाटक] में कुसुम के समान सुकुमारचित्त और मधुर विनोद के रसिक नायक [उदयन] के चरित्र का वर्णन प्रारम्भ किया है। परन्तु वास्तव में [उदयन के समान] किसी विपत्ति में पड़ जाने पर [उदयन के मंत्री यौगन्धरायण के समान] उस प्रकार के नीति-व्यवहार में निपुण मंत्री उस-उस प्रकार के [चातुर्यपूर्ण अनेक] उपायों से अपने राजा का उद्धार करें यह उपदेश [उस नाटक की रचना द्वारा उसके निर्माता कवि ने] दिया है। [इसीलिए काव्यप्रकाश-कार आदि ने

स्वलक्षणव्याख्यानावसरे व्यक्ततामायास्यति ।

एवं कविव्यापारवक्रताषट्कमुद्देशमात्रेण व्याख्यातम् । विस्तरेण तु स्वलक्षणावसरे व्याख्यास्यते ॥२१॥

क्रमप्राप्तत्वेन बन्धोऽधुना व्याख्यायते—

वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः ।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते ॥२२॥

विन्यासो विशिष्टं न्यसनं यः सन्निवेशः स एव व्यापारशाली 'बन्ध' उच्यते । व्यापारोऽत्र प्रस्तुतकाव्यक्रियालक्षणः । तेन शालते श्लाघते यः स

व्यवहार ज्ञान को भी काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है]। यह बात [नाटकादि के] अपने लक्षण [अथवा स्वलक्षण अर्थात् विशेष लक्षण] के व्याख्यान के अवसर स्पष्ट हो जायगी ।

इस प्रकार कविव्यापार [काव्य] की वक्रता के [१. वर्णविन्यासवक्रता, २. पद-पूर्वार्द्धवक्रता, ३. प्रत्ययाश्रितवक्रता, ४. वाक्यवक्रता, ५. प्रकरणवक्रता और ६. प्रबन्ध-वक्रता रूप] छः वक्रताएँ उद्देश-मात्र [नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनं उद्देशः, नाम मात्र से वस्तु का कथन करना 'उद्देश' कहलाता है] से कह दी हैं [अर्थात् उनके नाममात्र यहाँ गिना दिये हैं] विस्तारपूर्वक अपने लक्षण के अवसर पर व्याख्यान करेंगे ॥२१॥

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥१, ७॥

सातवीं कारिका में काव्य का लक्षण इस प्रकार किया था । उसके बाद १५वीं कारिका तक इस काव्य-लक्षण के शब्दार्थौ पदों की व्याख्या की गई है । १६, १७ कारिकाओं में उन शब्दार्थ के 'साहित्य' का विवेचन किया गया है । उसके बाद १८ से २१वीं कारिका तक छः प्रकार की कवि 'व्यापारवक्रता' का संक्षिप्त उद्देश-मात्रेण कथन किया गया है । इस प्रकार यहाँ तक 'शब्दार्थौ', 'सहितौ,' 'वक्रकविव्यापारशालिनि' इन तीन पदों की व्याख्या कर दी गई । अब लक्षण में आए हुए 'बन्ध' पद की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए कहते हैं ।

क्रम से प्राप्त होने के कारण अब 'बन्ध' की व्याख्या करते हैं—

वाच्य [अर्थ] तथा वाचक [शब्द] के [चेतनचमत्कारित्व रूप] सौभाग्य तथा [रचना सौदर्न्य रूप] लावण्य के परिपोषक व्यापार से युक्त वाक्य की रचना को 'बन्ध' कहते हैं ॥२२॥

विन्यास अर्थात् विशेष रूप से [शब्दों का] रखना रूप जो सन्निवेश है वह ही व्यापारयुक्त [होने पर] 'बन्ध' कहलाता है । व्यापार [का अर्थ] यहाँ प्रस्तुत काव्य

तथोक्तः। कस्य, वाक्यस्य श्लोकादेः। कीदृशः, 'वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः'। वाच्यवाचकयोर्द्वयोरपि वाच्यस्याभिधेयस्य वाचकस्य च शब्दस्य वक्ष्यमाणं सौभाग्यलावण्यलक्षणं यद् गुणद्वयं तस्य परिपोषकः, पुष्टतातिशयकारी। सौभाग्यं प्रतिभासंरम्भफलभूतं चेतनचमत्कारित्वलक्षणम्। लावण्यं सन्निवेशसौन्दर्यम्। तयोः परिपोषकः।

यथा च—

दत्वा वामकरं नितम्बफलके लीलावलन्मध्यया,
प्रोत्तुङ्गस्तनमंसचुम्बिचिबुकं कृत्वा तया मां प्रति।
प्रान्तप्रोतनवेन्द्रनीलमणिमन्मुक्तावलीविभ्रमाः,
सासूयं प्रहिताः स्मरज्वरमुचो द्वित्राः कटाक्षच्छटाः ॥७२॥

रचना रूप है। जो उससे शोभित या प्रशंसित हो वह 'व्यापारशाली'। किसका [विन्यास] वाक्य अर्थात् श्लोकादि का। कैसा [विन्यास] कि वाच्य [अर्थ] और वाचक [शब्द] के [चेतनचमत्कारित्व रूप] 'सौभाग्य' तथा [सन्निवेशसौन्दर्य रूप] 'लावण्य' का परिपोषक। वाच्य वाचक दोनों के ही। वाच्य अर्थात् अभिधेय [अर्थ] और वाचक शब्द का, जो आगे कहा जाने वाला 'सौभाग्य' और 'लावण्य' रूप जो गुणद्वय उसका परिपोषक अर्थात् पुष्टातातिशय को करने वाला। 'सौभाग्य' अर्थात् प्रतिभा के प्रभाव का फलरूप [चेतन] सहृदय चमत्कारित्व। [और] 'लावण्य' अर्थात् रचना का सौन्दर्य उन दोनों का परिपोषक। [वाक्य का विन्यास बन्ध कहलाता है] जैसे—

[यह कवीन्द्रवचन० में का २१३वां श्लोक है] लीला [अर्थात् अदा] से कमर झुकाए हुए, बाएँ हाथ को नितम्ब पर रखकर, स्तन को ऊँचा करके और ठोड़ी को कन्धे से लगा करके उसने मेरे प्रति किनारे पर लगी हुई नवीन इन्द्रनील मणि से युक्त मुक्ताओं की पंक्ति के समान सुन्दर और कामज्वर को [देने या] छोड़ने वाले तीन [बार] ईर्ष्या सहित कटाक्ष किए ॥७२॥

इसका अभिप्राय यह है कि उसने मुड़कर मेरी ओर दो-तीन बार कटाक्ष से देखा। 'मुड़कर' इस बात को कहने के लिए कवि ने श्लोक के पहिले दोनों चरण लगा दिए हैं। उनमें उसने मुड़ने के समय की अवस्था का बड़ा सुन्दर शब्दचित्र खींचा है। पीछे की ओर अधिक मुड़ने पर ही ठोड़ी का कन्धे से स्पर्श हो सकता है। जब ठोड़ी कन्धे को स्पर्श करेगी उस समय दूसरी ओर के स्तन का कुछ ऊँचा हो जाना ऊपर को खिच जाना स्वाभाविक ही है। और कमर भी मुड़ जाती है। और उस मुड़ती हुई कमर पर हाथ रखना भी स्वाभाविक है। इस प्रकार पूर्वार्द्ध में नायिका के मुड़ने का बड़ा सुन्दर वर्णन है। तीसरे चरण में आँख के सफ़ेद भाग के बीच की काली पुतली का वर्णन करने के लिए कवि ने किनारे पर नई जड़ी हुई इन्द्रनील मणि से युक्त

अत्र समग्रकविकौशलसम्पाद्यस्य चेतनचमत्कारित्वलक्षणस्य सौभाग्यस्य कियन्मात्रवर्णविन्यासविच्छित्तिविहितस्य पदसन्धानसम्पदुपार्जितस्य च लावण्यस्य परः परिपोषो विद्यते ॥२२॥

एवञ्च स्वरूपमभिधाय तद्विदाह्लादकारित्वमभिधत्ते—

वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम् ।
तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम् ॥२३॥

तद्विदाह्लादकारित्वं काव्यविदानन्दविधायित्वम्। कीदृशम् 'वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम्'। वाच्यमभिधेयं, वाचकं शब्दो, वक्रोक्तिरलङ्करणम्। एतस्य त्रितयस्य योऽतिशयः कोऽप्युत्कर्षस्तस्मादुत्तरमतिरिक्तम्, स्वरूपेणातिशयेन च स्वरूपेणान्यत् किमपि तत्वान्तरमेतदतिशयेन एतस्मात् त्रितयादपि

मुक्तावली को उपमान कल्पित किया है। फिर 'स्मरज्वरमुचो द्वित्राः कटाक्षच्छटा प्रहिताः' कहा है। और वह भी 'सासूयम्'। यह सब कुछ ही बहुत सुन्दर है। उसमें शब्दों का भी सौन्दर्य है और अर्थ का भी। इसी प्रकार का वाच्यवाचक के सौभाग्य और लावण्य का परिपोषक वाक्यविन्यास कुन्तक को 'बन्ध' पद से अभिप्रेत है।

इसमें समस्त कवि कौशल से सम्पादन करने योग्य चेतन चमत्कारित्व रूप 'सौभाग्य' का, और थोड़े से वर्णविन्यास के सौन्दर्य से उत्पन्न तथा पदों के जोड़ने के सौन्दर्य से उपार्जित 'लावण्य' का अत्यन्त परिपोष हो रहा है। [इसी प्रकार के वाक्यविन्यास को 'बन्ध' कहते हैं] ॥ २२ ॥

इस प्रकार [बन्ध का] स्वरूप दिखलाकर सहृदयाह्लादकारित्व कहते हैं—

वाच्य [अर्थ], वाचक [शब्द] और वक्रोक्ति [अलङ्कार] इन तीनों के [लोकोत्तर] अतिशय से भरा हुआ [युक्त] और रञ्जकत्व [आमोद] से रमणीय कुछ अपूर्व [वस्तुधर्म] ही [तद्विदाह्लादकारित्व] सहृदयहृदयाह्लादकत्व है। ॥२३॥

'तद्विदाह्लादकारित्व' [का अर्थ] काव्यमर्मज्ञों का आनन्ददायकत्व है। कैसा [वह तद्विदाह्लादकारित्व] कि—वाच्य, वाचक और वक्रोक्ति तीनों के अतिशय से युक्त। वाच्य अर्थात् अभिधेय [अर्थ], वाचक शब्द, और अलङ्कार रूप 'वक्रोक्ति' इन तीनों का जो अतिशय अर्थात् कोई अनिर्वचनीय उत्कर्ष उससे उत्तर—अर्थात् अतिरिक्त [लोकोत्तर] स्वरूप से और अतिशय से [दोनों से लोकोत्तर, साधारण लौकिक वस्तु से भिन्न हो जाता है]। स्वरूप से अन्य [अर्थात् लौकिक साधारण वस्तु] इस अतिशय से कुछ और ही तत्वान्तर हो जाता है। [वाच्य, वाचक तथा वक्रोक्ति या अलङ्कार] इन तीनों [के अतिशय] से [तो वह] लोकोत्तर [हो जाता है] यह अभिप्राय है।

लोकोत्तरमित्यर्थः ।

अन्यच्च कीदृशम्—'किमप्यामोदसुन्दरम्' । किमप्यव्यपदेश्यं सहृदयहृदयसंवेद्यं, आमोदः सुकुमार-वस्तुधर्मो रञ्जकत्वं नाम, तेन सुन्दरं रञ्जकत्वरमणीयम् । यथा—

हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजता-
मन्यः कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रमः ।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्तांकुरस्पर्धिनो,
निर्याताः कमलाकरेषु विसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः ॥७३॥

अत्र त्रितयेऽपि वाच्यवाचकवक्रोक्तिलक्षणे प्राधान्येन न कश्चिदपि कवेः संरम्भो विभाव्यते । किन्तु प्रतिभावैचित्र्यवशेन किमपि तद्विदाह्लादकारित्वमुन्मीलितम् ।

यद्यपि सर्वेषामुदाहरणानामविकलकाव्यलक्षणपरिसमाप्तिः सम्भवति तथापि यत् प्राधान्येनाभिधीयते स एवांशः प्रत्येकमुद्रिक्ततया तेषां परिस्फुरतीति सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् ॥२३॥

और वह कैसा कि-'किसी अपूर्व आमोद अर्थात् रञ्जकत्व धर्म से सुन्दर'। 'कुछ' अनिर्वचनीय सहृदयहृदयसंवेद्य जो 'आमोद' अर्थात् रञ्जकत्व नाम का सुकुमार [सुन्दर कोमल] वस्तु का धर्म, उससे सुन्दर अर्थात् रञ्जकत्व [विशेष] से रमणीय [वर्णन को तद्विदाह्लादकारी कहते हैं।] जैसे [निम्नलिखित श्लोक में]—

जिनके खाने से कूजने वाले हंसों के स्वरों में [मधुर कण्ठ के संयोग से] कुछ अपूर्व ही घर्घर-ध्वनि युक्त सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है। हथिनी के नवीन दन्ताकुरों से स्पर्धा करने वाली मृणाल की वे नवीन ग्रन्थियाँ इस समय तालाबों में बाहर निकल आई हैं ॥ ७३ ॥

यहाँ [इस श्लोक में] वाच्य [अर्थ] वाचक [शब्द] तथा वक्रोक्ति [अलङ्कार] तीनों के विषय में ही प्रधान रूप से [किया गया] कवि का कोई भी विशेष प्रयत्न नहीं मालूम होता है। [बिलकुल स्वाभाविक रूप से कवि की प्रतिभा के कारण इस प्रकार की सुन्दर रचना बन गई है] किन्तु प्रतिभा के वैचित्र्य के कारण कुछ अपूर्व ही सहृदयहृदयाह्लादकत्व [उस रचना में] प्रकट हो रहा है।

यद्यपि [शब्द, अर्थ, उनके साहित्य, कविव्यापारवक्रता अथवा बन्ध आदि की व्याख्या के प्रसङ्ग में जितने भी उदाहरण दिखलाए हैं उन] सब में ही काव्य का सम्पूर्ण लक्षण घटित हो सकता है [अर्थात् वे केवल उस एक अंश का ही उदाहरण नहीं हैं अपितु पूर्ण काव्यलक्षण के उदाहरण हैं] फिर भी [उनमें से] प्रत्येक में जो-जो अंश प्रधान रूप से बतलाया गया है वहीं प्रत्येक में मुख्य रूप से प्रतीत होता है यह बात सहृदय स्वयं समझ सकते हैं ॥ २३ ॥

एवं काव्यसामान्यलक्षणमभिधाय तद्विशेषलक्षणविषयप्रदर्शनार्थं मार्गभेदनिबन्धनं त्रैविध्यमभिधत्ते—

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥२४॥

तत्र तस्मिन् काव्ये मार्गाः पन्थानस्त्रयः सम्भवन्ति । न द्वौ न चत्वारः । स्वरादिसंख्यावत् तावतामेव वस्तुतस्तज्ज्ञैरुपलम्भात् । ते च कीदृशाः- 'कविप्रस्थानहेतवः' । कवीनां प्रस्थानं प्रवर्तनं तस्य हेतवः, काव्यकरणस्य कारणभूताः। किमभिधानाः-'सुकुमारो, विचित्रश्च, मध्यमश्चेति' । कीदृशो मध्यमः- 'उभयात्मकः' । उभयमनन्तरोक्तं मार्गद्वयमात्मा यस्येति विग्रहः । छायाद्वयोपजीवीत्युक्तं भवति । तेषां च स्वलक्षणावसरे स्वरूपमाख्यास्यते ।

अत्र च बहुविधा विप्रतिपत्तयः सम्भवन्ति । यस्माच्चिरन्तनैर्विदर्भादिदेशविशेषसमाश्रयेण वैदर्भीप्रभृतयो रीतयस्तिस्रः समाख्याताः । तासां चोत्त-

---

इस प्रकार काव्य के सामान्य लक्षण को कहकर उसके विशेष लक्षण के विषय को प्रदर्शित करने के लिए मार्गभेदमूलक त्रैविध्य को कहते हैं—

उस [काव्य] में (१) सुकुमार, (२) विचित्र और उभयात्मक अर्थात् (३) मध्यम [यह तीन प्रकार के] जो मार्ग सम्भव हैं [उनको कहते हैं] ।२४।

तत्र अर्थात् उस काव्य में तीन मार्ग हो सकते हैं। न दो और न चार [केवल तीन ही मार्ग सम्भव हैं] । स्वर आदि की [निश्चित सात] संख्या के समान उतने [नियत रूप से तीन] ही [मार्गों] के सहृदयों द्वारा उपलब्ध होने से [तीन ही प्रकार के मार्ग हैं । कम या अधिक नहीं] । और वे [मार्ग] किस प्रकार के होते हैं—कवियों के [काव्य-रचना रूप कार्य के लिए] प्रस्थान [प्रवृत्ति] के हेतु। कवियों का प्रस्थान अर्थात् [काव्य-रचना में] प्रवर्तन, उसके 'हेतु' अर्थात् काव्य-रचना के हेतुभूत । किस नाम के—(१) 'सुकुमार, (२) विचित्र और (३) मध्यम' । मध्यम [मार्ग] कैसा—उभयात्मक अर्थात् अभी कहे हुए [सुकुमार तथा विचित्र] दोनों मार्ग जिसका स्वरूप हैं [वह उभयात्मक हुआ] यह [उभयात्मक शब्द का] विग्रह है । अर्थात् [सुकुमार और विचित्र] दोनों की छाया से युक्त, यह अभिप्राय है । उनका [मार्गों का] स्वरूप उनके अपने लक्षणों के अवसर पर कहेंगे ।

यहाँ [मार्गों के इस त्रित्ववाद के सम्बन्ध में] अनेक प्रकार के मतभेद हो सकते हैं । क्योंकि प्राचीन [वामन आदि] आचार्यों ने विदर्भादि देश विशेष के आश्रय

माधममध्यमत्ववैचित्र्येण त्रैविध्यम्। अन्यैश्च वैदर्भगौड़ीयलक्षणं मार्गद्वितयमाख्यातम्। एतच्चोभयमप्ययुक्तियुक्तम् । यस्माद्देशभेदनिबन्धनत्वे रीतिभेदानां देशानामानन्त्यादसंख्यत्वं प्रसज्येत । न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेयभगिनीविवाहवद् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम्। देशधर्मो हि वृद्धव्यवहारपरम्परामात्रशरणः शक्यानुष्ठानतां नातिवर्तते। तथाविधकाव्यकरणं पुनः शक्त्यादिकारणकलापसाकल्यमपेक्षमाणं न शक्यते यथाकथञ्चिदनुष्ठातुम्।

न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरतादिध्वनिरामणीयकवत्तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते। तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात्। किञ्च

से वैदर्भी आदि तीन रीतियों[1] का वर्णन किया है। और उनके उत्तम, मध्यम, और अधम रूप से तीन भेद किए हैं। और [दण्डी आदि] अन्यों[2] ने वैदर्भ तथा गौड़ीय रूप दो मार्गों का वर्णन किया है। ये [वामन तथा दण्डी] दोनों ही [के मत] युक्ति सङ्गत नहीं [कहे जा सकते] हैं। क्योंकि [वामन के मतानुसार] रीतियों को देश-भेद के आधार पर मानने से तो देशों के अनन्त होने से रीति भेदों की भी अनन्तता होने लगेगी। और देशविशेष के व्यवहार के आधार पर ममेरी बहिन [मातुल, का पुत्र मातुलेय, ममेरा भाई, मातुलेय-भगिनी ममेरी बहिन] के विवाह के समान [विशेष देश में उसकी] विशिष्ट रीति से युक्त रूप में काव्य-रचना की व्यवस्था नहीं की जा सकती है। [अर्थात् जैसे किसी देश में ममेरी बहिन के साथ विवाह प्रचलित हो तो केवल उस देश की प्रथा के आधार पर वही वहाँ किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार केवल देश-भेद के आधार पर काव्य की व्यवस्था नहीं की जा सकती है] क्योंकि देश-धर्म केवल वृद्धों की व्यवहार-परम्परामात्र पर आश्रित है इसलिए उसका अनुष्ठान [उस देश में] अशक्य नहीं है। परन्तु उस प्रकार की [सहृदयहृदयाह्लादकारी] काव्य-रचना [देश विशेष पर तो आश्रित नहीं है। वह तो] शक्ति [काव्य-प्रतिभा और व्युत्पत्ति] आदि कारण समुदाय की पूर्णता की अपेक्षा रखती है। इसलिए [देश-धर्म के समान केवल विदर्भ या पाञ्चाल में रहने मात्र से वैदर्भी या पाञ्चाली रीतिमयी काव्य-रचना] जैसे-तैसे नहीं की जा सकती है।

और न दाक्षिणात्यों के सङ्गीत विषयक सुस्वरतादि रूप, ध्वनि की रमणीयता के समान उस [काव्य-रचना] को स्वाभाविक कहा जा सकता है। [क्योंकि] वैसा [काव्य-रचना का स्वाभाविकत्व] होने पर सब कोई उस प्रकार का [सहृदय-

---

१. वामन काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति अधि० १, अध्याय २, सूत्र ९ से १३ तक।

२. दण्डी काव्यादर्श १, ४१।

शक्तौ विद्यमानायामपि व्युत्पत्यादिराहार्यकारणसम्पत् प्रतिनियतदेशविषयतया न व्यवतिष्ठते। नियमनिबन्धनाभावात् तत्रादर्शनाद्, अन्यत्र च दर्शनात्।

न च रीतीनामुत्तमाधममध्यत्वभेदेन त्रैविध्यं व्यवस्थापयितुं न्याय्यम्। यस्मात् सहृदयाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भीसदृशसौन्दर्यासम्भवान्मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति। परिहार्यत्वेनाप्युपदेशो न युक्ततामवलम्बते। तैरेवानभ्युपगतत्वात्। न चागतिकगतिन्यायेन यथाशक्ति दरिद्रदानादिवत् काव्यं

हृदयाह्लादकारी] काव्य बनाने लगेंगे। और [यदि शक्ति को सबमें स्वाभाविक मान भी लिया जाय तो] शक्ति के होने पर भी व्युत्पत्ति आदि आहार्य कारण सामग्री [भी काव्य-रचना के लिए अपेक्षित होती है। वह] प्रतिनियत देश के विषय रूप से स्थित नहीं होती है। [अर्थात् शक्ति को स्वाभाविक मान लिया जाय तो भी और शेष व्युत्पत्ति आदि आहार्य सामग्री देश विशेष के आधार पर प्राप्त होती है यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उस व्युत्पत्ति आदि के किसी देश विशेष में ही होने का] (१) नियम न होने से, (२) उस देश में [भी कुछ विशिष्ट कवियों के अतिरिक्त अन्यों में] न होने से, और (३) अन्यत्र [अन्य देशों में भी] देखे जाने से। [व्युत्पत्यादि कारण सामग्री को किसी देश विशेष में सीमित नहीं किया जा सकता है। इसलिए देश विशेष के आधार पर वैदर्भी आदि रीतियों का मानना उचित नहीं है]।

[वामन आदि ने देश विशेष के आधार पर रीतियों के जो वैदर्भी आदि नामकरण किए हैं वे तो दूषित हैं ही, परन्तु उनके साथ ही उपादेयता के तारतम्य के अनुसार रीतियों के जो उत्तम, मध्यम और अधम इस प्रकार के तीन भेद किए हैं उनका भी खण्डन करते हैं] और न उत्तम, अधम, मध्यम रूप से रीतियों का त्रैविध्य स्थापित करना ही उचित है। क्योंकि सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य की रचना में वैदर्भी के समान सौन्दर्य [अन्य भेदों में] असम्भव होने से [वैदर्भी युक्त काव्य ही सहृदयहृदयाह्लादकारी हो सकता है। अन्य नहीं। इसलिए] मध्यम और अधम [के सहृदयहृदयाह्लादकारी न होने से उन] का उपदेश व्यर्थ हो जाता है। [यदि यह कहना चाहो कि मध्यम तथा अधम रीतियों अर्थात् गौड़ी तथा पाञ्चाली का उपदेश उनके] परित्याग करने के लिए किया गया है [तो] यह [कथन भी] युक्तियुक्त नहीं है। [क्योंकि] वे [रीतिकार वामन] ही इसको नहीं मानते हैं। [अर्थात् गौड़ी या पांचाली रीति का उपदेश उनके परित्याग के लिए किया गया यह रीतिकार वामन का सिद्धान्त नहीं है। वे तीनों रीतियों को उपादेय रूप में ही प्रतिपादन करते हैं]। और न, जितनी शक्ति हो उसके अनुसार [थोड़ा-बहुत] दरिद्रों को दान करने के समान [यथाशक्ति भला-बुरा] काव्य करने योग्य हो सकता है। [अपितु सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य ही बनाना चाहिए। मध्यम या अधम काव्य की रचना नहीं करना चाहिए। इसलिए

करणीयतामर्हति । तदेवं निर्वचनसमाख्यामात्रकरणकारणत्वे देशविशेषाश्रयणस्य वयं न विवदामहे । मार्गद्वितयवादिनामप्येतान्येव दूषणानि । तदलमनेन निःसारवस्तुपरिमलनव्यसनेन ।

कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते । सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात् । तया च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति । ताभ्याञ्च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते ।

तथैव चैतस्माद् विचित्रः स्वभावो यस्य कवेस्तद्विदाह्लादकारिकाव्यलक्षणकरणप्रस्तावात् सौकुमार्यव्यतिरेकिणा वैचित्र्येण रमणीय एव, तस्य च काचिद् विचित्रैव तदनुरूपा शक्तिः समुल्लसति । तया च तथाविधवैदग्ध्यबन्धुरां व्युत्पत्तिमाबध्नाति । ताभ्याञ्च वैचित्र्यवासनाधिवासितमानसो विचित्रवर्त्मनाभ्यासभाग् भवति ।

रीतियों के उत्तम, मध्यम, अधम रूप से वामन आदि ने जो तीन भेद किए हैं वे भी नहीं किए जा सकते हैं] इस प्रकार देश विशेष के आश्रय से [रीतियों के केवल] निर्वचन [अथवा] नामकरण के विषय में ही हमारा विवाद नहीं है । [अपितु उनके स्वरूप के विषय में भी मतभेद है] । मार्ग-द्वितयवादी [अर्थात् वैदर्भ तथा गौड़ीय नाम से दो प्रकार के मार्गों को मानने वाले भामह तथा दण्डी] के मत में भी यही दोष हैं । इसलिए [देश भेद के आधार पर रीति अथवा मार्गों का भेद मानने जैसी] निःसार वस्तु की अधिक आलोचना [परिमलन व्यसन] व्यर्थ है ।

आगे अपना सिद्धान्त कहते हैं कि देश भेद के स्थान पर] कवियों के स्वभाव-भेद के आधार पर किया गया काव्य-मार्ग का भेद युक्ति-सङ्गत हो सकता है । सुकुमार स्वभाव वाले कवि की उसी प्रकार की [सुकुमार] सहज शक्ति उत्पन्न होती है । शक्ति तथा शक्तिमान् के अभिन्न होने से । और उस [सहज सुकुमार शक्ति] से उस प्रकार की [सहज] सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है । [उस सहज सुकुमार शक्ति तथा उससे उपार्जित सुकुमार व्युत्पत्ति] उन दोनों के द्वारा सुकुमार मार्ग से ही [काव्य-निर्माण के] अभ्यास में तत्पर होता [या किया जाता] है ।

उसी प्रकार जिस कवि का तद्विदाह्लादकारी काव्य-निर्माण की [प्रस्ताव] दृष्टि से इस [सुकुमार स्वभाव] से विचित्र अर्थात् सौकुमार्य को छोड़कर [अन्य प्रकार के] वैचित्र्य से रमणीय ही स्वभाव होता है, उसको उसी प्रकार की [सौकुमार्य से भिन्न] कोई विचित्र तदनुरूप शक्ति प्राप्त होती है । और उससे उसी प्रकार की वैदग्ध्यमयी सुन्दर व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है । और उन [विचित्र शक्ति तथा विचित्र व्युत्पत्ति] दोनों से वैचित्र्य की वासना के अधिवासित मन वाला [वह कवि] विचित्र मार्ग से [काव्य-निर्माण का] अभ्यास करता है ।

एवमेतदुभयकविनिबन्धन-संवलितस्वभावस्य कवेस्तदुचितैव शबलशोभातिशयशालिनी शक्तिः समुदेति । तथा च तदुभयपरिस्पन्दसुन्दरव्युत्पत्त्युपार्जनमाचरति । ततस्तच्छायाद्वितयपरिपोषपेशलाभ्यासपरवशः सम्पद्यते ।

तदेवमेते कवयः सकलकाव्यकरणकलापकाष्ठाधिरूढ़िरमणीयं किमपि काव्यमारभन्ते, सुकुमारं विचित्रमुभयात्मकञ्च । त एव तत्प्रवर्तननिमित्तभूता मार्गा इत्युच्यन्ते ।

यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं, तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते । तथा च रमणीयकाव्यपरिग्रहप्रस्तावे स्वभावसुकुमारस्तावदेको राशिः । तद्व्यतिरिक्तस्यारमणीयस्यानुपादेयत्वात् । तद्व्यतिरेकी रामणीयकविशिष्टो विचित्र इत्युच्यते । तदेतयोर्द्वयोरपि रमणीयत्वादेतदीयच्छायाद्वितयोपजीविनोऽन्यस्य रमणीयत्वमेव न्यायोपपन्नं पर्यवस्यति । तस्मादेषां प्रत्येकमस्खलितस्वपरिस्पन्दमहिम्ना तद्विदाह्लादकारित्वपरिसमाप्तेर्न कस्यचिन्यूनता ।

इसी प्रकार [सुकुमार और विचित्र स्वभाव वाले] इन दोनों प्रकार के, कवि के मूलभूत स्वभाव से युक्त कवि की उसी के योग्य मिश्रित शोभाशालिनी कोई शक्ति उत्पन्न होती है । उस [शबल शक्ति] से उन दोनों प्रकार के स्वभाव से सुन्दर व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है और उसके बाद उन दोनों की छाया के परिपोष से सुन्दर अभ्यास करने वाला हो जाता है ।

इस प्रकार ये [तीनों प्रकार के] कवि [अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर] काव्य-रचना के समस्त साधन-समुदाय के चरम सीमा को प्राप्त सौन्दर्य से युक्त कुछ अपूर्व सुकुमार [अपूर्व] विचित्र और [अपूर्व] उभयात्मक काव्य का निर्माण करते हैं । वे ही [सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक तीन प्रकार के] उन [कवियों] को प्रवृत्त करने वाले 'मार्ग' कहलाते हैं ।

यद्यपि कवि स्वभावभेदमूलक होने से [कवियों और उनके स्वभावों के अनन्त होने से 'मार्गों' का भी] अनन्तत्व प्राप्त होना अनिवार्य है परन्तु उसकी गणना असम्भव होने से साधारणतः त्रैविध्य ही युक्तिसङ्गत है । इसलिए रमणीय काव्य के ग्रहण करने के प्रसङ्ग में (१) सुकुमारस्वभाव [काव्य] एक [प्रथम] भेद है । उससे भिन्न अरमणीय [काव्य] के अनुपादेय होने से । (२) उस [सुकुमार] से भिन्न और रमणीयता विशिष्ट [दूसरा भेद] 'विचित्र' कहलाता है । इन दोनों के ही रमणीय होने से इन दोनों की छाया [द्वितय] पर आश्रित (३) [उभयात्मक] अन्य [तीसरे मध्यम भेद] का भी रमणीयत्व [मानना] ही युक्तिसङ्गत है । इसलिए इन [तीनों भेदों] में अलग-अलग अपने-अपने निर्दोष स्वभाव से तद्विदाह्लादकारित्व की [परिसमाप्ति] पूर्णता होने से किसी की न्यूनता नहीं है । [तीनों ही भेद उत्तम काव्य हो सकते हैं । उभयात्मक-मार्ग को मिश्रित रचना-शैली की दृष्टि से ही मध्यम-मार्ग कहा है] ।

ननु च शक्त्योरान्तरतम्यात् स्वाभाविकत्वं वक्तुं युज्यते, व्युत्पत्यभ्यासयोः पुनराहार्ययोः कथमेतद् घटते।

नैष दोषः, यस्मादास्तां तावत्काव्यकरणम्, विषयान्तरेऽपि सर्वस्य कस्यचिदनादिवासनाभ्यासाधिवासितचेतसः स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्यभ्यासौ प्रवर्तेते । तौ च स्वभावाभिव्यञ्जनेनैव साफल्यं भजतः । स्वभावस्य तयोश्च परस्परमुपकार्योपकारकभावेनावस्थानात्, स्वभावस्तावारभते तौ च तत्परिपोषमातनुतः । तथा चाचेतनानामपि भावः स्वभावसंवादिभावान्तरसन्निधानमाहात्म्यादभिव्यक्तिमासादयति, यथा चन्द्रकान्तमणयश्चन्द्रमसः करपरामर्शवशेन स्यन्दमानसहजरसप्रसराः सम्पद्यन्ते ॥२४॥

ऊपर के अनुच्छेद में यह कहा है कि 'मार्गों' का भेद देश-भेद के आधार पर नहीं अपितु कवियों के स्वभाव के आधार पर करना उचित होगा । और इसके पूर्व काव्य का कारण शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास इन तीन को बतलाया है । इस पर शङ्का यह हो सकती है कि इनमें से शक्ति को तो स्वाभाविक कहा जा सकता है परन्तु व्युत्पत्ति तथा अभ्यास यह दोनों तो स्वाभाविक नहीं 'आहार्य' है । तब तन्मूलक काव्य में स्वभाव भेद को भेदक कैसे माना जा सकता है । इसी शङ्का का समाधान करने के लिए ग्रन्थकार ने अगला अनुच्छेद लिखा है ।

[प्रश्न (१) सुकुमार और (२) विचित्र] दोनों प्रकार की शक्तियों के आन्तरिक होने से [उनका] स्वाभाविकत्व कहा जा सकता है । परन्तु व्युत्पत्ति तथा अभ्यास [ये दोनों] तो [बाहर से प्राप्त होने वाले] आहार्य हैं । उनका यह [स्वाभाविकत्व] कैसे बन सकता है ? [अर्थात् व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है । अतएव काव्यमार्गों का विभाजन स्वभाव के आधार पर करना उचित नहीं है] ।

[उत्तर] यह दोष ठीक नहीं है । क्योंकि काव्य-रचना की बात छोड़ दें तो भी, अन्य विषयों में भी अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत-चित्त वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास होता है । और वह व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभाव की अभिव्यक्ति द्वारा ही सफलता प्राप्त करते हैं । स्वभाव तथा [व्युत्पत्ति और अभ्यास] उन दोनों के उपकार्य और उपकारक भाव से स्थित होने से स्वभाव उन दोनों [व्युत्पत्ति तथा अभ्यास] को उत्पन्न करता है और वे [व्युत्पत्ति तथा अभ्यास] दोनों उस [स्वभाव] को परिपुष्ट करते हैं । इसलिए अचेतन [पदार्थों] का स्वभाव भी अपने स्वभाव के अनुरूप अन्य पदार्थों के सन्निधान के प्रभाव से अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है । जैसे चन्द्रकान्तमणियाँ चन्द्रमा की किरणों के स्पर्शमात्र से स्वाभाविक रूप से जल को प्रवाहित करने लगती हैं ।

अर्थात् चन्द्रकान्तमणि का जो स्वभाव है वही चन्द्र की किरणों के स्पर्श से

तदेवं मार्गानुद्दिश्य तानेव क्रमेण लक्षयति—

अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः ।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ॥२५॥
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः ।
रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः ॥२६॥
अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः ।
विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः ॥२७॥

अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार कवि का जो सुकुमार अथवा विचित्र स्वभाव है वही उसकी व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से उसकी रचनाओं में अभिव्यक्त होता है। और जिस प्रकार का उसका स्वभाव होता है उसी प्रकार की व्युत्पत्ति अर्थात् शिक्षा तथा अभ्यास वह प्राप्त करता है। इसलिए यद्यपि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास 'आहार्य' हैं स्वाभाविक नहीं, फिर भी साधारणतः स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होता है। और उनसे ही उसके स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए व्युत्पत्ति और अभ्यास का स्वभाव से सम्बन्ध मानना अनिवार्य है। अतः स्वभाव के आधार पर काव्यमार्गों का विभाजन करने में कोई आपत्ति नहीं है। यह कुन्तक के सिद्धान्तपक्ष का अभिप्राय है ॥२४॥

इस प्रकार मार्गों का उद्देश [नाममात्र से कथन, नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनं उद्देशः] करके [अब आगे] क्रम से उन्हीं के लक्षण [२५ से २९ तक की अगली पाँच कारिकाओं में सुकुमार मार्ग का ३४—४३ तक विचित्र-मार्ग का और ४९—५२ तक मध्यम-मार्ग का लक्षण किया गया है। पहिले सुकुमार-मार्ग का लक्षण प्रारम्भ] करते हैं—

[कवि की अम्लान] नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से उद्भिन्न नवीन शब्द और [लोकोत्तर] अर्थ से मनोहर, और अनायास [स्वाभाविक रूप से बिना प्रयत्न के] रचे गए परिमित सुन्दर अलङ्कारों से युक्त, [सुकुमार मार्ग है] ॥२५॥

पदार्थ के स्वभाव के प्राधान्य से, बनावटी [आहार्य] कौशल की उपेक्षा [तिरस्कार] करने वाला, रसादि के रहस्य [तत्व] को समझने वाले सहृदयों के मन के अनुरूप होने [मनःसंवाद] के कारण सुन्दर, [सुकुमार मार्ग है] ॥२६॥

[शब्दों द्वारा वर्णित न किया जा सकने के कारण] अज्ञात [अविभावित] रूप से स्थित सौन्दर्य से आह्लादित करने वाला, विधाता के वैदग्ध्य से उत्पन्न सृष्टि के [अलौकिक सौन्दर्य रूप] अतिशय के समान, [सुकुमार मार्ग है] ॥२७॥

यत् किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते ॥२८॥
सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः ।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेव षट्पदाः ॥२९॥

'सुकुमाराभिधः सोऽयं, सोऽयं' पूर्वोक्तलक्षणः सुकुमारशब्दाभिधानः। येन मार्गेण सत्कवयः कालिदासप्रभृतयो गताः प्रयाताः, तदाश्रयेण काव्यानि कृतवन्तः। कथम्, 'उत्फुल्लकुसुमकाननेव षट्पदाः'। उत्फुल्लानि विकसितानि कुसुमानि पुष्पाणि यस्मिन् कानने वने, तेन षट्पदा इव भ्रमरा यथा। विकसित-कुसुमकाननसाम्येन तस्य कुसुमसौकुमार्यसदृशमाभिजात्यं द्योत्यते। तेषाञ्च भ्रमरसादृश्येन कुसुममकरन्दकल्पसारसंग्रहव्यसनिता।

स च कीदृशः, यत्र यस्मिन् 'किञ्चनापि' कियन्मात्रमपि 'वैचित्र्यं' विचित्रभावो वक्रोक्तियुक्तत्वम्। 'तत्सर्वम्' अलङ्कारादि। 'प्रतिभोद्भवं'

जो कुछ भी वैचित्र्य प्रतिभा से उत्पन्न हो सकता है वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ जहाँ शोभित होता है, [वह सुकुमार मार्ग है] ॥२८॥

जिससे मार्ग से [होकर] खिले हुए पुष्पों के वन में से भ्रमरों के समान सत्कवि जाते हैं यह वही सुकुमार संज्ञक मार्ग है ॥२९॥

इस प्रकार इन पाँच कारिकाओं में सुकुमार्ग मार्ग का लक्षण किया गया है। आगे वृत्तिकार उस लक्षण की व्याख्या आरम्भ करते हैं। परन्तु वृत्तिकार ने इन कारिकाओं की व्याख्या पाठ-क्रम से नहीं की है अपितु आर्थ-क्रम का अवलम्बन किया है। और सबसे पहिले अन्तिम कारिका की व्याख्या की है। उसके बाद क्रमशः २९-२८—२५-२६ और २७ अन्य कारिकाओं की व्याख्या की है। पहिले २९वीं अन्तिम कारिका की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

[२९वीं कारिका]—सुकुमार संज्ञक वह यह, अर्थात् सुकुमार नामक वह पहिले कहा हुआ यह [मार्ग है।] जिस मार्ग से कालिदास आदि उत्तम कवि गए हैं अर्थात् उसके आश्रय से अपने काव्यों की रचना कर गए हैं। कैसे [गताः गए] खिले हुए कुसुम कानन से भ्रमरों के समान। खिले हुए हैं पुष्प जिस कानन अर्थात् वन में उस [कानन] से जैसे भ्रमर [जाते हैं। इस प्रकार]। खिले हुए पुष्पों के वन के साथ साम्य-प्रदर्शन से उस [मार्ग] की कुसुमों के सौकुमार्य के सदृश उत्तमता सूचित की है। और उन [सत्कवियों] के भ्रमरों के साथ सादृश्य से कुसुमों के मकरन्द के समान [सत्कवियों की] तत्वसंग्रह स्वभावता [सूचित की है] ॥२९॥

[२८वीं कारिका]—और वह [मार्ग] कैसा है? जिसमें जितना भी [संसार में] कितना भी वैचित्र्य अर्थात्—विचित्रता [सौन्दर्य] अर्थात् वक्रोक्तियुक्तत्व, [कवि की]

कविशक्तिसमुल्लसितमेव, न पुनराहार्यं यथाकथञ्चित् प्रयत्नेन निष्पाद्यम्। कीदृशम्, 'सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि' सौकुमार्यमाभिजात्यं, तस्य परिस्पन्दस्तद्विदाह्लादकारित्वलक्षणं रामणीयकं, तेन स्यन्दते रसमयं सम्पद्यते यत् तथोक्तम्। 'यत्र विराजते' शोभातिशयं पुष्णातीति सम्बन्धः।

यथा—

प्रवृत्ततापो दिवसोऽतिमात्र-
मत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ
जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥७४॥[1]

अत्र श्लेषच्छायाच्छुरितं कविशक्तिमात्रसमुल्लसितमलङ्करणमनाहार्यं कामपि कमनीयतां पुष्णाति। तथा च 'प्रवृत्ततापः' 'तन्वी' इति वाचकौ सुन्दरस्वभावमात्रसमर्पणपरत्वेन वर्तमानावर्थान्तरप्रतीत्यनुरोधपरत्वेन प्रवृत्तिं न

प्रतिभा से उत्पन्न अलङ्कारादि वह सब, अर्थात् कवि की प्रतिभा से ही उत्पन्न होने वाला ही, न कि बनावटी या प्रयत्नपूर्व जैसे-तैसे सिद्ध किया हुआ [वैचित्र्य]। फिर कैसा, सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होने वाला। सौकुमार्य अर्थात् उत्तमता [आभिजात्य] उसका परिस्पन्द अर्थात् तद्विदाह्लादकारित्व रूप रामणीयक, उससे प्रस्यन्दित अर्थात् रसमयता को प्राप्त होने वाला जो [वैचित्र्य], वह उस प्रकार का [वैचित्र्य] जहाँ विशेष रूप से शोभित होता है अर्थात् शोभातिशय को पुष्ट करता है [वह सुकुमार नामक मार्ग है] यह सम्बन्ध हुआ। जैसे—

[यह रघुवंश के १६वें सर्ग का ४५वाँ श्लोक है। इसमें ग्रीष्म का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि आजकल] दिन अत्यन्त सन्तापयुक्त [और बड़ा] तथा रात्रि अत्यन्त ही क्षीण [छोटी] हो गई है। दोनों विरोधी क्रिया [रात्रि के अत्यन्त छोटा और दिन के अत्यन्त बड़ा हो जाने रूप, तथा पति-पत्नी के प्रणय-कलह आदि रूप विपरीत क्रिया] के कारण [विभिन्न] परस्पर विरुद्ध हो जाने पर [पीछे] पश्चात्ताप-युक्त दम्पति के समान हो [दिन सन्ताप-युक्त और रात्रि क्षीण] रहे हैं ॥७४॥

इसमें श्लेष की छाया से युक्त, कवि की शक्तिमात्र से स्फुरित होने वाला अकृत्रिम [उपमा] अलङ्कार कुछ अपूर्व सौन्दर्य को परिपोषित कर रहा है। जैसे कि 'प्रवृत्तताप' और 'तन्वी' यह दोनों वाचक [शब्द] सुन्दर स्वभाव मात्र के समर्पक [वर्णनपरक] रूप से वर्तमान होने से [पति के सन्ताप तथा पत्नी के कृशत्व रूप] अन्य अर्थ की प्रतीति के अनुरोधपरत्वेन प्रवृत्त नहीं होते हैं [अर्थात् पति-पत्नी विषयक दूसरे अर्थ का अभिधा शक्ति से बोध नहीं कराते हैं। इसका यह अभिप्राय

१. रघुवंश १६,४५।

सम्मन्येते। कविव्यक्तकौशलसमुल्लसितस्य पुनः प्रकारान्तरस्य प्रतीतावानुगुण्य-मात्रेण तद्विदाह्लादकारितां प्रतिपद्येते।

किं तत्प्रकारान्तरं नाम। विरोधविभिन्नयोः शब्दयोरर्थान्तर प्रतीतिकारिणोरुपनिबन्धः। तथा चोपमेययोः सहानवस्थानलक्षणो विरोधः स्वभावभेदलक्षणश्च विभिन्नत्वम्। उपमानयोः पुनरीर्ष्याकलह-लक्षणो विरोधः, कोपात् पृथगवस्थानलक्षणं विभिन्नत्वम्। 'अतिमात्रम' 'अत्यर्थम्' चेति विशेषणद्वितयं पक्षद्वयेऽपि सातिशयताप्रतीतकारित्वेनातितरां रमणीयम्। श्लेषच्छायोत्क्लेशसम्पाद्याऽप्ययत्नघटितत्वेनात्र मनोहारिणी।

यश्च कीदृशः—'अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः'। अम्लाना यासावदोषोपहता प्राक्तनाद्यतनसंस्कारप्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः, तत उद्भिन्नौ नूतनांकुरन्यायेन स्वयमेव समुल्लसितौ, न पुनःकदर्थनाकृष्टौ, नवौ प्रत्यग्रौ तद्विदाह्लादकारित्वसामर्थ्ययुक्तौ, शब्दार्थावभिधानाभिधेयौ ताभ्यां बन्धुरो

है कि, यद्यपि 'प्रवृत्ततापः' तथा 'तन्वी' यह दोनों शब्द दिन-रात के सन्ताप तथा कृशता और पति-पत्नी के सन्ताप एवं कृशता-रूप दोनों अर्थों को बोधित कर सकते हैं परन्तु प्रकरणवश ग्रीष्म ऋतु का वर्णन होने से एकार्थ में ही नियन्त्रित हो जाते हैं। इसलिए अर्थान्तर की प्रतीति के साधक अर्थात् वाचक नहीं होते हैं] परन्तु कवि कौशल से समुल्लसित ['विरोध' तथा 'विभिन्न' शब्दों के प्रयोग रूप] दूसरे प्रकार की [दम्पति के प्रणय-कलह आदि रूप अर्थान्तर की] प्रतीति में अनुकूल होने मात्र से [द्वितीयार्थ की प्रतीति करा कर] सहृदयाह्लादकारित्व को प्राप्त होते हैं।

वह प्रकारान्तर क्या है कि—अर्थन्तर की प्रतीति करने में हेतुभूत [अर्थान्तर-प्रतीति की प्रेरणा करने वाले] 'विरोध' और 'विभिन्न' शब्दों का प्रयोग। [उस 'विरोध' तथा 'विभिन्न' शब्दों के प्रयोग के कारण अर्थान्तर प्रतीति में सहायता मिलती है] जैसे कि उपमेयभूत [दिवस तथा क्षणदा रात्रि] में सहानवस्थान रूप विरोध और स्वभावभेद रूप विभिन्नत्व है। [अर्थात् दिन और रात की एक साथ स्थिति सम्भव न होने से उनमें सहानवस्थान रूप विरोध और उन दोनों का स्वभाव भिन्न है यह उनका विभिन्नत्व है] और उपमानों [जाया तथा पति] का ईर्ष्या कलह रूप विरोध तथा क्रोध के कारण अलग-अलग रहने लगना रूप विभिन्नत्व है। 'अतिमात्रं' तथा 'अत्यर्थ' यह दोनों विशेषण दोनों ही पक्षों में सातिशयता की प्रतीति कराने वाले होने से अत्यन्त रमणीय हैं। और श्लेष की छाया तनिक क्लेश साध्य होने पर भी स्वाभाविक रूप से [बिना प्रयत्न के] आ जाने से यहाँ बहुत सुन्दर बन पड़ी है ॥२८॥

[कारिका २५]—और फिर जो [बन्ध] कैसा कि, 'अम्लान प्रतिभा से समुद्भूत अभिनव शब्द तथा अर्थ के कारण सुन्दर'। अम्लान अर्थात् दोषों से अनुपहत, पूर्वजन्म के और इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़, प्रतिभा रूप जो अनिर्वचनीय कोई अपूर्व

हृदयहारी । अन्यच्च कीदृशः—'अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः' । अयत्नेनाक्लेशेन विहितं कृतं यत् स्वल्पं मनाङ्मात्रं मनोहारि हृदयाह्लादकं विभूषणमलङ्करणं यत्र स तथोक्तः । स्वल्पशब्दोऽत्र प्रकरणाद्यपेक्षः न वाक्यमात्रपरः । उदाहरणं यथा—

वालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्,
बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥७५॥[1]

कवि-शक्ति, उससे उद्भिन्न अर्थात् नवीन अंकुर के समान स्वयं समुल्लसित न कि ज़बरदस्ती खींच-तानकर निकाले गये, नवीन [पिष्टपेषण करने वाले बासी नहीं] एकदम अभिनव सहृदयों के आह्लादकारित्व की सामर्थ्य से युक्त जो [अभिधान और अभिधेय] शब्द और अर्थ उन दोनों से [बन्धुर] हृदयहारी । और कैसा कि, बिना प्रयत्न के [स्वाभाविक रूप से] आए हुए परिमित मनोहर अलङ्कारों से विभूषित । बिना प्रयत्न के अर्थात बिना क्लेश के किये हुए जो परिमित स्वल्पमात्र मनोहारी हृदयाह्लादक विभूषण अलङ्कार जिसमें हो वह [सुकुमार-मार्ग कहलाता है] । [प्रकृत स्थल में] 'स्वल्प' शब्द प्रकरण की अपेक्षा से है केवल वाक्य [एक श्लोक] परक नहीं है ।

इसका अभिप्राय यह है कि केवल एक श्लोक में ही नहीं अपितु प्रकरण में ही स्वल्प अलङ्कारों का प्रयोग होना चाहिए । और जो भी अलङ्कार आवें वे बिलकुल स्वाभाविक रूप से बिना किसी विशेष प्रयत्न के होने चाहिएँ । अलङ्कार लाने के प्रयत्नपूर्वक जो अलङ्कार का प्रयोग किया जाता है वह सहृदयहृदयहारी नहीं होता है । यही वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक का मत है । इसलिए 'अयत्नविहितस्वल्पमनोहारि-विभूषण' से युक्त बन्ध वाला मार्ग ही 'सुकुमार मार्ग' कहलाता है ।

इसी 'अपृथक्यत्नसाध्य' अलङ्कार की उपयोगिता का प्रतिपादन ध्वन्यालोककार ने इस प्रकार किया है—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ।।[2]

उदाहरण जैसे—

[पूर्ण रूप से] विकसित न होने के कारण [द्वितीया के] बाल-चन्द्रमा के समान वक्र और अत्यन्त रक्तवर्ण ढाक [के फूल], वसन्त [रूप पति] के साथ समागम करने वाली [नायिकारूपिणी] वनस्थलियों के [वक्षस्थल आदि पर अङ्कित] नखक्षतों के समान सुशोभित हुए ॥७५॥

---

१. कुमारसम्भव ३, २९ । २ ध्वन्यालोक २, १६ ।

अत्र 'बालेन्दुवक्राणि' 'अतिलोहितानि' 'सद्यो वसन्तेन समागतानाम्' इति पदानि सौकुमार्यात् स्वभाववर्णनामात्रपरत्वेनोपात्तान्यपि 'नखक्षतानीव' इत्यलङ्करणस्य मनोहारिणः क्लेशं विना स्वभावोद्भिन्नत्वेन योजनां भजमानानि चमत्कारितामापद्यन्ते ।

यश्चान्यच्च कीदृशः—'भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः' । भावाः पदार्थास्तेषां स्वभावस्तत्वं, तस्य प्राधान्यं मुख्यभावस्तेन न्यक्कृतं तिरस्कृतम्, आहार्यं व्युत्पत्तिविहितं कौशलं नैपुण्यं यत्र स तथोक्तः । तदयमभिप्रायः—पदार्थपरमार्थमहिमैव कविशक्तिसमुन्मीलितः, तथाविधो यत्र विजृम्भते येन विविधमपि व्युत्पत्तिविलसितं काव्यान्तरगतं तिरस्कारास्पदं सम्पद्यते । अत्रोदाहरणं रघुवंशे मृगयावर्णनपरं प्रकरणम् । यथा—

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावै-
र्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।

यहाँ [इस उदाहरण में] 'बालेन्दुवक्राणि', अतिलोहितानि' और 'सद्यो वसन्तेन समागतानां' ये पद केवल स्वभावमात्र के वर्णनपरक रूप में गृहीत होने पर भी 'नखक्षतानीव' इस [पद से द्योत्य] सुन्दर और अनायास [बिना क्लेश के स्वभावतः] व्यक्त होने वाले [उपमा रूप] अलङ्कार के साथ मिलकर [अत्यन्त] चमत्कार-युक्त हो रहे हैं ॥२५॥

[कारिका २६]—और जो [बन्ध] कैसा कि, 'भाव के स्वभाव [वर्णन] के प्राधान्य के कारण [प्रयत्नसाध्य] 'आहार्य' कौशल को तिरस्कार [उपेक्षा] करने वाला' है। भाव अर्थात् पदार्थ, उनका स्वभाव अर्थात् तत्त्व, उसका प्राधान्य अर्थात् मुख्यता, उससे तिरस्कृत कर दिया है आहार्य अर्थात् व्युत्पत्ति से उपार्जित, कौशल अर्थात् निपुणता [कृत्रिम या बनावटी चमत्कार] को जिसमें उस प्रकार का [बन्ध]। इसका यह अभिप्राय हुआ कि जहाँ कवि की [प्रतिभा रूप] शक्ति से उन्मीलित पदार्थ के स्वभाव [स्वाभाविक सौन्दर्य] का चमत्कार ही उस प्रकार का [अलौकिक-सा] प्रतीत होता है कि जिसके सामने अन्य काव्यों का अनेक प्रकार का व्युत्पत्तिजनित [कृत्रिम] सौन्दर्य हेय [तिरस्कार के योग्य] प्रतीत होने लगता है। इसका उदाहरण रघुवंश [के नवम सर्ग] में मृगया वर्णनपरक प्रकरण है। [उस प्रकरण में से एक श्लोक इस प्रकार यहाँ दिया जा सकता है] जैसे—

दूध पीने वाले छोटे-छोटे मृगशावकों के द्वारा जिस [झुण्ड] में, [भागती हुई] हरिणियों के चलने में बाधा डाली जा रही है, और जिसके आगे गर्वयुक्त कृष्णसार मृग चल रहा है [आधे खाए हुए] कुशों को मुख में दबाए हुए इस प्रकार

आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां
यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥७६॥[1]

यथा च कुमारसम्भवे—

द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः ॥७७॥[2]

इतः परं प्राणिधर्मवर्णनम् यथा—

शृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं
मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥७८॥[3]

अन्यच्च कीदृशः—'रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः'। रसाः शृङ्गारादयः। तदादिग्रहणेन रत्यादयोऽपि गृह्यन्ते। तेषां परमार्थः परमरहस्यं,

---

का मृगों का झुण्ड उस राजा को सामने भागता हुआ दिखलाई दिया ॥ ७६ ॥

और जैसे [महाकवि कालिदास के ही] कुमारसम्भव में [तृतीय सर्ग के ३५वें श्लोक में आए हुए]—

[वसन्त के आने पर वन में प्राणियों के] जोड़ों ने अपने [रति विषयक] भावों को क्रिया से प्रकाशित किया।

यहाँ से आगे [४२वें श्लोक तक] प्राणियों के धर्म का वर्णन। [उसमें से उदाहरणार्थ एक श्लोक को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं] जैसे—

यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृंङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमण्डूयत कृष्णसारः ॥[4]

[वसन्त के आगमन होने पर] अपनी प्रिया का अनुगमन करने वाला भौंरा, कुसुम रूप एक ही पात्र में [उसके साथ] मधु का पान करने लगा और—

कृष्णसार-मृग, स्पर्श [के सुख] से आँखें बन्द की हुई मृगी को अपने सींगों से खुजलाने लगा ॥७८॥

रघुवंश तथा कुमारसम्भव के इन प्रकरणों में और उनमें से उद्धृत इन दोनों श्लोकों में मृगों का बड़ा स्वाभाविक वर्णन हुआ है। उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं आने पाई है। इसलिए इस स्वभावोक्ति में अत्यन्त अलौकिक चमत्कार प्रतीत होता है। स्वभावोक्तिवादी पक्ष इसी को स्वभावोक्ति का चमत्कार कहता है। और उसके लिए वह आहार्य कौशल या वक्रोक्ति को अनुपयुक्त समझता है। कुन्तक इस स्वभावोक्ति को भी, वर्णन का एक अलौकिक वक्रमार्ग होने से 'वक्रोक्ति' ही कहते हैं और उसे सुकमार-मार्ग का नाम देते हैं।

और किस प्रकार का [बन्ध सुकुमार मार्ग में अपेक्षित है कि]-'रसादि के तत्त्व को

---

१. रघुवंश ९, ५। २. कुमारसम्भव ३. ३५। ३—४. कुमारसम्भव ३, ३६।

तज्जानन्तीति तज्ज्ञाः, तद्विदः, तेषां मनःसंवादो हृदयसंवेदनं स्वानुभवगोचरतया प्रतिभासः, तेन सुन्दरः सुकुमारः, सहृदयहृदयाह्लादकारी वाक्योपनिबन्ध इत्यर्थः। अत्रोदाहरणानि रघौ रावणं निहत्य पुष्पकेणागच्छतो रामस्य सीतायास्तद्विरहविधुरहृदयेन मयास्मिन्नस्मिन् समुद्देशे किमप्येवंभूतं वैशसमनुभूतमिति वर्णयतः सर्वाण्येव वाक्यानि। यथा—

पूर्वानुभूतं स्मरता च रात्रौ
कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम्।

जानने वालों के मन के अनुरूप होने से सुन्दर। रस अर्थात् शृङ्गार आदि। रसादि पद से रत्यादि [स्थायी भाव तथा रसाभास, भाव, भावाभास आदि] भी गृहीत होते हैं। [अनौचित्य से वर्णन किए गए रसों को 'रसाभास' और देवादि विषयक रति को 'भाव' कहते हैं। ऊपर रघुवंश तथा कुमारसम्भव के उदाहरणों में मृगों की शृङ्गार-चेष्टाओं का वर्णन है वह 'रस' नहीं अपितु रसाभास' माना गया है। यहाँ ग्रन्थकार ने उसे सुकुमार मार्ग के उदाहरण में दिया है। इसलिए उन्हें 'रस' शब्द की व्याख्या करने की आवश्यकता पड़ी। 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अन्य आचार्यों ने भी 'रस' शब्द से स्थायीभाव, रसाभास, भाव और भावाभास आदि का ग्रहण किया है। यहाँ भी कुन्तक उन सबके ग्रहण के लिए यह लिख रहे हैं कि तदादि ग्रहण से रत्यादि भी ग्रहण किए जाते हैं]। उनका जो परमार्थ अर्थात् परम रहस्य उसको जो समझते हैं वे 'तज्ज्ञ' अर्थात् रसादिपरमार्थज्ञ हुए, उनका मनःसंवाद अर्थात् हृदयसंवेदन अर्थात् स्वानुभवगोचरतया साक्षात्कार, उससे सुन्दर अर्थात् सुकुमार अर्थात् सहृदय-हृदयाह्लादकारी वाक्य की रचना। इस [रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः] के उदाहरण रघुवंश में रावण को मारकर पुष्पक [विमान] से लौटते हुए राम के, सीता से 'तुम्हारे [सीता के] विरह से दुःखित हृदय, मैंने अमुक प्रदेश में कुछ इस प्रकार क दुःख अनुभव किया था' इसका वर्णन करते हुए [रामचन्द्र के] सब ही वाक्य है। [उनमें से उदाहरणार्थ एक श्लोक निम्न रूप से उद्धृत करते हैं] जैसे—

हे भीरु [डरपोक स्वभाव वाली सीते] रात्रि में [वर्षा ऋतु में रात को गर्जन करते हुए मेघों की भयानक गड़गड़ाहट को सुनकर भय से काँपती हुई जब तुम मुझ से चिपट जाती थीं तुम्हारे उस] पूर्वानुभूत कम्पप्रधान आलिङ्गन को स्मरण करते हुए मैंने [तुम्हारे वियोग-काल में वर्षा ऋतु की रात्रियों में उसी प्रकार के घन गर्जन के होने पर इस पर्वत की] गुफ़ाओं में [भी] भर जाने वाले

गुहाविसार्यतिवाहितानि
मया कथञ्चिद् घनगर्जितानि ॥७९॥[1]

अत्र राशिद्वयकरणस्यायमभिप्रायो यद् विभावादिरूपेण रसाङ्गभूताः शकुनिरुत-तरु-सलिल-कुसुमसमयप्रभृतयः पदार्थाः सातिशयस्वभाववर्णनप्राधान्येनैव रसाङ्गतां प्रतिपद्यन्ते । तद्व्यतिरिक्ताः सुर-गन्धर्वप्रभृतयः सोत्कर्षचेतनायोगिनः शृङ्गारादिरसनिर्भरतया वर्ण्यमानाः सरसहृदयाह्लादकारितामायान्तीति कविभिरभ्युपगतम् । तथाविधमेव लक्ष्ये दृश्यते ।

अन्यच्च कीदृशः—'अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः' । अविभावितमनालोचितं संस्थानं संस्थितिर्यत्र तेन रामणीयकेन रमणीयत्वेन रञ्जकः सहृदयहृदयाह्लादकः । तेनायमर्थः—यदि तथाविधं कविकौशलमत्र सम्भवति तद् व्यपदेष्टुमियत्तया न कथञ्चिदपि पार्यते, केवलं सर्वातिशायितया चेतसि परिस्फुरति ।

यश्च कीदृशः—'विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः' । विधि-

मेघ के गर्जनों को किसी प्रकार [महता कष्टेन] सहन किया ॥७९॥

यहाँ ['भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृतहार्यकौशलः', तथा 'रसादिपरमार्थज्ञमनः-संवादसुन्दरः' इस प्रकार के] दो विभाग करने का यह अभिप्राय है कि विभाव आदि रूप से रस के अङ्गभूत पक्षियों के शब्द, वृक्ष, जल, और पुष्प-समय [वसन्त] आदि पदार्थ अतिशय युक्त स्वभाव-वर्णन की प्रधानता [होने] से ही रस [की अङ्गता को प्राप्त] के अङ्ग होते हैं। [इसी के बोधनार्थ पहिला विशेषण और उदाहरण रखा है] और उनसे भिन्न विशिष्ट चेतना से युक्त, देव गन्धर्व आदि शृङ्गारादि रस से परिपूर्ण रूप से वर्णित होने पर सहृदयों के हृदयाह्लादकारी होते हैं, यह कवियों ने माना हुआ है। उसी प्रकार उदाहरणों [लक्ष्यभूत काव्यादि] में दिखलाई देता है ॥२६॥

[कारिका २६]—और कैसा [बन्ध सुकुमार मार्ग के अनुरूप होता है कि] अविभावित जो संस्थान की रमणीयता उससे मनोहर। अविभावित अर्थात् अनालोचित [अर्थात् विचार या प्रयत्नपूर्वक नहीं अपितु स्वाभाविक रूप से अनायास विरचित, पदादि का जो] संस्थान अर्थात् स्थिति जिसमें हो उस, रामणीयक अर्थात् सौन्दर्य से, रञ्जक अर्थात् सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला। इसलिए यह अर्थ हुआ कि—यदि इस प्रकार का कवि का कौशल [यहाँ] रचना में होता है तो उसको 'इतना' [सौन्दर्य है इस] रूप से सीमित करके कैसे भी नहीं कहा जा सकता है। वह केवल सर्वातिशायी रूप से [सहृदयों के] चित्त में प्रतीत होता है।

और जो कैसा कि, 'विधाता की निपुणता से निर्मित जो [सर्गादि] रचना का

---

१. रघुवंश १३, २८।

विधाता तस्य वैदग्ध्यं कौशलं, तेन निष्पन्नः परिसमाप्तो योऽसौ निर्माणातिशयः सुन्दरः सर्गोल्लेखो रमणीयरमणीलावण्यादिः, स उपमा निदर्शनं यस्य स तथोक्तः। तेन विधातुरिव कवेः कौशलं यत्र विवेक्तुमशक्यम्। यथा—

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य
विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण।
कारागृहे निर्जितवासवेन
दशाननेनोषितमाप्रसादात् ॥८०॥[1]

अत्र व्यपदेशप्रकारान्तरनिरपेक्षः कविशक्तिपरिणामः परं परिपाकमधिरूढः।

अतिशय उसके सदृश। 'विधि' अर्थात् विधाता [ब्रह्मा] उसका वैदग्ध्य अर्थात् कौशल [चतुरता], उससे निष्पन्न अर्थात् पूर्ण हुआ जो रचनातिशय अर्थात् सुन्दर सृष्टि रचना रूप रमणीय रमणी-लावण्य आदि वह [ही] उपमा अर्थात् उदाहरण है जिसका, वह उस प्रकार का [विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः]। इसलिए जहाँ [जिस बन्ध में] विधाता के कौशल के समान कवि का कौशल अवर्णनीय हो [वह बन्ध सुकुमार्ग-मार्ग कहलाता है] जैसे—

[कार्तवीर्य के द्वारा] प्रत्यञ्चा से बाँध दिए जाने के कारण जिस [रावण] की भुजाएँ व्यर्थ [निश्चल] हो गई हैं, और जिसके [दसों] मुखों की परम्परा हाँफ रही है [एसी दयनीय अवस्था में], इन्द्र को भी जीतने वाले लंकेश्वर [रावण को भी] जिस [कार्तवीर्य] के कारागृह में उसकी कृपा होने पर्यन्त पड़ा रहना पड़ा। [अर्थात् उस कार्तवीर्य की कृपा से ही कारागार से छूट सका अपनी शक्ति से नहीं] ॥८०॥

यहाँ [इस श्लोक में] के अन्य प्रकार के विशेषण [व्यपदेश] से निरपेक्ष, कवि का शक्ति [प्रतिभा] का परिणाम चरम परिपाक को प्राप्त हो गया है।

[यह श्लोक रघुवंश के छठे सर्ग में इन्दुमती के स्वयम्वर के वर्णन में से कार्तवीर्य के वंशधर प्रतीप नामक राजा के परिचय के प्रसङ्ग में सुनन्दा ने कहा है। इसमें उस प्रतीप नामक राजा के पूर्वज कार्तवीर्य के प्रभाव का वर्णन किया है। जिसने इन्द्र को भी जीतने वाले रावण को पकड़कर अपने कारागृह में डाल दिया था। उस रावण की दुर्दशा को 'ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन' और 'विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण' इन दोनों विशेषणों के द्वारा कवि ने जिस सुन्दरता से व्यक्त किया वह शायद किसी अन्य प्रकार से उतनी सुन्दरता से अभिव्यक्त नहीं हो सकती थी। इसलिए ग्रन्थकार ने 'व्यपदेशप्रकारान्तरनिरपेक्षः' लिखकर कवि की प्रतिभा के परिणाम को परम परिपाक कोटि पर अधिरूढ़ कहा है ॥२७॥

---

१. रघुवंश ६, ४०।

एतस्मिन् 'कुलके'-प्रथमश्लोके प्राधान्येन शब्दालङ्करणयोः सौन्दर्यं प्रतिपादितम्। द्वितीये वर्णनीयस्य वस्तुनः सौकुमार्यम्। तृतीये प्रकारान्तर-निरपेक्षस्य सन्निवेशस्य सौकुमार्यम्। चतुर्थे वैचित्र्यमपि सौकुमार्याविसंवादि विधेयमित्युक्तम्। पञ्चमो विषयविषयिसौकुमार्यप्रतिपादनपरः ॥२५-२९॥

एवं सुकुमाराभिधानस्य मार्गस्य लक्षणं विधाय तस्यैव गुणान् लक्षयति—

असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्।
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः ॥३०॥

असमस्तानि समासवर्जितानि मनोहारीणि हृदयाह्लादकानि श्रुति रम्यत्वेनार्थरमणीयत्वेन च यानि पदानि सुप्तिङन्तानि, तेषां विन्यासः सन्निवेश-वैचित्र्यं, जीवितं सर्वस्वं यस्य तत्तथोक्तम्। माधुर्यं नाम सुकुमारलक्षणस्य मार्गस्य प्रथमः प्रधानभूतो गुणः। असमस्तशब्दोऽत्र प्राचुर्यार्थः, न स्वभाव-नियमार्थः। उदाहरणं यथा—

[सुकुमार मार्ग के लक्षण परक २५ से २९ कारिका तक के पाँच श्लोक वाले] इस 'कुलक' [चार श्लोकों से अधिक का एक साथ अन्वय होने पर उस श्लोक-समुदाय को 'कुलक' कहते हैं] में से प्रथम श्लोक में प्रधान रूप से शब्द और अलङ्कारों के सौन्दर्य का प्रतिपादन किया है। दूसरे [श्लोक] में वर्णनीय वस्तु के सौकुमार्य का, तीसरे में अन्य भेदों से निरपेक्ष सन्निवेश के सौकुमार्य का [प्रतिपादन किया है] चतुर्थ [श्लोक] में सौकुमार्य का अविरोधि वैचित्र्य भी [काव्य में प्रयुक्त] करना चाहिए यह कहा है। और पाँचवाँ [श्लोक] विषय तथा विषयी [लक्ष्य और लक्षण] के सौकुमार्य का प्रतिपादन कर रहा है ॥२५-२९॥

इस प्रकार सुकुमार नामक मार्ग का लक्षण करके उसी [मार्ग] के गुणों का निरूपण [लक्षण] करते हैं—

समास-रहित मनोहर पदों का विन्यास जिसका प्राण है इस प्रकार का 'माधुर्य' [गुण] सुकुमार-मार्ग का सबसे पहिला गुण है ॥३०॥

असमस्त अर्थात् समास-रहित, मनोहर अर्थात् सुनने में रमणीय और अर्थतः सुन्दर होने से हृदयाह्लादक, जो सुबन्त तिङन्त रूप पद, उनका विन्यास अर्थात् रचना-वैचित्र्य जिसका प्राणभूत है उस प्रकार का [असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्] 'माधुर्य' नाम का [गुण] सुकुमार रूप मार्ग का प्रथम अर्थात् प्रधानभूत गुण है। 'असमस्त' पद यहाँ [समासविहीन पदों के] प्राचुर्य के [बोधन] के लिए [रखा गया] है। [समास के अभाव के नियम] अपरिहार्यत्व [प्रतिपादन करने] के लिए नहीं। [अर्थात् समास का नितान्त अभाव आवश्यक नहीं है। स्वल्प मात्रा में छोटे समास भी माधुर्य गुण में प्रयुक्त हो सकते हैं। उस का उदाहरण आगे देते है] जैसे—

क्रीडारसेन रहसि स्मितपूर्वमिन्दो-
र्लेखां विकृष्य विनिबध्य च मूर्ध्नि गौर्या ।
किं शोभिताहमनयेति शशाङ्कमौलेः
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः ॥८१॥

अत्र पदानामसमस्तत्वं शब्दार्थरमणीयता विन्यासवैचित्र्यं च त्रितयमपि चकास्ति ॥३०॥

तदेवं माधुर्यमभिधाय प्रसादमभिधत्ते—

अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम् ।
रसवक्रोक्तिविषयं यत् प्रसादः स कथ्यते ॥३१॥

झगिति प्रथमतरमेवार्थसमर्पणं वस्तुप्रतिपादनम् । कीदृशम्, 'अक्लेशव्यञ्जिताकूतम्', अकदर्थनाप्रकटिताभिप्रायम् । किंविषयम्, 'रसवक्रोक्तिविषयम्' । रसाः शृङ्गारादयः, वक्रोक्तिः सकलालङ्कारसामान्यं, विषयो गोचरो यस्य तत्-

---

एकान्त में रतिक्रीड़ा के रस से मुस्कराते हुए पार्वती के द्वारा चन्द्रमा की रेखा को [शिव के मस्तक पर से] खींचकर और [अपने] सिर पर लगाकर, क्या मैं इस [चन्द्रमा की रेखा] से शोभित होती हूँ इस प्रकार पूछे गये [शशाङ्कमौलि] शिव का [पार्वती को अथवा उसके व्याज से चन्द्रलेखा को प्रदान किया हुआ] परिचुम्बन रूप उत्तर तुम्हारी रक्षा करे ॥८१॥

यहाँ [इस उदाहरण में] पदों का समासरहित होना, शब्द और अर्थ की रमणीयता, तथा रचना की विचित्रता यह तीनों ही प्रतीत रहे हैं। [अतएव यह श्लोक माधुर्य गुण का उत्तम उदाहरण है] ॥३०॥

इस प्रकार माधुर्य [गुण] को कहकर [आगे] प्रसाद [गुण] को कहते हैं—

रस तथा वक्रोक्ति के विषय में बिना किसी क्लेश के [अनायास सरलतापूर्वक] अभिप्राय को व्यक्त कर देने वाला, तुरन्त अर्थ का प्रतिपादन रूप जो [गुण है] वह 'प्रसाद' [नाम से] कहा जाता है ॥३१॥

झगिति, [सुनने के साथ] प्रथमतर ही अर्थसमर्पण अर्थात् वस्तु का प्रतिपादन । कैसा, 'बिना क्लेश के अभिप्राय को प्रकट करने वाला' अर्थात् बिना खींचतान के अर्थ को प्रकट करने वाला । किस विषय में, 'रस और वक्रोक्ति विषय में' । रस [शब्द से] शृङ्गार आदि और वक्रोक्ति अर्थात् सामान्य रूप से समस्त अलङ्कार जिसके विषय अर्थात् गोचर हैं, वह उस प्रकार का [रस-वक्रोक्ति-विषय] । वह ही

तथोक्तम् । स एव प्रसादाख्यो गुणो कथ्यते भण्यते । अत्र पदानामसमस्तत्वं प्रसिद्धाभिधानत्वं अव्यवहितसम्बन्धत्वं समाससद्भावेऽपि गमकसमासयुक्तता च परमार्थः । 'आकूत' शब्दस्तात्पर्यविच्छित्तौ च वर्तते ।

उदाहरणं यथा—

हिमव्यपायाद्विशदाधराणा-
मापाण्डुरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
स्वेदोदगमः किम्पुरुषाङ्गनानां
चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥८२॥

अत्रासमस्तत्वादि सामग्री विद्यते । यदपि विविधपत्रविशेषकवैचित्र्यविहितं किमपि वदनसौन्दर्यं मुक्ताकारस्वेदलवोपबृंहितं तदपि सुव्यक्तमेव ।

यथा वा—

'प्रसाद' नामक गुण कहलाता है । यहाँ [प्रसाद-गुण में] (१) पदों का समासहीन होना, (२) प्रसिद्ध अर्थ का प्रतिपादक होना, (३) [अर्थ के साथ] बिना व्यवधान [लक्षणा आदि] के [साक्षात्] सम्बन्ध होना और (४) समास होने पर भी स्पष्टार्थक समासयुक्तता होना यह [प्रसाद-गुण का] वास्तविक रहस्य है । [कारिका में] 'आकूत' शब्द तात्पर्य के सौन्दर्य [प्रतिपादन] में [प्रयुक्त हुआ] है । [उस प्रसाद-गुण का] उदाहरण जैसे [कुमारसम्भव ३, ३३]—

[वसन्त ऋतु का आगमन होने पर] हिम [जाड़े अथवा बर्फ़] के हट जाने से स्वच्छ अधर वाली [जाड़े के दिनों में हाथ, पैर, होंठ आदि फट जाते हैं । इसलिए हिम-व्यपाय में विशदाधरत्व का कथन किया है] और गौरत्व को प्राप्त मुख कान्ति वाली किम्पुरुषों की स्त्रियों के [कपोलों पर बने हुए] पत्र-विशेषक [रूप अलङ्कारों] में पसीने के उद्गम ने अपना स्थान बना लिया । [अर्थात् गालों पर बने पत्रविशेषकों पर पसीना आना आरम्भ हो गया] ॥८२॥

यहाँ [इस उदाहरण में भी] असमस्तत्व आदि सामग्री विद्यमान् है । और [तात्पर्य विच्छित्ति का द्योतक] जो नाना प्रकार के पत्रविशेषकों के वैचित्र्य से विहित मुख का अपूर्व सौन्दर्य है वह मोतियों के आकार वाले पसीने की बूँदों से और भी बढ़ गया है वह भी स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहा है । [इसलिए यह प्रसाद-गुण का उत्तम उदाहरण है] ।

अथवा जैसे [उसी प्रसाद-गुण का दूसरा उदाहरण रघुवंश के छठे सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर हेमाङ्गद नामक कलिङ्ग देश के राजा के वर्णन-प्रसङ्ग में सुनन्दा का कहा हुआ निम्नलिखित श्लोक]—

अनेन सार्धं विहराम्बुराशे-
स्तीरेषुता ड़ीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पै
रपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥८३॥[1]

अलङ्कारव्यक्तिर्यथा—

बालेन्दुवक्राणि । इति ॥८४॥

एवं प्रसादमभिधाय लावण्यं लक्षयति—

वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसन्धानसम्पदा ।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ॥३२॥

[सुमात्रा, जावा आदि] अन्य द्वीपों से लवङ्ग के पुष्पों को उड़ाकर लाने वाले वायु के द्वारा जिसके [सुरतश्रम-जन्य] पसीने की बूँदें सुखाई जा रही हों इस प्रकार की होकर इस [कलिङ्ग राज हेमाङ्गद] के साथ, ताड़ के वनों में मर्मर शब्द से युक्त समुद्र के तटों पर विहार करो ॥ ८३ ॥

इसमें प्रसाद गुण की सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान है । इसलिए यह 'प्रसाद' गुण का उत्तम उदाहरण है ।

प्रसाद गुण के लक्षण में 'रसवक्रोक्तिविषयं' यह पद दिया है । इसका अभिप्राय यह है रस तथा वक्रोक्ति अर्थात् अलङ्कार सामान्य दोनों ही के विषय में उस प्रसाद का समर्पकत्व होना चाहिए। ऊपर जो दो उदाहरण दिये हैं वह रस के समर्पक हैं । इसलिए वक्रोक्ति अर्थात् अलङ्कार सामान्य के लिए अगला उदाहरण देते हैं । यह श्लोक उदाहरण संख्या ७५ पर पहिले भी दिया जा चुका है ।

अलङ्कार [वक्रोक्ति रूप अलङ्कार सामान्य] की अभिव्यक्ति [का उदाहरण] जैसे—

नवीन चन्द्रमा के समान वक्र [इत्यादि उदाहरण संख्या ७५ पर उद्धृत श्लोक] ॥८४॥

इसका व्याख्या वहीं पर देख लेनी चाहिए ॥३१॥

इस प्रकार प्रसाद [गुण] का कथन कर [आगे] लावण्य का 'लक्षण' करते हैं—

वर्णविन्यास के सौन्दर्य से युक्त पदों की योजना की थोड़ी-सी सम्पत्ति से [उत्पन्न] रचना का सौष्ठव लावण्य [नाम से] कहा जाता है ॥३२॥

---

१. रघुवंश ६, ५३ ।

'बन्धो' वाक्यविन्यासस्तस्य 'सौन्दर्यं' रामणीयकं 'लावण्यमभिधीयते' लावण्यमित्युच्यते । कीदृशम्—वर्णानामक्षराणां विन्यासो विचित्रं न्यसनं तस्य विच्छित्तिः शोभा वैदग्ध्यभङ्गी, तया लक्षितं, पदानां सुप्तिङन्तानां सन्धानं संयोजनं, तस्य सम्पत्, सापि शोभैव, तया लक्षितम् । कीदृश्या, उभयरूपयापि स्वल्पया मनाङ्मात्रया नातिनिर्बन्धनिर्मितया । तदयमत्रार्थः—शब्दार्थसौकुमार्यसुभगः सन्निवेशमहिमा लावण्याख्यो गुणः कथ्यते । यथा—

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं
विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः
केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥८५॥

अत्र सन्निवेशसौन्दर्यमहिमा सहृदयसंवेद्यो न व्यपदेष्टुं पार्यते ।

बन्ध [का अर्थ] वाक्य-रचना [है] । उसका सौन्दर्य अर्थात् रमणीयत्व, लावण्य कहा जाता है अर्थात् लावण्य पद से व्यवहृत होता है । कैसा [बन्धसौन्दर्य] वर्णों अर्थात् अक्षरों का जो विन्यास विचित्र रूप से सन्निवेश, उसका जो शोभा अर्थात् सुन्दर रचना-शैली, उससे युक्त सुबन्त तिङन्त पदों का सन्धान अर्थात् योजना, उसकी सम्पत् [ऊपर विच्छित्ति शब्द का अर्थ शोभा किया है । यहाँ सम्पत् शब्द का अर्थ भी शोभा ही है यह कहते हैं] वह [सम्पत्] भी शोभा ही है । उससे युक्त [लक्षित] । किस प्रकार की [शोभा] से [युक्त], दोनों ही प्रकार की [अर्थात् अक्षर-रचना तथा पद-रचना से जन्य वर्णविन्यासविच्छित्ति तथा पदसन्धानसम्पत्ति से जन्य] थोड़ी तनिक-सी अर्थात् अत्यन्त आग्रह से निर्मित न की हुई [शोभा से युक्त बन्ध का सौन्दर्य लावण्य कहलाता है] । इसका यह अभिप्राय हुआ कि—शब्द और अर्थ के सौकुमार्य से सुन्दर रचना का सौष्ठव लावण्य नामक गुण कहलाता है । जैसे [रघुवंश के सोलहवें सर्ग में कुश के कुमुद्वती के साथ सङ्गम के वर्णन के प्रसङ्ग में कहा हुआ कुमुद्वती का वर्णन-परक ५०वां यह श्लोक]—

स्नान के कारण गीले, खुले हुए और धूप की गन्ध देने के बाद सायंकालीन [अलङ्करण के योग्य] मल्लिका पुष्पों के विन्यास से युक्त स्त्रियों के केशों में, वसन्त के बीत जाने के कारण मन्दवीर्य कामदेव ने बल को प्राप्त किया । [अर्थात् उन केशों से ही काम का उद्दीपन हुआ ।] ॥८५॥

यहाँ [इस उदाहरण में] रचना के सौन्दर्य का प्रभाव सहृदय संवेद्य [ही] है उसका वर्णन करना सम्भव नहीं है ।

यथा वा—

चकार बाणैरसुराङ्गनानां
गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥८६॥[1]

अत्रापि वर्णविन्यासविच्छित्तिः पदसन्धानसम्पच्च सन्निवेशसौन्दर्य-निबन्धनस्फुटावभासैव ॥३२॥

एवं लावण्यमभिधाय आभिजात्यमभिधत्ते—

श्रुतिपेशलताशालि सुस्पर्शमिव चेतसा ।
स्वभावमसृणच्छायमाभिजात्यं प्रचक्षते ॥३३॥

अथवा जैसे—

जिस [ककुत्स्थ राजा] ने अपने बाणों से असुरों की स्त्रियों के कपोलस्थलों को पत्रलेखा [रूप अलङ्करण] से विहीन कर दिया ॥८६॥

यहाँ भी वर्णों के विन्यास का सौन्दर्य और पद-योजना का सौष्ठव, रचना के सौन्दर्य के कारण स्पष्ट रूप से ही प्रतीत हो रहा है ।

यह श्लोक भी रघुवंश के छठे सर्ग से इन्दुमती के स्वयंवर-वर्णन के प्रसङ्ग से लिया गया है । उसमें सुनन्दा इक्ष्वाकुवंश के ककुत्स्थ नामक राजा का वर्णन कर रही है । इस राजा के विषय में पुराणों में इस प्रकार की कथा पाई जाती है कि वह राजा साक्षात् विष्णु का अंशावतार था । देवासुर-संग्राम में देवों की ओर से वह लड़ा था । उस समय इन्द्र को वृषभ बनाकर उसके ऊपर चढ़कर उसने युद्ध किया और समस्त असुरों का विनाश कर दिया । महेन्द्र के ककुद [साँड की पीठ पर उठे हुए भाग को ककुद कहते हैं] पर बैठकर उसने असुरों का विनाश किया था इसलिए ककुत् पर स्थित होने से उसका 'ककुत्स्थ' यह नाम पड़ा था । इसी घटना का निर्देश करते हुए सुनन्दा ने यहाँ उसका परिचय कराया है । यहाँ श्लोक के केवल दो चरण उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए गए हैं । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥३२॥[2]

इस प्रकार [सुकुमार मार्ग के] लावण्य [गुण] को कहकर [चौथे] आभिजात्य [नामक गुण] को कहते हैं—

सुनने में मृदुता-युक्त और सुखद स्पर्श के समान चित्त को छूता हुआ-सा, स्वभाव से कोमल छाया वाला, [बन्ध का सौन्दर्य] 'आभिजात्य' [नामक गुण] कहा जाता है ॥३३॥

१-२. रघुवंश ६, ७२ ।३२।

एवंविधं वस्तु आभिजात्यं प्रचक्षते, अभिजात्याभिधानं गुणं वर्णयन्ति । श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं तत्र पेशलता रामणीयकं तेन शालते श्लाघते यत् तथोक्तम् । सुस्पर्शमिव चेतसा मनसा सुस्पर्शमिव । सुखेन स्पृश्यत इवेत्यतिशयोक्तिरियम् । यस्मादुभयमपि स्पर्शयोग्यत्वे सति सौकुमार्यात् किमपि चेतसि स्पर्शसुखमर्पयतीव । यतः स्वभावमसृणच्छायं अहार्यश्लक्ष्णकान्ति यत्, तदाभिजात्यं कथयन्तीत्यर्थः ।

यथा—

इस प्रकार की वस्तु को 'आभिजात्य' [नामक गुण] कहते हैं । श्रुति अर्थात् श्रवणेन्द्रिय [कान] उसमें जो पेशलता अर्थात् रमणीयता उससे जो श्लाघित अर्थात् प्रशंसित [शोभित] होता है, वह उस प्रकार का [श्रुतिपेशलताशालि हुआ] । 'चित्त से सुस्पर्श के समान' अर्थात् मन से सुन्दर सुखद स्पर्श के समान [छूता हुआ-सा] । सुख से स्पर्श किया जाता है [छूता है] यह [कथन] अतिशयोक्ति है । [वास्तव में वह आभिजात्य गुण कोई मूर्त्त भौतिक पदार्थ नहीं है जो चित्त का स्पर्श कर सके । और न चित्त ही स्पर्श के योग्य है । परन्तु जैसे स्पर्श योग्य कोई अत्यन्त मृदु पदार्थ अपने मृदु-स्पर्श से चित्त में आनन्द को उत्पन्न करता है । इसी प्रकार यह आभिजात्य गुण भी चित्त में अनिर्वचनीय आनन्द को उत्पन्न करता है इसलिए उसको भी अतिशयोक्ति से 'सुस्पर्शमिव चेतसा' कह दिया है ।] क्योंकि [स्पर्श करने योग्य मृदु वस्तु तथा स्पर्श करने वाली त्वगिन्द्रिय] दोनों स्पर्श के योग्य होने पर सौकुमार्य [के अतिशय के कारण] से चित्त में स्पर्श सुख-सा देती है । [इसी प्रकार यहाँ भी होने से 'सुस्पर्शमिव चेतसा' कह दिया है] क्योंकि जो स्वभाव से कोमल कान्ति अर्थात् [अहार्य कृत्रिम रूप से न लाई हुई] स्वाभाविक मृदु कान्ति वाला [गुण] है उसको 'आभिजात्य' कहते हैं । [यहाँ 'स्वभावमसृणच्छायं' का अर्थ 'अहार्यश्लक्ष्णकान्ति' किया है । 'अहार्य' का अर्थ अकृत्रिम या स्वाभाविक है । परन्तु उसे 'आहार्य' समझने की भूल नहीं करनी चाहिए । 'आहार्य' वस्तु तो स्वाभाविक नहीं होती । अतः अहार्य पाठ उचित है ।

उस आभिजात्य गुण का उदाहरण मेघदूत से उद्धृत करते हैं । यहाँ उदाहरण रूप में आधा श्लोक ही उद्धृत किया है । मेघदूत का परा श्लोक इस

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रीत्या कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ॥८७॥

अत्र श्रुतिपेशलतादि स्वभावमसृणच्छायत्वं किमपि सहृदयसंवेद्यं परिस्फुरति ।

ननु च लावण्यमाभिजात्यञ्च लोकोत्तरतरुणीरूपलक्षणवस्तुधर्मतया यत् प्रसिद्धं तत्कथं काव्यस्य भवितुमर्हतीति चेत्—

तन्न । यस्मादनेन न्यायेन पूर्वप्रसिद्धयोरपि माधुर्यप्रसादयोः काव्यधर्मत्वं

प्रकार है—

ज्योतिर्लेखावलियगलितं यस्य बर्हं भवानी,
पुत्रप्रीत्या कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं,
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गजितैर्नर्तयेथाः ॥[1]

यक्ष मेघ को कह रहा है कि देवगिरि पर स्थापित स्कन्द की मूर्ति के ऊपर पुष्पवृष्टि के रूप में अपनी सुखद वृष्टि करके और उनको स्नान कराने के बाद अपने गम्भीर गर्जनों से उनके वाहनभूत मयूर को आनन्दोल्लास से नाचने के लिए प्रेरित करना । जिस मयूर के चमकीले रेखामण्डल से युक्त, गिरे हुए पंख को पार्वती देवी अपने पुत्र स्कन्द के प्रेम से अर्थात यह मेरे पुत्र स्कन्द के मोर का पंख है इसलिए अत्यन्त प्रेम से कुवलय दल को धारण करने वाले कान में अथवा कुवलय दल के साथ कान में आभूषण रूप में धारण करती है ।

[इसी श्लोक के पूर्वार्द्ध को यहाँ ग्रन्थकार ने आभिजात गुण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है] जैसे—

जिस [स्कन्द के मोर] के चमकदार रेखामण्डल से युक्त और [स्वयं] गिरे हुए [न कि बलात् नोचे हुए] पंख को पार्वती देवी [यह मेरे पुत्र स्कन्द के मयूर का सुन्दर पंख है इस प्रकार की] पुत्र स्नेह की भावना से कुवलय दल को धारण करने योग्य कान में [अथवा कुवलय दल के साथ कान में आभूषण रूप से] धारण करती है ॥८७॥

यहाँ श्रुतिसुभगत्व आदि और स्वभावतः मृदु कान्ति [रूप आभिजात्य] सहृदयसंवेद्य रूप से [अपूर्व तत्व] परिस्फुरित होता है ।

[प्रश्न] लावण्य और आभिजात्य तो लोकोत्तर तरुणी-सौन्दर्य रूप वस्तु के धर्म रूप से [लोक में] प्रसिद्ध है वह काव्य का [धर्म] कैसे हो सकता है ।

[उत्तर] यहाँ शंका करें तो वह ठीक नहीं है । क्योंकि इस युक्ति से तो पूर्व

---

१. मेघदूत ४४ ।

विघटते । माधुर्यं हि गुडादिमधुरद्रव्यधर्मतया प्रसिद्धं तथाविधाह्लादकारित्वसामान्योपचारात् काव्ये व्यपदिश्यते । तथैव च प्रसादः स्वच्छसलिलस्फटिकादिधर्मतया प्रसिद्धः स्फुटावभासित्वसामान्योपचारात् झगिति प्रतीतिपेशलतां प्रतिपद्यते । तद्वदेव च काव्ये कविशक्तिकौशलोल्लिखितकान्तिकमनीयं बन्धसौन्दर्यं चेतनचमत्कारकारित्वसामान्योपचाराल्लावण्यशब्दव्यतिरेकेण शब्दान्तराभिधेयतां नोत्सहते । तथैव च काव्ये स्वभावमसृणच्छायत्वमाभिजात्यशब्देनाभिधीयते ।

ननु च कैश्चित् प्रतीयमानं वस्तु ललनालावण्यसाम्याल्लावण्यमित्युपपादितमिति—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥८८॥

[प्रसिद्ध अर्थात् पूर्व आचार्यों द्वारा अथवा उसके पहले] प्रतिपादित माधुर्य तथा प्रसाद-गुण का भी काव्यधर्मत्व नहीं बनता है । क्योंकि [लोक में] माधुर्य, गुड़ आदि मधुर पदार्थों के धर्म रूप में प्रसिद्ध है । [परन्तु] उस प्रकार के [मधुर पदार्थों के समान] आह्लादकारित्व साधर्म्य के कारण उपचार [गौणी वृत्ति] से काव्य में [भी माधुर्य शब्द से] कहा जाता है । और उसी प्रकार प्रसाद [शब्द भी] स्वच्छ जल अथवा स्फटिक आदि [पदार्थों] के धर्म रूप से [मुख्यतया] प्रसिद्ध है [किन्तु] स्फुटावभासित्व रूप साधर्म्य के द्वारा उपचार [गौणी वृत्ति] से तुरन्त अर्थ प्रतीति रूप सुन्दरता का बोधक हो जाता है । और उसी [माधुर्य एवं प्रसाद-गुणों के औपचारिक प्रयोग] के समान काव्य में कवि की प्रतिभा के कौशल से समुल्लसित कान्ति से कमनीय, रचना का सौन्दर्य सहृदयों में चमत्कारोत्पादन के साधर्म्य से उपचार द्वारा लावण्य के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द से कहा नहीं जा सकता है । और वही स्वाभाविक सुकुमार सौन्दर्य काव्य में 'आभिजात्य' शब्द से कहा जाता है ।

[प्रश्न] किन्हीं [ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य] ने 'प्रतीयमान' वस्तु ललनाओं के लावण्य के समान होने से लावण्य कहा जाता है यह उपपादन किया है ।

यहाँ पूर्व-संस्करण में 'इत्युत्पादितप्रतीति' पाठ छपा है परन्तु वह बहुत सङ्गत नहीं दीखता है । उसके स्थान पर 'इत्युपपादितमिति' यह पाठ अधिक सङ्गत है । इसलिए हमने वही पाठ रखा है । इस कथन के समर्थन के लिए ग्रन्थकार आगे ध्वन्यालोक का १, ४ श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं—

प्रतीयमान [व्यङ्ग्य अर्थ] कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध [मुखादि] अवयवों से भिन्न [उनके] लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में [वाच्यार्थ से अलग] प्रतीत होता है ॥८८॥

तत्कथं बन्धसौन्दर्यमात्रं लावण्यमित्यभिधीयते ?

नैष दोषः, यस्मादनेन दृष्टान्तेन वाच्यवाचकलक्षणप्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तत्वेनास्तित्वमात्रं साध्यते प्रतीयमानस्य, न पुनः सकललोकलोचनसंवेद्यस्य ललनालावण्यस्य, सहृदयहृदयानामेव संवेद्यं सत् प्रतीयमानं समीकर्तु पार्यते।

तच्च बन्धसौन्दर्यमेवाव्युत्पन्नपदपदार्थानामपि श्रवणमात्रेणैव हृदयहारित्वस्पर्धया व्यपदिश्यते। प्रतीयमानं पुनः काव्यपरमार्थज्ञानामेवानुभवगोचरतां प्रतिपद्यते। यथा कामिनीनां किमपि सौभाग्यं तदुपभोगोचितानां नायकानामेव

तब आप रचना के सौन्दर्य मात्र को लावण्य कैसे कहते हैं ?

[उत्तर] यह दोष [देना] ठीक नहीं है । क्योंकि [विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु] इस दृष्टान्त से वाच्य वाचक रूप प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न रूप में प्रतीयमान का अस्तित्वमात्र सिद्ध होता है । परन्तु समस्त [लौकिक साधारण] पुरुषों के नेत्रों द्वारा ग्रहण किए जाने वाला स्त्रियों का सौन्दर्य, केवल सहृदयों द्वारा ही अनुभव किए जाने योग्य प्रतीयमान अर्थ के बराबर नहीं किया [माना] जा सकता है ।

अर्थात् ललनाओं का लावण्य तो हर एक साधारण पुरुष भी ग्रहण करता है परन्तु काव्य के प्रतीयमान व्यङ्ग्य अर्थ का अनुभव हर एक व्यक्ति नहीं कर सकता है उसे केवल सहृदय पुरुष ही समझ सकते हैं । इसलिए ललना-लावण्य को प्रतीयमान अर्थ के बराबर का महत्त्व नहीं दिया जा सकता है । ध्वनिकार ने जो उनकी समानता दिखलाई है उसका अभिप्राय केवल इतना ही हो सकता है कि जैसे ललनाओं का लावण्य उनके प्रसिद्ध अवयवों से अलग होता है इसी प्रकार काव्य में प्रतीयमान अर्थ वाच्यादि अर्थों से भिन्न ही होता है ।

यहाँ पूर्व-संस्करण में 'लावण्यस्य' के बाद विराम-चिन्ह दिया हुआ है । वह नहीं होना चाहिए । और अगले वाक्य के प्रारम्भ में जो तस्य पाठ दिया गया है वहाँ तच्च पाठ अधिक उपयुक्त है ।

और पद और पदार्थों को न जानने वालों को भी श्रवणमात्र से ही हृदयहारी रचना सौष्ठव ही वह [लावण्य] कहा जाता है । [जैसे ललना का लावण्य साधारण पुरुषों को भी अनुभव हो जाता है इसी प्रकार काव्य का बन्धसौन्दर्य पद-पदार्थ की व्युत्पत्ति से रहित साधारण पुरुषों को भी श्रवणमात्र से प्रतीति हो जाता है । इस कारण बन्धसौन्दर्य के लिए ही लावण्य पद का प्रयोग उचित है ।] और प्रतीयमान अर्थ काव्य के मर्मज्ञों को ही अनुभव होता है । जैसे कामिनियों का कुछ सौभाग्य विशेष उनका उपभोग करने योग्य नायकों के ही संवेदन का विषय होता है । परन्तु

संवेद्यतामर्हति । लावण्यं पुनस्तासामेव सत्कविगिरामिव सौन्दर्यं सकललोकगोचरतामायातीत्युक्तमेव । इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥३३॥

एवं सुकुमारस्य लक्षणमभिधाय विचित्रं लक्षयति—

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता ।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ॥३४॥
अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम् ।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ॥३५॥
रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा ।
कान्ताशरीरमाच्छाद्य भूषायै परिकल्प्यते ॥३६॥
यत्र तद्वदलङ्कारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना ।
स्वशोभातिशयान्तःस्थमलङ्कार्यं प्रकाश्यते ॥३७॥

उनका लावण्य सत्कवियों के वाणी के सौन्दर्य [या बन्धसौन्दर्य] के समान सब लोगों का [अनुभव] विषय होता है । यह कह ही चुके हैं । इसलिए [इस विषय में] अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं रहती है ।।३३।।

इस प्रकार सुकुमार [मार्ग] का लक्षण [और उसके गुणों] को कह कर [आगे] विचित्र [मार्ग के लक्षण] को कहते हैं—

जहाँ [कवि की] प्रतिभा के प्रथम विलास के समय पर [ही] शब्द और अर्थ के भीतर [कुछ अपूर्व] वक्रता स्फुरित होती हुई सी [प्रतीत] होने लगती है । [वह विचित्र मार्ग है ॥३४॥]

[अथवा] जहाँ कवि [एक ही अलङ्कार से] सन्तुष्ट न होने से एक अलङ्कार [को अलंकृत करने] के लिए हार आदि में मणियों के जड़ाव के समान दूसरा अलङ्कार जोड़ते हैं । [वह विचित्र मार्ग है ॥३५॥]

रत्नों की किरणों की छटा के बाहुल्य से चमकते हुए आभूषणों से ढक देने से जैसे कान्ता का शरीर [और भी] भूषित हो जाता है । [इसी प्रकार अनेक अलङ्कारों से जहाँ काव्य को अलंकृत करने का प्रयत्न किया जाता है वह विचित्र मार्ग कहलाता है ॥३६॥]

जहाँ इसी प्रकार भ्राजमान अलङ्कारों के द्वारा अपनी [स्वाभाविक] शोभा के भीतर छिपा हुआ अलङ्कार्य [रसादि] अपने स्वरूप से प्रकाशित होता है । [वह विचित्र मार्ग है ॥३७॥]

यद्प्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तद्प्यलम् ।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते ॥३८॥
यत्रान्यथाभवत् सर्वमन्यथैव यथारुचि ।
भाव्यते प्रतिभोल्लेखमहत्वेन महाकवेः ॥३९॥
प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित् ॥४०॥
स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते ।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः ॥४१॥
विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते ।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा ॥४२॥
सोऽति दुःसञ्चरो येन विदग्धकवयो गताः ।
खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः ॥४३॥

जहाँ पुराने कवियों द्वारा वर्णित [अनूतोल्लेखं जिसका वर्णन नया नहीं है अर्थात् पुरातन कवियों द्वारा वर्णित है] वस्तु भी केवल उक्ति के वैचित्र्यमात्र से [सौन्दर्य की] चरम सीमा को ले जाई जाती है। [वह विचित्र मार्ग है ॥३८॥]

जहाँ महाकवि की प्रतिभा के प्रयोग के प्रभाव से अन्य प्रकार की [सौन्दर्य हीन] वस्तु भी [कवि की अपनी] रुचि के अनुसार अन्य ही प्रकार की [लोकोत्तर-सौन्दर्ययुक्त-सी] हो जाती है। [वह विचित्र मार्ग है ॥३९॥]

जहाँ वाच्य वाचक वृत्ति से भिन्न किसी [अनिर्वचनीय] वाक्यार्थ [विषय] की प्रतीयमानता [व्यङ्ग्य रूपता] की रचना की जाती है। [वह विचित्र मार्ग है ॥४०॥]

जहाँ किसी कमनीय वैचित्र्य से परिपोषित और सरस अभिप्राय वाला पदार्थों का स्वभाव वर्णन किया जाता है [वह विचित्र मार्ग है ॥४१॥]

जहाँ वक्रोक्ति का वैचित्र्य [ही] जीवन के समान प्रतीत होता है और जिसके अन्दर किसी अपूर्व अतिशय की अभिधा [कथन उक्ति] स्फुरित होती है [वह विचित्र मार्ग है ॥४३॥]

सुभटों के मनोरथ जैसे खड्गधारा के मार्ग पर चलते हैं इस प्रकार चतुर कवि जिस [मार्ग] से गये हैं [जिस विचित्र मार्ग का अवलम्बन कर विदग्ध सत्कवियों ने अपने काव्यों की रचना की है] वह [मार्ग खड्गधारा के समान] अत्यन्त [कठिन और] दुःसञ्चर [विचित्र मार्ग] है। [उसी को विचित्र मार्ग कहते हैं ॥४२॥]

स विचित्राभिधानः पन्था कीदृक्—'अतिदुःसञ्चरः', यत्रातिदुःखेन सञ्चरते । किं बहुना, 'येन विदग्धकवयः' केचिदेव व्युत्पन्नाः केवलं गताः प्रयाताः तदाश्रयेण, काव्यानि चक्रुरित्यर्थः । कथम्, 'खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः । निस्त्रिंशधाराभार्गेण यथा सुभटानां महावीराणां मनोरथाः संकल्पविशेषाः । तदयमत्राभिप्रायः—यदसिधारामार्गगमने मनोरथानामौचित्यानुसारेण यथारुचि प्रवर्तमानानां मनाङ्मात्रमपि म्लानता न सम्भाव्यते । साक्षात् समरसम्मर्दसमाचरणे पुनः कदाचित् किमपि म्लानत्वमपि सम्भाव्यते । तदनेन मार्गस्य दुर्गमत्वं तत्प्रस्थितानाञ्च विहरणप्रौढ़िः प्रतिपाद्यते ।

कीदृक् स मार्गः, यत्र यस्मिन् शब्दाभिधेययोरभिधानाभिधीयमायोरन्तः स्वरूपानुप्रवेशिनी वक्रता भणितिविच्छित्तिः स्फुरतीव प्रस्यन्दमानेव विभाव्यते लक्ष्यते । कदा 'प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये' प्रतिभायाः कविशक्तेः,

---

सुकुमार-मार्ग के निरूपण में ग्रन्थकार ने जैसे पाँच श्लोकों का समुदाय रूप 'कुलक' लिखा था इसी प्रकार इस 'विचित्र-मार्ग' का निरूपण ३४ से ४३ तक दस कारिकाओं के 'कुलक' में किया है । सुकुमारमार्ग की व्याख्या में भी वृत्तिभाग के लिखते समय ग्रन्थकार ने पाठक्रम को छोड़कर अर्थक्रम से ही इस कुलक की व्याख्या की थी । इसी प्रकार इस विचित्र माग की व्याख्या में पाठक्रम को छोडकर अर्थक्रम को ही ग्रन्थकार ने अपनाया है । इसलिए इसकी व्याख्या भी नीचे की ओर से अथवा ४३वीं कारिका से ग्रन्थकार प्रारम्भ करते हैं—

४३—वह विचित्र मार्ग किस प्रकार का है । 'अत्यन्त दुर्गम' जिसमें बड़ी कठिनता से चला जा सके । अधिक क्या कहा जाय [केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि] जिस से केवल विदग्ध कवि अर्थात् केवल विरले निपुण कवि ही गये हैं अर्थात् उसके आश्रय से अपने काव्यों की रचना कर सके हैं । कैसा [दुर्गम है अथवा कैसे गये हैं कि] वीरों के मनोरथ जैसे तलवार की धार पर चलते हैं । जैसे महावीर पुरुषों के मनोरथ अर्थात् संकल्पविशेष तलवार के मार्ग से चलते हैं । इसका यह अभिप्राय हुआ कि औचित्य के अनुसार यथारुचि चलने वाले मनोरथों के असिधारा के मार्ग पर चलने से तनिक-सी भी म्लानता की सम्भावना नहीं रहती है । और साक्षात् युद्ध को संघर्ष करने पर तो शायद कभी कुछ म्लानता भी सम्भव हो जाय । इसलिए इस [असिधारा के उदाहरण] से मार्ग की दुर्गमता और उस पर चलने वालों को चलने की प्रौढ़ि का प्रतिपादन किया गया है ॥४३॥

३४—वह मार्ग कैसा है कि-जिसमें वाचक और वाच्य अर्थात् शब्द और अर्थ के स्वरूप के भीतर भरी हुई वक्रता अथवा उक्ति का वैचित्र्य स्फुरित अर्थात् प्रवाहित

अचरमोल्लेखावसरे । तदयमत्र परमार्थः यत् कविप्रयत्ननिरपेक्षयोरेव शब्दार्थयोः स्वाभाविकः कोऽपि वक्रताप्रकारः परिस्फुरन् परिदृश्यते ।

यथा—

कोऽयं भाति प्रकारस्तव पवन पदं लोकपादाहतीनां
तेजस्विव्रातसेव्ये नभसि नयसि यत्पांसुपूरं प्रतिष्ठाम् ।

होती हुई सी प्रतीत होती है । कब—'प्रतिभा के प्रथम बार उद्भेद के अवसर पर' । प्रतिभा अर्थात् कवित्व शक्ति के प्रथम विकास के अवसर पर । इसका अभिप्राय यह हुआ कि कवि के प्रयत्न की अपेक्षा किए बिना [उसकी प्रतिभा के बल से] स्वभावतः शब्द तथा अर्थ में कोई अपूर्व सौन्दर्य चमकता हुआ-सा दिखलाई देता है । जैसे—

[यह सुभाषितावली में सं० १०३२ पर भागवतामृतपाद का श्लोक है । लोगों के पैरों-तले कुचले जाने वाली धूल उड़कर आकाश में व्याप्त हो जाती है और वायु उसको चारो ओर फैला देता है । इसको देखकर अन्योक्ति रूप में कवि वायु को कह रहा है कि]—

हे वायु देव यह आपका कौनसा तरीक़ा है कि लोगों के पैरों से कुचले गये धूलि के समूह को आप उठाकर तेजस्वी [सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि] से सेवित [उनके रहने योग्य स्थान] आकाश में प्रतिष्ठित कर देते हैं । जिस [धूलि] के उठने पर; लोगों की आँखों को जो कष्ट होता है उसे जाने भी दें [उस पर ध्यान न भी दिया जाय] तो भी; इस [तुम्हारे अपने] शरीर में उत्पन्न किए हुए मलिनता रूप दोष को तुम स्वयं ही कैसे सहन कर सकते हो । [अर्थात् वह धूलि और लोगों को कष्ट देती है उसे जान भी दें तो तुम तो उसका उपकार करने वाले हो परन्तु वह स्वयं तुम्हारे शरीर को भी मलिन कर देता है । ऐसे दुष्ट धूलिपुञ्ज को उठाकर आप तेजस्वी देवताओं के बैठने योग्य आकाश में प्रतिष्ठित कर देते हो यह आपका कौन सा तरीक़ा है ।]

यहाँ [इस उदाहरण में] अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार प्रधान रूप से वाक्यार्थ है । [अप्राकरणिक के कथन से जहाँ प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप होता है उसको अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार कहते हैं । मम्मटाचार्य ने उसका लक्षण यह किया है कि

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ।[1]

इस लक्षण के अनुसार इस श्लोक में अप्रस्तुत वायु के वर्णन से नीच जनों का उद्धार करने वाले किसी प्रस्तुत महापुरुष रूप] प्रतीयमान अन्य पदार्थ के [द्योतक के] रूप में [वायु वर्णन के] प्रयुक्त होने से उसमें विचित्र कवि-शक्ति से, समुल्लिखित शब्द तथा अर्थ की रचना के प्रभाव से प्रारम्भ में [श्लोक को पढ़ते] ही

---

१. का. प्र. १०, ६८ ।

यस्मिन्नुत्थाप्यमाने जननयनपथोपद्रवस्तावदास्तां
केनोपायेन सह्यो वपुषि कलुषतादोष एष त्वयैव ॥८६॥

अत्राप्रस्तुतप्रशंसालक्षणोऽलङ्कारः प्राधान्येन वाक्यार्थः । प्रतीयमान-पदार्थान्तरत्वेन प्रयुक्तत्वात् तत्र विचित्रकविशक्तिसमुल्लिखितवक्रशब्दार्थोप-निबन्धमाहात्म्यात् प्रतीयमानमप्यभिधेयतामिव प्रापितम् । प्रक्रम एव प्रतिभा-समानत्वान्न चार्थान्तरप्रतीतिकारित्वेऽपि पदानां श्लेषव्यपदेशः शक्यते कर्तुम् । वाच्यस्य समप्रधानभावेनानवस्थानात । अर्थान्तरप्रतीतिकारित्वञ्च प्रतीय-मानार्थस्फुटत्वावभासनार्थमुपनिबध्यमानमतीवचमत्कारितां प्रतिपद्यते ।

तदेव विचित्रं प्रकारान्तरेण लक्षयति—'अलङ्कारस्येत्यादि' । यत्र यस्मिन् मार्गे 'कवयो निबन्धन्ति' विरचयन्ति अलङ्कारस्य विभूषणस्यालङ्करणान्तरं विभूषणान्तरं, असन्तुष्टाः सन्तः । कथम्—'हारादेर्मणिबन्धवत्', मुक्ताकलाप-प्रभृतेर्यथा पदकादिमणिबन्धं रत्नविशेषविन्यासं वैकटिकाः ।

[प्रतीत हो जाने से], प्रतीयमान [प्रकृत महापुरुष रूप अर्थ] भी मानों वाच्यता को प्राप्त करा दिया गया है । और प्रारम्भ में ही पदों के [अप्राकरणिक वायु के वर्णन से प्राकरणिक पतित पावन महापुरुष रूप] दूसरे अर्थ की प्रतीति करान वाले होने पर भी यहाँ श्लेष [अलङ्कार] नहीं कहा जा सकता है । [उस प्रतीयमान अर्थ के] वाच्य के [साथ] समप्रधान रूप से स्थित न होने से । [अर्थात् श्लेष में प्रतीत होने वाले दोनों अर्थों का समप्राधान्य होना चाहिए । यहाँ दोनों अर्थों का समप्राधान्य नहीं है अपितु प्रतीयमान अर्थ का ही प्राधान्य है] और [पदों का] अर्थान्तर प्रतीतिकारित्व, प्रतीयमान अर्थ के स्पष्ट रूप से बोधन के लिए उपनिबद्ध होकर अत्यन्त चमत्कारयुक्त हो गया है ॥३४॥

३५—उसी विचित्र [मार्ग] का 'अलङ्कारस्य' इत्यादि [३५वीं कारिका में] दूसरे प्रकार के लक्षण करते हैं । जहाँ जिस मार्ग में कवि [एकमात्र अलङ्कार से] असन्तुष्ट होकर एक अलङ्कार अर्थात् विभूषण का दूसरा अलङ्कार अर्थात् विभूषण बनाते अर्थात् रचते हैं । कैसे ? हार आदि [एक आभूषण] में मणियों को जड़ने [रूप दूसरे आभूषण] के समान । जैसे मुक्ता-हार आदि में जौहरी [वैकटिकाः] पदक आदि [रूप से] मणियों का जड़ाव अर्थात् रत्न विशेषों का विन्यास करते हैं । [इस प्रकार एक अलङ्कार में दूसरे अलङ्कार की योजना का उदाहरण] जैसे—

यथा—

हे हेलाजितबोधिसत्व वचसां किं विस्तरैस्तोयधे
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहाय्यकं यन्मरोः ॥९०॥

[यह श्लोक भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय की पुञ्जराज कृत टीका में द्वितीय काण्ड में २४९वीं कारिका के व्याख्यान के अवसर पर उद्धृत किया गया है। काव्य प्रकाश पृ० ६७१, हेमचन्द्र टीका पृ० २८, तथा रुय्यक के अलङ्कारसर्वस्व के पृ० ११३ पर भी यह श्लोक उदाहरण रूप में उद्धृत किया गया है। परन्तु इसके रचयिता का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है।

अनायास बोधिसत्व को भी जीत लेने वाले हे समुद्र [तुम्हारी प्रशंसा में] अधिक क्या कहें [केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि] तुम्हारे समान परोपकार करने का व्रत धारण करने वाला दूसरा [कोई व्यक्ति इस संसार में मिलना सम्भव] नहीं है। क्योंकि प्यासे पथिक जनों को [जल प्रदान करने रूप] उपकार करने में विमुखता के कारण होने वाली बदनामी के भार के उठाने में आप मरुभूमि की सहायता कर रहे हैं।९०।

इसका अभिप्राय यह है कि मरुस्थल में पथिकों को पीने के लिए पानी मिलना अत्यन्त कठिन होता है। इसी के लिए मरुस्थल बदनाम है। समुद्र में यद्यपि पानी भरा हुआ है परन्तु वह भी पीने योग्य नहीं होता है। इसलिए पथिकों को तृष्णा शान्त न कर सकने का जो दोष मरुस्थल पर है वही दोष समुद्र पर भी लागू होता है। इसलिए उसे बदनामी के भार के उठाने में मरुस्थल का सहायक बतलाया है।

इस श्लोक में भी वस्तुतः अप्रस्तुत समुद्र के वर्णन से उस धनिक पुरुष की, जो कि निर्धनों की सहायता, अथवा आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता है, निन्दा की गई है। मरुस्थल या उसके सदृश अन्य निर्धन व्यक्तियों पर तो जल अथवा धन है ही नहीं इसलिए यदि वे पथिक जनों अथवा भिक्षुकों की आवश्यकता की पूर्ति न कर सकें तो कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु जल से भरे हुए समुद्र के समान धन धान्य से परिपूर्ण समृद्ध जन भी यदि याचक जनों की सहायता न करें तो अत्यन्त निन्दा की बात है। इस अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए यह श्लोक लिखा गया है।

१. काव्य प्रकाश पृ० ६७१ पर उद्धृत।

अत्रात्यन्तगर्हणीयचरितं पदार्थान्तरं प्रतीयमानतया चेतसि निधाय तथाविधविलसितः सलिलनिधिर्वाच्यतयोपक्रान्तः। तदेतावदेवालंकृतेरप्रस्तुतप्रशंसायाः स्वरूपम्। गर्हणीयप्रतीयमानपदार्थान्तरपर्यवसानमपि वाक्यं वस्तुन्युपक्रमरमणीयतयोपनिबध्यमानं तद्विदाह्लादकारितामायाति । तदेतद् व्याजस्तुतिप्रतिरूपकप्रायमलङ्करणान्तरमप्रस्तुतप्रशंसाया भूषणत्वेनोपात्तम् । न चात्र सङ्करालङ्कारव्यवहारो भवितुमर्हति, पृथगतिपरिस्फुटत्वेनावभासनात्। न चापि संसृष्टिसम्भवः समप्रधानभावेनानवस्थितेः। न च द्वयोरपि वाच्यालङ्कारत्वं, विभिन्नविषयत्वात् ।

यहाँ [इस श्लोक में] अत्यन्त निन्दनीय चरित्र वाले [कृपण धनिक रूप] पदार्थान्तर को मन में रखकर उसी प्रकार का [जल रहते भी प्यासों के लिए व्यर्थ] समुद्र [वाच्यतया] वर्णनीय रूप से लिया गया है। इतना ही अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार का स्वरूप है । प्रतीयमान निन्दनीय [कृपण धनिक रूप] दूसरे पदार्थ [के बोधन] में समाप्त होने वाला वाक्य भी, उस विषय में [वस्तुनि] प्रारम्भ में ही [अत्यन्त] रमणीय रूप से विरचित होकर सहृदयों के आह्लादकारित्व को प्राप्त हो गया है। इस प्रकार वह व्याजस्तुति जैसा [प्रतिरूपक-प्राय] दूसरा अलङ्कार अप्रस्तुत प्रशंसा [रूप प्रथम अलङ्कार] के आभूषण के रूप में [कवि के द्वारा] ग्रहण किया गया है। [इस प्रकार यहाँ व्याजस्तुति तथा अप्रस्तुत प्रशंसा रूप दो अलङ्कार होने पर भी उनकी सङ्कर अथवा संसृष्टि अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि सङ्करालङ्कार तो अङ्गाङ्गिभाव, अथवा एकाश्रयानुप्रवेश अथवा सन्देह रूप तीन प्रकार का होता है। यहाँ इन तीनों में से कोई बात नहीं है। और संसृष्टि में दोनों अलङ्कार निरपेक्षतया समप्रधान रूप से स्थित होते हैं । यहाँ दोनों अलङ्कारों का 'समप्राधान्य' भी नहीं है इसलिए यहाँ दो अलङ्कार होते हुए भी उसको सङ्करालङ्कार या संसृष्टि का उदाहरण नहीं कहा जा सकता है । यह बात कहते हैं] [अप्रस्तुत प्रशंसा तथा व्याजस्तुति के] अलग-अलग अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतीत होने से यहाँ सङ्कर अलङ्कार का व्यवहार भी नहीं किया जा सकता है और [अप्रस्तुत प्रशंसा तथा व्याजस्तुति दोनों अलङ्कारों के] तुल्य प्राधान्य रूप से न रहने के कारण [उनकी] संसृष्टि भी नहीं हो सकती है । और न दोनों वाच्य अलङ्कार हैं। भिन्न विषय [अर्थात् एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान] होने से [दोनों को वाच्य नहीं कहा जा सकता है। और न उनको सङ्कर या संसृष्टि रूप माना जा सकता है । इसलिए यहाँ व्याजस्तुति, अप्रस्तुत प्रशंसा के, अलङ्कार-रूप में ही प्रयुक्त हुई है अतएव हारादि में रत्नों के जड़ने के समान अलङ्कार में दूसरे अलङ्कार के सन्निवेश का यह उदाहरण है। और विचित्र मार्ग का प्रदर्शक है]।

यथा वा—

नामाप्यन्यतरोर्निमीलितमभूत् तत्तावदुन्मीलितं
प्रस्थाने स्खलतः स्ववर्त्मनि विधेरन्यद् गृहीतः करः ।
लोकश्चायमदृष्टदर्शनकृताद्[1] *दृग्वैशसादुद्धृतो*
युक्तं काष्ठिक लूनवान् यदसि तामाम्रालिमाकालिकीम् ॥९१॥

अत्रायमेव न्यायोऽनुसन्धेयः । यथा च—

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
लीलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः ।

अथवा जैसे [इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण देते हैं]—

यह श्लोक भल्लटशतक का ८६वाँ श्लोक है । सुभाषितावली में १०१७ संख्या पर भी उद्धृत हुआ है । किसी लकड़हारे द्वारा बिना फ़सल के, अकाल में फलने वाले आमों की पंक्ति के काटे जाने की प्रशंसा द्वारा, अनायास समृद्ध हो जाने वाले व्यक्तियों के धनादि का अपहरण करने वाले राजा आदि की प्रशंसा की गई है । श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

[इस आकालिक बिना फ़सल के फलने वाली आम्र पंक्ति के कारण] अन्य वृक्षों का नाम भी लुप्त-सा हो चला था [आम्र पंक्ति को काटकर] उसका उद्धार किया । विधि अर्थात् ब्रह्मा अपने मार्ग से चलते हुए [अकाल में आमों के फलने से] जो [स्खलित पतित या] पथभ्रष्ट हो रहा था उसका हाथ पकड़कर सहारा दिया यह दूसरा लाभ हुआ । और संसार को [असमय में] न देखे गए [पदार्थ] के देखने से होने वाले नेत्रों के कष्ट से बचा लिया । इसलिए हे लकड़हारे तुमने जो आकालिक [असमय में फलने वाली] आम्र-वृक्षों की पंक्ति को काट डाला सो उचित ही किया है ।९१।

इस उदाहरण में भी [इससे पहले के 'हे हेलाजितबोधिसत्व' इत्यादि श्लोक में कही गई] इसी युक्ति का अवलम्बन करना चाहिए । [अर्थात् इसमें अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार के विभूषण रूप में व्याजस्तुति अलङ्कार का उपादान कवि ने किया है । और उन दोनों में सङ्कर अथवा संसृष्टि अलङ्कार नहीं माना जा सकता है] ।

और जैसे [इसी का तीसरा उदाहरण]—

यह पद्य सुभाषितावली १४७१ में 'बन्धु' नामक किसी कवि का बतलाया गया है । 'बन्धोः' पद से सम्भवतः सुबन्धु कवि का ग्रहण अभिप्रेत होगा । रुय्यक के 'अलङ्कार सर्वस्व' में पृ० ४३ पर भी उद्धृत हुआ है ।

यह [नायिका] क्या नव-यौवन रूप वृक्ष की रस-बाहुल्य से [परिपूर्ण अत्यन्त रसमयी] खिली हुई नवीन लता है, अथवा मर्यादा का अतिक्रमण करने

---

१. पूर्व संस्करण में कृता पाठ है । परन्तु पञ्चम्यन्त पाठ होना चाहिए ।

उद्दामोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥६२॥[१]

अत्र रूपकलक्षणो योऽयं वाक्यालङ्कारः, तस्य सन्देहोक्तिरियं छायान्तरातिशयोत्पादनायोपनिबद्धा चेतनचमत्कारितामावहति । शिष्टं पूर्वोदाहरणद्वयोक्तमनुसर्तव्यम् ।

अन्यच्च कीदृक्—'रत्नेत्यादि युगलकम् । यत्र यस्मिन्नलङ्कारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना स्वजीवितेन भासमानैर्भूषायै परिकल्प्यते शोभायै भूष्यते । कथम्—'यथा भूषणैः कङ्कणादिभिः'। कीदृशैः, 'रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैः' मणिमयूखोल्लासभ्राजिष्णुभिः । किं कृत्वा 'कान्ताशरीरमाच्छाद्य' कामिनीवपुः स्वप्रभाप्रसरतिरोहितं विधाय, भूषायै, कल्प्यते । तद्वदेवालङ्कारणैरुपमादिभिर्यत्र कल्प्यते ।

वाले सौन्दर्यसागर की लहर है, अथवा अत्यन्त उत्कण्ठित होने वाले प्रेमियों को अपने सिद्धान्तों [कामशास्त्र के व्यवहारों] का शिक्षा देने में तत्पर [शृङ्गार रस के अधिष्ठाता] कामदेव की उपदेश यष्टि [शिक्षा देने वाली जादू की छड़ी] है ।६२।

[इसमें कामिनी नायिका के ऊपर वल्लरी, लहरिका, उपदेशयष्टि आदि का आरोप होने से] यहाँ जो यह रूपक नामक अलङ्कार है उसके सौन्दर्यातिशय के उत्पादन के लिए उपनिबद्ध यह सन्देहोक्ति [सन्देहालङ्कार] सहृदयों के लिए अत्यन्त चमत्कारजनक प्रतीत हो रही है । पूर्वोक्त दोनों उदाहरणों में कही गई शेष बात यहाँ भी समझ लेनी चाहिए । [अर्थात् दो अलङ्कारों के होने पर भी सङ्कर अथवा संसृष्टि अलङ्कार यहाँ नहीं है । और न दोनों वाच्यालङ्कार मात्र हैं । इसलिए यहाँ भी हारादि में मणियों के प्रयोग के समान एक अलङ्कार के विभूषण रूप में दूसरे अलङ्कार का प्रयोग है] ।

[कारिका ३६, ३७]-और कैसा-यह रत्नेत्यादि दो श्लोकों [३६-३७वीं कारिका] में कहते हैं । जहाँ जिस [मार्ग] में अपने स्वरूप में प्रकाशमान अर्थात् अपने स्वरूप से प्रतीत होने वाले अलङ्कार के द्वारा भूषित करने के लिए [काव्य की] रचना की जाती है । अर्थात् शोभा के लिए [रचना] अलंकृत की जाती हैं । कैसे कि जैसे—'कङ्कण आदि भूषणों से' । कैसे [भूषणों से]- रत्नों की रश्मियों की छटा से चमकते हुए' अर्थात् मणियों की किरणों के निकलने से देदीप्यमान [कङ्कण आदि आभूषणों] से । क्या करके-' कान्ता के शरीर को ढँककर', अपनी कान्ति के प्रसार से कामिनी के शरीर को ढककर जैसे [आभूषण उस कामिनी के शरीर को] विभूषित करते हैं उसी प्रकार उपमादि अलङ्कारों से जहाँ [जिस मार्ग में काव्य की शोभा] की जाती है [उसको विचित्र मार्ग कहते हैं] । उन [उपमादि] की । शोभा के लिए रचना यह

---

१. सुभाषितावली १४७१ ।

एतच्चैतेषां भूषायै कल्पनं यदेतैः स्वशोभातिशयान्तःस्थं निजकान्तिकमनीयान्तर्गतमलङ्कार्यमलङ्करणीयं प्रकाश्यते द्योत्यते। तदिदमत्र तात्पर्यम्—तदलङ्कारमहिमैव तथाविधोऽत्र भ्राजते, तस्यात्यन्तोद्रिक्तवृत्तेः स्वशोभातिशयान्तर्गतमलङ्कार्यं प्रकाश्यते।

यथा—

आर्यस्याजिमहोत्सवव्यतिकरे नासंविभक्तोऽत्र वः
कश्चित् क्वाप्यवशिष्यते त्यजत रे नक्तञ्चराः सम्भ्रमम्।
भूयिष्ठेष्वपि का भवत्सु गणनात्यर्थं कियुत्ताम्यते
तस्योदारभुजोष्मणोऽनवसिता नाचारसम्पत्तयः ॥९३॥

[कहलाती] है कि अपनी शोभातिशय के भीतर अर्थात् अपनी कान्ति की कमनीयता के अन्तर्गत अलङ्कार्य अर्थात् मुख्य [अलङ्करणीय], अर्थ प्रकाशित अर्थात् [शोभातिशय से] द्योतित होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उस [वाच्य] अलङ्कार का इस प्रकार का प्रभाव दिखलाई देता है कि [अलंकृत किये जाने योग्य] अलङ्कार्य [अर्थ] अत्यन्त तीव्र वृत्ति वाले उस अलङ्कार के शोभातिशय के अन्तर्गत [तिरोहित हुआ-सा] प्रकाशित होता है।

जैसे [‘लङ्का-युद्ध’ के समय राक्षसों का सम्बोधन करके लक्ष्मण कह रहे हैं कि]—

हे राक्षसो घबड़ाओ नहीं, आर्य [रामचन्द्र] के [इस] संग्राम रूप महोत्सव में तुम में से कोई कहीं ऐसा नहीं बचेगा जिसे उसका भाग प्राप्त न हो। [तुम शायद यह समझते हो कि हम तो बहुत बड़ी संख्या में हैं इसलिए राम हमारा क्या कर सकेंगे? सो बात नहीं है] बहुत होने पर भी [रामचन्द्रजी के सामने] तुम्हारी क्या गिनती है इसलिए [व्यर्थ] अधिक उछल-कूद क्यों कर रहे हो। भुजाओं की उदार उष्णता से युक्त उन [राम] का न आचार समाप्त हुआ है [कि तुमको तुम्हारा भाग देने की शिष्टता न दिखलावें] और न सम्पत्ति समाप्त हुई है [कि तुम्हारा भाग तुमको न दें। तुम्हारा भाग तुमको न मिल सके इसके दो ही कारण हो सकते थे या तो रामचन्द्र जी में इतना आचार अर्थात् शिष्टता न होती कि आपका ध्यान रखते अथवा कृपणता आदि के कारण सम्पत्ति के न होने से आपका भाग देने की इच्छा होते हुए भी न दे सकते। इनमें से दोनों ही बातें नहीं हैं। इसलिए आप लोग घबड़ावें नहीं। आर्य रामचन्द्रजी के रचाए हुए इस युद्ध रूप महोत्सव में आप सबका भाग आपको अवश्य मिलेगा। अर्थात् आप चाहे कितनी ही बड़ी संख्या में हों आप सबकी खबर ली जायगी। एक भी बचने नहीं पावेगा] ।९३।

अत्राजेर्महोत्सवव्यतिकरत्वेन तथाविधं रूपणं विहितं यत्रालङ्कार्यं 'आर्यः स्वशौर्येण युष्मान् सर्वानेव मारयति' इत्यलङ्कारशोभातिशयान्तर्गतत्वेन भ्राजते। तथा च कश्चित् सामान्योऽपि क्वापि दवीयस्यपि देशे नासंविभक्तो युष्माकमवशिष्यते । तस्मात् समरमहोत्सवसंविभागलम्पटतया प्रत्येकं यूयं सम्भ्रमं त्यजत । गणनया वयं भूयिष्ठा इत्यशक्यानुष्ठानतां यदि मन्यध्वे तदप्ययुक्तम् । यस्मादसंख्यसंविभागाशक्यता कदाचिदसम्पत्या कार्पण्येन वा सम्भाव्यते । तदेतदुभयमपि नास्तीत्युक्तम्—'तस्योदारभुजोष्मणोऽनवसिता नाचारसम्पत्तयः' इति ।

यथा च—

कतमः प्रविजृम्भितविरहव्यथः
शून्यतां नीतो देशः ॥६४॥[1] इति ।

यहाँ [इस उदाहरण में] युद्ध को महोत्सव बनाकर इस प्रकार का रूपक बाँधा है कि जिसमें अलङ्कार्य 'आर्य [रामचन्द्र जी] अपने पराक्रम से तुम सब राक्षसों को मार डालेंगे' यह [व्यङ्ग्य अर्थ] अलङ्कार [रूपक] के शोभा के अतिशय के अन्तर्गत [दबा हुआ-सा] प्रतीत होता है । जैसे कि तुम [राक्षसों] में से कोई साधारण-सा भी कहीं दूर देश में [होने पर] भी [अपना उचित] भाग पाये बिना नहीं बचेगा । इसलिए युद्ध रूप महोत्सव के भाग पाने के लिए लालची से [तुम जो घबड़ा रहे हो सो उस] घबराहट को तुम सब छोड़ [ही] दो । हम गणना में बहुत अधिक हैं इसलिए [हम सबको भाग देने का] अनुष्ठान असम्भव है यदि ऐसा समझते हो तो वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि असंख्य [व्यक्तियों] को भाग देने की असक्यता [असम्भवता दो ही कारणों से हो सकती है] या तो सम्पत्ति [शक्ति] के अभाव से अथवा [आचारहीनता अशिष्टतारूप] अनुदारता [कृपणता] से ही हो सकती है । ये दोनों ही बातें नहीं हैं । यह, 'उनकी उदार भुजाओं की गर्मी से युक्त उन [राम] का न आचार [शिष्टता उदारता] समाप्त हुआ है और न सम्पत्ति [शक्ति] समाप्त हुई है' इस [पंक्ति] के द्वारा कह दी है ।

और जैसे [इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण]—

[आपने] कौन सा देश विरह-व्यथा युक्त और शून्य कर दिया है ? ।६४।

---

१. हर्षचरित, १ पं० ४०—४१

यथा च—

कानि च पुण्यभाञ्जि
भजन्त्यभिख्यामक्षराणि ॥६५॥[1] इति ।

अत्र 'कस्मादागताः स्थ', किञ्चास्य नाम इत्यलङ्कार्यमप्रस्तुतप्रशंसा-लक्षणालङ्कारच्छायाच्छुरितत्वेनैतदीयशोभान्तर्गतत्वेन सहृदयहृदयाह्लादकारितां प्रापितम् । एतच्च व्याजस्तुतिपर्यायोक्तप्रभृतीनां भूयसा विभाव्यते ।

ननु च रूपकादीनां स्वलक्षणावसर एव स्वरूपं निर्णेष्यते, तत्किं प्रयोजन-मेतेषामिहोदाहरणस्य ?

सत्यमेतत्, किन्त्वेतदेव विचित्रस्य वैचित्र्यं नाम यदलौ-किकच्छायातिशययोगित्वेन भूषणोपनिबन्धः काममपि वाक्यवक्रतामुन्मीलयति ।

और जैसे [हर्षचरित के उसी प्रसङ्ग में]—

कौन से पुण्यशाली अक्षर [आपके] नाम की सेवा करते हैं ? ।६५।

यहां [इन उदाहरणों में पहिले का अभिप्राय यह है कि आप] 'कहाँ से आए हैं'? और [दूसरे का अभिप्राय यह है कि] 'इसका क्या नाम है' यह अलङ्कार्य [अर्थ] अप्रस्तुत प्रशंसा रूप अलङ्कार के सौन्दर्य से आच्छादित-सा उसकी शोभा के अन्तर्गत-सा [होकर] सहृदयों के हृदय के आह्लादकारित्व को प्राप्त हो रहा है। यह बात व्याजस्तुति तथा पर्यायोक्त आदि [अलङ्कारों] में बहुधा पाई जाती है। [अर्थात् व्याजस्तुति, पर्यायोक्त आदि अलङ्कारों में प्रतिपाद्य मुख्य अर्थ बहुधा उन अलङ्कारों की शोभा के अतिशय के अन्तर्गत तिरोहित-सा प्रतीत होता है] ।

[प्रश्न] रूपक [अप्रस्तुत प्रशंसा] आदि [अलङ्कारों] के अपने लक्षणों के अवसर पर ही उनके स्वरूप का निर्णय आगे किया जायगा तो यहाँ उनके उदाहरण देने का क्या प्रयोजन है [विना अवसर के उनके उदाहरण क्यों दे रहे हैं] ?

[उत्तर] यह ठीक है [कि रूपकादि के स्वरूप-निरूपण के अवसर पर ही उनके उदाहरण आदि आगे यथास्थान दिये जावें] किन्तु विचित्र [मार्ग] की यह ही विचित्रता है कि [उसमें] अलौकिक सौन्दर्यातिशय से युक्त अलङ्कारों की रचना वाक्य की कुछ अपूर्व-सी वक्रता को प्रकट करती है। [उसी को दिखलाने के लिए यहाँ रूपकादि के उदाहरण प्रसङ्गतः दे दिए हैं। उनका मुख्य रूप से वर्णन तो आगे ही यथास्थान दिया जायगा] ॥३७॥

---

१ हर्षचरित, १ पं० ४०-४१ ।

विचित्रमेव रूपान्तरेण लक्षयति—यदपीत्यादि । यदपि वस्तु वाच्यमनूतनोल्लेखमनभिनवत्वेनोल्लिखितं तदपि यत्र यस्मिन्नलं कामपि काष्ठां नीयते लोकोत्तरातिशयकोटिमध्यारोप्यते । कथम्—'उक्तिवैचित्र्यमात्रेण', भणितिवैदग्ध्येनैवेत्यर्थः । यथा—

अण्णं लडहत्तणअं अण च्चिअ काइ वत्तणच्छाया ।
सामा सामण्णपआवइणो रेह च्चिअ ण होइ ॥६६॥[1]
[अन्यल्लटभत्वमन्यैव कापि वर्तनच्छाया ।
श्यामा सामन्यप्रजापते रेखैव च न भवति ॥ इतिच्छाया ।]

[कारिका ३८]-विचित्र [मार्ग] को ही दूसरे प्रकार से 'यदपि' इत्यादि [३८वीं कारिका] से दिखलाते हैं । जो भी बासी [अन्य कवियों द्वारा पूर्व वर्णित] वस्तु; अर्थात् वाच्यार्थ, पुराने रूप से वर्णन किया गया है वह भी जहाँ जिस मार्ग में किसी [अनिर्वचनीय सौन्दर्य की] सीमा को पहुँचा दिया जाता है अर्थात् लोकोत्तर [सौन्दर्य की] चरम सीमा पर स्थापित कर दिया जाता है । कैसे कि—'केवल उक्ति की विचित्रता मात्र से' अर्थात् वर्णन-शैली के चातुर्य से । जैसे [गाथासप्तशती की ६६९वीं गाथा । यह गाथा काव्यप्रकाश पृ० ६३० तथा अलङ्कारसर्वस्व पृ० ६७ पर भी उद्धृत हुई है । मूल गाथा प्राकृत भाषा में है । उसकी संस्कृत छाया ऊपर दे दी है । अर्थ इस प्रकार है]—

उसकी सुकुमारता कुछ और ही है और उसके शरीर का सौन्दर्य भी कुछ अपूर्व [लोकोत्तर] ही है । जान पड़ता है कि वह श्यामा [सुन्दरी विशेष] सामान्य [रूप से प्रसिद्ध सृष्टि का निर्माण करने वाले] प्रजापति [ब्रह्मा] की रचना [रेखा] ही नहीं है । [अर्थात् सामान्य सृष्टि की रचना करने वाला प्रजापति ब्रह्मा इतनी अलौकिक लावण्यवती सुन्दरी की रचना नहीं कर सकता है । उसकी रचना किसी और ने ही की होगी] ।६६।

इस गाथा में 'लडहत्तणअं' 'वत्तनच्छाआ' और 'श्यामा' ये तीन शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं । वक्रोक्तिजीवित में सम्पादक महोदय ने पहिले पद की संस्कृत छाया 'अन्यल्लटभत्वं' यह दी है । काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने 'लटभत्वं' के स्थान पर 'अन्यत्सौकुमार्यं' यह संस्कृत छाया दी है । उनका कहना है कि प्राकृत भाषा में 'सुकुमार' शब्द के स्थान पर 'लडह' आदेश हो जाता है । इसलिए उसकी संस्कृत छाया 'सौकुमार्यं' ही रखनी चाहिए । 'लटभत्वं' नहीं । क्योंकि 'लटभत्वं' शब्द संस्कृत का नहीं है । यह 'सुधासागरकार' का मत है । काव्यप्रकाश की दूसरी टीका 'चन्द्रिका' के निर्माता का मत यह है कि 'लडहत्तणअ' यह 'सौकुमार्य' के अर्थ में

१. गाथासप्तशती सं० ६६९ ।

यथा वा—

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो[1] नर्मदायाः ।
किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः ॥६७॥[2]

भणितिवैचित्र्यमात्रमेवात्र काव्यार्थः । न तु नूतनोल्लेखशालि वाच्यविजृम्भितम् । एतच्च भणितिवैचित्र्यं सहस्रप्रकारं सम्भवतीति स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् ॥३८॥

'देश्य' शब्द का प्रयोग किया गया है । हर अवस्था में उसका अर्थ सौकुमार्य ही होगा । दूसरा शब्द 'वर्तनच्छाया' है । इसमें वर्तन शब्द की व्युत्पत्ति 'वर्तते जीवतीति वर्तनं' यह मानकर 'वर्तन' शब्द 'शरीर' का बाचक माना गया है । तीसरा 'श्यामा' शब्द भी ध्यान देने योग्य है । जिसका स्पर्श शीतकाल में उष्ण और उष्ण काल में शीत प्रतीत हो इस प्रकार की समस्त सुन्दर अवयवों वाली षोडशवर्षदेशीया सुन्दरी के लिए 'श्यामा' शब्द का प्रयोग होता है । उसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला ।
सर्वावयवशोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्तिता ॥

अथवा जैसे [इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण । यह काव्य प्रकाश में पृ० ७६ पर उद्धृत हुआ है]—

हे तन्वि, हरी-हरी केलों की पंक्ति से अत्यन्त मनोहर लगने वाला, [एकान्त और कुसुमादि से सुवासित] कुञ्जों के उत्कर्ष के द्वारा रमणियों के हाव-भावों को अंकुरित कर देने वाला यह नर्मदा नदी [के किनारे] का ऊँचा प्रदेश है । और इसमें सुरत [सम्भोग] के [समय शीतल हवा के कारण] सहायक वे [शीतल, मन्द, सुगन्ध] वायु बह रही है जिनके आगे आगे बिना अवसर के भी क्रोध करता हुआ कामदेव चल रहा है ।६७।

यहाँ [इस उदाहरण में] कथन-शैली की विचित्रता ही मुख्य वाक्यार्थ है । न कि कोई नया [अभिनव उल्लेख वाला] वाच्य अर्थ का वैचित्र्य । यह वर्णन शैली की विचित्रता सहस्रों प्रकार की हो सकती है । [उसका वर्णन कर सकना सम्भव नहीं है । इसलिए पाठक] उसे स्वयं समझ लें ॥३८॥

---

१. प्रथम संस्करण में 'रमणी विभ्रमों' के स्थान पर 'हरिणी विभ्रमो' पाठ दिया है । परन्तु वह ठीक नहीं है ।

२. काव्य प्रकाश पृ० ६७१, पुञ्जराजकृत वाक्यपदीय की टीका २,२४९ ।

पुनर्वैचित्र्यमेव प्रकारान्तरेण लक्षयति-यत्रान्यथेत्यादि । यत्र यस्मिन्नन्यथाभवदन्येन प्रकारेण सत् सर्वमेव पदार्थजातं अन्यथैव प्रकारान्तरेण भाव्यते। कथम्-'यथारुचि' । स्वप्रतिभानुरूपेणोत्पद्यते। केन-प्रतिभोल्लेखमहत्वेन महाकवेः प्रतिभासोन्मेषातिशयत्वेन सत्कवेः । यत्किल वर्ण्यमानस्य वस्तुनः प्रस्तावसमुचितं किमपि सहृदयहृदयहारि रूपान्तरं निर्मिमीते कविः।

यथा—

तापः स्वात्मनि संश्रितद्रुमलताशोषोऽध्वगैर्वर्जनं
सख्यं दुःशमया तृषा तव मरो कोऽसावनर्थो न यः।

[कारिका ३९]-फिर [उस] विचित्र [मार्ग] को ही दूसरे प्रकार से 'यत्रान्यथा' इत्यादि [३९वीं कारिका] में वर्णन करते हैं । जहाँ जिस [मार्ग] में अन्यथा होता हुआ अर्थात् अन्य [साधारण] प्रकार से विद्यमान सब ही पदार्थ अन्यथा अर्थात् दूसरे प्रकार के [अलौकिक चमत्कार-युक्त] हो जाते हैं। कैसे कि [कवि की] अपनी रुचि के अनुसार । अपनी प्रतिभा के अनुरूप बन जाते हैं। किस [कारण] से कि—महाकवि की प्रतिभा के प्रयोग के प्रभाव से अर्थात् उत्तम कवियों के विशेष अनुभव से। क्योंकि कवि वर्ण्यमान वस्तु का, विषय के अनुरूप सहृदयों के हृदय को हरण करने वाला कुछ अपूर्व अलौकिक स्वरूप बना देता है । जैसे—

यहाँ दो बार 'प्रतिभास' शब्द का प्रयोग मूल में किया गया है । उसके स्थान पर 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त होता । 'प्रतिभा' और 'प्रतिभास' शब्द के प्रयोग से यहाँ चमत्कार में बहुत अन्तर हो जाता है । मूल कारिका में 'प्रतिभा' शब्द ही प्रयोग है इसलिए यहाँ व्याख्या में भी उसी 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग न करके जानबूझ कर 'प्रतिभास' पद का प्रयोग वृत्तिकार ने किया है । परन्तु वस्तुतः 'प्रतिभा' शब्द के मुकाबले में 'प्रतिभास' शब्द बहुत हलका पड़ जाता है अतः उसका प्रयोग उचित नहीं प्रतीत है ।

[यह श्लोक सुभाषितावली में ९४८ संख्या पर 'ईश्वर' के पुत्र 'लोटक' के नाम से दिया गया है। उसका अर्थ इस प्रकार है] हे मरुभूमे, [तुम्हारे] अपने शरीर के भीतर ताप हो रहा है, तुम्हारे आश्रित रहने वाले वृक्ष और लता सूख रही हैं, पथिक लोग तुमसे बचना चाहते हैं [तुम्हारा परित्याग करते हैं] बड़ी कठिनाई से शान्त हो सकने वाली प्यास के साथ तुम्हारी मित्रता है, इसलिए ऐसा कौन सा अनर्थ है

एकोऽर्थस्तु महानयं जललवस्वाम्यस्मयोद्गर्जिनः
सन्नह्यन्ति न यत् तवोपकृतये धाराधराः प्राकृताः ॥९८॥[1]

यथा वा—

विशति यदि नो कञ्चित् कालं किलाम्बुनिधि विधेः
कृतिषु सकलास्वेको लोके प्रकाशकतां गतः ।
कथमितरथा धाम्नां धाता तमांसि निशाकरं
स्फुरदिदमियत्ताराचक्रं प्रकाशयति स्फुटम् ॥९९॥

अत्र जगद्गर्हितस्य मरोः कविप्रतिभोल्लिखितेन लोकोत्तरौदार्यधुराधि-

---

जो तुम्हारे भीतर नहीं है, [तुम सब अवगुणों की खान हो]। केवल एक ही यह महान् गुण तुम में है कि थोड़ी-सी जल की बूंदों के स्वामी बनकर अभिमान से गर्जन करने वाले मूर्ख मेघ तुम्हारा उपकार करने के लिए तैयार नहीं होते हैं। ९८।

यह श्लोक भी अन्योक्ति रूप है। इसका अभिप्राय यह है कि तनिक से धन को पाकर अभिमानपूर्वक गर्जन-तर्जन करने वाले दुष्ट धनिकों की सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा स्वयं हर प्रकार का कष्ट उठा लेना अपने आश्रित जनों को दुःखित रखना और देखना आदि कहीं अधिक गौरवपूर्ण है। दुष्टों की सहायता से सुखमय जीवन का भोग गौरवास्पद नहीं है। जैसे महाराणा प्रताप ने सब प्रकार के कष्ट उठाकर भी अकबर की आधीनता स्वीकार नहीं की।

अथवा जैसे [इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण है]—

ब्रह्मा की समस्त रचनाओं से जो अकेला संसार का प्रकाश कर रहा है यह [सूर्य] यदि [शान्ति और शक्ति प्राप्त करने के लिए] थोड़ी देर के लिए समुद्र में प्रवेश न करे तो उसके बिना वह तेज को धारण कर अन्धकार [मय जगत्] को, चन्द्रमा को, और इतने [विशाल] तारा-मण्डल को कैसे प्रकाशित कर सके। [अर्थात् लोक नेता को समय-समय पर एकान्त-सेवन द्वारा शक्ति का उपार्जन करते रहना चाहिए। तभी वह ठीक नेतृत्व कर सकता है। इसीलिए गांधी जी सप्ताह में एक दिन मौन धारण करते थे]। ९९।

यहाँ [इन दोनों उदाहरणों में से पहिले उदाहरण में] जगत् में अत्यन्त निन्दित मरुभूमि को कवि ने अपनी प्रतिभा के प्रयोग से लोकोत्तर उदारता के

---

१. सुभाषितावली ९४८।

रोपणेन तादृक् स्वरूपान्तरमुन्मीलितं यत्प्रतीयमानत्वेनोदारचरितस्य कस्यापि सत्स्वप्युचितपरिस्पन्दसुन्दरेषु पदार्थसहस्त्रेषु तदेव व्यपदेशपात्रतामर्हतीति तात्पर्यम् ।

अवयवार्थस्तु—दुःशमयेति 'तृड्' विशेषणेन प्रतीयमानस्य त्रैलोक्यराज्येनाप्यपरितोषः पर्यवस्यति । अध्वगैर्वर्जनमित्यौदार्येऽपि तस्य समुचितविभागासम्भवादर्थिभिर्लज्जमानैरिव स्वयमेवानभिसरणम् । 'संश्रित-द्रुमलताशोष' इति तदाश्रितानां तथाविधेऽपि सङ्कटे तदेकनिष्ठताप्रतिपत्तिः । तस्य च पूर्वोक्तस्वपरिकरपरितोषाक्षमतया तापः स्वात्मनि, न भोगलवलौल्येनेति प्रतिपद्यते । उत्तरार्धेन—तादृशे दुर्विलसितेऽपि परोपकारविषयत्वेन श्लाघा-स्पदत्वमुन्मीलितम् ।

अपरत्रापि विधिविहितसमुचितसमयसम्भवं सलिलनिधिमज्जनं निजो-दयन्यक्कृतनिखिलस्वपरपक्षः प्रजापतिप्रणीतसकलपदार्थप्रकाशनव्रताभ्युपगम-

---

शिखर पर चढ़ाकर, उसका इस प्रकार का अपूर्व-नया स्वरूप प्रकाशित किया है जो प्रतीयमान होकर, किसी भी उदार चरित पुरुष के लिए, यथोचित सौन्दर्य से युक्त सहस्रों पदार्थों के होते हुए भी [केवल एकमात्र] वही कहने योग्य [विशेष गुण प्रतीत] होता है । यह तात्पर्य है ।

भावार्थ [अवयवार्थ] तो इस प्रकार होगा । 'तृषा' के [साथ लगे हुए] 'दुःशमया' इस विशेषण से प्रतीयमान [निर्धन व्यक्ति] का त्रैलोक्य राज्य से भी सन्तोष नहीं हो सकता है यह ध्वनित होता है । 'अध्वग' अर्थात् पथिकों के द्वारा [मरुभूमि के] परित्याग से [प्रतीयमान निर्धन व्यक्ति के] उदार होने पर भी [पर्याप्त धन के अभाव के कारण] उचित बँटवारा सम्भव न होने से [कहीं हमको न मिला इस शङ्का से] लज्जित हुए याचकों का उसके पास स्वयं न जाना प्रतीत होता है । 'आश्रित लताओं और वृक्षों के शोषण' से उस [प्रतीयमान निर्धन] के आश्रितों [पुत्र-पत्नी आदि] के केवल उसी [निर्धन] पर आश्रित होने की सूचना प्राप्त होती है और [तापः स्वात्मनि इस पद से] अपने थोड़े से भोग के लालच से नहीं अपितु पूर्वोक्त [अपने आश्रित पुत्र-पत्नी आदि] अपने परिवार के सन्तुष्ट करने में असमर्थ होने से उसके [अपने] मानसिक दुःख की प्रतीति होती है । [उसी श्लोक के] उत्तरार्ध में ऐसी दुरवस्था में भी [उसके भीतर मन में] परोपकारपरता होने से उसकी प्रशंसनीयता व्यक्त होती है ।

दूसरे श्लोक में भी विधाता के नियम के अनुसार [सायङ्काल के] समय पर होने वाले, [सूर्य के] समुद्र में डूबने [रूप कार्य] को, अपने उदय से स्वपक्ष [अर्थात् प्रकाशमान चन्द्रमा नक्षत्र आदि] और परपक्ष [अर्थात् अन्धकार] दोनों को दबा देने वाला सूर्य, मानों; ब्रह्मा के बनाये समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने के व्रत रूप

निर्वहणाय विवस्वान् स्वयमेव समाचरतीति। अन्यथा कदाचिदपि शशाङ्कतमस्तारादीनामभिव्यक्तिर्मनागपि न सम्भवतीति कविना नूतनत्वेन यदुल्लिखितं तदतीवप्रतीयमानमहत्वव्यक्तिपरत्वेन चमत्कारकारितामापद्यते।

विचित्रमेव प्रकारान्तरेणोन्मीलयति—प्रतीयमानेत्यादि [४०]। यत्र यस्मिन् प्रतीयमानता गम्यमानता काव्यार्थस्य मुख्यतया विवक्षितस्य वस्तुनः कस्यचिदनाख्येयस्य निबध्यते। कया युक्त्या—'वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां' शब्दार्थशक्तिभ्याम्, तदतिरिक्तस्य तदतिरिक्तवृत्तेरन्यस्य व्यङ्ग्यभूतस्याभिव्यक्तिः क्रियते। वृत्तिशब्दोऽत्र शब्दार्थयोस्तत्प्रकाशनसामर्थ्यमभिधत्ते। एष च 'प्रतीमान'—व्यवहारो वाक्यवक्रताव्याख्यानावसरे सुतरां समुन्मील्यते। अनन्तरोक्तमुदाहरणद्वयमत्र योजनीयम्।

स्वीकृत कार्य को पूर्ण करने के लिए [समुद्र-निमज्जन] मानों स्वयं ही करता है। अन्यथा [यदि सूर्य कुछ समय के लिए समुद्र में अस्त न हो तो] चन्द्रमा, अन्धकार और तारा आदि की कभी अभिव्यक्ति ही न हो सके यह जो अभिनव तत्त्व कवि ने यहाँ वर्णन किया है वह प्रतीयमान महत्त्वशाली पुरुष परक होने से अत्यन्त चमत्कारजनक प्रतीत होता है। [अर्थात् थोड़ी देर के लिए कार्यक्षेत्र से हटकर अपने पक्ष के और दूसरे पक्ष के लोगों को सामने आने का अवसर देने वाला महापुरुष यहाँ सूर्य के उदाहरण से प्रतीत होता है। इस रूप में अभिव्यक्त की हुई उसकी स्थिति अत्यन्त चमत्कार जनक प्रतीत होती है] ॥३९॥

[कारिका ४०]-विचित्र [मार्ग] को ही [फिर] दूसरी तरह से दिखलाते हैं। 'प्रतीयमान' इत्यादि [४० कारिका] से। जिस [मार्ग] में काव्यार्थ, अर्थात् मुख्यतया प्रतिपाद्य किसी अनिर्वचनीय पदार्थ की, प्रतीयमानता अर्थात् व्यङ्ग्यता प्रतीत होती है। किस युक्ति से—'वाच्य और वाचक की वृत्ति से' अर्थात् शब्द और अर्थ की शक्ति से अतिरिक्त अर्थात् उनसे भिन्न [व्यञ्जना आदि] में रहने वाले व्यङ्ग्यभूत [अर्थ] की अभिव्यक्ति की जाती है। यहाँ वृत्ति शब्द [का प्रयोग] 'शब्द' और 'अर्थ' में उस [व्यङ्ग्य अर्थ] के प्रकाशन करने की सामर्थ्य को प्रकाशित करता है। यह प्रतीयमान का व्यवहार वाक्य-वक्रता के व्याख्यान के अवसर पर स्वयं प्रकट हो जाता है। अभी कहे हुए ['तापः स्वात्मनि' ९८ और 'विशति यदि नो' ९९] दोनों उदाहरण यहाँ भी जोड़ लेने चाहिएँ। [अर्थात् ये दोनों उदाहरण इसके भी हो सकते हैं]।

यथा वा—

वक्त्रेन्दोर्न हरन्ति वाष्पपयसां धारा मनोज्ञां श्रियं
निःश्वासा न कदर्थयन्ति मधुरां बिम्बाधरस्य द्युतिम् ।
तस्यास्त्वद्विरहे विपक्वलवलीलावण्यसंवादिनी-
च्छाया कापि कपोलयोरनुदिनं तन्व्याः परं पुष्यति ॥१००॥[1]

अत्र त्वद्विरहवैधुर्यसंवरणकदर्थनामनुभवन्त्यास्तस्यास्तथाविधे महति गुरुसङ्कटे वर्तमानायाः, किं बहुना, वाष्पनिःश्वासमोक्षावसरोऽपि न सम्भवति । केवलं परिणतलवलीलावण्यसंवादसुभगा कापि कपोलयोः कान्तिरशक्यसंवरणा प्रतिदिनं परं परिपोषमासादयतीति वाच्यव्यतिरिक्तवृत्ति दूत्युक्तितात्पर्यं प्रतीयते । उक्तप्रकारकान्तिमत्त्वकथनं च कान्तकौतुकोत्कलिकाकारणतां प्रतिपद्यते ।

अथवा जैसे [उसका स्वतन्त्र अन्य उदाहरण । यह श्लोक 'धर्मकीर्ति' का है । कवीन्द्रवचनामृत में सं० २७५ पर और सदुक्तिकर्णामृतम् में सं० १४१ पर वह 'धर्मकीर्ति' के नाम से उद्धृत हुआ है । सुभाषितावली में पृ० ४७ पर भी आया है ।

[तुम्हारे वियोग में, नायिका के] आँसुओं की धारा [भी] उसके मुखचन्द्र की मनोहारिणी कान्ति को नष्ट नहीं करती है । और उसके [उष्ण] निःश्वास [भी] बिम्ब सदृश अधर की मधुर कान्ति को मलिन नहीं करते हैं । [अर्थात् वह न रोती है और न उसासें भरती है किन्तु] तुम्हारे विरह में उसके पके हुए लवली पत्र से मिलती-जुलती कपोलों की [पीली] कान्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है ।१००।

यहाँ तुम्हारे विरह दुःख को छिपाने की कदर्थना के कष्ट को अनुभव करते हुए उतने बड़े भारी सङ्कट में पड़े होने पर भी अधिक क्या कहा जाय, रोने और उसांसें भरने का अवसर भी उसको नहीं मिल पाता है [अर्थात् कहीं दूसरे लोग मेरे रोने या निःश्वासों को देखकर तुम्हारे वियोग से उसका सम्बन्ध न समझ लें इसलिए वह बिचारी जहाँ तक सम्भव होता है ऐसे अवसरों को बचाती ही है ।] परन्तु केवल पके हुए लवली पत्र के समान सुन्दर कपोलों की कुछ अपूर्व-सी कान्ति, जो छिपाई नहीं जा सकती है प्रतिदिन बढ़ती जाती है । [अर्थात् तुम्हारे वियोग में यद्यपि वह रोती या उसासें नहीं भरती है कि कहीं भेद न खुल जाय परन्तु उसके गाल जो प्रतिदिन पीले पड़ते जाते है वह तो छिप नहीं सकते हैं] । यह, वाच्य अर्थ से अतिरिक्त, दूति का तात्पर्य यहाँ [व्यङ्ग्य रूप से] प्रतीत होता है । और उस प्रकार का कान्ति की सत्ता का वर्णन उसके पति के उत्कण्ठातिशय का कारण बनता है । [अर्थात् अपनी प्रियतमा की इस प्रकार की अवस्था को सुन के उसके पति अथवा प्रियतम के मन में उससे मिलने की उत्कट उत्कण्ठा उत्पन्न होने लगती है । यही उसका चमत्कार है] ॥४०॥

---

१ काव्य प्रकाश पृ० ३४२ पर उद्धृत ।

विचित्रमेव स्वरूपान्तरेण प्रतिपादयति—'स्वभाव' इत्यादि [४१]। यत्र यस्मिन् भावानां स्वभावः स्वपरिस्पन्दः सरसाकूतो रसनिर्भराभिप्रायः पदार्थानां निबध्यते निवेश्यते। कीदृशः—'केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः' लोकोत्तरेण हृदयहारिणा वैदग्ध्येनोत्तेजितः। 'भाव' शब्देनात्र सर्वपदार्थोऽभिधीयते। न रत्यादिरेव। उदाहरणम्—

क्रीडासु बालकुसुमायुधसङ्गताया
यत्तत् स्मितं न खलु तत् स्मितमात्रमेव।

आलोक्यते स्मितपटान्तरितं मृगाक्ष्या-
स्तस्याः परिस्फुरदिवापरमेव किञ्चित् ॥१०१॥

अत्र 'न खलु तत् स्मितमात्रमेवेति' प्रथमार्धेऽभिलाषसुभगं सरसाभिप्रायत्वमुक्तम्। अपरार्धे तु हसितांशुकतिरोहितमन्यदेव किमपि परिस्फुरदालोक्यते इति कमनीयवैचित्र्यविच्छित्तिः।

[कारिका ४१]-विचित्र [मार्ग] को ही 'स्वभाव' इत्यादि [४१वीं कारिका में] दूसरे रूप से प्रतिपादन करते हैं। जहाँ 'जिस मार्ग में पदार्थों का स्वभाव अर्थात् अपना स्वरूप, सरस--अभिप्राययुक्त अर्थात् रसमय, रसप्रधान, रूप से वर्णित किया जाता है [काव्य में] समाविष्ट किया जाता है [वह विचित्र मार्ग है]। 'कैसा–'किसी सुन्दर विचित्रता से युक्त' अर्थात् हृदयहारी किसी लोकोत्तर वैदग्ध्य से उत्तेजित। 'भाव' शब्द यहाँ समस्त पदार्थों का बोधक है। केवल रत्यादि का ही नहीं। उदाहरण [जैसे]—

[वयः सन्धि के अवसर पर] नवीन काम विकारों से युक्त [उस] तरुणी का [मुझको देखकर] वह जो मुस्कराना था वह केवल मुस्कराना-मात्र ही नहीं था। उस मुस्कराहट के परदे के पीछे छिपा हुआ उस मृगनयनी का कुछ और ही भाव झलकता हुआ-सा दिखलाई देता था।१०१।

यहाँ पूर्वार्ध में वह केवल मुस्कराहट मात्र नहीं थी इससे [सम्भोग के] अभिलाष से सुन्दर 'सरस' अभिप्राय सूचित होता है। और उत्तरार्ध में तो मुस्कराहट के परदे के पीछे छिपा हुआ कुछ और ही [सम्भोगाभिलाष] झलकता हुआ दिखलाई देता है इस [कथन] से बड़े मनोहर सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हो रही है ॥४१॥

इदानीं विचित्रमेवोपसंहरति—'विचित्रो यत्र' [४२] इत्यादि। एवंविधो विचित्रो मार्गो यत्र यस्मिन् 'वक्रोक्तिवैचित्र्यं' अलङ्कारविचित्रभावो 'जीवितायते' जीवितवदाचरति। वैचित्र्यादेव विचित्रे 'विचित्र' शब्दः प्रवर्तते। तस्मात् तदेव तस्य जीवितम्। किं तद्वैचित्र्यं नाम इत्याह-'परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा'। यस्यान्तः स्वरूपानुप्रवेशेन सा काप्यलौकिकातिशयोक्तिः परिस्फुरति भ्राजते।

यथा—

यत्सेनारजसामुदञ्चति चये द्वाभ्यां दवीयोऽन्तरान्
पाणिभ्यां युगपद्विलोचनपुटानष्टाक्षमो रक्षितुम्।
एकैकं दलमुन्नमय्य गमयन् वासाम्बुजं कोशतां
धाता संवरणाकुलश्चिरमभूत् स्वाध्यायबद्धाननः ॥१०२॥

[कारिका ४२]-अब 'विचित्रो यत्र' इत्यादि [४२वीं कारिका में] विचित्र [मार्ग] का ही उपसंहार करते हैं। इस प्रकार का 'विचित्र मार्ग' है जहाँ अर्थात् जिसमें वक्रोक्ति [अलङ्कार] की विचित्रता, अर्थात् अलङ्कार का चमत्कार जीवन के समान है, अर्थात् प्राण के समान जीवनाधायक है। [इस प्रकार का] वैचित्र्य होने से ही [इस मार्ग के लिए] 'विचित्र' शब्द का प्रयोग होता है। इसलिए वह [वैचित्र्य] ही उस [विचित्र मार्ग] का प्राण स्वरूप है। वह वैचित्र्य क्या पदार्थ है यह कहते हैं। जिसके भीतर वह कुछ अपूर्व अभिधा [अर्थबोधकत्व शक्ति] परिस्फुरित होती है। जिसके भीतर अर्थात् स्वरूपभूत वह कुछ अपूर्व अतिशयोक्ति परिस्फुरित अर्थात् शोभित होती है। जैसे—

[यह श्लोक बालरामायण के सप्तमाङ्क का ६६वां श्लोक है] जिसकी सेना की धूलि समूह के उठने पर [वेदाध्ययन में तत्पर चतुर्मुख ब्रह्मा अपने] दो हाथों से [चारों मुखों में चारों ओर होने के कारण] दूर दूर स्थित आठों आँखों को [उड़ती हुई धूल से] बचाने में असमर्थ होकर [जिस अष्टदल कमल पर वे बैठे थे उसके] एक-एक दल को [एक-एक आँख को ढँकने के लिए] उठाकर अपने बैठने के [अष्टदल] कमल को बन्द करते हुए ब्रह्मा जी बहुत काल तक स्वाध्याय [वेद पाठ] में चुप रहे। [सेना की उड़ती हुई धूल से अपनी आँखों की रक्षा करने के लिए एक-एक कमल दल से एक-एक आँख को ढँककर कमल में बन्द हो जाने से बहुत समय तक चुप बैठे रहे] ॥१०२॥

एवं वैचित्र्यं सम्भावनानुमानप्रवृत्तायाः प्रतीयमानत्वमुत्प्रेक्षायाः । तच्च धाराधिरोहणरमणीयतयाऽतिशयोक्तिपरिस्पन्दस्यन्दि संदृश्यते ॥४३॥

तदेवं वैचित्र्यं व्याख्याय तस्यैव गुणान् व्याचष्टे—

वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते ।
याति यत् त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम् ॥४४॥

अत्रास्मिन् माधुर्यं वैदग्ध्यस्यन्दि वैचित्र्यसमर्पकं पदानां बध्यते वाक्यैकदेशानां निवेश्यते । यत् त्यक्तशैथिल्यमुज्झितकोमलभावं भवद् बन्धबन्धुरताङ्गतां याति सन्निवेशसौन्दर्योपकरणतां गच्छति । यथा—

'किं तारुण्यतरोः' इत्यत्र पूर्वार्द्धे ॥१०३॥

[इस श्लोक में स्तुति किए जाने वाले राजा की विजय-वाहिनी के प्रस्थान से उत्पन्न धूलि-पटल से अपनी आठों आँखों की रक्षा करने के लिए ही मानो चतुर्मुख ब्रह्मा ने अपने कमलासन की आठों पंखुड़ियों को क्रमशः बन्द कर दिया हो] । इस प्रकार की सम्भावना के अनुमान रूप से प्रवृत्त उत्प्रेक्षा की प्रतीयमनाता [व्यङ्ग्यता] रूप ही 'वैचित्र्य' है । और वह [अतिशयोक्ति के कारण ही] रमणीयता के उत्कर्ष के चरम सीमा पर पहुँच जाने से अतिशयोक्ति के प्रवाह से अत्यन्त सुन्दर दिखलाई देता है ।४३।

सुकमार-मार्ग में माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक चार गुणों का वर्णन किया था । वहां उनके लक्षण अन्य प्रकार से किए थे । उन्ही चारों गुणों का विचित्र-मार्गोपयोगी वर्णन आगे करते हैं ।

इस प्रकार 'विचित्र' मार्ग की व्याख्या करके अब उसके गुणों को कहते हैं—

इस [विचित्र मार्ग] में पदों के वैदग्ध्य-प्रदर्शक 'माधुर्य' की रचना की जाती है जो शैथिल्य को छोड़कर [बन्ध] रचना के सौन्दर्य का वर्द्धक होता है ।४४।

यहाँ अर्थात् इस [विचित्र] मार्ग में वैदग्ध्य का प्रदर्शक अर्थात् वैचित्र्य का सम्पादक माधुर्य पदों में अर्थात् वाक्य के एक देश [अवयव रूप पदों] में सन्निविष्ट किया जाता है । जो शैथिल्य अर्थात् कोमल भाव को छोड़कर रचना की सुन्दरता का अङ्ग बनता है । अर्थात् रचना के सौन्दर्य का उपकरण बन जाता है । जैसे—

[उ० सं० ९२ पर पूर्वोदाहृत] 'किं तारुण्यतरोः' इत्यादि के पूर्वार्द्ध में ।१०३।४४।

एवं माधुर्यमभिधाय प्रसादमभिधत्ते—

असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि ।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते ॥४५॥

असमस्तानां समासरहितानां पदानां न्यासो निबन्धः कविवर्त्मनि विपश्चिन्मार्गे यः प्रसिद्धः प्रख्यातः । सोऽप्यस्मिन् विचित्राख्ये प्रसादाभिधानो गुणः किञ्चित् कियन्मात्रं ओजः स्पृशन्, उत्तानतया व्यवस्थितः प्रायो दृश्यते प्राचुर्येण लक्ष्यते । बन्धसौन्दर्यनिबन्धनत्वात् तथाविधस्यौजसः समासवती वृत्तिः 'ओजः' शब्देन चिरन्तनैरुच्यते । तदयमत्र परमार्थः, पूर्वस्मिन् प्रसाद लक्षणे सति ओजः स्पर्शमात्रमिह विधीयते । यथा—

अपाङ्गगततारकाः स्तिमितपक्ष्मपालीभृतः
स्फुरत्सुभगकान्तयः स्मितसमुद्गतिद्योतिताः ।
विलासभरमन्थरास्तरलकल्पितैकभ्रुवो
जयन्ति रमणेऽर्पिताः समदसुन्दरी दृष्टयः ॥१०४॥४५॥

इस प्रकार 'माधुर्य' का कथन करके अब 'प्रसाद' [गुण] को कहते हैं—

समास युक्त पदों से रहित और ओज का तनिक-सा स्पर्श करने वाला कवियों के मार्ग में प्रसिद्ध 'प्रसाद' गुण भी प्रायः इस [विचित्रमार्ग] में देखा जाता है ।४४।

असमस्त अर्थात् समास रहित पदों का न्यास अर्थात् रचना । कविमार्ग में अर्थात् विद्वानों के सिद्धान्त में, मार्ग में, जो प्रसिद्ध अर्थात् प्रख्यात है वह 'प्रसाद' नामक गुण भी तनिक-सा 'ओज' का स्पर्श करता हुआ अर्थात् [ऊपर की ओर] ओज की ओर बढा हुआ जो 'प्रसाद' गुण है वह भी इह विचित्र नामक मार्ग में प्रायः दिखलाई देता है अर्थात् अधिकतर पाया जाता है । [उसके] रचना में सौन्दर्य का उत्पादक होने से ['किञ्चिदोजः स्पृशन्' में प्रसाद को जिस ओज का स्पर्श करने वाला बतलाया है] उस ओज की समास युक्त वृत्ति यहाँ प्राचीन लोगों ने 'ओज' शब्द से कही है । इसका यहाँ यह अभिप्राय हुआ कि [३१वीं कारिका में कहे हुए] पूर्वोक्त प्रसाद गुण के लक्षण के [होने पर ओज अर्थात्] समासवती वृत्ति के संस्पर्शमात्र का यहाँ [विचित्र मार्ग में] विधान किया गया है । [प्रचुर मात्रा में समास के प्रयोग का विधान नहीं है] जैसे—

मदमाती सुन्दरियों की अपने प्रियतम के प्रति समर्पित, नेत्र के किनारे पर स्थित पुतली से युक्त [कटाक्ष रूप], अपलक और सुन्दर कान्ति से सुशोभित, मुस्कराहट के आ जाने से चमकती हुई, हाव-भाव के आधिक्य से मन्थर, और एक ओर की भौंह को चञ्चल करने वाली दृष्टि सर्वोत्कर्ष युक्त है ।१०४।४५।

प्रसादमेव प्रकारान्तरेण प्रकटयति—

गमकानि निबन्ध्यन्ते वाक्ये वाक्यान्तराण्यपि ।

पदानीवात्र कोऽप्येष प्रसादस्यापरः क्रमः ॥४६॥

अत्रास्मिन् विचित्रे यद्वाक्यं पदसमुदायस्तस्मिन् गमकानि समर्पकाण्यन्यानि वाक्यान्तराणि निबध्यन्ते निवेश्यन्ते । कथम्, पदानीव पदवत् परस्परान्वितानीत्यर्थः । एष कोऽप्यपूर्वः प्रसादस्यापरः क्रमः बन्धच्छायाप्रकारः ।

यथा—

'नामाप्यन्यतरोः' इति ॥ १०५ ॥४६॥[1]

प्रसादमभिधाय लावण्यं लक्षयति—

अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम् ।

ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते ॥४७॥

प्रसाद [गुण] को ही दूसरी तरह से दिखलाते हैं—

यहाँ [विचित्र मार्ग में] वाक्य में [परस्पर अन्वित] पदों के समान [परस्पर अन्वित रूप से अन्य सुन्दर व्यङ्ग्य अर्थ] के व्यञ्जक अन्य वाक्य भी ग्रथित किए जाते हैं वह [भी] प्रसाद [गुण] का कोई [अपूर्व सौन्दर्यशाली] दूसरा ही प्रकार है ।४६।

यहाँ इस विचित्र मार्ग में जो वाक्य अर्थात् पद समुदाय है उसमें व्यञ्जक [अलौकिक सौन्दर्य के] समर्पक अन्य वाक्य जोड़ दिए अर्थात् सन्निविष्ट कर दिए जाते हैं । कैसे—पदों के समान, पदों के तुल्य परस्पर अन्वित रूप से यह अभिप्राय है । यह प्रसाद [गुण] का कोई अपूर्व दूसरा क्रम है अर्थात् रचना की दूसरी शैली है । जैसे—

[पूर्वोदाहृत ६१वें उदाहरण] नामाप्यन्यतरोः इत्यादि में ॥१०५॥४६॥

'प्रसाद' को कहकर [विचित्र मार्ग के उपयोगी] 'लावण्य' को कहते हैं—

यहाँ [विचित्र मार्ग में] एक दूसरे से मिले हुए, जिनके अन्त के विसर्गों का लोप नहीं हुआ है और संयोग से पूर्व ह्रस्व [लघु] पदों से 'लावण्य' की वृद्धि हो जाती है । [अर्थात् विचित्र मार्ग में इस प्रकार के पदों का प्रयोग लावण्य के अतिशय का जनक होता है] ।४७।

---

१. उदाहरण सं० ६१ पर उद्धृत ।

अत्रास्मिन्नेवंविधैः पदैर्लावण्यमतिरिच्यते परिपोषं प्राप्नोति । कीदृशैः—परस्परमन्योन्यं प्रोतैः संश्लेषं नीतैः । अन्यच्च कीदृशैः—अलुप्तविसर्गान्तैः, अलुप्तविसर्गाः श्रूयमाणविसर्जनीया अन्ता येषां तानि तथोक्तानि तैः । ह्रस्वैश्च लघुभिः, संयोगेभ्यः पूर्वैः । अतिरिच्यते इति सम्बन्धः । तदिदमत्र तात्पर्यम् पूर्वोक्तलक्षणं लावण्यं विद्यमानमनेनातिरिक्ततां नीयते ।

यथा—

श्वासोत्कम्पतरङ्गिणि स्तनतटे धौताञ्जनश्यामलाः
कीर्यन्ते कणशः कृशाङ्गि किममी वाष्पाम्भसां बिन्दवः ।
किञ्चाकुञ्चितकण्ठरोधकुटिलाः कर्णामृतस्यन्दिनो
हुङ्काराः कलपञ्चमप्रणयिनस्त्रुट्यन्ति निर्यान्ति च ॥१०६॥[1]

यहां इस [विचित्र मार्ग] में इस प्रकार के पदों से लावण्य बढ़ता है अर्थात् परिपुष्ट होता है । कैसे [पदों से] कि, एक दूसरे साथ मिले हुए संश्लेष को प्राप्त हुए । और कैसे [पदों] से कि-अलुप्त विसर्गान्त अर्थात् जिनके अन्त के विसर्ग लुप्त नहीं हुए हैं, अर्थात् श्रूयमाण हैं वह वैसे [अलुप्त विसर्गान्त] हुए, उनसे । और ह्रस्व अर्थात् लघुओं से, संयोग के पूर्ववर्ती [लघु अक्षर वाले पदों] से । [लावण्य] वृद्धि को प्राप्त होता है । यह [श्लोक के पदों का अन्वय रूप] सम्बन्ध है । यहाँ इसका यह तात्पर्य हुआ कि [सुकुमार मार्ग के निरूपण में ३२वीं कारिका में जिस लावण्य गुण का लक्षण किया है वह] पूर्वोक्त लक्षण वाला विद्यमान लावण्य [विचित्र मार्ग में] इस [प्रकार के पदों के योग] से बढ़ जाता है । जैसे—

यह श्लोक कवीन्द्रवचनामृत में सं० ४५० पर दिया गया है । लेखक का पता नहीं है । वक्रोक्तिजीवित में इसके पूर्व उदाहरण संख्या ४६ पर भी इस श्लोक की प्रथम पंक्ति को प्रतीक रूप में उद्धृत किया जा चुका है । उसमें किसी रोती हुई सुन्दरी का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

हे कृशाङ्गि [तुम्हारे] श्वास के से आवेग से हिलते हुए स्तनों के ऊपर [आँखों के] धुले हुए कज्जल [के मिल जाने] से काले आँसुओं की बूंदों के कण क्यों बिखर रहे हैं ? और संकुचित [दबाए हुए] कण्ठ के अवरोध से अस्पष्ट [कुटिल] तथा [कोकिल के] सुन्दर पञ्चम स्वर के समान कानों में अमृत घोलने वाली [हुङ्कार] हिचकियाँ क्यों [बार-बार] निकलती और रुक जाती हैं ॥१०६॥

---

१. कवीन्द्रवचनामृत ४५० ।

यथा वा—

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डुर-
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तत् पल्लीपतिपुत्रि कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रांशुकैर्मा पिधाः ॥१०७॥[1]

इसमें श्यामलाः, करणाशः, बिन्दवः, कुटिलाः, हुङ्कारा: और प्रणयिनः आदि ये अलुप्त विसर्गान्त पद हैं। प्रथम चरण में 'कम्प' में 'म्प' के संयोग के पूर्व 'क' 'तरङ्गित' में 'ङ्ग' के संयोग के पूर्व 'र', 'स्तन' में 'स्त' के संयोग के पूर्व 'णि' तीसरे चरण में 'किञ्च' में 'ञ्च' के संयोग के पूर्व 'कि' तथा कण्ठ' में 'ण्ठ' के संयोग के पूर्व 'क' तथा 'कर्ण' में 'र्ण' के संयोग के पूर्व 'क' इत्यादि संयोग के पूर्व ह्रस्व वर्ण पाए जाते हैं। और 'श्वासोत्कम्पतरङ्गिणि' तथा 'धौताञ्जनश्यामलाः' आदि श्लोक के सारे पद एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसलिए इन सबसे यहाँ 'विचित्र-मार्ग' के 'लावण्य' की अभिवृद्धि हो रही है।

अथवा जैसे—

यह श्लोक सदुक्तिकर्णामृतम् में सं० ३७६ पर बल्लभस्य' नाम से दिया हुआ है। काव्यप्रकाश पृ० २६६ पर भी उद्धृत हुआ है। अर्थ इस प्रकार है—

हे पल्लीपति की पुत्रि [शबरों की छोटी-सी बस्ती पल्ली कहलाती है उसके मुखिया की पुत्रि] तुम्हारा यह [उन्नत होने के कारण स्पष्ट दिखाई देने वाला] थोड़े-थोड़े पके हुए तिन्दुक फल के समान बीच में श्याम वर्ण और चारों ओर पीला स्तन-युगल, शबर युवक के कर मर्दन के योग्य दिखलाई दे रहा है। इसलिए [हे पल्ली-पति पुत्रि] अपने कुम्भस्थल के अभय दान की भिक्षा के लिए दीन होकर हाथियों का समूह तुमसे यह याचना कर रहा है कि अपने इस कुचयुगल को पत्रों से आच्छादित मत करो। [खुला रहने दो। उसके खुले रहने से हमारे कुम्भस्थलों की रक्षा हो सकती है। तुम्हारे-पल्लीपतिपुत्रि के-विशाल स्तनों के खुले रहने के वस्त्रों से हाथियों के कुम्भ की रक्षा कैसे हो सकेगी इसका उपपादन कई प्रकार से किया जा सकता है। पहिला प्रकार यह है कि तुम्हारे स्तनों के समान हमारे कुम्भस्थल हैं इसलिए शायद इस साम्य के कारण शबर युवक दया के कारण कुम्भस्थल का भेदन न करें अथवा उसमें आसक्त होकर हमारे शिकार का उनको कोई ध्यान ही न रहे। आदि] ॥१०७॥

१. सदुक्तिकर्णामृतम् २,३७६ (वल्लभस्य)।

यथा वा—

हंसानां निनदेषु । इति ॥१०८॥४७॥[1]

एवं लावण्यमभिधायाभिजात्यमभिधीयते—

यन्नातिकोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्वहत् ।
आभिजात्यं मनोहारि तदत्र प्रौढिनिर्मितम् ॥४८॥

अत्रास्मिन् आभिजात्यं यन्नातिकोमलच्छायं नात्यन्तमसृणकान्ति नातिकाठिन्यमुद्वहन् नाति कठोरतां धारयत् तत् प्रौढिनिर्मितं सकलकविकौशलसम्पादितं सन्मनोहारि हृदयरञ्जकं भवतीत्यर्थः ।

यथा—

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला
परिमलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली ।
सुतनु कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिकेलीयौवराज्याभिषेकम् ॥१०९॥[2]

अथवा जैसे [इसी प्रकार का तीसरा उदाहरण]—

[उदा० सं० ७३ पर पूर्वोदाहृत] 'हंसानां निनदेषु' । इत्यादि ॥१०८॥४७॥

इस प्रकार लावण्य का कथन करके अब आभिजात्य [गुण] का निरूपण करते हैं—

यहाँ [इस विचित्र मार्ग में] जो न तो अधिक कोमलता की छाया से युक्त हो न अत्यन्त कठिन हो ऐसे प्रौढ़ि-निर्मित [बन्ध के गुण] को आभिजात्य [गुण] कहते हैं ।४८।

यहाँ इस [विचित्र मार्ग] में उसको 'आभिजात्य' [नामक गुण] कहते हैं जो न तो अत्यन्त कोमलच्छाया वाला अर्थात् सुकुमार कान्ति वाला हो और न अत्यन्त कठोरता को धारण करने वाला हो । वह प्रौढ़ि [विदग्धता] से रचा हुआ अर्थात् कवि की समस्त शक्ति से सम्पादित किया हुआ होकर मनोहारी अर्थात् हृदयाह्लादक होता है । यह भावार्थ है । जैसे—

[यह श्लोक काव्य प्रकाश पृ० ३४२ पर भी उद्धृत हुआ है । हथेली पर गाल रख कर अपने प्रियतम की चिन्ता में निमग्न नायिका को देखकर उसकी सखी की उसके प्रति उक्ति है] करतल [हथेली] रूप शैय्या के ऊपर शयन करने वाली [हथेली के साथ] मिलन के कारण पीलेपन से रहित [हथेली की रगड़ से लाल पड़ी हुई] यह कपोलस्थली कहो किस [सौभाग्यशाली] के स्मर रूप नरपति की [चुम्बनादि] लीलाओं के युवराज पद पर अभिषेक को सूचित कर रही है ।१०९।

---

१ उदा० सं० ७३ पर पूर्व उद्धृत । २. काव्यप्रकाश पृ० ३४२ पर उद्धृत ।

एवं सुकुमारविहितानामेव गुणानां विचित्रे कश्चिदतिशयः सम्पाद्यत इति बोद्धव्यम् ।

आभिजात्यप्रभृतयः पूर्वमार्गोदिता गुणाः ।
अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः ॥११०॥

इत्यन्तरश्लोकः ॥४८॥

एवं विचित्रमभिधाय मध्यममुपक्रमते—

वैचित्र्यं सौकुर्यमाञ्च यत्र सङ्कीर्णतां गते ।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी ॥४९॥
माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम् ॥५०॥

इस प्रकार सुकुमार [मार्ग] में कहे हुए [माधुर्य, प्रसाद, आभिजात्य और लावण्य चारों] गुणों का ही विचित्र [मार्ग] में [इस प्रकार के वर्णों के प्रयोग से] कुछ अपूर्व अतिशय सम्पादित हो जाता है यह समझना चाहिए ।

पूर्व [अर्थात् सुकुमार] मार्ग में कहे हुए [१ माधुर्य, २ प्रसाद, ३ लावण्य और ४-] अभिजात्य आदि गुण [ही] आहार्य [अर्थात् कवि की व्युत्पत्ति आदि से उत्पन्न लोकोत्तर चमत्कार रूप] सम्पत्ति को प्राप्त कर अतिशय को प्राप्त हो जाते हैं ।

यह अन्तरश्लोक है ॥४८॥

इस प्रकार विचित्र [मार्ग] का वर्णन करके अब [तीसरे] मध्यम [मार्ग] का प्रतिपादन करते हैं—

जहाँ [जिस मार्ग में] सहज [अर्थात् स्वाभाविक] और आहार्य [अर्थात् कवि की व्युत्पत्ति आदि से जन्य] शोभा के अतिशय से युक्त पूर्वोक्त] विचित्र तथा सुकुमार [दोनों मार्ग] परस्पर मिश्रित [सङ्कीर्ण] होकर शोभित होते हैं । [वह मध्यम मार्ग है] ॥४९॥

जहाँ [जिस मार्ग में] माधुर्य आदि [पूर्वोक्त] गुण समूह [न अति कोमल और न अति कठोर रूप] मध्यम वृत्ति का अवलम्बन कर, रचना के सौन्दर्यातिशय को पुष्ट करता है [उसको मध्यम मार्ग कहते हैं] ॥५०॥

मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः ।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पदः ॥५१॥
अत्रारोचकिनः केचिच्छायावैचित्र्यरञ्जके ।
विदग्धनेपथ्यविधौ भुजङ्गा इव सादराः ॥५२॥

मार्गोऽसौ मध्यमो नाम मध्यमाभिधानोऽसौ पन्थाः । कीदृशः— नानाविधा रुचयः प्रतिभासा येषां ते तथोक्तास्तेषां सुकुमारविचित्रमध्यमव्यसनिनां, सर्वेषामेव मनोहरो हृदयहारी । यस्मिन् स्पर्धया मार्गद्वितयसम्पदः सुकुमार-विचित्रशोभाः साम्येन वर्तन्ते व्यवतिष्ठन्ते न न्यूनातिरिक्तत्वेन । यत्र वैचित्र्यं विचित्रत्वं सौकुमार्यं सुकुमारत्वं सङ्कीर्णतां गते तस्मिन् मिश्रतां प्राप्ते सती

जहाँ [जिस मार्ग में सुकुमार तथा विचित्र] दोनों मार्गों का सौन्दर्य स्पर्धापूर्वक विद्यमान होता है और [नाना] विभिन्न प्रकार की रुचियों वाले सहृदयों के लिए मनोहर होता है [उसको मध्यम मार्ग कहते हैं] ॥५१॥

यहाँ [इस काव्य मार्ग में] सुन्दर वेष-भूषा के रसिक [भुजङ्गा-इव] नागरिकों के समान कोई-कोई सौन्दर्यानुसन्धान के व्यसनी [अरोचकी, सहृदय कवि-विशेष सुकुमार तथा विचित्र द्विविध मार्गों की] छाया के वैचित्र्य से मनोरञ्जक इस [मध्यम मार्ग] में आदरवान् होते हैं ॥५२॥

जैसे रसिक नागरिक जनों को नाना रंग के विचित्र वस्त्रादि की वेष-भूषा के प्रति विशेष आग्रह होता है इसी प्रकार 'अरोचकी' अर्थात् जिनको साधारण वस्तु पसन्द ही नहीं आती है ऐसे सौन्दर्य के विशेष प्रेमी कुछ कविगण अन्य मार्गों की अपेक्षा इस मध्यम मार्ग को अधिक पसन्द करते हैं ।

वह 'मध्यम' नामक मार्ग है अर्थात् उस मार्ग को मध्यम मार्ग कहा जाता है । कैसा कि, जो नाना प्रकार की रुचि [अर्थात् सौन्दर्य विषयक ज्ञान] जिनका है उन सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग के प्रेमी सभी के मन को हरण करने वाला अर्थात् हृदयहारी । जिसमें [सुकुमार तथा विचित्र] दोनों मार्गों की सम्पत्ति अर्थात् सुकुमार और विचित्र शोभा, समान रूप से स्थित होती है । [किसी भी मार्ग की शोभा उसमें] न कम और न अधिक होती है । जहाँ [जिस मार्ग में] वैचित्र्य अर्थात् विचित्रता और सौकुमार्य अर्थात् सुकुमारता सङ्कीर्ण हो गई है अर्थात्

भ्राजेते शोभेते । कीदृशे—सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी, शक्तिव्युत्पत्तिसम्भवो यः शोभातिशयः कान्त्युत्कर्षस्तेन शालेते श्लाघेते ये ते तथोक्ते ।

माधुर्येत्यादि । यत्र च माधुर्यादिगुणग्रामो माधुर्यप्रभृतिगुणसमूहो मध्यमामुभयच्छायच्छुरितां वृत्तिं स्वस्पन्दगतिमाश्रित्य कामप्यपूर्वां बन्धच्छायातिरिक्ततां सन्निवेशकान्त्यधिकतां पुष्णाति पुष्यतीत्यर्थः ।

तत्र गुणानामुदाहरणानि । तत्र माधुर्यस्य यथा—

वेलानिलैर्मृदुभिराकुलितालकान्ताः
गायान्ति यस्य चरितान्यपरान्तकान्ताः ।
लीलानताः समवलम्ब्य लतास्तरूणां
हिन्तालमालिषु तटेषु महार्णवस्य ॥१११॥[1]

मिल गई हैं । उसमें मिश्रित होकर शोभित होती हैं । कैसे—स्वाभाविक [प्रतिभा सम्पाद्य] तथा आहार्य [व्युत्पत्ति सम्पाद्य] शोभातिशय से युक्त, अर्थात् [कवि की] शक्ति [प्रतिभा] और व्युत्पत्ति [ज्ञानादि] से उत्पन्न जो शोभा का अतिशय अर्थात् काव्य का उत्कर्ष, उससे शोभित अथवा प्रशंसित [सौकुमार्य और वैचित्र्य] वे उस प्रकार के अर्थात् 'सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी' हुए । [वह जिस मार्ग में पाए जायँ उसको मध्यम मार्ग कहते हैं] ।४६।

और जहाँ [जिस मार्ग में] माधुर्य आदि गुणों का समूह, मध्यम अर्थात् उन दोनों की सौन्दर्य से युक्त वृत्ति अर्थात् अपनी स्वभाव-गति को धारण कर रचना में सन्निवेश के किसी अपूर्व शोभातिशय को उत्पन्न या पुष्ट करता है [वह मध्यम मार्ग कहलाता है] ।५१।

उस [मध्यम मार्ग] में गुणों [माधुर्य आदि] के उदाहरण [दिखलाते हैं] ।

उनमें से [शैथिल्य-रहित सुन्दर रचना रूप] माधुर्य का [उदाहरण] जैसे—

[यह श्लोक पादताड़ितक भाण का ५५वाँ श्लोक है । अर्थ इस प्रकार है]—

पेड़ों [पर फैली हुई] की लताओं को पकड़कर नज़ाकत से झुकी हुई, हिन्ताल [वृक्ष विशेष] की पंक्तियों से युक्त समु के किनारों पर, सागर तट की [शीतल] मन्द वायु से तरलित केशों वाली समुद्रपार की स्त्रियाँ जिसके चरित का गान करती हैं ।१११।

---

१. पादताडितक-भाण, श्लोक ५५ ।

प्रसादस्य यथा—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन इत्यादि ॥११२॥

लावण्यस्य यथा—

सङ्क्रान्तांगुलिपर्वसूचितकरस्वापा कपोलस्थली
नेत्रे निर्भरमुक्तवाष्पकलुषे निःश्वासतान्तोऽधरः ।
बद्धोद्भेदविसंष्ठुलालकलता निर्वेदशून्यं मनः
कष्टं दुर्नयवेदिभिः कुसचिवैर्वत्सा दृढं खेद्यते ॥११३॥

अभिजात्यस्य यथा—

आलम्ब्य लम्बाः सरसाग्रवल्लीः
पिबन्ति यस्य स्तनभारनम्राः ।
स्रोतश्च्युतं शीकरकूणिताक्ष्यो
मन्दाकिनीनिर्झरमश्वमुख्यः ॥११४॥

[यह मध्यम मार्गोचित माधुर्य गुण का उदाहरण है ।] प्रसाद [गुण] का जैसे—

[उदाहरण सं० २३ पर पूर्वोदाहृत] 'तद्वक्त्रेन्दु विलोकनेन' इत्यादि ।११२।

लावण्य का [मध्यममार्गोचित उदाहरण] जैसे—

[यह श्लोक तापसवत्सराज के तृतीयाङ्क का ७६वाँ श्लोक है]

गालों पर बने हुए अँगुलियों के निशानों से हाथ पर गालों के रखने की [चिन्ता मुद्रा] सूचना होती है [रोने के कारण] आँखें आँसुओं के प्रवाह से मलिन हो रही हैं, [उष्ण एवं दीर्घ] निःश्वासों से अधर सूख रहा है, वेणी के खुल जाने से बाल बिखर रहे हैं और मन दुःख के कारण शून्य-सा हो रहा है, दुःख की बात है कि दुर्नय को [ही] जानने वाले दुष्ट मन्त्री [अपनी दुर्नीति के कारण] मेरी पुत्री को [उसके अभीष्ट राजा उदयन के साथ विवाह न करने देकर] अत्यन्त दुःखी कर रहे हैं ॥११३॥

आभिजात्य [गुण] का [मध्यम मार्गोचित उदाहरण] जैसे—

स्तनों के भार से झुकी हुई, जिसकी हरी-हरी लम्बी आगे की लता को पकड़ कर जलकणों [के गिरने] से अर्धमुकुलित नेत्रों वाली अश्व मुखियाँ [अश्वमुख नामक किन्नर जाति विशेष की स्त्रियाँ] जिस [पर्वत] के स्रोत से गिरने वाले गङ्गा के निर्झर के जल को पीती हैं ॥११४॥

एवं मध्यमं व्याख्याय तमेवोपसंहरति-'अत्रेति'। अत्रैतस्मिन् केचित् कतिपये, सादरास्तदाश्रयेण काव्यानि कुर्वन्ति। यस्मात् अरोचकिनः कमनीय-वस्तुव्यसनिनः। कीदृशे चास्मिन्—'छायावैचित्र्यरञ्जके' कान्तिविचित्रभावाह्लादके। कथम् 'विदग्धनेपथ्यविधौ भुजङ्गा इव', अग्राम्याकल्पकल्पने नागरा यथा। सोऽपि छायावैचित्र्यरञ्जक एव।

अत्र गुणोदाहरणानि परिमितत्वात् प्रदर्शितानि, प्रतिपदं पुनश्छाया-वैचित्र्यं सहृदयैः स्वयमेवानुसर्तव्यम्। अनुसरणदिक् प्रदर्शनं पुनः क्रियते। यथा—मातृगुप्त-मायुराज-मञ्जीरप्रभृतीनां सौकुमार्यवैचित्र्यसंवलितपरि-स्पन्दीनि काव्यानि सम्भवन्ति। तत्र मध्यममार्गसंवलितं स्वरूपं विचारणीयम्। एवं सहजसौकुमार्यसुभगानि कालिदास-सर्वसेनादीनां काव्यानि दृश्यन्ते।

इस प्रकार मध्यम [मार्ग] की व्याख्या करके उसका ही [आगे] उपसंहार करते हैं। यहाँ इस [मध्यम मार्ग] में कोई अर्थात् कुछ लोग आदर-भाव रखते हैं अर्थात् उसका अवलम्बन करके काव्यों की रचना करते हैं। क्योंकि [वे] आरोचकी अर्थात् सुन्दर वस्तु के प्रेमी हैं। किस प्रकार के इस [मध्यम मार्ग] में—'छाया की विविधता से आह्लादक' अर्थात् [सुकुमार तथा विचित्र दोनों मार्गों की] नाना प्रकार की कान्ति की विचित्रता से हृदयों को प्रसन्न करने वाले [मध्यम मार्ग में]। कैसे—चातुर्यपूर्ण [सुन्दर] वेष-भूषा की रचना में रसिक नागरिकों के समान। ग्राम्य से भिन्न [सुन्दर] वेष की रचना में जैसे नगरनिवासी [आदरवान् होते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य के उपासक कुछ लोग इस मध्यम मार्ग को पसन्द करते हैं]। वह [विदग्ध नागरिकों का प्रिय विचित्र वेष] भी छाया की विचित्रता से ही मनोरञ्जक होता है।

इस प्रकार गुणों के उदाहरण थोड़े से [परिमित] होने से दिखला दिए गये हैं। परन्तु [उनमें भी और अन्यत्र भी] प्रत्येक पद की अलग-अलग सौन्दर्य की विचित्रता सहृदयों को स्वयं देख लेनी चाहिए। [उसके] अनुसरण करने का प्रकार [हम] दिखलाए देते हैं। जैसे मातृगुप्त, मायुराज, मञ्जीर आदि [नामक सुकवियों] के, सुकुमारता तथा विचित्रता युक्त स्वभाव से सुन्दर काव्य हो सकते हैं। [अर्थात् इन कवियों के काव्यों में मध्यम मार्ग की प्रधानता रहती है]। उसमें मध्यम मार्ग से युक्त अंश का विचार [खोज] कर लेना चाहिए। इसी प्रकार कालिदास, सर्वसेन आदि के काव्य सहज सौकुमार्य से युक्त होते हैं। उनमें सुकुमार मार्ग का

तत्र सुकुमारमार्गस्वरूपं चर्चनीयम् । तथैव च विचित्रवक्रत्वविजृम्भितं हर्षचरिते प्राचुर्येण भट्टबाणस्य विभाव्यते । भवभूति-राजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते । तस्मात् सहृदयैः सर्वत्र सर्वमनुसर्तव्यम् । एवं मार्गत्रितयलक्षणं दिङ्मात्रमेव प्रदर्शितम् । न पुनः साकल्येन सत्कविकौशलप्रकाराणां केनचिदपि स्वरूपमभिधातुं पार्यते । मार्गेषु गुणानां समुदायधर्मता । यथा न केवलं शब्दादिधर्मत्वं तथा तल्लक्षणव्याख्यानासर एव प्रतिपादितम् ॥५२॥

एवं प्रत्येकं प्रतिनियतगुणग्रामरमणीयं मार्गत्रितयं व्याख्याय साधारणगुणस्वरूपव्याख्यानार्थमाह—

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥५३॥

स्वरूप देख लेना चाहिए । और उसी प्रकार हर्षचरित में बाणभट्ट का विचित्र वक्रता का विलास प्राचुर्य से पाया जाता है । और भवभूति, राजशेखर के द्वारा निर्मित रचना के सौन्दर्य से युक्त, मुक्तकों में [वैचित्र्य का विलास] दिखलाई देता है । इसलिए सहृदयों को सब जगह [यथोचित रीति से] सबका अनुसन्धान करना चाहिए । इस प्रकार [यहाँ तक हमने] तीनों मार्गों के लक्षणों का दिङ्मात्र प्रदर्शन कराया है परन्तु सत्कवियों के कौशल के [अनन्त] प्रकारों का स्वरूप पूर्ण रूप से कोई भी नहीं दिखला सकता है । [सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम] तीनों मार्गों में [प्रसाद, माधुर्य, लावण्य, आभिजात्य आदि] गुणों का 'समुदाय-धर्मत्व' है । [अर्थात् माधुर्य आदि गुण तीनों मार्गों में समान रूप से पद-समुदाय में रहते हैं अलग-अलग शब्दों के धर्म नहीं होते हैं] केवल शब्द के धर्म [माधुर्य आदि गुण] जैसे नहीं होते हैं उसे उनके लक्षणों के व्याख्यान के अवसर पर ही प्रतिपादन किया जा चुका हैं ।५२।

वामन ने दश गुणों का तथा भामह आदि ने तीन ही गुणों का प्रतिपादन किया है । परन्तु कुन्तक ने तीनों मार्गों में माधुर्य प्रसाद, लावण्य और और आभिजात्य इन चार गुणों का यहां तक प्रतिपादन किया है । आगे औचित्य तथा सौभाग्य नामक दो गुणों का और वर्णन करते हैं । इस प्रकार कुन्तक के मत में छः गुण हो जाते हैं ।

इस प्रकार अलग-अलग गुण समुदाय से रमणीय तीनों-मार्गों की व्याख्या करके साधारण गुण के स्वरूप का वर्णन करने के लिए कहते हैं—

उचित [स्वभावानुरूप] वर्णन ही जिसका प्राण है इस प्रकार के स्वभाव का महत्त्व, स्पष्ट रूप से [आञ्जसेन प्रकारेण] जिसके द्वारा परिपुष्ट किया जाता है वह 'औचित्य' [नामक गुण] है ।

तदौचित्यं नाम गुणः । कीदृक् आञ्जसेन सुस्पष्टेन स्वभावस्य पदार्थस्य महत्त्वमुत्कर्षो येन पोष्यते परिपोषं प्राप्यते । प्रकारेणेति—प्रस्तुतत्वादभिधावैचित्र्यमत्र 'प्रकार'-शब्देनोच्यते । कीदृशम्—उचिताख्यानमुदाराभिधानं जीवितं परमार्थो यस्य तत् तथोक्तम् । एतदानुगुण्येनैव विभूषणविन्यासो विच्छित्तिमावहति ।

यथा—

करतलकलिताक्षमालयोः समुदितसाध्वससन्नहस्तयोः ।
कृतरुचिरजटानिवेशयोरपर इवेश्वरयोः समागमः ॥११५॥[1]

यथा वा—

उपगिरि पुरुहूतस्यैष सेनानिवेश—
स्तटमपरमितोऽद्रेस्त्वद्बलान्यावसन्तु ।
ध्रुवमिह करिणस्ते दुर्धराः सन्निकर्षे
सुरगजमदलेखासौरभं न क्षमन्ते ॥११६॥

वह औचित्य नामक गुण है । कैसा—'आञ्जस' अर्थात् सुस्पष्ट रूप से स्वभाव अर्थात् पदार्थ का महत्त्व, उत्कर्ष जिस [गुण] से पोषित किया जाता है अर्थात् पुष्टता को प्राप्त कराया जाता हैं । यहाँ प्रस्तुत होने के कारण, कहने की वि चत्रता को ही 'प्रकार' शब्द से ग्रहण किया जाता है । कैसे—उचित कथन अर्थात् [स्वभावानुकूल] उदार वर्णन जिसका जीवित अर्थात् वास्तविक परमार्थ है वह उस प्रकार का [उचिताख्यानजीवितम् हुआ] । इसके अनुकूल ही अलङ्कारों की रचना शोभाजनक होती हैं । जैसे—

[यह श्लोक तापसवत्सराजचरित का ३, ८४ है] ।

हाथों में जयमाला लिये हुए, साध्वस [भय या सात्विक भाव] के उत्पन्न हो जाने से जिनके हाथ सन्न [कार्याक्षम] हो गये हैं और जटाओं की सुन्दर रचना किए हुए [जटा बाँधे हुए] दोनों का, मानों दूसरे शिव-पार्वती-का-सा समागम हुआ ॥११५॥

अथवा जैसे—

पर्वत के समीप में [एक ओर] इन्द्र की सेना का पड़ाव है, [इसलिए] पर्वत की दूसरी ओर अपनी सेनाओं का पड़ाव डालो । क्योंकि समीप में रहने पर तुम्हारे [दुर्धर] भयङ्कर हाथी देवताओं [की सेना] के हाथियों की मद लेखा की गन्ध को सहन नहीं कर सकते हैं ॥११६॥

---

१. तापसवत्सराजचरित ३, ८४ ।

यथा च—

हे नागराज बहुधास्य नितम्बभागं
भोगेन गाढमभिवेष्टय मन्दराद्रेः ।
सोढाऽविषह्यवृषवाहनयोगलीला-
पर्यङ्कबन्धनविधेस्तव कोऽतिभारः ॥११७॥[1]

अत्र पूर्वत्रोदाहरणयोर्भूषणगुणेनेव तद्गुणपरिपोषः, इतरत्र च स्वभावौदार्याभिधानेन ॥५३॥

औचित्यस्यैव छायान्तरेण स्वरूपमुन्मीलयति—

यत्र वक्तुःप्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना ।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते ॥५४॥

यत्र यस्मिन् वक्तुरभिधातुः प्रमातुर्वा श्रोतुर्वा स्वभावेन स्वपरिस्पन्देन वाच्यमभिधेयं वस्तु शोभातिशयशायिना रामणीयकमनोहरेण आच्छाद्यते संव्रियते तदप्यौचित्यमेवोच्यते । यथा—

और जैसे—

हे नागराज [शेषनाग] इस मन्दराचल के पार्श्वभाग को अपने [विस्तृत] फन से कसकर पकड़ लो । तुमने वृषवाहन शिव जी के योगाभ्यास के समय असह्य पर्यंकबन्धन विधि [आसनविशेष में बन्धन विधि] को सहन किया है तुम्हारे लिए इसमें कौन बड़ी कठिनाई है ॥११७॥

यहाँ [इन तीनों उदाहरणों में से] पहिले दो उदाहरणों में अलङ्कारों के गुण से ही उस औचित्य [रूप] गुण का परिपोष हो रहा है और तीसरे उदाहरण में स्वभाव के औदार्य कथन से [ही औचित्य का परिपोष हो रहा है] ॥५३॥

औचित्य [गुण] के ही स्वरूप को दूसरे प्रकार से स्पष्ट करते हैं—

जहाँ वक्ता अथवा बोद्धा [प्रमाता] के शोभातिशय-युक्त स्वभाव से वाच्य वस्तु आच्छादित हो [दब] जाती है वह भी 'औचित्य' कहलाता है ।

यहाँ जिस [गुण] में वक्ता अर्थात् कहने वाले और प्रमाता अर्थात् सुनने वाले [बोद्धा] के शोभातिशायी अर्थात् रमणीयता के कारण मनोहर स्वभाव से, वाच्य अर्थात् प्रतिपाद्य [वस्तु] अर्थ आच्छादित कर दिया अर्थात् ढँक दिया जाता है वह भी औचित्य [गुण] ही कहलाता है । जैसे—

---

१. काव्य मीमांसा पृ० ८८ तथा सरस्वती कण्ठाभरण पृ० ६५ पर उद्धृत ।

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः, स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥११८॥[1]

अत्र श्लाघ्यतया तथाविधमहाराजपरिस्पन्दे वर्ण्यमाने मुनिना स्वानुभवसिद्धव्यवहारानुसारेणालङ्करणयोजनमौचित्यपरिपोषमावहति । अत्र वक्तुः स्वभावेन च वाच्यपरिस्पन्दः संवृतप्रायो लक्ष्यते। प्रमातुर्यथा—

निपीयमानस्तबका शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा।
विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम् ॥११९॥[2]

अत्र वधूजनैर्निजानुभव वासनानुसारेण तथाविधशोभाभिरामतानुभूतिरौचित्यपरिपोषमावहति।

यह श्लोक रघुवंश के पञ्चम सर्ग का १५वाँ श्लोक है। 'वरतन्तु मुनि' के शिष्य 'कौत्स' विश्वजित् याग में सर्वस्व दान कर देने वाले रघु के पास भिक्षा लेने आए हैं। उस समय वह कौत्स-मुनि रघु से कह रहे हैं—

हे राजन्, सत्पात्रों को अपनी सम्पत्ति दान देकर अब शरीर मात्र से स्थित आप वनवासियों द्वारा [नीवार पर] उत्पन्न फल को ले लिये जाने के बाद ढूँठ मात्र शेष रहे नीवार के समान शोभित होते हैं ॥११८॥

यहाँ श्लाघ्य रूप से इस प्रकार के [लोकोत्तर प्रभावशाली] महाराज [रघु] के स्वभाव के वर्णनीय होने पर [वनवासी कौत्स] मुनि के अपने अनुभवसिद्ध ['आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः' इस उपमा] अलङ्कार की योजना, औचित्य को अत्यन्त परिपुष्ट करती है। यहाँ वक्ता [कौत्स मुनि] के स्वभाव से वाच्य अर्थ का स्वभाव ढँक-सा गया है।

श्रोता [प्रमाता के स्वभाव से अर्थ के दब जाने] का [उदाहरण] जैसे—

भौंरों के द्वारा जिसके पुष्पगुच्छों का रस पान किया जा रहा है और जिसके छोटे-छोटे पल्लव हिल रहे हैं इस प्रकार की अशोक की लता को, वधू जनों ने ज़ोर से अधरोष्ठ में काट लेने मे हाथ हिलाने का अनुकरण करता हुआ-सा देखा।११९।

यहाँ वधू जनों के अपने अनुभव अनुसार लताओं की उस प्रकार की शोभा की अभिरामता का वर्णन औचित्य का परिपोष कराता है।

---

१. रघुवंश ५, १५। २. किरातार्जुनीय ८, ६।

यथा वा—

वापितडे कुड्ङगा पिअसहि हाउं गएहिं दीसंति ।
ण घरंति करेण भणंति ण त्ति बलिउं पुण णदेंति ॥१२०॥
[वापीतटे कुरङ्गा प्रियसखि हाउं गायन्तो दृश्यन्ते ।
न ध्रियन्ते करेण भवान्ति नेति बहुलं पुनर्नयन्ति ॥इतिच्छाया]

अत्र कस्याश्चित्प्रमातृभूतायाः सातिशयमौग्ध्यपरिस्पन्दसुन्दरेण स्वभावेन वाच्यमाच्छादितमौचित्यपरिपोषमावहति ॥५४॥

एवमौचित्यमभिधाय सौभाग्यमभिधते—

इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थं प्रतिभा कवेः ।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ॥५५॥

अथवा जैसे [यह प्राकृत गाथा बिल्कुल अस्पष्ट-सी है । इसलिए उसकी न संस्कृत छाया ही ठीक बनती है और न कुछ अर्थ ही । फिर भी उसका भाव इस प्रकार निकाला जा सकता है]—

हे प्रिय सखि वापी के किनारे [मेघरूप कुरङ्ग] हाऊ [?] गाते हुए दिखलाई देते हैं । हाथ से पकड़ने में नहीं आते हैं और न [पूछने पर स्पष्ट] बोलते हैं लेकिन जोर से गर्जन करते हैं ॥१२०॥

इसमें किसी [भोली-भाली ग्रामीण स्त्री रूप] प्रमाता रूप स्त्री के अत्यन्त भोलेपन के स्वभाव से सुन्दर स्वभाव से आच्छादित हुआ वाच्य [अर्थ], औचित्य का परिपोषक हो रहा है ॥५४॥

इसे यद्यपि वक्ता के वैशिष्ट्य का उदाहरण भी कहा जा सकता है । परन्तु यहाँ श्रोता को वैशिष्ट्य के प्रदर्शनार्थ दिया गया है अतः सुनने वाली स्त्री का भोलापन यहां औचित्य का पोषक है ।

इस प्रकार [प्रथम सामान्य गुण] 'औचित्य' का वर्णन करके अब [दूसरे सामान्य गुण] 'सौभाग्य' का प्रतिपादन करते हैं—

इस प्रकार इस [शब्दादि रूप] उपादेय वर्ग में कवि की प्रतिभा जिस [अर्थ के उपादान या ग्रहण करने] के लिए विशेष रूप से [अत्यन्त सावधानता से] प्रयत्नशील होती है उस वस्तु का जो [सौन्दर्य रूप] गुण है वह 'सौभाग्य' [नाम से सामान्य] गुण कहा जाता है ।५५।

इत्येवंविधेऽस्मिन्नुपादेयवर्गे शब्दाद्युपेयसमूहे यदर्थं यन्निमित्तं कवेः सम्बन्धिनी प्रतिभा शक्तिः सम्यक् सावधानतया संरभते व्यवस्यति तस्य वस्तुनः प्रस्तुतत्वात् काव्याभिधानस्य यो गुणः स सौभाग्यमुच्यते भण्यते ॥५५॥

तच्च न प्रतिभासंरम्भमात्रसाध्यं, किन्तु तद्विहितसमस्तसामग्रीसम्पाद्यमित्याह—

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ॥५६॥

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सर्वस्योपादेयराशेर्या सम्पत्तिरनवद्यताकाष्ठा तस्याः परिस्पन्दः स्फुरितत्वं तेन सम्पाद्यं निष्पादनीयम् । अन्यच्च कीदृशम्—सरसात्मनामार्द्रचेतसामलौकिकचमत्कारकारि लोकोत्तराह्लादविधायि । किम्बहुना, तच्च काव्यैकजीवितं काव्यस्य परः परमार्थ इत्यर्थः । यथा—

इस प्रकार के इस [पूर्वोक्त] उपादेय वर्ग अर्थात् शब्दादि रूप [उपेय] पदार्थ समूह में से, जिसके लिए अर्थात् जिसके कारण, कवि की अर्थात् कवि सम्बन्धिनी, प्रतिभा शक्ति भली प्रकार से अर्थात् सावधानतया प्रयत्न करती है उस वस्तु के प्रस्तुत होने से अर्थात् काव्य का विषय होने से जो [सौन्दर्य रूप] गुण है वह 'सौभाग्य' इस नाम से कहा जाता है ॥५५॥

और वह [सौभाग्य गुण] केवल प्रतिभा के व्यापारमात्र से साध्य नहीं है अपितु उस [कवि या काव्य] के लिए विहित समस्त सामग्री से सम्पादन करने योग्य है, यह [बात अगली कारिका में] कहते हैं—

[प्रतिभा के साथ-साथ व्युत्पत्ति वक्रोक्ति, गुण, मार्ग आदि काव्योचित] सम्पूर्ण सामग्री से सम्पादित करने योग्य सहृदयों के लिए अलौकिक चमत्कारकारी और काव्य का प्राण स्वरूप [सौभाग्य-गुण] है ।

[न केवल प्रतिभा-मात्र से अपितु काव्योचित व्युत्पत्ति आदि] सम्पूर्ण सामग्री के व्यापार से सम्पादन करने योग्य अर्थात् समस्त उपादेय राशि की जो सम्पत्ति अर्थात् अनवद्यता [सौन्दर्य] उसका जो परिस्पन्द या परिस्फुरण [व्यापार] उससे सम्पाद्य अर्थात् निष्पन्न करने योग्य । और कैसा कि सरस हृदय अर्थात् आर्द्र चित्त वालों [सहृदयों] के लिए अलौकिक चमत्कारकारी अर्थात् लोकोत्तर-आनन्द-दायक । अधिक क्या कहा जाय [संक्षेप में वह सौभाग्य-गुण] काव्य का प्राण अर्थात् परम तत्त्व है । यह अभिप्राय हुआ । जैसे—

दोर्मूलावधि सूत्रितस्तनमुरः स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ
किञ्चित्ताण्डवपण्डिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते।
चेतः कन्दलितं स्मरव्यतिकरैर्लावण्यमङ्गैर्वृतं
तन्वङ्ग्यास्तरुणिम्नि सर्पति शनैरन्यैव काचिल्लिपिः ॥१२१॥

तन्व्याः प्रथमतरतारुण्येऽवतीर्णे आकारस्य चेतसश्चेष्टायाश्च वैचित्र्यमत्र वर्णितम्। तत्र सूत्रितस्तनमुरो लावण्यमङ्गैर्वृतमित्याकारस्य, स्मरव्यतिकरैः कन्दलितमिति चेतसः, स्निह्यत्कटाक्षे दृशाविति, किञ्चित्ताण्डवपण्डिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते इति चेष्टायाश्च। सूत्रित-सिक्त ताण्डव-पण्डित-कन्दलितानामुपचारवक्रत्वं लक्ष्यते। स्निह्यदित्येतस्य कालविशेषावेदकः प्रत्ययवक्रभावः। अन्यैव काचिदवर्णनीयेति संवृतिवक्रताविच्छित्तिः। अंगैर्वृतमिति कारकवक्रत्वम्। विचित्रमार्गविषयो लावण्यगुणातिरेकः। तदेवमेतस्मिन्

[हेमचन्द्र ने पृ० ३०२ पर इस श्लोक को उद्धृत किया है।]

तन्वङ्गी के शरीर में यौवन का पदार्पण होने पर उसकी रूप-रेखा धीरे-धीरे कुछ और ही होती जा रही है। जैसे कि उसकी छाती पर बग़ल तक स्तनों के उभार की रेखा पड़ गई है। आँखों में स्नेह युक्त कटाक्षों का प्रवेश हो गया है। स्मित रूप सुधा से सिक्त [अर्थात् मुस्कराते हुए] बात करते समय भौंहें नाचने में कुछ पण्डित-सी हो चली हैं, मन में काम के अंकुर-से उदय होने लगे हैं और शरीर के अङ्गों ने [नया] अपूर्व लावण्य ग्रहण कर लिया है। [इस प्रकार तन्वङ्गी के यौवन में आते ही धीरे-धीरे उसकी रूपरेखा कुछ और ही हो गई है] ॥१२१॥

तन्वी [नायिका] के यौवन के प्रथम अवतार के समय उसके आकार, मन, और चेष्टा [सब] का वैचित्र्य यहाँ वर्णित किया गया है। उनमें 'छाती पर स्तनों की रेखा [स्तनों का डोरा] पड़ गई है' और 'अङ्गों ने लावण्य धारण कर लिया है' इन [दो] से आकार का, 'काम के सम्पर्क के अंकुरित' इस से मन का, और स्नेहमय कटाक्ष से युक्त नेत्र, तथा 'स्मित रूप सुधा से सिक्त वचनों में नाचने में चतुर भौंहें' इससे चेष्टा के [वैचित्र्य का प्रतिपादन किया गया है]। सूत्रित, सिक्त, ताण्डव, पण्डित और कन्दलित [इन पदों] की 'उपचारवक्रता' प्रतीत होती है। 'स्निह्यत्' इससे काल विशेष के आवेदक [वर्तमान काल बोधक शतृ] 'प्रत्यय की वक्रता' [प्रतीत होती है] 'अन्यैव काचित्' से 'अवर्णनीया' इस अर्थ के द्वारा 'संवृति-वक्रता' का सौन्दर्य [द्योतित होता है], 'अङ्गों ने लावण्य का वरण कर लिया है' इसमें [तृतीया विभक्ति से करण

प्रतिभासंरम्भजनितसकलसामग्रीसमुन्मीलितं सरसहृदयाह्लादकारी किमपि सौभाग्यं समुद्भासते ॥५६॥

अनन्तरोक्तस्य गुणद्वयस्य विषयं दर्शयति—

एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम् ।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥५७॥

एतद् गुणद्वितयमौचित्यसौभाग्याभिधानं, उज्ज्वलमतीव भ्राजिष्णु, पदवाक्यप्रबन्धानां त्रयाणामपि व्यापकत्वेन वर्तते सकलावयवव्याप्त्यावतिष्ठते । क्वेत्याह—त्रिष्वपि मार्गेषु सुकुमारविचित्रमध्यमाख्येषु । तत्र पदस्य तावदौचित्यं बहुविधभेदभिन्नो वक्रभावः । स्वभावस्याञ्जसेन प्रकारेण परिपोषणमेव वक्रतायाः परं रहस्यम् । उचिताभिधानजीवितत्वाद् वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः ।

कारक रूप] 'कारकवक्रता' [लक्षित होती है] । और विचित्र मार्ग के विषय भूत लावण्य गुण का अतिरेक [इस श्लोक में पाया जाता] है । इस प्रकार इस [श्लोक] में प्रतिभा के संरम्भ से उत्पन्न समस्त सामग्री से उन्मीलित सहृदयहृदयाह्लादकारी कुछ अनिर्वचनीय 'सौभाग्य' प्रकाशित हो रहा है ॥५६॥

अभी कहे हुए [औचित्य तथा सौभाग्य रूप] दोनों गुणों का विषय दिखलाते हैं—

[सुकुमार, विचित्र और मध्यम रूप] इन तीनों मार्गों में [औचित्य तथा सौभाग्य रूप] दोनों गुण, पदों, वाक्यों तथा रचना में व्यापक और उज्ज्वल रूप से रहते हैं ॥५७॥

यह औचित्य तथा सौभाग्य नामक दोनों गुण उज्ज्वल अर्थात् अत्यन्त स्पष्ट चमकते हुए, पद, वाक्य और प्रबन्ध तीनों में व्यापक रूप से विद्यमान रहते हैं । अर्थात् [काव्य के] सारे अवयवों में व्याप्त रहते हैं । कहाँ [रहते हैं] यह कहते हैं । सुकुमार, विचित्र और मध्यम नामक तीनों ही मार्गों में । उनमें से पदों का औचित्य उनका नाना प्रकार के भेदों से युक्त वक्रभाव है । स्वभाव का स्पष्ट रूप से [आञ्जसेन प्रकारेण] परिपोषण ही वक्रता का परम रहस्य है । [क्योंकि पदार्थ का उचित रूप से] कथन के ही [वक्रता के] जीवन-स्वरूप होने के कारण वाक्य के एक देश में भी औचित्य का अभाव होने से सहृदयों के आह्लादकारित्व की हानि होती है ।

यथा रघुवंशे—

पुरं निषादाधिपतेस्तदेद् यस्मिन् मया मौलिमणिं विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत् सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥१२२॥[1]

अत्र रघुपतेरनर्घमहापुरुषसम्पदुपेतत्वेन वर्ण्यमानस्य 'कैकेयि कामाः फलितास्तव' इत्येवंविधतुच्छतरपदार्थसंस्मरणं तदभिधानं चात्यन्तमनौचित्यमावहति ।

प्रबन्धस्यापि कस्यचित् प्रकरणैकदेशेऽप्यौचित्यविरहादेकदेशदाहदूषितदग्धपटप्रायता प्रसज्यते । यथा रघुवंशे एव दिलीपसिंहसंवादावसरे—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद्
गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि ।

जैसे रघुवंश में—

रघुवंश के १३वें सर्ग में लङ्का-विजय के बाद पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या को लौटते समय रामचन्द्र जी रास्ते के भिन्न-भिन्न स्थानों को सीता जी को दिखलाते जाते हैं । उसी प्रसङ्ग से जब निषादराज के स्थान पर आकर रामचन्द्र जी पहुँचे तो उस स्थान का परिचय कराते हुए सीता जी से कह रहे हैं कि—

यह निषादराज [गुह] की वह नगरी है जहाँ शिर पर मणियों को उतार कर मेरे जटाएँ बाँध लेने पर सुमंत्र ने 'हे कैकेयि! लो तुम्हारा मनोरथ सफल हो गया' यह कहा था ॥१२२॥

यहाँ महापुरुषों [के चरित्र] की [समस्त] सम्पत्ति से युक्त रूप में रघुपति [रामचन्द्र जी] के वर्ण्यमान होने के कारण उन रामचन्द्र के मुख से 'कैकेयी! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया' इस प्रकार की तुच्छ बात का स्मरण और कथन अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है ।

कहीं-कहीं प्रबन्ध [काव्य] के किसी प्रकरण के एक देश में भी औचित्य का अभाव होने पर, एक देश में जल जाने के कारण [सम्पूर्ण रूप से] दूषित वस्त्र के समान [सारा काव्य भी] दूषित हो जाता है । जैसे रघुवंश में [तृतीय सर्ग में] रघु तथा दिलीप के संवाद के अवसर पर—

और यदि एक गाय के [विनाश करा देने रूप] अपराध के कारण भयङ्कर [रूप से रुष्ट हुए] अग्नि के समान [उग्र] रूप धारण किए हुए गुरु से भय लगता

---

१. रघुवंश १३, ५९ ।

शक्योऽस्य मन्युर्भवतापि जेतुं[1]
गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः ॥१२३॥

इति सिंहस्याभिधातुमुचितमेव राजोपहासपरत्वेनाभिधीयमानत्वात्। राज्ञः पुनरस्य निजयशःपरिरक्षणपरत्वेन तृणवल्लघुवृत्तयः प्राणाः प्रतिभासन्ते। तस्यैतत्पूर्वपक्षोत्तरत्वेन—

कथञ्च शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमां तनूजां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥१२४॥[2]

इत्यन्यासां गवां तत्प्रतिवस्तुप्रदानयोग्यता यदि कदाचित् सम्भवति ततस्तस्य मुनेर्मम चोभयोरप्येतज्जीवितपरिरक्षणनैरपेक्ष्यमुपपन्नमिति तात्पर्य-पर्यवसानादत्यन्तमनौचित्ययुक्तेयमुक्तिः।

हो तो तुम [उस एक गाय के बदले में] घड़े के समान अयन वाली करोड़ों गौएँ देकर उनके क्रोध को दूर कर सकते हो ॥१२३॥

यह सिंह का कथन तो उचित ही है। क्योंकि वह राजा का उपहास करने के लिए कहा गया है। परन्तु इस राजा दिलीप को अपने यश की रक्षा में तत्पर होने से प्राण तिनके के समान प्रतीत होते हैं। उसकी ओर से [सिंह के द्वारा किए गए] इस पूर्वपक्ष के उत्तर रूप में [कहे गए]—

अन्य गौओं के देने से महर्षि वशिष्ठ के क्रोध को दूर करना कैसे सम्भव हो सकता है। क्योंकि इस [नन्दिनी गौ] को कामधेनु की पुत्री समझो। तुमने जो इस पर प्रहार किया है वह तो शिव के प्रभाव से किया है [अपनी सामर्थ्य से तुम इस पर प्रहार नहीं कर सकते थे] ॥१२४॥

इस [उत्तर रूप में कहे गए श्लोक] में, यदि अन्य गौओं को उसके बदले में दिए जाने योग्य [प्रतिवस्तु] समझ लिया जाय तो कदाचित् उन [वशिष्ठ] मुनि तथा मेरे दोनों के लिए उसके प्राणों की रक्षा की उपेक्षा करना उचित हो सकता है· यह [जो इस कथन का] फलितार्थ निकलता है। उसके कारण यह कथन अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है।

अर्थात् यदि इसके बदले में अन्य गाय देकर मुनि की क्षति पूर्ति यदि की जा सकती तो मैं इस गाय की प्राणों की रक्षा के लिए प्रयत्न न करता। राजा दलीप के मन में इस प्रकार के भाव का आना भी बड़ा भद्दा और उनके गौरव के प्रतिकूल है। जो राजा एक बार तो यह कहता है कि—

---

१. रघुवंश २, ४९। २. 'विनेतु' पाठ भी पाया जाता है।

यथा च कुमारसम्भवे त्रैलोक्याक्रान्तिप्रवणपराक्रमस्य तारकाख्यस्य रिपोर्जिगीषावसरे सुरपतिर्मन्मथेनाभिधीयते—

कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम् ॥१२५॥[1]

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥

अर्थात् इस भौतिक शरीर में मेरी आस्था नहीं है । इस भौतिक शरीर की अपेक्षा मुझे 'यशः-शरीर' अधिक प्रिय है । उसी महापुरुष के मुख से यह कहलाना कि यदि दूसरी गाय देकर मुनि को सन्तुष्ट किया जा सके तो मैं इसे बचाने का प्रयत्न न करता, वस्तुतः शोभा नहीं देता है । इस प्रकार इस एक देश में औचित्य का अभाव हो जाने से एक देश में जल जाने के कारण दूषित हुए पट के समान इस काव्य में यह सारा प्रकरण दूषित हो जाता है ।

और जैसे 'कुमारसम्भव' में त्रैलोक्य का पराभव करने में समर्थ, पराक्रमशील तारकासुर रूप शत्रु के जीतने के [उपाय सोचने के] अवसर पर कामदेव इन्द्र से कह रहा है—

सुन्दरता के कारण तुम्हारे चञ्चल मन में प्रविष्ट हुई परन्तु पतिव्रत धम के कारण तुम्हारे वश में न आ सकने वाली कौन सी पतिव्रता स्त्री को चाहते हो कि वह लज्जा का परित्याग करके स्वयं तुम्हारे कण्ठ में अपने बाहु डाल दे ॥१२५॥

कुमारसम्भव की कथा में तारकासुर के अत्याचारों से पीड़ित होकर देवता लोग ब्रह्मा जी के पास गए हैं । उनकी कष्टगाथा सुनने के बाद ब्रह्मा जी ने उनको बतलाया कि शिव जी का पुत्र तुम्हारा सेनापति बनकर उसको मारेगा । इसलिए तुम लोग पार्वती के द्वारा शिव को आकृष्ट करो । जिससे पार्वती और शिव का पुत्र तुम्हारे इस कष्ट को दूर कर सके । इस प्रसङ्ग में शिव को पार्वती की ओर आकृष्ट करने के लिए इन्द्र ने कामदेव को बुलवाया है । कामदेव ने इन्द्र को राज-सभा में उपस्थित होकर बुलाए जाने का कारण पूछा कि हे महाराज ! मुझे किस लिए स्मरण किया है ? उसी प्रसङ्ग का यह श्लोक है । इसका भाव यह हुआ कि यदि आप किसी पतिव्रता सुन्दरी पर अनुरक्त हो गए हैं । और पतिव्रता होने के कारण आपका उसके साथ सम्बन्ध आपको सम्भव प्रतीत न होता हो तो उसका नाम मुझे बतलाइए । मैं अपने प्रभाव से उसको इतना विवश कर दूंगा कि वह

---

१. कुमारसम्भव ३, ७ ।

इत्यविनयानुष्ठाननिष्ठं त्रिविष्टाधिपत्यप्रतिष्ठितस्यापि तथाविधाभिप्रायानुवर्तनपरत्वेनाभिधीयमानमनौचित्यमावहति ।

एतैच्चतस्यैव कवेः सहजसौकुमार्यमुद्रितसूक्तिपरिस्पन्दसौन्दर्यस्य पर्यालोच्यते, न पुनरन्येषां आहार्यमात्रकाव्यकरणकौशलश्लाघिनाम् ।

सौभाग्यमपि पदवाक्यप्रकरणप्रबन्धानां प्रत्येकमनेकाकारकमनीयकारणकलापकलितरामणीयकानां किमपि सहृदयहृदयसंवेद्यं काव्यैकजीवितमलौकिकचमत्कारकारि संवलितानेकरसास्वादसुन्दरं सकलावयवव्यापकत्वेन काव्यस्य गुणान्तरं परिस्फुरतीत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥५७॥

इदानीमेतदुपसंहृत्यान्यदवतारयति—

अपने पातिव्रत्य और लज्जा आदि सबका परित्याग करके स्वयं आकर तुम्हारे गले में हाथ डालकर तुम्हारा आलिङ्गन करने लगेगी ।

[परन्तु] स्वर्ग के अधिपति पद पर प्रतिष्ठित [इन्द्र] का [कामदेव के कहे हुए] उस प्रकार के अभिप्राय को पूर्ण करने के द्वारा सूचित इस प्रकार का [किसी पतिव्रता के, पातिव्रत्य को नष्ट करने रूप] अविनय आचरणपरक कथन [इन्द्र जैसे देवराज के लिए] अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है । [इसलिए कुमारसम्भव का यह अंश भी 'एकदेशदाहदूषित पट' के समान दूषित हो गया है] ।

और यह भी इसी [महा] कवि [कालिदास] के विषय में [इतनी सूक्ष्म] आलोचना की जा सकती है जिसकी सूक्तियों का स्वाभाविक सौन्दर्य सहज सौकुमार्य की मुद्रा से अङ्कित हो रहा है । केवल आहार्य [व्युत्पत्ति बल से बनावटी] काव्य-रचना के कौशल के लिए प्रसिद्ध [श्री हर्ष आदि] अन्य [कवियों] के विषय में [इतनी सूक्ष्म आलोचना] नहीं [की जा सकती है] ।

और पद, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्धों का सौभाग्य [गुण] भी [उनमें से] प्रत्येक की अनेक प्रकार की [अलग-अलग] सुन्दर कारण सामग्री [लोकोत्तर] से रमणीयता को धारण करने वाले काव्य का एकमात्र प्राणस्वरूप अलौकिक, चमत्कारकारी, सहृदयसंवेद्य [उस काव्य में] आए हुए अनेक रसों के आस्वाद से सुन्दर और सारे अवयवों में व्यापक रूप से काव्य का कुछ और ही गुण [सा] परिस्फुरित होता है । इसलिए [इस विषय में अब और] अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है ।

अब इस [मार्गों के गुणों के निरूपण] का उपसंहार कर [अगले द्वितीय उन्मेष में कहे जाने वाले वर्ण-विन्यास आदि की वक्रता रूप] अन्य [विषय] की अवतारणा करते हैं—

मार्गाणां त्रितयं तदेतदसकृत् प्राप्तव्यपर्युत्सुकैः
क्षुण्णं कैरपि यत्र कामपि भुवं प्राप्य प्रसिद्धिं गताः।
सर्वे स्वैरविहारहारिकवयो यास्यन्ति येनाधुना
तस्मिन् कोऽपि स साधु सुन्दरपदन्यासक्रमः कथ्यते ॥५८॥

मार्गाणां सुकुमारादीनामेतत् त्रितयं कैरपि महाकविभिरेव न सामान्यैः, प्राप्तव्यपर्युत्सुकैः प्राप्योत्कण्ठितैरसकृत् बहुवारमभ्यासेन क्षुण्णं परिगमितम्। यत्र यस्मिन् मार्गत्रये कामपि भुवं प्राप्य प्रसिद्धिं गताः। लोकोत्तरां भूमिमासाद्य प्रतीतिं प्राप्ताः। इदानीं सर्वे स्वैरविहारहारिणः स्वेच्छाविहरणरमणीयाः कवयस्तस्मिन् मार्गत्रितये येन यास्यन्ति गमिष्यन्ति सकोऽपि अलौकिकः सुन्दरपदन्यासक्रमः साधु शोभनं कृत्वा कथ्यते। सुभग-सुप्-तिङ्-समर्पणपरिपाटीविन्यासो वर्ण्यते। मार्ग-स्वैरविहार-पद प्रभृतयः शब्दाः श्लेषच्छायाविशिष्टत्वेन व्याख्येयाः ॥५८॥

इति श्रीराजानककुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते काव्यालङ्कारे प्रथम उन्मेषः।

प्राप्तव्य [महाकवित्व पद] के लिए उत्सुक कुछ [विशेष महाकवियों] के द्वारा चला गया यह [सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम रूप] तीनों मार्गों का समूह है। जिसमें किसी उच्च स्थिति को प्राप्त कर [वह कालिदास आदि महाकवि] प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। स्वच्छन्द विहरण के करने वाले सभी उत्तम कविगण अब [भविष्य में] जिस पर चलेंगे उस [मार्ग-त्रितय] में [उपादेय] उस अनिर्वचनीय साधु तथा सुन्दर पदों की रचना का क्रम [आगे द्वितीय उन्मेष में] कहते हैं ॥५८॥

सुकुमार आदि मार्गों का यह त्रितय किन्हीं महाकवियों के द्वारा ही सामान्यों के द्वारा नहीं, प्राप्तव्य [महाकवित्व आदि] के लिए उत्कण्ठितों के द्वारा क्षुण्ण [रौंधा हुआ] चला हुआ है। जहाँ जिस मार्ग-त्रितय में कुछ लोकोत्तर स्थिति प्राप्त करके [वे महाकवि] प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। और अब स्वच्छन्द विहार के कारण रमणीय उन तीनों मार्गों में जिस [सुन्दर क्रम] से सारे कवि चलेंगे, वह अलौकिक कोई सुन्दर पदों की रचना का क्रम साधु, सुन्दर रूप से, कहते हैं। अर्थात् सुन्दर सुबन्त तिङन्त [रूप पदों] के समर्पण की शैली का वर्णन करते हैं। [यहाँ] 'मार्ग', 'स्वैरविहार' आदि पद शब्द श्लेष की छाया से युक्त हैं इस प्रकार व्याख्या करना चाहिए।

इति श्री राजानक कुन्तक विरचित वक्रोक्तिजीवित नामक 'काव्यालङ्कार' (ग्रन्थ) में प्रथम उन्मेष समाप्त हुआ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां वक्रोक्तिदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां प्रथमोन्मेषः समाप्तः।

द्वितीयोन्मेषः

सर्वत्रैव सामान्यलक्षणे विहिते विशेषलक्षणं विधातव्यमिति काव्यस्य 'शब्दार्थौ सहितौ' इति [१, ७] सामान्यलक्षणं विधाय तदवयवभूतयोः शब्दार्थयोः साहित्यस्य प्रथमोन्मेष एव विशेषलक्षणं विहितम्। इदानीं प्रथमोद्दिष्टस्य वर्णविन्यासवक्रत्वस्य विशेषलक्षणमुपक्रमते—

एको द्वौ वहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ॥१॥

अथ वक्रोक्तिदीपिकायां द्वितीयोन्मेषः

पिछले उन्मेष के मध्य में ग्रन्थकार ने 'कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट्' [१, १८] कारिका में कविव्यापार की वक्रता के छः प्रकारों का उल्लेख किया था। उसके बाद उसी उन्मेष में छहों प्रकार की वक्रता के सामान्य लक्षण भी किए थे। अब इस द्वितीय उन्मेष में उस षड्विध-वक्रता का विशेष रूप से निरूपण करने के लिए इस उन्मेष का आरम्भ किया है। इस उन्मेष की प्रथम उन्मेष के साथ सङ्गति दिखलाते हुए ग्रन्थकार इस उन्मेष का प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं।

१ [क-अनुप्रास रूप] 'वर्णविन्यास-वक्रता' [१० भेद]—

सब ही जगह [सभी ग्रन्थों में] सामान्य लक्षण के करने के बाद विशेष लक्षण किया जाना उचित है इसलिए 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' शब्द और अर्थ सहभाव से युक्त होने पर 'काव्य' कहलाते हैं इस प्रकार [प्रथम उन्मेष की सप्तम कारिका में काव्य का] सामान्य लक्षण करके, उस [काव्य लक्षण] के अवयव भूत 'शब्द' तथा 'अर्थ' के 'सहभाव' का विशेष लक्षण प्रथम उन्मेष में हो कर चुके हैं। [उसके बाद कवि व्यापार की षड्विध-वक्रता का सामान्य निरूपण प्रथम उन्मेष में किया था। उस षड्विध-वक्रता के भेदों में से] सबसे पहिले कही गई [उद्दिष्ट] 'वर्णविन्यास-वक्रता' का विशेष लक्षण प्रारम्भ करते हैं—

[जिस रचना में] एक, दो अथवा बहुत से वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार [उसी रूप में] ग्रथित होते हैं, वह [एक, दो अथवा बहुत वर्णों की] रचना की वक्रता तीन प्रकार की 'वर्णविन्यास-वक्रता' कहलाती है ॥१॥

वर्णशब्दोऽत्र व्यञ्जनपर्यायः, तथा प्रसिद्धत्वात्। तेन सा वर्णविन्यासवक्रता व्यञ्जनविन्यसनविच्छित्तिः त्रिधा त्रिभिः प्रकारैरुक्ता वर्णिता। के पुनस्ते त्रयः प्रकारा इत्युच्यते—एकः केवल एव, कदाचिद् द्वौ बहवो, वा वर्णाः पुनः पुनर्बध्यमाना योज्यमानाः। कीदृशाः 'स्वल्पान्तराः'। स्वल्पं स्तोकमन्तरं व्यवधानं येषां ते तथोक्ताः। त एव त्रयः प्रकारा इत्युच्यन्ते। अत्र वीप्सया पुनः पुनरित्ययोगव्यवच्छेदपरत्वेन नियमः, नान्ययोगव्यवच्छेदपरत्वेन। तस्मात् पुनःपुनर्बध्यमाना एव, न तु पुनः पुनरेव बध्यमाना इति।

यहाँ वर्ण शब्द व्यञ्जन का पर्यायवाचक है। इस प्रकार [वर्ण शब्द के व्यञ्जन अर्थ में] प्रसिद्ध होने से। इसलिए वह 'वर्णविन्यास-वक्रता' अर्थात् व्यञ्जन रचना की सुन्दरता तीन प्रकार की कही अर्थात् वर्णन की गई है। वे तीन प्रकार कौन से हैं यह कहते हैं। [कहीं] केवल एक ही और कभी दो अथवा बहुत वर्ण बार-बार [उसी रूप में] ग्रथित या प्रयुक्त किए जाते हुए। कैसे, थोड़े-थोड़े अन्तर-युक्त। स्वल्प अर्थात् बहुत थोड़ा-सा अन्तर अर्थात् व्यवधान जिनका है वे उस प्रकार के [स्वल्पान्तराः] हुए। वे ही [वर्णविन्यास-वक्रता के] तीन प्रकार कहे जाते हैं। यहाँ पुनः पुनः इस [द्विरुक्ति से सूचित] वीप्सा से अयोगव्यवच्छेदपरक नियम [सूचित होता] है अन्ययोग व्यवच्छेदपरक [नियम सूचित] नहीं [होता है]। इसलिए बार बार निबद्ध हुए ही [वर्ण, वर्णविन्यास-वक्रता के प्रयोजक होते हैं यह अयोगव्यवच्छेदपरत्वेन नियम है] न कि बार-बार ही निबद्ध हुए [वर्ण, वर्णविन्यास-वक्रता के प्रयोजक हैं। एक-दो बार आवृत्त वर्ण इस वर्णविन्यासवक्रता के प्रयोजक नहीं हैं इस प्रकार का अन्ययोगव्यवच्छेदपरक नियम नहीं है]।

इसका अभिप्राय यह है कि 'पुनः-पुनः बध्यमानाः' इस द्विर्वचन से बार-बार ग्रथित होने का नियम सूचित होता है। यह नियम दो प्रकार का हो सकता है एक 'अयोगव्यवच्छेदपरक' नियम और दूसरा 'अन्ययोगव्यवच्छेदपरक' नियम। 'विशेषण-सङ्गतस्त्वेवकारो अयोगव्यवच्छेदकः' जब एव का सम्बन्ध विशेषण के साथ होता है तब वह 'अयोगव्यवच्छेदक' कहलाता है। जैसे 'पार्थो धनुर्धर एव' अर्थात् अर्जुन धनुर्धर ही है। यहाँ अर्जुन के साथ धनुर्धरत्व के अयोग अर्थात् सम्बन्धाभाव का निषेध एवकार के प्रयोग से सूचित होता है। अर्थात् अर्जुन के साथ धनुर्धरत्व का योग अवश्य है यह उसका अभिप्राय होता है। इसी प्रकार 'पुनः पुनः बध्यमाना एव' 'बार-बार निबद्ध हुए' वर्ण 'वर्णविन्यासवक्रता' के प्रयोजक होते ही हैं, यह 'अयोग-व्यवच्छेदपरक' नियम किया गया है। अर्थात् पुनः-पुनः निबद्ध्यमान वर्णों में वर्ण-विन्यासवक्रता अवश्य रहती है। यह अयोगव्यवच्छेदपरक नियम का अभिप्राय हुआ।

तत्रैकव्यञ्जननिबद्धोदाहरणं यथा—

धम्मिल्लो विनिवेशिताल्पकुसुमः सौन्दर्यधुर्यं स्मितं
विन्यासो वचसां विदग्धमधुरः कण्ठे कलः पञ्चमः ।
लीलामन्थरतारके च नयने यातं विलासालसं
कोऽप्यैवं हरिणीदृशः स्मरशरापातावदातः क्रमः ॥१॥

जब 'एव' का प्रयोग विशेष्य पद के साथ होता है तब वह 'अन्ययोगव्यवच्छेद' का सूचक होता है। जैसे 'पार्थ एव धनुर्धरः'। अर्जुन ही धनुर्धर है इस वाक्य में विशेष्य भूत पार्थ के साथ एव का प्रयोग हुआ है वह 'अन्ययोगव्यवच्छेदपरक' है। अर्थात् पार्थ से भिन्न अन्य कोई धनुर्धर नहीं है यह अन्य के साथ धनुर्धरत्व के योग का व्यवच्छेद इस नियम से सूचित होता है। इस प्रकार का 'अन्ययोगव्यवच्छेदपरक' नियम यहाँ नहीं है। अर्थात् बहुत बार आवृत्त वर्ण ही 'वर्णविन्यासवक्रता' के प्रयोजक हों, एक-दो बार आवृत्त वर्ण उसके प्रयोजक न हों यह नियम यहाँ अभिप्रेत नहीं है। यहाँ तो एक-दो बार भी एक से वर्णों की आवृत्ति 'वर्ण-विन्यासवक्रता' की जनक होती है यह अभिप्रेत है। इसलिए ग्रन्थकार ने यहाँ 'अन्य-योगव्यवच्केदक-परक' नियम न मानकर 'अयोगव्यवच्छेदपरक' नियम माना है।

ग्रन्थकार यह बात पहिले लिख चुके हैं कि इस 'वर्णविन्यासवक्रता' को ही अन्य आचार्यों ने 'अनुप्रास' नाम से कहा है। अनुप्रास में एक वर्ण की एक बार की हुई आवृत्ति भी अनुप्रास की प्रयोजिका मानी गई है। इसी प्रकार यहाँ पुनः-पुनः अर्थात् बहुत बार आवृत्ति से निबद्ध वर्ण ही 'वर्णविन्यासवक्रता' के प्रयोजक हों एक दो बार आवृत्त वर्ण उसके प्रयोजक न हों यह अभिप्रेत नहीं है। इसलिए यहाँ 'अयोगव्यवच्छेदपरक' नियम ही मानना उचित है।

उनमें से एक व्यञ्जन के [स्वल्पान्तर से पुनः-पुनः] प्रयोग का उदाहरण [निम्नलिखित श्लोक में है]। जैसे—

केशपाश में थोड़े से फूल गुंथे हुए हैं, मुस्कराहट कुछ अपूर्व सौन्दर्यमयी है, वचनों का प्रयोग चतुरतापूर्ण और मधुर है, गले में सुन्दर पञ्चम स्वर [कोकिल की सी आवाज] है, आँखें भावपूर्ण और मन्दगति वाली पुतलियों से युक्त हैं, हाव-भाव से अलस [अर्थात् मन्द] गति है इस प्रकार कामदेव के वाणों के विद्ध उस मृगनयनी का [सारा व्यापार का] क्रम कुछ अपूर्व-सा हो गया है ॥१॥

इसमें 'विनिवेशित' पद में 'वकार' की और 'सौन्दर्यधुर्यं' में 'र्यं' की आवृत्ति है। दूसरे चरण में 'विन्यासो वचसां विदग्ध' में 'वकार' की, 'कण्ठे कलः' में 'ककार' की 'लीलामन्थरतारके' में 'लकार' और रकार की 'नयने यातं' में 'यकार' की,

एकस्यद्वयोर्बहूनाञ्चोदाहरणं यथा—

भग्नैलावल्लरीकास्तरलितकदलीस्तम्बताम्बूलजम्बू-
जम्बीरास्तालतालीसरलतरलतालासिका यस्य जह्रुः।
वेलत्कल्लोलहेला विसकलनजड़ाः कूलकच्छेषु सिन्धोः
सेनासीमन्तिनीनामनवरतरताभ्यासतान्ति समीराः ॥२॥

'विलासालसं' में 'लकार' तथा 'सकार' की, और चौथे तरण में 'स्मरशरापातावदातः' में 'तकार' की आवृत्ति होने से श्लोक में कुछ अपूर्व सौन्दर्य प्रतीत हो रहा है। इसलिए यह कुन्तक के मत में 'वर्णविन्यासवक्रता' का और अन्यों के मत में अनुप्रास का उत्तम उदाहरण है।

एक, दो और बहुत वर्णों [की पुनः-पुनः आवृत्ति] का उदाहरण जैसे—

इलायचियों की बेलों को तोड़ लेने वाले [अतएव उनकी सुगन्ध से युक्त] केलों के समूह, पान [की बेलों] जामुन तथा नीबू [के वृक्षों] को हिलाने वाले ताड़ ताड़ी और सरलतर लताओं को नचाने वाली चञ्चल लहरों के साथ क्रीडा करने के कारण शीतल वायु, समुद्र-तट अथवा नदी-तट के कछारों में जिसकी सेना की स्त्रियों की निरन्तर रति [बहुसंख्यक सैनिकों के साथ क्रमशः] के अभ्यास से उत्पन्न श्रान्ति को दूर करती थी ॥२॥

यहाँ प्रथम चरण में एक 'लकार' का पाँच बार प्रयोग किया गया है। स्तम्ब ताम्बूल जम्बू जम्बीर ताल ताली सरलतरलतालासिका आदि में अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति की गई है। इन्हीं में ताल, ताली आदि दो वर्णों की आवृत्ति के उदाहरण भी हैं। इस प्रकार यह श्लोक भी कुन्तक के मत में 'वर्णविन्यासवक्रता' का और अन्यों के मत में अनुप्रास का उत्तम उदाहरण है।

नवीन आचार्यों ने अनुप्रास के छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास इस प्रकार पाँच भेद किए हैं। अनुप्रास का सामान्य लक्षण साहित्यदर्पण में 'अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्'। इस प्रकार किया गया है। अर्थात् कुन्तक जिस प्रकार 'वर्णविन्यासवक्रता' में केवल व्यञ्जनों के विन्यास को ही विशेष महत्त्व देते हैं स्वरों के साम्य को नहीं, उसी प्रकार अनुप्रास अलङ्कार को मानने वाले अनुप्रास में स्वरों का वैषम्य होते हुए भी केवल व्यञ्जनों के साम्य को ही महत्त्व देते हैं।

अनेक व्यञ्जनों का उसी स्वरूप और उसी क्रम से एक बार आवृत्ति होने पर 'छेकानुप्रास' कहा जाता है जैसे इस उदाहरण में 'तालताली', 'अववरतरताभ्यास' आदि में अनेक व्यञ्जनों की एक बार आवृत्ति होने से 'छेकानुप्रास' है। वृत्यनुप्रास

एतामेव वक्रतां विच्छित्यन्तरेण विविनक्ति—

वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्त-ल-नादयः ।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः ॥२॥

इयमपरा वर्णविन्यासवक्रता त्रिधा त्रिभिः प्रकारैरुक्तेति 'च' शब्देनाभिसम्बन्धः। के पुनरन्यस्यास्त्रयः प्रकारा इत्याह, 'वर्गान्तयोगिनः स्पर्शाः'।

में केवल एक प्रकार का अर्थात् केवल स्वरूपतः साम्य अपेक्षित होता है। उसी क्रम का होना आवश्यक नहीं है । अनुप्रास के पाँचों भेदों के लक्षण साहित्य-दर्पणकार ने इस प्रकार किए हैं—

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।
छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ॥३॥
अनेकस्यैकधासाम्यमसकृद्वाप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्यनुप्रास उच्यते ॥४॥
उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके ।
सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ।५॥
व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोजित्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ॥६॥
शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः ।
लाटानुप्रास इत्युक्तोऽनुप्रासः पञ्चधा ततः ॥७॥

साहित्यदर्पण १० । ३—७

इसी [वर्णविन्यास की] वक्रता को दूसरे [प्रकार के] सौन्दर्य से दिखाते हैं—

[कादयो मावसानाः स्पर्शाः 'क' से लेकर 'मकार' पर्यन्त अर्थात् 'कवर्ग' से 'पवर्ग' पर्यन्त पाँचों वर्गों के पच्चीस अक्षर स्पर्श कहलाते हैं ये] स्पर्श [वर्ण] अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से संयुक्त [होने पर], तकार लकार तथा नकार द्विरुक्त [अर्थात् द्वित्व किए हुए रूप में प्रयुक्त होने पर], तथा प्रस्तुत [रसादि] के [अनुसार] औचित्य से युक्त, रकारादि से संयुक्त शेष वर्ण [इस वर्णविन्यासवक्रता के सूचक होते हैं] ॥२॥

यह दूसरी [प्रकार की] 'वर्णविन्यासवक्रता' तीन प्रकार की कही गई है । यह [इस कारिका में प्रयुक्त] च शब्द का सम्बन्ध है । [१ तथा २ दोनों कारिका में तीन-तीन प्रकार की वर्णविन्यासवक्रता' कही है] इस [दूसरे प्रकार की वर्णविन्यासवक्रता के] वह कौन से तीन प्रकार हैं यह कहते हैं—(१) वर्गान्त से युक्त स्पर्श । ककार

स्पर्शाः कादयो मकारपर्यन्ता वर्गास्तदन्तैः ङकारादिभिर्योगः सम्बन्धो येषां ते तथोक्ताः पुनः पुनर्बध्यमानाः, प्रथमः प्रकारः । त-ल-न आदयः तकार-लकार-नकार-प्रभृतयो द्विरुक्ता द्विरुच्चारिता द्विगुणा सन्तः पुनः पुनर्बध्यमानाः, द्वितीयः । तद्व्यतिरिक्ताः शिष्टाश्च व्यञ्जनसंज्ञा ये वर्णास्ते रेफप्रभृतिभिः संयुक्ताः, पुनः पुनर्बध्यमानाः, तृतीयः । स्वल्पान्तराः परिमितव्यवहिता इति सर्वेषामभिसम्बन्धः । ते च कीदृशाः, प्रस्तुतौचित्यशोभिनः । प्रस्तुतं वर्ण्यमानं वस्तु तस्य यदौचित्यमुचितभावः, तेन शोभन्ते ये ते तथोक्ताः । न पुनर्वर्णसावर्ण्यव्यसनितामात्रेणोपनिबद्धाः, प्रस्तुतौचित्यम्लानकारिणः । प्रस्तुतौचित्यशोभित्वात् कुत्रचित् परुषरसप्रस्तावे तादृशानेवाभ्यनुजानाति ।

से लेकर मकार पर्यन्त [अर्थात् कवर्ग से पवर्ग पर्यन्त पाँचों] वर्ग 'स्पर्श' कहलाते हैं । उन [पाँचों वर्गों] के अन्त के ङकार आदि के साथ योग अर्थात् संयोग जिनका हो वह उस प्रकार के [अर्थात् वर्गान्तयोगिनः] है । [इस प्रकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ संयुक्त रूप में] बार-बार प्रयुक्त [वर्ण, वर्णविन्यासवक्रता के प्रयोज्य होते हैं] यह [वर्णविन्यासवक्रता का] प्रथम प्रकार है । त-ल-नादयः अर्थात् तकार लकार और नकार आदि द्विरुक्त अर्थात् द्वित्व रूप में दो बार उच्चारित होकर बार-बार निबद्ध हों [यह वर्णविन्यासवक्रता का] दूसरा प्रकार है । उन [वर्गान्त योगी स्पर्श वर्णों तथा द्विरुक्त तकार लकार नकार आदि] से भिन्न शेष व्यञ्जन संज्ञक जो वर्ण है वे रेफ आदि से संयुक्त रूप में बार-बार निबद्ध हों यह [वर्णविन्यास-वक्रता का] तृतीय प्रकार है । [इन सभी भेदों में पुनः पुनः निबद्ध व्यञ्जन] थोड़े अन्तर वाले अर्थात् परिमित व्यवधान वाले होने चाहिएँ यह सबके साथ सम्बन्ध है । और वह किस प्रकार के [होने चाहिएँ] प्रस्तुत [रसादि के अनुरूप] औचित्य से युक्त अथवा मनोहर । प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्यमान वस्तु, उसका जो औचित्य अर्थात् उचित रूपता, उससे शोभित होने वाले जो वर्ण वे उस प्रकार के [प्रस्तुतौचित्य-शालिनः] है । वर्णों की समानता [अर्थात् अनुप्रास] के प्रयोग के रोग के कारण [जबरदस्ती] उपनिबद्ध [और इसलिए] प्रस्तुत [वस्तु के सौन्दर्य] को मलिन करने वाले न होने चाहिएँ । कहीं-कहीं [वीर, बीभत्स, रौद्र, भयानक आदि] कठोर रसों के प्रसङ्ग में प्रस्तुत [रस] के औचित्य से शोभित होने के कारण उसी प्रकार के [अनुप्रास की आदत के कारण प्रयुक्त हुए] वर्णों के प्रयोग की अनुमति दी गई है ।

अन्य आचार्यों ने इस द्वितीय वर्णविन्यासवक्रता का वर्णन गुणों वृत्तियों और रीतियों के प्रसङ्ग में किया है । अलग-अलग गुणों में भिन्न प्रकार के वर्णों के प्रयोग का

विधान किया गया है। साहित्यदर्पणकार ने उनका वर्णन करते हुए लिखा है।

चित्तद्रवीभावमयो ल्हादो माधुर्यमुच्यते।
मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान् विना।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।

अर्थात् 'माधुर्य' गुण में टवर्ग को छोड़कर अन्य वर्गों के अक्षर अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से संयुक्त रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं। और लघु रकार तथा णकार का प्रयोग तथा समासरहित अथवा अल्पसमास वाले पदों का प्रयोग 'माधुर्य' का अभिव्यञ्जक होता है।

'ओज' गुण का निरूपण करते हुए साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ।
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफो टठडढैः सह।
शकारश्च षकारकश्च तस्य व्यञ्जकतां गतः।
तथा समासबहुला घटनौद्धत्यशालिनी।

अर्थात् चित्त के विस्तार रूप दीप्तत्व को 'ओज' कहते हैं। वीर, वीभत्स तथा रौद्र रसों में क्रमशः 'ओज'-गुण का आधिक्य होता है। वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ उसी वर्ग के उससे अगले वर्ण अर्थात् प्रथम वर्ण का द्वितीय वर्ण के साथ और तृतीय वर्ण का चतुर्थ वर्ण के साथ संयोग, ऊपर या नीचे या दोनों जगह लगने वाले रेफ का प्रयोग, ट ठ ड ढ श और ष ये वर्ण उस 'ओज' गुण की अभिव्यक्ति में कारण होते हैं। इस में समास बहुल उद्धत रचना होती है।

तीसरे 'प्रसाद' गुण का निरूपण करते हुए साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—

चित्तं व्याप्नोति य. क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः।

इस प्रकार कुन्तक ने वर्णविन्यासवक्रता के द्वितीय प्रकार में विशेष प्रकार के वर्णों के जिस प्रयोग का वर्णन किया है उसका वर्णन नवीन आचार्यों ने गुणों, वृत्तियों तथा रीतियों के प्रसङ्ग में किया है।

गणों, वृतियों तथा रीतियों का समन्वय करते हुए मम्मट ने लिखा है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः ॥८०॥
केषाञ्चिदेता वैदर्भी प्रमुखा रीतयो मताः।

तत्र प्रथमप्रकारोदाहरणं यथा—

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा
गुञ्जन्ति मञ्जु मधुपाः कमलाकरेषु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि बिम्बम् ।।३।।[1]

यथा च—

कदलीस्तम्बताम्बूलजम्बूजम्बीराः ।[2] *इति ।।४।।*

यथा वा—

सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणाम् ।इति।।५।।

अब प्रथम प्रकार [वर्गान्तयोगिनः स्पर्शाः] का उदाहरण [देते हैं] जैसे—

यह श्लोक 'शार्गंधरपद्धतिः' में संख्या ३७३६ पर दिया गया है और काव्य-प्रकाश' में भी पृ० १६२ पर उद्धृत हुआ है ।

खिले हुए रक्त कमलों के पराग से पीले अङ्गों वाले भौंरे कमलों के तालाबों में मधुर गुञ्जन कर रहे हैं और उदयाचल का चुम्बन करने वाले [उदयाचल पर स्थित] दुपहरिया अथवा गुड़हल के फूल के समान [अत्यन्त रक्त वर्ण] यह [प्रातः-काल उदय हुए] सूर्य का बिम्ब शोभित हो रहा है ।।३।।

उन्निद्र, पिशङ्गिताङ्गा, गुञ्जन्ति, मञ्जु, बन्धु, चुम्बि, बिम्बम् आदि शब्दों में स्पर्श वर्ण वर्गान्त वर्णों के साथ संयुक्त रूप में प्रयुक्त हुए हैं । इसलिए यह प्रथम प्रकार अर्थात् 'वर्गान्तयोगिनः स्पर्शाः' का उदाहरण है ।

और जैसे [ऊपर उद्धृत किए हुए उदाहरण सं० २ के प्रथम चरण में]—

कदलीस्तम्ब, ताम्बूलजम्बूजम्बीरवाः ।।४।।

इसमें स्तम्ब, जम्बू, जम्बीर आदि शब्दों में वकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण मकार के साथ संयुक्त रूप में प्रयुक्त हुआ है । अतएव वह भी 'वर्गान्तयोगिनः स्पर्शाः' का उदाहरण है ।

अथवा जैसे—

सरस्वती के हृदयारविन्द के मकरन्दबिन्दुओं के [सन्दोह] समूह से सुन्दरों के ।।५।।

---

१. शार्ङ्गधर पद्धति सं० ३७३६, काव्यप्रकाश उदाहरण सं० ११० ।
२. इसी उन्मेष का उदाहरण सं० २ देखो ।

द्वितीयप्रकारोदाहरणं—

प्रथममरुणच्छायः ॥६॥[1]

इत्यस्य द्वितीयचतुर्थौ पादौ ।

तृतीयप्रकारोदाहरणमस्यैव तृतीयः पादः । यथा वा—

सौन्दर्यधुर्यस्मितम् ॥७॥[2]

इस उदाहरण में तवर्ग के तृतीयाक्षर दकार का अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण नकार के साथ पाँच जगह प्रयोग हुआ है । अतएव यह भी प्रथम प्रकार अर्थात् 'वर्गान्तियोगिनः स्पर्शाः' का उदाहरण है ।

द्वितीय प्रकार [अर्थात् 'द्विरुक्तास्त-ल-नादयः' त, ल, न, आदि के द्वित्व रूप के प्रयोग] का उदाहरण जैसे [पहिले प्रथमोन्मेष में उदाहरण सं० ४१ पर उद्धृत]—

'प्रथममरुच्छायः' इस [श्लोक] के द्वितीय तथा चतुर्थ पाद ॥६॥

श्लोक के वे दोनों चरण इस प्रकार हैं—

तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ।
सरसविसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥

इसके द्वितीय चरण में 'विरहोत्ताम्यत्तन्वी' पदों में दो जगह तकार का द्वित्व किया हुआ प्रयोग है इसलिए यह दूसरे वक्रता प्रकार का उदाहरण हो सकता है । परन्तु चतुर्थ चरण में तो त, ल, न, में से किसी के द्वित्व का प्रयोग नहीं हुआ है । परन्तु उसमें च्छेदच्छवि में च्छ के संयोग का दो बार प्रयोग हुआ है इसी कारण उसको भी द्वितीय प्रकार के वक्रता-भेद का उदाहरण ग्रन्थकार ने बतलाया है । 'त-ल-नादयः' आदि पद से च्छ के संयोग का भी ग्रहण किया जा सकता है ।

तृतीय प्रकार [की वक्रता भेद] का उदाहरण इसी [प्रथममरुणच्छायः आदि श्लोक] का तृतीय पाद [प्रसरति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे] है ।

इस उदाहरण में प्र, ध्व, क्ष आदि संयुक्त वर्णों के प्रयोग के कारण ग्रन्थकार ने उसे तृतीय प्रकार के वक्रता-भेद का उदाहरण बतलाया है ।

अथवा जैसे [इसी उन्मेष के सबसे पहिले उदाहरण के प्रथम चरण में आया हुआ]—

सौन्दर्यधुर्यस्मितम् ॥७॥

---

१. उदाहरण १, ४१ । २. उदाहरण २, १ ।

यथा च 'कल्हार' शब्दसाहचर्येण 'ल्हाद' शब्दप्रयोगः।

परुषरसप्रस्तावे तथाविधसंयोगोदाहरणं यथा—

उत्ताम्यत्तालवश्च प्रतपति तरणावांशवीं तापतन्द्री-

मद्रिद्रोणीकुटीरे कुहुरिणि हरिणारातयो यापयन्ति ॥८॥[1]

इस ग्रंश में दो बार रेफ के संयोग का प्रयोग होने से वह तृतीय वक्रता-भेद का उदाहरण होता है।

ग्रौर जैसे 'कल्हार' शब्द के साहचर्य में 'ल्हाद' शब्द का प्रयोग [भी इस तृतीय प्रकार के वक्रता-भेद का उदाहरण हो सकता है]।

कठोर रस के प्रसङ्ग में उस प्रकार के संयोग का उदाहरण जैसे—

यह श्लोक कवीन्द्रवचनामृत सं० ६३ पर दिया गया है।

[मध्यान्ह काल में] सूर्य के [ग्रत्यधिक] तपने पर [गर्मी के कारण] चटकते हुए तालुग्रों वाले सिंह [हरिणारातयः] पहाड़ी तलहटी के [गुफ़ा रूप] कुटीर में किरणों की गर्मी की तन्द्रा को पूर्ण करते हैं ॥८॥

यहाँ भयङ्कर, गर्मी के समय पर्वत की गुफ़ा में पड़े हुए सिंहों के वर्णन के कठोर प्रसङ्ग में कठोर रचना ही उपयुक्त है इसलिए कवि ने उस प्रकार की रचना की है। इस श्लोक में 'ग्रांशवीं तापतन्द्रीं' के स्थान पर 'ग्रांशिकीं तापतन्द्रां' पाठ भी हो सकता है। उसका ग्रभिप्राय यह होगा कि गर्मी के समय जो थोड़ी-सी तन्द्रा ग्राती है उसको सिंह व्यतीत करते हैं। ग्रर्थात् गर्मी से व्याकुल सिंह पर्वत की गुफ़ा में थोड़ी देर के लिए तनिक-सी तन्द्रा प्राप्त कर दिन को काटते हैं।

प्रथम तथा द्वितीय कारिका में जो 'वर्णविन्यास-वक्रता' दिखलाई थी उसम थोड़े-थोड़े ग्रन्तर से वर्णों की ग्रावृत्ति का विधान किया है 'स्वल्पान्तराः' पद से उन दोनों में समान वर्णों की ग्रावृत्ति में थोड़ा-सा व्यवधान होना ग्रावश्यक बतलाया है। ग्रब ग्रगली कारिका में यह दिखलाते हैं कि कहीं-कहीं व्यवधान के न होने पर भी केवल स्वरों का वैषम्य होने से समान वर्णों की एक साथ रचना में भी मनोहरता ग्रा जाती है। यह भी 'वर्णविन्यास-वक्रता' का तीसरा प्रकार हो सकता है।

---

१. कवीन्द्रवचनामृत सं० ६३।

एतामेव वैचित्र्यान्तरेण व्याचष्टे—

क्वचिदव्यवधानेऽपि मनोहारिनिबन्धना ।
सा स्वराणामसारूप्यात् परां पुष्णाति वक्रताम् ॥३॥

क्वचिदनियतप्रायवाक्यैकदेशे कस्मिंश्चिदव्यवधानेऽपि व्यवधानाभावेऽप्येकस्य द्वयोः समुदितयोश्च बहूनां वा पुनः पुनर्बध्यमानानामेषां मनोहारिनिबन्धना हृदयावर्जकविन्यासा भवति । काचिदेवं सम्पद्यत इत्यर्थः । यमकव्यवहारोऽत्र न प्रवर्तते तस्य नियतस्थानतया व्यवस्थानात् । स्वरैरव्यवधानमत्र न विवक्षितं, तस्यानुपपत्तेः ।

तत्रैकस्याव्यवधानोदाहरणं यथा—

वामं कज्जलवद्विलोचनमुरो रोहद्विसारिस्तनम् ॥६॥[1]

इसी [वर्णविन्यास-वक्रता] को अन्य प्रकार के वैचित्र्य द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

कहीं व्यवधान के न होने पर भी [केवल बीच में आने वाले] स्वरों के भेद [असादृश्य] से हृदयाकर्षक वह [रचना काव्यनिष्ठ] सौन्दर्य को अत्यन्त परिपुष्ट करती है ।

कहीं अर्थात् वाक्य के किसी अनियत-प्राय एक देश में अव्यवधान अर्थात् [सदृश व्यञ्जनों की स्थिति में] अन्तर न होने पर भी एक [ही वर्ण] अथवा मिले हुए दो [वर्णों] अथवा बहुत-से बार-बार ग्रथित किए हुए इन वर्णों की मनोहर अर्थात् हृदयाकर्षक विन्यासयुक्त रचना होती है । कोई [विशेष रचना ही] इस प्रकार की [हृदयाकर्षक विन्यास वाली] होती है [सब नहीं] । इस जगह यमक [अलङ्कार का] व्यवहार नहीं किया जा सकता है । उस [यमक] के नियत स्थान रूप से व्यवस्थित होने से । [अर्थात् यमक में पाद के आदि, मध्य या अन्त में किसी नियत स्थान पर वर्णों की आवृत्ति करने का नियम है परन्तु वर्णविन्यास-वक्रता के इस भेद में स्थान का कोई नियम नहीं है । अतः इसको यमक नहीं कहा जा सकता है । कारिका में जो 'क्वचिदव्यवधानेऽपि' इन शब्दों का प्रयोग किया गया है वहाँ] स्वरों से अव्यवधान यहाँ उसके अनुपपन्न होने से विवक्षित नहीं है । [किन्तु व्यञ्जनों का परस्पर अव्यवधान ही विवक्षित है] ।

उसमें एक [वर्ण] के अव्यवधान का उदाहरण जैसे—

वाम नेत्र कज्जलयुक्त और स्तन बढ़ते हुए विस्तार से युक्त है ॥६॥

इस मल श्लोक में कज्जल शब्द में जकार का अव्यवधान से प्रयोग मानकर उदाहरण दिया है ।

---

१. उदाहरण १, ४४ ।

द्वयोर्यथा—

ताम्बूलीनद्धमुग्धक्रमुकतरुतलस्स्तरे सानुगाभिः ।
पायं पायं कलाचीकृतकदलदलं नारिकेलीफलाम्भः ।
सेव्यन्तां व्योमयात्राश्रमजलजयिनः सैन्यसीमन्तिनीभि-
र्दात्यूहव्यूहकेलीकलितकुहकुहारावकान्ता वनान्ताः ॥१०॥[1]

दो [वर्णों] के अव्यवधान से प्रयोग का उदाहरण] जैसे—

राजशेखर कृत 'बालरामायण' नाटक के प्रथम अङ्क के अन्त में सीता-स्वयम्वर के अवसर पर मिथिलापुरी आया हुआ रावण अपने सेनापतियों को आदेश दे रहा है कि हम सब दो-चार दिन मिथिलापुरी के समीपवर्ती भाग में ठहरेंगे इसलिए हमारी सेना की महिलाएँ निश्चिन्त होकर यहाँ के वनप्रान्त का आनन्द अनुभव करें । श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

पान की बेलों से घिरे हुए सुपारी के वृक्षों के नीचे पड़े हुए विस्तरों के ऊपर [बैठकर] केले के पत्तों के दोने [कलाची-कृत पीने के पात्र] बनाकर नारियल के फलों का पानी [यथेच्छ रूप से] पी-पी कर [लङ्का से मिथिला तक की] आकाश-मार्ग से की गई यात्रा के [कारण उत्पन्न] पसीनों को, सुखा देने वाले और कौओं के समूह की क्रीडा से होने वाले काँव-काँव शब्द से गूँजते हुए, सुन्दर वन प्रदेशों को हमारी सेना की महिलाएँ अपने [सहचारियों अथवा] सहचरों के साथ [यथेष्ट] सेवन करें ॥१०॥

इस श्लोक में पायं पायं, कदलदलं, दात्यूहव्युह, केलीकलित, कुहकुहाराव, कान्ता वनान्ता आदि में दो-दो अक्षरों का अव्यवधान से प्रयोग मानकर इसकी इस प्रकार की वर्णविन्यास-वक्रता का उदाहरण बतलाया है ।

बालरामायण में कलाचीकृत के स्थान पर कलावीकृत पाठ पाया जाता है । और 'कलावीकृतानि' का अर्थ पात्रीकृतानि किया गया है । वक्रोक्तिजीवितकार ने कलाचीकृतकदलदलं पाठ रखा है । उसका भी अर्थ वह ही है । नारियल के जल को पीने के लिए केले के पत्तों के दोनों जैसे पीने के पात्र बनाकर, यह अर्थ उ से प्रतीत होता है । बालरामायण के टीकाकार ने 'दात्यूह' का अर्थ कोकिल किया है परन्तु वह ठीक नहीं है । अमर कोष में 'दात्यूह' शब्द को कौए का पर्यायवाची माना है कोकिल का नहीं ।

द्रोणकाकस्तु काकोलः दात्यूहः कालकण्ठकः ।

अर्थात् काली गर्दन वाले कौए को दात्यूह कहते हैं ।

---

१. बाल रामायण १, ६३ । सुवृत्ततिलक २. ४१ ।

यथा वा—

अयि पिबत चकोराः कृत्स्नमुन्नाम्य कण्ठान्
क्रमुकबलनचञ्चच्चञ्चवश्चन्द्रिकाम्भः ।
विरहविधुरितानां जीवितत्राणहेतो-
र्भवति हरिणलक्ष्मा येन तेजोदरिद्रः ॥११॥[1]

बहूनां यथा—

सरलतरलतालासिका ॥इति ॥१२॥[2]

'अपि' शब्दात् क्वचिद् व्यवधानेऽपि ।

अथवा जैसे—

यह श्लोक भी राजशेखर कृत बालरामायण से लिया गया है । पञ्चम अङ्क में, सीता को प्राप्त न कर सकने के कारण उन्मत्त होकर रावण ने जो व्यापार किए हैं उन्ही का वर्णन पञ्चम अङ्क में किया गया है । उसी प्रसङ्ग में से यह श्लोक उद्धृत किया गया है । रावण चकोरों को सम्बोधन करके कह रहा है—

सुपारियों के खाने से तेज चोंचों वाले हे चकोरो, विरह दुःख से दुःखी जनों के प्राणों की रक्षा के लिए अपनी गर्दनों को ऊँचा करके सारे के सारे चाँदनी रूप जल को पी जाओ । जिससे चन्द्रमा अपनी कान्ति से बिल्कुल रहित हो जाय ॥११॥

इस श्लोक में कृत्स्नं, उन्नाम्य, कण्ठान्, चञ्चच्चन्द्रवश्चन्द्रिकाम्भः, त्राणहेतोः, लक्ष्मा आदि पदों में दो-दो वर्णों का अव्यवधानेन प्रयोग होने से इसको उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसके पूर्वार्द्ध का पाठ बालरामायण में इस पाठ से कुछ भिन्न प्रकार का पाया जाता है जो इस प्रकार है—

अयि पिबत चकोराः कृत्स्नमुन्मामिकण्ठ
क्रमकवलनचञ्चच्चन्द्रकान्तीरमिश्राः ॥

परन्तु यह पाठ अत्यन्त अशुद्ध और असङ्गत होने से अनुपादेय है ।

बहुत [से वर्णों के अव्यवधान से प्रयोग] का [उदाहरण] जैसे—

सरलतरलतालासिका ॥१२॥

इस उदाहरण में ल त र ल त आदि अनेक वर्णों का अव्यवधान से प्रयोग होने के कारण उसको इस प्रकार की वर्णविन्यास-वक्रता उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है । [कारिका में कहे हुए] 'अपि' शब्द से कहीं व्यवधान में भी [इस प्रकार की वर्णविन्यास-वक्रता हो सकती है । यह बात सूचित होती है] ।

---

१. बालरामायण ५, ७३ । २. उदाहरण २, २ ।

द्वयोर्यथा—

स्वस्थाः सन्तु वसन्त ते रतिपतेरग्रेसरा वासराः ॥१३॥[1]

बहूनां व्यवधानेऽपि यथा—

चकितचातकमेचकितवियति वर्षात्यये ॥१४॥

'सा स्वराणामसारूप्यात्' सेयमनन्तरोक्ता स्वराणामकारादीनामसारूप्यादसादृश्यात् । क्वचित् कस्मिंश्चिदावर्तमानसमुदायैकदेशे परामर्म्यां वक्रतां कामपि पुष्णाति पुष्यतीत्यर्थः । यथा—

राजीवजीवितेश्वरे ॥१५॥

यथा वा—

धूसरसरिति । इति ॥१६॥

दो [वर्णों] के अव्यवधान में [वर्णविन्यास-वक्रता का उदाहरण] जैसे—

हे वसन्त ! कामदेव के आगे आगे चलने वाले तुम्हारे दिन स्वस्थ हों ॥१३॥

इस मूल उदाहरण में 'अग्रेसरा' वासरा में सरा इन दो वर्णों की वा के व्यवधान से आवृत्ति हुई है, अतः यह 'क्वचिद् व्यवधानेऽपि' का उदाहरण है ।

व्यवधान होने पर भी बहुतों [बहुत से वर्णों की आवृत्ति] का [उदाहरण] जैसे—

वर्षा की समाप्ति के बाद चकित चातकों से व्याप्त आकाश में ॥१४॥

इस उदाहरण में 'चकित' पद की दो बार आवृत्ति है परन्तु उनके बीच में 'चातकमे' इन वर्णों का व्यवधान है । इसलिए यह व्यवधान में बहुत से वर्णों की आवृत्ति का उदाहरण हुआ ।

वह स्वरों के भेद होने से अर्थात् 'वह' जो [वर्णविन्यासवक्रता] अभी कही है वह अकार आदि स्वरों के असादृश्य से कहीं अर्थात् आवर्तमान [वर्णों के] समुदाय के एक देश में किसी अन्य [अपूर्व] वक्रता को पुष्ट करती है अर्थात् बढ़ाती है जैसे—

'राजीवजीवितेश्वरे' [में जीव और जीवि की आवृत्ति है उसमें वकार के साथ स्वरों का असादृश्य है] कमलों के जीवनाधार [सूर्य] के उदय होने पर ॥१५॥

अथवा जैसे—

'धूसरसरिति' ['मलिन नदी में' सर, सरि की आवृत्ति है और उसमें र के साथ के स्वर में असादृश्य है ।] ॥१६॥

---

१. उदाहरण २, १७ ।

यथा च—

स्वस्थाः सन्तु वसन्त । इति ॥१७॥[1]

यथा वा—

तालताली । इति ॥१८॥[2]

सोऽयमुभयप्रकारोऽपि वर्णविन्यासवक्रताविशिष्टवाक्यविन्यासो यमकाभासः सन्निवेशविशेषो मुक्ताकलापमध्यप्रोतमणिमयपदकबन्धबन्धुरः सुतरां सहृदयहृदयहारितां प्रतिपद्यते । तदिदमुक्तम्—

अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम् ।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् । इति ॥१९॥[3]

एतामेव विविधप्रकारां वक्रतां विशिनष्टि, यदेवंविधवक्ष्यमाणविशेषणविशिष्टा विधातव्येति —

और जैसे—

'स्वस्थाः सन्तु वसन्त' इस में [सन्तु सन्त की आवृत्ति । परन्तु उसके अन्तिम स्वर में असादृश्य है ।] ॥१७॥

अथवा जैसे—

'तालताली' यह ॥१८॥

[इसमें लकार के साथ में प्रयुक्त स्वरों में असादृश्य है और तालताली पदों की आवृत्ति है । अतः यह भी वर्णविन्यासवक्रता का उदाहरण है] ।

यह [व्यवधान अथवा अव्यवधान से विरचित] दोनों प्रकार की 'वर्णविन्यास-वक्रता' से युक्त वाक्य की रचना यमकाभास रूप सन्निवेश विशेष है जो मुक्ता-हार के बीच में गूंथे गए मणिमय पदक [मणिमय छोटी-छोटी पदकों] के समान सुन्दर [होने से] स्वयं ही सहृदयों का हृदयहारी हो जाता है । इसी को [ग्रन्थकार ने प्रथम उन्मेष की निम्नलिखित ३५वीं कारिका में] कहा है—

जहाँ कवि लोग [एक अलङ्कार से] सन्तुष्ट न होकर हार आदि [अलङ्कार] में मणियों [दूसरे अलङ्कार] के जड़ाने के समान एक अलङ्कार के अलङ्करण रूप में दूसरे अलङ्कार की रचना करते हैं । [वह चित्र नामक दूसरे प्रकार का मार्ग है] यह [पहिले कह चुके हैं] ॥१९॥

इसी नाना प्रकार की वक्रता की विशेषता कहते हैं कि उसे [आगे कहे जाने वाले] इस प्रकार के विशेषणों से युक्त करना चाहिए ।

---

१. उदाहरण २, १३ । २. उदाहरण २, २ । ३. कारिका १, ३५ ।

नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता ।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला ॥४॥

'नातिनिर्बन्धविहिता', 'निर्बन्ध'शब्दोऽत्र व्यसनितायां वर्तते । तेनातिनिर्बन्धेन पुनः पुनरावर्तनव्यसनितया न विहिता । अप्रयत्नविरचितेत्यर्थः । व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेर्वाच्यवाचकयोः परस्परस्पर्धित्वलक्षणसाहित्यविरहः पर्यवस्यति । यथा—

भण तरुणि ॥इति ॥२०॥[1]

'नाप्यपेशलभूषिता', न चाप्यपेशलैरसुकुमारैरलंकृता । यथा—

शीर्णघ्राणांघ्रि ॥इति ॥२१॥[2]

[वह वर्णविन्यासवक्रता] अत्यन्त आग्रहपूर्वक विरचित न हो और न असुन्दर [प्रकृत रस-विरोधी] वर्णों से भूषित हो। और [बार-बार एक ही प्रकार के वर्णों की आवृत्ति अर्थात् एक ही प्रकार के यमक का आवृत्ति रूप न होकर] पूर्व आवृत्त [यमक] को छोड़ कर नवीन [वर्णों के यमक] के पुनरावर्तन से मनोहर बनानी चाहिए ॥४॥

अत्यन्त आग्रहपूर्वक विरचित न हो। यहाँ निर्बन्ध' शब्द व्यसनिता का बोधक है। अत्यन्त आग्रह से अर्थात् बार-बार वर्णों के दुहराने की आदत से [वह आवृत्ति] न की गई हो। [अपितु] बिना प्रयत्न के [स्वाभाविक रूप से] विरचित हो। आदत के कारण प्रयत्नपूर्वक [वर्णों की आवृत्ति की] रचना करने से प्रस्तुत [रसादि] के औचित्य की हानि होने से शब्द और अर्थ का [सौन्दर्यजनन में] परस्परस्पर्धित्व रूप 'साहित्य' का अभाव हो जाता है। जैसे—

[उदा० सं० ६ पर उद्धृत] 'भण तरुणि' इत्यादि में [दिखला चुके हैं]॥२०॥ और न अपेशल अर्थात् असुकुमार वर्णों से भूषित हो। जैसे—

'शीर्णघ्राणांघ्रि' इसमें ॥२१॥

यह 'शीर्णघ्राणांघ्रि' आदि श्लोक महाकवि मयूरभट्ट विरचित 'सूर्यशतक-नामक काव्य का छठा श्लोक है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

शीर्णघ्राणांघ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।

---

१. उदाहरण १, ६।

२. सूर्यशतक श्लोक ६, काव्यप्रकाश उदा० सं० ३०१ पर उद्धृत।

तदेवं कीदृशी तर्हि कर्तव्येत्याह—'पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला'। पूर्वमावृत्तानां पुनः पुनर्विरचितानां परित्यागेन प्रहाणेन नूतनानामभिनवानां वर्णानामावर्तनेन पुनः पुनः परिग्रहेण च। तदेवमुमाभ्यां प्रकाराभ्यामुज्ज्वला भ्राजिष्णुः। यथा—

एतां पश्य पुरस्तटीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूड़ान्तरे ताड़ितः।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते-
र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डनम् ॥२२॥

धर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृते-
र्दत्तार्धाः सिद्धसिद्धैः विदधतु घृणया शीघ्रमंहोविघातम् ॥

इस श्लोक में सभी जगह कठोर वर्णों का प्रयोग किया गया है। अतः वह वर्णविन्यासवक्रता का सुन्दर उदाहरण नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रकार वह [वर्णविन्यासवक्रता] कैसी करनी चाहिए यह कहते हैं। पहले आवृत्त [वर्णों] को छोड़कर नवीन [वर्णों] की आवृत्ति से उज्ज्वल। पूर्व आवृत्त अर्थात् बार-बार ग्रथित [वर्णों] को परित्याग कर नूतन, नए-नए वर्णों की आवृत्ति से अर्थात बार-बार ग्रहण या दुहराने से, इस प्रकार [पूर्वावृत्तपरित्याग तथा नूतनावर्तन रूप] दोनों प्रकारों से उज्ज्वल अर्थात् शोभायमान [करनी चाहिए]। जैसे—

इस श्लोक को भरत नाट्यशास्त्र की अभिनव भारतीय टीका में १६वें अध्याय में सरस्वतीकष्ठाभरण में पृ० ३०० पर हेमचन्द्र के काव्यानु-शासन में पृ० २९७ पर भी उद्धृत किया गया है।

इस सामने के किनारे को देखो, यहाँ पहले समय में नकली किरात वेषधारी शिव के मस्तक पर [युद्ध के समय] अर्जुन ने अपने धनुष से बड़े जोर से प्रहार किया था। इस प्रकार हिमालय पर्वत पर सुभद्रापति अर्जुन की [शिव पर प्रहार करने रूप] अद्भुत कथा को सुनकर जिसने धीरे-धीरे अपनी भुजाओं को [लड़ने के लिए] सन्नद्ध [अलंकृत तैयार] किया ॥२२॥

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में ककार की अनेक बार आवृत्ति है उसका परित्याग कर चतुर्थ चरण में 'दण्डयोर्मण्डनम्' में नूतन वर्णों की आवृत्ति की गई है। इसलिए इसमें पूर्ववृत का परित्याग और नूतन की आवृति होने से यह दोनों प्रकार की मनोहरता से युक्त है।

यथा वा—

हंसानां निनदेषु इति ॥२३॥

यथा च—

एतन्मन्दविपक्व इत्यादौ ॥२४॥

यथा वा—

णमह दसाणणसरहसकरतुलिअबलन्तसेलभअविहलं ।
वेबंतयोरथणहरहरकअकंठग्गहं गौरिं ॥
[नमत दशाननसरभसकरतुलितवलच्छैलभयविह्वलाम् ।
वेपमानस्थूलस्तनभरहरकृतकण्ठग्रहां गौरीम् ॥२५॥ इतिच्छाया]४॥

एवमेतां वर्णविन्यासवक्रतां व्याख्याय तामेवोपसंहरति--

वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी ।
वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः ॥५॥

अथवा जैसे—

[पिछले उदा० १, ७३ पर उद्धृत] 'हंसानां निनदेषु' इत्यादि [श्लोक में] ॥२३॥

अथवा जैसे—

[पिछले उदा० १, १०७ पर उद्धृत] 'एतन्मन्दविपक्व' इत्यादि [श्लोक] में ॥२४॥

अथवा जैसे—

रावण के द्वारा वेग से हाथ पर उठा लेने के कारण हिलते हुए कैलाश पर्वत पर भय से विह्वल हुई और हिलते हुए स्तनों के भार से युक्त शिव के गले में चिपट जाने वाली पार्वती को नमस्कार करो ॥२५॥

इसमें भी पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध भाग में अलग-अलग वर्णों की आवृत्ति है। अतः यह भी 'पूर्वावृत्तपरित्याग' तथा 'नूतनावर्तनोज्ज्वलता' का उदाहरण है ।.४।।

इस प्रकार वर्णविन्यासवक्रता की व्याख्या करके अब उसी का उपसंहार करते हैं—

वर्णों के सौन्दर्य [श्रव्यता आदि] के अनुसार [माधुर्य आदि] गुणों और [सुकुमार आदि] मार्ग का अनुसरण करने वाली उसी [वर्णविन्यासवक्रता] को प्राचीन [उद्भट आदि] आचार्यों ने [उपनागरिका आदि] वृत्तियों के वैचित्र्य से युक्त कहा है ॥५॥

वर्णानामक्षराणां या छाया कान्तिः श्रव्यतादिगुणसम्पत्, तया हेतुभूतया यदनुसरणमनुसारः प्राप्यस्वरूपानुप्रवेशस्तेन। गुणान् माधुर्यादीन् मार्गांश्च सुकुमारप्रभृतीननुवर्तते या सा तथोक्ता। तत्र गुणानामन्तरम्यात् प्रथममुपन्यसनम्। गुणद्वारेणैव मार्गानुसरणोपपत्तेः।

तदयमत्रार्थः—यद्यप्येषा वर्णविन्यासवक्रता व्यञ्जनच्छायानुसारेणैव, तथापि प्रतिनियतगुणविशिष्टानां मार्गाणामनुवर्तनद्वारेण यथा स्वरूपानुप्रवेशं विदधाति तथा विधातव्येति। तत एव च तस्यास्तन्निबन्धना प्रविततः प्रकाराः समुल्लसन्ति। चिरन्तनैः पुनः सैव स्वातन्त्र्येण वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति प्रोक्ता। वृत्तीनामुपनागरिकादीनां यद् वैचित्र्यं विचित्रभावः स्वनिष्ठसंख्याभेदभिन्नत्वं तेन युक्ता समन्वितेति चिरन्तनैः पूर्वसूरिभिरभिहिता।

तदिदमत्र तात्पर्यम्, यदस्याः सकलगुणस्वरूपानुसरणसमन्वयेन सुकु-

---

वर्णों अथवा अक्षरों की जो छाया अर्थात् कान्ति अथवा श्रव्यता आदि गुणों की सम्पत्ति, उसके द्वारा जो [रसादि का] अनुसरण, अनुगमन अर्थात् वर्ण्य [प्राप्य] वस्तु के साथ में अनुप्रवेश, उससे। माधुर्य आदि गुणों तथा सुकुमार आदि मार्गों की जो अनुगामिनी होती है वह उस प्रकार की [गुणमार्गानुवर्तिनी] हुई। उन [गुण तथा मार्गों] में से गुणों के अन्तरतम होने से [गुण शब्द को], पहिले रखा गया है। गुणों के द्वारा ही [सुकुमार आदि] मार्गों का अनुसरण युक्ति सङ्गत हो सकने से [गुणों के बाद 'मार्ग' पद को रखा है]।

इसलिए इसका यह अर्थ हुआ कि—यद्यपि यह वर्णविन्यासवक्रता व्यञ्जन वर्णों के सौन्दर्य [श्रव्यता आदि] के कारण ही होती है फिर भी निश्चित गुणों से युक्त [सुकुमार आदि] मार्गों के अनुवर्तन द्वारा जिस प्रकार [काव्य के] स्वरूप में प्रवेश करे इस प्रकार [उसकी] रचना करनी चाहिए। और उस ही [सुकुमार आदि मार्गों के अनुसरण] से उस [वर्णविन्यासवक्रता] के मार्गानुसरण निमित्तक अनेक प्रकार के भेद हो जाते हैं। प्राचीन [उद्भट आदि] आचार्यों ने स्वतंत्र रूप से उसी [वर्णविन्यासवक्रता] को 'वृत्तिवैचित्र्ययुक्त' कहा है। उपनागरिका आदि वृत्तियों का जो वैचित्र्य या विचित्रता अर्थात् स्वगत संख्या भेद से भिन्नता, उससे युक्त [वर्णविन्यासवक्रता] प्राचीन आचार्यों ने कही है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस [वर्णविन्यासवक्रता] का [माधुर्य आदि] समस्त [अर्थात् वामन प्रतिपादित दस शब्दगुणों और दसों अर्थ] गुणों के स्वरूप के

माराादिमार्गानुवर्तनायत्तवृत्तेः पारतन्त्र्यमपरिगणितप्रकारत्वं चैतदुभयमप्यवश्यम्भावि। तस्मादपारतन्त्र्यं परिमितप्रकारकत्वञ्चेति नातिचतुरस्रम्।

ननु च प्रथमं 'एको द्वौ' इत्यादिना प्रकारेण परिमितान् प्रकारान् स्वतन्त्रत्वं च स्वयमेव व्याख्याय किमेतदुक्तमिति चेत्।

नैष दोषः। यस्माल्लक्षणकारैर्यस्य कस्यचित् पदार्थस्य समुदायपरायत्तवृत्तेः परव्युत्पत्तये प्रथममपोद्धारबुद्ध्या स्वतन्त्रतया स्वरूपमुल्लिख्यते। ततः समुदायान्तर्भावो भविष्यतीत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥५॥

येयं वर्णविन्यासवक्रता नाम वाचकालंकृतिः स्थाननियमाभावात् सकलवाक्यस्य विषयत्वेन समाम्नाता सैव प्रकारान्तरविशिष्टा नियतस्थान-

---

अनुसरण के समन्वय से और सुकुमार आदि मार्गों के पराधीन वृत्ति होने से [वर्णविन्यासवक्रता की] परतंत्रता और अनन्त भेद ये दोनों बातें अवश्यम्भावी हैं। इसलिए [उसको] स्वतंत्र और [तीन-चार आदि] परिमित भेद युक्त कहना बहुत उचित नहीं है।

[प्रश्न] पहिले [इसी उन्मेष की प्रथम कारिका में] 'एकौ द्वौ बहवो वर्णाः' इत्यादि प्रकार से [वर्णविन्यासवक्रता के] परिमित [तीन] प्रकारों को और स्वतंत्रता का स्वयं ही प्रतिपादन करके अब यह क्या कह रहे हैं [कि समस्त गुणों का अनुसरण करने से उसके अपरिमित भेद और मार्गों के अनुसरण के आधीन होने से पराधीनता अवश्यम्भावी है] यह शङ्का हो तो [उत्तर यह है कि]—

[उत्तर] यह [स्ववचनविरोध या वदतो व्याघातरूप] दोष नहीं आता है। क्योंकि [लक्षणकार] शास्त्रकार दूसरों को समझाने के लिए समुदाय में रहने वाले किसी पदार्थ को पहिले अलग करके भी उसके स्वरूप का निरूपण करते हैं। [क्योंकि] उस [पृथक् रूप से स्वरूप-निरूपण] के बाद समुदाय में [उसका] अन्तर्भाव [स्वयं ही] हो जायगा। इसीलिए [यहां भी 'एको द्वौ वहवो' इत्यादि कारिका में तीन भेदों का वर्णन किया है। अब इस विषय में और] अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है ॥५॥

[ख—यमक रूप वर्णविन्यासवक्रता]

यह जो वर्णविन्यासवक्रता [अनुप्रास रूप] शब्दालङ्कार स्थान नियम के बिना सारे [श्लोक] वाक्य के विषय रूप से प्रतिपादन किया है वह ही स्थान नियत करके प्रकारान्तर [यमक रूप] से विशिष्ट होकर कुछ अन्य ही प्रकार के सौन्दर्य

तयोपनिबध्यमाना किमपि वैचित्र्यान्तरमाबध्नातीत्याह—

समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम् ।
औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभि यत् ॥६॥
यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते ।
स तु शोभान्तराभावादिह नातिप्रतन्यते ॥७॥

'कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते' । 'अस्याः' पूर्वोक्तायाः कोऽप्यपूर्वः प्रभेदो विभाव्यते । कोऽसावित्याह, 'यमकं नाम', यमकमिति यस्य प्रसिद्धिः । तच्च कीदृशम् 'समानवर्णम्', समानाः सरूपाः सदृशश्रुतयो वर्णा यस्मिन तत् तथोक्तम् । एवमेकस्य द्वयोर्बहूनां सदृशश्रुतीनां व्यवहितमव्यवहितं वा यदुपनिबन्धनं तदेव यमकमित्युच्यते । तदेवमेकरूपे संस्थानद्वये सत्यपि 'अन्यार्थं', भिन्नाभिधेयम् ।

को उत्पन्न करती है इस बात को [अगली कारिकाओं] में कहते हैं । [अर्थात् वर्ण-विन्यासवक्रता को अन्य आचार्यों में से उद्भट आदि ने 'वृत्ति' नाम से तथा भामह आदि ने 'अनुप्रास' नाम से कहा है । अनुप्रास रूप इस वर्णविन्यासवक्रता का ही दूसरा विशेष रूप यमकालङ्कार होता है । उसी का निरूपण करते हैं] ।

समान वर्ण वाले किन्तु भिन्नार्थक, प्रसाद गुणयुक्त, श्रुतिमधुर, [रसादि के] औचित्य से युक्त, प्रारम्भ [मध्य या अन्त] आदि स्थानों पर शोभित होने वाला जो [प्रकार है] ॥६॥

'यमक' नामक प्रकार की [अपूर्व] इसी [वर्णविन्यासवक्रता] का प्रकार पाया जाता है । [परन्तु स्थान की विशेषता के अतिरिक्त पूर्वोक्त वर्णविन्यासवक्रता से भिन्न] अन्य किसी शोभा का जनक न होने से यहाँ उसका अधिक विवेचन नहीं किया जा रहा है ॥७॥

और जो कोई [अपूर्व] इस [वर्णविन्यासवक्रता] का [यमक रूप दूसरा] प्रकार पाया जाता है । इस पूर्वोक्त [वर्णविन्यासवक्रता] का कोई अपूर्व भेद दिखलाई देता है । वह कौन-सा [प्रकार] यह कहते हैं, 'यमक' नामक [प्रकार] । जो 'यमक' नाम से प्रसिद्ध है । और वह कैसा कि समान वर्ण वाला । समान एक-से अर्थात् सुनने में एक समान प्रतीत होने वाले वर्ण जिसमें हों । इस प्रकार के एक, दो अथवा बहुत से, सुनने में समान प्रतीत होने वाले, वर्णों का व्यवधान से अथवा बिना व्यवधान के

अन्यच्च कीदृशम्, 'प्रसादि' प्रसादगुणयुक्तं झगिति समर्पकम्, अकदर्थनाबोध्यमिति यावत्। श्रुतिपेशलमित्येव विशिष्यते। श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं, तत्र पेशलं रञ्जकं, अकठोरशब्दविरचितम्। कीदृशम्, 'औचित्ययुक्तम्'। औचित्यं वस्तुनः स्वभावोत्कर्षस्तेन युक्तं समन्वितम्। यत्र यमकोपनिबन्धनव्यसनित्वेनाप्यौचित्यमपरिम्लानमित्यर्थः। तदेव विशेषणान्तरेण विशिनष्टि, 'आद्यादिनियतस्थानशोभि यत्'। आदिरादिर्येषां ते तथोक्ताः प्रथममध्यमान्तास्तान्येव नियतानि स्थानानि विशिष्टाः सन्निवेशास्तैः शोभते भ्राजते यत्तथोक्तम्। अत्राद्यादयः सम्बन्धिशब्दाः पदादिभिर्विशेषणीयाः। स तु प्रकारः प्रोक्तलक्षणसम्पदुपेतोऽपि भवन् 'इह नाति-

---

जो सन्निवेश करना है वही 'यमक' [अलङ्कार] कहलाता है। इस प्रकार [यमक में] एक रूप के दो समुदायों की रचना होने पर भी [उन दोनों समुदायों को] अन्यार्थ भिन्न अर्थ वाला होना चाहिए।

इसीलिए साहित्य दर्पणकार ने 'यमक' का लक्षण इस प्रकार किया है—

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥

अर्थात् स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं। इस आवृत्ति में यदि दोनों भाग सार्थक हैं तो उन दोनों का भिन्नार्थकत्व आवश्यक है। और यदि उनमें से कोई एक भाग अथवा दोनों अनर्थक हैं तो कोई बात नहीं है।

और कैसा 'प्रसादी' प्रसादगुण युक्त तुरन्त [वाक्यार्थ का] बोधक, अर्थात् बिना क्लश के समझ में आ जाने वाला। 'श्रुतिपेशलम्' पद से इसी को विशेषित किया है। श्रुति का अर्थ श्रोत्रेन्द्रिय है, उसमें पेशल अर्थात् सुन्दर लगने वाले अर्थात् कोमल [अकठोर] शब्दों से विरचित। और कैसा, औचित्ययुक्त। औचित्य अर्थात् वस्तु के स्वभाव का उत्कर्ष उससे युक्त या समन्वित। अर्थात् जहाँ 'यमक' रचना के व्यसन से भी औचित्य की न्यूनता न हुई हो। उसी को दूसरे विशेषणों से विशिष्ट करते हैं। 'जो आदि [मध्य या अन्त] आदि नियत स्थानों पर शोभा देने वाला हो'। आदि जिनके प्रारम्भ में है वह उस प्रकार के 'आद्यादि' अर्थात् प्रथम मध्यम और अन्त भाग। वही नियत स्थान और [यमक के] विशेष [स्थान पर] सन्निवेश हुए। उनसे शोभित होने वाले। यहाँ 'आदि' प्रभृति [शब्द] सम्बन्धबोधक शब्द है। उनको पदादि [शब्दों] से विशिष्ट समझना चाहिए [अर्थात् पद के या पाद के आदि, मध्य अथवा अन्त में यमक का प्रयोग किया जाता है]। वह [यमक रूप वर्णविन्यास-वक्रता का] प्रकार पूर्वोक्त अर्थसम्पत्ति [चमत्कारकारित्व] से युक्त

प्रतन्यते ग्रन्थेऽस्मिन्नाति विस्तार्यते । कुतः 'शोभान्तराभावात्' । स्थाननियमव्यतिरिक्तस्यान्यस्य शोभान्तरस्य छायान्तरस्यासम्भवादित्यर्थः । अस्य च वर्णविन्यासवैचित्र्यव्यतिरेकेणान्यत् किञ्चिदपि जीवितान्तरं न परिदृश्यते । तेनानन्तरोक्तालंकृतिप्रकारतैव युक्ता । उदाहरणान्यत्र शिशुपालबधे चतुर्थे सर्गे समर्पकाणि कानिचिदेव यमकानि, रघुवंशे वा वसन्तवर्णने ॥७॥

एवं पदावयवानां वर्णानां विन्यासवक्रभावे विचारिते वर्णसमुदायात्मकस्य पदस्य च वक्रभावविचारः प्राप्तावसरः । तत्र पदपूर्वार्द्धस्य तावद् वक्रताप्रकाराः कियन्तः सम्भवन्तीति प्रक्रमते—

होने पर भी यहाँ इस ग्रन्थ में अधिक विस्तार से वर्णित नहीं किया गया है। [उससे] अन्य किसी विशेष शोभा के न होने से । स्थान नियम के अतिरिक्त [अनुप्रास से भिन्न] अन्य किसी शोभा अर्थात् सौन्दर्य विशेष के न होने से । [अर्थात्] इस [यमक] का वर्णविन्यास वैचित्र्य के अतिरिक्त और कोई दूसरा तत्त्व दिखलाई नहीं देता है। इसलिए [इस यमक को भी] अभी कहे हुए [वर्णविन्यासवक्रता अथवा अनुप्रास] अलङ्कार का भेद ही मानना उचित है । [अलग अलङ्कार मानने की आवश्यकता नहीं है] । इसके उदाहरण शिशुपालबध के चतुर्थ सर्ग में [प्रयुक्त बहुत से यमकों में से चुने हुए अर्थ के तुरन्त] समर्पक कुछ ही यमक हैं [शेष कठिन यमक, वस्तुतः यमक नहीं यमकाभास हैं जिन्हें माघ ने यमक के रूप में इस चतुर्थ सर्ग में प्रयुक्त किया है] । अथवा रघुवंश [के नवम सर्ग में] में वसन्त वर्णन में [प्रयुक्त सभी यमक समर्पक होने से यमक में वास्तविक उदाहरण] हैं ॥६,७॥

२. पद पूर्वार्द्ध वक्रता [८ भेद]—

इस प्रकार पदों के अवयवभूत वर्णों की विन्यासवक्रता का विचार हो चुकने के बाद वर्ण समुदायात्मक पद की 'वक्रता' के विचार का अवसर प्राप्त है। उसमें पद के पूर्वार्द्ध [अर्थात् प्रकृति रूप] की वक्रता के कितने प्रकार हो सकते हैं इसका वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

सुबन्त अथवा तिङन्त रूप पद के पूर्वार्द्ध अर्थात् सुबन्त पद के पूर्वार्द्ध प्रातिपदिक तथा तिङन्त पद के पूर्वार्द्ध रूप धातु की वक्रता 'पदपूर्वार्द्ध वक्रता' के अन्तर्गत होती है। प्रथम उन्मेष की १९वीं कारिका में पद-पूर्वार्द्ध वक्रता के निम्नलिखित प्रकार दिखलाए थे—

१. रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता ।

२. पर्यायवक्रता ।

यत्र रूढ़ेरसम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता ।
सद्धर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा प्रतीयते ॥८॥
लोकोत्तरतिरस्कारश्लाघ्योत्कर्षाभिधित्सया ।
वाच्यस्य सोच्यते कापि रूढ़िवैचित्र्यवक्रता ॥९॥

यत्र रूढ़ेरसम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता प्रतीयते । शब्दस्य नियतवृत्तिता नाम कश्चिद् धर्मो रूढ़िरुच्यते । रोहणं रूढ़िरिति कृत्वा । सा च द्विप्रकारा सम्भवति, नियतसामान्यवृत्तिता, नियतविशेषवृत्तिता । तेन रूढ़िशब्देनात्र रूढ़िप्रधानः शब्दोऽभिधीयते, धर्मधर्मिणोरभेदोपचारदर्शनात् । यत्र यस्मिन्

---

३. उपचारवक्रता ।

४. विशेषणवक्रता । ५. संवृतिवक्रता । ६. वृत्तिवैचित्र्यवक्रता ।

७. लिङ्गवक्रता । ८. क्रियावैचित्र्यवक्रता ।

इन्हीं भेदों का आगे विस्तार पूर्वक विवेचन प्रारम्भ करते हैं ।

क—रूढ़िवैचित्र्यवक्रता—

जहाँ लोकोत्तर तिरस्कार अथवा [लोकोत्तर] प्रशंसा के कथन करने के अभिप्राय से वाच्य अर्थ की; रूढ़ि [शब्द] से असम्भव अर्थ के अध्यारोप से युक्त, अथवा [किसी] विद्यमान धर्म के अतिशय के आरोप से युक्त [गर्भित] रूप में प्रतीति होती है वह कोई [अपूर्व सौन्दर्याधायक] 'रूढ़िवैचित्र्यवक्रता' [नामक पद पूर्वार्द्ध-वक्रता का अवान्तर भेद] कही जाती है ॥७, ८॥

जहाँ रूढ़ि [शब्द] से असम्भाव्य [रूढ़ि से जिसकी प्रतीति सम्भव नहीं ऐसे] धर्म का [वाच्यार्थ में] अध्यारोप गर्भित रूप में प्रतीत होता है [उसे रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता कहते हैं] । शब्द के नियत [अर्थ] बोधकत्व रूप धर्मविशेष को रूढ़ि कहते हैं । [अर्थ विशेष पर] रोहण करना [चढ़ जाना, नियत रूप से एक ही अर्थ विशेष का बोधन करना] रूढ़ि [शब्द का यौगिक अर्थ] है ऐसी [रूढ़ि शब्द की] व्युत्पत्ति करके [रूढ़ि अर्थात् किसी नियत अर्थ-विशेष को बोध कराने वाला शब्द रूढ़ि कहा है] । और वह [रूढ़ि] दो प्रकार की हो सकती है । एक नियत सामान्य बोधकत्व और [दूसरी] नियतविशेष बोधकत्व । इसलिए [कारिका में प्रयुक्त] रूढ़ि [इस]

विषये, रूढ़िशब्दस्य असम्भाव्यः सम्भावयितुमशक्यो यो धर्मः कश्चित् परिस्पन्दस्तस्याध्यारोपः समर्पणं गर्भोऽभिप्रायो यस्य स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्ता सा प्रतीयते प्रतिपद्यते। यत्रेति सम्बन्धः।

'सद्धर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा'। संश्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः विद्यमानः पदार्थस्य परिस्पन्दः, तस्मिन् यस्य कस्यचिदपूर्वस्यातिशयस्याद्भुतरूपस्य महिम्न आरोपः समर्पणं गर्भोऽभिप्रायो यस्य स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्वम्। तच्च वा यस्मिन् प्रतीयते।

केन हेतुना, 'लोकोत्तरतिरस्कश्लाघ्योत्कर्षाभिधित्सया'। लोकोत्तरः सर्वातिशायी यस्तिरस्कारः खलीकरणं, श्लाघ्यश्च स्पृहणीयो य उत्कर्षः सातिशयत्वं तयोरभिधित्सा अभिधातुमिच्छा वक्तुकामता तया।

शब्द से रूढ़ि प्रधान शब्द का ग्रहण किया जाता है। धर्म और धर्मी का उपचारतः अभेद होने से। [रूढ़ि शब्द यद्यपि नियत सामान्यवृत्तिता अथवा नियत विशेष वृत्तिता रूप धर्म विशेष का बोधक है। परन्तु धर्म और धर्मी का उपचार से अभेद मानकर रूढ़ि पद यहाँ रूढ़ि प्रधान शब्द का बोधक है] जहाँ, जिस विषय [उदाहरण, प्रयोग] में रूढ़ि शब्द का जो असम्भव अर्थात् रूढ़ि शब्द से जिस धर्म या अर्थ के बोध की कल्पना करना सम्भव न हो ऐसा जो धर्म या [किसी पदार्थ का] कोई अपूर्व स्वभाव विशेष उसका अध्यारोप अर्थात् [उस रूढ़ि शब्द से उस असम्भाव्य अपूर्व अर्थ का] समर्पण [बोधन] जिसका गर्भितार्थ अर्थात् अभिप्राय हो वह उस प्रकार का [असम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भ] हुआ। उसका भाव [असम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता हुई] वह जहाँ प्रतीत होती है, यह सम्बन्ध हुआ। [अर्थात् जहाँ लोकोत्तर तिरस्कार या निन्दा के बोधन के लिए रूढ़ि शब्द में किसी असम्भाव्य (अपूर्व) धर्म का अध्यारोप करके उसकी निन्दा की जावे वह 'पद पूर्वार्द्धवक्रता' का 'रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता' नामक प्रथम भेद हुआ]।

अथवा [जहाँ] 'सद्धर्मातिशयाध्यारोपगर्भता' [प्रतीत होती है वह भी रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता का दूसरा भेद हुआ] विद्यमान जो धर्म वह 'सद्धर्म' अर्थात् पदार्थ का विद्यमान स्वभाव। उसमें जिस किसी अपूर्व अतिशय अर्थात् अद्भुत रूप की महिमा का आरोप अर्थात् बोधन करना जिसका अभिप्राय है वह उस प्रकार का अर्थात् 'सद्धर्मातिशयाध्यारोपगर्भ' हुआ। उसका भाव सद्धर्मातिशयाध्यारोपगर्भता हुआ। और वह जिसमें प्रतीत होता है [वह भी 'रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता' का उदाहरण होता है]।

[यह अविद्यमान असम्भाव्य धर्म का अध्यारोप अथवा सद्धर्म विद्यमान धर्म के अतिशय का अध्यारोप] किस कारण से [क्यों किया जाता है यह कहते हैं]

कस्य,'वाच्यस्य'। रूढ़िशब्दस्य वाच्यो योऽभिधेयोऽर्थस्तस्य। 'सोच्यते' कथ्यते। काप्यलौकिकी 'रूढ़िवैचित्र्यवक्रता'। रूढ़िशब्दस्यैवंविधेन वैचित्र्येण विचित्रभावेन वक्रता वक्रभावः।

तदिदमत्र तात्पर्यम्। यत् सामान्यमात्रसंस्पर्शिनां शब्दानामनुमानवन्नियतविशेषालिङ्गनं यद्यपि स्वभावादेव न किञ्चिदपि सम्भवति, तथाप्यनया युक्त्या कविविवक्षितनियतविशेषनिष्ठतां नीयमानाः कामपि चमत्कारकारितां प्रतिपद्यन्ते।

लोकोत्तर तिरस्कार [निन्दा] अथवा श्लाघ्य [प्रशंसनीय] उत्कर्ष के बाहुल्य के कथन करने के अभिप्राय से। लोकोत्तर अर्थात् सबको अतिक्रमण कर जाने वाला जो तिरस्कार अपमान और श्लाघ्य प्रशंसनीय जो उत्कर्ष बड़प्पन उन दोनों की अभिधित्सा अर्थात् कहने की इच्छा। उससे। किसकी–'वाच्य [अर्थ] की'। रूढ़ि शब्द का वाच्य अर्थात् अभिधेय जो अर्थ उसकी। वह कोई अपूर्व अलौकिक 'रूढ़िवैचित्र्यवक्रता' कही जाती है। रूढ़ि शब्द की इस प्रकार की [असम्भाव्य धर्माध्यारोपगर्भता अथवा सद्धर्मातिशयाध्यारोपगर्भता रूप], वैचित्र्य अर्थात् विचित्र भाव से वक्रता अर्थात् रमणीयता [रूढ़िवैचित्र्यवक्रता कहलाती] है।

[यहाँ इसका यह तात्पर्य हुआ कि सामान्यमात्र बोधक शब्दों का सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयं मनुमानं न विशेषप्रतियत्ति समर्थम्। सामान्य मात्र के बोधन में अनुमान के समाप्त हो जाने से वह विशेष का बोधक नहीं हो सकता है इस नियम के अनुसार] अनुमान के समान नियत विशेष का बोधकत्व यद्यपि स्वभाव से ही तनिक भी सिद्ध नहीं होता है फिर भी इस [असम्भाव्यधर्म के अध्यारोप अथवा विद्यमान धर्म के अतिशय के अध्यारोप रूप] युक्ति से कवि के विवक्षित नियत विशेष के बोधक होकर [वे शब्द] कुछ अपूर्व चमत्कारकारी हो जाते हैं।

योग दर्शन में १, सूत्र के व्यास भाष्य में इसी बात को स्पष्ट रूप से यों लिखा है कि—'सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेष प्रतिपत्तिसमर्थमिति तस्य संज्ञादिविशेष प्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या'। ईश्वर की सर्वज्ञता की सिद्धि के प्रसङ्ग में यह पंक्ति आई है। जो सातिशय होता है, अर्थात् जिसमें छोटे-बड़े का व्यवहार होता है उसकी कहीं चरमसीमा काष्ठा-प्राप्ति अवश्य होती है। जैसे परिमाण छोटा-बड़ा अनेक प्रकार का होने से सातिशय माना जाता है। उसकी

छोटेपन में परमाणु परिमाण में तथा बड़ेपन में आकाशादि के परम महत् परिमाण में काष्ठा-प्राप्ति होती है । इसी प्रकार ज्ञान भी सातिशय पदार्थ है इसलिए उस ज्ञान की भी कहीं काष्ठा-प्राप्ति चरम सीमा होनी चाहिए । जहाँ ज्ञान की चरम उत्कर्ष की सीमा है, जिससे बढ़कर और ज्ञान नहीं हो सकता है, वही सर्वज्ञ है उसी का नाम ईश्वर है । इस प्रकार ईश्वर की सर्वज्ञता की सिद्धि की गई है । इसी प्रसङ्ग में ऊपर उद्धृत की हुई पंक्ति लिखी गई है । उसका भाव यह है कि अनुमान तो सामान्य रूप से ज्ञान का कहीं काष्ठा-प्राप्ति होनी चाहिए यही सिद्ध करके समाप्त हो जाता है । ईश्वर में ही वह काष्ठा-प्राप्ति होती है इस विशेष का बोध नहीं करा सकता है । उस विशेष के बोध के लिए आगम का अवलम्बन करना होगा । इसी प्रकार प्रकृत में सामान्य मात्र बोधक शब्दों से विशेषार्थ के बोधन में व्यञ्जना आदि का आश्रय लेना होगा यह तात्पर्य है ।

यह सामान्य या विशेष की बोधकता का प्रश्न योगदर्शन में उठाया गया है । 'सांख्य' तथा 'योग' दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द ये तीन ही प्रमाण माने गए हैं । योग दर्शन के 'व्यासभाष्य' में इन प्रमाणों के लक्षण करते हुए प्रत्यक्ष को 'विशेषावधारणप्रधान' तथा अनुमान शब्द को 'सामान्यावधारण प्रधान' कहा है । प्रत्येक पदार्थ के दो अंश या रूप होते हैं । एक 'सामान्य' रूप और दूसरा 'विशेष' रूप । जैसे यह पुस्तक है उसका पुस्तकत्व एक सामान्य रूप है । जैसी संसार की और बहुत-सी पुस्तकें होती हैं उसी प्रकार की यह भी एक पुस्तक है यह उसका 'सामान्य' रूप हुआ । परन्तु दूसरा उस पुस्तक का व्यक्तिगत विशेष रूप भी है । जितनी लम्बी-चौड़ी जिस आकार-प्रकार की यह पुस्तक है यह उसका 'विशेष' रूप है । जब हम पुस्तक को प्रत्यक्ष देखते हैं तब उसके विशेष रूप को ग्रहण करते हैं सामान्य रूप को नहीं । और जब हम अनुमान से अथवा किसी के कथन से शब्द प्रमाण द्वारा पुस्तक का ज्ञान प्राप्त करते हैं तब वह ज्ञान उसके सामान्य रूप का ही होता है विशेष रूप का नहीं । इसीलिए योगदर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण को 'सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्' अर्थात् 'विशेषावधारणप्रधान' कहा और अनुमान आदि को 'सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्' कहा है । उसी के आधार पर यहाँ ग्रन्थकार ने अनुमान को 'सामान्यमात्र' का बोधक कहा है । सामान्यमात्र को बोधक होने के कारण अनुमान से सामान्य वन्हि आदि की ही सिद्धि होती है विशेष वन्हि की नहीं । इसलिए जिस प्रकार सामान्यमात्र संस्पर्शी अनुमान से विशेष वन्हि का बोध नहीं होता है इसी प्रकार सामान्यमात्रसंस्पर्शी शब्दों से अभिधा शक्ति के द्वारा विशेष अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है । उसके लिए व्यञ्जना आदि विशेष उपाय का अवलम्बन करना होगा ।

यथा—

ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पंति ।
रइकिरणाणुग्गहिआइ होंति कमलाइ कमलाइ ॥
[तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥इतिसंस्कृतम्]

प्रतीयते इति क्रियापदवैचित्र्यस्यायमभिप्रायो यदेवंविधे विषये शब्दानां वाचकत्वेन न व्यापारः, अपितु वस्त्वन्तरवत्प्रतीतिकारित्वमात्रेणेति युक्तियुक्तमप्येतदिह नातिप्रतन्यते । यस्माद् ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितस्तत् किं पौनरुक्त्येन ।

सा च रूढ़िवैचित्र्यवक्रता मुख्यतया द्विप्रकारा सम्भवति । यत्र रूढ़िवाच्योऽर्थः स्वयमेव आत्मन्युत्कर्षं निकर्षं वा समारोपयितुकामः कविनोपनिबध्यते, तस्यान्यो वा कश्चिद् वक्तेति ।

जैसे—

जब सहृदयों के द्वारा [गुणों को] ग्रहण किया जाता है तब [ही] वे 'गुण' होते हैं । जैसे सूर्य की किरणों से अनुगृहीत होने पर [ही] कमल [सौन्दर्यादि विशेष गुणों से युक्त] 'कमल' होते हैं ॥२६॥

[कारिका ८ में प्रयुक्त] 'प्रतीयते' इस क्रियापद के वैचित्र्य का यह अभिप्राय है कि इस प्रकार के उदाहरणों में शब्दों का वाचकत्व रूप [अभिधा] व्यापार नहीं होता है अपितु अन्य [प्रतीयमान] वस्तु के प्रतीतिकारित्व [व्यञ्जकत्व] रूप से ही [शब्दों का व्यापार होता है]। इसलिए इस [व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव] के युक्तियुक्त होने पर भी यहाँ उसका विशेष विवेचन नहीं किया जा रहा है, क्योंकि ध्वनिकार [ध्वन्यालोक के रचयिता श्री आनन्दवर्धनाचार्य] ने यहाँ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव का [बहुत विस्तारपूर्वक] अत्यन्त समर्थन किया है । उसको फिर दुबारा [यहाँ] कहने से क्या लाभ ?

अर्थात् ध्वनिकार के 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' तथा 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' रूप ध्वनि-भेदों को कुन्तक ने 'रूढ़िवैचित्र्यवक्रता' के 'असम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता' तथा 'सद्धर्मातिशयाध्यारोपगर्भता' अन्तर्गत किया जा सकता है ।

वह 'रूढ़िवैचित्र्यवक्रता' मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है । [पहिली] जहाँ कवि, रूढ़ि [शब्द] से वाच्य अर्थ [राम आदि रूप वक्ता] को स्वयं ही अपने में उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का समारोप करते हुए वर्णन करता है । अथवा [दूसरा वह भेद जहाँ कि] उस [उत्कर्ष या अपकर्ष] का वक्ता कोई और हो ।

यथा—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥२७॥

अत्र 'राम' शब्देन दृढं 'कठोरहृदयः' 'सर्वं सहे' इति यदुभाभ्यां प्रतिपादयितुं न पार्यते, तदेवंविध-विविधोद्दीपनविभावविभवसहनसामर्थ्य-कारणं दुःसहजनकसुताविरहव्यथाविसंष्ठुलेऽपि समये निरपत्रपप्राणपरिरक्षा-वैचक्षण्यलक्षणं संज्ञापदनिबन्धनं किमप्यसम्भाव्यमसाधारणं क्रौर्यं प्रतीयते।

जैसे—

[स्वयं वक्ता के द्वारा अपने उत्कर्ष या अपकर्ष को सूचित करते हुए रूप में कवि द्वारा उपनिबद्ध वक्ता का वर्णन करने वाला निम्न श्लोक 'सद्धर्मातिशयाध्यारोप-गर्भता' रूप 'रूढ़िवैचित्र्यवक्रता' अथवा आनन्दवर्धन के मत में 'अर्थान्तरसंक्रामितवाच्य ध्वनि' का उदाहरण कहा जा सकता है]—

स्निग्ध एवं श्याम कान्ति से आकाश को व्याप्त करने वाले, और बलाका अर्थात् बकपंक्ति जिनके पास बिहार कर रही हैं, ऐसे सघन मेघ [भले ही उमड़ें] शीकर छोटे-छोटे जल-कणों से युक्त [शीतल मन्द] समीर [भले ही बहे] और मेघों के मित्र मयूरों की आनन्द-भरी कूकें भी चाहे जितनी [श्रवणगोचर] हों, मैं तो अत्यन्त कठोर हृदय 'राम' हूँ सब कुछ सह लूँगा। परन्तु [अति सुकुमारी, कोमलहृदया, वियोगिनी]सीता की क्या दशा होगी [इसकी कल्पना करने से भी हृदय व्याकुल हो जाता है।] हा देवि! धैर्य रखना ॥२७॥

इसमें 'राम' शब्द [अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि का उदाहरण है । उस] से, 'दृढ़ं कठोरहृदयः' में अत्यन्त कठोर हृदय हूँ और 'सर्वं सहे' सब कुछ सहन कर सकता हूँ इन दोनों [वाक्यांशों]से [भी] जो [विशेष अर्थ] प्रतिपादन नहीं की जा सकती है ऐसी, नाना प्रकार के उद्दीपन विभाव के वैभव को सहन करने की सामर्थ्य की [देने वाली] कारणभूत, और जनक-नन्दिनी सीता के दुःसह वियोग-व्यथा से [कठिन]दुःखमय समय में भी निर्लज्ज के समान प्राणों की रक्षा में निपुणता रूप[राम के लिए] कुछ असम्भव-सी असाधारण क्रूरता [राम इस] संज्ञापद के [प्रयोग के]

'वैदेही' इत्यनेन जलधरसमयसुन्दरपदार्थसन्दर्शनासहत्वसमर्पकं सहजसौकुमार्य-सुलभं किमपि कातरत्वं तस्याः समर्थ्यते । तदेव च पूर्वस्माद्विशेषा-भिधायिनः 'तु' शब्दस्य जीवितम् ।

विद्यमानधर्मातिशयवाच्याध्यारोपगर्भत्वं यथा—

ततः प्रहस्याह पुनः पुरन्दरं
व्यपेतभीर्भूमिपुरन्दरात्मजः ।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते
न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥२८॥

कारण [यहाँ] प्रतीत हो रही है । 'वैदेही' इस [पद] से वर्षाकाल के [मेघ, बलाका, मयूर आदि] सुन्दर पदार्थों के देखने की असमर्थता का सूचक, सहज सौकुमार्य के कारण स्वाभाविक उस सीता का कुछ अपूर्व कातरत्व अभिव्यक्त होता है । और वह [सीता का असाधारण सौकुमार्य सुलभ कातरत्व] ही पहिले कहे हुए [वैदेही पद के जनक-सुतारूप साधारण अर्थ] से भिन्न [सौकुमार्यातिशय रूप] विशेषता को कथन करने वाले [श्लोक में प्रयुक्त हुए] 'तु' शब्द की 'जान' है ।

इस उदाहरण में 'रामोऽस्मि' से राम गत जो असाधारण क्रौर्य आदि सूचित होता है वह वक्ता द्वारा स्वयं अपने में आरोपित किया गया है । और 'वैदेही' पद से जो सहज सौकुमार्यसुलभ कातरत्व अभिव्यक्त होता है उसका वक्ता जानकी से भिन्न रामचन्द्र है । इसलिए इसी एक श्लोक में दोनों के उदाहरण मिल जाते हैं ।

विद्यमान वाच्य धर्म के अतिशय के अध्यारोपगर्भता [का उदाहरण] जैसे—

यह श्लोक रघुवंश के तृतीय सर्ग का ५१वां श्लोक है । दिलीप के द्वारा छोड़े गए अश्वमेध यज्ञ के अश्व का जब इन्द्र ने अपहरण कर लिया उस समय इन्द्र के साथ हुए रघु के संवाद से यह श्लोक लिया गया है । रघु, इन्द्र से कह रहे हैं—

तब [इन्द्र की बात सुनने के बाद] पृथ्वी के इन्द्र [अर्थात् राजा दिलीप] के पुत्र [रघु] ने निर्भयतापूर्वक हँसकर इन्द्र से कहा कि [यदि आप सीधी तरह से घोड़ा नहीं छोड़ना चाहते हैं] यदि तुम्हारी यही इच्छा है कि [रघु के बल की परीक्षा किए बिना घोड़ा नहीं देंगे] तो फिर [अपना] शस्त्र उठाओ, क्योंकि [मुझ] रघु को जीते बिना [घोड़े के अपहरण रूप कार्य में] आप [कृतकृत्य या] सफल नहीं हो सकते हैं । [आपका मनोरथ पूर्ण नहीं हो सकता है] ॥२८॥

'रघु' शब्देनात्र सर्वत्राप्रतिहतप्रभावस्यापि सुरपतेस्तथाविधाध्यवसायव्याघातसामर्थ्यनिबन्धनः कोऽपि स्वपौरुषातिशयः प्रतीयते । 'प्रहस्य' इत्यनेनैतदेवोपबृंहितम् ।

अन्यो वक्ता यत्र तत्रोदाहरणं यथा—

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लंकेति दिव्या पुरी ।

यहाँ 'रघु' शब्द से, सर्वत्र अप्रतिहत प्रभाव वाले देवराज इन्द्र के भी [अश्वापहरण रूप] उस प्रकार के निश्चय का व्याघात करने की सामर्थ्य [सूचन] के कारण कुछ अपूर्व पौरुष का अतिशय प्रतीत होता है। [इसलिए यहाँ 'रघु' शब्द में 'रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता' है और ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार इसमें 'अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि है।] 'प्रहस्य' इस पद से उसी [लोकोत्तर पौरुषातिशय] की और भी पुष्टि [या वृद्धि] हो जाती है।

इन दोनों उदाहरणों में कवि ने वक्ता को स्वयं अपने में उत्कर्ष का अध्यारोप करते हुए दिखलाया है। पहिले श्लोक में रामचन्द्र में वस्तुतः अविद्यमान 'क्रौर्य' का अध्यारोप किया गया है इसलिए वह 'असम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता' का उदाहरण है। और दूसरे उदाहरण में 'रघु' में विद्यमान लोकोत्तर पौरुष के अतिशय का बोधन किया गया है इसलिए वह 'सद्धर्मातिशयारोपगर्भता' का उदाहरण है। इस 'रूढ़िवैचित्र्यवक्रता' का दूसरा भेद वह बतलाया था जहाँ उस 'असम्भाव्य धर्म' अथवा 'सद्धर्म' के अतिशय का अध्यारोप वक्ता स्वयं अपने में न करे अपितु उसका आरोप अन्य कोई करे। इसका उदाहरण आगे देते हैं।

जहाँ अन्य वक्ता [धर्म का अध्यारोप करने वाला] है उसका उदाहरण जैसे—

यह श्लोक राजशेखर कृत 'बालरामायण' नाटक के पञ्चम अङ्क का ३६वां श्लोक है। जनक और शतानन्द के संवाद के अवसर पर शतानन्द जनक से कह रहे हैं कि कभी-कभी एक ही दोष से सैकड़ों गुण भी नष्ट हो जाते हैं। अगर रावण 'रावण' न होता तो सीता के लिए उससे अच्छा और कोई वर नहीं हो सकता था। क्योंकि—

[इस रावण की] आज्ञा इन्द्र के लिए भी शिरोधार्य है [इन्द्र भी इसकी आज्ञा के उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकता है], शास्त्र इसके नवीन नेत्र हैं [अर्थात् समस्त शास्त्रों का पारङ्गत विद्वान् है], भूतनाथ भगवान् शिव का भक्त है, दिव्य लङ्कापुरी उसका निवास-स्थान है, ब्रह्मा जी के [उच्च] वंश में उत्पन्न हुआ

सम्भूतिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥२६॥[1]

'रावण' शब्देनात्र सकललोकप्रसिद्धदशाननदुर्विलासव्यतिरिक्तमभिजनविवेकसदाचारप्रभावसम्भोगसुखसमृद्धिलक्षणायाः समस्तवरगुणसामग्रीसम्पदस्तिरस्कारकारणं किमप्यनुपादेयतानिमित्तभूतमौपहत्यं प्रतीयते ।

अत्रैव विद्यमानगुणातिशयाध्यारोपगर्भत्वं यथा—

है [इस प्रकार वह सर्वगुण सम्पन्न है इसके समान सर्वगुण सम्पन्न दूसरा वर नहीं मिल सकता है] । यदि यह [नाम और कर्म से बदनाम] 'रावण' न हो तो इसके समान [सर्वगुण सम्पन्न] दूसरा वर नहीं मिल सकता है । अथवा सब में सब गुण कहाँ मिलते हैं ॥२६॥

यहाँ 'रावण' शब्द से समस्त लोकों में प्रसिद्ध दशानन के दुर्विलास के अतिरिक्त कुल, विवेक, [विद्या] सदाचार, प्रभाव, सम्भोग-सुख समृद्धिरूप विलक्षण वरोचित समस्त गुणसमूह की सम्पत्ति के भी तिरस्कार की कारणभूत [उसकी उपादेयता का व्याघात अथवा] अनुपादेयता की निमित्तभूत कोई [लोकोत्तर] त्रुटि [न्यूनता रावण में] प्रतीत होती है । [जिसके कारण रावण में पाए जाने वाले वरोचित समस्त गुण भी व्यर्थ हो जाते हैं] ।

यहाँ 'रावण' पद 'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि' का उदाहरण है । उसमें जिस त्रुटि या अपघात का अतिशय प्रतीत होता है उसका प्रतिपादन अथवा अध्यारोप स्वयं रावण अपने में नहीं कर रहा है । अपितु उसका वक्ता रावण से भिन्न दूसरा व्यक्ति शतानन्द है । इसलिए यह वक्ता के भेद का उदाहरण है ।

इस [अन्य वक्ता द्वारा] प्रतिपादित विद्यमान धर्म के अतिशय की अध्यारोपगर्भता [सद्धर्मातिशयाध्यारोपगर्भता का उदाहरण] जैसे—

यह श्लोक पहिले १, ४३ पर भी उद्धृत हो चुका है । काव्यप्रकाश के टीकाकारों के अनुसार राघवानन्द नाटक में जो इस समय प्राप्त नहीं होता है यह विभीषण की अथवा कुम्भकर्ण की रावण के प्रति उक्ति है । इस श्लोक का वक्ता रामचन्द्र में विद्यमान धर्म के अतिशय का अध्यारोप करते हुए रावण से कह रहा है ।

---

१. बाल रामायण १, ३६, काव्यप्रकाश उदा० सं० २७८ ।

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम् ॥३०॥

अत्र 'राम' शब्देन सकलत्रिभुवनातिशायी रावणानुचरविस्मयास्पदं शौर्यातिशयः प्रतीयते ।

एषा च रूढ़िवैचित्र्यवक्रता प्रतीयमानधर्मबाहुल्याद् बहुप्रकारा भिद्यते । तच्च स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् । यथा—

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा
रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे
मा भूत् परीवादनवावतारः ॥३१॥

'रघु' शब्देनात्र त्रिभुवनातिशय्यौदार्यातिरेकः प्रतीयते । एतस्यां वक्रतायामयमेव परमार्थो यत् सामान्यमात्रनिष्ठतामपाकृत्य कविविवक्षित-

---

यह 'रामचन्द्र' अपने पराक्रम और गुणों से तीनों लोकों में अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त हो रहे हैं ॥३०॥

इस [श्लोक] में 'राम' शब्द से तीनों त्रिभुवनों को अतिक्रमण करने वाला और रावण के अनुचरों के लिए आश्चर्यजनक [रामचन्द्र का] शौर्यातिशय प्रकाशित होता है ।

और यह 'रूढ़िवैचित्र्यवक्रता' प्रतीयमान धर्मों के बाहुल्य के कारण नाना प्रकार के भेदों को प्राप्त हो जाती है । उसको [सहृदय पाठकों को] स्वयं ही समझ लेना चाहिए । जैसे—

यह श्लोक रघुवंश के पञ्चम सर्ग का २४वाँ श्लोक है । विश्वजित् याग करने के बाद जब रघु अपनी समस्त सम्पत्ति का दान कर देते हैं और उनके पास मिट्टी के पात्रों के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रह जाता है । 'मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम्' । उस समय 'वरन्तन्तु' नामक ऋषि के 'कौत्स' नामक शिष्य गुरु से प्राप्त की हुई चौदह विद्याओं के लिए चौदह करोड़ रुपया, गुरुदक्षिणा देने के लिए रघु के पास माँगने गए हैं । उस समय 'रघु' तथा 'कौत्स' के संवाद में से यह श्लोक लिया गया है । रघु कह रहे हैं—

वेदों का पारङ्गत [एक स्नातक] गुरुदक्षिणा के लिए याचक होकर रघु के पास से, अपनी इच्छा की पूर्ति न हो सकने के कारण, दूसरे किसी अन्य दाता के पास चला गया इस प्रकार की मेरी अपकीर्ति जो आज तक कभी नहीं हुई थी न होने पावे ॥३१॥

यहाँ [इस उदाहरण में] 'रघु' शब्द से समस्त संसार को अतिक्रमण करने वाला उदारता का अतिशय प्रतीत होता है । [इसमें वक्ता रघु स्वयं अपने में

विशेषप्रतिपादनसामर्थ्यलक्षणः शोभातिशयः समुल्लास्यते । संज्ञाशब्दानां नियतार्थनिष्ठत्वात् सामान्यविशेषभावो न कश्चित् सम्भवतीति न वक्तव्यम् । यस्मात्तेषामप्यवस्थासहस्रसाधारणवृत्तेर्वाच्यस्य नियतदशाविशेषवृत्तिनिष्ठता सत्कविविवक्षिता सम्भवत्येव, स्वरश्रुतिन्यायेन लग्नांशुकन्यायेन चेति ॥६॥

विद्यमान औदार्य के अतिशय रूप धर्म का अध्यारोप कर रहा है] इस वक्रता में यही रहस्य है कि [वाचक शब्द] सामान्यमात्र निष्ठता को छोड़कर कवि के विवक्षित विशेष अर्थ के प्रतिपादन का सामर्थ्य रूप शोभातिशय को प्रकाशित करता है । [व्यक्तिवाचक राम, रघु आदि] संज्ञा शब्दों के नियत अर्थ [व्यक्ति विशेष] में निश्चित होने से [उनका] किसी प्रकार का सामान्य विशेष भाव नहीं हो सकता है यह नहीं कहना चाहिए । क्योंकि उन [व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों] के भी सहस्रों अवस्थाओं में साधारण रहने वाले वाच्य [व्यक्ति] की 'स्वरश्रुति न्याय' से अथवा 'लग्नांशुक न्याय' से । कवि-विवक्षित नियत दशा विशेष निष्ठता हो ही सकती है ।

'स्वरश्रुति न्याय' का अभिप्राय यह है कि जैसे पञ्चम धैवत आदि सङ्गीत के सात स्वरों में से प्रत्येक स्वर एक विशेष व्यक्तिवाचक संज्ञा के समान एक विशेष स्वर का ही बोधक होता है । परन्तु उस एक स्वर में भी अनेक प्रकार की उतार-चढ़ाव की ध्वनि अथवा श्रुति हो सकती है । गायक जब चाहता है उस एक ही स्वर की भिन्न-भिन्न प्रकार की श्रुतियों का अवलम्बन करता है । इसी प्रकार व्यक्ति-वाचक राम, रघु आदि संज्ञा शब्द यद्यपि एक व्यक्ति विशेष के ही वाचक होते हैं परन्तु उस व्यक्ति की भी अनेक अवस्थाओं में स्थिति हो सकती है । इसलिए व्यक्ति-वाचक शब्द भी विविध अवस्था विशिष्ट व्यक्ति का वाचक होने से सामान्यवाचक शब्द हो सकता है और उसमें भी कवि विवक्षित अवस्था विशेष के अनुसार विशेषार्थ-परता बन सकती है ॥६॥

३—पर्याय वक्रता [६ भेद]

प्रथम उन्मेष की १८-२१ कारिकाओं में छः प्रकार की जिस वक्रता का प्रतिपादन किया गया है उसमें 'वर्णविन्यासवक्रता' के बाद 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का उल्लेख किया गया है । 'पदपूर्वार्द्ध' से सुबन्त पद के पूर्वार्द्ध रूप में प्रातिपदिक तथा तिङन्त पद के पूर्वार्द्ध रूप में धातु का ग्रहण होता है । व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों के लिए 'रूढ़ि' शब्द का तथा जाति, गुण या द्रव्य के वाचक अन्य प्रातिपदिकों के लिए 'पर्याय' शब्द का प्रयोग करके प्रातिपदिक वक्रता रूप 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' को भी ग्रन्थकार ने १—रूढ़िवैचित्र्यवक्रता तथा २—पर्यायवक्रता नाम से दो भागों में विभक्त कर दिया है । आगे 'पर्यायवक्रता' का निरूपण करते हैं ।

एवं 'रूढ़िवक्रतां' विवेच्य क्रमप्राप्तसमन्वयां 'पर्यायवक्रतां' विविनक्ति—

अभिधेयान्तरतमस्तस्यातिशयपोषकः ।
रम्यच्छायान्तरस्पर्शात्तदलङ्कर्तुमीश्वरः ॥१०॥

स्वयं विशेषणेनापि स्वच्छायोत्कर्षपेशलः ।
असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते ॥११॥

अलङ्कारोपसंस्कारमनोहारिनिबन्धनः ।
पर्यायस्तेन वैचित्र्यं परा पर्यायवक्रता ॥१२॥

पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टः काव्यविषये पर्यायस्तेन हेतुना यद्वैचित्र्यं विचित्रभावो विच्छित्तिविशेषः सा परा प्रकृष्टा काचिदेव पर्यायवक्रतेत्युच्यते। पर्यायप्रधानः शब्दः पर्यायोऽभिधीयते । तस्य चैतदेव पर्यायप्राधान्यं यत् स

इस प्रकार 'रूढ़िवक्रता' का विवेचन करके क्रम से प्राप्त 'पर्यायवक्रता' का विवेचन करते हैं ।

जो वाच्य [अभिधेय या वर्णनीय अर्थ] का अन्तरतम [निकटतम भाव का स्पर्श करने वाला] उसके अतिशय का पोषक, सुन्दर शोभान्तर के स्पर्श से उस [वाच्यार्थ] को सुशोभित करने में समर्थ [पर्याय शब्द है] ॥१०॥

जो स्वयं [बिना विशेषण के ही] अथवा विशेषण [के योग] से भी अपने सौन्दर्यातिशय के कारण मनोहर है और जो असम्भव अर्थ के [पात्र] आधार [असम्भव सदृश गुणों से युक्त] रूप से भी कहा जाता [वाच्य होता] है [ऐसा जो पर्याय शब्द है] ॥११॥

जो अलङ्कार से संस्कृत [शोभित] होने [अथवा अलङ्कार का उपस्कारक शोभाधायक होने] से मनोहर रचनायुक्त पर्याय [संज्ञा शब्द] है उस [के प्रयोग] से परमोत्कृष्ट 'पर्यायवक्रता' होती है ॥१२॥

पूर्वोक्त [तीनों कारिकाओं में कहे हुए आठ] विशेषणों से युक्त, काव्य के अन्दर जो पर्याय [संज्ञा शब्द] उसके कारण जो वैचित्र्य अर्थात् शोभा अर्थात् सौन्दर्यविशेष [होता है] वह परमोत्कृष्ट कुछ अपूर्व ही 'पर्यायवक्रता' कहलाती है। पर्याय-प्रधान शब्द [उपचार से] 'पर्याय' कहलाता है। उस [पर्याय शब्द] का यही

कदाचिद् विवक्षिते वस्तु न वाचकतया प्रवर्तते, कदाचिद्वाचकान्तरमिति। तेन पूर्वोक्तरीत्या बहुप्रकारः पर्यायोऽभिहितः।

तत्कियन्तोऽस्य प्रकाराः सन्तीत्याह, 'अभिधेयान्तरतमः'। अभिधेयं वाच्यं वस्तु, तस्यान्तरतमः प्रत्यासन्नतमः। यस्मात् पर्यायशब्दत्वे सत्यप्यन्तरङ्गत्वात् स यथा विवक्षितं वस्तु व्यनक्ति तथा नान्यः कश्चिदिति। यथा—

नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे
कस्तपस्विविशिखेषु चादरः।
सन्ति भूभृति हि नः शराः परे
ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः ॥३२॥

पर्याय-प्रधानत्व है कि वह कभी-कभी विवक्षित वस्तु के वाचक रूप में प्रयुक्त होता है और कभी [उसके ठीक न बैठने पर] अन्य कोई शब्द [वाचक]। इसलिए पूर्वोक्त [तीनों कारिकाओं में कही हुई नीति] शैली से अनेक प्रकार के पर्यायों का वर्णन किया है। तो [पर्यायवक्रता के] कितने प्रकार हो सकते हैं यह कहते हैं।

[पहिला भेद में—पर्याय शब्द] वाच्य अर्थ का अन्तरतम हो। अभिधेय अर्थात् वाच्य वस्तु उसका अन्तरतम अर्थात् अत्यन्त निकटस्थ हो। अर्थात् [अन्य शब्दों के समान] पर्याय शब्द होने पर भी अन्तरंग-अन्तरतम होने से वह विवक्षित वस्तु को जैसे जिस प्रकार से प्रकट करता है उस प्रकार से अन्य कोई [शब्द प्रकट] नहीं करता है। जैसे—

यह श्लोक किरातार्जुनीय के तेरहवें सर्ग का ५८वाँ श्लोक है। वन में तपस्या करते हुए अर्जुन की परीक्षा के लिए किरात वेष धारण कर शिवजी वहाँ गए हैं और एक ही शिकार पर अर्जुन तथा शिव ने साथ-साथ बाण छोड़ा है। अर्जुन के बाण से शिकार वराह के बिद्ध होने पर अर्जुन जब उससे अपना बाण निकाल रहे हैं उसी समय शिव का दूत अर्जुन के पास जाकर कहता है कि यह तो हमारे सेनापति का बाण है। तुम क्यों ले रहे हो इसे हमें दो। अर्जुन के साथ उस दूत के संवाद में से यह श्लोक उद्धृत किया गया है। शिवजी का दूत कहता है कि—

हम तुम्हारे ऊपर मिथ्या अभियोग नहीं लगाना चाहते हैं [कि तुम हमारे सेनापति का बाण ले रहे हो। क्योंकि झूठा अभियोग लगाकर यदि हम तुम्हारा बाण ले ही लेंगे तो उससे हमारा क्या लाभ होगा? तुम] तपस्वियों के बाणों में हमारा क्या आदर हो सकता है? [तपस्वियों के बाण हमारे लिए व्यर्थ हैं] हमारे राजा के पास तो और [बहुत-से] बाण हैं जो वज्रधारी इन्द्र के भी पराक्रम की निधि हैं। [अर्थात् इन्द्र का वज्र भी उतना काम नहीं देता जितना कि वे बाण जो हमारे राजा या सेनापति के पास हैं काम देते हैं] ॥३२॥

अत्र महेन्द्रवाचकेष्वसंख्येषु सत्स्वपि पर्यायशब्देषु 'बज्रिणः' इति प्रयुक्तः पर्यायवक्रतां पुष्णाति । यस्मात् सततसन्निहितवज्रस्यापि सुरपतेर्ये 'पराक्रमवसूनि' विक्रमधनानीति सायकानां लोकोत्तरत्वप्रतीतिः । 'तपस्वि' शब्दोऽप्यतितरां रमणीयः । यस्मात् सुभटसायकानामादरो बहुमानः कदाचिदुपपद्यते, तापसमार्गणेषु पुनरकिञ्चित्करेषु कः संरम्भ इति ।

यथा वा—

कस्त्वं, ज्ञास्यसि मां, स्मर स्मरसि मां, दिष्ट्या, किमभ्यागत-
स्त्वामुन्मादयितुं, कथं ननु, बलात्, किन्ते बलं, पश्य तत् ।

यहाँ इन्द्र के वाचक सैकड़ों शब्दों के होते हुए भी 'बज्रिणः' इस, पर्याय शब्द का प्रयोग 'पर्यायवक्रता' को पुष्ट करता है । क्योंकि जिसके पास बज्र सदा रहता है उस देवराज इन्द्र के भी जो [पराक्रम की निधि] शक्ति के स्रोत हैं इस [कथन] से [उन] बाणों के लोकोत्तरत्व की प्रतीति होती है । 'तपस्वि' शब्द भी [यहाँ] अत्यन्त सुन्दर [रूप में प्रयुक्त हुआ] है । क्योंकि वीरों के बाणों का आदर तो कदाचित् उपयुक्त हो सकता है किन्तु तपस्वियों के अकिञ्चित्कर बाणों में क्या आदर । [वे तो सैनिक या राजा के लिए बिल्कुल व्यर्थ ही हैं । यह अर्थ 'तपस्वी' पद से अभिव्यक्त होता है । उससे उक्ति में और भी चमत्कार आ गया है] ।

अथवा जैसे [अभिधेयान्तरतम पर्यायवक्रता का दूसरा उदाहरण]—

इस श्लोक में कामदेव और शिव के संवाद का वर्णन करते हुए उसके भस्म किए जाने का उल्लेख बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है । उनका यह संवाद प्रश्नोत्तर रूप में दिखलाया गया है । जिस समय कामदेव शिवजी को अपने वशीभूत करने के लिए आया था उस समय शिवजी कामदेव को देखकर अनादरपूर्वक उससे पूछते हैं कि—

[शिवजी]—अरे तू कौन है ?

कामदेव इस प्रश्न को सुनकर अपना बड़ा अपमान-सा अनुभव करता है कि मैं सारे संसार में प्रसिद्ध हूँ, संसार के सारे प्राणी मेरे वशीभूत हैं । और यह मझ से पूछता है कि तू कौन है ? जैसे यह जानता ही नहीं । इस अपमान को अनुभव करते हुए भी एक बलवान् प्रतिद्वन्दी के समान कामदेव अत्यन्त शान्ति के साथ परन्तु व्यङ्ग्यमिश्रित उत्तर देता है कि—

[कामदेव—तनिक ठहरो अभी] तुम मुझे जान जाओगे [कि मैं कौन हूँ] ।

कामदेव के इस उत्तर को सुनकर शिवजी को तनिक आवेश हो जाता है ।

पश्यामीत्यभिधाय पावकमुचा यो लोचनेनैव तं
कान्ताकण्ठनिषक्तबाहुमदहत् तस्मै नमः शूलिने ॥३३॥

अत्र परमेश्वरे पर्यायसहस्रेष्वपि सम्भवत्सु 'शूलिनः' इति यत्प्रयुक्तं तत्रायमभिप्रायो यत् तस्मै भगवते नमस्कारव्यतिरेकेण किमन्यदभिधीयते । यत्तथाविधोत्सेकपरित्यक्तविनयवृत्तेः स्मरस्य कुपितेनापि तदभिमतावलोक-व्यतिरेकेण तेन सततसन्निहितशूलेनापि कोपसमुचितमायुधग्रहणं नाचरितम् ।

वह फिर कामदेव से कहते हैं कि—

[शिव] अरे! तू मुझे जानता है [मैं कौन हूँ ? सीधे उत्तर क्यों नहीं देता है] ?

[कामदेव व्यङ्ग्यपूर्वक उत्तर देता है] भाग्य से [मैं आपको खूब जानता हूँ। आप क्या हैं] ।

[इस पर शिवजी कहते हैं कि यदि तू मुझको जानता है कि मैं कौन हूँ तो फिर] तू [मेरे पास] क्यों आया है ? [मेरे ऊपर तेरा दाँव नहीं चलेगा इसको याद रख ।]

[कामदेव उत्तर देता है । इसीलिए तो] तुम्हें उन्मादयुक्त करने के लिए आया हूँ ।

[शिवजी कहते हैं कि देखें] तू कैसे [मुझे उन्मत्त करेगा] ?

[कामदेव कहता है कि देखोगे क्या] मैं ज़बरदस्ती [तुमको उन्मत्त करूँगा] ।

[शिवजी कामदेव को अत्यन्त अनादरपूर्वक कहते हैं] अरे तेरी क्या ताक़त है [जो तू मुझे उन्मत्त कर सके] !

[इस अपमान से उद्विग्न होकर कामदेव कहता है] ले उसको देख [कि मेरी क्या ताक़त है । बात-बात में दोनों अखाड़े में आए जाते हैं] ।

[शिवजी बोले] अच्छा आ, देखता हूँ । ऐसा कहकर जिस [शिव] ने [अपनी] पत्नी [रति] के गले में हाथ डाले हुए कामदेव को आग बरसाने वाले अपने [तृतीय] नेत्र से ही भस्म कर दिया उस त्रिशूलधारी [शिव] को नमस्कार है ॥३३॥

[परमेश्वर] शिव के पर्यायवाची सैकड़ों शब्द रहने पर भी यहाँ 'शूलिनः' [पद] का जो प्रयोग किया है उसका यह अभिप्राय है कि उस भगवान् शिव को नमस्कार के अतिरिक्त और क्या किया जाय जिसने उस प्रकार के [असाधारण] अभिमान के कारण विनयाचरण का परित्याग करने वाले कामदेव पर कुपित होने पर और सदा त्रिशूल समीप में रहने पर भी उसकी ओर देखने के अतिरिक्त क्रोध [काल में ग्रहण करने] के योग्य शस्त्र का ग्रहण नहीं किया । केवल दृष्टिपातमात्र

लोचनपातमात्रेणैव कोपकार्यकरणाद् भगवतः प्रभावातिशयः परिपोषितः। अतएव तस्मै नमोऽस्त्विति युक्तियुक्ततां प्रतिपद्यते।

अयमपरः पदपूर्वार्द्धवक्रताहेतुः पर्यायो यस्तस्यातिशयपोषकः। तस्याभिधेयस्यार्थस्यातिशयमुत्कर्षं पुष्णाति यः स तथोक्तः। यस्मात् सहजसौकुमार्यसुभगोऽपि पदार्थस्तेन परिपोषितातिशयः सुतरां सहृदयहृदयहारितां प्रतिपद्यते। यथा—

सम्बन्धी रघुभूभुजां मनसिजव्यापारदीक्षागुरु-
गौराङ्गीवदनोपमापरिचितस्तारावधूवल्लभः।
सद्योमार्जितदाक्षिणात्यतरुणीदन्तावदातद्युति-
श्चन्द्रः सुन्दरि दृश्यतामयमितश्चण्डीशचूडामणिः॥३४॥[1]

से क्रोध का कार्य सम्पादन कर देने से भगवान् शिव के प्रभावातिशय को परिपुष्ट किया गया है। इसलिए [ऐसे प्रभावशाली] उस [शिव] को नमस्कार हो यह [कथन] युक्तियुक्त हो जाता है। [इस प्रकार 'शूलिनः' यह पद शिव के अन्य पर्याय शब्दों की अपेक्षा यहाँ 'अन्तरतम' होने से चारुतातिशय का पोषक है। अतः यह प्रथम प्रकार की पर्यायवक्रता का उदाहरण हुआ]।

२. यह पद पूर्वार्द्धवक्रता का हेतु, पर्यायवक्रता का दूसरा प्रकार है कि जो [पर्याय शब्द] उस [वाच्यार्थ] के अतिशय अर्थात् उत्कर्ष का पोषक हो। उस [अभिधेय] वाच्यार्थ के अतिशय अर्थात् उत्कर्ष को जो पुष्ट करता है वह उस प्रकार का [तस्यातिशयपोषकः] हुआ। क्योंकि स्वाभाविक सुकुमारता से सुन्दर पदार्थ भी उस [विशेष पर्याय शब्द] से उत्कर्ष के पुष्ट किए जाने पर सहृदयों के हृदय के लिए अत्यन्त चमत्कारजनक हो जाता है। जैसे—

यह श्लोक राजशेखरकृत 'बालरामायण' नाटक के दशम अंक का ४१वाँ श्लोक है। लङ्का-विजय के बाद पुष्पकविमान से अयोध्या को लौटते हुए रामचन्द्र जी सीता जी को चन्द्रमा को दिखलाते हुए कह रहे हैं कि—

[सूर्य तथा चन्द्रमा के परस्पर आदान-प्रदान सम्बन्ध होने के कारण] जो [चन्द्रमा] रघुवंशी राजाओं का सम्बन्धी, और काम [जन्य] व्यापारों की दीक्षा देने वाला गुरु है। जो गौर अङ्गों वाली [सुन्दरियों] के मुख की उपमा के लिए प्रसिद्ध और तारा रूप [सहस्रों] वधुओं का प्रिय [प्राणपति] है। तुरन्त साफ़ किए हुए दक्षिण देश की स्त्री के दाँतों के समान स्वच्छ कान्ति वाला और शिव के मस्तक का चूड़ामणि आभूषण यह चन्द्रमा है इसको देखो ॥३४॥

---

१. बालरामायण १०, ४१।

अत्र पर्यायाः सहजसौन्दर्यसम्पदुपेतस्यापि चन्द्रमसः सहृदयहृदयाल्हादकारणं कमप्यतिशयमुत्पादयन्तः पदपूर्वार्द्धवक्रतां पुष्णन्ति । तथा च रामेण रावणं निहत्य पुष्पकेन गच्छता सीतायाः सविभ्रमं स्वैरकथास्वेतदभिधीयते 'यच्चन्द्रः सुन्दरि दृश्यताम्' इति । रामणीयकमनोहारिणि सकललोकलोचनोत्सवश्चन्द्रमा विचार्यतामिति । यस्मात्तथाविधानामेव तादृशः समुचितो विचारगोचरः । 'सम्बन्धी रघुभूभुजाम्' इत्यनेन चास्माकं नापूर्वो बन्धुरयमित्यवलोकनेन सम्मान्यतामिति प्रकारान्तरेणापि तद्विषयो बहुमानः प्रतीयते । शिष्टाश्च तदतिशयाधानप्रवणत्वमेवात्मनः प्रथयन्ति । तत एव च प्रस्तुतमर्थं प्रति प्रत्येकं पृथक्त्वेनोत्कर्षप्रकटनात् पर्यायाणां बहूनामप्यपौनरुक्त्यम् । तृतीये पादे विशेषणवक्रता विद्यते, न पर्यायवक्रत्वम् ।

[इस श्लोक में दिए हुए] पर्याय [विशेषण भूत शब्द] स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त चन्द्रमा के भी सहृदय हृदयाल्हादकारक [किसी] अपूर्व उत्कर्ष को उत्पन्न करते हुए 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' को पुष्ट करते हैं । [उसका अभिप्राय यों समझो] जैसे कि रावण को मारकर पुष्पकविमान से [अयोध्या को] जाते हुए रामचन्द्र जी सीता के साथ एकान्त की विस्रम्भ कथा के अवसर पर यह कह रहे हैं कि हे सुन्दरि इस चन्द्रमा को देखो । रमणीयता के कारण मन को हरण करने वाली [हे सीते] सब लोगों के नेत्रों के [उत्सव] आनन्ददायक चन्द्रमा का विचार करना चाहिए । क्योंकि उस प्रकार के [तुम्हारे जैसे सौन्दर्य के पारखी] लोगों ही के विचार का विषय, उस प्रकार का [लोकोत्तर सौन्दर्यशाली चन्द्रमा] उचित रूप से हो सकता है । [यह चन्द्रमा] रघुवंशी राजाओं का सम्बन्धी है इस [कथन] से हमारा कोई नया [अपरिचित] बन्धु नहीं है इसलिए [पुराना परिचित बन्धु होने के नाते] उसको देख कर सम्मानित करो । अन्य [विशेषणों द्वारा] प्रकारान्तर से भी उस [चन्द्रमा] के विषय में आदरातिशय प्रतीत होता है । शेष [शब्द] अपनी उस सौन्दर्य की अतिशयाधानपरता को ही सूचित करते हैं । इसलिए प्रस्तुत अर्थ के प्रति प्रत्येक पद के द्वारा अलग-अलग उत्कर्ष के प्रकट करने से बहुत से पर्यायों [शब्दों] की भी पुनरुक्ति [प्रतीत] नहीं होती है । तीसरे चरण [सद्योमार्जितदाक्षिणात्यतरुणीदन्तावदातद्युतिः] में 'विशेषणवक्रता' है 'पर्यायवक्रता' नहीं । [शेष सब चरणों में 'पर्यायवक्रता' है विशेषणवक्रता नहीं] ।

यह श्लोक जैसा कि पहिले कह चुके हैं बालरामायण नाटक से लिया गया है । परन्तु बालरामायण में इसका पाठ यहाँ से भिन्न प्रकार का है । यहाँ जो प्रथम चरण दिया गया है वह बालरामायण में चतुर्थ चरण है अर्थात् 'गौराङ्गी वदनोपमा' वाले द्वितीय चरण से बालरामायण में श्लोक का प्रारम्भ होता है । और 'सम्बन्धी

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्द्धवक्रतानिबन्धनः 'यस्तदलङ्कर्तुमीश्वरः'। तदभिधेयलक्षणं वस्तु विभूषयितुं यः प्रभवतीत्यर्थः । कस्मात्, 'रम्यच्छायान्तर-स्पर्शात्' । रम्यं रमणीयं यच्छायान्तरं विच्छित्यन्तरं श्लिष्टत्वादि, तस्य स्पर्शात् शोभान्तरप्रतीतेरित्यर्थः । कथम्, 'स्वयं विशेषणेनापि' । स्वयमात्मनैव स्वविशेषणभूतेन पदान्तरेण वा । तत्र स्वयं यथा—

इत्थं जड़े जगति को नु बृहत्प्रमाण-
कर्णः करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम् ।
इत्यागतं झटिति योऽनिलमुन्ममाथ
मातङ्ग एव किमतः परमुच्यतेऽसौ ॥३५॥'

रघुभूभुजां' वाला चरण सबसे अन्त में रखकर श्लोक की समाप्ति होती है । कुन्तक ने बालरामायण के इस श्लोक के चतुर्थ चरण को सबसे पहिले रख दिया है । यह परिवर्तन स्वयं कुन्तक ने कर दिया या बीच में पाण्डुलिपियों में हो गया यह कहना कठिन है ।

३—'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का कारण भूत यह और [तीसरा], पर्याय [वक्रता] का प्रकार है जो 'उस [अभिधेयार्थ] को अलंकृत करने में समर्थ हो' । जो उस अभिधेय [वाच्यार्थ] रूप वस्तु को सजाने में समर्थ हो । किससे [सजाने में समर्थ हो कि] [दूसरी व्यङ्ग्यभूत] रम्य छायान्तर के स्पर्श से । रम्य अर्थात् रमणीय जो छायान्तर अर्थात् [वाच्यार्थ से भिन्न] जो श्लिष्टत्व आदि रूप सौन्दर्यविशेष उसके संयोग या स्पर्श से । अन्य प्रकार की सौन्दर्य की प्रतीति होने से । कैसे कि, 'स्वयं और विशेषण के द्वारा भी' । स्वयं अपने ही [श्लेष आदि के कारण] अथवा अपने में विशेषण-भूत अन्य पदार्थ [के श्लेष आदि युक्त होने] के द्वारा । उसमें स्वयं [अर्थात् विशेष्य पद के श्लिष्ट होने से वाच्यार्थ से भिन्न प्रकार के सौन्दर्यातिशय का उदाहरण] जैसे—

इस जड़ [मूर्ख और अचेतन] जगत् में [हाथी के समान] इस प्रकार के बड़े-बड़े कानों वाला और बड़े [प्रशस्त] हाथ [सूंड] वाला [अर्थात् सुनने और कर सकने में समर्थ] कथन [कष्ट गाथा सुनाने योग्य अथवा भृङ्गगुञ्जन रूप शब्द] का पात्र और कौन होगा ऐसा समझकर आए हुए भ्रमर को जिस [हाथी] ने [अपने कानों की फड़फड़ाहट से] संत्रस्त कर दिया उसे 'मातङ्ग' [हाथी या दूसरे पक्ष में चाण्डाल] के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ॥३५॥

यह श्लोक सुभाषितावली में संख्या ६२८ पर 'भट्ट वासुदेव' के नाम से दिया गया है । कुन्तक भी इसी ग्रन्थ में उदाहरण सं० १, ५५ पर इसके पूर्वार्द्ध भाग को उद्धृत कर चुके हैं । यह अन्योक्ति है । हाथी के कान बड़े हैं और कर अर्थात् सूंड भी बड़ी है। अतः वह हमारी विपत्ति-कथा को भली प्रकार सुन सकता है

अत्र 'मातङ्गशब्दः' प्रस्तुते वारणमात्रे प्रवर्तते। शिलष्टया वृत्या चाण्डाल-लक्षणस्याप्रस्तुतस्य वस्तुनः प्रतीतिमुत्पादयन् रूपकालङ्कारच्छायासंस्पर्शाद् 'गौर्वाहीकः' इत्यनेन न्यायेन सादृश्यनिबन्धनस्योपचारस्य सम्भवात् प्रस्तुतस्य वस्तुनस्तत्वमध्यारोपयन् पर्यायवक्रतां पुष्णाति। यस्मादेवंविधे विषये प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेन सम्बन्धोपनिबन्धो रूपकालङ्कारद्वारेण कदाचिदुपमामुखेन वा। यथा—

और उसका प्रतीकार करने में भी समर्थ हो सकता है। यह समझकर कोई भ्रमर अपनी कष्ट-कथा को लेकर उसके पास गया। परन्तु उसने बात सुनने और सुनकर उसकी सहायता करने के बजाय अपने कान फड़फड़ाकर उसको भगा दिया। यह इस श्लोक का भाव है। उससे दूसरा अर्थ यह प्रतीत होता है कि कोई दीन-हीन संत्रस्त व्यक्ति किसी बड़े समर्थ तथा साधनसम्पन्न पुरुष के पास अपनी विपन्नावस्था में किसी प्रकार की सहायता प्राप्त करने की आशा से जाय और वह उसकी किसी प्रकार की सहायता न करके यों ही फटकारकर भगा दे तो वह पुरुष चाण्डाल के समान समझा जाना चाहिए। इसी भाव को द्योतित करने के लिए श्लोक के चतुर्थ चरण में 'मातङ्ग एव किमतः परमुच्यतेऽसौ' कहा है। यहाँ 'मातङ्ग' पद शिलष्ट है। उसका एक अर्थ हाथी होता है और दूसरा अर्थ चाण्डाल होता है। ऐसे व्यक्ति को मातङ्ग अर्थात् एक पक्ष में हाथी और दूसरे पक्ष में चाण्डाल के सिवाय और क्या कहा जाय। यह कवि का अभिप्राय है। इसमें विशेष्यभूत 'मातङ्ग' शब्द के शिलष्ट होने से उसके साथ चाण्डाल रूप दूसरे अर्थ के संस्पर्श से वाच्यार्थ में चारुत्व आ गया है। इसलिए यह 'तदलङ्कर्तुमीश्वरः' वाला 'पर्याय-वक्रता' का उदाहरण है।

यह 'मातङ्ग' शब्द प्रस्तुत प्रकरण में केवल हाथी का बोधक होता है। परन्तु श्लेष व्यवहार [यहाँ पूर्व संस्करण में 'शिष्टया वृत्या' पाठ दिया गया था वह ठीक नहीं था। उसके स्थान पर 'श्लिष्टया वृत्या' पाठ ठीक है] से चाण्डाल रूप अप्रस्तुत वस्तु की प्रतीति को उत्पन्न करता हुआ रूपकालङ्कार की छाया के स्पर्श से 'गौवाहीकः' इस न्याय से सादृश्यमूलक उपचार के सम्भव होने से प्रस्तुत [हाथी रूप] वस्तु पर उस [चाण्डालत्व] के आरोप को कराकर 'पर्यायवक्रता' को पुष्ट करता है। क्योंकि इस प्रकार के उदाहरणों में प्रस्तुत [हाथी आदि] का अप्रस्तुत [चाण्डाल आदि] के साथ सम्बन्ध का निरूपण कभी रूपकालङ्कार के द्वारा अथवा कभी उपमालङ्कार के द्वारा [ही] हो सकता है। जैसे—

[रूपकालङ्कार की अवस्था में] 'स एवायं' अर्थात् [चाण्डाल एवायं मातङ्गः] इस प्रकार [विग्रह होगा] अथवा [उपमालङ्कार की दशा में

'स एवायं' 'स इवायं वा'।

एष एव च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य पदध्वनेर्विषयः।

'चाण्डाल इवायंमातङ्गः'] उसके समान यह [इस प्रकार का विग्रह] होगा । [इसलिए ऐसे श्लिष्ट स्थलों में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का सम्बन्ध कभी रूपकालङ्कार द्वारा और कभी उपमालङ्कार द्वारा निबद्ध किया जाता है]।

और यही [ध्वनिवादियों के मत में] शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य पद ध्वनि का विषय होता है।

इस प्रकरण में 'गौर्वाहीक-न्याय' का उल्लेख हुआ है । 'गौर्वाहीक-न्याय' का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आजकल 'शिकारपुर' अथवा 'भोगाँव' के लोग मूर्खता के लिए प्रसिद्ध हैं इसी प्रकार प्राचीन काल में 'वाहीक' नामक स्थान विशेष के मनुष्य अपनी मूर्खता के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी मर्खता के अतिशय के सूचन के लिए वाहीक देशवासी पुरुष को गौ अर्थात् गाय के समान कहा जाता था । गाय में रहने वाले जाड्य मान्द्य आदि गुणों के सादृश्य के कारण वाहीक देशवासी पुरुष भी 'गौ' कहलाता था। इस प्रकार प्रकृत में निष्ठुराचरण के सादृश्य के कारण मातङ्ग अर्थात् हाथी को मातङ्ग अर्थात् चाण्डाल कहा गया है।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्ध के निरूपण के विषय में इस प्रकरण में कुन्तक ने लिखा है कि 'एवंविधे विषये प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेन सम्बन्धोपनिबन्धो रूपकालङ्कारद्वारेण कदाचिदुपमामुखेन वा'। अर्थात् इस प्रकार के श्लेष स्थलों में प्रस्तुत अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ का अप्रस्तुत अर्थात् प्रतीयमान व्यङ्ग्य अर्थ के साथ कभी रूपक द्वारा और कभी उपमा द्वारा सम्बन्ध होता है। जैसे—

जटाभाभिर्भाभिः करधृतकलङ्काक्षवलयो
वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः।
परिप्रेङ्खत्तारापरिकरकपालाङ्कितत ले
शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति ॥

इस श्लोक में चन्द्रमा पर योगी के धर्म का आरोप किया गया है । योगी अथवा तपस्वी जटाओं से युक्त हाथ में अक्षमाला [जपमाला] लिये, भस्म रमाए हुए श्मशान आदि में घूमता रहता है । इसी प्रकार भस्म के समान श्वेत वर्ण, वियोगियों के आपत्ति से विरक्त हो हाथ में कलङ्क रूप अक्षमाला को धारण किए हुए जटा रूप अपनी किरणों से उपलक्षित चन्द्रमा श्मशान के तुल्य आकाश में विचरण करता है । यह श्लोक का अभिप्राय है । यहाँ 'करे धृतं कलङ्काक्षवलयं येन स करधृतलङ्काक्षवलयः' इस समास के अन्तर्गत 'कलङ्काक्षवलयम्' पद आता है । इस

बहुषु चैवंविधेषु सत्सु वाक्यध्वनेर्वा। यथा—

कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नुत्फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो व्यजृम्भत ग्रीष्माभिधानो महाकालः ॥३६॥

यथा, वा—

'करधृतकलङ्काक्षवलयः' पद में 'कलङ्क एव अक्षवलयं कलङ्काक्षवलयं' इस प्रकार का विग्रह करके 'मयूरव्यंसकादयश्च' अष्टा० २, १, ७२। इस पाणिनि सूत्र के अनुसार समास मानने पर रूपकालङ्कार होगा। और 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' अष्टा० २,१,५६। इस पाणिनि सूत्र के अनुसार समास करने पर 'कलङ्को अक्षवलयमिव इति कलङ्काक्षवलयम्' इस प्रकार का विग्रह करके उपमा अलङ्कार होगा। इस प्रकार प्रस्तुत अर्थ चन्द्रमा और अप्रस्तुत अर्थ अघोरी साधु का यहाँ रूपकालङ्कार द्वारा अथवा उपमा अलङ्कार द्वारा दोनों प्रकार से समन्वय हो सकता है। उसमें रूपकालङ्कार पक्ष में 'मयूव्यंसकादयश्च' इस सूत्र से समास करने पर 'कलङ्क एव अक्षवलयं कलङ्काक्षवलयम्' इस प्रकार का विग्रह होगा। उपमालङ्कार मानने पर 'कलङ्को अक्षवलयमिव इति कलङ्काक्षवलयम्' इस प्रकार के विग्रह करके 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र से समास होगा। इसी द्विविध समास प्रक्रिया का यहाँ ग्रन्थकार ने 'स एवायं स इवायमिति वा' कहकर उल्लेख किया है।

अथवा इस प्रकार के अनेक [श्लिष्ट] पदों के [प्रयुक्त] होने पर [शब्दशक्ति मूल संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का] वाक्य-ध्वनि का [उदाहरण होगा]। जैसे—

यह उद्धरण हर्षचरित के द्वितीय उच्छ्वास से लिया गया है। और ध्वन्यालोक में भी उद्धृत हुआ है।

पुष्पसमृद्धि के युग [अर्थात् वसन्त ऋतु के चैत्र तथा वैशाख दो मासों] की समाप्ति [उपसंहार] करता हुआ, खिली हुई जुही [मल्लिका] के, अट्टालिकाओं को धवलित करने वाले हास [विकास] से परिपूर्ण [दूसरे पक्ष में दूसरा अर्थ प्रलयकाल कृतयुग आदि समय युगों का संहार करते हुए] और खिली हुई जुही के समान धवल अट्टहास करते हुए 'महाकाल' शिव के समान ग्रीष्म नामक 'महाकाल' प्रकट हुआ ॥३६॥

[और] जैसे [उसी प्रकार का दूसरा उदाहरण भी हर्षचरित से लिया गया है। उसका अर्थ इस प्रकार है]—

१. हर्षचरित २, ध्वन्यालोक पृ० १७२।

वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः ।इति॥३७॥[1]

अत्र युगादयः शब्दाः प्रस्तुताभिधानपरत्वेन प्रयुज्यमानाः सन्तोऽप्यप्रस्तुतवस्तुप्रतीतिकारितया कामपि काव्यच्छायां समुन्मीलयन्तः प्रतीयमानालङ्कारव्यपदेशभाजनं भवन्ति ।

विशेषणेन यथा—

सुस्निग्धमुग्धधवलोरुदृशं विदग्ध
मालोक्य यन्मधुरमद्य विलासदिग्धम् ।
भस्मीचकार मदनं ननु काष्ठमेव
तन्नूनमीश इति वेत्ति पुरन्ध्रिलोकः ॥३८॥

अत्र काष्ठमिति विशेषणपदं वर्ण्यमानपदार्थापेक्षया मन्मथस्य

[तुम्हारे अर्थात् हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन तथा माता राज्यश्री की मृत्यु रूप] इस महाप्रलय के हो जाने पर पृथिवी [अर्थात् राज्यभार] के धारण करने के लिए अब [शेषनाग के समान केवल] तुम 'शेष' [शेषनाग] हो ।।३७।।

इनमें 'युग' आदि शब्द प्रस्तुत [चैत्र-बैशाख मास रूप] अर्थ परतया प्रयुक्त होने पर भी [महाकाल शब्द का प्रस्तुतपरक अर्थ ग्रीष्म ऋतु का दीर्घ काल है परन्तु उससे अप्रस्तुत शिव रूप अर्थ भी प्रतीत होता ही है । इसलिए वे शब्द] अप्रस्तुत वस्तु [शिव आदि] के प्रतीतिकारी होने से काव्य के कुछ अपूर्व सौन्दर्य को प्रकाशित करते हुए [वाक्यगत शब्दशक्तिमूल] अलङ्कारध्वनि के पात्र होते हैं ।

[इस प्रकार यह विशेष्य पद के श्लेष के तीन उदाहरण दिए हैं । आगे विशेषण पद के श्लेष के उदाहरण देते हैं] ।

विशेषण [पद के श्लेष] से [छायान्तरस्पर्श का उदाहरण] जैसे—

अत्यन्त स्नेहयुक्त, मनोहर, शुभ्र और बड़ी-बड़ी आँखों वाले, चतुर, सुन्दर और हाव-भाव आदि से परिपूर्ण जिस [राजा या नायक] को देखकर स्त्रियाँ यह समझती हैं कि [वास्तव में देहधारी कामदेव तो हमारे सामने उपस्थित है । तब मदन को शिव जी ने भस्म कर डाला था इस प्रकार का जो प्रवाद सुनाई देता है वह वास्तव में कामदेव रूप मदन के विषय में नहीं है । अपितु 'मयनफल' नामक जो 'मदन' नाम से प्रसिद्ध वृक्ष विशेष के विषय में है । उस] काष्ठ को ही शिव जी ने भस्म किया है[कामदेव को नहीं । अन्यथा यह हमारे सामने कैसे उपस्थित होता]।। ३८।।

यहाँ [इस उदाहरण में] 'काष्ठ' यह [पद मयनफल नामक वृक्ष विशेष के वाचक मदन का] विशेषण [है । जो] वर्ण्यमान [नायक रूप] पदार्थ की अपेक्षा

---

१. हर्षचरित २, ध्वन्यालोक पृ० २१८ ।

नीरसतां प्रतिपादयद् रम्यच्छायान्तरस्पर्शिश्लेषच्छायामनोज्ञविन्यासपरमस्मिन् वस्तुन्यप्रस्तुते मदनाभिधानपादपलक्षणे प्रतीतिमुत्पादयद् रूपकालङ्कारच्छाया-संस्पर्शात् कामपि पर्यायवक्रतामुन्मीलयति।

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः कारणम्, 'यः स्वच्छायोत्कर्षपेशलः'। स्वस्यात्मनश्छाया कान्तिर्या सुकुमारता तदुत्कर्षेण तदतिशयेन यः पेशलो हृदयहारी। तदिदमत्र तात्पर्यम्। यद्यपि वर्ण्यमानस्य वस्तुनः प्रकारान्तरोल्लासकत्वेन व्यवस्थितिस्तथापि परिस्पन्दसौन्दर्यसम्पदेव सहृदय-हृदयहारितां प्रतिपद्यते।

यथा—

इत्थमुत्कयति ताण्डवलीला-पण्डिताब्धिलहरीगुरुपादैः।
उत्थितं विषमकाण्डकुटुम्बस्यांशुभिः स्मरवतीविरहो माम् ॥३९॥

[काष्ठ रूप होने से] कामदेव की नीरसता [सौन्दर्यहीनता] का प्रतिपादन करते हुए, रमणीय सौन्दर्यान्तर को स्पर्श करने वाले [कुछ अन्य ही प्रकार के अपूर्व सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने वाले] श्लेष की छाया से सुन्दर रचना का बोधक है। यहाँ इस मयनफल नामक वृक्षविशेष रूप अप्रस्तुत वस्तु की प्रतीति को उत्पन्न करता हुआ रूपकालङ्कार की छाया के स्पर्श से किसी अपूर्व 'पर्यायवक्रता' को प्रकट कर रहा है।

[आगे कारिका में आए हुए 'स्वच्छायोत्कर्षपेशलः' पद की व्याख्या करते हैं]

४—यह और [चौथा] पर्याय [वक्रता] का भेद 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का कारण होता है। जो [कारिका में] 'स्वच्छायोत्कर्षपेशलः' [पद से कहा गया है। उसका अर्थ इस प्रकार है कि] स्व की अर्थात् [अभिधेयार्थ की] अपनी जो छाया या कान्ति अर्थात् सुकुमारता उसके उत्कर्ष अर्थात् उसके अतिशय से जो पेशल अर्थात् मनोहारी हो। इसका यहाँ यह अभिप्राय हुआ कि यद्यपि वर्ण्यमान [प्रस्तुत] वस्तु की [प्रतीयमान वस्तु रूप] अन्य प्रकार [के अर्थ] के अभिव्यञ्जक रूप में स्थिति है तथापि [उस वर्ण्यमान प्रस्तुत वस्तु के अपने] स्वभाव की सौन्दर्य सम्पत्ति ही सहृदयों के लिए [हृदयहारित्व को प्राप्त]। हृदयहारिणी होती है।

जैसे—

[इस श्लोक का अर्थ कुछ अस्पष्ट-सा प्रतीत होता है। उसका अभिप्राय यह है कि] समुद्र की नाचती हुई तरङ्गों पर पड़ती हुई विषम काण्ड अर्थात् पञ्चबाण कामदेव के [कुटुम्बी] सम्बन्धी चन्द्रमा की [अंशु अर्थात्] किरणों के द्वारा, उठे हुए [अर्थात् सो न सकने के कारण व्याकुल होकर इधर-उधर घूमते हुए] मुझको

अत्रेन्दुपर्यायो 'विषमकाण्डकुटुम्बशब्दः' कविनोपनिबद्धः । यस्मान्मृगाङ्कोदयद्वेषिणा विरहविधुरहृदयेन केनचिदेतदुच्यते । यद्यमप्रसिद्धोऽप्यपरिम्लानसमन्वयतया प्रसिद्धतमतामुपनीतस्तेन प्रथमतरोल्लिखितत्वेन च चेतनचमत्कारकारितामवगाहते । एष च 'स्वच्छायोत्कर्षपेशलः' सहजसौकुमार्यसुभगत्वेन नूतनोल्लेखविलक्षणत्वेन च कविभिः पर्यायान्तरपरिहारपूर्वकमुपवर्ण्यते ।

कामपीड़िता प्रियतमा [स्मरवती] का विरह, [प्रियतमा के मिलन के लिए] उत्कण्ठित कर रहा है । [जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणें लहरों के ऊपर गिरकर अठखेलियाँ कर रही हैं उसी प्रकार मेरा मन प्रियतमा से मिलकर केलि करने के लिए उत्सुक हो रहा है] ।

यह श्लोक कहाँ का है यह ज्ञात नहीं है । जान पड़ता है चाँदनी रात में समुद्र-तट पर खड़ा हुआ कोई नायक अपनी प्रियतमा का स्मरण करके यह श्लोक कह रहा है । चाँदनी रात में प्रियतमा के विरह में उसको नींद नहीं आती है । इसलिए वह समुद्र-तट पर उत्थित अर्थात् खड़ा हुआ है । सामने समुद्र की नाचती हुई लहरों पर चन्द्रमा की चाँदनी पूर्ण ज़ोर के साथ पड़कर एक अपूर्व सौन्दर्य को उत्पन्न कर रही है । जो इस वियोग की अवस्था में उद्दीपन विभाव का काम कर रही है । उसी सुन्दर दृश्य को देखकर नायक अपनी प्रियतमा का स्मरण करता हुआ उपर्युक्त श्लोक कह रहा है ।

यहाँ [इस श्लोक में] कवि ने चन्द्रमा का पर्यायवाची 'विषमकाण्डकुटुम्ब' शब्द का प्रयोग किया है । [इसका अर्थ विषमकाण्ड अर्थात् पञ्चबाण कामदेव उसका कुटुम्ब अर्थात् सहायक, सम्बन्धी, चन्द्रमा यह होता है] क्योंकि विरह व्यथित अतएव चन्द्रमा से द्वेष करने वाले किसी नायक के द्वारा यह श्लोक कहा गया है । इसलिए यह [चन्द्रमा के लिए प्रयुक्त 'विषमकाण्डकुटुम्ब' शब्द] अप्रसिद्ध होने पर भी सुन्दर सम्बन्ध के कारण प्रसिद्धतमत्व को प्राप्त होकर, 'अपूर्व कल्पना' [प्रथम बार वर्णित या कल्पित] होने के कारण सहृदयों के चित्त को चमत्कृत करता है । और यह [विषमकाण्डकुटुम्ब शब्द] अपने निजी सौन्दर्य के आधिक्य से मनोहर अथवा सहज सौकुमार्य के कारण सुन्दर होने, एवं नवीन कल्पना रूप होने से, कवियों के द्वारा [चन्द्रमा के वाचक] अन्य पर्यायों को छोड़कर [उनकी अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक तथा नवीन कल्पना होने से विशेष रूप से] ग्रहण [वर्णन] किया जाता है ।

यथा वा—

कृष्णकुटिलकेशीति वक्तव्ये यमुनाकल्लोलवक्रालकेति ।

यथा वा—'गौराङ्गीवदनोपमापरिचितः' इत्यत्र वनितादिवाचकसहस्र-सद्भावेऽपि 'गौराङ्गी' इत्यतीवाग्राम्यतारमणीयम् ।

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्द्धवक्रताभिधायी । 'असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते' । वर्ण्यमानस्यासम्भाव्यः सम्भावयितुमशक्यो योऽर्थः कश्चित्परिस्पन्दस्तत्र पात्रत्वं भाजनत्वं गर्भोऽभिप्रायो यत्राभिधाने तत्तथाविधं कृत्वा यश्चाभिधीयते भण्यते । यथा—

अथवा जैसे—

'काले और घुँघराले बालों वाली' इस अर्थ के कहने के अवसर पर 'यमुना की लहरों के समान सुन्दर अलकों वाली यह कथन [पर्यायवक्रता का उदाहरण होता है]।

अथवा जैसे [इसी प्रकार की पर्यायवक्रता का तीसरा उदाहरण पहिले उदा० २, ३४ पर उद्धृत श्लोक में] 'गौराङ्गी के मुख की उपमा से परिचित' इस [गौराङ्गीवदनोपमापरिचितः] प्रयोग में 'स्त्री' आदि सैकड़ों वाचक शब्द होने पर भी [कवि उन सबको छोड़कर विशेष रूप से उसी 'गौराङ्गी' शब्द को ग्रहण कर रहा है, क्योंकि] 'गौराङ्गी' यह [पद] अग्राम्यता के कारण अत्यन्त सुन्दर [प्रतीत होता] है।

५—'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का द्योतक यह [पाँचवां] और 'पर्यायवक्रता' का प्रकार है। [जिसे कारिका में] 'असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते' [पद में कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि] वर्ण्यमान [प्रस्तुत] वस्तु का असम्भाव्य अर्थात् जिसकी कल्पना भी न की जा सके ऐसा जो अर्थ अर्थात् स्वभाव विशेष, उसकी पात्रता अर्थात् भाजनता [वाच्य या वर्ण्यमान वस्तु में बोधन कराने] में गर्भ अर्थात् अभिप्राय जिस वाचक पद [अभिधान] का हो वह [असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भं हुआ] उस प्रकार का करके [अर्थात् सामान्य शब्द से किसी असम्भाव्य-तुल्य अर्थ विशेष को बोधित कराने के अभिप्राय को अपने मन में रखकर कवि] जिस [शब्द विशेष रूप पर्याय] को प्रयुक्त करता है या कहता है [वह भी पर्यायवक्रता का उदाहरण होता है।] जैसे—

यह श्लोक रघुवंश के द्वितीय सर्ग का ३४वाँ श्लोक है । नन्दिनी गाय को चराते हुए राजा दिलीप वन का सौन्दर्य देखने में तल्लीन हो जाते हैं ।

अलं महीपाल तव श्रमेण
प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः
शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥४०॥[1]

अत्र महीपालेति राज्ञः सकलपृथिवीपरिरक्षणक्षमपौरुषस्यापि तथाविध-प्रयत्नपरिपालनीयगुरुगोरूपजीवमात्रपरित्राणासामर्थ्यं स्वप्नेऽप्यसम्भावनीयं यत् तत्पात्रत्वगर्भमामन्त्रणमुपनिबद्धम् ।

इतने में शिव जी के रखे हुए सिंह ने उस पर आक्रमण कर दिया उसकी आवाज सुनकर और उधर देखकर सिंह को मारने के लिए जब राजा दिलीप बाण निकालने लगे तब सिंह ने उनसे कहा कि—

हे राजन् ! इस कार्य के लिए व्यर्थ परिश्रम मत करो क्योंकि मेरे ऊपर चलाया गया तुम्हारा अस्त्र व्यर्थ जायगा [यह माना कि तुम्हारा अस्त्र बड़े-बड़े वीरों के छक्के छुड़ा देता है फिर भी वह मेरे ऊपर कोई असर नहीं डाल सकेगा। मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा। क्योंकि जैसे बड़े-बड़े] वृक्षों को उखाड़ देने की सामर्थ्य रखने वाला आँधी का वेग भी [उससे भी अधिक दृढ़] पहाड़ का कुछ नहीं बिगाड़ पाता है । [इसी प्रकार तुम्हारा प्रयुक्त किया हुआ अस्त्र भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा और व्यर्थ ही जायगा] ॥४०॥

यहाँ [राजा के वाचक सैकड़ों पद होते हुए भी कवि ने 'महीपाल' शब्द का विशेष रूप से प्रयोग किया है । क्योंकि] 'महीपाल' यह शब्द [राजा के असम्भाव्यार्थपात्रत्व को मन में रखकर प्रयुक्त हुआ है] । समस्त पृथिवी की रक्षा करने में समर्थ पौरुष वाले राजा में उस प्रकार के [असाधारण] प्रयत्नों से [हर मूल्य पर] परिपालनीय गुरु की गाय रूप एक जीवमात्र की रक्षा करने की भी, असामर्थ्य जो स्वप्न में भी [कल्पना करना] असम्भव है । [किन्तु यहाँ] उसी [असम्भव अर्थ कि तुम इस गाय को मुझ सिंह से नहीं बचा सकते हो] को बोधित करने के अभिप्राय से [महीपाल] यह [व्यङ्ग्य] सम्बोधन पद [कवि ने] रखा है। [इसलिए यह 'पर्यायवक्रता' रूप पदपूर्वार्द्धवक्रता का उदाहरण है]।

---

१. रघुवंश २, ३४ ।

यथा वा—

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौ-
रेका भवेत् स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः
प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि ॥४१॥[1]

अत्र यदि प्राणिकरुणाकारणं निजप्राणपरित्यागमाचरसि तदप्ययुक्तम्। यस्मात् त्वदन्ते स्वस्तिमती भवेदियमेकैव गौरिति त्रितयमप्यनादरा-

अथवा जैसे [इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण जिसमें किसी असम्भव अर्थ को द्योतित करने के लिए कवि ने किसी विशेष शब्द का प्रयोग किया है, निम्न श्लोक में पाया जा सकता है]—

यह श्लोक भी रघुवंश के द्वितीय सर्ग का ४८वाँ श्लोक है जो उसी प्रसङ्ग में आया है। जब राजा दिलीप ने देखा कि मेरे अस्त्र से इस गाय की रक्षा होना सचमुच असम्भव है क्योंकि जब वह बाण चलाने का उद्योग करने लगे तो शिव जी के प्रभाव से उनका हाथ बाण के पुँखों में ही चिपका हुआ रह गया और वह चित्रलिखित-से खड़े रह गए। 'सक्तांगुलिः सायकपुंख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे' अपनी इस विवशता को देखकर दिलीप ने सिंह के सामने यह प्रस्ताव रखा कि आप मेरे शरीर को अपने भोजन के लिए स्वीकार करें और इस गाय को छोड़ दें। दिलीप के इस प्रकार के प्रस्ताव को सुनकर उनको समझाते हुए सिंह दिलीप से कह रहा है कि—

अगर यह कहो कि [इस गाय की रक्षा करने में अपने शरीर का बलिदान कर देने से] यह तुम्हारी प्राणियों पर दया है, तो [उसके उत्तर में मेरा कहना यह है कि] तुम्हारे मरने पर तो यह अकेली एक गाय ही रक्षित होगी और स्वयं जीवित रहते हुए हे प्रजानाथ, तुम सदैव पिता के समान उपद्रवों [दुःखों] से, सारी प्रजाओं की रक्षा कर सकोगे [इसलिए उस 'बहुजनहिताय' को छोड़कर इस अकेली गाय की रक्षा के लिए अपने प्राण दे देने का तुम्हारा प्रस्ताव उचित नहीं कहा जा सकता है] ॥४१॥

यहाँ [इस श्लोक में कवि का कहना यह है कि] यदि प्राणियों पर दया करने के लिए अपने प्राणों का परित्याग करना चाहते हो तो वह भी उचित नहीं है। क्योंकि १. तुम्हारे मरने पर, २. यह अकेली गाय ही, ३. रक्षित होगी इसलिए [१—अनेक

१. रघुवंश २, ४८।

स्पदम् । जीवन् पुनः शश्वत् सदैव उपप्लवेभ्योऽनर्थेभ्यः प्रजाः सकलभूतधात्रीवलयवर्तिनीः प्रजानाथ पासि रक्षसि पितेवेत्यनादरातिशयः प्रथते ।

तदेवं यद्यपि सुस्पष्टसमन्वयोऽयं वाक्यार्थस्तथापि तात्पर्यान्तरमत्र प्रतीयते । यस्मात् सर्वस्य कस्यचित् प्रजानाथत्वे सति सदैव तत्परिरक्षणस्याकरणमसंभाव्यम् । तत्पात्रत्वगर्भमेव तदभिहितम् । यस्मात् प्रत्यक्षप्राणिमात्रभक्ष्यमाणगुरुहोमधेनुप्राणपरिरक्षणापेक्षानिरपेक्षस्य सतो जीवतस्तवानेन न्यायेनकदाचिदपि प्रजापरिरक्षणं मनागपि न सम्भाव्यत इति प्रमाणोपपन्नम् । तदितमुक्तम्—

प्रमाणवत्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥४२॥

प्राणियों की रक्षा को ध्यान में न रखना, २—एक गाय की रक्षा को विशेष महत्त्व देना, और ३—उसकी रक्षा के लिए अपने बहुमूल्य प्राणों को गँवा देना] ये तीनों ही [बातें] अनुचित हैं। और स्वयं जीते रहने पर हे प्रजानाथ, सारी पृथिवीमण्डल पर रहने वाली समस्त प्रजाओं को आप पिता के समान उपद्रवों से सदैव बचाते रह सकोगे । इससे [दिलीप के शरीर परित्याग रूप प्रस्ताव के प्रति] अत्यन्त अनादर प्रकाशित होता है ।

इस प्रकार यद्यपि इस श्लोक का समन्वय बहुत स्पष्ट रूप से हो जाता है। परन्तु फिर भी यहाँ [इस श्लोक वाक्य में] कुछ अन्य तात्पर्य [भी] प्रतीत हो रहा है। क्योंकि किसी के भी प्रजाओं के स्वामी [राजा] होने पर उनकी रक्षा न करना उसके लिए सदा ही असम्भव है। [अर्थात् प्रजा की सदा ही रक्षा करना राजा का अनिवार्य कर्तव्य है। यहाँ यदि राजा दिलीप अपने शरीर को गाय की रक्षा के लिए सिंह को दे देते हैं तो वे अपनी शेष प्रजा की रक्षा से विमुख होंगे, जो किसी भी राजा के लिए उचित या सम्भव नहीं है] उसी [असम्भव अर्थ] की पात्रता [दिलीप में आ जाती है उसी] को मन में रखकर [कवि ने] उस, [प्रजानाथ पद अथवा सम्पूर्ण श्लोक] को कहा है। क्योंकि सामने दिखलाई देने वाले एक साधारण प्राणी [सिंह] के द्वारा खाई जाती हुई गुरु की, यज्ञ की [पवित्र] गाय, के प्राणों की रक्षा में उदासीन होकर जीवित रहने वाले राजा से [गाय की रक्षा न कर सकने के समान] इसी न्याय से कभी भी प्रजा की तनिक-सी भी रक्षा की सम्भावना [आशा] नहीं हो सकती है यह बात स्पष्ट [प्रमाणसिद्ध] हो जाती है। यही बात कही है—

प्रमाणसिद्ध होने से [पूर्वपरम्परा से] आए हुए प्रवाह को कौन रोक सकता है। [जब राजा एक साधारण सिंह से गाय की रक्षा नहीं कर सका वह आगे भी किसी आपत्ति से अपनी प्रजा की रक्षा नहीं कर सकेगा । यह बात स्पष्ट सिद्ध है। उसको रोका नहीं जा सकता है] ।

इति । अत्राभिधानप्रतीतिगोचरीकृतानां पदार्थानां परस्परप्रतियोगित्वमुदाहरणप्रत्युदाहरणन्यायेनानुसन्धेयम् ।

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्द्धवक्रतां विदधाति, 'अलङ्कारोपसंस्कारमनोहारिनिबन्धनः' । अत्र 'अलङ्कारोपसंस्कार' शब्दे तृतीयासमासः षष्ठीसमासश्च करणीयः । तेनार्थद्वयमभिहितं भवति । अलङ्कारेण रूपकादिनोपसंस्कारः शोभान्तराधानं यत्तेन मनोहारि हृदयरञ्जकं निबन्धनमुपनिबन्धो

यहां [पर्यायवक्रता में] वाच्यार्थ रूप से प्रतीत होने वाले पदार्थों की परस्पर प्रतियोगिता उदाहरण प्रत्युदाहरण के न्याय से निकालनी चाहिए ।

अर्थात् पर्यायवक्रता के उदाहरणभूत किसी श्लोक में दिए हुए विशेष पदों की क्या उपयोगिता है और उनका क्या विशेष महत्त्व है यह बात उदाहरण प्रत्युदाहरण के समान उस पद के स्थान पर उसके पर्यायवाची दूसरे शब्द को रखकर और हटाकर देखने से भली प्रकार मालूम हो जावेगी । उसी विशेष पद के रहने पर काव्य का सौन्दर्य बनता है उसको बदलकर उसका दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने पर उस प्रकार का चमत्कार नहीं रहता है । वहाँ उस पर्याय शब्द विशेष का प्रयोग ही चमत्कार का कारण है इसीलिए उसको पर्यायवक्रता का प्रकार कहा गया है ।

'उदाहरण प्रत्युदाहरण न्याय' का अभिप्राय यह है कि जैसे व्याकरण के 'इको यणचि' आदि सूत्रों में अचि इति किं, अचि पद क्यों रखा है कि हल परे होने पर इक के स्थान में यणादेश न हो । इस प्रकार पदों के रखने का प्रयोजन निकाला जाता है । इसी प्रकार पर्यायवक्रता में उस पद विशेष के रखने का प्रयोजन निकलना चाहिए ।

६—यह [छठा] और पर्याय [वक्रता] का भेद है जो 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का कारण होता है । [कारिका में] 'अलङ्कारोपसंस्कारमनोहारिनिबन्धनः' [इस रूप में उसका निर्देश किया गया है] । यहाँ 'अलङ्कारोपलस्कार' शब्द में तृतीया [तत्पुरुष] तथा षष्ठी [तत्पुरुष दो प्रकार का] समास करना चाहिए । उस से दो अर्थ निकल सकते हैं । १— रूपकादि अलङ्कार से जो उपसंस्कार अर्थात् शोभान्तराधान [अन्य ही प्रकार के सौन्दर्य विशेष का उत्पादन] उससे मनोहारी अर्थात् हृदयरञ्जक जिसकी रचना है । [यह तृतीया समास मानकर एक प्रकार का अर्थ

यस्य स तथोक्तः । अलङ्कारस्योत्प्रेक्षादेरुपसंस्कारः शोभान्तराधानं चेति विगृह्य। तत्र तृतीयासमासपक्षोदाहरणं यथा—

यो लीलातालवृन्तो रहसि निरुपधिर्यश्च केलीप्रदीपः
कोपक्रीडासु योऽस्त्रं दशनकृतरुजो योऽधरस्यैकसेकः ।
आकल्ये दर्पणं यः श्रमशयनविधौ यश्चगण्डोपधानं
देव्याः स व्यापदं वो हरतु हरजटाकन्दलीपुष्पमिन्दुः ॥४३॥

अत्र तालवृन्तादिकार्यसामान्यादभेदोपचारनिबन्धनो रूपकालङ्कार-विन्यासः सर्वेषामेव पर्यायाणां शोभातिशयकारित्वेनोपनिबद्धः ।

षष्ठीसमासपक्षोदाहरणं यथा—

हुआ। षष्ठी समास पक्ष में दूसरा अर्थ इस प्रकार होगा कि]. २—उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कार का जो उपसंस्कार अर्थात् शोभान्तर का आधान इस प्रकार का विग्रह करके [दूसरा अर्थ होता है] । उनमें से तृतीया समास पक्ष का उदाहरण जैसे—

जो [शिव के मस्तक पर का चन्द्रमा पार्वती के खेल में या] लीला के समय ताड़ के पंखे का काम देता है, एकान्त में [तेल बत्ती आदि] उपाधि के बिना ही 'सुरत क्रीड़ा' के समय के प्रदीप का काम देता है, क्रोध [प्रदर्शन] की क्रीड़ा में जो अस्त्र है, [सुरतक्रीड़ा में शिव जी के द्वारा] काटने से कष्ट उत्पन्न होने पर जो अधर का अद्वितीय [आल्हाददायक] सेक है, प्रातःकाल [आकल्ये कल्ये प्रभाते प्रत्युषसि] के समय जो दर्पण का काम देता है और सुरतश्रम के बाद सोने के समय जो देवी पार्वती के गाल का तकिया होता है, शिव जी की जटा कन्दली का पुष्प रूप वह चन्द्रमा [तुम सब भक्त जनों की] तुम्हारी विपत्तियों को दूर करे ॥४३॥

यहाँ [इस उदाहरण में] ताड़ के पंखे आदि के साथ [चन्द्रकला के] कार्य आदि की समानता के कारण [चन्द्रकला और तालवृन्तादि के] अभेदोपचार से रूपकालङ्कार का विन्यास [पूर्वोक्त] सब ही पर्याय शब्दों के शोभातिशय के जनक रूप में उपनिबद्ध किया गया है । [अतएव यह रूपकादि अलङ्कार से जहाँ उपसंस्कार अर्थात् शोभान्तर का आधान किया गया है इस प्रकार का तृतीया समास पक्ष का उदाहरण बन जाता है। इसलिए इसे तृतीया समास पक्ष के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है] ।

षष्ठी समास पक्ष का उदाहरण जैसे—

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम् ॥४४॥[1]

अत्र स्वरससंप्रवृत्तसायंसमयसमुचिता सरोरुहाणां विच्छायताप्रतिपत्तिर्नायकेन नागरकतया वल्लभोपलालनाप्रवृत्तेन तन्निदर्शनोपक्रमरमणीयत्वन्मुखेन निर्जितानीवेति प्रतीयमानोत्प्रेक्षालङ्कारकारित्वेन प्रतिपाद्यते। एतदेव च युक्तियुक्तम्। यस्मात् सर्वस्य कस्यचित् पङ्कजस्य शोभा शशाङ्कशोभया तिरस्कार[2] प्रतिपद्यते। त्वन्मुखपङ्कजेन पुनः शशिनः शोभातिरस्कारिणा न्यायतो निर्जितानि सन्ति, विच्छायतां गच्छन्तीवेति प्रतीयमानस्योत्प्रेक्षालक्षणास्यालङ्कारस्य शोभातिशयः समुल्लास्यते ॥१२॥

हे देवि देखो चन्द्रमा की शोभा को तिरस्कृत करने वाले तुम्हारे मुख कमल से हारे हुए कमल मुर्झाए [कान्तिहीन हुए] जा रहे हैं ।।४४।।

यहाँ सायङ्काल के समय स्वाभाविक रूप से होने वाली कमलों की कान्तिहीनता की प्रतीति को, प्रियतमा नायिका की ख़ुशामद में लगे हुए चतुर नायक के द्वारा उन [कमलों] के उपमान बनने योग्य सुन्दर [निदर्शनोक्रमरमणीय] तुम्हारे मुख से पराजित-से हो गए हों इस प्रकार प्रतीयमान उत्प्रेक्षा अलङ्कार केउत्पादक रूप से प्रतिपादन की जारही है । और यह ही युक्तिसङ्गत भी है । क्योंकि [संसार के] सभी कमलों की शोभा चन्द्रमा की शोभा से तिरस्कृत हो जाती है । [चन्द्रमा का उदय होने पर सभी कमल बन्द हो जाते हैं] लेकिन चन्द्रमा की शोभा को भी तिरस्कृत करने वाले तुम्हारे मुख कमल से [शेष सब पङ्कज] अपने आप [न्याय] उचित रूप से पराजित हो गए हैं और मलिनता को [कान्तिहीनता को] प्राप्त-से हो रहे हैं । इस प्रकार प्रतीयमान उत्प्रेक्षा रूप अलङ्कार की शोभा का अतिशय प्रकाशित होता है ।

प्रथमोन्मेष में मुख्यतः छः प्रकार की वक्रताओं का प्रतिपादन १९वीं कारिका में किया था—उनमें प्रथम 'वर्णविन्यासवक्रता' के बाद द्वितीय स्थान 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का था। इसके फिर १–'रूढ़िवैचित्र्य वक्रता', २–'पर्याय वक्रता' और ३–'उपचार वक्रता' ४–'विशेषण वक्रता', ५–'संवृति वक्रता', ६–'वृत्तिवैचित्र्य वक्रता', ७–'लिङ्गवैचित्र्य वक्रता' और ८–'क्रियावैचित्र्य वक्रता' ये आठ पद पदपूर्वार्द्ध वक्रता के किए थे। इनमें 'रूढ़िवैचित्र्यवक्रता' के चार भेदों तथा 'पर्यायवक्रता' के छः भेदों का यहाँ तक विस्तार पूर्वक विवेचन समाप्त किया । अब 'पदपूर्वार्द्ध वक्रता' के तृतीय 'उपचारवक्रता' का निरूपण प्रारम्भ करेंगे ।

---

१. रत्नावली १, २५ । २. पङ्कजस्य शशाङ्कशोभा तिरस्कारितां पाठ ठीक नहीं है ।

एवं पर्यायवक्रतां विचार्य क्रमसमुचितावसरामुपचारवक्रतां विचारयति—

यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते ।
लेशेनापि भवत् काञ्चिद् वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम् ॥१३॥
यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः ।
उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते ॥१४॥

'असौ' काचिदपूर्वा 'वक्रतोच्यते' वक्रभावोऽभिधीयते। कीदृशी 'उपचारप्रधाना'। उपचरणमुपचारः, स एव प्रधानं यस्याः सा तथोक्ता । किं स्वरूपा च, यत्र यस्यामन्यस्मात्पदार्थान्तरात् प्रस्तुताद् वर्ण्यमाने वस्तुनि 'सामान्यमुपचर्यते' साधारणो धर्मः कश्चिद् वक्तुमभिप्रेतः समारोप्यते। कस्मिन् वर्ण्यमाने वस्तुनि 'दूरान्तरे'। दूरमनल्पमन्तरं व्यवधानं यस्य तत्तथोक्तं, तस्मिन्।

४—उपचार वक्रता [२ भेद]

इस प्रकार पर्यायवक्रता का विचार करके अब क्रम के अनुसार प्राप्त होने वाली 'उपचारवक्रता' का विचार करते हैं।

जहाँ अन्य [अर्थात् प्रस्तुत वर्ण्यमान पदार्थ] से अत्यन्त व्यवहित [अप्रस्तुत] पदार्थ में रहने वाली [नाम मात्र की] तनिक सी भी समानता को किसी धर्म के अतिशय [उद्रिक्तवृत्तिता] को प्रतिपादन करने के लिए उपचार या गौणी वृत्ति से वर्णन किया जाता है [उसको 'उपचारवक्रता कहते हैं] ॥१३॥

और जिसके कारण से रूपक आदि अलङ्कार सरसता को प्राप्त [सरस उल्लेख] हो जाते हैं, उपचार [सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा वृत्ति] के प्रधान होने से उसको 'उपचारवक्रता' कहा जाता है ॥१४॥

वह कोई अपूर्व वक्रता अर्थात् सौन्दर्य [उपचारवक्रता शब्द से] कहा जाता है। कैसी कि उपचार प्रधान। उप अर्थात् सादृश्य वश गौण चरण अर्थात् व्यवहार को उपचार कहते हैं। वह ही जिसमें प्रधान हो वह उस प्रकार की [उपचार प्रधान] हुई। किस प्रकार की [वक्रता उपचारवक्रता कहलाती है कि] जहाँ जिस [वक्रता] में अन्य अर्थात् प्रस्तुत होने के कारण वर्ण्यमान पदार्थान्तर में [अप्रस्तुत पदार्थ के वक्रता के लिए अभिप्रेत] किसी सामान्य धर्म का उपचार से आरोप किया जाता है। किस वर्ण्यमान वस्तु में [आरोपित किया जाता है कि] 'अत्यन्त भिन्न' [अत्यन्त अन्तर वाले अत्यन्त भिन्न वस्तु] में। दूर अर्थात् अत्यधिक अन्तर अर्थात् व्यवधान जिसका हो वह उस प्रकार का [दूरान्तर वस्तु] हुआ। उस [अर्थात् वर्ण्यमान प्रस्तुत वस्तु से अत्यन्त भिन्न अप्रस्तुत वस्तु] में [किसी धर्म विशेष के अतिशय को बोधन करने के लिए नाममात्र के तनिक से भा सामान्य धर्म का वर्णन किया जाता है उसका नाम 'उपचारवक्रता' है]। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का यह करता है कि]—

[प्रश्न] वर्ण्यमान वस्तु के अमूर्त्त अर्थात् इस समय मूर्त्त रूप में सामने उपस्थित न होने से प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों वस्तुओं में देशकृत व्यवधान नहीं हो सकता है और कालकृत व्यवधान के क्रिया विषयक होने से कालकृत व्यवधान भी नहीं हो सकता है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते' इत्यादि कारिका में दूरान्तर वाले पदार्थ में सामान्य धर्म के औपचारिक प्रयोग का जो प्रतिपादन किया गया है । वर्ण्यमान वस्तुओं में वह अन्तर न कालकृत हो सकता है और न देशकृत । देशकृत व्यवधान तो इसलिए नहीं हो सकता है कि कवि जब वस्तुओं का वर्णन करता है तब वे सब वस्तुएँ कवि के सामने मूर्त्त रूप में उपस्थित हों यह आवश्यक नहीं है । अधिकांश वस्तुओं को वह केवल अपनी कल्पना के बल पर वर्णित करता है । देशकृत अथवा कालकृत व्यवधान मूर्त्त रूप से सामने उपस्थित पदार्थों में ही हो सकता है । इसलिए जब पदार्थ मूर्त्त रूप में उपस्थित नहीं हैं तो उनमें देशकृत या कालकृत व्यवधान नहीं हो सकता है । दूसरी बात यह है कि शब्द के सामान्यावधारण प्रधान होने से पदार्थों का देशव्यवहित या कालव्यवहित विशेष स्वरूप शब्द से उपस्थित नहीं हो सकता है । इसलिए भी उनमें व्यवधान नहीं बनता है । कालकृत व्यवधान इसलिए भी नहीं हो सकता है कि क्रिया विशेष के अतीत अनागत आदि रूप से सम्बन्ध के कारण ही काल रूप एक पदार्थ में अतीत अनागत वर्तमान आदि तीन प्रकार का त्रिविध व्यवहार होता है । अर्थात् किसी क्रिया-विशेष को उत्पत्ति, स्थिति और नाश के आधार पर ही अनागत, वर्तमान, अतीत आदि काल-भेद का व्यवहार सम्भव होता है ।

इसी दार्शनिक सिद्धान्त को ध्यान में रखकर यहाँ ग्रन्थकार कुन्तक ने 'कालविहितमपि नास्त्येव तस्य क्रियाविषयत्वात्' यह पंक्ति लिखी है । जिसका अभिप्राय यह है कि काल का भेद क्रिया विषयक होता है । और वर्ण्यमान वस्तुओं में उस समय किसी प्रकार की क्रिया वस्तुतः नहीं हो रही है । जब पदार्थ ही केवल कवि की कल्पना से उद्भूत है वास्तविक मूर्त्त पदार्थ नहीं है । तब मूर्त्त पदार्थों में रहने वाली वास्तविक क्रिया आदि भी उनमें नहीं रहती है । और पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति आदि क्रियाओं के भेद से ही काल-भेद का व्यवहार होता है इसलिए पदार्थों में कालभेद की व्यवस्थापक क्रियाओं के अभाव में कालकृत व्यवधान भी नहीं हो सकता है ।

ननु च व्यवधानममूर्तत्वाद् वर्ण्यमानस्य वस्तुनो देशविहितं तावन्न सम्भवति। कालविहितमपि नास्त्येव, तस्य क्रियाविषयत्वात्। क्रियास्वरूपं

व्यवधान दो ही प्रकार का होता है, एक दैशिक व्यवधान और दूसरा कालिक व्यवधान। जब वर्ण्यमान वस्तुओं में यह दोनों प्रकार का व्यवधान नहीं बन सकता है तब ग्रन्थकार कुन्तक ने 'दूरान्तर' अत्यन्त व्यवहित वस्तु में सामान्य धर्म के औपचारिक प्रयोग की जो बात 'उपचारवक्रता' में लिखी है वह कैसे सम्भव होगी। यह प्रश्न का आशय है।

[एकदेशी उत्तर]। पूर्वपक्षी के इस प्रश्न का एकदेशी उत्तर यह हो सकता है कि वर्ण्यमान वस्तु क्रिया रूप और कारक रूप दोनों प्रकार की होती है इसलिए उसमें देशकृत तथा कालकृत दोनों प्रकार का व्यवधान माना जा सकता है। परन्तु पूर्वपक्षी इस एकदेशी मत का खण्डन कर देता है कि यद्यपि वर्ण्यमान वस्तु क्रिया या कारक रूप दोनों प्रकार की हो सकती है। परन्तु काव्य में उस वस्तु की उपस्थिति तो प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं अपितु शब्द प्रमाण से ही होती है। और जैसा कि हम पहिले भी कह चुके हैं शब्द प्रमाण 'सामान्यावधारणप्रधान' होता है 'विशेषावधारणप्रधान' नहीं। इसलिए शब्द प्रमाण से क्रिया, कारक आदि सामान्यमात्र का ग्रहण हो सकता है क्रिया विशेष आदि का नहीं। इसलिए उत्पत्ति, स्थिति आदि क्रियाविशेष के आधार पर होने वाला कालकृत भेद भी कवि कल्पना प्रसूत वर्ण्यमान पदार्थों में नहीं हो सकता है। तब ग्रन्थकार ने 'दूरान्तरे' कैसे कहा है।

इसका सिद्धान्त पक्ष का उत्तर यह है कि यद्यपि वर्ण्यमान पदार्थों में दैशिक अथवा कालिक व्यवधान नहीं बनता है परन्तु 'दूरान्तर' शब्द मुख्य रूप से दैशिक तथा कालिक व्यवधान का सूचक होने पर भी यहाँ 'उपचारवक्रता' के प्रकरण में प्रयुक्त होकर स्वयं भी औपचारिक प्रयोग बन गया है। अर्थात् वह 'दूरान्तर' शब्द दैशिक या कालिक व्यवधान के बजाय यहाँ स्वभाव-भेद रूप व्यवधान को उपचार या गौणी वृत्ति से बोधित करता है। इसलिए 'दूरान्तर' शब्द दैशिक अथवा कालिक दृष्टि से व्यवहित नहीं अपितु स्वभाव से व्यवहित अर्थात् भिन्न स्वभाव वाले पदार्थ का प्रतिपादन करता है। इस स्थल की मूल ग्रन्थ की पंक्तियों का अनुवाद इस प्रकार होगा।

[प्रश्न] वर्ण्यमान [कविकल्पनाप्रसूत] वस्तु के मूर्त्त [रूप में सामने उपस्थित] न होने से उसमें देशकृत व्यवधान नहीं हो सकता है और का व्यवधान के क्रियाश्रित होने से [तथा अमूर्त्त पदार्थ में क्रियाश्रयत्व न होने से]

कारकस्वरूपं चेत्युभयात्मकं यद्यपि वर्ण्यमानं वस्तु तथापि देशकालव्यवधानेनात्र न भवितव्यम् । यस्मात्पदार्थानामनुमानवत् सामान्यमात्रमेव शब्दैर्विषयीकर्तुं पार्यते, न विशेषः, तत्कथं दूरान्तरत्वमुपपद्यते ।

सत्यमेतत् । किन्तु 'दूरान्तर' शब्दो मुख्यतया देशकालविषये विप्रकर्षे प्रत्यासत्तिविरहे वर्तमानोऽप्युपचारात् स्वभावविप्रकर्षे वर्तते । सोऽयं स्वभावविप्रकर्षो विरुद्धधर्माध्यासलक्षणः पदार्थानाम् । यथा मूर्तिमत्त्वममूर्तत्वापेक्षया, द्रवत्वं च घनत्वापेक्षया, चेतनत्वमचेतनत्वापेक्षयेति ।

कीदृक् तत्सामान्यम्, 'लेशेनापि भवत्', मनाङ्मात्रेणापि सत् । किमर्थम्, काञ्चिदपूर्वामुद्रिक्तवृत्तितां वक्तुं सातिशयपरिस्पन्दतामभिधातुम् । यथा—

कालकृत व्यवधान भी नहीं बन सकता है । [तब कारिकाकार 'दूरान्तरे' इस पद का प्रयोग कैसे कर रहे हैं । यह पूर्वपक्षी का प्रश्न है] ।

[इस पर एकदेशी जो उत्तर दे सकता है उसको प्रस्तुत कर उसका खण्डन करते हैं] यद्यपि वर्ण्यमान वस्तु क्रिया स्वरूप और कारक स्वरूप दोनों प्रकार की हो सकती है फिर भी उसमें देशकृत अथवा कालकृत व्यवधान सम्भव नहीं है । क्योंकि अनुमान प्रमाण के समान शब्दों से सामान्यमात्र का ग्रहण हो सकता है विशेष का ग्रहण [शब्द प्रमाण से] नहीं हो सकता है । [इसलिए केवल शब्द प्रमाण से उपस्थित होने वाले कवि कल्पना प्रसूत अर्थों में दैशिक अथवा कालिक व्यवधान सम्भव नहीं है]। तब [कारिकाकार ने] 'दूरान्तरे' यह कैसे कहा है ।

[उत्तर सिद्धान्तपक्ष] ठीक है । किन्तु दूरान्तर शब्द मुख्यतया देश-काल विषयक व्यवधान का बोधक होने पर भी उपचार से स्वभाव के व्यवधान का बोधक होता है । और पदार्थों का वह स्वभाव विप्रकर्ष अर्थात् व्यवधान विरुद्ध धर्म के अध्यास रूप होता है । जैसे मूर्तिमत्त्व अमूर्तत्व की अपेक्षा, द्रवत्व घनत्व की अपेक्षा और चेतनत्व अचेतनत्व की अपेक्षा से [दूरान्तर युक्त अथवा अत्यन्त व्यवधानयुक्त है । यहाँ तक 'दूरान्तर' शब्द की व्याख्या हुई] ।

वह कैसा सामान्य है [जो दूरान्तर युक्त वस्तु में उपचार से प्रयुक्त होने पर उपचारवक्रता को प्राप्त करता है] 'लेशेनापि भवत्' अर्थात् नाममात्र को तनिक-सा भी विद्यमान हो । किसलिए [उपचार से कथित होता है कि] किसी अपूर्व उद्रिक्तता को बोधन करने के लिए अर्थात् अतिशययुक्त स्वभाव का कथन करने के लिए । जैसे—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः ॥४५॥[1]

अत्र यथा बुद्धिपूर्वकारिणः केचिच्चेतना वर्णच्छायातिशयोत्पादनेच्छया केनचिद् विद्यमानलेपनशक्तिना मूर्तेन नीलादिना रञ्जनद्रव्यविशेषेण किञ्चिदेव लेपनीयं मूर्तिमद् वस्तु वस्त्रप्रायं लिम्पन्ति, तद्वदेव तत्कारित्वसामान्यं मानङ्-मात्रेणापि विद्यमानं कामप्युद्रिक्तवृत्तितामभिधातुमुपचारात् स्निग्ध-श्यामलया कान्त्या लिप्तं वियद् द्यौरित्युपनिबद्धम्। 'स्निग्ध' शब्दोऽप्युपचार-वक्र एव। यथा मूर्तं वस्तु दर्शनस्पर्शनसंवेद्यस्नेहगुणयोगात् स्निग्धमित्युच्यते, तथैव कान्तिरमूर्ताऽप्युपचारात् स्निग्धेत्युक्ता।

अपनी चिकनी और कृष्णवर्ण कान्ति से आकाश को लिप्त [व्याप्त] करने वाले [मेघ] ॥४५॥

यहाँ [मेघों की स्निग्धता तथा श्यामलता के अतिशय को बोधन करने के लिए आकाश को 'लिप्त' लीपा हुआ कहा है] जैसे कोई चेतन [मनुष्य वस्त्र आदि में] रंग की गहराई [वर्णच्छाया] के अतिशय को उत्पन्न करने की इच्छा से, जिसमें कि [लीपने] लेपन की शक्ति विद्यमान है ऐसे किसी रंगने वाले नील आदि मूर्त्त द्रव्य से, मूर्तिमत् लेपनीय वस्तु वस्त्रादि को रंग देते हैं, [लीप देते हैं] उसी प्रकार [मेघों में आकाश को] रंग देने रूप सामान्य के नाममात्र को विद्यमान होने पर भी किसी अपूर्व [श्यामलता के] अतिशय को बोधित करने के लिए उपचार से 'स्निग्ध तथा श्यामल कान्ति से आकाश को लिप्त कर देने वाले' [मेघ] इस रूप में [कवि के द्वारा] उपनिबद्ध हुआ है । [इस प्रकार यहाँ लिप्त शब्द का प्रयोग उपचार से हुआ है । अतएव यह उपचार-वक्रता का उदाहरण है] । इसी प्रकार 'स्निग्ध' शब्द भी यहाँ उपचारवक्र [उपचार-वक्रता से युक्त] ही है। जैसे कोई मूर्त्त वस्तु देखने तथा स्पर्श में अनुभव करने योग्य स्नेहन रूप गुण के सम्बन्ध से 'स्निग्ध' कही जाती है उसी प्रकार [यहाँ] अमूर्त्ता कान्ति भी 'स्निग्धा' कही गई है। [इसलिए 'स्निग्धा' शब्द का प्रयोग भी उपचार मूलक होने से उपचारवक्रता का उदाहरण कहलाता है] ।

---

१. महानाटक ५, ७, ध्वन्यालोक पृ० ६६, काव्यप्रकाश उदा० ११२, प्रतिहारेन्दु राज उद्भट, ८६ पर उद्धृत तथा पूर्व पृ० २, २७ पर इस ग्रन्थ में भी उद्धृत ।

यथा वा—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥४६॥[1]

अत्रामूर्तानामपि तमसामतिबाहुल्याद् घनत्वान्मूर्तसमुचितं सूचिभेद्यत्वमुपचरितम् ।

यथा वा—

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइ अ वणाइ ।
णिरहंकारमिअंका हरंति णीलाओ वि णिसाओ ॥४७॥[2]

अथवा जैसे [उपचारवक्रता का और उदाहरण निम्न श्लोक में पाया जाता है । यह श्लोक कालिदास के मेघदूत का ३७वाँ श्लोक है] ।

वहाँ [उज्जयिनी नगरी में] रात को अपने प्रिय के घर को जाती हुई स्त्रियों [अर्थात् अभिसारिकाओं] को जब राजमार्ग में [बरसात की अँधेरी रात को] सूचीभेद्य गहन अन्धकार में दृष्टि से कुछ दिखलाई न दे पड़े उस समय कसौटी पर की सोने की रेखा के समान स्निग्ध विद्युत-रेखा से [उनको मार्ग की] पृथिवी को दिखलाना । किन्तु बरस और गरज कर [अधिक] आवाज न करना जिससे कि वह भयभीत हो जाय ॥४६॥

यहाँ [तेज के अभाव रूप तम के] अमूर्त्त अन्धकार के बाहुल्य से मूर्त्त पदार्थ के योग्य सूचिभेद्य का [अन्धकार में] उपचार से प्रयोग किया गया है । [सौदामिनी अर्थात् बिजली के लिए स्निग्ध विशेषण का प्रयोग भी उपचारवक्रता में आ सकता है] ।

अथवा जैसे [उपचारवक्रता का तीसरा उदाहरण]—

यह श्लोक 'गौड़वहो' नामक प्राकृत भाषा के महाकाव्य से लिया गया है ।

---

१. मेघदूत ३७ ।

२. गौड़वहो श्लोक ४०६, ध्वन्यालोक पृ० १०२, व्यक्ति विवेक पृ० ११६, जयरथ पृ० ८ और माणिक्यचन्द ने पृ० २५ पर उद्धृत किया है ।

[गगनञ्च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि ।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र मत्तत्वं निरहङ्कारत्वं च चेतनधर्मसामान्यमुपचरितम् ।

सोऽयमुपचारवक्रताप्रकारः सत्कविप्रवाहे सहस्रशः सम्भवतीति सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयः । अतएव च प्रत्यासन्नान्तरेऽस्मिन्नुपचारे न वक्रताव्यवहारः । यथा 'गौर्वाहीक' इति ।

[न केवल ताराओं से भरा हुआ निर्मल आकाश ही अपितु] **मदमाते उमड़ते मेघों से आच्छादित आकाश** [भी, न केवल मन्द-मन्द मलय मारुत से आन्दोलित आम्र वन ही अपितु वर्षा की] **धाराओं से आन्दोलित अर्जुन वृक्षों के वन** [भी, और न केवल चन्द्रमा की उज्ज्वल किरणों से धवलित चांदनी रातें ही मन को लुभाने वाली होती हैं अपितु सौन्दर्य से रहित] **गर्व रहित चन्द्रमा वाली** [वर्षाकाल की अन्धकारमयी] **काली रातें भी मन को हरने वाली होती हैं ॥४७॥**

यहाँ 'मत्तत्व' और 'निरहङ्कारत्व' चेतन [मनुष्य आदि प्राणी] **का सामान्य धर्म उपचार से** [मेघ और चन्द्रमा आदि में] **आरोपित हुआ है ।**

यह श्लोक ध्वन्यालोक में 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि' के उदाहरण में दिया गया है । और वहाँ भी इन 'मत्त' तथा 'निरहङ्कार' पदों में ही 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि' माना है । [ध्वन्यालोक पृ० १०२] ।

यह 'उपचारवक्रता' का प्रकार उत्तम कवियों की परम्परा में सहस्रों प्रकार से हो सकता है इसलिए [उसका पूर्ण रूप से वर्णन सम्भव नहीं है] **सहृदय पाठकों को स्वयं समझ लेना चाहिए ।**

मूल कारिका में कारिकाकार ने वर्ण्यमान पदार्थों के 'दूरान्तरे' अत्यन्त व्यवधान या विरुद्ध धर्म का आरोप होने पर ही 'उपचारवक्रता' होती है यह कहा है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि—

थोड़ा-सा [साधारण-सा] **अन्तर होने पर इस उपचार में वक्रता** [सौन्दर्य] **का व्यवहार नहीं होता है । जैसे 'गौर्वाहीकः' इस** [प्रयोग] **में ।**

'गौर्वाहीकः' अर्थात् वाहीक देशवासी पुरुष गाय के समान मूर्ख या सीधा होता है । यहाँ 'वाहीक' के लिए 'गौ' शब्द का प्रयोग उपचार या सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा से होता है । इसी प्रकार 'सिंहो माणवकः' में बालक के शौर्य, क्रौर्य आदि गुणों को देखकर उसके लिए 'सिंह' पद का प्रयोग भी सादृश्य मूलक गौणी लक्षणा से होने के कारण उपचारात्मक प्रयोग है । परन्तु इस प्रकार के उदाहरणों में उपचारवक्रता नहीं मानी जाती है ॥१३॥

इदमपरमुपचारवक्रतायाः स्वरूपम्, 'यन्मूला सरसोल्लेखारूपकादिरलंकृतिः'। या मूलं यस्याः सा तथोक्ता। रूपकमादिर्यस्याः सा तथोक्ता। का सा, अलंकृतिरलंकरणं रूपकप्रभृतिरङ्कारविच्छित्तिरित्यर्थः। कीदृशी 'सरसोल्लेखा'। सरसः सास्वादः सचमत्कृतिरुल्लेखः समुन्मेषो यस्याः सा तथोक्ता। समानाधिकरणयोरत्र हेतुहेतुमद्भावः।

यथा—

अतिगुरवो राजमाषा न भक्ष्याः। इति ॥४८॥

यन्मूला सती रूपकादिरलंकृतिः सरसोल्लेखा। तेन रूपकादेरलङ्करणकलापस्य सकलस्यैवोपचारवक्रता जीवितमित्यर्थः।

२—उपचारवक्रता का यह एक और भी [दूसरा] स्वरूप है जिसके कारण रूपक आदि अलङ्कारों का उल्लेख [और अधिक] रसमय हो जाता है। जो [उपचारवक्रता] जिस [रूपक आदि अलङ्कारों की सरसता] का मूल है वह उस प्रकार की [यन्मूला] हुई। रूपक जिसके आदि में है वह उस प्रकार की [रूपकादि अलङ्कार रूप] हुई। वह कौनसी कि अलङ्कार अलङ्कृति अर्थात् रूपक इत्यादि अलङ्कारों की शोभा। कैसी [हो जाती है कि] 'सरसोल्लेखा' सरस अर्थात् आस्वेद युक्त चमत्कारयुक्त है उल्लेख वर्णन या समुन्मेष जिसका, वह उस प्रकार की [सरसोल्लेखा अलंकृति] हुई। यहाँ [सरसोल्लेखा अलंकृतिः इस वाक्य में 'सरसोल्लेखा' और 'अलंकृतिः' ये दोनों पद प्रथमा के एक वचन होने से समानाधिकरण पद हैं। उन दोनों समानाधिकरण पदों में सामान्यतः अभेदान्वय से विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्ध होता है। परन्तु यहाँ उन दोनों समानाधिकरण पदों में कारण कार्य भाव [सम्बन्ध] है।

जैसे—

अत्यन्त महँगा [भारी] राजा का अन्न [माष का अर्थ उरद अन्न विशेष है। परन्तु यहाँ वह अन्न सामान्य का बोधक है] नहीं खाना चाहिए ॥४८॥

यहाँ 'अतिगुरवो' और 'राजमाषा' यह दोनों समानाधिकरण पद है परन्तु उन दोनों में विशेष्य विशेषण भाव मात्र नहीं अपितु कारण कार्य भाव सम्बन्ध है। राजा के उरद या राजा का अन्न नहीं खाना चाहिए। क्योंकि वह बहुत भारी बहुत महँगे, बहुत कष्टदायक होते हैं।

[इसी प्रकार यहाँ] 'यन्मूलक' होकर [जिस उपचारवक्रता के कारण रूपकादि] अलङ्कार सरसोल्लेख हो जाता है। [इसमें 'उपचारवक्रता' कारण है, और रूपकादि अलङ्कार की सरसता कार्यरूप है।] इसलिए उपचारवक्रता रूपक आदि सभी अलङ्कारों [के सौन्दर्य] का प्राणस्वरूप है यह अभिप्राय हुआ।

ननु च पूर्वस्मादुपचारवक्रताप्रकारादेतस्य को भेदः ? पूर्वस्मिन् स्वभाव-विप्रकर्षात् सामान्येन मनाङ्मात्रमेव साम्यं समाश्रित्य सातिशयत्वं प्रतिपादयितुं तद्धर्ममात्राध्यारोपः प्रवर्तते । एतस्मिन् पुनरदूरविप्रकृष्टसादृश्य-समुद्भवप्रत्यासत्तिसमुचितत्वादभेदोपचारनिबन्धनं तत्वमेवाध्यारोप्यते ।

यथा—

सत्स्वेव कालश्रवणोत्पलेषु सेनावनालीविषपल्लवेषु ।
गाम्भीर्यपातालफणीश्वरेषु खड्गेषु को वा भवतां सुरारिः ॥४६॥

अत्र कालश्रवणोत्पलादिसादृश्यजनितप्रत्यसतिविहितमभेदोपचार-निबन्धनं तत्वमध्यारोपितम् ।

[प्रश्न] अच्छा पहिले [कहे हुए 'यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते' इत्यादि रूप] उपचारवक्रता के प्रकार से इस [यन्मूला सरसोल्लेखा इत्यादि रूप] का क्या भेद है ?

[उत्तर] पहिले [कहे हुए, प्रकार] में स्वभाव का भेद [विप्रकर्ष] होने से सामान्य रूप से नाममात्र के तनिक से साम्य को लेकर ही अतिशयत्व के प्रतिपादन के लिए केवल उस धर्म [लिप्तत्वादि] का अध्यारोप किया जाता है । और इस [बाद में कहे हुए 'यन्मूला सरसोल्लेखा' इत्यादि द्वितीय प्रकार] में अदूर विप्रकृष्ट अर्थात् थोड़े-से अन्तर के कारण सादृश्य से उत्पन्न प्रत्यासत्ति के योग्य अभेदोपचार [निमित्त] से [केवल उस पदार्थ के धर्म मात्र का ही नहीं अपितु] उस [पदार्थ] का ही आरोप किया जाता है । जैसे—

काल [यमराज] के कान के कमलों [आभूषण रूप], अथवा सेना रूप वन पंक्ति के विष पल्लव रूप, अथवा गाम्भीर्य रूप पाताल के सर्पराज [रूप] तलवारों के विद्यमान होने पर तुम्हारे सामने वह राक्षस क्या है । [कुछ भी नहीं । तुम्हारी सेना की तलवारों से उसका तुरन्त नाश कर दिया जायगा] ॥४६॥

यहाँ यमराज [काल] के श्रवणोत्पल आदि के [साथ तलवारों के] सादृश्य के कारण अभेदोपचार से [खड्गों में] उसी [काल के श्रवणोत्पलत्व आदि] का आरोप किया गया है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'उपचारवक्रता' की ऊपर जो दो प्रकार की व्याख्या की गई है उसमें से प्रथम व्याख्या के अनुसार 'उपचारवक्रता' मानने पर केवल किसी पदार्थ के धर्ममात्र का आरोप किया जाता है । और दूसरी व्याख्या के अनुसार 'उपचारवक्रता' मानने पर धर्ममात्र का नहीं अपितु उस पदार्थ का ही

आदिग्रहणादप्रस्तुतप्रशंसाप्रकारस्य कस्यचिदन्यापदेशलक्षणस्योपचारवक्रतैव जीवितत्वेनलक्ष्यते ।

तथा च किमपि पदार्थान्तरं प्राधान्येन प्रतीयमानतया चेतसि निधाय तथाविधलक्षणसाम्यसमन्वयं समाश्रित्य पदार्थान्तरमभिधीयमानतां प्रापयन्तः प्रायशः कवयो दृश्यन्ते । यथा—

अनर्घः कोऽप्यन्तस्तव हरिण हेवाक महिमा
स्फुरत्येकस्यैव त्रिभुवनचमत्कारजनकः ।
यदिन्दोर्मूर्तिस्ते दिवि विहरणारण्यवसुधा
सुधासारस्यन्दी किरणनिकरः शष्पकवलः ॥५०॥[1]

अध्यारोप किया जाता है । इस प्रकार उस आरोप्यमाण और आरोप विषय में अभेद व्यवहार होता है । यही रूपकालङ्कार का बीज है ।

[कारिका के रूपकादिरलंकृतिः पद में] आदि [पद] के ग्रहण से 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलङ्कार के अन्योक्ति रूप भेद विशेष में 'उपचारवक्रता' ही उसके प्राण स्वरूप प्रतीत होती है ।

जैसे [उपचारवक्रता] के द्वारा किसी [सत्पुरुष आदि रूप अप्रस्तुत] अन्य पदार्थ को प्रधानतया प्रतीयमान रूप से मन में रखकर और [उन दोनों के] उस प्रकार के [वर्णित] लक्षणों की समानता के समन्वय को अवलम्बन करके अन्य [अप्रस्तुत वृक्ष आदि] पदार्थ को अभिधीयमान [प्रस्तुत सा] बना कर [अन्योक्ति रूप से] वर्णन करते हुए कवि प्रायः देखे जाते हैं । [अर्थात् अन्योक्तियों में कवि अभिधीयमान अप्रस्तुत रूप से किसी अन्य वस्तु का वर्णन करता है परन्तु उसका वास्तविक अभिप्राय किसी अन्य प्रस्तुत वस्तु की स्तुति अथवा निन्दा के प्रतिपादन में होता है । इस प्रकार की अन्योक्तियों की शैली कवियों में बहुतायत से पाई जाती है । वह सब 'उपचारवक्रता' का ही भेद है यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है ।]

जैसे—

[यहाँ चन्द्रमा में के हरिण को सम्बोधन करके कवि कह रहा है कि] हे हरिण, केवल एक तुम्हारे भीतर तीनों लोकों को आश्चर्य में डालने वाला कोई अपूर्व प्रभाव प्रतीत होता है कि जिसके कारण आकाश में चन्द्रमा की मूर्ति तुम्हारे विहरण के लिए वन भूमि बनी है और सुधासार को प्रवाहित करने वाली [चन्द्रमा की] किरणों का समूह [तुम्हारे खाने के लिए] घास का ग्रास बना है ॥५०॥

---

१. पहिली दो पंक्तियाँ अमरचन्द्र ने काव्यकल्पलता पृ० ५१ पर तथा माणिक्यचन्द ने पृ० २० पर उद्धृत की हैं ।

अत्र लोकोत्तरत्वलक्षणमुभयानुयायि सामान्यं समाश्रित्य प्राधान्येन विवक्षितस्य वस्तुनः, प्रतीयमानवृत्तेरभेदोपचारनिबन्धनं तत्वमध्यारोपितम्।

तथा चैतयोर्द्वयोरप्यलङ्कारयोस्तुल्येऽप्युपचारवक्रताजीवितत्वे वाच्यत्वमेकत्र प्रतीयमानत्वमपरस्मिन् स्वरूपभेदस्य निबन्धनम्। एतच्चोभयोरपि स्वलक्षणव्याख्यानावसरे समुन्मीलयते ॥१४॥

एवमुपचारवक्रतां विवेच्य समनन्तरप्राप्तावकाशां विशेषणवक्रतां विविनक्ति—

विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा।
यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषणवक्रता ॥१५॥

सा विशेषणवक्रता विशेषणवक्रत्वविच्छित्तिरभिधीयते। कीदृशी

[इस श्लोक में अभिधीयमान रूप से चन्द्रमा में के हरिण का वर्णन किया गया है परन्तु उससे लोकोत्तर प्रभाव वाले किसी अन्य व्यक्ति का वर्णन करना कवि का मुख्य अभिप्रेत अर्थ है। इसी को अन्योक्ति कहते हैं] यहाँ [प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत] दोनों में सम्बद्ध लोकोत्तरत्व रूप सामान्य का अवलम्बन करके प्रतीयमान रूप विवक्षित वस्तु में अभेदोपचारमूलक [लोकोत्तरत्व युक्त पुरुषविशेष में] उस [हरिणत्व] का आरोप कर दिया गया है।

इस प्रकार [रूपक तथा अप्रस्तुत प्रशंसा रूप अन्योक्ति] इन दोनों अलङ्कारों में 'उपचारवक्रता' रूप जीवनाधायक [तत्व] के, समान होने पर भी एक जगह [अर्थात् रूपकालङ्कार में] वाच्यत्व और दूसरी जगह [अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार में] प्रतीयमानत्व [उन दोनों के] स्वरूप भेद का कारण है। यह बात [रूपक तथा अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार] दोनों के अपने-अपने लक्षणों के अवसर पर ही [और अधिक या पूर्णरूप से] स्पष्ट हो सकेगी ॥१४॥

विशेषणवक्रता [पदपूर्वार्द्धवक्रता का भेद ३ प्रकार]

इस प्रकार 'उपचारवक्रता' का विवेचन करके उसके बाद अवसर प्राप्त 'विशेषणवक्रता' का विवेचन करते हैं।

१—जहाँ विशेषण के माहात्म्य या प्रभाव से क्रिया अथवा कारक का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है वह 'विशेषणवक्रता' [कहलाती] है।

वह 'विशेषणवक्रता' अर्थात् विशेषणवक्रता की शोभा कहलाती है। कैसी

यत्र यस्यां लावण्यमुल्लसति रामणीयकमुद्भिद्यते । कस्य—'क्रियायाः कारकस्य वा' । क्रियालक्षणस्य वस्तुनः कारकलक्षणस्य वा । कस्मात्—'विशेषणस्य माहात्म्यात्' । एतयोः प्रत्येकं यद् विशेषणं भेदकं, तस्य माहात्म्यात् । पदार्थान्तरस्य सातिशयत्वात् । किं तत्सातिशयत्वम् ? भावस्वभावसौकुमार्य-समुल्लासकत्वमलङ्कारच्छायातिशयपोषकत्वञ्च ।

यथा—

श्रमजलसेकजनितनवविलिखितनखपददाहमूर्छिता
वल्लभरभसलुलितललितालकवलयचयार्धनिन्हुता ।
स्मररसविविधविहितसुरतक्रमपरिमलत्रपालसा
जयति निशात्यये युवतिदृक् तनुमधुमदविशदपाटला ॥५१॥

कि जहाँ, जिसमें, सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है , रमणीयता निखर आती है । किसकी ? क्रिया की अथवा कारक की । अर्थात् क्रिया रूप वस्तु की अथवा कारक रूप वस्तु की । किससे [प्रस्फुटित होती है] विशेषण के माहात्म्य से [क्रिया और कारक] इन दोनों का जो विशेषण अर्थात् भेदक धर्म उसके माहात्म्य या प्रभाव से । दूसरे पदार्थ [अर्थात् विशेष्य] के अतिशययुक्त हो जाने से । वह कौन-सा सतिशयत्व है [जो विशेषण के माहात्म्य से प्रस्फुटित होता है । यह प्रश्न है । उसका उत्तर है कि वह अतिशय दो प्रकार का होता है एक तो] पदार्थ के स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रकाशकत्व रूप दूसरा अलङ्कार के सौन्दर्यातिशय का परिपोषकत्व रूप ।

[१—स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रकाशकत्व का उदाहरण]

जैसे—

[प्रियतम के सम्भोग के समय] नए किए हुए नख पदों में सुरतजन्य [खारी, नमकीन] श्रमजल अर्थात् पसीने के लगने से उत्पन्न जो जलन उससे बन्द-सी हुई जाती हुई [दृष्टि, उसी सम्भोग काल में] प्रियतम के द्वारा जोर से पकड़कर खींचने के कारण खुले हुए केशपाश से आधी ढँकी हुई [सम्भोग काल में ही] कामोप-भोग के आनन्द में परवश होकर किए हुए सुरतक्रम में अनेक प्रकार से दबाए या मसले जाने की लज्जा से अलसाई हुई और हलके से सुरा के मद से कुछ सफेद कुछ लाल-सी, युवतियों की प्रातःकाल के समय की आँख सर्वोत्कर्ष से युक्त होती है ॥५१॥

यहाँ प्रस्तुत अनेक विशेषणों के माहात्म्य से सम्भुक्त युवती के नेत्रों का स्वाभाविक सौन्दर्य बड़े मनोहर रूप से प्रकाशित हो रहा है ।

यथा वा—

करान्तरालीनकपोलभित्तिर्बाष्पोच्छलत्कूणितपत्रलेखा।
श्रोत्रान्तरे पिण्डितचित्तवृत्तिः शृणोति गीतध्वनिमत्र तन्वी ॥५२॥

यथा वा—

शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिरनिःशब्दमनोहरा दिशः।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि कस्याप्यथ हेतुतां ययुः ॥५३॥

क्रियाविशेषणवक्रत्वं यथा—

सस्मार वारणपतिर्विनिमीलिताक्षः
स्वेच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम् ॥५४॥[1]

अत्र सर्वत्रैव स्वभावसौन्दर्यसमुल्लासकत्वं विशेषणानाम्।

अथवा जैसे [उसी प्रकार का दूसरा उदाहरण]—

[दोनों] हाथों के बीच में जिसके [दोनों] गाल दबे हुए हैं, आँसुओं के बहने से [गालों पर आभूषण रूप में बनी हुई] जिसकी पत्रलेखा बिगड़ गई है और जिसकी चित्त की सारी वृत्तियाँ कानों के भीतर इकट्ठी हो गई हैं इस प्रकार की [अत्यन्त ध्यान-मग्ना विरहिणी, उद्दीपनविभाव रूप] गीत की ध्वनि को यहाँ सुन रही है ॥५२॥

यहाँ भी विशेषणों के माहात्म्य से तन्वी रूप वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और भी अधिक मनोहर रूप में हो रही है।

२—और [अलङ्कार के छायातिशय के परिपोषकत्व का उदाहरण] जैसे—

स्वच्छ तथा शीतल चाँदनी से व्याप्त, और बहुत देर से निःशब्द होने के कारण मनोहर दिशाएँ किसी के हृदय में भी शान्त [रस] तथा किसी के हृदय में शृङ्गार [रस की कारणता को प्राप्त] को उत्पन्न करने वाली हुई ॥५३॥

३—क्रियाविशेषणवक्रता [का उदाहरण] जैसे—

[नया पकड़ा हुआ] हाथी आँखें बन्द करके [अपनी स्वतन्त्रता के समय] किए हुए अपनी इच्छानुसार स्वच्छन्द वन विहार [जहाँ चाहे वहाँ घूमने रूप वनवास] के महोत्सवों को स्मरण करने लगा।

इन सब ही [उदाहरणों] में विशेषण स्वाभाविक सौन्दर्य को प्रकाशित करते हैं।

---

१. समुद्रबन्ध पृ० ९ पर उद्धृत।

अलङ्कारच्छायातिशयपरिपोषकत्वं विशेषणस्य यथा—

शशिनः शोभातिरस्कारिणा ॥५५॥[1]

एतदेव विशेषणवक्रत्वं नाम प्रस्तुतौचित्यानुसारि सकलसत्काव्यजीवितत्वेन लक्ष्यते। यस्मादनेनैव रसः परां परिपोषपदवीमवतार्यते।

यथा—

करान्तरालीन। इति ॥५६॥[2]

स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तरश्रियः।
रसस्वभावालङ्कारास्तद्विधेयं विशेषणम् ॥५७॥

इत्यन्तरश्लोकः ॥१५॥

एवं विशेषणवक्रतां विचार्य क्रमसमर्पितावसरां संवृतिवक्रतां विचारयति—

विशेषण का अलङ्कार की छायातिशय के पोषकत्व [का उदाहरण] जैसे—

चन्द्रमा की शोभा को तिरस्कृत करने वाले [तुम्हारे मुख कमल] से ॥५५॥

इसमें चन्द्रमा की शोभा को तिरस्कृत करने वाले तुम्हारे मुख कमल से हारे हुए कमल मलिन हो रहे हैं इस प्रकार 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षालङ्कारस्य शोभातिशयः समुल्लास्यते'। यह लिखा है। अर्थात् यहाँ विशेषण के माहात्म्य से उत्प्रेक्षा अलङ्कार की शोभा को परिपुष्ट किया गया है।

और यही 'विशेषणवक्रता' प्रस्तुत औचित्य के अनुसार समस्त उत्तम काव्यों का जीवन रूप प्रतीत होती है, क्योंकि इसी के द्वारा रस परम परिपोष पदवी को प्राप्त कराया जा सकता है। जैसे—

[उदा० स० २, ५२ पर उद्धृत किए हुए] 'करान्तरालीन' इत्यादि [उदाहरण में इसी 'विशेषणवक्रता' के कारण शृङ्गार रस का परिपोष हो रहा है]।

जिसके द्वारा अपने माहात्म्य से रस, वस्तुओं के स्वभाव और अलङ्कार लोकोत्तर सौन्दर्ययुक्त बनाए जा सकते हों उसी को विशेषण [रूप में प्रयुक्त] करना चाहिए ॥५७॥

यह अन्तरश्लोक है ॥१५॥

संवृत्तिवक्रता [पदपूर्वार्द्धवक्रता का भेद ६ प्रकार]

इस प्रकार 'विशेषणवक्रता' का विचार करके उसके बाद क्रम से प्राप्त होने वाली 'संवृतिवक्रता' का विचार [प्रारम्भ] करते हैं—

---

१. पूर्व २, ४४ पर उद्धृत। २. पूर्व २, ५२ पर उद्धृत।

यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया ।
सर्वनामादिभिः कश्चित् सोक्ता संवृतिवक्रता ॥१६॥

'सोक्ता संवृतिवक्रता' या किलैवंविधा सा संवृतिवक्रतेत्युक्ता कथिता । संवृत्या वक्रता संवृतिप्रधाना वेति समासः । यत्र यस्यां वस्तु पदार्थलक्षणं संव्रियते समाच्छाद्यते । केन हेतुना 'वैचित्र्यस्य विवक्षया' विचित्रभावस्याभिधानेच्छया । यया पदार्थो विचित्रभावं समासादयतीत्यर्थः । केन संव्रियते, 'सर्वनामादिभिः कैश्चित्' । सर्वस्य नाम सर्वनाम, तदादिर्येषां ते तथोक्तास्तैः कश्चिदपूर्वैर्वाचकैरित्यर्थः ।

अत्र च बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति । यत्र किमपि सातिशयं वस्तु वक्तुं शक्यमपि साक्षादभिधानादियत्तापरिच्छिन्नतया परिमितप्रायं मा प्रतिभासता-

---

जहाँ किसी वैचित्र्य के कथन की इच्छा से किन्हीं सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का [संवरण] निगूहन [छिपाना] किया जाता है वह 'संवृतिवक्रता' कही गई है ।

वह 'संवृतिवक्रता' कही जाती है । जो इस [कारिका में कहे हुए या वृत्ति में कहे जाने वाले] प्रकार की है वह 'संवृतिवक्रता' कहलाती है । [इस संवृतिवक्रता पद में] संवृति से वक्रता, [यह तृतीया तत्पुरुष] अथवा संवृतिप्रधाना वक्रता [संवृतिवक्रता यह दो प्रकार का] समास होता है । जहाँ जिसमें, पदार्थ रूप वस्तु संवरण की जाती है अर्थात् आच्छादित की [छिपाई] जाती है । किस कारण से [छिपाई जाती है] ? वैचित्र्य के कथन करने की इच्छा से अर्थात् विचित्रता को कहने की इच्छा से । जिस [संवरण या आच्छादन] के द्वारा पदार्थ विचित्र रूपता को प्राप्त करता है । किस से आच्छादित की जाती है? 'किन्हीं सर्वनाम आदि से' । [जो सामान्य रूप से] सबका नाम [हो वह] 'सर्वनाम' [कहलाता] है । वह आदि में जिनके हो वह उस प्रकार के [सर्वनामादि हुए] उन किन्हीं अपूर्व [अर्थ के] वाचकों से [संवृत की जाती है] ।

[यहाँ] इस संवृतिवक्रता के अनेक प्रकार हो सकते हैं ।

१—[उनमें से पहिला प्रकार यह है कि] जहाँ कोई अत्यन्त सुन्दर वस्तु, जिसका वर्णन करना सम्भव होने पर भी, साक्षात् कहने से 'इतनी है' इस प्रकार [इयत्ता से] परिच्छिन्न-सी होकर परिमित रूप में प्रतीत न होने लगे इस दृष्टि से सामान्यवाचक सर्वनाम से आच्छादित करके उसके कार्य [रूप अर्थ] को कहने

मिति सामान्यवाचिना सर्वनाम्नाच्छाद्य तत्कार्याभिधायिना तदतिशयाभिधानपरेण वाक्यान्तरेण प्रतीतिगोचरतां नीयते ।

यथा—

तत्पितर्यथ परिग्रहलिप्सौ स व्यधत्तकरणीयमणीयः ।
पुष्पचापशिखरस्थकपोलो मन्मथः किमपि तेन निदध्यौ ।।५८।।

अत्र सदाचारप्रवणतया गुरुभक्तिभावितान्तःकरणो लोकोत्तरौदार्यगुणयोगाद् विविधविषयोपभोगवितृष्णमना निजेन्द्रियनिग्रहमसम्भावनीयमपि शान्तनवो विहितवानित्यभिधातुं शक्यमपि सामान्याभिधायिना सर्वनाम्नाच्छाद्योत्तरार्द्धेन कार्यान्तराभिधायिना वाक्यान्तरेण प्रतीतिगोचरतामानीयमानं कामपि चमत्कारकारितामावहति ।

वाले, उसके अतिशय के बोधनपरक किसी अन्य वाक्य से प्रतीत कराई जाती है [वह संवृतिवक्रता का प्रथम प्रकार होता है] जैसे—

उस [देवव्रत भीष्म] के पिता [शान्तनु] के [योजनगन्धा सत्यवती के साथ] विवाह करने के लिए इच्छुक होने पर उस [अल्पवयस्क] नवयुवक [देवव्रत भीष्म] ने [अपनी पितृभक्ति के आदर्श के अनुरूप] करने योग्य [आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा] कर ली । [और उस आजन्म ब्रह्मचर्य रहने की प्रतिज्ञा को करके] उसने कामदेव को अपनी पुष्पचाप की नोंक पर गाल रखकर कुछ अपूर्व रूप से चिन्तामग्न कर दिया ।।५८।।

अर्थात् जब भीष्म ने अपने वृद्ध पिता के विवाह के मार्ग को निष्कण्टक बना देने के लिए आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कर ली तो उस प्रतिज्ञा को सुनकर कामदेव बड़ी चिन्ता में पड़ गया कि इस पर कैसे विजय प्राप्त की जाय ? क्योंकि यदि वह कामदेव उस पर विजय प्राप्त करने में सफल नहीं होता है तो उसकी त्रिलोक विजय की कीर्ति समाप्त हो जाती है । इसी कारण कामदेव भीष्म पर अपने बाणों के प्रयोग का अवसर न पाकर अपने पुष्पचाप को पृथ्वी पर टेककर उसके ऊपर के सिरे पर अपना गाल रखे हुए चिन्ता-ग्रस्त मुद्रा में खड़ा हुआ ।

यहाँ [इस श्लोक में] सदाचार परायण होने से पितृभक्ति से परिपूर्ण हृदय और लोकोत्तर उदारता गुण के योग से विविध विषयों के उपभोग से विरक्त चित्त, भीष्म ने 'असम्भव होने पर भी अपनी इन्द्रियों का निग्रह कर लिया' यह बात [सामान्य शब्दों द्वारा] कहने में शक्य होने पर भी, सामान्य मात्र के वाचक [किमपि इस] सर्वनाम से आच्छादित कर [श्लोक के] उत्तरार्द्ध में [मन्मथ के ध्यान रूप] अन्य कार्य का कथन करने वाले दूसरे वाक्य से प्रतीत कराई जाकर कुछअपूर्व चमत्कार को उत्पन्न कर रही है ।

अयमपरः प्रकारो यत्र स्वपरिस्पन्दकाष्ठाधिरूढेः सातिशयं वस्तु वचसामगोचर इति प्रथयितुं सर्वनाम्ना समाच्छाद्य तत्कार्याभिधायिना तदतिशयवाचिना वाक्यान्तरेण समुन्मील्यते।

यथा—

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तसम्पादनां,
कालिन्दीजलकेलिवञ्जुललतामालम्ब्य सोत्कण्ठया।
तद्गीतं गुरुवाष्पगद्गद्गलत्तारस्वरं राधया,
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥५६॥

अत्र सर्वनाम्ना संवृतं वस्तु तत्कार्याभिधायिना वाक्यान्तरेण समुन्मील्य सहृदयहृदयहारितां प्रापितम्।

यथा वा—

२—यह [संवृतिवक्रता का] दूसरा और प्रकार है जहाँ अपने स्वभाव सौन्दर्य की चरम सीमा पर आरूढ़ होने के कारण अतिशय युक्त [प्रतिपाद्य] वस्तु का शब्दों द्वारा वर्णन करना असम्भव है। इस बात को दिखलाने के लिए सर्वनाम [के प्रयोग] से [वस्तु को] आच्छादित करके उसके कार्य को कहने वाले और उसके अतिशय के प्रतिपादक किसी दूसरे वाक्य के द्वारा प्रकाशित किया जाता है। जैसे—

तब [मधुरिपु] कृष्ण के द्वारिका को चले जाने पर उनके द्वारा सम्मानित की गई हुई यमुना जल में [प्रतिदिन] केलि करने वाली [अर्थात् जिस लता को पकड़कर कृष्ण जल-केलि किया करते थे, उस] वेतस लता को पकड़कर आँसुओं से रुँधे हुए और भारी गले से जोर-जोर से [रोते हुए] राधा ने वह [करुण रसमय] गीत गाया जिसको सुनकर [यमुना] जल के भीतर के जलचर भी व्याकुल होकर कराहने लगे ॥५६॥

यहाँ [तद्गीतं के तत् इस] सर्वनाम से संवृत [राधा के करुणरसात्मक गान के उत्कर्ष रूप] वस्तु को [येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् रूप] उसके कार्य को कथन करने वाले वाक्य से प्रकट करके सहृदय हृदय हारिता को प्राप्त करा दिया गया है।

अथवा जैसे [उसी संवृतिवक्रता का दूसरा उदाहरण]—

तह रुणं कन्ह विसाहीआए रोधगग्गरगिराए ।
जह कस्स वि जम्मसए वि कोइ मा बल्लहो होउ ॥६०॥
[तथा रुदितं कृष्ण विशाखया रोधगद्गद्गिरा ।
यथा कस्यापि जन्मशतेऽपि कोऽपि मा बल्लभो भवतु ॥ इतिच्छाया]

अत्र पूर्वार्द्धे संवृतं वस्तु रोदनलक्षणं तदतिशयाभिधायिना वाक्यान्तरेण कामपि तद्विदाह्लादकारितां नीतम् ।

इदमपरमत्र प्रकारान्तरं यत्र सातिशयसुकुमारं वस्तु कार्यातिशयाभिधानं विना संवृतिमात्ररमणीयतया कामपि काष्ठामधिरोप्यते ।

यथा—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः ।
वीक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥६१॥

अयमपरः प्रकारो यत्र स्वानुभवसंवेदनीयं वस्तु वचसा वक्तुमविषय

हे कृष्ण ! भरे गले और गद्गद वाणी में विशाखा ऐसी [फूट-फूट कर] रोई कि [जिसको सुनकर सुनने वाले यह सोचने लगे कि] जन्म-जन्मान्तर में भी कभी कोई किसी को प्यार न करे [यही अच्छा है । क्योंकि प्यार करने का फल भयङ्कर और दुःखदायी हाता है] ॥६०॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में संवृत की हुई रोदन रूप वस्तु [उत्तरार्द्ध में] उसके अतिशय कारक दूसरे वाक्य के द्वारा [प्रतिपादित होने पर] सहृदयों के हृदय के लिए अत्यन्त आह्लादकारक हो गई है ।

३—इस [संवृतिवक्रता] में यह भी एक और [तीसरा] प्रकार है कि जिसमें अत्यन्त सुकुमार वस्तु उसके कार्य के अतिशय कथन के बिना ही केवल आच्छादनमात्र से रमणीय होकर [सौन्दर्य की] चरम सीमा को पहुँच जाती है ।

जैसे—

[यह श्लोक कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग का ११वाँ श्लोक है ।] दर्पण में [अपने मुख आदि पर अङ्कित] सम्भोग-चिन्हों को देखती हुई [पार्वती] ने अपने पीछे की ओर बैठे हुए प्रियतम [शिव जी] के प्रतिबिम्ब को [दर्पण में] अपने प्रतिबिम्ब के समीप देखकर लज्जा से क्या-क्या चेष्टाएँ नहीं कीं ॥६१॥

यहाँ 'कानि कानि' पदों से उन चेष्टाओं का संवरणमात्र किया गया है परन्तु उससे सौन्दर्य अपनी चरम सीमा को पहुँच गया है ।

४—यह [संवृतिवक्रता का चौथा] और प्रकार है जिसमें [कोई वस्तु केवल] अपने अनुभव द्वारा संवेदन करने योग्य है वाणी से कही नहीं जा सकती है

इति ख्यापयितुं संव्रियते ।

यथा—

तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥६२॥[1]

इति पूर्वमेव व्याख्यातम् ।

इदमपि प्रकारान्तरं सम्भवति यत्र परानुभवसंवेद्यस्य वस्तुनो वक्तुरगोचरतां प्रतिपादयितुं संवृतिः क्रियते ।

यथा—

मन्मथः किमपि तेन निदध्यौ ॥६३॥[2]

अत्र त्रिभुवनप्रथितप्रतापमहिमा तथाविधशक्तिव्याघातविषण्णचेताः कामः किमपि स्वानुभवसमुचितमचिन्तयदिति ।

इदमपरं प्रकारान्तरमत्र विद्यते, यत्र स्वभावेन कविविवक्षया वा

[अर्थात् अनिर्वचनीय] है इस बात को प्रदर्शित करने के लिए संवरण की जाती है ।

जैसे—

[प्रियतमा के सम्भोग काल के] वह शब्द आज भी हृदय में कुछ अपूर्व प्रतिध्वनि कर रहे हैं ॥६२॥

इसकी व्याख्या पहिले ही [उदा० सं० १, ५१ पर] कर चुके हैं ।

५—[संवृतिवक्रता का] यह भी [पाँचवाँ] प्रकार हो सकता है जिसमें दूसरे के अनुभव संवेद्य वस्तु का वर्णन करना सम्भव नहीं है इस बात का प्रतिपादन करने के लिए [वस्तु का] संवरण किया जाता है । जैसे [उदा० सं० २, ५८ पर पूर्व उद्धृत श्लोक में]—

उस [देवव्रत भीष्म] ने [मन्मथ] कामदेव को कुछ अवर्णनीय रूप से चिन्तामग्न कर दिया ॥६३॥

यहाँ [इस श्लोक में] तीनों लोकों में जिसके प्रताप की महिमा प्रसिद्ध है ऐसा कामदेव [भीष्म के आजन्म ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा से] उस प्रकार [अपनी] सामर्थ्य के खण्डित होने से खिन्न होकर अपने अनुभव के योग्य [किन्तु शब्दों में वर्णन करने के अयोग्य 'अनिर्वचनीय'] किसी चिन्ता में पड़ गया यह [दूसरे के अनुभव गोचर वस्तु की शब्दों में वर्णन किए जाने की असामर्थ्य को सूचित करने वाला 'संवृतिवक्रता' का पाँचवाँ उदाहरण हुआ] ।

६—यह भी [संवृतिवक्रता का छठा] और प्रकार है जिसमें कोई वस्तु स्वभाव अथवा कवि की विवक्षता से किसी दोष [या कमी] से युक्त महा-

---

१. पूर्व १, ५१ पर उद्धृत । २. पिछले उदा० २, ५८ पर उद्धृत ।

केनचिदौपहत्येन युक्तं वस्तु महापातकमिव कीर्तनीयतां नार्हतीति समर्पयितुं संव्रियते । यथा—

दुर्वचं तदथ मास्म भून्मृगस्त्वय्यसौ यदकरिष्यदोजसा ।
नैनमाशु यदि वाहिनीपतिः प्रत्यपत्स्यत शितेन पत्रिणा ॥६४॥[1]

यथा वा—

निवार्यतामालि किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥६५॥[2]

पातक के समान कहने के योग्य नहीं है इस बात को सूचित करने के लिए संवरण की जाता है । जैसे—

यह श्लोक किरातार्जुनीय के १३वें सर्ग का ४६वां श्लोक है । किरातवेष-धारी शिव वन में तपस्या करते हुए अर्जुन की परीक्षा के लिए आए हैं । एक जंगली सुअर जो अर्जुन की ओर चला आ रहा था उसके अभिप्राय को जानकर अर्जुन ने उसे अपने बाण से मार दिया । उस समय एक किरात सैनिक आकर अर्जुन से कहता है कि यह बाण जो सुअर के लगा है वह मेरे सेनापति का है । इसलिए मुझे दे दो । किरात के साथ अर्जुन के उसी समय के संवाद में से यह श्लोक लिया गया है ।

यदि [मेरे] सेनापति ने [अपने] तीक्ष्ण बाण से इसको तुरन्त न मार दिया होता तो इस जानवर ने अपने पराक्रम से तुम्हारा जो अकथनीय हाल किया होता वह [भगवान् करे वैसा] कभी न हो ॥६४॥

अथवा जैसे—

हे सखि! इस लड़के के होंठ फड़क रहे हैं, जान पड़ता है, यह फिर कुछ कहना चाहता है । इसको मना कर दो । [व्यर्थ की बकबाद न करे] । जो बड़ों की निन्दा करता है केवल वह ही पापी नहीं होता, बल्कि उससे जो दूसरे की निन्दा सुनता है वह भी पाप का भागी होता है । [इसलिए हम इसके मुँह से किसी महापुरुष की निन्दा नहीं सुन सकती हैं] ॥६५॥

यह श्लोक कुमारसम्भव के ५वें सर्ग का ८३वाँ श्लोक है । शिव की प्राप्ति के लिए जब पार्वती तपस्या कर रही ह उस समय स्वयं शिव जी उनकी परीक्षा करने के लिए ब्रह्मचारी का वेष धारण करके आते हैं । और पार्वती को अनेक

---

१. किरात १३, ४६ । २. कुमार सम्भव ५, ८३ । व्यक्ति विवेक पृ० ६ ।

अत्रार्जुनमारणं भगवदपभाषणं च न कीर्तनीयतामर्हतीति संवरणेन रमणीयतां नीतम् ।

कविविवक्षयोपहतं यथा—

सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ॥६६॥[1]

इति प्रथममेव व्याख्यातम् ॥१६॥

तरह से समझाते हैं कि तुम किस के पीछे पड़ी हो, वह शिव तुम्हारे योग्य किसी प्रकार भी नहीं है इसलिए तुम उसका विचार छोड़ दो । पार्वती जी को यह सब कुछ बड़ा अरुचिकर प्रतीत होता है । अपनी सखी के द्वारा उन्होंने उसका उचित उत्तर भी दिलवाया है । उसके बाद जब वह ब्रह्मचारी दुबारा कुछ कहने को तैयार हुआ उस समय पार्वती अपनी सखी से यह सब कह रही है ।

यहाँ [पहिले किरातार्जुनीय के श्लोक में] अर्जुन को मार डालने की बात और [कुमारसम्भव के दूसरे श्लोक में] शिव जी की निन्दा की बात कहने योग्य नहीं है, इसलिए संवरण से वह अत्यन्त रमणीयता को प्राप्त हो गई है ।

यह वस्तु की अकीर्तनीयता के कारण होने वाली संवृतिवक्रता का उदाहरण है । कविविवक्षा के कारण होने वाली संवृतिवक्रता का उदाहरण आगे देते हैं ।

कवि की विवक्षा के कारण हीनता को प्राप्त [वस्तु के संवरण का उदाहरण] जैसे—

हे प्रियतमे [वासवदत्ते] मिथ्या [एकपत्नीत्व के] व्रत को धारण करने वाला यह [मैं वत्सराज उदयन, आज पद्मावती के साथ विवाह करने की स्वीकृति देकर न जाने कैसे] कुछ भी [अत्यन्त नीच कार्य] करने को उद्यत हो गया हूँ ॥६६॥

इसकी व्याख्या पहिले ही [उदा० सं० १, ५० पृ० ६० पर] कर चुके हैं ॥१६॥

---

१. तापस वत्सराज नाटक का यह पद्य कुन्तक ने चतुर्थ उन्मेष में उदा० सं० १० पर पूरा और इसके पूर्व उदा० सं० १, ५० तथा १, ६६ पर भी उद्धृत किया गया है ।

एवं संवृतिवक्रतां विचार्य प्रत्ययवक्रतायाः कोऽपि प्रकारः पदमध्यान्तर्भूतत्वादिहैव समुचितावसरस्तस्मात् तद्विचारमाचरति—

प्रस्तुतौचित्यविच्छित्तिं स्वमहिम्ना विकासयन् ।
प्रत्ययः पदमध्येऽन्यामुल्लासयति वक्रताम् ॥१७॥

कश्चित्प्रत्ययः कृदादिः पदमध्यवृत्तिरन्यामपूर्वां वक्रतामुल्लासयति वक्रभावमुद्दीपयति । किं कुर्वन्, प्रस्तुतस्य वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यदौचित्यमुचितभावस्तस्य विच्छित्तिमुपशोभां विकासयन् समुल्लासयन् । केन, स्वमहिम्ना निजोत्कर्षेण । यथा—

वेल्लद्बलाका घनाः ॥६७॥[1]

यथा वा—

स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ । इति ॥६८॥[2]

पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता [पद पूर्वार्द्धवक्रता का भेद]

इस प्रकार [६ प्रकार की] संवृतिवक्रता का विचार कर चुकने के बाद 'प्रत्ययवक्रता' का [कृदादि रूप] कोई भेद, पद के अन्तर्गत होने से यहाँ [पदपूर्वार्द्ध-वक्रता के प्रकरण में] ही विचार करने योग्य है उसका विचार [प्रारम्भ] करते हैं—

अपने प्रभाव से प्रस्तुत [अर्थ या प्रकरण] के औचित्य के अनुरूप सौन्दर्य को प्रकाशित करता हुआ पद के बीच में आया हुआ प्रत्यय कुछ अन्य प्रकार के ही [वक्रता] सौन्दर्य को प्रकट करता है ॥१७॥

१—कोई कृदादि प्रत्यय पद के बीच में आया हुआ और ही कुछ अपूर्व वक्रता को प्रकाशित करता है अर्थात् सौन्दर्य को उद्दीप्त करता है । क्या करता हुआ ? प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्यमान वस्तु का जो औचित्य अर्थात् उचित भाव उसकी विच्छित्ति अर्थात् शोभा को प्रकाशित अथवा विकसित करता हुआ । किस से ? अपने प्रभाव अथवा अपने उत्कर्ष से । जैसे—

[उदा० सं० २, २७ पर पूर्वोद्धृत] वेल्लद्बलाका घनाः ॥६७॥

अथवा जैसे—

[उदा० सं० १, १२१ पर पूर्वोद्धृत] स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ ॥६८॥

१-२. उदा० सं० २, २७ तथा १, १२१ पर दोनों पूरे-पूरे दिए जा चुके हैं ।

अत्र वर्तमानकालाभिधायी शतृप्रत्ययः कामप्यतीतानागतविभ्रमविरहितां तात्कालिकपरिस्पन्दसुन्दरीं प्रस्तुतौचित्यविच्छित्तिं समुल्लासयन् सहृदयहृदयहारिणीं प्रत्ययवक्रतामावहति ॥१७॥

इदानीमेतस्याः प्रकारान्तरं पर्यालोचयति—

आगमादिपरिस्पन्दसुन्दरः शब्दवक्रताम् ।
परः कामपि पुष्णाति बन्धच्छायाविधायिनीम् ॥१८॥

परो द्वितीयः प्रत्ययप्रकारः कामप्यपूर्वां शब्दवक्रतामाबध्नाति वाचकवक्रभावं विदधाति। कीदृक्, 'आगमादिपरिस्पन्दसुन्दरः' आगमो मुमादिरादिर्यस्य स तथोक्तः । तस्यागमादेः परिस्पन्दः स्वविलसितं तेन सुन्दरः सुकुमारः। कीदृशीं शब्दवक्रताम्, 'बन्धच्छायाविधायिनीम्' सन्निवेशकान्तिकारिणीमित्यर्थः ।

यथा—

यहाँ [इन दोनों उदाहरणों में] वर्तमान काल का कथन करने वाला [वेल्लत् तथा स्निह्यत् पदों में श्रूयमाण] शतृ-प्रत्यय अतीत और अनागत सौन्दर्य से रहित तात्कालिक स्वभावतः सुन्दर प्रस्तुत [वस्तु] के औचित्य की शोभा को प्रकाशित करता हुआ सहृदयहृदयहारिणी 'प्रत्ययवक्रता' को उत्पन्न करता है ॥१७॥

२—अब इस [प्रत्ययवक्रता के] दूसरे भेद का, विवेचन करते हैं—

आगम आदि के स्वभाव से सुन्दर [प्रत्ययवक्रता का] दूसरा प्रकार, रचना की शोभा को उत्पन्न करने वाली किसी अपूर्व शब्दवक्रता को परिपुष्ट करता है ॥१८॥

पर अर्थात् 'प्रत्ययवक्रता' का दूसरा प्रकार किसी अपूर्व शब्दवक्रता की रचना करता है और वाचक [शब्द] के सौन्दर्य को उत्पन्न करता है। कैसा ? आगम आदि के अपने सौन्दर्य से मनोहर। आगम अर्थात् 'मुम' आदि [का आगम] वह है आदि में जिसके वह उस प्रकार का [आगमादि] हुआ। उस आगमादि का जो परिस्पन्द अर्थात् स्वभाव सौन्दर्य उस से सुकुमार अर्थात मनोहर । किस प्रकार की शब्दवक्रता को [उत्पन्न करता है] ? रचना [बन्ध] के सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाली अर्थात् रचना की शोभा को बढ़ाने वाली [शब्दवक्रता को उत्पन्न करता है]।

जैसे—

जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थम्भूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥६६॥[1]

यथा च—

दाहोऽम्भः प्रसृतिम्पचः ॥७०॥[2]

यह मेघदूत का ६०वाँ श्लोक है। यक्ष ने मेघ के सामने अपनी पत्नी की वियोग-अवस्था का वर्णन बड़े सुन्दर रूप से किया है। उससे जान पड़ता है कि यक्ष की पत्नी मानों उसे बहुत प्रेम करती है। यह सब कहते-कहते यक्ष को स्वयं अपने मन में यह शङ्का उत्पन्न हुई कि कहीं मेघ यह न समझ ले कि यह यक्ष यों ही अपनी पत्नी की अवस्था की कल्पना करके कह रहा है। यह समझता है कि मैं बड़ा सुन्दर हूँ, मेरे ऊपर मेरी पत्नी इतनी आसक्त है कि मेरे वियोग में उसकी ऐसी अवस्था हो रही है इस प्रकार की कल्पना वह अपनी 'सुभगम्मन्यता' की भावना से कर रहा है। मेघ के मन में उठने वाली इस शङ्का के दूर करने के लिए यक्ष अपनी सफ़ाई दे रहा है—

मैं जानता हूँ कि तुम्हारी सखी [अर्थात् मेरी स्त्री] का मन मेरे प्रति स्नेह से भरा हुआ है इसीलिए, पहिली बार उपस्थित हुए विरह के अवसर पर मैं उसकी इस प्रकार [पूर्ववर्णित अवस्था] की कल्पना करता हूँ। अपनी 'सुभगम्मन्यता' का भाव [मैं अपने को बहुत सुन्दर समझता हूँ यह भाव] मुझे [पत्नी की कल्पना प्रसूत वियोगावस्था के वर्णन करने में] वाचाल नहीं बना रहा है। [और अधिक सफ़ाई क्या दी जाय] हे भाई! मैंने जो कुछ कहा है वह शीघ्र ही तुमको प्रत्यक्ष हो जायगा। [जब तुम उसके पास पहुँचोगे तो जो कुछ मैं कह रहा हूँ उसको स्वयं अपनी आँखों से देख सकोगे] ॥६६॥

इसमें 'सुभगम्मन्यः' पद में 'सुभगं आत्मानं मन्यते इस विग्रह में 'आत्ममाने खश्च' अष्टाध्यायी ३, २, ८३ इस सूत्र से खश् प्रत्यय और 'खित्यनव्ययस्य' अष्टाध्यायी ६, ३, ६६ सूत्र से मुम् का आगम होकर 'सुभगम्मन्यः' पद बनता है। इस मुम के आगम से 'सुभगन्मन्यः' पद में और उसके सन्निवेश से इस श्लोक वाक्य की रचना में विशेष सौन्दर्य आगया है। इसलिए यह भी 'प्रत्ययवक्रता' के दूसरे भेद का उदाहरण है।

और जैसे [उदा० सं० १, ४८ पर पहिले उद्धृत किए हुए श्लोक के] दाहोऽम्भः प्रसृतिम्पचः इस [भाग] में ॥७०॥

१. मेघदूत ६०। २. प्रथमोन्मेष उदा० १, ४८।

यथा वा—

पायं पायं कलाचीकृतकदलदलम् ॥७१॥

इति । 'सुभगम्मन्यभाव'-प्रभृतिशब्देषु मुमादिपरिस्पन्दसुन्दराः सन्निवेशच्छायाविधायिनीं वाचकवक्रतां प्रत्ययाः पुष्णन्ति ॥१८॥

एवं प्रसङ्गसमुचितां पदमध्यवर्तिप्रत्ययवक्रतां विचार्य समनन्तरसम्भाविनीं वृत्तिवक्रतां विचारयति—

यहाँ 'प्रसृतिम्पचः' शब्द में 'प्रसृतिं पचति इति' इस विग्रह से 'परिमाणे पचः' अष्टा० ३, २, ३३ सूत्र से 'खश्' प्रत्यय और 'खित्यनव्ययस्य' से मुम का आगम होकर 'प्रसृतिम्पचः' प्रयोग बनता है । प्रसृति शब्द का अर्थ चुल्लू है । 'पाणिर्निकुब्जः प्रसृतिः, तौ युतावञ्जलिः पुमान्' । इस कोश के अनुसार चुल्लू के रूप में मुड़ा हुआ या सिकोड़ा हुआ एक हाथ 'प्रसृति' कहलाता है और मिले हुए दोनों हाथ अञ्जलि' कहलाते हैं । अर्थात् अञ्जलि का आधा भाग या चुल्लू 'प्रसृति' कहलाता है । वियोगिनी के शरीर में इतना दाह है कि यदि चुल्लू में पानी भर लिया जाय तो तनिक सी देर में वह पककर उड़ जायगा ।

अथवा जैसे [उदा० सं० २, १० पर पूर्व उद्धृत किए हुए श्लोक के]—

'पायं पायं कलाचीकृतकदलदलम्' ॥७१। इसमें ।

यहाँ 'पायं पायं' में पीत्वा पीत्वा बार-बार पी पी कर इस प्रकार के पौनःपुन्य के द्योतन के लिए 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' अष्टा ३, ४, २२ इस सूत्र से णमुल्-प्रत्यय और उसके कारण 'आतो युक् चिण्कृतोः' अष्टा ७, ३, ३३ से पा धातु के आगे युक् का आगम होकर और लोप आदि तथा द्वित्व होकर 'पायं पायं' यह प्रयोग बनाता है । इस प्रयोग के कारण वाक्य में विशेष चमत्कार आ गया है अतएव यह भी 'प्रत्ययवक्रता' के दूसरे प्रकार के भेद का उदाहरण है ।

इन [तीनों उदाहरणों] में 'सुभगम्मन्यभाव' ['प्रसृतिम्पचः' तथा 'पायं पायं'] आदि शब्दों में मुम आदि स्वभाव से सुन्दर 'प्रत्यय' रचना के सौन्दर्याधायक शब्द सौन्दर्य को बढ़ाते हैं ॥१८॥

वृत्तिवैचित्र्यवक्रता [पदपूर्वार्द्धवक्रता का भेद]

इस प्रकार प्रकरण के अनुसार पद के बीच में रहने वाली 'प्रत्ययवक्रता' का विचार कर चुकने पर उसके बाद आने वाली 'वृत्तिवक्रता' का विचार [आरम्भ] करते हैं—

अव्ययीभावमुख्यानां वृत्तीनां रमणीयता ।
यत्रोल्लसति सा ज्ञेया वृत्तिवैचित्र्यवक्रता ॥१९॥

सा वृत्तिवैचित्र्यवक्रता ज्ञेया बोद्धव्या । वृत्तीनां वैचित्र्यं विचित्रभावः सजातीयापेक्षया सौकुमार्योत्कर्षस्तेन वक्रता वक्रभावविच्छित्तिः । कीदृशी रमणीयता यत्रोल्लसति । रामणीयकं यस्यामुद्भिद्यते । कस्य, 'वृत्तीनाम्'। कासाम्, 'अव्ययीभावमुख्यानाम्' अव्ययीभावः समासः मुख्यः प्रधानभूतो यासां तास्तथोक्तास्तासां, समास-तद्धित-सुब्धातु-वृत्तीनां वैयाकरणप्रसिद्धानाम् । तदयमत्रार्थः, यत्र स्वपरिस्पन्दसौन्दर्यमेतासां समुचितभित्तिभागोपनिबन्धाद-भिव्यक्तिमासादयति ।

यथा—

अभिव्यक्तिं तावद् बहिरलभमानः कथमपि
स्फुरन्नन्तः स्वात्मन्यधिकतरसम्मूर्छितभरः ।
मनोज्ञामुद्वृत्तां परपरिमलस्पन्दसुभगा-
महो धत्ते शोभामधिमधु लतानां नवरसः ॥७२॥

जिसमें अव्ययीभाव आदि [समास, तद्धित कृत आदि] वृत्तियों का सौन्दर्य प्रकाशित होता है उसको 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' समझना चाहिए ॥१९॥

उसको 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' जानना या समझना चाहिए । वृत्तियों [कृत् तद्धित समास आदि] का वैचित्र्य अर्थात् विचित्रता अर्थात् समान जातीय [अन्य शब्दों] की अपेक्षा सौकुमार्य का उत्कर्ष, उससे [उत्पन्न] वक्रता अर्थात् सौन्दर्य । कैसी ? कि जहाँ रमणीयता प्रकट होती है अर्थात् जिसमें सुन्दरता प्रस्फुटित होती है । किसकी ? वृत्तियों की । किन [वृत्तियों] की ? अव्ययीभाव जिन में मुख्य है । अर्थात् अव्ययीभाव समास जिनमें मुख्य या प्रधान है वह उस प्रकार की [अव्ययी-भावमुख्या] हुई । उनकी अर्थात् वैयाकरणों में प्रसिद्ध समास, तद्धित तथा [सुब्धातु] नामधातु की वृत्तियों की । इसका यहाँ यह अभिप्राय हुआ कि जहाँ उचित आधार पर निर्मित इन[समास आदि वृत्तियों]का स्वाभाविक [व्यापार का]सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है वह वृत्तिवैचित्र्यवक्रता कहलाती है ।

जैसे—

[अधिमधु अर्थात्] वसन्त ऋतु में लताओं का नवीन [सञ्चित] रस किसी प्रकार भी बाहर निकलने या अभिव्यक्ति का मार्ग न पाकर अपने भीतर ही उमड़ता हुआ अधिक वृद्धि को प्राप्त होकर बाहर फूटी-सी पड़ने वाली मनोहर और अत्यन्त सुगन्ध के प्रसार से हृदयहारिणी शोभा को उत्पन्न करता है ॥७२॥

अत्र 'अधिमधु'—शब्दे विभक्त्यर्थविहितः समासः समयाभिधाय्यपि वषयसप्तमीप्रतीतमुत्पादयन् 'नवरस'—शब्दस्य श्लेषच्छायाच्छुरणवैचित्र्य-मुन्मीलयति। एतद्वृत्तिविरहिते विन्यासान्तरे वस्तुप्रतीतौ सत्यामपि न तादृक् तद्विदाह्लादकारित्वम्। उद्वृत-परिमल-स्पन्द-सुभग-शब्दानामुपचारवक्रत्वं परिस्फुरद्विभाव्यते।

यथा च—

आ स्वर्लोकादुरगनगरं नूतनालोकलक्ष्मी-
मातन्वद्भिः किमिव सिततां चेष्टितैस्ते न नीतम्।
अप्येतासां दयितविहिता विद्विषत्सुन्दरीणां
यैरानीता नखपदमयी मण्डना पाण्डिमानम् ॥७३॥[1]

यहाँ 'अधिमधु' शब्द में ['मधौ इति अधिमधु' इस विग्रह में 'अव्ययं विभक्ति समीप०' आदि सूत्र से] विहित [अव्ययीभाव] समास [वसन्त रूप] समय का वाचक होने पर भी [मधौ इति अधिमधु इस प्रकार] विषय सप्तमी की प्रतीति को उत्पन्न करता हुआ नवरस शब्द के श्लेषच्छाया से व्याप्त वैचित्र्य को प्रकाशित करता है। इस [अव्ययीभाव समास रूप] वृत्ति से रहित ['मधौ' इस सप्तम्यन्त शब्द के द्वारा] दूसरे प्रकार की रचना करने पर वस्तु की प्रतीति हो जाने पर भी वह सहृदयों के लिए [उतनी] आह्लादकारी नहीं होती है। [इसलिए 'अधिमधु' पद में वृत्तिवक्रता का उदाहरण पाया जाता है। इसके अतिरिक्त इस श्लोक में ही प्रयुक्त हुए] उद्वृत्त, परिमल, स्पन्द, सुभग, शब्दों की 'उपचारवक्रता' भी फड़कती हुई सी प्रतीत होती है।

और जैसे—

यह श्लोक सुभाषितावली में संख्या २६५४ पर दिया गया है।

[हे राजन्] स्वर्ग से लेकर [उरगनगर नागलोक अर्थात्] पाताल तक अभिनव सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाले, तुम्हारे [कीर्तिमय] व्यापारों [या चरित्रों] ने किसको श्वेत नहीं कर दिया है, जिन्होंने कि इन शत्रुओं की स्त्रियों का उनके प्रियतम द्वारा विरचित नखपदों की [महावर की रक्तवर्ण] अलंकृति को भी पाण्डुता को प्राप्त करा दिया है ॥७३॥

---

१. सुभाषितावली सं० २६३४।

अत्र पाण्डुत्व-पाण्डुता-पाण्डुभाव-शब्देभ्यः 'पाण्डिम' शब्दस्य किमपि वृत्तिवैचित्र्यवक्रत्वं विद्यते ।

यथा च—

कान्त्योन्मीलति सिंहलीमुखरुचां चूर्णाभिषेकोल्लस-
ल्लावण्यामृतवाहिनिर्झरजुषामाचान्तिभिश्चन्द्रमाः ।
येनापानमहोत्सवव्यतिकरेष्वेकातपत्रायते
देवस्य त्रिदशाधिपावधि-जगज्जिष्णोर्मनाजन्मनः ॥७४॥

अत्र सुब्धातुवृत्तेः समासवृत्तेश्च किमपि वक्रतावैचित्र्यं परिस्फुरति ॥१६॥

यहाँ पाण्डुत्व, पाण्डुता, पाण्डुभाव [आदि] शब्दों की अपेक्षा 'पाण्डिमा' शब्द के प्रयोग में कुछ अपूर्व 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' विद्यमान है । [इसमें पाण्डु शब्द से इमनिच् प्रत्यय करके बना हुआ तद्धितान्त 'पाण्डिमा' शब्द अन्य सजातीय सब शब्दों की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक प्रतीत होता है । इसलिए यह भी 'वृत्तिवैचित्र्य-वक्रता' का उदाहरण है] ।

और जैसे—

['चूर्णानि वासयोगाः स्युः' सुगन्धकारक उबटना पाउडर आदि का नाम 'चूर्ण' है । सुगन्धित द्रव्यों को शरीर में लगाकर जो स्नान किया जाय उसको 'चूर्णाभिषेक' कहा जाता है ।] सुगन्धित द्रव्यों का लेप करके किए गए स्नान के कारण प्रस्फुटित लावण्यामृत को प्रवाहित करने वाले [सौन्दर्य के] झरने से युक्त, सिंहल देश की तरुणियों की मुख की कान्ति का पान [आचान्ति आचमन पान] करने से [ही चन्द्रमा] कान्ति से विकसित हो रहा है । इसलिए देवराज इन्द्र पर्यन्त समस्त जगत् को जीत लेने वाले कामदेव के पानगोष्ठी के महोत्सव के अवसर पर [उस चन्द्रमा का] एकछत्र राज्य होता है । [अर्थात् मदिरापान को गोष्ठी में चन्द्रमा का प्रभुत्व सबसे अधिक रहता है] ॥७४॥

यहाँ ['एकातपत्रायते' पद में 'एकातपत्रमिवाचरतीति एकातपत्रायते' इस प्रकार सुबन्त एकातपत्र शब्द को धातु बनाकर उससे बनाए हुए 'एकातपत्रायते' शब्द में] सुब्धातु की वृत्ति से और [अन्य समस्त पदों में] समास वृत्ति से कुछ अपूर्व वक्रतावैचित्र्य प्रकाशित होता है । [इसलिए ये सब 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' के उदाहरण हैं] ॥१६॥

एवं वृत्तिवक्रतां विचाय पदपूर्वार्द्धभाविनीमुचितावसरां 'भाववक्रतां' विचारयति—

साध्यतामप्यनादृत्य सिद्धत्वेनाभिधीयते ।
यत्र भावो भवत्येषा भाववैचित्र्यवक्रता ॥२०॥

एषा 'वर्णितस्वरूपा' भाववैचित्र्यवक्रता भवति अस्ति । भावो धात्वर्थरूपस्तस्य वैचित्र्यं विचित्रभावः प्रकारान्तराभिधानव्यतिरेकि रामणीयकं, तेन वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः। कीदृशी,'यत्र'यस्यां 'भावः''सिद्धत्वेन'परिनिष्पन्नत्वेन 'अभिधीयते' भण्यते। किं कृत्वा,'साध्यतामप्यनादृत्य,' निष्पाद्यमानतां प्रसिद्धामप्यवधीर्य । तदिदमत्र तात्पर्यम् , यत् साध्यत्वेनापरिनिष्पत्तेः प्रस्तुतस्यार्थस्य दुर्बलः परिपोषः, तस्मात् सिद्धत्वेनाभिधानं परिनिष्पन्नत्वात् पर्याप्तं प्रकृतार्थपरिपोषमावहति । यथा—

भाववैचित्र्यवक्रता [पदपूर्वार्द्धवक्रता का भेद]

इस प्रकार वृत्तिवक्रता का विचार करके पदपूर्वार्द्ध में होने वाली और अवसर प्राप्त 'भाववक्रता' का विचार करते हैं—

[भाव शब्द का अर्थ क्रिया है । क्रिया या 'भाव' सदा साध्य रूप होता है । किन्तु जहाँ उस क्रिया या 'भाव' की] साध्यता [साध्यरूपता] का भी तिरस्कार करके [उसको] सिद्ध के रूप में कहा जाता है वह 'भाववैचित्र्यवक्रता' होती [या कही जाती] है ।

यह [कारिका में] वर्णित स्वरूप वाली 'भाववैचित्र्यवक्रता' होती है । भाव धात्वर्थ रूप [क्रिया व्यापार] है ['फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः' । अर्थात् फल और व्यापार धातु का अर्थ होता है और उन दोनों के आश्रय अर्थात् व्यापाराश्रय रूप कर्ता तथा फलाश्रय रूप कर्म ये दोनों तिङ् प्रत्यय के अर्थ होते हैं] उस [क्रिया व्यापार रूप भाव] का वैचित्र्य विचित्र भाव अर्थात् अन्य किसी प्रकार से जिसका वर्णन न किया जा सके इस प्रकार की रमणीयता, उससे जो वक्रता अर्थात् सौन्दर्य । कैसी [वक्रता कि] ? जहाँ जिस [वक्रता] में [साध्य रूप] भाव [क्रिया, उसकी साध्यता की उपेक्षा करके] सिद्ध रूप से, परिनिष्पन्न रूप से, कहा जाता है । क्या करके कि [उसकी] साध्यता का भी अनादर करके अर्थात् सर्वलोकविदित साध्यता की भी उपेक्षा [तिरस्कार] करके । इसका यहाँ यह अभिप्राय हुआ कि—साध्य अर्थात् अपरिपक्व होने के कारण, प्रस्तुत वस्तु की पूर्ण परिपुष्टि नहीं हो पाती है । इसलिए 'सिद्ध' रूप से [उस वस्तु का] वर्णन परिपक्व या परिपूर्ण हो जाने से प्रकृत अर्थ को पर्याप्त रूप से पुष्ट कर सकता है । जैसे—

श्वासायासमलीमसाधररुचे दोंः कन्दलीतानवात्
केयूरायितमङ्गदैः परिणतं पाण्डिम्नि गण्डत्विषा ।
अस्याः किं च विलोचनोत्पलयुगेनात्यन्तमश्रुस्रुता
तारं तादृगपाङ्गयोररुणितं येनोत्प्रतापः स्मरः ॥७५॥

अत्र भावस्य सिद्धत्वेनाभिधानमतीव चमत्कारकारि ॥२०॥

एवं भाववक्रतां विचार्य प्रातिपदिकान्तवर्तिनीं लिङ्गवक्रतां विचारयति—

[उष्ण] निःश्वासों की उष्णता [जन्य आयास] से जिसकी अधर की कान्ति मलिन हो गई है और बाहु-लता की कृशता के कारण [अङ्गद बाहु के पतले भाग में पहिने जाने वाले आभूषण विशेष] बाजूबन्द, [बाहू के अधिक स्थूल-तर भाग पर पहिने जाने वाले आभूषण विशेष] केयूर के समान हो रहे हैं। कपोलों की कान्ति सफेद पड़ गई है। और अत्यधिक रोने से [आँसू बहाने वाले] इसके दोनों नेत्रों के किनारे इतने अधिक लाल पड़ गए हैं जिसके कारण कामदेव का प्रताप और भी अधिक बढ़ गया है। [इसकी इस अवस्था को देखकर काम का वेग और भी अधिक बढ़ जाता है] ॥७५॥

यहाँ कवि ने केयूर तथा अङ्गद को अलग-अलग आभूषण मानकर 'केयूरा-यितमङ्गदैः' ऐसा लिखा है। वास्तव में तो ये दोनों शब्द पर्यायवाची शब्द हैं, दोनों एक ही बाजूबंद के वाचक हैं। अमरकोष २,१०७ में, 'केयूरमङ्गद तुल्ये' लिखकर और उसके टीकाकार ने 'प्रगण्डाभूषणस्य' अर्थात् केयूर तथा अङ्गद दोनों प्रगण्ड अर्थात् कोहनी के ऊपर और कन्धे के नीचे, कोहनी और कन्धे के बीच के भाग में पहिने जाने वाले आभूषण हैं, जिन्हें बाजूबन्द कहते हैं। सम्भवतः इस भाग में भी दो आभूषण पहिने जाते हों, उनका भेद मानकर कवि ने इस प्रकार का प्रयोग किया हो।

यहाँ [कामदेव का प्रताप और भी अधिक हो रहा है इस क्रिया रूप] भाव का [उत्प्रतापः शब्द से] सिद्ध रूप से कथन अत्यन्त चमत्कारकारी है ॥२०॥

लिङ्गवैचित्र्यवक्रता [पदपूर्वार्द्धवक्रता का भेद। ३ प्रकार]

इस प्रकार 'भाववक्रता' का विचार करके प्रातिपदिक के अन्तर्गत लिङ्गवक्रता का विचार करते हैं।

भिन्नयोर्लिङ्गयोर्यस्यां सामानाधिकरण्यतः ।
कापि शोभाभ्युदेत्येषा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता ॥२१॥

एषा कथितस्वरूपा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता स्त्र्यादिविचित्रभाववक्रताविच्छित्तिः । भवतीति सम्बन्धः, क्रियान्तराभावात् । कीदृशी, यस्यां यत्र विभिन्नयोर्विभक्तस्वरूपयोर्लिङ्गयोः सामानाधिकरण्यतस्तुल्याश्रयत्वादेकद्रव्यवृत्तित्वात् काप्यपूर्वा शोभाभ्युदेति कान्तिरुल्लसति । यथा—

यस्यारोपणकर्मणापि बहवो वीरव्रतं त्याजिताः
कार्यं पुङ्खितबाणमीश्वरधनुस्तद्दोर्भिरेभिर्मया ।
स्त्रीरत्नं तदगर्भसम्भवमितो लभ्यं च लीलायिता
तेनैषा मम फुल्लपङ्कजवनं जाता दृशां विंशतिः ॥७६॥

जिस [वक्रता] में भिन्न लिङ्गों [भिन्न लिङ्ग वाले शब्दों] के समानाधिकरण्य [समानविभक्त्यन्त] रूप से प्रयोग से कुछ अपूर्व शोभा उत्पन्न हो जाती है यह 'लिङ्गवैचित्र्यवक्रता' [कहलाती] है ॥२१॥

यह [इस कारिका में] कहे गए स्वरूप वाली 'लिङ्गवैचित्र्यवक्रता' अर्थात् स्त्री आदि [लिङ्ग] के विचित्रभाव की वक्रता [सौन्दर्य विशेष] । होती है यह [भवति क्रिया का अध्याहार करके] सम्बन्ध होता है । [यहाँ कारिका में] अन्य कोई क्रिया न होने से । [इसलिए भवति क्रिया का अध्याहार करके ही अर्थ करना उचित है] । कैसी, जिसमें विभिन्न अर्थात् अलग-अलग लिङ्गों [के दो शब्दों] के समानाधिकरण्य से अर्थात् तुल्य आश्रय अथवा एकद्रव्य बोधक होने से कोई अपूर्व शोभा उदित होती है अर्थात् नवीन सौन्दर्य प्रकट होता है । जैसे—

यह श्लोक राजशेखर कृत बालरामायण नाटक के प्रथम अङ्क का ३०वाँ श्लोक है । सीता-स्वयम्बर में सम्मिलित होने के लिए आए हुए रावण की यह उक्ति है । रावण कह रहा है कि—

जिस [शिव धनुष] के आरोपण के व्यापार ने ही बहुतों को वीर व्रत से च्युत कर दिया है [अर्थात् बहुत-से राजाओं ने उस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने का प्रयत्न किया परन्तु उसमें सफल न होने के कारण वे अपने वीरता के व्रत अथवा गर्व को छोड़कर बैठ रहे हैं] । इन [अपनी] भुजाओं से मुझे उस धनुष पर [प्रत्यञ्चा ही नहीं] बाण चढ़ाना है, और उस [बाण के चढ़ाने] से [तदगर्भसम्भवं] स्त्री के गर्भ से न उत्पन्न होने वाले उस [अयोनिजा सीता रूप] स्त्री-रत्न की प्राप्ति होगी इसलिए मेरी ये बीसों आँखें खिले हुए कमलों के समूह के समान [सौन्दर्ययुक्त] हो रही है ॥७६॥

यथा वा—

नभस्वता लासितकल्पवल्ली-प्रबालबालव्यजनेन तस्य ।
उरःस्थलेऽकीर्यत दक्षिणेन सर्वास्पदं सौरभमङ्गरागः ॥७७॥[1]

यथा च—

आयोज्य मालामृतुभिः प्रयत्न-सम्पादितामंसतटेऽस्य चक्रे ।
करारविन्दे मकरन्दबिन्दु-स्यन्दि श्रिया विभ्रमकर्णपूरः ॥७८॥

इयमपरा च लिङ्गवैचित्र्यवक्रता—

यहाँ 'फुल्लपङ्कजवनं जाता दृशां विंशतिः' में 'दृशां विंशतिः' के स्त्रीलिङ्ग और 'फुल्लपङ्कजवनं' के नपुंसकलिङ्ग होने से तथा उन दोनों का समानाधिकरण रूप से प्रयोग होने से यह 'लिङ्गवैचित्र्यवक्रता' का उदाहरण है ।

अथवा जैसे—

वायु के द्वारा कम्पित कल्प लता के नवीन पल्लवों के नन्हें-से पंखे के द्वारा दक्षिण [नायक के समान, दक्षिण दिशा के] पवन ने उसके वक्षःस्थल पर सर्वोत्तम सौरभ युक्त अङ्गराग [विलेपन द्रव्य] बिखेर दिया ॥७७॥

इस उदाहरण में नपुंसक लिङ्ग 'सर्वास्पदं सौरभं' और पुल्लिङ्ग 'अङ्गरागः' पदों का समानाधिकरण रूप से प्रयोग होने से यह 'लिङ्गवैचित्र्यवक्रता' का उदाहरण होता है ।

और जैसे—

अनेक ऋतुओं के [फूलों के] द्वारा प्रयत्नपूर्वक बनाई गई माला को उसके [कन्धों के किनारे पर अर्थात्] गले में डालकर, [उस माला के पुष्पों से] मकरन्द बिन्दुओं को टपकाने वाले करकमल को सौन्दर्य से शोभाधायक कर्णपूर [कान में पहिने जाने वाले आभूषण] रूप कर दिया । अर्थात् जब गले में माला डाली उस समय माला पहिनाने वाले के दोनों हाथ पहिनने वाले के दोनों कानों के समीपस्थ होने से वह हाथ कर्णपूर आभूषण के समान प्रतीत हो रहे थे] ॥७८॥

इस श्लोक में 'करारविन्दं विभ्रमकर्णपूरः चक्रे' ऐसा अन्वय है । 'करारविन्दं' शब्द नपुंसक लिङ्ग है और 'विभ्रमकर्णपूरः' शब्द पुल्लिङ्ग है । इन भिन्न लिङ्ग वाले शब्दों के समानाधिकरण्य के कारण यह भी 'लिङ्गवैचित्र्यवक्रता' का उदाहरण है ॥२१॥

२—यह दूसरी प्रकार की लिङ्गवैचित्र्यवक्रता और भी होती है—

---

१. बाल रामायण ७, ६६ ।

सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गञ्च प्रयुज्यते ।
शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम् ॥२२॥

'यत्र' यस्यां 'लिङ्गान्तरे सति' अन्यस्मिन् सम्भवत्यपि लिङ्गे 'स्त्रीलिङ्गं प्रयुज्यते' निबध्यते। अनेकलिङ्गत्वेऽपि पदार्थस्य स्त्रीलिङ्गविषयः प्रयोगः क्रियते। किमर्थम् ? शोभानिष्पत्तये। कस्मात् कारणात् 'यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम्'। स्त्रीत्यभिधानमेव हृदयहारि । विच्छित्त्यन्तरेण रसादियोजनयोग्यत्वात्। उदाहरणं यथा—

यथेयं ग्रीष्मोष्मव्यतिकरवती पाण्डुरभिदा
मुखोद्भिन्नम्लानानिलतरलवल्लीकिसलया।
तटी तारं ताम्यत्यतिशशियशाः कोऽपि जलद-
स्तथा मन्ये भावी भुवनवलयाक्रान्तिसुभगः ॥७६॥[1]

जहाँ [उसी शब्द का] अन्य लिङ्ग सम्भव होने पर भी 'स्त्री नाम ही सुन्दर' है [इसलिए] ऐसा मानकर शोभातिरेक के सम्पादन के लिए स्त्रीलिङ्ग का [ही विशेष रूप से] प्रयोग किया जाता है [वह भी 'लिङ्गवैचित्र्यवक्रता' का दूसरा भेद है] ॥२२॥

जहाँ जिस [वक्रता] में [उसी शब्द में] अन्य लिङ्ग सम्भव होने पर भी [विशेष रूप से] स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् पदार्थ के अनेक लिङ्ग होने पर भी स्त्रीलिङ्ग विषयक ही प्रयोग किया जाता है। क्यों, [किसलिए] कि—सौन्दर्यातिशय के सम्पादन के लिए । किस कारण से कि—क्योंकि स्त्री यह नाम ही [पुरुष के लिए] सुन्दर [आकर्षक] है । स्त्री का नाम ही हृदय का आकर्षण करने वाला है। क्योंकि वह [स्त्री नाम] अन्य प्रकार के अपूर्व सौन्दर्य से [पुरुष के मन के भीतर शृङ्गार आदि] रसों की योजना करने के योग्य होता है। [उसका] उदाहरण, जैसे—

क्योंकि ग्रीष्म ऋतु की उष्णता से सन्तप्त, पीली पड़ी हुई, और [गुफा आदि के] मुखों से निकलती हुई गरम वायु से हिलते हुए लताओं के नवीन पत्तों से युक्त यह तटी [पर्वत या नदी का प्रान्त भाग] अत्यन्त सन्तप्त हो रही है इसलिए जान पड़ता है कि शीघ्र ही चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को [तिरस्कृत] आच्छादित कर देने वाला और सारे पृथ्वीमण्डल को व्याप्त कर लेने के कारण मनोहर कोई मेघ आने वाला है ॥७६॥

---

१. ध्वन्यालोक के 'लोचन' में अभिनवगुप्त ने इसको उद्धृत करते हुए लिखा है—'तटी तारंताम्यति' इत्यत्र तद् शब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः स्त्रीति नामापि मधुरमिति कृत्वा' यह कुन्तक के इस लेख का ही संकेत है।

अत्र त्रिलिङ्गत्वे सत्यपि तटशब्दस्य सौकुमार्यात् स्त्रीलिङ्गमेव प्रयुक्तम्। तेन विच्छित्यन्तरेण भावी नायकव्यवहारः कश्चिदासूत्रित इत्यतीव रमणीयत्वाद् वक्रतामावहति ॥२२॥

इदमपरमेतस्याः प्रकारान्तरं लक्षयति—

विशिष्टं योज्यते लिङ्गमन्यस्मिन् सम्भवत्यपि ।
यत्र विच्छित्तये सान्या वाच्यौचित्यानुसारतः ॥२३॥

'सा'चोक्तस्वरूपा अन्या अपरा लिङ्गवक्रता विद्यते। 'यत्र' यस्यां 'विशिष्टं योज्यते लिङ्गं त्रयाणामेकतमं किमपि कविविवक्षया निबध्यते। कथम्, 'अन्यस्मिन् सम्भवत्यपि', लिङ्गान्तरे विद्यमानेऽपि। किमर्थम्? 'विच्छित्त्ये' शोभायै।

यह श्लोक अन्योक्ति रूप है। किसी षोडशी कन्या के नवयौवन को देख कर कवि यह कह रहा है कि अब इसके उपभोग का करने वाला कोई नायक इसको शीघ्र ही प्राप्त होने वाला है।

यहाँ [प्रयुक्त हुए] 'तट' शब्द के तीनों लिङ्गों [तटः, तटी, तटम्] में सम्भव होने पर भी सुकुमारता [के अतिशय का व्यञ्जक होने] के कारण स्त्रीलिङ्ग [तटी] का ही प्रयोग किया है। और उस [स्त्रीलिङ्ग 'तटी' शब्द के प्रयोग] से अनोखे ढंग से किसी अपूर्व [सौन्दर्यापादक] नायक व्यवहार का कथन किया है इसलिए [यह स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग] अत्यन्त रमणीय होने से सौन्दर्य को उत्पन्न कर रहा है ॥२२॥

३—इस [लिङ्गवैचित्र्यवक्रता] का यह और [तीसरा] प्रकारान्तर बतलाते हैं—

जहाँ अन्य लिङ्ग सम्भव होने पर भी विशेष शोभा के लिए अर्थ के औचित्य के अनुसार किसी विशेष लिङ्ग का ही प्रयोग किया जाता है वह [पूर्वोक्त दो प्रकारों से भिन्न तीसरे प्रकार की] अन्य ही [लिङ्गवैचित्र्यवक्रता] है ॥२३॥

और [इस कारिका में] कहे गये स्वरूप [लक्षण] वाली वह 'लिङ्गवैचित्र्यवक्रता' [इसके पूर्वोक्त दो भेदों से भिन्न] दूसरी ही है। जहाँ [अर्थात्] जिस [वक्रता] में विशिष्ट लिङ्ग का प्रयोग किया जाता है [अर्थात्] तीनों लिङ्गों में से कवि की इच्छा के अनुसार किसी एक लिङ्ग का प्रयोग किया जाता है। कैसे कि—अन्य [लिङ्ग में उस शब्द के प्रयोग] के सम्भव होने पर भी, अर्थात् अन्य लिङ्ग [में उस शब्द] के विद्यमान होने पर भी। क्यों [विशेष लिङ्ग का प्रयोग कवि करता है कि]—विच्छित्ति अर्थात् शोभा के लिए। किस कारण से [उस

कस्मात् कारणात् ? 'वाच्यौचित्यानुसारतः' । वाच्यस्य वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यदौचित्यमुचितभावस्तस्यानुसरणमनुसारस्तस्मात् । पदार्थौचित्यमनुसृत्येत्यर्थः ।

यथा—

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवन्त्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥८०॥[1]

अत्र सीतया सह रामः पुष्पकेणावतरंस्तस्याः स्वयमेव तद्विरहवैधुर्यमावेदयति यत् त्वं रावणेन तथाविधत्वरापरतन्त्रचेतसा मार्गे यस्मिन्नपनीता तत्र तदुपमर्दवशात् तथाविधसंस्थानयुक्तत्वं लतानामुन्मुखत्वं मम त्वन्मार्गानुमानस्य निमित्ततामापन्नमिति वस्तु विच्छित्यन्तरेण रामेण योज्यते । यथा—हे भीरु स्वाभाविकसौकुमार्यकातरान्तःकरणे रावणेन तथाविधक्रूर-

---

विशेष लिङ्ग के प्रयोग से शोभा होती है कि] वाच्य अर्थात् वर्ण्यमान वस्तु का जो औचित्य उचित रूपता उसके अनुसरण करने से । अर्थात् पदार्थ के औचित्य का अनुसरण करके । जैसे—

यह श्लोक रघुवंश के तेरहवें सर्ग का २४वाँ श्लोक है । लङ्काविजय के बाद पुष्पक-विमान द्वारा अयोध्या को जाते हुए रास्ते में पड़ने वाले स्थानों का परिचय सीता जी को कराते हुए रामचन्द्र जी उनसे कह रहे हैं—

हे भीरु ! तुमको राक्षस रावण जिस मार्ग से [हरण करके] ले गया था उस मार्ग को, बोलने में असमर्थ इन लताओं ने अपने [रावण के उधर से निकलने के कारण उसके और तुम्हारे शरीर के संसर्ग से] मुड़े हुए पत्तों से युक्त शाखाओं के द्वारा कृपा करके मुझे दिखलाया था । [या मुझे दिखाने की कृपा की थी] ॥८०॥

यहाँ सीता के साथ पुष्पक विमान से जाते [उतरते] हुए रामचन्द्र स्वयं [अपने] विरह दुःख को [सीता के सामने] बतलाते हैं । कि उस प्रकार की हड़बड़ी में रावण तुमको जिस मार्ग से [में] ले गया वहाँ पर उसके [शरीर हाथ-पैर आदि के द्वारा] उपमर्द के कारण लताओं की जो उस प्रकार स्थिति-विशेष अर्थात् लताओं का उन्मुखत्व [उस दिशा की ओर मुड़ जाना आदि] मेरे द्वारा तुम्हारे ले जाए जाने के मार्ग के अनुमान का कारण हुआ [अर्थात् लताओं को मुड़ा देख कर मैंने यह अनुमान किया कि तुमको उसी ओर रावण ले गया है] । इस बात की रामचन्द्र जी ने बड़े सुन्दर ढंग से योजना की है । जैसे कि हे भीरु ! अर्थात् स्वाभाविक सुकुमारता के कारण भयभीत चित्त वाली सीते, उस प्रकार के [तुम्हारे

---

१. रघुवंश १३, २४ ।

कर्मकारिणा यस्मिन् मार्गे त्वमपनीता तमेताः साक्षात्कारपरिदृश्यमान-मूर्तयो लताः किल मामदर्शयन्निति । तन्मार्गप्रदर्शनं परमार्थतस्तासां निश्चेतन-तया न सम्भाव्यत इति प्रतीयमानवृत्तिरुत्प्रेक्षालङ्कारः कवेरभिप्रेतः । यथा—तव भीरुत्वं रावणस्य क्रौर्यं ममापि त्वत्परित्राणप्रयत्नपरतां पर्यालोच्य स्त्रीस्वभावादार्द्रहृदयत्वेन समुचितस्वविषयपक्षपातमाहात्म्यादेताः कृपयैव मम मार्गप्रदर्शनमकुर्वन्निति । केन करणभूतेन—'शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः' । यस्माद्वागिन्द्रियवर्जितत्वाद्वक्तुमशक्नुवन्त्यः । यत्किल ये केचिदजल्पन्तो मार्गप्रदर्शनं कुर्वन्ति ते तदुन्मुखीभूतहस्तपल्लवबाहुभिरित्येतदतीव युक्ति-युक्तम् । तथा चात्रैव वाक्यान्तरमपि विद्यते—

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन् माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥८१॥[1]

अपहरण रूप] क्रूर कर्म को करने वाला रावण तुमको जिस मार्ग से [में] ले गया उसको [इस समय] सामने दिखलाई देने वाली इन लताओं ने ही मुझको दिखलाया था । उनके अचेतन होने से वह मार्ग-प्रदर्शन वस्तुतः उनके लिए सम्भव नहीं था इसलिए ['मानों' उन्होंने दिखलाया इस प्रकार का] प्रतीयमान उत्प्रेक्षा अलङ्कार कवि को अभिप्रेत है । जैसे कि तुम्हारी भीरुता, रावण की क्रूरता और तम्हारी रक्षा के लिए मेरी व्यग्रता को देखकर स्त्री स्वभाव के कारण कोमल-हृदय होने से अपने सजातीय स्त्री रूप तुम्हारे प्रति [स्वभावतः] उचित पक्षपात के वशीभूत होकर इन [लताओं] ने कृपापूर्वक ही मुझे मार्ग-प्रदर्शन किया । किस साधन के द्वारा कि—'मुड़े हुए पत्तों वाली शाखाओं से' । क्योंकि वाणी रूप इन्द्रिय से रहित होने के कारण बोलने में असमर्थ थीं । जो कोई भी बिना बोले मार्ग-प्रदर्शन कराते हैं वे सब उस ओर हाथ उठाए हुए बाहुओं से ही [मार्ग-प्रदर्शन कराते हैं इसलिए यह [लताओं के मार्ग-दर्शन व्यवहार का वर्णन] बहुत सुन्दर हुआ है ।

उसी प्रकार का दूसरा [श्लोक] वाक्य भी यहाँ [रघुवंश के इसी १३वें सर्ग में २५वाँ श्लोक] पाया जाता है । [उसका अर्थ इस प्रकार है]—

[लताओं के मूक संकेत द्वारा बतलाए जाने पर भी] तुम्हारे जाने [के मार्ग] को न जानने वाले मुझको [दर्भ] कुश के अंकुरों के खाने को छोड़कर दक्षिण दिशा की ओर ऊपर को आँखें उठाती हुई हरिणियों ने भी [तुम्हारे जाने का मार्ग मुझे] बतलाया ॥८१॥

---

१. रघुवंश १३, २५ ।

हरिण्यश्च मां समबोधयन् कीदृशम्—'तवागतिज्ञम्' लताप्रदर्शितमार्गमजानन्तम् । ततस्ताः सम्यगबोधयन्निति, यतस्तास्तदपेक्षया किञ्चित्प्रबुद्धा इति । ताश्च कीदृश्यः-तथाविधवैशसन्दर्शनवशाद् दुःखित्वेन परित्यक्ततृणग्रासाः। किं कुर्वाणाः—तस्यां दिशि नयनानि समर्पयन्त्यः । कीदृशानि—उर्ध्वीकृतपक्ष्मपंक्तीनि । तदेवंविधस्थानकयुक्तत्वेन दक्षिणां दिशमन्तरिक्षेण नीतेति संज्ञया निवेदयन्त्यः ।

अत्र वृक्षमृगादिषु लिङ्गान्तरेषु सम्भवत्स्वपि स्त्रीलिङ्गमेव पदार्थौचित्यानुसारेण चेतनचमत्कारकारितया कवेरभिप्रेतम् । तस्मात् कामपि वक्रतामावहति ॥२३॥

हरिणियों ने भी मुझको [तुम्हारे ले जाए जाने का मार्ग] बतलाया । कैसे मुझको ? तुम्हारे जाने [के मार्ग] को न जानने वाले को अर्थात् [अचेतन] लताओं के बतलाए हुए मार्ग को न समझ सकने वाले मुझको । उन [अचेतन लताओं] के बाद उन [मृगियों] ने बतलाया । और वे [मृगियाँ] कैसी थीं कि—उस प्रकार के [सीतापहरण रूप] अत्याचार को देखकर [अत्यन्त] दुःखी होने के कारण तिनकों के ग्रास को भी जिन्होंने छोड़ दिया है । क्या करती हुई कि—उस [दक्षिण] दिशा में आँखें करती हुई । कैसे [नेत्र] जिनके पलक ऊपर को उठ रहे हैं । इसलिए इस प्रकार के [दक्षिण दिशा की ओर ऊपर को आँखें उठाए हुए] आकार विशेष से युक्त होने से दक्षिण दिशा की ओर और आकाश-मार्ग से ले जाई गई थीं यह बात [उन मृगियों ने अपने आकार-प्रकार से] सूचित की ।

यहाँ [लता और मृगी इन स्त्रीलिङ्ग शब्दों के स्थान पर] वृक्ष मृग आदि दूसरे पुल्लिङ्ग शब्द सम्भव होने पर भी पदार्थ के औचित्य के अनुसार स्त्रीलिङ्ग ही सहृदयों के लिए अधिक चमत्कारजनक होने से कवि को प्रिय है । इसलिए [उन स्त्रीलिङ्ग शब्दों का प्रयोग] कुछ अपूर्व सौन्दर्य को उत्पन्न कर रहा है ।

यहाँ स्त्रीलिङ्ग के प्रयोग के जो उदाहरण दिए हैं उनकी अपेक्षा किसी अन्य लिङ्ग के प्रयोग के उदाहरण अधिक उपयुक्त होते । क्योंकि स्त्रीलिङ्ग के प्रयोग में विशेष चमत्कार आ जाता है यह बात 'नामैव स्त्री पेशलम्' वाली पिछली कारिका में ही कही जा चुकी थी अतः यहाँ स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर अन्य लिङ्ग के प्रयोग से चमत्कार के प्रदर्शन उदाहरण देना उचित था ॥२३॥

एवं प्रातिपदिकलक्षणस्य सुबन्तसम्भविनः पदपूर्वार्द्धस्य यथासम्भवं वक्रभावं विचार्येदानीमुभयोरपि सुप्तिङन्तयोर्धातुस्वरूपः पूर्वभागो यः सम्भवति तस्य वक्रतां विचारयति । तस्य च क्रियावैचित्र्यनिबन्धनमेव वक्रत्वं विद्यते । तस्मात् क्रियावैचित्र्यस्यैव कीदृशाः कियन्तश्च प्रकाराः सम्भवन्तीति तत्स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

कर्तुरत्यन्तरङ्गत्वं कर्त्रन्तरविचित्रता ।
स्वविशेषणवैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता ॥२४॥
कर्मादिसंवृतिः पञ्च प्रस्तुतौचित्यचारवः ।
क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारास्त इमे स्मृताः ॥२५॥

'क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारा' धात्वर्थविचित्रभाववक्रताप्रभेदास्त इमे स्मृता वर्ण्यमानस्वरूपाः कीर्तिताः । कियन्तः—'पञ्च' पचसंख्याविशिष्टाः । कीदृशाः 'प्रस्तुतौचित्यचारवः' प्रस्तुतं वर्ण्यमानं वस्तु तस्य यदौचित्यमुचितभावस्तेन चारवो रमणीयाः ।

११—क्रियावैचित्र्य या धातुवैचित्र्यवक्रता [५ भेद]

इस प्रकार [यहाँ तक] सुबन्त [पदों] में पाए जाने वाले प्रातिपदिक रूप पदपूर्वार्द्ध के [वक्रभाव] सौन्दर्य का यथासम्भव विचार करके अब सुबन्त तथा तिङन्त दोनों प्रकार के पदों का जो धातु रूप पूर्वभाग सम्भव हो सकता है उसकी वक्रता [सौन्दर्य] का विचार करते हैं । उस [धातु] का क्रियावैचित्र्य के कारण ही वक्रभाव होता है । इसलिए क्रियावैचित्र्य के ही कितने और कैसे-कैसे प्रकार हो सकते हैं उनके स्वरूप का निरूपण करने के लिए कहते हैं—

१. कर्ता की अत्यन्त अन्तरङ्गता, २. दूसरे कर्ता की विचित्रता, ३. अपने विशेषण की विचित्रता, ४. उपचार के कारण सुन्दरता ॥२४॥

और ५ कर्म आदि की संवृति [संवरण, छिपाना] प्रस्तुत के औचित्य से सुन्दर यह पाँच प्रकार के 'क्रियावैचित्र्य' के भेद माने गए हैं ॥२५॥

[ऊपर की दोनों कारिकाओं में] वर्ण्यमान स्वरूप वाले 'क्रियावैचित्र्य' की वक्रता के प्रकार अर्थात् धात्वर्थ के विचित्रभाव की वक्रता के ये भेद कहे गए हैं । कितने कि 'पाँच' अर्थात् पञ्च संख्या युक्त । कैसे कि प्रस्तुत के औचित्य से, मनोहर । प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्यमान वस्तु उसका जो औचित्य उचित भाव उससे मनोरम रमणीय ।

तत्र प्रथमस्तावत्प्रकारो यः, 'कर्तुरत्यन्तरङ्गत्वं' नाम। कर्तुः स्वतन्त्रतया मुख्यभूतस्य कारकस्य क्रियां प्रति निर्वर्तयितुं यदत्यन्तरङ्गत्वमत्यन्तमान्तरतम्यम्।

यथा—

चूड़ारत्ननिषण्णदुर्वहजगद्भारोन्नमत्कन्धरो
धत्तामुद्धुरतामसौ भगवतः शेषस्य मूर्धा परम्।
स्वैरं संस्पृशतीषदप्यवनतिं यस्मिन् लुठन्त्यक्रमं
शून्ये नूनमियन्ति नाम भुवनान्युद्दामकम्पोत्तरम्॥८२॥

अत्र उद्धुरता धारणलक्षणक्रिया कर्तुः फणीश्वरमस्तकस्य प्रस्तुतौचित्यमाहात्म्यादन्तर्भावं यथा भजते तथा नान्या काचिदिति क्रियावैचित्र्यवक्रतामावहति।

यथा वा—

उन [पाँच प्रकार के 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' भेदों] में से पहिला प्रकार है 'कर्ता की अत्यन्त अन्तरङ्गता' ['स्वतन्त्रः कर्ता' अष्टाध्यायी १, ४, ५४ पाणिनि मुनि कृत इस कर्ता के लक्षण के अनुसार] स्वतन्त्र होने के कारण [सब कारकों में] मुख्यभूत [कर्ता] कारक की [उस] क्रिया के सम्पादन में जो अन्तरङ्गता या अत्यधिक अन्तर्तमता [यह 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' का पहिला भेद होता है]।

जैसे—

[शेषनाग के] चूड़ा रत्न [शिर पर धारण किए रत्न] पर रखे हुए [सारी पृथिवीमण्डल के] दुर्वह भार से कन्धों को ऊपर उठाए हुए केवल भगवान् शेषनाग का सिर ही [संसार में] उद्धुरता [संसार के धारण करने की क्षमता] को धारण कर सकता है। जिसके कभी अनायास तनिक-सा भी नीचे झुक जाने पर यह सारे लोक-लोकान्तर भयङ्कर रूप से हिलते हुए आकाश में इधर-उधर लुढ़कने लगते हैं॥८२॥

यहाँ 'उद्धुरता' अर्थात् [सारे जगत् की] धारण रूप क्रिया, कर्ता अर्थात् सर्पराज शेषनाग के मस्तक, के प्रस्तुत [जगत् के धारण रूप कार्य के] औचित्य के माहात्म्य से [उद्धुरता रूप क्रिया] जितनी अन्तरङ्गता को प्राप्त हो रही है उतनी [अन्तरङ्गता या सौन्दर्य को] अन्य कोई [क्रिया] प्राप्त नहीं हो सकती है। इसलिए वह 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' को उत्पन्न कर रही है।

अथवा जैसे [इसी का दूसरा उदाहरण]—

किं शोभिताहमनयेति पिनाकपाणेः
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः ॥८३॥[1]

अत्र चुम्बनव्यतिरेकेण भगवता तथाविधलोकोत्तरं गौरीशोभातिशयाभिधानं न केनचित् क्रियान्तरेण कर्तुं पार्यत इति क्रियावैचित्र्यनिबन्धनं वक्रभावमावहति।

यथा च—

रुद्दस्स तइअणअणं पव्वइपरिचुम्बिअं जअइ ॥८४॥
[रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति। इतिच्छाया]

यथा वा—

यह श्लोक पहिले उदा० १, ८१ पर आ चुका है। और मूलतः कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग का ३३वाँ श्लोक है।

क्या मैं इस [चन्द्रलेखा के धारण कर लेने] से सुन्दर लगती हूँ इस प्रकार [पार्वती द्वारा] पूछे गए शिव जी का [उस प्रश्न के उत्तर में पार्वती के मस्तक में जहाँ चन्द्रलेखा बँधी थी उस स्थान का] चुम्बन [कर लेना] रूप उत्तर तुम्हारी रक्षा करे ॥८३॥

यहाँ पार्वती के उस प्रकार लोकोत्तर सौन्दर्य का शिव जी के द्वारा कथन, चुम्बन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की क्रिया से करना सम्भव नहीं था। इसलिए वह क्रियावैचित्र्य मूलक वक्रभाव सौन्दर्यातिशय को [धारण] उत्पन्न कर रहा है।

और जैसे—

यह श्लोक गाथासप्तशती का ४५५वाँ श्लोक है। काव्य प्रकाश में उदा० सं० ९७ पर उद्धृत हुआ है। और वक्रोक्तिजीवित में भी इसके पूर्व उदा० १, ५८ पर उद्धृत किया जा चुका है।

पार्वती के द्वारा चूमा गया महादेव का तीसरा नेत्र सर्वोत्कर्ष युक्त है ॥८४॥

अथवा जैसे—

---

१. कुमारसम्भव ३, ३३। प्रथमोन्मेष उदा० ८१ पर भी यह उद्धृत हुआ है। परन्तु वहाँ 'पिनाकपाणेः' के स्थान पर 'शशाङ्कमौलेः' पाठ दिया गया है।

सिढिलिअचाओ जअइ मअरद्धओ ॥८५॥
[शिथिलीकृतचापो जयति मकरध्वजः । इतिच्छाया]

एतयोर्वैचित्र्यं पूर्वमेव व्याख्यातम् ।

अयमपरः क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रकारः 'कर्त्रन्तरविचित्रता' । अन्यः कर्ता कर्त्रन्तरम्, तस्माद्विचित्रता वैचित्र्यम् । प्रस्तुतत्वात् सजातीयत्वाच्च कर्तुरेव । एतदेव च तस्य वैचित्र्यं यत् क्रियामेव कर्त्रन्तरापेक्षया विचित्रस्वरूपां सम्पादयति यथा—

नैकत्र शक्तिविरतिः क्वचिदस्ति सर्वे
भावाः स्वभावपरिनिष्ठिततारतम्याः ।
आकल्पमौर्वदहनेन निपीयमान-
मम्भोधिमेकचुलकेन पपावगस्त्यः ॥८६॥

अत्रैकचुलुकेनाम्भोधिपानं सतताध्यवसायाभ्यासकाष्ठाधिरूढ़िप्रौढ़ाद्वाड़वाग्नेः किमपि क्रियावैचित्र्यमुद्वहत् कामपि वक्रतामुन्मीलयति ।

चाप को शिथिल किए हुए कामदेव सर्वोत्कर्षयुक्त है ॥८५॥

इन दोनों के वैचित्र्य की व्याख्या पहिले ही [क्रमशः पृष्ठ उदा० १, ५८ तथा १, ६१ पर] कर चुके हैं ।

२—यह क्रियावैचित्र्यवक्रता का [दूसरा] और भी प्रकार है [जिसे कारिका में] 'कर्त्रन्तरविचित्रता' [कहा है] । कर्त्रन्तर [का अर्थ है] दूसरा कर्ता । उसके कारण [होने वाली] विचित्रता या वैचित्र्य [होता है] । प्रस्तुत और सजातीय [कर्तृ जातीय] होने से [वह कर्त्रन्तर विचित्रता] कर्ता की ही [विचित्रता होती] है। और उसकी विचित्रता इतनी ही है कि वह अन्य कर्ता की अपेक्षा क्रिया को ही विचित्र रूप से [विशेष सुन्दरता के साथ] सम्पादित करता है । जैसे—

किसी एक ही जगह शक्ति की समाप्ति नहीं होती है । सभी पदार्थ [अपने-अपने] स्वभाव से [भले-बुरे कम-अधिक आदि] तारतम्ययुक्त होते हैं । बड़वानल के द्वारा सृष्टि के आदि से पिए जाने [पर भी समाप्त न होने] वाले समुद्र को अगस्त्य मुनि एक ही चुल्लू में पी गए ॥८६॥

यहाँ एक चुल्लू में समुद्र का पी जाना, निरन्तर प्रयत्न और अभ्यास से चरमोत्कर्ष को प्राप्त बाड़वाग्नि की अपेक्षा [भी, उससे भी अधिक] किसी अनिर्वचनीय क्रियावैचित्र्य को धारण करता हुआ किसी अपूर्व सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है ।

यथा वा—

प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥८७॥

यथा वा—

स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥८८॥

एतयोर्वैचित्र्यं पूर्वमेव प्रदर्शितम् ।

अयमपरः क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रभेदः, 'स्वविशेषणवैचित्र्यम्' । मुख्यतया प्रस्तुतत्वात् क्रियायाः स्वस्यात्मनो यद्विशेषणं भेदकं तेन वैचित्र्यं विचित्रभावः । यथा—

इत्युद्गते शशिनि पेशलकान्तिदूती-
संलापसम्वलितलोचनमानसाभिः ।
अग्राहि मण्डनविधेर्विपरीतभूषा-
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥८९॥[1]

अथवा जैसे—

शरणागतों [अथवा दुःखितों] के दुःख को मिटाने वाले नाखून ॥८७॥

अथवा जैसे—

शिवजी के बाण की वह अग्नि तुम्हारे दुःखों को दूर करे ॥८८॥

इन दोनों की विचित्रता पहिले ही [क्रमशः उदा० १, ५९ और १, ६० पर] दिखला चुके हैं । [वहाँ से देख लेना चाहिए] ।

३—यह 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' का [तीसरा] और भेद है । अपने विशेषण की विचित्रता । मुख्य रूप से प्रस्तुत [वर्ण्यमान] होने से क्रिया का अपना जो विशेषण अर्थात् भेदक उसके कारण जो वैचित्र्य अर्थात् सुन्दरता [वह भी क्रिया-वैचित्र्यवक्रता का तीसरा भेद है] । जैसे—

इस प्रकार [सन्ध्या के समय] चन्द्रमा के उदय होने पर स्त्रियों नें सुन्दर कान्ति वाली दूती के साथ बात करने में नेत्र और मन लगे होने के कारण विपरीत भूषा के विन्यास से [अर्थात् अन्य स्थान पर पहिने जाने वाले आभूषण को अन्य स्थान पर पहिन लेने से] सखी जनों को हँसाते हुए आभूषण धारण की विधि को ग्रहण किया ।

---

१. काव्यमीमांसा पृ० ७० तथा दशरूपकावलोक २, ३८ तथा रसार्णव सुधाकर १, २७२ पर उद्धृत हुआ है ।

अत्र मण्डनविधिग्रहणलक्षणायाः क्रियाया विपरीतभूषाविन्यासहासितसखीजनमिति विशेषणेन किमपि सौकुमार्यमुन्मीलितम् । यस्मात्तथाविधादरोपरचितं प्रसाधनं यस्य व्यञ्जकत्वेनोपात्तं, मुख्यतया वर्ण्यमानवृत्तेर्वल्लभानुरागस्य सोऽप्यनेन सुतरां समुत्तेजितः ।

यथा वा—

मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥६०॥

अस्य वैचित्र्यं पूर्वमेवोदितम् । एतच्च क्रियाविशेषणं द्वयोरपि क्रियाकारकयोर्वक्रत्वमुल्लासयति । यस्माद्विचित्रक्रियाकारित्वमेव कारकवैचित्र्यम् ।

अर्थात् रात होने पर प्रियतम का मिलन-सन्देश पाकर सुन्दरियों ने सज-धज कर अपने प्रियतम के पास जाने के लिए बड़ी उत्सुकता से अलङ्कारों को पहिनना प्रारम्भ किया । परन्तु दूती के साथ बात करने में आँखें और मन तो उसकी ओर लगा हुआ था इसलिए कहीं का आभूषण कहीं और पहिन लिया इसको देखकर सखियों को हँसी आ रही थी ॥८६॥

यहाँ मण्डन-विधि के ग्रहण करने रूप क्रिया का 'विपरीतभूषाविन्यासहासितसखीजनम्' इस [क्रिया] विशेषण से कुछ अपूर्व सौन्दर्य प्रकट होता है । क्योंकि उस प्रकार का आदरपूर्वक [अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक] धारण किया हुआ अलङ्कार जिस [मुख्यतया वर्ण्यमान प्रियतम के अनुराग] के व्यञ्जक रूप में ग्रहण किया गया है वह [प्रियतम का अनुराग] भी इससे उत्तेजित होता है । [अधिक सुन्दर प्रतीत होता है] ।

अथवा जैसे [उदा० सं० १, ४६ पर पूर्व उद्धृत श्लोक में]—

चकितहरिणी के [नेत्रों के] समान मनोहर [नेत्र का प्रान्त भाग अर्थात्] कटाक्ष मेरे ऊपर किया ॥६०॥

इसका सौन्दर्य पहिले ही [उदा० १, ४६ पर] दिखला चुके हैं । यह क्रिया-विशेषण क्रिया तथा कारक दोनों के सौन्दर्य को बढ़ाने वाला होता है । [क्रियाविशेषण होने से क्रिया के सौन्दर्य को तो स्वभावतः बढ़ाता ही है । परन्तु] विचित्र क्रिया का करना ही कारक का सौन्दर्य है [इसलिए यह क्रियाविशेषण कारक के सौन्दर्य को भी बढ़ाने वाला होता है] ।

इदमपरं क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रकारान्तरम्—'उपचारमनोज्ञता'। उपचारः सादृश्यादिसमन्वयं समाश्रित्य धर्मान्तराध्यारोपस्तेन मनोज्ञता वक्रत्वम्। यथा—

तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ
प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं स्तनजघनमुन्मुद्रयति च।
दृशोर्लीलारम्भाः स्फुटमपवदन्ते सरलता-
महो सारङ्गाक्ष्यास्तरुणिमनि गाढः परिचय ॥६१॥[1]

अत्र 'स्खलदमललावण्यजलधौ' समुल्लसद्विमलसौन्दर्यसम्भारसिन्धौ परिस्फुरन्त्यपि स्पन्दतया प्लवमानत्वेन लक्ष्यमाणानि पारप्राप्तिमासादयितुं व्यवस्यन्तीवेति चेतनपदार्थसम्भविसादृश्योपचारात् तारुण्यतरलतरुणीगात्राणां

४—और यह [आगे कहे जाने वाला] 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' का और [चौथा] प्रकार है, 'उपचारमनोज्ञता'। उपचार का अर्थ सादृश्य आदि सम्बन्ध के आधार पर अन्य [पदार्थ] के धर्म का अध्यारोप करना। ['उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्] जैसे [उपचारवक्रता का उदाहरण]—

[तारुण्य का उदय होने पर वयःसन्धि में वर्तमान सुन्दरी के] अङ्ग [मानों झरने के रूप में ऊपर से] गिरते हुए स्वच्छ लावण्य के सागर में तैरते हुए-से प्रतीत होते हैं। [उसके] स्तन और नितम्ब विस्तार की प्रौढ़ता [आधिक्य] को [क्रमशः] खोल रहे हैं। और आँखों के चञ्चल व्यापार स्पष्ट रूप से [बाल्योचित] सरलता का अपवाद कर रहे हैं [अर्थात् वक्रता को प्रदर्शित कर रहे हैं]। अहो इस मृगनयनी का अब तारुण्य के साथ घनिष्ट परिचय हो गया है। [अब यह पूर्ण रूप से यौवन में प्रवेश कर चुकी है] ॥६१॥

यहाँ गिरते हुए निर्मल लावण्य के सागर में अर्थात् शोभायमान स्वच्छ सौन्दर्य सम्भार के सागर में गतिशील होने से चलते हुए-से, पार पहुँचने के लिए मानों तैरते हुए प्रयत्न-सा कर रहे हैं। इस चेतन पदार्थ में ही सम्भव होने वाले सादृश्य के कारण उपचार से चञ्चल तरुणियों के अङ्गों के तैरने की उत्प्रेक्षा की है।

---

१. सदुक्ति कर्णामृत २, ११ पृ० १२६ में इसे राजशेखर का श्लोक लिखा माना है। सूक्तिमुक्तावली ने इसे 'कुम्भक' का श्लोक लिखा है। हेमचन्द पृ० ३०२ तथा वाग्भट्ट [अलङ्कार तिलक] पृ० ६२ और माणिक्यचन्द्र पृ० २५ पर भी यह पद्य उद्धृत हुआ है।

तरणमुत्प्रेक्षितम् । उत्प्रेक्षायाश्चोपचार एव भूयसा जीवितत्वेन परिस्फुरतीत्युत्प्रेक्षावसर एव विचारयिष्यते ।

'प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं स्तनजघनमुन्मुद्रयति च' इति । अत्र स्तनजघनं कर्तृ प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं महत्वस्य प्रौढ़िमुन्मुद्रयत्युन्मीलयति । यथा कश्चिच्चेतनः किमपि रक्षणीयं वस्तु मुद्रयित्वा कमपि समयमवस्थाप्य समुचितोपयोगावसरे स्वयमुन्मुद्रयत्युद्घाटयति । तदेवं तत्कारित्वसाम्यात् स्तनजघनस्योन्मुद्रणमुपचरितम् । तदिदमुक्तं भवति—यत्, यदेव शैशवदशायां शक्त्यात्मना निमीलितस्वरूपममवस्थितमासीत् तस्य प्रथिम्नः प्रागल्भ्यस्य प्रथमतरतारुण्यावतारावसरसमुचितं प्रथनप्रसरं समर्पयति ।

'दृशोर्लीलारम्भाः स्फुटमपवदन्ते सरलताम्' इति, अत्र शैशवप्रतिष्ठितां

और उत्प्रेक्षा में अधिकतर उपचार ही उसकी जान होती है यह बात उत्प्रेक्षा के [विचार के] अवसर पर ही कहेंगे [विचार करेंगे] ।

[उस तरुणी के] 'स्तन और नितम्ब विस्तार के अतिशय को खोल रहे हैं' । यहाँ स्तन और नितम्ब [जघन] कर्ता [वाचक पद है] विस्तार के अतिशय को खोल रहे हैं । [यह जो कहा है उससे यह प्रतीत होता है कि] जैसे कोई चेतन किसी सुरक्षित रखने योग्य अपनी किसी वस्तु को कुछ समय तक [ढँककर] छिपाकर रखता है और उसके उपयोग के उचित अवसर पर अपने आप उघाड़ कर खोल देता है । उसी प्रकार उद्घाटन-कर्ता की समानता से स्तन और जघन में खोलने का उपचार से प्रयोग किया गया है । [वास्तव में स्तन और जघन अचेतन होने से स्वयं उद्घाटन नहीं कर सकते हैं] । इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो [स्तन और जघन के विस्तार] शैशव अवस्था में [आगे विस्तार प्राप्त करने की] शक्ति रूप से अव्यक्त रूप में स्थित थे [अव्यक्त रूप से स्थित स्तन और जघन] उस ही विस्तार के अतिशय को [प्रथमतर तारुण्य] नवयौवन के आने के समय [उन्मुद्रयति पद] उचित रूप से बोधित करता है ।

और 'आँखों की चपल चेष्टाएँ स्पष्ट रूप से सरलता का प्रतिवाद करती हैं' ।

यहाँ मूल में पूर्व संस्करण में अनवस्थितम् पाठ पाया जाता है । परन्तु उसकी अपेक्षा अवस्थितम् पाठ अधिक उपयुक्त है । इसलिए हमने अवस्थितम् पाठ ही रखा है ।

पूर्व संस्करण में यहाँ 'स्पष्टतां' पाठ पाया जाता है । परन्तु मल श्लोक जिसका प्रतीक यहाँ साथ ही दिया है में 'सरलतां' पाठ है । उसके अनुसार 'सरलतां' पाठ ही अधिक उपयुक्त है ऐसा मानकर हमने 'स्पष्टतां' की जगह 'सरलतां' पाठ दिया है ।

सरलतां प्रकटमेवापसार्य दृशोर्विलासोल्लासाः कमपि नवयौवनसमुचितं विभ्रममधिरोपयन्ति। यथा केचिच्चेतनाः कुत्रचिद्विषये कमपि व्यवहारं समासादितप्रसरमपसार्य किमपि स्वाभिप्रायाभिमतं परिस्पन्दान्तरं प्रतिष्ठापयन्तीति। तत्कारित्वसादृश्याल्लीलावतीविलोचनविलासोल्लासानां सरलत्वापवदनमुपचरितम्। तदेवंविधेनोपचारेणैतास्तिस्रोऽपि क्रियाः कामपि वक्रतामधिरोपिताः। वाक्येऽस्मिन्नपरेऽपि वक्रताप्रकाराः प्रतिपदं सम्भवन्तीत्यवसरान्तरे विचार्यन्ते ॥२४॥

इदमपरं क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रकारान्तरम्, 'कर्मादिसंवृतिः' कर्मप्रभृतीनां कारकाणां संवृतिः संवरणम्। प्रस्तुतौचित्यानुसारेण सातिशयप्रतीतये समाच्छाद्याभिधा। सा च क्रियावैचित्र्यकारित्वात् प्रकारत्वेनाभिधीयते।

कारणे कार्योपचाराद् यथा—

इस [वाक्य] में बाल्यावस्था में [आँखों में] स्थित सरलता को स्पष्ट रूप से हटा आँखों के हाव-भाव नवयौवन के अनुरूप किसी अपूर्व सौन्दर्य का आधान कर रहे हैं। जैसे कोई चेतन [व्यक्ति] किसी विषय में प्रचलित किसी व्यवहार को समाप्त करके अपने अभिप्राय के अनुसार किसी अन्य प्रकार के व्यवहार को स्थापित करते हैं उस अभिनव व्यवहार-कारित्व की समानता से सुन्दरियों के नेत्रों के हाव-भावों में सरलता के प्रतिवाद करने का औपचारिक प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के इस उपचार से [श्लोक के तीन चरणों में आई हुई 'तरन्ति', 'उन्मुद्रयति' तथा 'अपवदन्ते'] ये तीनों ही क्रियाएँ किसी अपूर्व सौन्दर्य को प्राप्त हो गई हैं। इस [श्लोक रूप] वाक्य में [इस तीन स्थानों की उपचारवक्रता के अतिरिक्त] अन्य भी वक्रता के प्रकार प्रत्येक पद में सम्भव हो सकते हैं [खोजे जा सकते हैं] इसका विचार किसी अन्य [उपयुक्त] अवसर पर करेंगे।

२—क्रियावैचित्र्यवक्रता का यह [पाँचवाँ] और भी प्रकार है 'कर्मादि का संवरण'। कर्म आदि कारकों की संवृति अर्थात् संवरण आच्छादन। अर्थात् प्रस्तुत [वर्ण्यमान वस्तु] के औचित्य के अनुसार [सौन्दर्य के] अतिशय की प्रतीति के लिए [वस्तु को] छिपाकर कहना। वह [भी] क्रिया के वैचित्र्य को करने वाला होता है इसलिए [क्रियावैचित्र्यवक्रता के] प्रकार [पञ्चम भेद] के रूप में बतलाया गया है।

कारण में कार्य के उपचार [गौण व्यवहार] से [कर्मादि संवृति रूप 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' का उदाहरण] जैसे—

नेत्रान्तरे मधुरमर्पयतीव किञ्चित्
कर्णान्तिके कथयतीव किमप्यपूर्वम् ।
अन्तः समुल्लिखति किञ्चिदिवायताक्ष्याः
रागालसे मनसि रम्यपदार्थलक्ष्मीः ॥६२॥

अत्र तदनुभवैकगोचरत्वादनाख्येयत्वेन किमपि सातिशयं प्रतिपदं कम सम्पादन्त्यः क्रियाः स्वात्मनि कमपि वक्रभावमुद्भावयन्ति । उपचारमनोज्ञताऽप्यत्र विद्यते । यस्मादर्पणकथनोल्लेखान्युपचारनिबन्धनान्येव चेतनपदार्थधर्मत्वात् । यथा च—

नृत्तारम्भाद्विरतरभसस्तिष्ठ तावन्मुहूर्तं
यावन्मौलौ श्लथमचलतां भूषणं ते नयामि ।
इत्याख्याय प्रणयमधुरं कान्तया योज्यमाने
चूडाचन्द्रे जयति सुखिनः कोऽपि शर्वस्य गर्वः ॥६३॥

बड़ी-बड़ी आँखों वाली सुन्दरी के हृदय में प्रेम की मादकता उत्पन्न हो जाने पर [किसी भी] सुन्दर पदार्थ का सौन्दर्य उसकी आँखों में को कुछ अपूर्व मधुरता प्रदान करता है, कानों में कुछ अपूर्व [मधुर प्रिय बात] कहता सा है और मन के भीतर कुछ अद्भुत कसक-सी पैदा कर देता है ॥६२॥

यहाँ केवल उस [सुन्दरी] के अनुभव गोचर होने से, वर्णन करने के अयोग्य अनिर्वचनीय किसी सातिशय वस्तु को प्रत्येक पद से प्रतिपादन करती हुई [अर्पयति, कथयति और उल्लिखति] क्रियाएँ अपने भीतर किसी अपूर्व सौन्दर्य को उत्पन्न कर देती हैं । [इस 'अर्पयति', 'कथयति' और 'समुल्लिखति' तीनों क्रियाओं के कर्म का शब्दतः कथन न करके 'किमपि' सर्वनाम से समाच्छादित रूप में कथन किया गया है । इसलिए यह कर्मादिसंवृति रूप क्रियावैचित्र्यवक्रता के पञ्चम भेद का उदाहरण है । इसके अतिरिक्त इस उदाहरण में] यहाँ उपचारवक्रता भी विद्यमान है । क्योंकि [अर्पयति आदि तीनों क्रियाओं में] अर्पण, कथन उल्लेखन [पद] उपचारमूलक ही [प्रयुक्त] है । [वस्तुतः इन क्रियाओं के] चेतन [पदार्थों] का [ही] धर्म [सम्भव] होने से ।

और जैसे—

जरा ठहरो, तुम्हारे शिर का आभूषण [चन्द्रकला] ढीला हो गया है उसे जरा कस दूँ, इस प्रकार प्रेम से मीठी तरह से कहकर प्रियतमा पार्वती के द्वारा सिर पर चन्द्रकला के बाँधे जाने पर आनन्दित शिवजी का कोई अपूर्व अभिमान सर्वोत्कर्षयुक्त है ॥६३॥

अत्र 'कोऽपि' इत्यनेन सर्वनामपदेन तदनुभवैकगोचरत्वादव्यपदेश्यत्वेन सातिशयः 'शर्वस्य गर्व' इति कर्तृसंवृतिः । 'जयति' सर्वोत्कर्षेण वर्तते इति क्रियावैचित्र्यनिबन्धनम् ।

इत्ययं पूर्वपादार्धवक्रभावो व्यवस्थितः ।
दिङ्मात्रमेवमेतस्य शिष्टं लक्ष्ये निरूप्यते ॥६४॥

इति संग्रहश्लोकः ॥२५॥

तदेवं सुप्तिङन्तयोर्द्वयोरपि पदपूर्वार्द्धस्य प्रातिपदिकस्य धातोश्च यथायुक्ति वक्रतां विचार्येदानीं तयोरेव यथास्वमपरार्द्धस्य प्रत्ययलक्षणस्य वक्रतां विचारयति । तत्र क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः समनन्तरसम्भविनः क्रमसमन्वितत्वात् कालस्य वक्रत्वं पर्यालोच्यते, क्रियापरिच्छेदकत्वात् तस्य ।

औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम् ।
याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता ॥२६॥

यहाँ [इस श्लोक में] 'कोऽपि' इस सर्वनाम पद से केवल उन [शिवजी] के ही अनुभव का विषय होने से अवर्णनीय अतिशययुक्त शिवजी का अभिमान है, इस रूप में [कोऽपि पद से] कर्ता का संवरण किया गया है । और वह 'जयति' सर्वोत्कर्षयुक्त है इस 'क्रियावैचित्र्य' का कारण है ।

इस प्रकार पदपूर्वार्द्धवक्रता सिद्ध हुई । यहाँ उसका केवल दिङ्मात्र प्रदर्शन किया गया है । शेष [विशेष विस्तार] लक्ष्य [काव्यों] में पाया जाता है ॥६४॥

यह [पदपूर्वार्द्धवक्रता के निरूपण के अन्त में उपसंहार रूप अन्तरश्लोक] संग्रहश्लोक है ॥२५॥

३—प्रत्यय-वक्रता [१ कालवैचित्र्यवक्रता]

इस प्रकार [यहाँ तक] सुबन्त तथा तिङन्त दोनों ही प्रकार के पदों के पूर्वार्द्ध अर्थात् प्रातिपदिक और धातु की यथायोग्य [११ प्रकार की पदपूर्वार्द्धवक्रता] वक्रता का विचार करके अब उन्हीं [सुबन्त और तिङन्त रूप पदों] के प्रत्यय रूप उत्तरार्द्ध की वक्रता का विचार करते हैं । उनमें से क्रियावैचित्र्य के बाद उपस्थित होने वाले अतएव क्रमप्राप्त काल की वक्रता का विचार [पहिले] करते हैं । उस [काल] के क्रिया परिच्छेदक रूप होने से ।

जहाँ औचित्य की अन्तरतमता से काल [विशेष] रमणीयता को प्राप्त हो जाता है वह 'कालवैचित्र्यवक्रता' होती [कहलाती] है ।

एषा प्रक्रान्तस्वरूपा भवत्यस्ति कालवैचित्र्यवक्रता। कालो वैयाकरणादि-प्रसिद्धो वर्तमानादिर्लट्प्रभृतिप्रत्ययवाच्यो यः पदार्थानामुदयतिरोधान-विधायी। तस्य वैचित्र्यं विचित्रभावस्तथाविधत्वेनोपनिबन्धस्तेन वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः। कीदृशी, यत्र यस्यां समयः कालाख्यो रमणीयतां याति रामणीयकं गच्छति। केन हेतुना 'औचित्यान्तरतम्येन'। प्रस्तुतत्वात् प्रस्तावाधिकृतस्य वस्तुनो यदौचित्यमुचितभावस्तस्यान्तरतम्येनान्तरङ्गत्वेन। तदतिशयोत्पादकत्वेनेत्यर्थः।

यथा—

समविसमणिव्विसेसा समंतदो मंदमंदसंचारा।
अइरा होहिंति पहा मणोरहाणं पि दुल्लंघा ॥९५॥[1]
[समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः।
अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः ॥ इतिच्छाया]

यह जिसके स्वरूप का [वर्णन] आरम्भ कर रहे हैं यह 'कालवैचित्र्यवक्रता' होती है अर्थात् है। काल [शब्द से यहाँ] वैयाकरण आदि [के सिद्धान्त] में प्रसिद्ध, लट् आदि [लकारों में होने वाले] प्रत्ययों से वाच्य, पदार्थों के उदय और तिरोधान का कराने वाला वर्तमान [भूत भविष्यत्] आदि [अभिप्रेत] है। उसका वैचित्र्य अर्थात् उस [विशेष] प्रकार से रचना रूप विचित्रता, उससे जो वक्रता अर्थात् बाँकपन का सौन्दर्य [वह कालवैचित्र्यवक्रता होती है]। कैसी—जहाँ जिसमें काल पद वाच्य समय रमणीयता को प्राप्त होता है सुन्दरता का जनक हो जाता है। किस कारण से—औचित्य के अन्तरतम होने से, प्रस्तुत होने से, प्रकरण में अधिकृत [मुख्य रूप से वर्ण्यमान] वस्तु का जो औचित्य उचित रूपता उसके अन्तरतम अर्थात् अन्तरङ्ग होने से। अर्थात् उसके अतिशय का उत्पादक होने से।

जैसे—

[वर्षाकाल में सब रास्तों में पानी भर जाने पर] ऊँचे नीचे के भेद से रहित [जिनमें पृथ्वी के पानी में डूबे होने के कारण ऊँचे खाले का भेद प्रतीत नहीं होता है] अत्यन्त कम [संख्या में] चल सकने योग्य [अथवा जहाँ चला जाय वहाँ भी कीचड़ आदि के कारण संभलकर अत्यन्त मन्द गति से चलने योग्य] शीघ्र ही सारे रास्ते मनोरथ से भी अगम्य हो जावेंगे ॥९५॥

---

१. गाथासप्तशती सं० ६७५, ध्वन्यालोक पृ० २८३ पर उद्धृत।

अत्र बल्लभाविरहवैधुर्यैकातरान्तःकरणेन भाविनः समयस्य सम्भावनानुमानमाहात्म्यमुत्प्रेक्ष्य उद्दीपनविभावत्वविभवविलसितं तत्परिस्पन्दसौन्दर्यसन्दर्शनासहिष्णुना किमपि भयविसंष्ठुलत्वमनुभूय शङ्काकुलत्वेन केनचिदेतद्भिधीयते—यदचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामप्यलङ्घनीया इति भविष्यत्कालाभिधायी प्रत्ययः काममप्यपरार्धवक्रतां विकासयति ।

यथा वा—

यावत् किञ्चिदपूर्वमार्द्रमनसामावेदयन्तो नवाः
सौभाग्यातिशयस्य कामपि दशां गन्तुं व्यवस्यन्त्यमी ।
भावास्तावदनन्यजस्य विधुरः कोऽप्युद्यमो जृम्भते
पर्याप्ते मधुविभ्रमे तु किमयं कर्तेति कम्पामहे ॥९६॥

[यह श्लोक गाथासप्तशती का ६७५वाँ श्लोक है । ध्वन्यालोक में भी पृष्ठ २८३ पर उद्धृत हुआ है] यहाँ अपनी प्रियतमा के विरह से दुःखी होने के कारण आगे आने वाले [वर्षा ऋतु के] समय की सम्भावना के अनुमान के माहात्म्य की कल्पना करके उद्दीपन विभाव के सामर्थ्य से युक्त उस प्रकार के [वर्षाकाल के] सौन्दर्य को देख सकने में असमर्थ अनिर्वचनीय भयजन्य अव्यवस्था को अनुभव करके शङ्कित किसी व्यक्ति के द्वारा यह [श्लोक] कहा जा रहा है कि शीघ्र ही रास्ते मनोरथों के लिए अलङ्घनीय हो जावेंगे । इस प्रकार भविष्यत् काल का बोधक [स्य], प्रत्यय किसी अपूर्व अपरार्द्धवक्रता [प्रत्ययवक्रता] को प्रकट कर रहा है ।

अथवा जैसे—

अभी जब तक [वसन्त ऋतु के आरम्भ में] नवीन [शोभायुक्त] ये पदार्थ सहृदयों के मन में कुछ अपूर्व गुदगुदी को उत्पन्न करते हुए सौन्दर्य के अतिशय की किसी अनिर्वचनीय दशा को प्राप्त करने के लिए तैयारी कर रहे हैं [ऋतु सन्धि होने के कारण अभी वसन्त का पूर्ण विकास न होने से वसन्तोचित सौन्दर्य को प्राप्त नहीं हुए हैं] तब तक ही कामदेव का कुछ अपूर्व मनोहर उद्योग प्रारम्भ हो गया है । जब वसन्त का वैभव पूर्ण रूप से आवेगा तब वह क्या [क्या अनर्थ] करेंगे इससे [यह सोचकर] हम [डर के मारे] काँप रहे हैं ॥९६॥

अत्र 'व्यवस्यन्ति' 'जृम्भते' 'कर्ता' 'कम्पामहे' चेति प्रत्ययाः प्रत्येकं प्रतिनियतकालाभिधायिनः कामपि पदपरार्धवक्रतां प्रख्यापयन्ति । तथा च —प्रथमावतीर्णमधुसमयसौकुमार्यसमुल्लसितसुन्दरपदार्थसार्थसमुन्मेषसमुद्दीपितसहजविभवविलसितत्वेन मकरकेतोर्मनाङ्मात्रमाधवसानाथ्यसमुल्लसितातुलशक्तेः सरसहृदयविधुरताविधायी कोऽपि संरम्भः समुज्जृम्भते । तस्माद्नेनानुमानेन परं परिपोषमधिरोहति कुसुमाकरविभवविभ्रमे, मानिनीमानदलनदुर्ललितसमुदितसहजसौकुमार्यसम्पत्सञ्जनितसमुचितजिगीषावसरः किमसौ विधास्यतीति विकल्पयन्तस्तत्कुसुमशरनिकरनिपातकातरान्तःकरणाः किमपि कम्पामहे चकितचेतसः सम्पद्यामहे इति प्रियतमाविरहविधुरचेतसः सरसहृदयस्य कस्यचिदेतदभिधानम् ॥२६॥

एवं कालवक्रतां विचार्य क्रमसमुचितावसरां कारकवक्रतां विचारयति—

यहाँ 'व्यवस्यन्ति', 'जृम्भते', 'कर्ता', और 'कम्पामहे' इनमें से प्रत्येक प्रत्यय एक नियत काल का बोधक होकर पदों के उत्तरार्ध की कुछ अद्‌भुत वक्रता [प्रत्यय-वक्रता] को प्रकाशित करते हैं । जैसे कि [इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि] नए-नए आए हुए वसन्त ऋतु के सौन्दर्य से शोभित सुन्दर पदार्थों के समूह के विकास से समुद्दीपित स्वाभाविक उद्दीपन विभावों के विलास से वसन्त के अभी नाम-मात्र के सहयोग से अतुल शक्ति को प्राप्त कर लेने वाले कामदेव का सहृदयों को खिन्न करने वाला कोई अपूर्व वेग उत्पन्न हो गया है । इसलिए [जब इस समय वसन्त के आरम्भ में ही कामदेव की यह दशा हो रही है तब आगे वसन्त का पूर्ण साम्राज्य होने पर कामदेव न जाने क्या करेगा] इस अनुमान से [आगे चल कर] कामदेव के चरम उत्कर्ष के पहुँचने के समय पर मानिनियों के मान भङ्ग करने के कारण अभिमानयुक्त स्वाभाविक सौकुमार्य सम्पत्ति के उदय हो जाने पर और विजय प्राप्ति का [वसन्त रूप] उचित अवसर पाकर यह [कामदेव न जाने] क्या करेगा ऐसा सोचकर कामदेव के बाणों के प्रहार से भयभीत अन्तःकरण वाले हम कुछ कम्पित अर्थात् चकित चित्त हो रहे हैं । यह प्रियतमा के विरह से दुःखी हृदय वाले किसी सहृदय का कथन है ॥२६॥

१३—कारक वक्रता [पद उत्तरार्द्ध-प्रत्यय-वक्रता २]

इस प्रकार कालवक्रता का विचार करके क्रम-प्राप्त 'कारकवक्रता' का विचार करते हैं—

यत्र कारकसामान्यं प्राधान्येन निबध्यते।
तत्त्वाध्यारोपणान्मुख्यगुणभावाभिधानतः ॥२७॥
परिपोषयितुं काञ्चिद् भङ्गीभणितिरम्यताम्।
कारकाणां विपर्यासः सोक्ता कारकवक्रता ॥२८॥

'सोक्ता कारकवक्रता' सा कारकवक्रत्वविच्छित्तिरभिहिता। कीदृशी—'यस्यां कारकाणां विपर्यासः' साधनानां विपरिवर्तनं, गौणमुख्ययोरितरेतरत्वापत्तिः। कथम्, यत् कारकसामान्यं मुख्यापेक्षया करणादि तत् प्राधान्येन मुख्यभावेन प्रयुज्यते। कया युक्त्या—'तत्त्वाध्यारोपणात्'। तदिति मुख्यपरामर्शः, तस्य भावस्तत्त्वं, तदध्यारोपणात। मुख्यभावसमर्पणात्। तदेवं मुख्यस्य का व्यवस्थेत्याह—'गुणभावाभिधानतः'। मुख्यस्य यो गुणभावस्तदभिधानात

जहाँ कारक-सामान्य [अप्रधान गौण कारक] को [उसमें तत्त्व] मुख्यत्व का अध्यारोप करके प्राधान्येन, अथवा मुख्य [कारक में तत्त्व अर्थात् गौणत्व का अध्यारोप करके] को गौण रूप से कथन किया जाता है [वह कारकवैचित्र्यवक्रता होती है] ॥२७॥

[और जहाँ] किसी कथन शैली की रमणीयता को परिपुष्ट करने के लिए कारकों का विपर्यास [अर्थात् कर्ता को कर्म या करण बना देना अथवा कर्म या करण को कर्ता बनाकर प्रयोग करना] होता है वह [भी दूसरे प्रकार की] 'कारक-वैचित्र्यवक्रता' कही जाती है ॥२८॥

वह 'कारकवक्रता' कहलाती है। वह 'कारकवैचित्र्य' की वक्रता कही गई है। कैसी कि—जिसमें कारकों का विपर्यास अर्थात् साधनों का परिवर्तन अर्थात् गौण का मुख्यत्व और मुख्य का गौणत्व हो जाता है। कैसे कि—जो कारक सामान्य अर्थात् मुख्य [कारक] की अपेक्षा से [गुणीभूत] करण आदि [रूप अमुख्य साधन] है उसका प्रधान रूप से अर्थात् मुख्य रूप से प्रयोग किया जाय। किस युक्ति से—तत्त्व के अध्यारोपण से। तत् पद से मुख्य का ग्रहण होता है। उस [मुख्य] का भाव मुख्यत्व तत्त्व [शब्द का अर्थ] है। उसके अध्यारोप से अर्थात् मुख्य भाव के आरोप से। [अर्थात् गौण कारक सामान्य में मुख्य भाव का आरोप करके प्राधान्येन उसका वर्णन एक प्रकार की कारकवक्रता हुई]। तब फिर मुख्य की क्या व्यवस्था होगी, यह कहते हैं। मुख्य के गुणभाव के कथन से। मुख्य का

अमुख्यत्वेनोपनिबन्धादित्यर्थः। किमर्थम्—'परिपोषयितुं काञ्चिद् भङ्गीभणितिरम्यताम्'। काञ्चिदपूर्वां विच्छित्युक्तिरमणीयतामुल्लासयितुम्। तदेवमचेतनस्यापि चेतनसम्भविस्वातंत्र्यसमर्पणादमुख्यस्य करणादेर्वा कर्तृत्वाध्यारोपणाद्यत्र कारकविपर्यासश्चमत्कारकारी सम्पद्यते। यथा—

याञ्चां दैन्यपरिग्रहप्रणयिनीं नेक्ष्वाकवः शिक्षिताः
सेवासंवलितः कदा रघुकुले मौलौ निबद्धोऽञ्जलिः।
सर्वं तद्विहितं तथाप्युदधिना नैवापरोधः कृतः
पाणिः सम्प्रति मे हठात् किमपरं स्प्रष्टुं धनुर्धावति ॥६७॥'

अत्र पाणिना धनुर्गहीतुमिच्छामीति वक्तव्ये पाणेः करणभूतस्य कर्तृत्वाध्यारोपः कामपि कारकवक्रतां प्रतिपद्यते।

जो गौणभाव है उसके कथन से अर्थात् अमुख्यत्वेन वर्णन से। किसलिए कि—किसी अपूर्व वर्णन-शैली को परिपुष्ट करने के लिए। किसी अपूर्व सुन्दर कथन-शैली को विकसित करने के लिए। इस प्रकार—अचेतन में भी चेतन में रहने वाले स्वातन्त्र्य को प्रतिपादन करते हुए अप्रधान अथवा करण आदि [कारक] में कर्तृत्व के अध्यारोप से जहाँ कारक विपर्यास चमत्कारकारी प्रतीत होता है। [वह कारक-वैचित्र्यवक्रता कहलाती है] जैसे—

यह श्लोक महानाटक के चतुर्थ अङ्क का ७८वाँ श्लोक है। सरस्वती कण्ठाभरण में पृ० ५२ पर उद्धृत हुआ है। समुद्र पर पुल बाँधने के पूर्व समुद्र में से लङ्का जाने का रास्ता न मिलने पर क्रुद्ध होकर रामचन्द्र जी कह रहे हैं कि—

दीनता और दान को ग्रहण करने वाली याचना करना इक्ष्वाकुवंशियों ने कभी नहीं सीखा। और रघुवंश में किसी ने सेवा-भाव के सूचक हाथ जोड़ने की क्रिया कब की है [अर्थात् रघुवंशियों ने कभी किसी के सामने हाथ नहीं जोड़े और न किसी से भीख माँगना सीखा है। लेकिन आज इस समुद्र के सामने मैंने] वह सब [भी] किया [समुद्र से रास्ता देने की याचना भी की, उसके हाथ भी जोड़े] परन्तु समुद्र ने [हमारे लिए रास्ता] खोला नहीं, तब अब और क्या किया जाय, विवश होकर मेरा हाथ धनुष को उठाने के लिए बढ़ रहा है ॥६७॥

यहाँ 'मैं हाथ में धनुष उठाना चाहता हूँ' इस कहने के स्थान पर करण रूप हाथ पर कर्तृत्व का अध्यारोप [करके 'पाणिः धनुः स्प्रष्टुं धावति' यह प्रयोग करना] किसी अपूर्व कारकवक्रता को प्राप्त करा देता है।

---

१. महानाटक ४, ७८। सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० ५२ पर उद्धृत।

यथा वा—

स्तनद्वन्द्वम्, इत्यादौ ॥९८॥

यथा वा—

> निष्पर्यायनिवेशपेशलरसैरन्योन्यनिर्भर्त्सिभि-
> र्हस्ताग्रैर्युगपन्निपत्य दशभिर्वामैर्घृतं कार्मुकम् ॥
> सव्यानां पुनरप्रथीयसि विधावस्मिन् गुणारोपणे
> मत्सेवाविदुषामहम्प्रथमिका काप्यम्बरे वर्तते ॥९९॥[1]

अत्र पूर्ववदेव कर्तृत्वाध्यारोपनिबन्धनं कारकवक्रत्वम्।

यथा वा—

बद्धस्पर्द्धं इति ।१००।२८॥

अथवा जैसे—

[पहिले उदा० सं० १, ६५ पर उद्धृत] 'स्तनद्वन्द्वं' इत्यादि [श्लोक] में [अचेतन वाष्प-निवह रूप करण में कर्तृत्व का अध्यारोप भी कारकवक्रता का उदाहरण होता है] ॥९८॥

अथवा जैसे—

यह श्लोक राजशेखरकृत बालरामायण नाटक के प्रथम अङ्क का ५०वाँ श्लोक है। सीता-स्वयम्बर के समय शिव धनुष को पकड़कर प्रत्यञ्चा चढ़ाने के लिए उद्यत हुए रावण की उक्ति है। रावण कह रहा है कि—

[मेरी बीस भुजाओं में से] एक दूसरे को टोकते हुए एक साथ [बिना पर्याय के] धनुष को छूने के कारण [पेशलरसैः] प्रसन्न, मेरे दस बाएँ हाथों ने धनुष को पकड़ लिया है अब प्रत्यञ्चा के आरोपण के छोटे-से कार्य में [सहायता करने के लिए] मेरी सेवा करने में चतुर दाहिने दसों हाथों की पहिले मैं आऊँ पहिले मैं आऊँ, इस प्रकार की आकाश में कुछ अपूर्व स्पर्धा [अहम्प्रथमिका] हो रही है ॥९९॥

यहाँ भी पहिले के समान ही [करण भूत बांए हाथों में धनुर्ग्रहण तथा दांए हाथों में अहम्प्रथमिका के प्रति] कर्तृत्व के अध्यारोप के कारण कारकवक्रता है।

अथवा जैसे [पहिले उदा० सं० १, ६६ पर उद्धृत]—

[तुम्हारे फरसे के साथ] स्पर्धा करने में [मेरी तलवार लज्जित होती है] ॥१००॥

यहाँ तलवार में कर्तृत्व के अध्यारोप से कारकवक्रता होती है ॥२८॥

---

१. बालरामायण १, ५०।

एवं कारकवक्रतां विचार्य क्रमसमन्वितां संख्यावक्रतां विचारयति । तत्-परिच्छेदकत्वात् संख्यायाः—

कुर्वन्ति काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः ।
यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदुः ॥२९॥

यत्र यस्यां कवयः काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः स्वकर्मविचित्रभावाभिधित्सापरवशाः संख्याविपर्यासं वचनपरिवर्तनं कुर्वन्ति विदधते, तां संख्यावक्रतां विदुः । तद्वचनवक्रत्वं जानन्ति तद्विदः । तदयमत्रार्थः यदेकवचने द्विवचने वा प्रयोक्तव्ये वैचित्र्यार्थं वचनान्तरं यत्र प्रयुज्यते, भिन्नवचनयोर्वा यत्र सामानाधिकरण्यं विधीयते ।

१४—संख्या वक्रता [पद उत्तरार्द्ध–प्रत्ययवक्रता ३]

इस प्रकार कारकवक्रता का विचार करके क्रम से प्राप्त 'संख्यावक्रता' का विचार करते हैं । संख्या के कारक का परिच्छेदक [एक दो तीन आदि रूप में नियमित करने वाली] होने से [कारकवक्रता के बाद संख्यावक्रता या वचनवक्रता का विचार करते हैं] ।

जहाँ जिस [वक्रता] में कवि लोग काव्य में वैचित्र्य के वर्णन की इच्छा के परतन्त्र होकर संख्या [वचन] का परिवर्तन कर देते हैं उसको 'संख्यावक्रता' [या वचनवक्रता] कहते हैं ।

इसका यह अभिप्राय है कि कभी-कभी एकवचन द्विवचन के स्थान पर बहुवचन या बहुवचन के स्थान पर एकवचन आदि का प्रयोग करने से काव्य में विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है । ऐसी दशा में कुन्तक उसको 'संख्या-वक्रता' या 'वचन-वक्रता' कहते हैं ।

जहाँ जिस [वक्रता] में काव्य के वैचित्र्य की विवक्षा के आश्रित होकर अर्थात् [कवि] अपने कर्म [अर्थात् काव्य] के विचित्र भाव के प्रतिपादन करने की इच्छा के आश्रित होकर संख्या का विपर्यास अर्थात् वचन का परिवर्तन कर देते हैं उसको 'संख्यावक्रता' कहते हैं । अर्थात् विद्वान् लोग उसको 'वचनवक्रता' कहते हैं । इसका यहाँ यह अभिप्राय हुआ कि [जहाँ] एकवचन अथवा द्विवचन के प्रयोग करने के स्थान पर वैचित्र्य के लिए अन्य वचन का प्रयोग किया जाता है, अथवा भिन्न वचन वाले दो शब्दों का सामानाधिकरण्य कर दिया जाता है [उसका नाम 'वचनवक्रता' या 'संख्यावक्रता' होता है] ॥२९॥

यथा—

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निःपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः ।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पः स्तनतटीं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ॥१०१॥

अत्र 'न त्वहम्' इति वक्तव्ये 'न तु वयम्' इत्यन्तरङ्गत्वप्रतिपादनार्थं ताटस्थ्यप्रतीतये बहुवचनं प्रयुक्तम् ।

यथा वा—

वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥१०२॥

जैसे—

यह श्लोक अमरुकशतक का ८५वाँ श्लोक है । सुभाषितावली में सं० १६८७ पर कवीन्द्रवचनामृत में ३७७ पर, सदुक्तिकर्णामृतम् में २, २४५ और ध्वन्यालोक में पृष्ठ १४६ पर उद्धृत हुआ है । कोई नायक रूठी हुई मानिनी नायिका को मनाते हुए उससे कह रहा है कि—

हे प्रियतमे, [तुम्हारे] गालों पर बनी हुई पत्रलेखा को [तुम्हारे पुल्लिङ्ग] हाथों ने मल डाला, अमृत के समान स्वादु तुम्हारे अधरामृत को [एक नहीं बहुत से पुल्लिङ्ग] निःश्वासों ने पी डाला और यह [पुल्लिङ्ग] आँसू बार-बार गले में लग-लग कर [तुम्हारे] स्तन को हिला रहे हैं । हे [हमारे] प्रार्थना को न मानने वाली [निरनुरोधे प्रियतमे] तुम्हें क्रोध तो इतना प्यारा हो गया [कि उसके आवेश में कोई तुम्हारे कपोल की पत्रलेखा को मसल रहा है, कोई तुम्हारा अधरामृत पान कर रहा है] पर हमारी कहीं कोई पूछ नहीं ॥१०१॥

यहाँ 'मैं तो नहीं' [प्रिय हुआ] यह कहने के स्थान पर [बहुवचन रूप] 'हम तो नहीं' [इस प्रकार उनके] अन्तरङ्गत्व ज्ञापन के लिए और [अपनी] तटस्थता [औदासीन्य] के बोध कराने के लिए बहुवचन का प्रयोग किया है । [इसलिए यह वचनवक्रता या संख्यावक्रता का उदाहरण होता है] ।

अथवा जैसे [कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक के प्रथम अंक शकुन्तला के ऊपर उड़ते हुए भौंरे को देखकर दुष्यन्त की उक्ति है कि]—

हे भ्रमर ! हम तो [यह हमारे भोग के योग्य क्षत्रिया है अथवा नहीं इस] तत्वान्वेषण में ही मारे गए और तुम [इसके कान में बात करके और इसका अधर-पान करके] कृतार्थ हो गए ॥१०२॥

अत्रापि पूर्ववदेव ताटस्थ्यप्रतीतिः।

यथा वा—

फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणी सरोजाकराः ॥१०३॥

अत्र द्विवचनबहुवचनयोः सामानाधिकरण्यलक्षणः संख्याविपर्यासः सहृदयहृदयहारितामावहति।

यथा वा—

शास्त्राणि चक्षुर्नवम् ॥१०४॥

अत्र पूर्ववदेकवचनबहुवचनयोःसामानाधिकरण्यं वैचित्र्यविधायि ॥२६॥

एवं संख्यावक्रतां विचार्य तद्विषयत्वात् पुरुषाणां क्रमसमर्पितावसरां पुरुषवक्रतां विचारयति—

यहाँ भी पूर्व श्लोक के समान [भ्रमर की अन्तरङ्गता सूचना द्वारा अपनी] तटस्थता की प्रतीति होती है।

अथवा जैसे [उदा० सं० १, ६४ पर पूर्व उद्धृत श्लोक में]—

[दोनों] आँखें खिले हुए कमलों के वन, और हाथ कमलों के तालाब हो रहे हैं ॥१०३॥

यहाँ ['नयने' और 'पाणी' के] द्विवचन और [काननानि तथा सरोजाकराः के] बहुवचन के साथ का समानाधिकरण्य रूप वचनविपर्यय सहृदयों के हृदय के लिए चमत्कारकारी होता है।

अथवा जैसे [पहिले उदा० सं० २, २६ पर उद्धृत किए हुए बालरामायण के १, ३६वें श्लोक में]—

शास्त्र उसके नवीन नेत्र हैं ॥१०४॥

[यहाँ शास्त्राणि बहुवचन है और चक्षुर्नवं एकवचन है] यहाँ [भी] पहिले [उदाहरण] के समान एकवचन और बहुवचन का समानाधिकरण्य विचित्रता [सौन्दर्य] को उत्पन्न करने वाला है ॥२६॥

१५—पुरुष वक्रता [पद-उत्तरार्द्ध-प्रत्यय-वक्रता ४]

इस प्रकार संख्या [या वचन] की वक्रता का विचार करके पुरुषों के संख्या से सम्बद्ध [संख्या विषयक] होने से [संख्या-निरूपण के बाद] क्रम से प्राप्त 'पुरुषवक्रता' का विचार करते हैं—

प्रत्यक्तापरभावश्च विपर्यासेन योज्यते ।
यत्र विच्छित्तये सैषा ज्ञेया पुरुषवक्रता ॥३०॥

यत्र यस्यां प्रत्यक्ता निजात्मभावः, परभावश्च अन्यत्वं, उभयमप्येतद्विपर्यासेन योज्यते निबध्यते । किमर्थम्, विच्छित्तये वैचित्र्याय । सैषा वर्णितस्वरूपा ज्ञेया ज्ञातव्या पुरुषवक्रता पुरुषवक्रत्वविच्छित्तिः । तदयमत्रार्थः, यस्मिन्नुत्तमे मध्यमे वा पुरुषे प्रयोक्तव्ये वैचित्र्यायान्यः कदाचित् प्रथमः प्रयुज्यते । तस्माच्च पुरुषैकयोगक्षेमत्वादस्मदादेः प्रातिपदिकमात्रस्य च विपर्यासः पर्यवस्यति ।

यथा—

जहाँ [काव्य के] सौन्दर्य के लिए आत्मभाव [उत्तम पुरुष जो अपने लिए ही प्रयुक्त होता है] और परभाव [मध्यम पुरुष जो दूसरे के लिए प्रयुक्त होता है] का विपरीत रूप से प्रयोग किया जाता है वह 'पुरुषवक्रता' समझनी चाहिए ॥३०॥

जहाँ जिस [वक्रता] में 'प्रत्यक्ता' अर्थात् अपना आत्मभाव [अपने लिए प्रयुक्त होने वाले उत्तम पुरुष] और परभाव [दूसरे के लिए प्रयुक्त होने वाले मध्यम पुरुष] इन दोनों का विपर्यास से अर्थात् परिवर्तित रूप से प्रयोग किया जाता है । किस लिए—शोभा के लिए, वैचित्र्य के लिए । वह वर्णित स्वरूप वाली यह 'पुरुषवक्रता' पुरुष [प्रयोगमूलक] वक्रता, सुन्दरता समझनी चाहिए । इसका यहाँ यह अभिप्राय हुआ कि जिसमें [प्रयुक्त हुए प्रथम पुरुष से भिन्न किसी अन्य] उत्तम या मध्यम पुरुष के प्रयोग के स्थान पर विचित्रता [काव्य सौन्दर्य] के लिए कभी अन्य अर्थात् प्रथम पुरुष प्रयुक्त किया जाता है [उसका नाम पुरुषवक्रता है] । और उससे पुरुष विपर्यास के साथ समान योगक्षेम वाले प्रातिपदिक का विपर्यास भी फलित होता है । [अर्थात् उत्तम या मध्यम पुरुष के प्रयोग के स्थान पर प्रथम पुरुष का प्रयोग होने पर तो पुरुषवक्रता होगी ही परन्तु यदि उसके बजाय केवल प्रातिपदिक का प्रयोग किया जाय तो वह भी दूसरे प्रकार की पुरुषवक्रता कही जावेगी] ।

जैसे [तापसवत्सराज के १, ६७ श्लोक में]—

कौशाम्बीं परिभूय नः कृपणकैर्विद्वेषिभिः स्वीकृतां
जानाम्येव तथा प्रमादपरतां पत्युर्नयद्वेषिणः।
स्त्रीणां प्रियविप्रयोगविधुरं चेतः सदैवात्र मे
वक्तुं नोत्सहते मनः परमतो जानातु देवी स्वयम् ॥१०५॥

अत्र 'जानातु देवी स्वयम्' इति युष्मदि मध्यमपुरुषे प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रप्रयोगेण वक्तुस्तदशक्यानुष्ठानतां मन्यमानस्यौदासीन्यप्रतीतिः। तस्याश्च प्रभुत्वात् स्वातन्त्र्येण हिताहितविचारपूर्वकं स्वयमेव कर्तव्यार्थप्रतिपत्तिः कमपि वाक्यवक्रभावमावहति। यस्मादेतदेवास्य वाक्यस्य जीवितत्वेन परिस्फुरति ॥३०॥

दुष्ट या कायर शत्रुओं द्वारा अधिकृत कौशाम्बी [नगरी] को जीतकर, नीति से द्वेष करने वाले [नीति के अनुसार आचरण न करने वाले] महाराज [पत्युः स्वामी महाराज] की प्रमादपरता [विजय के गर्व में आकर प्रमादी हो जाने की सर्वथा सम्भावना है इस बात] को मैं जानता हूँ । और स्त्रियों का चित्त सदैव प्रिय के वियोग से दुःखी रहता है [स्त्रियाँ कभी अपने प्रिय का अलग रहना पसन्द नहीं करती हैं, यह भी मैं जानता हूँ । इसका अर्थ यह हुआ कि कौशाम्बी के विजय के बाद राजा उदयन आपसे मिलने के लिए और आप उनसे मिलने के लिए उत्सुक होंगी] इसलिए मेरा मन कुछ कहने का [अर्थात् आप दोनों के मिलन का प्रतिवाद करने का] साहस नहीं करता है । [परन्तु वस्तुतः नीति के अनुसार अभी महाराज को कौशाम्बी छोड़कर आना नहीं चाहिए] इसके बाद आगे आप स्वयं जानें। [आप जो उचित समझें सो करें] ॥१०५॥

यहाँ 'जानातु देवी स्वयं' के स्थान पर युष्मद् शब्द के मध्यम पुरुष [के त्वं इस रूप] के प्रयोग करने के स्थान पर [देवी इस] प्रतिपादिक मात्र के प्रयोग से वक्ता [मन्त्री यौगन्धरायण जो कुछ कहना और करना चाहता है उस] की अनुष्ठान असम्भव-सा है यह मानकर [मन्त्री की] औदासीन्य की प्रतीति [मध्यम पुरुष के 'त्वं' के स्थान पर प्रातिपदिक मात्र 'देवी' पद के प्रयोग से] हो रही है । और उस [रानी] के मालिक होने से हित और अहित का विचार करके [स्वतन्त्रतापूर्वक] स्वयं ही कर्तव्य [और अकर्तव्य] अर्थ का निर्णय [करना भी] कुछ अपूर्व वाक्य-सौन्दर्य को धारण कर रहा है । क्योंकि यह [अर्थात् स्वतन्त्रतापूर्वक कर्तव्य का निर्णय] ही इस [श्लोक] वाक्य का प्राण स्वरूप से प्रतीत हो रहा है ॥३०॥

एवं पुरुषवक्रतां विचार्य पुरुषाश्रयात्वादात्मनेपदपरस्मैपदयोरुचितावसरां वक्रतां विचारयति। धातूनां लक्षणानुसारेण नियतपदाश्रयः प्रयोगः पूर्वाचार्याणाम् 'उपग्रह' शब्दाभिधेयतया प्रसिद्धः । तस्मात्तदभिधानेनैव व्यवहरति—

पदयोरुभयोरेकमौचित्याद्विनियुज्यते ।
शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम् ॥३१॥

तामुक्तस्वरूपामुपग्रहवक्रतामुपग्रहवक्रत्वविच्छित्तिं जल्पन्ति, कवयः कथयन्ति। कीदृशीम्, यत्र यस्यां पदयोरुभयोर्मध्यादेकमात्मनेपदं परस्मैपदं वा विनियुज्यते विनिबध्यते नियमेन। कस्मात् कारणात्, औचित्यात्। वर्ण्यमानवस्तुनो यदौचित्यमुचितभावस्तस्मात्, तं समाश्रित्येत्यर्थः । किमर्थं, शोभायै विच्छित्तये।

---

१६ उपग्रहवक्रता [आत्मने पद परस्यै पद रूप पद उत्तरार्द्ध प्रत्यय-वक्रता ५]—

इस प्रकार 'पुरुषवक्रता' का विचार करके, 'आत्मनेपद' तथा 'परस्मैपद' के पुरुषों के आश्रित होने से उचित अवसर पर प्राप्त [आत्मनेपद तथा परस्मैपद के प्रयोग की] वक्रता का विचार करते हैं। धातुओं के लक्षण [आत्मनेपद तथा परस्मैपद उभय पद आदि] के अनुसार नियत पद [आत्मनेपद या परस्मैपद] का प्रयोग, प्राचीन आचार्यों में 'उपग्रह' नाम से प्रसिद्ध है। इसलिये [यहाँ भी उन आत्मनेपद परस्मैपद के लिए] उसी [उपग्रह] नाम से व्यवहार करते हैं। [अर्थात् कारिका में 'उपग्रह' शब्द से ही आत्मनैपद परस्मैपद को कहा है]।

जहाँ [काव्य] की शोभा के लिए [आत्मनेपद और परस्मैपद] दोनों पदों में से औचित्य के कारण [विशेष रूप से] किसी एक का प्रयोग किया जाता है उसको 'उपग्रहवक्रता' कहते हैं ॥३१॥

उस उक्त स्वरूपा [वक्रता] को कवि लोग 'उपग्रहवक्रता' कहते हैं। कैसी—जहाँ जिस [वक्रता] में [आत्मनेपद और परस्मैपद] दोनों पदों में से कोई एक आत्मनेपद अथवा परस्मैपद नियम से [विशेष रूप से] प्रयुक्त किया जाता है। किस कारण से—औचित्य के कारण से । वर्ण्यमान वस्तु का जो औचित्य अर्थात् उचित-भाव उससे अर्थात् उसको अवलम्बन करके । किस लिए—शोभा अर्थात् सौन्दर्य के लिए।

यथा—

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य विभिदे निबिड़ोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः
प्रौढ़प्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥१०६॥

अत्र राज्ञः सुललितविलासवतीलोचनविलासेषु स्मरणगोचरमवतरत्सु तत्परायत्तचित्तवृतेराङ्गिकप्रयत्नपरिस्पन्दविनिवर्तनात् मुष्टिर्विभिदे भिद्यते-स्म । स्वयमेवेति कर्मकर्तृ निबन्धनमात्मनेपदमतीव चमत्कारकारिणीं कामपि वाक्यवक्रतामावहति ॥३१॥

एवमुपग्रहवक्रतां विचार्य तदनुसम्भविनीं प्रत्ययान्तरवक्रतां विचारयति—

विहितः प्रत्ययादन्यः प्रत्ययः कमनीयताम् ।
यत्र कामपि पुष्णाति सान्या प्रत्ययवक्रता ॥३२॥

जैसे—

यह रघुवंश का ६, ५८वाँ श्लोक है । दशरथ की मृगया का वर्णन करते हुए कवि लिख रहा है कि—

भय के आधिक्य के कारण अत्यन्त चपल नेत्रों से प्रौढ़ प्रियतमा के नयनों की चेष्टाओं का स्मरण दिलाने वाले अन्य मृगों पर भी बाण छोड़ने की इच्छा रखने वाले उस राजा की मजबूत मुट्ठी भी कान के पास तक आकर स्वयं ही ढीली पड़ गई ॥१०६॥

यहाँ [भयभीत हरिणियों के नेत्रों की चपल चेष्टाओं से सुन्दर स्त्री] प्रियतमा के नेत्रों के हाव-भावों का स्मरण आने पर उनके परवश राजा [दशरथ] के शारीरिक प्रयत्न [अर्थात् मृगों के मारने के उत्साह] के शिथिल हो जाने से मुट्ठी अपने आप खुल जाती थी । [अर्थात् बाण नहीं चला पाते थे] यह कर्म कर्ता में हुआ आत्मनेपद अत्यन्त चमत्कारकारिणी किसी अपूर्व वक्रता को उत्पन्न कर रहा है ॥३१॥

१७ प्रत्यय माला वक्रता [पद उत्तरार्द्ध-प्रत्यय-वक्रता ६]—

इस प्रकार 'उपग्रह-वक्रता' [आत्मनेपद परस्मैपद की वक्रता] का विचार करके अब अन्य प्रत्ययों की वक्रता का विचार [आरम्भ] करते हैं—

जहाँ एक प्रत्यय से किया हुआ दूसरा प्रत्यय किसी अपूर्व सौन्दर्य का पोषक होता है वह दूसरे प्रकार की 'प्रत्ययवक्रता' होती है ॥३२॥

'सान्या प्रत्ययवक्रता' सा समाम्नातरूपादन्यापरा काचित् प्रत्ययवक्रत्वविच्छित्तिः, अस्तीति सम्बन्धः । यत्र यस्यां प्रत्ययः कामप्यपूर्वां कमनीयतां रम्यतां पुष्णाति पुष्यति । कीदृशः प्रत्ययात् तिङादेर्विहितः पदत्वेन विनिर्मितोऽन्यः कश्चिदिति ।

यथा—

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोरममिदं वाचैव यो वा बहिः ।
वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुन-
र्यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः ॥१०७॥

वह अन्य प्रकार की अर्थात् ऊपर कही हुई [आत्मनेपद परस्मैपद आदि रूप प्रत्ययवक्रता] से भिन्न कोई और ही [अन्य प्रकार की] 'प्रत्ययवक्रता' की शोभा 'होती है' यह [कारिका के शब्दों का आक्षिप्त अस्ति क्रिया के साथ] सम्बन्ध है। जहाँ जिस [वक्रता] में प्रत्यय किसी अपूर्व रमणीयता सौन्दर्य की पुष्टि करता है। कैसा [प्रत्यय कि]—प्रत्यय अर्थात् तिङादि से विहित [तिङन्त आदि के] पद होने से [उस तिङन्त पद से] किया हुआ कोई अन्य [तरप् तमप् आदि प्रत्यय रमणीयता का पोषक होता है वहाँ दूसरे प्रकार की 'प्रत्ययवक्रता' होती है] ।

जैसे—

जो [सत्काव्य का निर्माता महाकवि] वस्तुओं के भीतर निहित सूक्ष्म और सुन्दर तत्त्व को अपनी वाणी द्वारा बाहर निकालता [काव्य में प्रदर्शित करता] है [उस महाकवि को] और [उसके साथ सृष्टि के निर्माता 'कवि' परमात्मा को] जो [अपनी] वाणी मात्र से इस मनोहर जगत् का बाहर निर्माण करता है [आदि—कवि रूप परमात्मा 'एकोऽहं बहुस्याम्' आदि अपनी वाणी से अथवा 'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' इसके अनुसार वेद रूप वाणी से सारे दृश्यमान जगत् को उत्पन्न करता है। और दूसरा काव्य-निर्माता कवि समस्त पदार्थों के सौन्दर्य को अपनी वाणी द्वारा वर्णन करता है] उन दोनों कविवरों को मैं नमस्कार करता हूँ । परन्तु इन दोनों से भी अधिक मैं [आलोचक या भावक रूप] उस [कवि या विद्वान्] को नमस्कार करता हूँ जो इन दोनों के परिश्रम को समझने वाला और [उनकी रचना की यथार्थ प्रशंसा द्वारा] इन दोनों के [मानसिक] बोझ को हलका करने में समर्थ है ॥१०७॥

'वन्देतराम्' इत्यत्र कापि प्रत्ययवक्रता कवेश्चेतसि परिस्फुरति । तत एव 'पुनः' शब्दः पूर्वस्माद् विशेषाभिधायित्वेन प्रयुक्तः ॥३२॥

एवं नामाख्यातस्वरूपयोः पदयोः प्रत्येकं प्रकृत्याद्यवयवविभागद्वारेण यथासम्भवं वक्रत्वं विचार्येदानीमुपसर्गनिपातयोरव्युत्पन्नत्वादसम्भवविभक्तित्वाच्च निरस्तावयवत्वे सत्यविभक्तयोः साकल्येन वक्रतां विचारयति—

रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः ।
वाक्यैकजीवितत्वेन सापरा पदवक्रता ॥३३॥

'सापरा पदवक्रता' सा समर्पितस्वरूपापरा पूर्वोक्तव्यतिरिक्ता पदवक्रत्वविच्छित्तिः । अस्तीति सम्बन्धः । कीदृशी—यस्यां वक्रतायामुपसर्गनिपातयोर्वैयाकरणप्रसिद्धाभिधानयो रसादिद्योतनं शृङ्गारप्रभृतिप्रकाशनम् ।

[इस श्लोक के 'वन्देतराम्' इस तिङन्त से तरप् प्रत्यय किए हुए] 'वन्देतरां' इस पद में कवि के मन में कोई अपूर्व 'प्रत्ययवक्रता' भास रही है । [इसलिए अत्यन्त सुन्दर समझ कर कवि ने इस शब्द का प्रयोग किया है] । इसीलिए पूर्व [दो कवियों के नमस्कार] से विशेषता का बोध करान वाले 'पुनः' शब्द का प्रयोग किया गया है ॥३२॥

१७ उपसर्ग निपात वक्रता [पदवक्रता]—

इस प्रकार [नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चारों प्रकार के पदों में से] नाम और आख्यात [सुबन्त तथा तिङन्त] पदों में से प्रत्येक के प्रकृति प्रत्यय आदि अवयव विभाग के द्वारा यथासम्भव वक्रत्व का विचार करके अब उपसर्ग तथा निपात [रूप शेष] दोनों [पदों] के अव्युत्पन्न [प्रकृति प्रत्यय विभाग से रहित] होने के कारण [उनमें प्रकृति प्रत्यय का] विभाग असम्भव होने से अवयवरहित अविभक्त [उपसर्ग और निपातों] की सम्पूर्ण रूप से वक्रता का विचार [आरम्भ] करते हैं—

जिस [वक्रता] में 'उपसर्ग' और 'निपातों' का वाक्य [श्लोक आदि] के जीवन स्वरूप रसादि का द्योतकत्व होता है वह [पूर्वोक्त अन्य वक्रताओं से भिन्न] दूसरी ही पदवक्रता होती है ॥३३॥

वह दूसरे प्रकार की 'पदवक्रता' है । वह अर्थात् जिसका स्वरूप वर्णन [इस कारिका में] किया जा रहा है, दूसरे प्रकार की अर्थात् पूर्वोक्त वक्रता-प्रकारों से भिन्न पदवक्रता की शोभा है । 'अस्ति' इस [अध्याहृत क्रिया का] सम्बन्ध है । कैसी—जिस वक्रता में वैयाकरणों में प्रसिद्ध [नाम वाले] 'उपसर्ग' तथा 'निपात' का रसादि द्योतकत्व अर्थात् शृङ्गार आदि [रसों] का प्रकाशकत्व [प्रतीत होता है] ।

कथम्—वाक्यैकजीवितत्वेन, वाक्यस्य श्लोकादेरेकजीवितं वाक्यैकजीवितं, तस्य भावस्तत्त्वं तेन। तदिदमुक्तं भवति यद्वाक्यस्यैकस्फुरितभावेन परिस्फुरति यो रसादिस्तत्प्रकाशनेनेत्यर्थः।

यथा—

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥१०८॥

अत्र रघुपतेस्तत्कालज्वलितोद्दीपनविभावसम्पत्समुल्लसितः सम्भ्रमो निश्चितजनितजानकीविपत्तिसम्भावनः, तत्परित्राणकरणोत्साहकारणतां प्रतिपद्यमानः, स्तदेकाग्रतोल्लिखितसाक्षात्कारः, तदाकारतया विस्मृतविप्रकर्षः प्रत्यग्ररसपरिस्पन्दसुन्दरो निपातपरम्पराप्रतिपद्यमानवृत्तिर्वाक्यैकजीवितत्वेन प्रतिभासमानः कामपि वाक्यवक्रतां समुन्मीलयति। 'तु' शब्दस्य च वक्रभावः पूर्वमेव व्याख्यातः।

कैसे कि—[श्लोक आदि रूप] वाक्य के जीवन स्वरूप से। वाक्य अर्थात् श्लोकादि का एक अद्वितीय जीवित प्राण वाक्यैकजीवित हुआ। उसका भाव 'वाक्यैकजीवितत्व' हुआ, उस से। इसका अभिप्राय यह हुआ कि—जिस वाक्य के अद्वितीय प्राणस्वरूप से जो रसादि प्रतीत होता है उसके प्रकाशक रूप से [जो उपसर्ग अथवा निपात का प्रयोग किया जाता है। वहाँ यह दूसरे प्रकार की पदवक्रता होती है]।

जैसे [उदा० सं० २, २७ पर उद्धृत पूर्व श्लोक के अन्तिम चरण में]—

हाय-हाय, वैदेही [बिचारी] की तो [इस वर्षा ऋतु में वियोग की अवस्था में] क्या दशा होगी ? हा देवि ! धैर्य धारण करना ॥१०८॥

यहाँ [वर्षाकाल में, उज्ज्वलित] उग्र रूप में उपस्थित जो उद्दीपन विभावों की सम्पत्ति उससे निश्चित रूप से उत्पन्न जानकी की विपत्ति [मरण] की सम्भावना से रामचन्द्र जी की घबराहट, उनके बचाने के उत्साह का कारण बन कर, उन [रामचन्द्र जी] की [सीताविषयक] एकाग्रता के कारण [मानस रूप में] साक्षात्कार रूप से तदाकार होने से [अपनी और सीता के] व्यवधान को भूलकर नूतन रसानुभूति से सुन्दर निपात परम्परा से उपस्थित होकर [जो रामचन्द्र जी की घबराहट,] वाक्य [श्लोक] के एकमात्र प्राणस्वरूप-सी प्रतीत होती हुई किसी अपूर्व [पद] वक्रता को प्रकाशित कर रही है। [इन अनेक निपातों से विशेष रूप से] 'तु' शब्द की वक्रता की व्याख्या पहिले [उदा० २, २७ पर] कर चुके हैं।

यथा वा—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥१०९॥

अत्र द्वयोः परस्परं सुदुःसहत्वोद्दीपनसामर्थ्यसमेतयोः प्रियाविरहवर्षाकालयोस्तुल्यकालत्वप्रतिपादनपरं 'च' शब्दद्वितयं समसमयसमुल्लसितवन्हिदाहदक्षदक्षिणवातव्यजनसमानतां समर्थयत् कामपि वाक्यवक्रतां समुद्दीपयति 'सु'-'दुः'-शब्दाभ्यां च प्रियाविरहस्याशक्यप्रतीकारता प्रतीयते ।

यथा च—

अथवा जैसे—

उसी निपात वक्रता का दूसरा उदाहरण विक्रमोर्वशी के ४, ३ श्लोक में इस प्रकार दिखलाया जा सकता है। यह श्लोक ध्वन्यालोक में भी पृ० २७६ पर भी उद्धृत हुआ है । उर्वशी के चले जाने के बाद उसके वियोग में सन्तप्त पुरूरवा कह रहे हैं—

एक साथ ही उस [हृदयेश्वरी] प्रियतमा का वियोग और [उसके ऊपर से] नए बादलों के उमड़ आने से धूप से रहित [वर्षा ऋतु के] मनोहर दिवस दोनों [एक साथ] ही आ पड़े। [इन दिनों प्रियतमा का नया वियोग भला कैसे सहा जायगा] ॥१०९॥

यहाँ [प्रिया-वियोग और वर्षा के आरम्भ रूप] दोनों के परस्पर दुःसहत्व और उद्दीपन सामर्थ्य से युक्त प्रियावियोग और वर्षाकाल की समानकालीनता का बोधक 'च' शब्द का दो बार का प्रयोग, एक साथ उत्पन्न अग्नि को प्रज्वलित करने में समर्थ दक्षिण की वायु और पंखे की समानता का [समर्थन] अनुसरण करता हुआ कुछ अपूर्व वाचकवक्रता [पदवक्रता] को प्रकाशित कर रहा है। ['सुदुःसहो' पद में] 'सु' और 'दुः' [दोनों उपसर्गों का एक साथ प्रयोग] शब्दों से प्रिया के विरह की अशक्य प्रतीकारता [अर्थात् उस विरह को दूर करने का और कोई भी मार्ग नहीं है यह बात] प्रतीत होती है।

और जैसे—

इसी निपातादि वक्रता का तीसरा उहदारण कालिदास के शकुन्तला नाटक का ३, ७८ निम्न श्लोक है । दुष्यन्त ने एक बार शकुन्तला को एकान्त में पाकर भी जो उसका पहिली बार चुम्बन आदि नहीं किया उसका पश्चाताप करते हुए वह कह रहे हैं—

मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।

मुखमसंविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥११०॥

अत्र नायकस्य प्रथमाभिलाषविवशवृत्तेरनुभवस्मृतिसमुल्लिखिततत्काल-समुचिततद्वदनेन्दुसौन्दर्यस्य पूर्वपरिचुम्बनस्खलितसमुद्दीपितपश्चात्तापवशा-वेशद्योतनपरः 'तु' शब्दः कामपि वाक्यवक्रतामुत्तेजयति ।

एतदुत्तरत्र प्रत्ययवक्रत्वमेवंविधप्रत्ययान्तरवक्रभावान्तर्भूतत्वात् पृथ-क्त्वेन नोक्तमिति स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् । यथा—

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते

बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥१११॥

अत्र 'अतितराम्' इत्यतीव चमत्कारि । एवमन्येषामपि सजातीयलक्षण-द्वारेण लक्षणनिष्पत्तिः स्वयमनुसर्तव्या ।

अँगुलियों से निचले होंठ को ढँके हुए, न, न, मान जाओ, मान जाओ, इस प्रकार के निषेध करने वाले अक्षरों से व्याकुल और इसलिए सुन्दर लगने वाला, कन्धे की ओर मुड़ा हुआ [शकुन्तला का] मुख [मैंने] किसी प्रकार [बड़े प्रयत्न से] ऊपर तो उठा लिया पर चूम नहीं पाया ॥११०॥

यहाँ प्रथम [बार के दर्शन के समय उत्पन्न] अभिलाष से विवश [चित्त] ृत्ति वाले [दुष्यन्त के उस प्रथम मिलन के समय] के अनुभव की स्मृति से उस समय के योग्य मुखचन्द्र का सौन्दर्य जिसके हृदय पर अङ्कित है इस प्रकार के नायक [दुष्यन्त] के पहिली बार चुम्बन में चूक जाने से उद्दीप्त पश्चात्ताप के आवेश का द्योतन करने वाला 'तु' शब्द किसी अपूर्व 'वाक्यवक्रता' को उत्तेजित करता है।

इन [उपसर्ग तथा निपात] के आगे [जुड़े हुए तरप् तमप् आदि] की प्रत्ययवक्रता इसी प्रकार की अन्य प्रत्ययवक्रताओं के अन्तर्गत हो जाती है इसलिए अलग नहीं दिखलाई है। [सहृदय पाठकों को] स्वयं समझ लेनी चाहिए। जैसे—

मोर पंख के समान चमकते हुए जिस [इन्द्र धनुष] से गोप वेष धारी विष्णु [कृष्ण भगवान्] के [शरीर के] समान तुम्हारा श्यामल शरीर अत्यन्त सौन्दर्य शोभा को प्राप्त होगा। [मेघदूत १५]

यहाँ 'अतितरां' यह [पद] अत्यन्त चमत्कारकारी है। [उसका अन्तर्भाव 'वन्देतरां' जैसी प्रत्ययवक्रता में हो जायगा। उस में तिङन्त पद से 'तरप्' प्रत्यय किया गया था यहाँ 'अति' निपात से तरप् प्रत्यय किया है।] इसी प्रकार मिलते-जुलते लक्षण द्वारा अन्य प्रकार की वक्रता की सिद्धि भी स्वयं समझ लेनी चाहिए।

विच्छित्तिश्चतुर्विधपदविषया वाक्यैकदेशजीवितत्वेनापि परिस्फुरन्ती सकल-वाक्यवैचित्र्यनिबन्धनतामुपयाति ।

वक्रतायाः प्रकाराणामेकोऽपि कविकर्मणः ।
तद्विदाह्लादकारित्वहेतुतां प्रतिपद्यते ॥११२॥

इत्यन्तरश्लोकः ॥३३॥

यद्येवमेकस्यापि वक्रताप्रकारस्य यदेवंविधो महिमा तदेते बहवः सम्पतिताः सन्तः किं सम्पादयन्तीत्याह—

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित् ।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम् ॥३४॥

क्वचिदेकस्मिन् पदमात्रे वाक्ये वा वक्रताप्रकारा वक्रत्वप्रभेदा बहवः प्रभूताः कविप्रतिभामाहात्म्यसमुल्लसिताः । किमर्थम्, परस्परस्य शोभायै, अन्योन्यस्य विच्छित्तये । एतामेव चित्रच्छायामनोहरामनेकाकारकान्तिरमणीयां वक्रतां जनयन्त्युत्पादयन्ति ।

चाहिए । इस प्रकार यह अनेक प्रकार की वक्रता की शोभा [नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप] चार प्रकार के पद विषयक होती हुई और वाक्य के एक देश के प्राणस्वरूप से प्रतीत होती हुई भी सारे वाक्य की विचित्रता या सौन्दर्य का कारण बनती है ।

वक्रता के [इन अनेक] भेदों में से कोई एक [भेद] भी [कवि कर्म अर्थात्] काव्य को सहृदयाह्लादकारित्व को प्राप्त कराता है ॥११२॥

यह अन्तरश्लोक [संग्रह श्लोक] है ॥३३॥

यदि एक वक्रता प्रकार का भी इतना प्रभाव है [जैसा कि आपने वर्णन किया है] तो इनमें से बहुत से इकट्ठे होकर क्या करते हैं यह कहते हैं—

कहीं-कहीं एक दूसरे की शोभा के लिए बहुत से [वक्रता प्रकार] इकट्ठे होकर इस [शोभा] को [अनेक रंगों से युक्त रंगीन] चित्र की छाया के समान मनोहर बना देते हैं ॥३४॥

किसी केवल एक पद अथवा वाक्य मात्र में बहुत से वक्रता के प्रकार अर्थात् वक्रत्व के भेद कवि की प्रतिभा के माहात्म्य से [इकट्ठे] उपस्थित होकर । किस लिए [उपस्थित होकर कि] एक दूसरे की शोभा के लिए । एक दूसरे के सौन्दर्य के लिए । इस [शोभा] को ही चित्र की छाया के समान मनोहर, अनेक प्रकार के [रंगों तथा] आकारों से मनोहर वक्रता को उत्पन्न कर देते हैं ।

यथा—

तरन्तीव इति ॥११३॥

अत्र क्रियापदानां त्रयाणामपि प्रत्येकं त्रिप्रकारं वैचित्र्यं परिस्फुरति, क्रियावैचित्र्यं, कारकवैचित्र्यं, कालवैचित्र्यं च । प्रथिम-स्तनजघन-तरुणिम्नां त्रयाणामपि वृत्तिवैचित्र्यम् । लावण्य-जलधि-प्रागल्भ्य-सरलता-परिचय शब्दानामुपचारवैचित्र्यम् । तदेवमेते बहवो वक्रताप्रकारा एकस्मिन् पदे वाक्ये वा सम्पतिताश्चित्रच्छायामनोहरामेतामेव चेतनचमत्कारकारिणीं वाक्य-वक्रतामावहन्ति ॥३४॥

एवं नामाख्यातोपसर्गनिपातलक्षणस्य चतुर्विधस्यापि पदस्य यथासम्भवं वक्रताप्रकारान् विचार्येदानीं प्रकरणमुपसंहृत्यान्यदवतारयति—

वाग्वल्ल्याः पदपल्लवास्पदतया या वक्रतोद्भासिनी
विच्छित्तिः सरसत्वसम्पदुचिता काप्युज्ज्वला जृम्भते ।
तामालोच्य विदग्धषट्पदगणैर्वाक्यप्रसूनाश्रयं
स्फारामोदमनोहरं मधु नवोत्कण्ठाकुलं पीयताम् ॥३५॥

जैसे [पिछले उदा० सं० २, ६१ पर उद्धृत]—

तरन्तीवाङ्गानि इत्यादि [श्लोक में] ॥११३॥

यहाँ [तरन्ति, उन्मुद्रयति अपवदन्ते] तीनों क्रिया-पदों में से प्रत्येक में तीन प्रकार का वैचित्र्य प्रतीत होता है । १—क्रियावैचित्र्य, २—कारक-वैचित्र्य और ३—कालवैचित्र्य । प्रथिम, स्तन—जघन और तरुणिमा इन तीनों शब्दों में 'वृत्तिवैचित्र्य' । और लावण्य, प्रागल्भ्य, सरलता, परिचय शब्दों में 'उपचारवक्रता' पाई जाती है । इस प्रकार इस एक श्लोक में यह बहुत से वक्रता के भेद मिलकर चित्र की छाया के समान मनोहर इसी सहृदय हृदयहारिणी वाक्य-वक्रता को उत्पन्न करते हैं ॥३४॥

इस प्रकार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चारों प्रकार के पदों के जितने [१७] वक्रता के प्रकार हो सकते थे उनका विचार करके अब इस प्रकरण का उपसंहार कर [अगले तृतीय उन्मेष में] दूसरे [नए प्रकरण] की अवतारणा करते हैं । [इस उन्मेष के उपसंहारात्मक श्लोक का अर्थ इस प्रकार है]—

वाणी रूप लता के पद रूप पल्लवों में रहने वाली सरसत्व सम्पत्ति के अनुरूप और वक्रता से उद्भासित होने वाली जो कोई अपूर्व उज्ज्वल शोभा प्रकाशित हो रही है उसको देखकर चतुर [विद्वान् रूप] भ्रमरगणों को वाक्य रूप फूलों में रहने वाले सुगन्ध फैलाने वाले मनोहर मधु को नवीन उत्कण्ठा से युक्त होकर पान करना चाहिए ॥३५॥

वागेव वल्ली वाणीलता तस्याः काप्यलौकिकी विच्छित्तिर्जृम्भते शोभा समुल्लसति । कथम्—'पदपल्लवास्पदतया', पदान्येव पल्लवानि सुप्तिङन्तान्येव पत्राणि तदास्पदतया तदाश्रयत्वेन । कीदृशी विच्छित्तिः—'सरसत्वसम्पदुचिता', रसवत्त्वातिशयोपपन्ना । किं विशिष्टा च—वक्रतया वक्रभावेनोद्भासते भ्राजते या सा तथोक्ता । कीदृशी—'उज्ज्वला' छायातिशयरमणीया । तामेवंविधामालोच्य विचार्य, विदग्धषट्पदगणैर्विबुधषट्चरणचक्रैर्मधु पीयताम् मकरन्द आस्वाद्यताम् । कीदृशम्, 'वाक्यप्रसूनाश्रयम्' । वाक्यान्येव पदसमुदायरूपाणि प्रसूनानि पुष्पाण्याश्रयः स्थानं यस्य तत्तथोक्तम् । अन्यच्च कीदृशम् 'स्फारामोदमनोहरम्' । स्फारः स्फीतो योऽसावामोदस्तद्धर्मविशेषस्तेन मनोहरं हृदयहारि । कथमास्वाद्यताम्—'नवोत्कण्ठाकुलं' नूतनोत्कलिकाव्यग्रम् । मधुकरसमूहाः खलु वल्ल्याः प्रथमोल्लसितपल्लवोल्लेखमालोच्य प्रतीतचेतसः समनन्तरोद्भिन्नसुकुमारकुसुममकरन्दपानमहोत्सवमनुभवन्ति । तद्वदेव सहृदयाः पदास्पदां कामपि वक्रताविच्छित्तिमालोच्य नवोत्कलिकाकलितचेतसो वाक्या-

---

वाणी ही लता रूप अर्थात् वाणी लता, उसकी कुछ अलौकिक विच्छित्ति अपूर्व शोभा विकसित हो रही है । कैसी कि—पद रूप पल्लवों में रहने वाली । पद अर्थात् सुबन्त तिङन्त रूप पद ही पल्लव अर्थात् पत्ते के सदृश उनके आश्रित, उनमें रहने वाली । कैसी सुन्दरता—सरसत्व की सम्पत्ति के अनुरूप अर्थात् रसवत्ता के अतिशय से युक्त । और कैसी—वक्रतया अर्थात् वक्रभाव से जो उद्भासित अर्थात् शोभित होने वाली है वह उस प्रकार की [वक्रतोद्भासिनी] । फिर कैसी—उज्ज्वला अर्थात् सौन्दर्यातिशय के कारण रमणीया । इस प्रकार की उस [वक्रता] को देख कर अर्थात् विचार करके चतुर रूप भ्रमर गणों को मधु अर्थात् मकरन्द का पान आस्वादन करना चाहिए । कैसे [मधु का]—वाक्य रूप फूलों में रहने वाले । पदसमुदाय रूप वाक्य ही फूल हैं आश्रय जिसका वह उस प्रकार का वाक्यप्रसूनाश्रय हुआ । और कैसे [मधु] को—फैलती हुई सुगन्ध से मन को हरण करने वाले । स्फार अर्थात् फैला हुआ प्रचुर जो आमोद अर्थात् उसका सुगन्ध रूप धर्म विशेष, उस से मनोहर अर्थात् हृदय को हरण करने वाला [मधु] । कैसे पीना चाहिए, नवीन उत्कण्ठा से आकुल होकर नवीन उत्सुकता से व्यग्र होकर । भ्रमर समूह लताओं के पहिले निकलते हुए पत्तों को देखकर विश्वस्त मन होकर बाद में खिलने वाले कोमल पुष्पों के मकरन्द पान का आनन्द उठाते हैं । इस प्रकार सहृदय [विद्वान्] पदों में रहने वाली किसी अपूर्व वक्रता का विचार करके नवीन उत्सुकता से युक्त मन

श्रयं किमपि वक्रताजीवितसर्वस्वं विचारयन्तीति तात्पर्यार्थः ।

अत्रैकत्र सरसत्वं स्वसमयसम्भवि रसाढ्यत्वं अन्यत्र शृङ्गारादिव्यञ्जकत्वम् । वक्रतैकत्र बालेन्दुसुन्दरसंस्थानयुक्तत्वम्, इतरत्रोक्त्यादिवैचित्र्यम् । विच्छित्तिरेकत्र सुविभक्तपत्रत्वम्, अन्यत्र कविकौशलकमनीयता । उज्ज्वलत्वमेकत्र पर्णच्छायायुक्तत्वम्, अपरत्र सन्निवेशसौन्दर्यसमुदयः । आमोदः पुष्पेषु सौरभम्, वाक्येषु तद्विदाह्लादकारिता । मधु कुसुमेषु मकरन्दः, वाक्येषु सकलकाव्यकारणसम्पत्समुदय इति ॥३५॥

इति श्रीमत्कुन्तकविरचिते
वक्रोक्तिजीविते द्वितीय उन्मेषः ।

होकर वाक्य में रहने वाले किसी वक्रता के प्राणभूत तत्त्व का विचार करते हैं । यह अभिप्राय है ।

इसमें 'सरसत्व' का अर्थ एक [भ्रमर] पक्ष में उस समय [ऋतु] में होने वाले रस का बाहुल्य और दूसरे पक्ष में [काव्य प्रसिद्ध] शृङ्गार आदि रस का व्यञ्जकत्व [समझना चाहिए । इसी प्रकार] 'वक्रता' एक पक्ष में द्वितीया के चन्द्रमा के समान सुन्दर विन्यास से युक्त होना और दूसरे [काव्य] पक्ष में कवि की कथन-शैली आदि की विचित्रता [वक्रता शब्द का अर्थ समझना चाहिए] । 'विच्छित्ति' एक [लता] पक्ष में पत्रों का भली प्रकार अलग-अलग विभक्त होना और दूसरे [काव्य] पक्ष में कवि के कौशल की कमनीयता [समझनी चाहिए] । 'उज्ज्वलत्व' [का अर्थ] एक ओर पत्तों की छाया से युक्त होना और दूसरी ओर रचना के सौन्दर्य का बाहुल्य [समझना चाहिए । इसी प्रकार] 'आमोद' [का अर्थ] पुष्पों [के पक्ष] में सुगन्धि और वाक्यों [के पक्ष] में सहृदयहृदयाह्लादकारिता [लेना चाहिए । इसी प्रकार] 'मधु' [शब्द का अर्थ] फूलों [के पक्ष] में मकरन्द और वाक्यों [के पक्ष] में काव्य के समस्त कारणों की उपस्थिति [समझना चाहिए] ॥३५॥

श्रीमान् कुन्तक द्वारा विरचित वक्रोक्तिजीवित में
द्वितीय उन्मेष समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां वक्रोक्तिदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
द्वितीय उन्मेषः समाप्तः ।

तृतीयोन्मेषः

एवं पूर्वस्मिन् प्रकरणे वाक्यावयवानां पदानां यथासम्भवं वक्रभावं विचारयन् वाचकवक्रताविच्छित्तिप्रकाराणां दिक्प्रदर्शनं विहितवान् । इदानीं वाक्यवक्रतावैचित्र्यमासूत्रयितुं वाच्यस्य वर्णनीयतया प्रस्तावाधिकृतस्य वस्तुनो वक्रतास्वरूपं निरूपयति । पदार्थावबोधपूर्वकत्वाद् वाक्यार्थावसितेः ।

उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम् ।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता ॥१॥

वस्तुनो वर्णनीयतया प्रस्तावितस्य पदार्थस्य यदेवंविधत्वेन वर्णनं सा तस्य वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः । किंविधत्वेनेत्याह–'उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन'। उदारः

तीसरा उन्मेष

१८ 'वाच्यवक्रता' या 'वस्तुवक्रता'

इस प्रकार पहिले प्रकरण [द्वितीयोन्मेष] में वाक्य के अवयव पदों की वक्रता के जितने भेद हो सकते थे उनका विचार करते हुए [ग्रन्थकार कुन्तक ने वाचक अर्थात्] शब्दों की वक्रताविच्छित्ति के भेदों का दिग्दर्शन कराया था। अब [इस तृतीयोन्मेष में] वाक्यों के वक्रतावैचित्र्य का वर्णन करने के लिए [पहिले] वाच्य अर्थात् वर्णनीयतया प्रकरण में मुख्य रूप से अधिकृत वस्तु की वक्रता [वाच्यवक्रता] का निरूपण [प्रारम्भ] करते हैं। क्योंकि पदार्थों के ज्ञान के होने पर ही वाक्यार्थ का ज्ञान हो सकता है। [अर्थात् द्वितीयोन्मेष में वाचक शब्दों की वक्रता का विचार किया था अब इस तृतीयोन्मेष में सबसे पहिले 'वाच्य' अर्थात् 'अर्थ' की वक्रता का विचार करके फिर 'वाक्य' की वक्रता का विचार करेंगे। इसलिए अब पहिले 'पदार्थ वक्रता' का विचार प्रारम्भ करते हैं]।

[वर्णनीय पदार्थ रूप] वस्तु का उत्कर्षशाली स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन [वाच्य] अर्थ या वस्तु की वक्रता [कहलाती] है ॥१॥

वस्तु अर्थात् वर्णनीय रूप से प्रस्तुत पदार्थ का जो [कारिका में कहे हुए] इस प्रकार से जो वर्णन है वह उस [पदार्थ] की वक्रता अर्थात् बाँकपन का सौन्दर्य

सोत्कर्षः सर्वातिशायी यः स्वपरिस्पन्दः स्वभावमहिमा तस्य सुन्दरत्वं सौकुमार्यातिशयस्तेन, अत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्तत्वेन, वर्णनं प्रतिपादनम् । कथम्—'वक्रशब्दैकगोचरत्वेन' । वक्रो योऽसौ नानाविधवक्रताविशिष्टः शब्दः कश्चिदेव वाचकविशेषो विवक्षितार्थसमर्पणसमर्थः, तस्यैकस्य केवलस्य गोचरत्वेन प्रतिपाद्यतया विषयत्वेन । वाच्यत्वेनेति नोक्तं, व्यङ्ग्यत्वेनापि प्रतिपादनसम्भवात् । तदिदमुक्तं भवति यदेवंविधे भावस्वभावसौकुमार्यवर्णनप्रस्तावे भूयसां न वाच्यालङ्काराणामुपमादीनामुपयोगयोग्यता सम्भवति, स्वभावसौकुमार्यातिशयम्लानताप्रसङ्गात् ।

है । किस प्रकार से [वर्णन], यह कहते हैं—अपने उदार स्वभाव से मनोहर रूप में । उदार अर्थात् उत्कर्षयुक्त सर्वातिशायी [सुन्दरता में सबका अतिक्रमण कर जाने वाला] जो [पदार्थ का] अपना व्यापार अर्थात् स्वभाव महिमा, उसका जो सुन्दरत्व अर्थात् सुकुमारता का अतिशय, उससे अर्थात् अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म से, युक्त रूप से, वर्णन अर्थात् प्रतिपादन [वाच्यवक्रता कहलाती है] । कैसे—केवल वक्र शब्द के विषय रूप से [वस्तु का प्रतिपादन] । वक्र अर्थात् नाना प्रकार की [पूर्वोक्त] वक्रता से युक्त जो कोई [विरला] ही शब्द विशेष [कवि के] विवक्षित अर्थ को समर्पण [बोधन] करने में समर्थ हो केवल उस एक ही [विशिष्ट शब्द] के गोचर अर्थात् प्रतिपाद्यतया विषय होने से । यहाँ [उस शब्द विशेष के] 'वाच्य रूप में' [विषय यह] नहीं कहा है, ['प्रतिपाद्यतया' विषय कहा है । क्योंकि] प्रतिपादन तो [वाच्यता को छोड़कर] व्यङ्ग्य रूप से भी हो सकता है । [यदि 'वाच्यत्वेन' कह देते तो उससे व्यङ्ग्य अर्थ का ग्रहण नहीं होता । इसलिए यहाँ 'वाच्य' न कह कर 'प्रतिपाद्य' शब्द का प्रयोग किया गया है] । इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस प्रकार के पदार्थों के स्वभाव की सुकुमारता के वर्णन के प्रसङ्ग में वाच्य अलङ्कार उपमा आदि का अधिक उपयोग उचित नहीं हो सकता है । क्योंकि उससे [पदार्थों के] स्वाभाविक सौन्दर्य के अतिशय में मलिनता आने का भय रहता है । [अर्थात् उपमादि वाच्यालङ्कारों के अधिक प्रयोग से अधिक सुकुमार और सुन्दर पदार्थ के सौन्दर्य में न्यूनता आ जाने की सम्भावना रहती है । इसलिए 'वाच्यवक्रता' या 'वस्तु-वक्रता' में अलङ्कार आदि के सन्निवेश के बिना वस्तु के स्वाभाविक स्वरूप का ही सुन्दर रूप में सुन्दर शब्दों में वर्णन किया जाता है ।]

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'कुन्तक' जिसको 'वस्तुवक्रता' अथवा 'वाच्य-वक्रता' कह रहे हैं, वस्तु के इसी स्वाभाविक और सुन्दर वर्णन को भामह आदि प्राचीन आचार्यों ने 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार के नाम से कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तु का स्वभाव-सुन्दर-वर्णन जिसे कुन्तक 'वस्तुवक्रता' कह रहे हैं, भामह आदि के मत में वह एक अलङ्कार है, अलङ्कार्य नहीं। उपमा आदि अलङ्कारों से सौन्दर्य, अथवा अननुरूप आभूषणों से सौन्दर्य की मलिनता आदि तो अलङ्कार्य की सम्भव है। अलङ्कार की नहीं। तब यहाँ कुन्तक यह कैसे लिख रहे हैं कि इस प्रकार पदार्थ के स्वाभाविक सौन्दर्य के वर्णन के प्रसङ्ग में उपमा आदि वाच्य अलङ्कारों के अधिक प्रयोग से स्वाभाविक सौकुमार्य में मलिनता आजाने की सम्भावना होने से उनका अधिक उपयोग नहीं करना चाहिए। कुन्तक का वह कथन तो तब सम्भव होता जब पदार्थ के स्वाभाविक वर्णन या स्वभावोक्ति को 'अलङ्कार' नहीं अपितु 'अलङ्कार्य' माना जाता। परन्तु यह बात तो है नहीं। इसलिए कुन्तक का यह लेख ठीक नहीं है। इसी बात को मूल ग्रन्थ के अगले अनुच्छेद में 'तस्मात् कि तद्दूषणदुर्व्यसनप्रयासेन' इस पंक्ति से ग्रन्थकार ने सूचित किया है।

'स्वभावोक्ति' को 'अलङ्कार' मानने पर एक प्रश्न यह हो सकता है कि उस दशा में 'अलङ्कार्य' क्या होगा ? 'स्वभावोक्ति' को अलङ्कार मानने वाले इस प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि वस्तु का सामान्य धर्म मात्र 'अलङ्कार्य' है और उसके सातिशय स्वभाव का परिपोषण ही 'स्वभावोक्ति अलङ्कार' कहलाता है। इसलिए कुन्तक जिस सातिशय वर्णन को 'वस्तुवक्रता' कह रहे हैं वह वस्तुतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है। अतएव उपमा आदि अलङ्कारों से उसके मलिन होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः कुन्तक ने जो ऊपर लिखा है वह ठीक नहीं है। यह 'स्वभावोक्ति' को अलङ्कार मानने वालों की ओर से शङ्का की जा सकती है।

इस पूर्व पक्ष के खण्डन में कुन्तक यह युक्ति देते हैं कि जिसे हम 'वस्तुवक्रता' कह रहे हैं और आप 'स्वभावोक्ति अलङ्कार' कहना चाहते हैं वह वास्तव में 'अलङ्कार' नहीं अपितु 'अलङ्कार्य' ही है। यदि आपके पूर्वपक्ष के अनुसार वस्तु के सामान्य धर्म मात्र को 'अलङ्कार्य' तथा 'सातिशय स्वभाव वर्णन' को 'स्वभावोक्ति अलङ्कार' माना जाय तो उसमें दो दोष होंगे।

१. एक तो यह कि वस्तु के सामान्य धर्म मात्र का वर्णन तो हरएक व्यक्ति कर सकता है। उसमें कवित्व शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। और न वह चमत्कारशून्य सामान्य धर्म का वर्णन सहृदयों के लिए आह्लादकारी हो सकता है। इसलिए सहृदयाह्लादकारी काव्य के प्रसङ्ग में उस चमत्कारशून्य सामान्य धर्म का 'अलङ्कार्य' रूप में कोई स्थान नहीं हो सकता है।

ननु च सैषा सहृदयाह्लादकारिणी स्वभावोक्तिरलङ्कारतया समाम्नाता तस्मात् किं तद्दूषणदुर्व्यसनप्रयासेन । यतस्तेषां सामान्यवस्तुधर्ममात्रमलङ्कार्यम्, सातिशयस्वभावसौन्दर्यपरिपोषणमलङ्कारः प्रतिभासते । तेन स्वभावोक्तेरलङ्कारत्वमेव युक्तियुक्तमिति ये मन्यन्ते तान् प्रति समाधीयते—

यदेतन्नातिचतुरस्त्रम् । यस्माद् गतिकगतिन्यायेन काव्यकरणं न यथाकथञ्चिदनुष्ठेयतामर्हति । तद्विदाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावात् ।

---

२. दूसरा यह दोष होगा कि अनुत्कृष्ट धर्मयुक्त सामान्य अर्थ को भी अलङ्कार्य मानने पर अयोग्य भित्ति पर बनाए चित्र के समान सुन्दर अलङ्कारों से भी उसमें सौन्दर्य का आधान नहीं किया जा सकता है । इसलिए अतिशययुक्त पदार्थ स्वरूप को जिसे हम 'वस्तुवक्रता' कह रहे हैं 'अलङ्कार्य' मानना चाहिए । और उसको यथोचित अलङ्कारों से सजाना चाहिए ।

इतनी बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि जहाँ केवल स्वाभाविक सौन्दर्य के प्राधान्य की विवक्षा हो वहाँ रूपकादि अलङ्कारों का अधिक प्रयोग न हो । क्योंकि उससे वस्तु का स्वाभाविक सौन्दर्य दब जाने की आशङ्का रहती है । इसी बात को ग्रन्थकार आगे प्रतिपादन करते हैं—

[प्रश्न] अच्छा यह स्वभावोक्ति तो [भामह आदि प्राचीन आचार्यों ने] अलङ्कार रूप में कही है । इसलिए [उपमादि वाच्य अलङ्कारों से] उस [स्वाभाविक सौन्दर्य] के दूषित [म्लान] करने के अनुचित प्रयास से क्या लाभ ? [अर्थात् आप जो यह कहते हैं कि उपमा आदि वाच्य अलङ्कारों के प्रयोग से वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य में न्यूनता या मलिनता आ जाने की सम्भावना होने से वाच्यालङ्कारों का अधिक प्रयोग उचित नहीं है । आपका यह कहना ठीक नहीं है] **क्योंकि उन [उपमा आदि अलङ्कारों] का 'अलङ्कार्य', वस्तु का सामान्य धर्म मात्र है । और अतिशययुक्त स्वभाव का परिपोषण करना ही 'अलङ्कार' रूप से प्रतीत होता है ।** [और क्योंकि स्वभावोक्ति में वस्तु के अतिशययुक्त स्वभाव का परिपोषण ही किया जाता है] **इसलिए स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानना ही उचित है ।** [इसलिए उपमादि के प्रयोग से स्वाभाविक सौन्दर्य की म्लानता सम्भव नहीं है] **ऐसा जो** [भामह आदि] **मानते हैं उनके प्रति** [पूर्वपक्ष का] **समाधान करते हैं कि—**

[उत्तर] **यह** [जो आपने कहा कि वस्तु का सामान्य धर्म मात्र 'अलङ्कार्य' होता है और उसके सातिशय स्वभाव का वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार होता है । इसलिए सातिशय स्वभाव वर्णन रूप स्वभावोक्ति अथवा 'वस्तुवक्रता' के अलङ्कार रूप होने से रूपकादि अलङ्कारों से उसकी मलिनता होने का प्रश्न ही नहीं उठता है] **यह कहना उचित नहीं है । क्योंकि** [ऐसा मानने में दो दोष आ जायेंगे । एक तो

किञ्च अनुत्कृष्टधर्मयुक्तस्य वर्णनीयस्यालङ्करणमप्यसमुचितभित्तिभागोल्लिखितालेख्यवन्न शोभातिशयकारितामावहति। तस्मादत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्तं वर्णनीयं वस्तु परिग्रहणीयम् । तथाविधस्य तस्य यथायोगमौचित्यानुसारेण रूपकाद्यलङ्कारयोजनया भवितव्यम् । एतावांस्तु विशेषो यत् स्वाभाविकसौन्दर्यप्राधान्येन विवक्षितस्य न भूयसा रूपकाद्यलङ्कार उपकाराय कल्पते । वस्तुस्वभावसौकुमार्यस्य रसादिपरिपोषणस्य वा समाच्छादनप्रसङ्गात् । तथा चैतस्मिन् विषये सर्वाकारमलङ्कार्यं विलासवतीव पुनरपि स्नानसमय-विरहव्रतपरिग्रह-सुरतावसानादौ नात्यन्तमलङ्करणसहतां प्रतिपद्यते । स्वाभाविकसौकुमार्यस्यैव रसिकहृदयाह्लादकारित्वात् ।

यह कि] सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य-रचना के इस प्रसङ्ग में भेड़-चाल से [वस्तु के सामान्य धर्म मात्र को वर्णन करने वाले] जैसे-तैसे काव्य का निर्माण करना उचित नहीं है। [कवि को उसी उत्तम काव्य की रचना का प्रयत्न करना चाहिए जो वस्तुतः] सहृदयों के हृदय के लिए आह्लाददायक काव्य के लक्षण का प्रसङ्ग होने से ।

और [दूसरा दोष यह होगा कि] अनुत्कृष्ट धर्म से युक्त [रद्दी] वर्णनीय [पदार्थ] को अलंकृत करने पर भी अयोग्य आधार भित्ति पर बनाए हुए चित्र के समान [वह प्रयत्न उस रद्दी काव्य या तुकबन्दी के लिए] अधिक शोभाजनक नहीं हो सकता है। इसलिए अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म से युक्त वर्णनीय वस्तु का ही ग्रहण [कवि को] करना चाहिए। और उस प्रकार की [अत्यन्त रमणीय स्वभावयुक्त] उस वस्तु को औचित्य के अनुसार यथायोग्य रूपकादि अलङ्कारों से युक्त करना [सजाना] चाहिए। हाँ, इतनी बात अवश्य [विशेष] है कि जहाँ वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य का प्राधान्य [कवि को] विवक्षित है उसके लिए रूपकादि अलङ्कार का अधिक प्रयोग [लाभदायक] या उपयोगी नहीं होता है। [क्योंकि उससे] वस्तु के स्वाभाविक सौकुमार्य का अथवा रस आदि के परिपोषण का दब जाना सम्भव हो सकता है। जैसे कि इस विषय में [यह उदाहरण दिया जा सकता है कि] सुन्दरी स्त्री सब प्रकार से अलङ्कार्य [अलङ्कारों द्वारा सजाने योग्य] होने पर भी स्नान के समय, अथवा विरह के कारण व्रत लिये होने पर, और सुरत के बाद अधिक अलङ्कारों को सहन नहीं करती है [क्योंकि उन दशाओं में तो उसका] स्वाभाविक सौन्दर्य ही रसिकों के हृदय के लिए आह्लाददायक होता है। [इसी प्रकार स्वाभाविक सौन्दर्य के विवक्षित होने पर अधिक अलङ्कारों का प्रयोग उचित नहीं होता है] ।

यथा—

तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥१॥[1]

अत्र तथाविधस्वाभाविकसौकुमार्यमनोहरः शोभातिशयः कवेः प्रतिपादयितुमभिप्रेतः । अस्यालङ्करणकलापकलनं सहजच्छायातिरोधानशङ्कास्पदत्वेन सम्भावितम् । यस्मात् स्वाभाविकसौकुमार्यप्राधान्येन वर्ण्यमानस्योदारस्वपरिस्पन्दमहिम्नः सहजच्छायातिरोधानविधायि प्रतीत्यन्तरापेक्षमलङ्करणकल्पनं नोपकारितां प्रतिपद्यते ।

जैसे—

यह कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग का १३वाँ श्लोक है । शिव और पार्वती के विवाह हो जाने के बाद सुहागरात के मनाने के अवसर पर जब स्त्रियाँ पार्वती को आभूषण आदि पहिनाने के लिए बैठीं उस समय का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है कि—

[आभूषण आदि धारण कराने वाली] स्त्रियाँ, उस [पतली कमर वाली पार्वती] तन्वी को [सजाने के लिए] सामने बैठालकर, अलङ्कार आदि [प्रसाधनों] के पास में रखे हुए होने पर भी [उस पार्वती की] स्वाभाविक शोभा [के अवलोकन] से [ही] नेत्रों के आकर्षित हो जाने के कारण थोड़ी देर [किंकर्तव्यविमूढ़ होकर] चुपचाप बैठी रह गईं ॥१॥

यहाँ उस प्रकार की स्वाभाविक सुकुमारता से मनोहर शोभा का अतिशय प्रतिपादन करना कवि को अभिप्रेत है । और उसका अलङ्कारों से सजाना उस [पार्वती] के स्वाभाविक सौन्दर्य को मलिन करने वाला हो सकता है ऐसी शङ्का की सम्भावना [ही उनके चुप बैठे रहने का कारण] है । क्योंकि स्वाभाविक सौन्दर्य की प्रधानता से [अर्थात् प्रधान रूप से स्वाभाविक सौन्दर्य के हो] वर्ण्यमान वस्तु के, अतिशययुक्त सुन्दर स्वभाव की महिमा के [वर्णन में उसकी] स्वाभाविक सौन्दर्य का तिरोधान करने वाले [स्वभाव से भिन्न 'सादृश्य' या 'रूपक' अलङ्कार के प्रयोजक] अन्य [धर्मों] की प्रतीति की अपेक्षा रखने वाले अलङ्कारों की कल्पना उपकारक नहीं हो सकती है । [इसलिए कवि जब वस्तु को उसके स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त दिखलाना चाहता है तब अन्य अलङ्कारों का अधिक प्रयोग उचित नहीं होता है] ।

---

१. कुमारसम्भव ७, १३ ।

विशेषस्तु—रसपरिपोषपेशलायाः प्रतीतेर्विभावानुभावव्यभिचार्यौचित्य-व्यतिरेकेण प्रकारान्तरेण प्रतिपत्तिः प्रस्तुतशोभापरिहारकारितामावहति । तथा च प्रथमतरतरुणीतारुण्यावतारप्रभृतयः पदार्थाः सुकुमारवसन्तादिसमय-समुन्मेषपरिपोषपरिसमाप्तिप्रभृतयश्च स्वप्रतिपादकवाक्यवक्रताव्यतिरेकेण भूयसा न कस्यचिदलङ्करणान्तरस्य कविभिरलङ्करणीयतामुपनीयमानाः परिदृश्यन्ते ।

यथा—

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः ॥२॥[1]

विशेष [बात] तो यह है कि रस के परिपोष से सुन्दर [रसादि की] प्रतीति की, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के औचित्य के बिना अन्य प्रकार से [साक्षात् रस आदि शब्द द्वारा] उपस्थिति, प्रस्तुत [वर्ण्यमान पदार्थ रस आदि] की शोभा की बाधक हो जाती है। इसीलिए स्त्रियों के प्रथम नवयौवन के आगमन आदि पदार्थ, और सुकुमार वसन्त आदि ऋतुओं के प्रारम्भ, पूर्णता और परिसमाप्ति आदि, अपने प्रतिपादक वाक्यों की वक्रता के अतिरिक्त किसी अन्य अलङ्कार के अलङ्करणीय रूप में कवियों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हुए प्रायः नहीं देखे जाते हैं।

जैसे—

नवयौवन का स्पर्श करने वाली [वयः सन्धि में वर्तमान] मृगनयनी की हल्की-सी मधुर मुसकान, चञ्चल और मधुर आँखों की शोभा, अभिनव भावपूर्ण वाक्यों से रसमयी वाणी और हाव-भाव मयी सुन्दर चाल [इत्यादि] कौन-सी चीज मन को हरण करने वाली नहीं है ॥२॥

यह श्लोक ध्वन्यालोक में भी पृष्ठ ४५५ पर उद्धृत हुआ है। इसमें नवयौवन में प्रवेश करने वाली तरुणी के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। यहाँ तरुणी के स्वाभाविक सौन्दर्य का मनोहर शब्दचित्र उपस्थित करना ही कवि को अभिप्रेत है इसलिए उसने उसको किसी प्रकार के वाह्य अलङ्कारों से सजाने का प्रयत्न नहीं किया है। स्वभावोक्ति से ही यह सुन्दर वर्णन किया है। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण और देते हैं।

---

१. ध्वन्यालोक पृ० ४५५ पर भी उद्धृत है।

यथा वा—

अव्युत्पन्नमनोभवा मधुरिमस्पर्शोल्लसन्मानसाः
भिन्नान्तःकरणं दृशौ मुकुलयन्त्याघ्रातभूतोद्भ्रमाः ।
रागेच्छां न समापयन्ति मनसः खेदं विनैवालसाः
वृत्तान्तं न विदन्ति यान्ति च वशं कन्या मनोजन्मनः ॥३॥

यथा वा—

दोर्मूलावधि । इति ॥४॥[1]

अथवा जैसे—

[वयः सन्धि अर्थात् बाल्य और यौवन के मध्य में खड़ी हुई] कन्याएं काम-वासनाओं से अपरिचित होने पर भी यौवन के आंशिक प्रभाव से उत्पन्न माधुर्य के स्पर्श से प्रसन्न मन वाली, मनुष्यों के भ्रम को ताड़कर [आघ्रातभूतोद्भ्रमाः अर्थात् कोई युवक जब यह सोचकर कि यह मेरी ओर देख रही है या मुझ पर मुग्ध है तब उसके इस भ्रान्ति के आभास को पाकर] वे [भिन्नान्तःकरणं] हृदय को वेधती हुई-सी आँखें मींचती हैं । [अर्थात् अपनी आँखों का संकोच करके इस प्रकार उसको देखती हैं जिससे उसका हृदय घायल हो जाता है] । मन की अनुराग की इच्छा को [सम्भोग द्वारा] समाप्त या परिपूर्ण नहीं करती है और बिना ही [सुरत] श्रम के अलसाई-सी हो जाती है । [और जब किसी पर अनुरक्त होती है तब उसके] वृत्तान्त [कुल वंश चरित्र आदि] का परिचय प्राप्त किए बिना ही [केवल उसके सौन्दर्य से ही] काम के वशीभूत हो जाती है ॥३॥

यहाँ भी कवि ने वयःसन्धि में वर्तमान कन्याओं का बिल्कुल स्वाभाविक रूप से वर्णन किया है उसमें किसी प्रकार के अलङ्कार आदि का प्रयोग नहीं किया है । अतः यह भी पहिली प्रकार का ही 'वाच्यवक्रता' अथवा 'वस्तु-वक्रता' उदाहरण है ।

और जैसे [पहिले उदा० सं० १, १२१ पर उद्धृत किए हुए]—

बगलों तक स्तनों के निकलने की रेखा बनी हुई है यह [भी इसी प्रकार का उदाहरण है] ॥४॥

---

१. प्रथमोन्मेष उदाहरण १२१ ।

यथा वा—

गर्भग्रन्थिषु वीरुधां सुनमसो मध्येऽङ्कुरं पल्लवाः
वाञ्छामात्रपरिग्रहः पिकवधूकण्ठोदरे पञ्चमः ।
किञ्च त्रीणि जगन्ति जिष्णु दिवसैद्वित्रैर्मनोजन्मनो
देवस्यापि चिरोज्झितं यदि भवेदभ्यासवश्यं धनुः ॥५॥[1]

यथा वा—

हंसानां निंनदेषु इति ॥६॥[2]

यथा च—

सज्जेइ सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइअणलक्खमुहे ।
अहिणअसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणंगस्स सरे ॥७॥[3]
[सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान् ।
अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान् ॥ इतिच्छाया]

अथवा जैसे—

[वसन्त ऋतु के प्रारम्भ की ऋतुसन्धि की वेला में] लताओं की भीतर की ग्रन्थियों में फूल, और अंकुरों के भीतर पत्ते [निकल-से रहे हैं, अभी पूर्ण रूप से बाहर नहीं निकले] हैं । कोकिल वधू के गले में पञ्चम स्वर की इच्छामात्र उत्पन्न हुई है [अभी पञ्चम स्वर में कूकना प्रारम्भ नहीं किया है] किन्तु दो-तीन दिन में [ही वसन्त ऋतु का पूर्ण साम्राज्य हो जाने पर] बहुत दिनों से छोड़ा हुआ, परन्तु अभ्यास के आधीन कामदेव का धनुष भी तीनों लोकों का जीतने वाला हो जायगा ॥५॥

अथवा जैसे[पहिले उदा० सं० १, ७३ पर उद्धृत]'हंसानां निनदेषु' आदि ॥६॥

और जैसे—

[कामदेव का सखा] वसन्त मास युवतिजनों को लक्ष्य बनाने वाले [विद्ध करने वाले] मुखों [अग्रभाग फलभाग] से युक्त, नवीन पत्तों से पुङ्खित [बाणों के पीछे जो पङ्ख लगे रहते हैं उनसे युक्त], आम आदि कामदेव के बाणों को निर्माण तो कर रहा है [परन्तु अभी प्रहार करने के लिए कामदेव के हाथ में] दे नहीं रहा है ॥७॥

---

१. विद्धशालभञ्जिका १,१३, कवीन्द्रवचना० सं० ६८, हेमचन्द्र पृ० १३४, सदुक्ति कर्णामृत २,७५१ ।

२. प्रथमोन्मेष उदाहरण ७३ ।

३. ध्वन्यालोक पृ० १८८ तथा २२० पर उद्धृत ।

एवंविधविषये स्वाभाविकसौकुमार्यप्राधान्येन वर्ण्यमानस्य वस्तुनस्तदाच्छादनभयादेव न भूयसा तत्कविभिरलङ्करणमुपनिबध्यते । यदि वा कदाचिदुपनिबध्यते तत्तदेव स्वाभाविकं सौकुमार्यं सुतरां समुन्मीलयितुम् । न पुनरलङ्कारवैचित्र्यप्रतिपत्तये ।

यथा—

धौताञ्जने च नयने स्फटिकाच्छकान्ति-
र्गण्डस्थली विगतकृत्रिमरागमोष्ठम् ।
अङ्गानि दन्तिशिशुदन्तविनिर्मलानि
किं यन्न सुन्दरमभूत्तरुणीजनस्य ॥८॥

अत्र 'दन्तिशिशुदन्तविनिर्मलानि' इत्युपमया स्वाभाविकमेव सौन्दर्यमुन्मीलितम् ।

इस प्रकार के [समस्त] उदाहरणों में स्वाभाविक सौन्दर्य की प्रधानता से वर्ण्यमान वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य के आच्छादित होजाने के भय से ही उनके [निर्माण करने वाले] कविगण अधिक अलङ्कारों [अथवा सजावट] की रचना नहीं करते हैं। अथवा यदि कहीं [अलङ्कारों की] रचना करते भी हैं तो उसी स्वाभाविक सौन्दर्य को और भी अधिक रूप से प्रकाशित करने के लिए ही [करते हैं] न कि अलङ्कारों की विचित्रता दिखलाने के लिए ।

जैसे—

[यह जल विहार के बाद का वर्णन प्रतीत होता है। उस समय स्त्रियों की] धुले हुए अञ्जन [सुरमा] वाली [स्वाभाविक सौन्दर्य युक्त] आँखें, संगमरमर के समान कान्ति वाले गाल, कृत्रिम लालिमा से रहित होठ, हाथी के बच्चे के दाँतों के समान गौरवर्ण अङ्ग, नवयौवनाओं की कौन सी चीज थी जो [उस समय] सुन्दर न [लग रही] हो ॥८॥

यहाँ [इस श्लोक में] 'दन्तिशिशुदन्तविनिर्मलानि' 'हाथी के बच्चे के दाँतों के समान गौरवर्ण अङ्ग' इस उपमा [अलङ्कार] के द्वारा स्वाभाविक सौन्दर्य को ही प्रकाशित किया है। [इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ उपमालङ्कार का प्रयोग उपमा के सौष्ठव के प्रदर्शन लिए नहीं अपितु वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य को अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने के लिए ही किया है। ऐसे उदाहरणों में कवि अलङ्कारों का प्रयोग अलङ्कारों की शोभा प्रदर्शित करने के लिए नहीं अपितु स्वाभाविक सौन्दर्य को ही और अधिक प्रकाशित करने के लिए करते हैं]।

यथा वा—

अकठोरवारणवधूदन्तांकुरस्पर्धिनः । इति ॥६॥[1]

एतदेवातीव युक्तियुक्तम् । यस्मान्महाकवीनां प्रस्तुतौचित्यानुरोधेन कदाचित् स्वाभाविकमेव सौन्दर्यमेकराज्येन विजृम्भयितुमभिप्रेतं भवति, कदाचिद्विविधरचनावैचित्र्ययुक्तमिति । अत्र पूर्वस्मिन् पक्षे रूपकादेरलङ्करणकलापस्य न तादृक् तत्त्वम् । अपरस्मिन् पुनः स एव सुतरां समुज्जृम्भते । तस्मादनेन न्यायेन सर्वातिशायिनः स्वाभाविकसौन्दर्यलक्षणस्य पदार्थपरिस्पन्दस्यालङ्कार्यत्वमेव युक्तियुक्ततामालम्बते, न पुनरलङ्करणत्वम् । सातिशयत्वशून्यधर्मयुक्तस्य वस्तुनो विभूषितस्यापि पिशाचादेरिव तद्विदाह्लादकारित्वविरहादनुपादेयत्वमेवेत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

अथवा जैसे [पहिले उदा० सं० १, ७२ पर उद्धृत]—

नई हथिनी के नन्हें-नन्हें दाँतों के अंकुरों के समान ॥६॥

[यहाँ भी उपमा का प्रयोग स्वाभाविक सौन्दर्य को अधिक सुन्दर रूप से प्रकाशित करने के लिए ही किया गया है ।]

और यह [प्रक्रिया] बहुत ही युक्तिसङ्गत [प्रतीत होती] है । क्योंकि वर्ण्यमान [प्रस्तुत वस्तु] के औचित्य के अनुरोध से महाकवियों को कभी केवल स्वाभाविक सौन्दर्य ही एकछत्र रूप से प्रकाशित करना अभीष्ट होता है, और कभी विविध प्रकार के रचना के वैचित्र्य [अर्थात् अलङ्कार आदि] से युक्त [सौन्दर्य का वर्णन करना अभीष्ट होता है] । उनमें से पहिले पक्ष में [अर्थात् जहाँ केवलमात्र स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करना ही कवि का उद्देश्य है वहाँ] रूपक आदि अलङ्कारों का वैसा [स्वाभाविकसौन्दर्य के समान महत्त्व का] कोई तत्त्व नहीं है । [उनका प्रयोग व्यर्थ है] और दूसरे पक्ष में [जहाँ नाना प्रकार के रचना के वैचित्र्य से युक्त रूप में पदार्थों का वर्णन करना कवि को अभीष्ट है वहाँ] वह [अलङ्कारादि रूप रचना वैचित्र्य] ही मुख्य रूप से प्रतीत होता है [स्वाभाविक सौन्दर्य उसके नीचे दब जाता है] । इसलिए [इस युक्ति से] स्वाभाविक सौन्दर्य रूप सबसे उत्कृष्ट पदार्थ के स्वभाव [के वर्णन सदा] को अलङ्कार्य [प्रधान] मानना ही युक्तिसङ्गत है । अलङ्कार [अप्रधानत्व मानना युक्तिसङ्गत] नहीं [है] । [इसके विपरीत सर्वातिशायी स्वाभाविक सौन्दर्य के न होने पर] किसी अतिशय से रहित [साधारण या रद्दी] धर्म से युक्त वस्तु को [अत्यन्त] अलंकृत करने पर [सजाए या अलंकृत किए हुए] पिशाच आदि के समान [उसमें] सहृदयहृदयाह्लादकारित्व के न होने से उसकी अनुपादेयता ही होगी । इसलिए इस विषय में और अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है ।

---

१. प्रथमोन्मेष उदाहरण ७२ ।

यदि वा प्रस्तुतौचित्यमाहात्म्यान्मुख्यतया भावस्वभावः सातिशयत्वेन वर्ण्यमानः स्वमहिम्ना भूषणान्तरासहिष्णुः स्वयमेव शोभातिशयशालित्वादलङ्कार्योऽप्यलङ्करणमित्यभिधीयते तदयमास्माकीन एव पक्षः । तदतिरिक्तवृत्तेरलङ्कारान्तरस्य अलङ्कारतात्पर्येणाभिधानान्नात्र वयं विवदामहे ॥१॥

वमेषैव वर्ण्यमानस्य वस्तुनो वक्रता, उतान्या काचिदस्तीत्याह—

अथवा यदि [यह कहा जाय कि] प्रस्तुत [वर्ण्यमान पदार्थ] के औचित्य के कारण पदार्थ का स्वाभाविक सौन्दर्य ही अतिशययुक्त रूप से वर्ण्यमान होकर, अपनी सुकुमारता [रूप महिमा] से अन्य [किसी भी प्रकार के] आभूषण [के भार] को सहन करने में असमर्थ होने से स्वयं ही शोभातिशयशाली होने से अलङ्कार्य होने पर भी 'अलङ्कार' कहा जा सकता है। तो यह हमारा ही पक्ष हुआ। [अर्थात् यह हमारी ही बात का समर्थन हुआ। कोई नई बात नहीं हुई। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ग्रन्थकार स्वभावोक्ति को मुख्य रूप से 'अलङ्कार्य' मानना ही उचित समझते हैं। उसको गौण रूप से ही 'अलङ्कार' कहा जा सकता। जो लोग स्वभावोक्ति को 'अलङ्कार' कहते हैं उनके मत में भी स्वभावोक्ति के लिए अलङ्कार शब्द का प्रयोग सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा से ही हो सकता है। मुख्य रूप से नहीं।] **उससे [अर्थात् स्वाभाविक सौन्दर्य के वर्णन स्थल से] अन्यत्र रहने वाले [उपमा रूपक आदि] अन्य अलङ्कारों को अलङ्कार [के अभिप्राय से] कहने में हमारा कोई विवाद नहीं है।**

ग्रन्थ के आरम्भ में अलङ्कारों के विषय में स्वभावोक्तिवादी और वक्रोक्तिवादी दो पक्षों का उल्लेख किया गया था। कुछ लोग 'स्वभावोक्ति' को अलङ्कार मानते हैं और कुछ लोग 'वक्रोक्ति' को। यहाँ कुन्तक ने अपना मत स्पष्ट रूप से यह दिया है कि स्वभावोक्ति वस्तुतः कभी भी 'अलङ्कार' नहीं हो सकती है। वह सदा 'अलङ्कार्य' है, 'अलङ्कार' नहीं। यदि उसके लिए 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग होता है तो लाक्षणिक प्रयोग ही होगा ॥१॥

इस प्रकार [इस प्रथम कारिका में कही हुई केवल] यह ही [एक] वर्ण्यमान वस्तु की वक्रता ['पदार्थ वक्रता'] है या कोई और [प्रकार की पदार्थवक्रता] भी है। यह [बात अगली कारिका में] कहते हैं [कि इससे भिन्न और प्रकार की पदार्थवक्रता भी होती है]।

अपरा सहजाहार्यकविकौशलशालिनी ।
निर्मितिर्नूतनोल्लेखलोकातिक्रान्तगोचरा ॥२॥

अपरा द्वितीया। वर्ण्यमानवृत्तेः पदार्थस्य निर्मितिः सृष्टिः। वक्रतेति सम्बन्धः। कीदृशी—'सहजाहार्यकविकौशलशालिनी'। सहजं स्वाभाविकं, आहार्यं शिक्षाभ्यासमुल्लासितं च शक्तिव्युत्पत्तिपरिपाकप्रौढं यत् कवि कौशलं निर्मातृनैपुण्यं तेन शालते श्लाघते या सा तथोक्ता। अन्यच्च कीदृशी—'नूतनोल्लेखलोकातिक्रान्तगोचरा'। नूतनस्तत्प्रथमो योऽसावुल्लिख्यते इत्युल्लेखः, तत्कालसमुल्लिख्यमानोऽतिशयः तेन लोकातिक्रान्तः प्रसिद्धव्यापारातीतः कोऽपि सर्वातिशायी गोचरो विषयो यस्याः सा तथोक्तेति विग्रहः। तस्मान्निर्मितिस्तेन रूपेण विहितिरित्यर्थः। तदिदमत्र तात्पर्यम्—यन्न वर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः सन्तः क्रियन्ते। केवलं सत्ता-

कवि के सहज [शक्तिजन्य] और आहार्य [शिक्षाभ्यास से सम्पादित या व्युत्पत्तिजन्य] कौशल से शोभित होने वाली, अभिनव कविकल्पनाप्रसूत होने से लोकप्रसिद्ध [पुराने सुन्दर] पदार्थों का अतिक्रमण कर जाने वाली रचना दूसरे प्रकार की [पदार्थवक्रता रूप]होती है ॥२॥

वर्ण्यमान पदार्थ की निर्मिति अर्थात् [लोकोत्तर] रचना दूसरी प्रकार की [पदार्थ] वक्रता होती है यह [वक्रता पद का अध्याहार करके] सम्बन्ध होता है। किस प्रकार की ?—'सहज और आहार्य कवि कौशल से शोभित होने वाली'। सहज अर्थात् स्वाभाविक और आहार्य अर्थात् शिक्षा तथा अभ्यास से समुपार्जित, अर्थात् शक्ति तथा व्युत्पत्ति के परिपाक से प्रौढ़ जो कवि का कौशल अर्थात् [काव्य] निर्माण की निपुणता, उससे जो शोभित हो वह उस प्रकार की [सहजाहार्यकविकौशलशालिनी] हुई। और फिर कैसी—'नवीन कल्पना के कारण लोक [प्रसिद्ध पदार्थों] को अतिक्रमण करने वाले [पदार्थ] विषयक'। नूतन अर्थात् [अपूर्व] जो पहिली बार वर्णन की जा रही है, ऐसी अपूर्व विशेषता, उससे लोक को अतिक्रान्त कर जाने वाला अर्थात् प्रसिद्ध व्यवहार को तिरस्कृत कर देने वाला कोई लोकोत्तर सर्वोत्कृष्ट पदार्थ जिस [रचना] का विषय है। वह उस प्रकार की [नूतनोल्लेखलोकातिक्रान्तगोचरा रचना] हुई यह [उस समस्त पद का] विग्रह है। [इस प्रकार की जो वक्रता] उससे की हुई, जो रचना [वह भी पदार्थवक्रता का भेद होती है]। इसका [यहाँ] यह अभिप्राय हुआ कि—कवि वर्ण्यमान, अविद्यमान पदार्थों को उत्पन्न नहीं करते हैं। [अर्थात् कवि जिनका वर्णन करता है वे वर्ण्यमान पदार्थ उसके पूर्व संसार में न हों और कवि उनको उत्पन्न कर देता हो यह बात नहीं है] किन्तु

मात्रेण परिस्फुरतां चैषां तथाविधः कोऽप्यतिशयः पुनराधीयते, येन कामपि सहृदयहृदयहारिणी रमणीयतामधिरोप्यन्ते[1]। तदिदमुक्तम्—

लीनं वस्तुनि। इत्यादि ॥१०॥[2]

तदेवं सत्तामात्रेणैव परिस्फुरतः पदार्थस्य कोऽप्यलौकिकः शोभातिशय-विधायी विच्छित्तिविशेषोऽभिधीयते येन नूतनच्छायामनोहारिणा वास्तव-स्थितितिरोधानप्रवणेन निजावभासोद्भासिततत्स्वरूपेण तत्कालोल्लिखित इव वर्णनीयपदार्थपरिस्पन्दमहिमा प्रतिभासते, येन विधातृव्यपदेशपात्रतां प्रति-पद्यन्ते कवयः। तदिदमुक्तम्—

[लोक में] केवल सत्ता मात्र से प्रतीत होने वाले इन [पदार्थों] में [कवि] कुछ इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देता है जिससे कि वे [साधारण लौकिक पदार्थ भी] सहृदयों के हृदय को हरण करने वाली किसी अपूर्व रमणीयता को प्राप्त हो जाते हैं।

यह ही [बात उदा० सं० २, १०७ पर पूर्व उद्धृत श्लोक में] कही है—

'लीनं वस्तु' इत्यादि ॥१०॥

इस प्रकार सत्तामात्र से प्रतीत होने वाले पदार्थ में [सुकवियों द्वारा] कुछ अलौकिक शोभातिशय को उत्पन्न करने वाले सौन्दर्य विशेष का कथन या आधान कर दिया जाता है जिससे पदार्थ के वास्तविक [सत्तामात्र से प्रतीत होने वाले] स्वरूप को आच्छादित कर देने में समर्थ और [पहिले से पदार्थ में प्रतीत न होने वाले अतएव] नवीन सौन्दर्य से मन को हरण करने वाले, अपने [पूर्व अनुभव होने वाले सत्तामात्र] स्वरूप के दब जाने से उद्भासित [नवीन लोकोत्तरसौन्दर्यशाली] स्वरूप से, उसी समय प्रतीत होने वाला [एक दम नवीन-सा] वर्णनीय पदार्थ का स्वाभाविक सौन्दर्य-सा प्रस्फुटित होने लगता है। जिस [साधारण लौकिक पदार्थों में अपनी प्रतिभा द्वारा अलौकिक सौन्दर्य को उत्पन्न करने की क्षमता] के कारण ही कवि लोग 'प्रजापति' [ब्रह्मा] कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं। यही बात [अर्थात् कवि प्रजापति या ब्रह्मा होता है निम्न श्लोक में] कही भी है—

[यह नीचे उद्धृत किया हुआ श्लोक मूलतः अग्निपुराण के ३३८वें अध्याय का १०वाँ श्लोक है। और ध्वन्यालोक में भी पृष्ठ ४२२ पर उद्धृत हुआ है।]

---

१. यहाँ प्रथम संस्करण में 'अधिरोप्यते' यह एकवचन का पाठ है। परन्तु वस्तुतः बहुवचनान्त 'अधिरोप्यन्ते' पाठ अधिक उपयुक्त है इसलिए हमने बहुवचनान्त पाठ ही रखा है।

२. द्वितीयोन्मेष उदाहरण १०७।

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥११॥[1]

सैषा सहजाहार्यभेदभिन्ना वर्णनीयस्य वस्तुनो द्विप्रकारा वक्रता । तदेवमाहार्या येयं सा प्रस्तुतविच्छित्तिविधाऽप्यलङ्कारव्यतिरेकेण नान्या काचिदुपपद्यते । तस्माद्बहुविधतत्प्रकारभेदद्वारेणात्यन्तविततव्यवहाराः पदार्थाः परिदृश्यन्ते । यथा—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजड़ः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥१२॥[2]

अनन्त काव्य जगत् में [उसका निर्माण करने वाला] केवल कवि ही एकमात्र 'प्रजापति' [ब्रह्मा] है । उसे जैसा अच्छा लगता है [उसकी इच्छानुसार] यह विश्व उसी प्रकार बदल जाता है ॥११॥

यह सहज और आहार्य [स्वाभाविक शक्ति या प्रतिभा से समुद्भूत सहजा, तथा शिक्षा अभ्यास आदि से समुपार्जित व्युत्पत्ति-समुद्भूत आहार्य] भेद से वर्णनीय वस्तु की दो प्रकार की वक्रता होती है । इस प्रकार [उनमें से] यह जो आहार्य [वक्रता है] है वह प्रस्तुत [अर्थात् वक्रोक्ति] सौन्दर्य रूपा होने पर भी अलङ्कार के बिना [अतिरिक्त] और कुछ नहीं बनती है । इसलिए उस [अलङ्कार रूप आहार्य पदार्थवक्रता] के अनेक प्रकार के भेदों द्वारा पदार्थों का [वर्णन आदि] व्यवहार बहुत विस्तृत हो जाता है । जैसे—

इस [नायिका उर्वशी] की रचना [करने] में क्या [सुन्दर] कान्ति को देने वाला चन्द्रमा [प्रजापति] ब्रह्मा था, अथवा केवल शृङ्गार रस वाला स्वयं कामदेव [ही इसका विधाता था] अथवा क्या [पुष्पाकर] वसन्त के मास ने ही इसकी रचना की है [वही ब्रह्मा था । 'नु' शब्द वितर्क या सन्देह का वाचक है । इन तीनों में से ही कोई ब्रह्मा रूप में इसका निर्माण कर सकता है । इस प्रकार का वितर्क इसके वक्ता, पुरुरवा के मन में उत्पन्न हो रहा है । क्योंकि] वेदों का अभ्यास करने से जड़ बुद्धि और विषयों से विमुख [आदि पुरुष रूप प्रसिद्ध] बूढ़ा मुनि [ब्रह्मा विचारा] ऐसे सुन्दर रूप की रचना करने में कैसे समर्थ हो सकता है ॥१२॥

---

१. अग्निपुराण अध्याय ३३८, ध्वन्यालोक पृ० ४२२ पर उद्धृत ।

२. विक्रमोर्वशीय १, ८, सुभाषितावली सं० १७६७, शार्ङ्गधर पद्धति सं० ३२६८, दशरूपकावलोक ४, २, सरस्वती कण्ठाभरण पृ० १७५ साहित्यदर्पण, काव्यप्रदीप १०, ६ पर उद्धृत ।

अत्र कान्तायाः कान्तिमत्वमसीमविलाससम्पदां पदं च रसवत्वमसामान्यसौष्ठवं च सौकुमार्यं प्रतिपादयितुं प्रत्येकं तत्परिस्पन्दप्राधान्यसमुचितसम्भावनानुमानमाहात्म्यात् पृथक् पृथगपूर्वमेव निर्माणमुत्प्रेक्षितम् । तथा च कारणत्रितयास्याप्येतस्य सर्वेषां विशेषणानां 'स्वयं' इति सम्बध्यमानमेतदेव सुतरां समुद्दीपयति । यः किल स्वयमेव कान्तद्युतिस्तस्य सौजन्यसमुचितादरोचकित्वात् कान्तिमत्कार्यकरणकौशलमेवोपपन्नम् । यश्च स्वयमेव शृङ्गारैकरसस्तस्य रसिकत्वादेव रसवद्वस्तुविधानवैदग्ध्यमौचित्यं भजते । यश्च स्वयमेव पुष्पाकरस्तस्याभिजात्यादेव तथाविधः सुकुमार एव सर्गः समुचितः । तथा चोत्तरार्धे व्यतिरेकमुखेन त्रयस्याऽप्येतस्य कान्तिमत्वादेर्विशेषणैरन्यथानुपपत्तिरुपपादिता । यस्माद्वेदाभ्यासजड़त्वात् कान्तिमद्वस्तुविधानानभिज्ञत्वम् , व्या-

---

यहाँ [इस श्लोक के वक्ता राजा पुरुरवा के द्वारा अपनी] कान्ता [प्रियतमा उर्वशी] के कान्तिमत्व, असीम विलास सम्पत्ति की पात्रता, सरसता और लोकोत्तर सौन्दर्य एवं सुकुमारता को प्रतिपादन करने के लिए [कान्ति प्रदान करने वाले चन्द्रमा को, असीम विलास सम्पत्ति के आश्रयभूत कामदेव को, और सरसता, असामान्य सौन्दर्य, एवं सुकुमारता के कारणभूत वसन्त को ब्रह्मा या विधाता कहा है । उनमें से] प्रत्येक में उस-उस स्वभाव के प्राधान्य से समुचित सम्भावना के अनुमान द्वारा, पृथक्-पृथक अपूर्व निर्माण की उत्प्रेक्षा की गई है । [अर्थात् चन्द्रमा की रचना होने से कान्तिमत्व, कामदेव की रचना होने से असीम विलास सम्पत्ति तथा रसवत्ता, और पुष्पाकर वसन्त की रचना होने से सरसता, असामान्य सौष्ठव एवं सौकुमार्य की सम्भावना हो सकती है । इसलिए उनको ब्रह्मा रूप में उत्प्रेक्षित किया गया है] और इन तीनों कारणों में सब विशेषणों के साथ 'स्वयं' इस पद का सम्बन्ध इस ही बात को अत्यन्त स्पष्ट कर देता है । जो [चन्द्रमा] स्वयं ही मनोहर कान्ति से युक्त है उसके, सौजन्य के अनुरूप अरोचकी [जिसको असुन्दर पदार्थ रुचिकर न हों] होने से [उसमें] सुन्दर कार्य के निर्माण में निपुणता का होना स्वभावतः उचित ही है । और जो [कामदेव] स्वयं शृङ्गाररस-प्रधान है उसके रसिक होने से ही रसयक्त वस्तु के निर्माण में निपुणता उचित प्रतीत होती है । और जो [वसन्त मास] स्वयं ही पुष्पाकर है उसके आभिजात्य [उच्च कुल में जन्म] के कारण ही उस प्रकार की [लोकोत्तर] सुकुमार रचना ही [उसके लिए] उचित है । इसीलिए [उक्त श्लोक के] उत्तरार्द्ध में [प्रयुक्त] विशेषणों से इन कान्तिमत्व आदि तीनों की व्यतिरेक द्वारा अन्यथा अनुपपत्ति का प्रतिपादन किया है । क्योंकि [प्रसिद्ध ब्रह्मा के] वेदाभ्यास से जड़ होने के कारण कान्तियुक्त [सुन्दर] वस्तु की रचना से अनभिज्ञता, [विषयों के प्रति] उत्सुकता [कौतूहल] से रहित होने से

वृत्तकौतुकत्वाद् रसवत्पदार्थे विहितवैमुख्यम् , पुराणत्वात् सौकुमार्यसरसभाव-विरचनवैरस्यं प्रजापतेः प्रतीयते ।

तदेवमुत्प्रेक्षालक्षणोऽयमलङ्कारः कविना वर्णनीयवस्तुनः कमप्यलौकिक-लेखविलक्षणमतिशयमाधातुं निबद्धः । स च स्वभावसौन्दर्यमहिम्ना स्वयमेव तत्सहायसम्पदा सह अर्थमहनीयतामीहमानः सन्देहसंसर्गमङ्गीकरोतीति तेनोपबृंहितः। तस्माल्लोकोत्तरनिर्मातृनिर्मितत्वं नाम नूतनः कोऽप्यतिशयः पदार्थस्य वर्ण्यमानवृत्तेर्नायिकास्वरूपसौन्दर्यलक्षणस्यात्र निर्मितः कविना, येन तदेव तत्प्रथममुत्पादितमिव प्रतिभाति ।

यत्राप्युत्पाद्यं वस्तु प्रबन्धार्थपूर्वतया वाक्यार्थस्तत्कालमुल्लिख्यते कविभिः, तस्मिन् स्वसत्तासमन्वयेन स्वयमेव परिस्फुरतां पदार्थानां तथाविध-परस्परान्वयलक्षणसम्बन्धोपनिबन्धनं नाम नवीनमतिशयमात्रमेव निर्मिति-विषयतां नीयते, न पुनः स्वरूपम् ।

रसवत् पदार्थ की रचना से विमुखता और [पुराने] वृद्ध होने से सुकुमारता तथा सरसता की रचना में [प्रजापति] ब्रह्मा की पराङ्मुखता प्रतीत होती है ।

इस प्रकार वर्णनीय वस्तु में किसी अपूर्व [और अब तक के] लेखों से विलक्षण, अतिशय का आधान करने के लिए कवि ने [यहाँ] इस उत्प्रेक्षा अलङ्कार की रचना की है । और वह [अतिशय] स्वयं अपने स्वाभाविक महत्त्व से तथा उत्प्रेक्षालङ्कार की सहायता से [तत्सहायसम्पदा] नायिका [वर्ण्यमान अर्थ] की महनीयता को चाहता हुआ सन्देहालङ्कार के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करता है । इसलिए उस [सन्देहालङ्कार] से [नायिका का सौन्दर्यातिशय] परिपुष्ट होता है । इसलिए यहाँ [वर्ण्यमान] नायिका में रहने वाले नायिका के सौन्दर्य रूप पदार्थ में लोकोत्तर निर्माता के द्वारा निर्मित होने वाली कोई अपूर्व विशेषता [अतिशय] कवि ने उत्पन्न कर दी है जिसके कारण वह [नायिका का सौन्दर्य रूप पदार्थ मानो पहिली बार उत्पन्न हुआ हो इस प्रकार का] अपूर्व-सा प्रतीत होने लगता है ।

और जहाँ काव्य में प्रथम बार उसी समय वर्णित कल्पित [उत्पाद्य] वस्तु कवियों के द्वारा प्रतिपादित होती हैं वहाँ [उस वस्तु में] अपनी [कल्पित] सत्ता के सम्बन्ध से स्वयं ही प्रतीत होने वाले पदार्थों का उस प्रकार का अपूर्व, परस्पर सम्बन्ध का जनक कुछ अपूर्व अतिशय मात्र ही [कवि की उस] रचना का विषय होता है । [वस्तु का] स्वरूप [कवि की रचना का विषय] नहीं [होता है] ।

यथा—

कस्त्वं भो दिवि मालिकोऽहमिह किं पुष्पार्थमभ्यागतः
किं ते सूनमहक्रयो यदि महच्चित्रं तदाकर्ण्यताम् ।
संग्रामेष्वलभाभिधाननृपतौ दिव्याङ्गनाभिः स्रजः
प्रोज्झन्तीभिरविद्यमानकुसुमं यस्मात्कृतं नन्दनम् ॥१३॥

तदेवंविधे विषये वर्णनीयवस्तुविशिष्टातिशयविधायी भूषणविन्यासो विधेयतां प्रतिपद्यते । तथा च प्रकृतमिदमुदाहरणमलङ्करणकल्पनं विना सम्यङ् न कथञ्चिदपि वाक्यार्थसङ्गतिं भजते । यस्मात् प्रत्यक्षादिप्रमाणोपपत्तिनिश्चयाभावात् स्वाभाविकं वस्तु धर्मितया व्यवस्थापनां न सहते । तस्मात्

जैसे—

इस श्लोक में स्वर्ग के नन्दन वन के माली को पृथ्वीतल के किसी फूलों के बाज़ार में फूल खरीदते हुए देखकर कोई व्यक्ति उससे प्रश्न कर रहा है और वह माली उनके उत्तर दे रहा है । उन दोनों का संवाद रूप ही यह श्लोक है ।

[प्रश्न] अरे भाई तुम कौन हो ?

[उत्तर] मैं स्वर्ग का माली हूँ ।

[प्रश्न] यहाँ कैसे [आए हो] ?

[उत्तर] फूलों के [मोल लेने के] लिए आया हूँ ।

[प्रश्न] क्यों तुमको फूल मोल लेने की क्या आवश्यकता पड़ गई ? [यहाँ 'सूनमह क्रयो' यह पाठ कुछ अटपटा-सा प्रतीत होता है] ।

[उत्तर] यदि [मुझे यहाँ फूल खरीदते हुए देखकर आपको] बहुत आश्चर्य हो रहा है तो सुनिए [कि मुझे यहाँ फूल खरीदने के लिए क्यों आना पड़ा । इसका कारण यह है कि]—

युद्ध में किसी अज्ञात नाम वाले राजा के ऊपर [पुष्पों की] मालाओं की वर्षा करने वाली स्वर्ग की अप्सराओं ने नन्दन वन को फूलों से रहित कर दिया [इसलिए अब और फूल खरीदने के लिए मुझे यहाँ आना पड़ा है] ॥१३॥

इस प्रकार के उदाहरणों में वर्णनीय वस्तु के विशेष अतिशय को सम्पादन कराने वाले अलङ्कारों की रचना करनी आवश्यक हो जाती है । जैसे कि इस प्रकृत उदाहरण में अलङ्कारों की कल्पना के बिना किसी प्रकार भी वाक्यार्थ की सङ्गति नहीं हो सकती है । क्योंकि [इस प्रकार के कल्पित विषय में] प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की उपपत्ति का निश्चय न होने से [स्वर्ग के माली आदि का यहाँ आकर फूल खरीदना आदि वर्ण्यमान पदार्थ] स्वाभाविक वस्तु [यहाँ] धर्मी रूप से

विदग्धकविप्रतिभोल्लिखितालङ्करणगोचरत्वेनैव सहृदयहृदयाह्लादमादधाति ।

तथा च दुःसहसमरसमयसमुचितशौर्यातिशयश्लाघयाप्रस्तुतनरनाथ-विषये वल्लभलाभरभसोल्लसितसुरसुन्दरीसमूहसंगृह्यमाणमन्दारादिकुसुमदाम-सहस्रसम्भावनानुमानात् नन्दनोद्यानपादपप्रसूनसमृद्धिप्रध्वंसभावसिद्धिः समुत्प्रेक्षिता । यस्मात्प्रेक्षाविषयं वस्तु कवयस्तदिवेति तदेवेति वा द्विविधमुपनिबध्नन्तीत्येतत् तल्लक्षणावसर एव विचारयिष्यामः ।

तदेवमियमुत्प्रेक्षा पूर्वार्द्धविहिता अप्रस्तुतप्रशंसोपनिबन्धबन्धुरा प्रकृत-पार्थिवप्रतापातिशयपरिपोषप्रवणतया सुतरां समुद्भासमाना तद्विदावर्जनं जनयति ।

स्थापित नहीं की जा सकती है । इसलिए चतुर कवि की प्रतिभा से निबद्ध अलङ्कार का विषय होकर ही सहृदयों के हृदय के लिए आनन्द को उत्पन्न करती है ।

जैसे कि [इस श्लोक में] घनघोर युद्ध के समय उचित पराक्रम के अतिशय की प्रशंसा द्वारा प्रकृत [अलभाभिधाननृपतौ] अज्ञातनामा राजा के विषय में, [अलौकिक] प्रिय की प्राप्ति के उत्साह से युक्त देवाङ्गनाओं के समूह के द्वारा इकट्ठे किए जाते हुए मन्दार आदि [नन्दन कानन के वृक्षों के] फूलों की [बनी हुई] सहस्रों मालाओं की सम्भावना के अनुमान से नन्दन वन के वृक्षों के पुष्पों के अभाव की सिद्धि की उत्प्रेक्षा की गई है । क्योंकि उत्प्रेक्षा की विषयभूत [अर्थात् जिसकी उत्प्रेक्षा करते हैं उस] वस्तु को [उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे अष्टाध्यायी २, १, ५६ इस सूत्र से] 'तदिव' उसके समान [इस विग्रह में उपमित समास करके] अथवा [मयूरव्यंसकादयश्च अष्टाध्यायी २, १, ७२ इस सूत्र से समास करके] 'तदेव' वह ही [यह उसके समान है अथवा वह ही है] इस प्रकार दो रूपों में वर्णन करते हैं । यह बात उन ['तदिव' विग्रह में उपमा और 'तदेव' इस विग्रह में होने वाले रूपक अलङ्कार] के लक्षण के अवसर पर ही [विशेष रूप से] विचार करेंगे । [और सामान्य रूप से इसका विचार इसके पूर्व भी पृ० २१२ पर कर चुके हैं] ।

इस प्रकार [श्लोक के] पूर्वार्द्ध में की गई यह उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत प्रशंसा के सम्बन्ध से और भी मनोहर रूप में प्रकृत [वर्ण्यमान] राजा के प्रताप के अतिशय का परिपोषण करती हुई और अत्यन्त सुन्दर रूप से स्वयं प्रकाशित होती हुई सहृदयों के हृदयों को आकर्षित करती है ।

ग्रन्थकार ने इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा से परिपोषित उत्प्रेक्षा अलङ्कार माना है। अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण भामह ने निम्न प्रकार किया है—

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा ॥३,२६॥
प्रीणितप्रणयि स्वादु काले परिणतं बहु।
बिना पुरुषकारेण फलं पश्यत शाखिनाम् ॥३,३०॥

उत्प्रेक्षा का लक्षण तथा उदाहरण भामह के काव्यालङ्कार में इस प्रकार दिए गए हैं—

अविवक्षितसामान्यं किञ्चिच्चोपमया सह।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षाऽतिशयान्विता ॥२,६१॥
किंशुकव्यपदेशेन तरुमारुह्य सर्वतः।
दग्धादग्धमरण्यान्याः पश्यतीव विभावसुः ॥२,६२॥

दूसरे लोग इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलङ्कार मानते हैं। अतिशयोक्ति का लक्षण तथा उदाहरण भामह के काव्यालङ्कार में इस प्रकार दिए गए हैं—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥२, ८१॥
स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिताः।
अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः ॥२, ८२॥

अपने मत का अतिशयोक्तिवादी मत के साथ समन्वय करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जैसा कि भामहकृत उत्प्रेक्षा के लक्षण, 'उत्प्रेक्षातिशान्विता' से प्रतीत होता है, उत्प्रेक्षालङ्कार का मूल भी अतिशयोक्ति होती है। और अतिशयोक्ति के अपने लक्षण में अतिशयोवित ही होती है। इसीलिए उसको 'अतिशयोक्ति' नाम से कहा जाता है। और न केवल उत्प्रेक्षा में ही अपितु अन्य सब अलङ्कारों में भी अतिशयोक्ति ही मूल होती है। इसीलिए भामह ने अतिशयोक्ति के निरूपण में ही आगे कहा है कि—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥२,८५॥

अर्थात् सभी अलङ्कारों में मूल रूप से अतिशयोक्ति विद्यमान रहती है उसके बिना कोई अलङ्कार नहीं हो सकता है। इसलिए जहाँ हम उत्प्रेक्षा अलङ्कार कह रहे हैं उसमें यदि दूसरे लोग अतिशयोक्ति अलङ्कार मानते है तो उनका हमारे मत से कोई विरोध नहीं होता है। क्योंकि अतिशयत्व जो अतिशयोक्ति अलङ्कार का मूल है वही अन्य सब अलङ्कारों का पोषक है। यही बात आगे कहते हैं—

सातिशयत्वं—

उत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥१४॥

इत्यस्याः—

स्वलक्षणानुप्रवेश इति। अतिशयोक्तेश्च—

कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥१५॥

इति सकलालङ्करणानुग्राहकत्वम्। तस्मात् पृथगतिशयोक्तिरेवेयं मुख्यतयेत्युच्यमानेऽपि न किञ्चिदतिरिच्यते।

कविप्रतिभोत्प्रेक्षितत्वेन चात्यन्तमसम्भाव्यमभुपनिबध्यमानमनयैव युक्त्या समञ्जसतां गाहते न पुनः स्वातन्त्र्येण। यद्वा कारणतो लोकातिक्रान्तगोचरत्वेन वचसः सैवेयमित्यस्तु। तथापि प्रस्तुतातिशयविधानव्यतिरेकेण न किञ्चिदपूर्वमत्रास्ति ॥२॥

[अतिशयोक्ति का मूलभूत] सातिशयत्व [धर्म सकल अलङ्कारों का अनुग्राहक है। जैसे कि]—

'उत्प्रेक्षातिशयान्विता' [इस लक्षण के अनुसार अतिशय] इस [उत्प्रेक्षा] का [अनुग्राहक है]।

और [अतिशयोक्ति के] अपने लक्षण में [अतिशय का] अनुप्रवेश होने से [अतिशय] अतिशयोक्ति का भी [अनुग्राहक] है।

[इसके अतिरिक्त भामह के] 'कोऽलङ्कारोऽनया बिना' इस कथन के अनुसार [अतिशयोक्ति का मूलभूत अतिशय ही अन्य] सब अलङ्कारों का [भी] अनुग्राहक है। इसलिए यहाँ [इस श्लोक में] मुख्यतया अतिशयोक्ति अलङ्कार ही अलग है, ऐसा मानने पर भी [हमारे उत्प्रेक्षावादी सिद्धान्त से] कोई भेद नहीं होता है।

कवि प्रतिभा से उत्प्रेक्षित अत्यन्त असम्भव अर्थों का वर्णन भी इसी युक्ति से [कि सब अलङ्कारों का मूलभूत अतिशयोक्ति ही होती है। इसलिए वही उत्प्रेक्षा का भी मूल है। इसलिए अत्यन्त असम्भव रूप से उत्प्रेक्षित अर्थ की कल्पना में वस्तुतः अतिशयोक्ति से ही काम लिया जाता है] सङ्गत हो सकता है। स्वतन्त्र रूप से [सङ्गत] नहीं [हो सकता है]। अथवा 'कारण देकर अलौकिक [लोक में न पाए जाने वाले] पदार्थ का वर्णन किया जाता है वह अतिशयोक्ति होती है' [यह जो अतिशयोक्ति का लक्षण भामह ने किया है उसके अनुसार यहाँ अर्थात् 'कस्त्वं भो' इत्यादि श्लोक में केवल] वह [अतिशयोक्ति] ही माननी चाहिए [अप्रस्तुतप्रशंसा के परिपुष्ट उत्प्रेक्षा नहीं]। फिर भी प्रस्तुत [वर्ण्यमान राजा] के अतिशय सम्पादन करने के अतिरिक्त [अतिशयोक्ति अलङ्कार मानने में भी] यहाँ और कुछ विशेषता नहीं है ॥२॥

तदेवमभिधानस्य पूर्वं, अभिधेयस्य चेह वक्रतामभिधायेदानीं वाक्यस्य वक्रत्वमभिधातुमुपक्रमते—

मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालङ्कारसम्पदः ।
अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहितिजीवितम् ॥३॥
मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक् ।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम् ॥४॥

'अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं'—वाक्यस्य परस्परान्वितवृत्तेः पदसमुदायस्यान्यदपूर्वं व्यतिरिक्तमेव वक्रत्वं वक्रभावः । भवतीति सम्बन्धः क्रियापदान्तराभावात् । कुतः—'मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालङ्कारसम्पदः' । मार्गाः सुकुमारादयः, तत्रस्थाः केचिदेव वक्राः प्रसिद्धव्यवहारव्यतिरेकिणो ये शब्दार्थगुणालङ्कारा-

---

इस प्रकार पहले [द्वितीय उन्मेष में] वाचक [शब्द] की, और यहाँ [तृतीय उन्मेष की १, २ कारिकाओं में] वाच्य अर्थ की 'वक्रोक्ति' का प्रतिपादन करके अब [अगली कारिकाओं में शब्द और अर्थ के समुदाय रूप] वाक्य की वक्रता का वर्णन करना आरम्भ करते हैं—

[सुकुमार विचित्र और मध्यम] मार्गों में स्थित शब्द, अर्थ, गुण तथा अलङ्कारों के सौन्दर्य से भिन्न उस प्रकार [की विशेष शैली] से कथन करना ही जिसका प्राण है इस प्रकार की 'वाक्यवक्रता' अलग ही होती है ॥३॥

सुन्दर आधारभित्ति पर अङ्कित चित्र के रंगों के सौन्दर्य से भिन्न चित्रकार की, मन को हरण करने वाली अनिर्वचनीय निपुणता के समान [मार्गस्थ वक्र शब्द, गुण अलङ्कार आदि से भिन्न, काव्य के] निर्माता का कुछ और अनिर्वचनीय कौशल वाक्यवक्रता है ॥४॥

वाक्य की वक्रता अलग ही है । वाक्य अर्थात् परस्पर अन्वित वृत्ति वाले पद समुदाय की [वक्रता] अन्य अर्थात् अपूर्व [और शब्दादि की वक्रता से] अलग ही है । [कारिका में] अन्य कोई क्रिया [श्रुत] न होने से [अध्याहार की हुई] 'भवति' 'होता है' इस [क्रिया] के साथ सम्बन्ध है [यह समझना चाहिए] । किस से [भिन्न 'वाक्य-वक्रता' होती है कि—] मार्गों में स्थित सुन्दर शब्द, अर्थ गुण तथा अलङ्कारों के सौन्दर्य से अलग । मार्ग [का अर्थ प्रथमोन्मेष में कहे हुए] सुकुमार आदि [मार्ग] हैं । उनमें स्थित जो कोई [विरले] ही [सब नहीं] वक्र [सुन्दर अर्थात्] प्रचलित [नित्य प्रति के सर्वसाधारण के] व्यवहार में आने वाले से भिन्न

स्तेषां सम्पत् काप्युपशोभा तस्याः पृथग्भूतं किमपि वक्रत्वान्तरमेव। कीदृशम्—'तथाभिहितिजीवितम्' । तथा तेन प्रकारेण केनाप्यव्यपदेश्येन याभिहितिः काप्यपूर्वैवाभिधा, सैव जीवितं सर्वस्वं यस्य तत्तथोक्तम् ।

किं स्वरूपमित्याह—'कर्तुः किमपि कौशलम्'। कर्तुः निर्मातुःकिमप्यलौकिकं यत् कौशलं नैपुण्यं तदेव वाक्यस्य वक्रत्वमित्यर्थः । कथञ्च तद्—'चित्रस्येव' । आलेख्यस्य यथा । 'मनोहारि' हृदयरञ्जकं प्रकृतोपकरणव्यतिरेकि कर्तुरेव कौशलम् । 'किमपि' पृथग्भूतं व्यतिरिक्तम् । कुत इत्याह—'मनोज्ञफलकोल्लेख-वर्णच्छायाश्रियः' । मनोज्ञाः काश्चिदेव हृदयहारिण्यो याः फलकोल्लेखवर्ण-च्छायास्तासां श्रीरूपशोभा तस्याः । पृथग्रूपं किमपि तत्त्वान्तरमेवेत्यर्थः । फलकमालेख्याधारभूता भित्तिः । उल्लेखश्चित्रसूत्रप्रमाणोपपन्नं रेखा-विन्यसनमात्रम् । वर्णा रञ्जकद्रव्यविशेषाः । छाया कान्तिः ।

जो शब्द, अर्थ, गुण और अलङ्कार, उनकी जो कुछ अपूर्व शोभा उससे, पृथक् भूत कुछ अन्य ही वक्रता [वाक्यवक्रता होती है] ।

कैसी [वह वक्रता होती है कि—] उस प्रकार [उस वाक्य में कही हुई शैली] से वर्णन करना ही जिसका जीवन स्वरूप है । 'तथा' अर्थात् अन्य किसी प्रकार से जो न कहा जा सके उस [विशेष] प्रकार का कथन ही अर्थात् कुछ अपूर्व शैली का वर्णन वह ही जिसका जीवन है वह [उस प्रकार की तथाभिहित-जीवितम्] हुई ।

किस प्रकार का [वह वाक्यवक्रत्व होता है कि—] 'कर्ता के अपूर्व कौशल रूप' । कर्ता अर्थात् [उस श्लोक वाक्य के] निर्माता का जो कोई अपूर्व कौशल है वह ही वाक्य का वक्रत्व है, यह अभिप्राय हुआ । किसी प्रकार से चित्र अर्थात् आलेख्य का-सा मनोहर अर्थात् हृदय को आनन्द देने वाला । प्रकृत [चित्र के] साधनों से भिन्न चित्रकार का कुछ अपूर्व कौशल जैसे [उन चित्र के अन्य साधनों से] अलग पृथक् रूप से [चित्र का सौन्दर्याधायक जीवन रूप होता है इसी प्रकार श्लोक वाक्य में भी उसके निर्माता कवि का कौशल ही वाक्य की वक्रता का जीवना-धायक होता है] । किससे [अलग कि—] सुन्दर आधारभित्ति पर अङ्कित रंगों के सौन्दर्य से [भिन्न], मनोहर अर्थात् सुन्दर जो विरली रंगों की सुन्दरता उनकी जो शोभा उससे जो पृथक्भूत कुछ और ही अपूर्व तत्त्व [होता है जो वाक्यवक्रता नाम से कहा जा सकता है । इस कारिका में प्रयुक्त हुए विशेष शब्दों का अर्थ आगे देते हैं] फलक [शब्द का अर्थ] चित्र की आधारभित्ति है । उल्लेख [शब्द का अर्थ] चित्र की नाप के अनुसार अङ्कित रेखाओं की रचना [रेखाचित्र] मात्र है । वर्ण [शब्द का अर्थ] रंगने वाले द्रव्य विशेष है । छाया [शब्द का अर्थ] कान्ति है ।

तदिदमत्र तात्पर्यम्—यथा चित्रस्य किमपि फलकाद्युपकरणकलापव्यतिरेकि सकलप्रकृतपदार्थजीवितायमानं चित्रकारकौशलं पृथक्त्वेन मुख्यतयोद्भासते, तथैव वाक्यस्य मार्गादिप्रकृतपदार्थसार्थव्यतिरेकि कविकौशललक्षणं किमपि सहृदयसंवेद्यं सकलप्रस्तुतपदार्थस्फुरितभूतं वक्रत्वमुज्जृम्भते।

तथा च—भावस्वभावसौकुमार्यवर्णने शृङ्गारादिरसस्वरूपसमुन्मीलने वा विविधभूषणविन्यासविच्छित्तिविरचने च परः परिपोषातिशयस्तद्विदाह्लादकारितायाः कारणम्। पदवाक्यैकदेशवृत्तिर्वा यः कश्चिद् वक्रताप्रकारस्तस्य कविकौशलमेव निबन्धनतया व्यवतिष्ठते। यस्मादाकल्पमेवैषां तावन्मात्रस्वरूपनियतनिष्ठतया व्यवस्थितानां स्वभावालङ्करणवक्रताप्रकाराणां नवनवोल्लेखविलक्षणं चेतनचमत्कारकारि किमपि स्वरूपान्तरमेतस्मादेव समुज्जृम्भते।

तेनेदमभिधीयते—

इस सबका यहाँ यह अभिप्राय हुआ कि चित्र के फलक आदि समस्त साधन समूह से अलग और प्रकृत [चित्र में प्रदर्शित] समस्त पदार्थों का जीवन स्वरूप मुख्य रूप से चित्रकार का कौशल ही जैसे अलग प्रतीत होता है इसी प्रकार [सुकुमार विचित्र और मध्यम] मार्ग आदि समस्त पदार्थों के समूह से भिन्न, [काव्य में वर्णित] समस्त प्रस्तुत पदार्थों का प्राणस्वरूप सहृदयसंवेद्य कवि कौशल रूप [वाक्य का] कुछ अपूर्व वक्रत्व अलग ही प्रतीत होता है।

इसलिए पदार्थों के स्वाभाविक सौकुमार्य के वर्णन में अथवा शृङ्गार आदि रसों के वर्णन में और नाना प्रकार के अलङ्कारों के चमत्कार को उत्पन्न करने में [वाक्यवक्रता का] अत्यन्त परिपोष सहृदयों के हृदय के आह्लाद का कारण होता है। और पद अथवा वाक्य के एक देश में रहने वाला जो कोई वक्रता का प्रकार है उस [सब] का [भी] कवि का कौशल ही कारण रूप से निश्चित होता है। क्योंकि केवल अपने [सत्तामात्र] स्वरूप से सदा [एक रस] रहने वाले, स्वभाव, अलङ्कार आदि रूप वक्रता के प्रकारों का नए-नए रूप से वर्णन के कारण विलक्षण [अपूर्व] और सहृदयों का चमत्कारकारी कुछ अलौकिक [सुन्दर] स्वरूप भी इसी [कवि कौशल] से उत्पन्न होता है।

इसलिए यह कहा है कि—

आसंसारं कइपुंगवेहि पडिदिअहगहिअसारो वि ।
अज्जवि अभिन्नमुहो व्व जअइ वाआं परिष्फंदो ॥१६॥
[आसंसारं कविपुङ्गवैः प्रतिदिवसगृहीतसारोऽपि ।
अद्याप्यभिन्नमुद्र इव जयति वाचां परिस्पन्दः ॥इतिच्छाया][1]

अत्र सर्गारम्भात् प्रभृति कविप्रधानैः प्रातिस्विकप्रतिभापरिस्पन्दमाहात्म्यात् प्रतिदिवसगृहीतसर्वस्वोऽप्यद्यापि नवनवप्रतिभासानन्त्यविजृम्भणादनुद्घाटितप्राय इव यो वाक्यपरिस्पन्दः स जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । इत्येवमस्मिन् सुसङ्गतेऽपि वाक्यार्थे कविकौशलस्य विलसितं किमप्यलौकिकमेव परिस्फुरति । यस्मात् स्वाभिमानध्वनिप्राधान्येन तेनैतदभिहितं यथा—'आसंसारं कविपुङ्गवैः प्रतिदिवसगृहीतसारोऽप्यद्याप्यभिन्नमुद्र इवायम्' । एवमपरिज्ञाततत्त्वतया न केनचित् किमप्येतस्माद् गृहीतमिति मत्प्रतिभोद्घाटितपरमार्थस्येदानीमेव

सृष्टि के आरम्भ से उत्तम कवियों द्वारा प्रतिदिन सार का ग्रहण करने पर भी वाणी के सौन्दर्य की अभी तक मुहर भी नहीं टूटी है [आज तक भी पूर्ण रूप से खुला हुआ प्रतीत नहीं होता है] ॥१६॥

यहाँ [इस श्लोक में] सृष्टि के आरम्भ से महाकवियों के द्वारा अपनी-अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा की पहुँच के अनुसार प्रतिदिन [सर्वस्व] सारतत्त्व के लिए जाने पर भी आज भी अनन्त नई-नई कल्पनाओं के स्फुरण के कारण जो अभी बन्द-सा पड़ा है इस प्रकार का जो वाणी का सौन्दर्य वह 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कर्ष से युक्त है। इस प्रकार इस वाक्यार्थ के सुसङ्गत हो जाने पर भी कवि के कौशल का कुछ अलौकिक ही सौन्दर्य प्रतीत होता है । क्योंकि [इस श्लोक के रचयिता ने] अपने अभिमान को प्रधान रूप से ध्वनित करते हुए [इस श्लोक में] यह कहा है कि सृष्टि के आरम्भ से प्रतिदिन महाकवियों के द्वारा सारतत्त्व का अपहरण किए जाते रहने पर भी आज भी [वाणी के कोष] की मुद्रा भी नहीं खुली-सी जान पड़ती है । इसलिए [वस्तुतः] तत्त्व [सार] का ज्ञान न होने से आज तक किसी [महाकवि] ने भी इस [वाणी के कोष] में से कुछ भी [सार] नहीं ले पाया है । [सभी की उक्तियाँ सारहीन हैं] अब केवल मेरी प्रतिभा से ही यथार्थ तत्त्व का पता चला है ।

---

१. राजशेखरकृत काव्यमीमांसा के पृष्ठ ५२ पर यह पद्य संस्कृत छाया रूप में उद्धृत है ।

मुद्राबन्धोद्भेदो भविष्यतीति लोकोत्तरस्वपरिस्पन्दसाफल्यापत्तेर्वाक्यपरिस्पन्दो जयतीति सम्बन्धः ।

यद्यपि रसस्वभावालङ्काराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम्, तथाप्यलङ्कारस्य विशेषतस्तदनुग्रहं विना वर्णनाविषयवस्तुनो भूषणाभिधायित्वेनाभिमतस्य स्वरूपमात्रेण परिस्फुरतो यथार्थत्वेन निबध्यमानस्य तद्विदाह्लादविधानानुपपत्तेर्मनाङ्मात्रमपि न वैचित्र्यमुत्प्रेक्षामहे, प्रचुरप्रवाहपतितेतरपदार्थसामान्येन प्रतिभासनात् ।

यथा—

दूर्वाकाण्डमिव श्यामा तन्वी श्यामा लता यथा ॥१७॥

इत्यत्र ।

इसलिए अब उसकी मुहर [सील] टूटेगी इस प्रकार अपने लोकोत्तर व्यापार की सफलता [के सूचन] से, वाणी का सौन्दर्य [व्यापार] सर्वोत्कर्ष से युक्त होता है यह ['जयति' क्रिया के साथ] सम्बन्ध है ।

यद्यपि रस, स्वभाव तथा अलङ्कार सब [के सौन्दर्य] का कवि का कौशल ही प्राणभूत होता है फिर भी विशेष रूप से अलङ्कार का, उस [कविकौशल] के अनुग्रह [साहाय्य] के बिना [नाम मात्र को भी वैचित्र्य नहीं हो सकता है इस अगले वाक्य से सम्बन्ध है । बीच में कहे हुए सब षष्ठ्यन्त पद 'अलङ्कारस्य' के विशेषण है] वर्णन के विषयभूत पदार्थ के आभूषण [अलङ्कार] कहलाने योग्य किन्तु [अलङ्कारत्वोपयोगि सौन्दर्य से रहित] केवल स्वरूपमात्र से प्रतीत होने वाले और वास्तविक रूप में निबद्ध किए गए [रूपक आदि अलङ्कार] में सहृदयहृदयाह्लादकत्व के अनुपपन्न होने से [कवि कौशल के बिना अनुभव के] प्रवाह में आए हुए अन्य सैकड़ों पदार्थों के समान ही [उन रूपक, सादृश्य आदि की] प्रतीत होने से नाममात्र को भी वैचित्र्य नहीं हो सकता है । [उनमें किसी का अन्य के प्रति शोभा जनकत्व प्रतीत नहीं हो सकता है] ।

जैसे—

दूब [घास]के समान श्याम वर्ण [अथवा षोडशवर्षदेशीया] सुन्दरी [श्यामा] प्रियङ्गु लता जैसी लगती है ॥१७॥

इसमें [कवि कौशल के अभाव के कारण केवल सादृश्य मात्र से किसी प्रकार का सहृदयहृदयाह्लादक चमत्कार प्रतीत नहीं होता है] ।

नूतनोल्लेखमनोहारिणः पुनरेतस्य लोकोत्तरविन्यसनविच्छित्ति-विशेषितशोभातिशयस्य किमपि तद्विदाह्लादकारित्वमुद्भिद्यते।

यथा—

अस्याः सर्गविधौ। इति ॥१८॥[1]

यथा वा—

किं तारुण्यतरोः। इति ॥१६॥[2]

तदेवं पृथग्भावेनापि भवतोऽस्य कविकौशलायत्तवृत्तित्वलक्षणवाक्य-वक्रतान्तर्भाव एव युक्तियुक्ततामवगाहते। तदिदमुक्तम्—

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥२०॥[3]

और [कवि की प्रतिभा के योग से इसी प्रकार के दूसरे उदाहरणों में] नई कल्पना से मनोहर इसी [प्रकार के उदाहरणों] का लोकोत्तर रचना-शैली से विशिष्ट शोभातिशय. कुछ अपूर्व सहृदयहृदयाह्लादक-सा प्रतीत होने लगता है [खिल उठता है]।

जैसे—

[उदा० ३, १२ पर पीछे उद्धृत किए हुए] 'अस्याः सर्गविधौ' इसमें ॥१८॥

और जैसे—

[उदा० १, ६२ पर उद्धृत किए हुए] 'किं तारुण्यतरोः' इस [श्लोक] में ॥१६॥

[कवि कौशल के योग से ही अलङ्कारों का चमत्कार प्रतीत होता है]।

इस प्रकार इस [अलङ्कारवक्रता] के पृथक् रूप से सम्भव होने पर भी कवि कौशल के आधीन होने से वाक्यवक्रता के भीतर ही उसका अन्तर्भाव युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यह बात [पहिले प्रथमोन्मेष की २०वीं कारिका में] कह चुके हैं कि—

वाक्य की वक्रता [पदादि की वक्रता से] अन्य है जो सहस्रों भेदों में विभक्त हो सकती हैं। और जिसमें यह [प्रसिद्ध] सारा अलङ्कार समुदाय अन्तर्गत हो जायगा ॥२०॥

अभी पृ० ३१८ पर 'यद्यपि 'रस-स्वभाव-अलङ्काराणां सर्वेषां कविकौशल मेव जीवितम्' लिखकर कुन्तक ने कवि कौशल को ही इन सबका कारण बतलाया है। इन से अलङ्कारों का उदाहरण ऊपर दे चुके हैं। शेष स्वभाव तथा रस के उदाहरण आगे देते हैं।

---

१. तृतीयोन्मेष उदाहरण १२।

२. प्रथमोन्मेष उदाहरण ६२।

३. प्रथमोन्मेष कारिका २०।

भावोदाहरणं यथा—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम् ।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते मन्ये जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ॥२१॥[1]

अत्र यद्यपि स्वहृदयसंवेद्यं वस्तुसम्भवि स्वभावमात्रमेव वर्णितं, तथाप्यनुत्तानतया व्यवस्थितस्यास्य विरलविदग्धहृदयैकगोचरं किमपि नूतनोल्लेखमनोहारि पदार्थान्तरलीनवृत्ति सूक्ष्मसुभगं तादृक् स्वरूपमुन्मीलितं येन वाक्यवक्रतात्मनः कविकौशलस्य काचिदेव काष्ठाधिरूढिरुपपद्यते । यस्मात् तद्व्यतिरिक्तवृत्तिरर्थातिशयो न कश्चिल्लभ्यते ।

रसोदाहरणं यथा—

लोको यादृशमाह साहसधनं तं क्षत्रियापुत्रकं
स्यात् सत्येन स तादृगेव न भवेद्वार्ता विसंवादिनी ।

स्वभाव [वक्रता] का उदाहरण जैसे—

हे भद्र [उद्धव] गोपवधुओं के [भोग] विलास के सखा, राधा की एकान्त क्रीड़ाओं के साक्षी, यमुना तट के लताकुञ्ज तो कुशल से हैं । अथवा अब तो [कृष्ण के वहाँ से चले आने के कारण] मदन शय्या के निर्माण के लिए कोमल पत्तों के तोड़े जाने की आवश्यकता न रहने के कारण, मैं समझता हूँ कि अपनी नीली कान्ति को फैलाते हुए वह वे पल्लव [पुराने] रूढ़े हो जाते होंगे ॥२१॥

यहाँ [इस श्लोक में] यद्यपि वस्तु में सम्भव होने वाले सहृदय संवेद्य स्वभाव मात्र का वर्णन किया है फिर भी उसको [सीधी तरह से न कहकर] वक्रभाव से कहने से विरले [विदग्ध] सहृदयों के अनुभव गोचर, पदार्थ में छिपा हुआ, नवीन कल्पन से मनोहर, सूक्ष्म और सुन्दर कुछ ऐसा स्वरूप उन्मीलित होता है जिससे वाक्यवक्रता रूप कवि के कौशल को अपूर्व चरम सौन्दर्य की प्राप्ति होती है । क्योंकि उस [कवि कौशल] के बिना कोई चमत्कार [इसमें] प्रतीत नहीं होता है ।

[कवि कौशल निमित्तक] रस [के सौन्दर्य] का उदाहरण जैसे—

उस साहसी [मुझ से युद्ध करने का साहस करने वाले] क्षत्रिया के बच्चे [यहाँ तुच्छता सूचन के लिए ही 'क्षत्रिया' शब्द का और पुत्रक पद में 'क' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है ।] को लोग जैसा [शूरवीर] कहते हैं वह सचमुच वैसा ही [भले ही] हो [और उसके विषय में कही जाने वाली प्रशंसा की] बात सत्य ही

---

१. ध्वन्यालोक पृ० १२६ पर उद्धृत ।

एकां कामपि कालविप्रुषममी शौर्योष्मकण्डूव्यय-
व्यग्राः स्युश्चिरविस्मृतामरचमूडिम्बाहवा बाहवः ॥२२॥[1]

अत्रोत्साहाभिधानः स्थायिभावः समुचितालम्बनविभावलक्षणविषय-सौन्दर्यातिशयश्लाघाश्रद्धालुतया विजिगीषोर्वैदग्ध्यमङ्गीभणितिवैचित्र्येण परां परिपोषपदवीमधिरोपितः सन् रसतामानीयमानः किमपि वाक्यवक्रस्वभावं कविकौशलमावेदयति । अन्येषां पूर्वप्रकरणोदाहरणानां प्रत्येकं तथाभिहिति-जीवितलक्षणं वक्रत्वं स्वयमेव सहृदयैर्विचारणीयम् ।

वक्रतायाः प्रकाराणामौचित्यगुणशालिनाम् ।
एतदुत्तेजनायालं स्वस्पन्दमहतामपि ॥२३॥

हो सही । [किन्तु] बहुत दिनों से देवताओं की सेना के सैनिकों के साथ युद्ध करना भी [देवताओं के पराजय मान लेने से] जिनको विस्मृत हो गया है ऐसे मेरे बाहु थोड़ी देर के लिए [कामपि कालविप्रुषं] पराक्रम की गर्मी से उत्पन्न खुजली को मिटाने के लिए व्याकुल हो रहे हैं ॥२२॥

यह श्लोक रामचन्द्र जी के पराक्रम आदि की प्रशंसा सुनकर भी उनके साथ युद्ध करने की इच्छा रखने वाले रावण द्वारा कहा गया है ।

यहाँ समुचित आलम्बन विभाव रूप विषय [अर्थात् रामचन्द्र] के सौन्दर्या-तिशय [यहाँ सौन्दर्यातिशय से पराक्रमातिशय अभिप्रेत है क्योंकि वीररस का सौन्दर्य पराक्रमातिशय ही हो सकता है] की प्रशंसा में [विश्वासयुक्त] श्रद्धावान् होने से [रामचन्द्र जी के पराक्रमातिशय का जो वर्णन रावण के सामने किया गया है उस पर विश्वास करता हुआ ही वह कह रहा है कि] विजय की इच्छा रखने वाले [रावण] की चतुरतापूर्ण कथनशैली की विचित्रता से उत्साह नामक [वीर रस का] स्थायी भाव अत्यन्त परिपोष पदवी को प्राप्त होकर आस्वाद्यमानता अथवा रसरूपता [वीररसरूपता] को पहुँचकर वाक्यवक्रता रूप कुछ अपूर्व कवि कौशल को सूचित करता है ।

पूर्व [अर्थात् वाच्यवक्रता के] प्रकरण के अन्य उदाहरणों की, उस रूप में कथन ही जिसका प्राण है इस प्रकार की [वाक्य] वक्रता का [इसी तरह से] सहृदय [पाठक] स्वयं विचार कर लें ।

[इस विषय को संक्षेप में सङ्कलित करने वाले दो संग्रह श्लोक निम्न प्रकार हैं]—

यह [कविकौशल], अपने स्वाभाविक महत्त्व से युक्त और औचित्यशाली वक्रता के [समस्त] प्रकारों को भी उत्तेजित [और भी अधिक मनोहर] करने में समर्थ है ॥२३॥

---

१. प्रथमोन्मेष उदाहरण ४७ ।

रसस्वभावालङ्कारा आसंसारमपि स्थिताः ।
अनेन नवतां यान्ति तद्विदाह्लाददायिनीम् ॥२४॥

इत्यन्तरश्लोकौ ॥४॥

एवमभिधानाभिधेयाभिधालक्षणस्य काव्योपयोगिनस्त्रितयस्य स्वरूपमुल्लिख्य वर्णनीयस्य वस्तुनो विषयविभागं विदधाति—

भावानामपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम् ।
चेतनानां जड़ानां च स्वरूपं द्विविधं स्मृतम् ॥५॥

'भावानां' वर्ण्यमानवृत्तीनां 'स्वरूपं' परिस्पन्दः । कीदृशम्—'द्विविधम्'। द्वे विधे प्रकारौ यस्य तत्तथोक्तम् । 'स्मृतं', सूरिभिराम्नातम् । केषां भावानाम्, 'चेतनानां जड़ानां च' । चेतनानां संविद्वतां, प्राणिनामिति यावत् । जड़ानां तद्व्यतिरेकिणां चैतन्यशून्यानाम् । एतदेव च धर्मिद्वैविध्यं धर्मद्वैविध्यस्य निबन्धनम् । कीदृक् स्वरूपम्—'अपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम्' ।

सृष्टि के आदि से स्थित [अत्यन्त प्राचीन नूतनता रहित] रस, स्वभाव तथा अलङ्कार इस [कविकौशल] के द्वारा सहृदयों को आह्लाद देने वाली [अलौकिक] अपूर्वता को प्राप्त हो जाते हैं ॥२४॥

ये दो अन्तरश्लोक हैं ॥४॥

वस्तुवक्रता—

इस प्रकार [यहाँ तक] वाचक [शब्द], वाच्य [अर्थ], और अभिधा [वक्रता युक्त कथन शैली] काव्य के उपयोगी इन तीनों के स्वरूप का वर्णन करके अब वर्णनीय वस्तु का विषय विभाग करते हैं—

नवीन [अपरिम्लान] स्वभाव तथा औचित्य से सुन्दर चेतन और अचेतन पदार्थों का स्वरूप दो प्रकार का कहा गया है ॥५॥

भाव अर्थात् वर्ण्यमान वृत्ति पदार्थों का स्वरूप अर्थात् स्वभाव । कैसा है कि—दो प्रकार का । दो विधा अर्थात् प्रकार जिसके हैं वह उस प्रकार का [द्विविधम्] है । 'स्मृतम्' [शब्द का अर्थ] विद्वानों ने बार-बार कहा है । किन पदार्थों का कि—चेतन और जड़ पदार्थों का । चेतनों का अर्थात् ज्ञान युक्त का अर्थात् प्राणियों का । जड़ों अर्थात् उनसे भिन्न चैतन्य रहितों का । यह ही धर्मियों का द्वैविध्य धर्मों के द्वैविध्य का कारण होता है । किस प्रकार का, नवीन सुन्दर स्वभाव के

अपरिम्लानः प्रत्यग्रः परिपोषपेशलो यः स्वभावः पारमार्थिको धर्मस्तस्य यदौचित्यमुचितभावः प्रस्तावोपयोग्यदोषदुष्टत्वं तेन सुन्दरं सुकुमारं, तद्विदाह्लादकमित्यर्थः ॥५॥

एतदेव द्वैविध्यं विभज्य विचारयति—

तत्र पूर्वं प्रकाराभ्यां द्वाभ्यामेव विभिद्यते ।
सुरादिसिंहप्रभृतिप्राधान्येतरयोगतः ॥६॥

तत्र द्वयोः स्वरूपयोर्मध्यात् 'पूर्वं' यत्प्रथमं चेतनपदार्थसम्बन्धि तद् राश्यन्तराभावात् द्वाभ्यामेव प्रकाराभ्यां विभिद्यते भेदमासादयति, द्विविधमेव सम्पद्यते । कस्मात्—'सुरादिसिंहप्रभृतिप्राधान्येतरयोगतः' । सुरादिः त्रिदशप्रभृतयो ये चेतनाः सुरासुरसिद्धविद्याधरगन्धर्वप्रभृतयः, ये चान्ये सिंहप्रभृतयः केसरिप्रमुखास्तेषां यत्प्राधान्यं मुख्यत्वमितरदप्राधान्यं च, ताभ्यां यथासंख्येन

औचित्य से मनोहर । अपरिम्लान अर्थात् नवीन परिपोष से सुन्दर जो स्वभाव अर्थात् वस्तु का वास्तविक धर्म उसका जो औचित्य अर्थात् उचित भाव, अर्थात् प्रकरण के उपयोगी दोषरहित स्वरूप, उससे सुन्दर सुकुमार अर्थात् सहृदयाह्लादक [जो पदार्थों का स्वरूप वह दो प्रकार का होता है] यह अभिप्राय हुआ ॥५॥

उन्हीं दो भेदों का अलग-अलग करके विचार करते हैं—

उन [चेतन तथा अचेतन पदार्थों] में से पहिले [चेतन पदार्थों अर्थात्] देवता आदि [उच्च योनियों] से लेकर सिंह आदि [तिर्यक् योनि] तक [चेतन प्राणियों स्वरूप] के प्रधान तथा [इतर गौण] अप्रधान रूप से दो प्रकार के ही भेद होते हैं ॥६॥

उन [चेतन तथा अचेतन] दोनों स्वरूपों में से जो पहिला चेतन पदार्थ सम्बन्धी [स्वरूप है] वह, अन्य कोई [तीसरा] प्रकार न होने से, दो ही प्रकारों से विभक्त होता है अर्थात् [दो ही] भेदों को प्राप्त होता है । दो ही प्रकार का होता है । कैसे—देवताओं [देवयोनियों] से लेकर सिंह आदि [तिर्यक् योनियों] पर्यन्त [समस्त चेतनों में] प्राधान्य और [इतर] अप्राधान्य [गौणत्व] के योग से । सुरादि अर्थात् देवता आदि जो चेतन अर्थात् सुर, असुर, सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व आदि, और [उनसे भिन्न] जो सिंह आदि अर्थात् शेर आदि उनका जो प्राधान्य अर्थात् मुख्यत्व और अप्राधान्य उन दोनों [भेदों] से यथासंख्य प्रत्येक का जो योग अर्थात् सम्बन्ध उसके कारण से [अर्थात् देवादि में चेतन-धर्म बुद्धि आदि का मुख्य रूप से सम्बन्ध है

प्रत्येकं यो योगः सम्बन्धस्तस्मात् कारणात् ॥६॥

तदेवं सुरादीनां मुख्यचेतनानां स्वरूपमेकं कवीनां वर्णनास्पदम्। सिंहादीनाममुख्यचेतनानां पशुमृगपक्षिसरीसृपाणां स्वरूपं द्वितीयमित्येतदेव विशेषेणोन्मीलयति—

मुख्यमक्लिष्टरत्यादिपरिपोषमनोहरम्।
स्वजात्युचितहेवाकसमुल्लेखोज्ज्वलं परम् ॥७॥

मुख्यं यत्प्रधानं चेतनसुरासुरादिसम्बन्धि स्वरूपं तदेवंविधं सत्कवीनां वर्णनास्पदं भवति स्वव्यापारगोचरतां प्रतिपद्यते। कीदृशम्—'अक्लिष्टरत्यादि-परिपोषमनोहरम्'। अक्लिष्टः कदर्थनाविरहितः प्रत्यग्रतामनोहरो यो रत्यादिः स्थायिभावस्तस्य परिपोषः शृङ्गारप्रभृतिरसत्वापादनं—'स्थाय्येव तु रसो

क्योंकि वे ज्ञानवान् प्राणी हैं और सिंह आदि तिर्यक् योनियों को गौण रूप से चेतन कहा जा सकता है क्योंकि उनमें ज्ञान या बुद्धि की उतनी मात्रा नहीं पाई जाती है। इसी चैतन्य के मुख्य तथा गौण सम्बन्ध] के कारण [चेतन पदार्थ के 'मुख्य-चेतन' देव आदि तथा 'गौण-चेतन' सिंह आदि दो भेद होते हैं] ॥६॥

इस प्रकार देवता आदि मुख्य चेतनों का एक स्वरूप कवियों की वर्णना का विषय होता है। और सिंह आदि अर्थात् पशु, मृग, पक्षि, सरीसृप [सर्पादि] अमुख्य चेतनों का दूसरा स्वरूप [कवियों की वर्णना का विषय होता है] इसी [बात] को [अगली कारिका में] विशेष रूप से खोलते हैं—

मुख्य [चेतन देवादि का] सुन्दर रत्यादि के परिपोष से मनोहर और अपने जाति के योग्य स्वभाव के वर्णन से अत्यन्त सुन्दर [स्वरूप का वर्णन महाकवियों की वर्णना का प्रथम मुख्य विषय होता है] ॥७॥

जो मुख्य अर्थात् प्रधान-चेतन सुरासुरादि सम्बन्धी स्वरूप है वह इस प्रकार का [कारिका में दिए हुए विशेषणों से युक्त] सत्कवियों की वर्णना का विषय होता है। अर्थात् [महाकवियों के] अपने [काव्य निर्माण रूप] व्यापार का विषय होता है। किस प्रकार का—'सरल सुन्दर रत्यादि के परिपोष से मनोहर'। अक्लिष्ट अर्थात् [कदर्थना] खींचतान से रहित नवीनता से सुन्दर जो रत्यादि स्थायिभाव उसका जो परिपोष, अर्थात् [रत्यादि] 'स्थायिभाव ही रस बन जाता है' इस नियम के

भवेत्' इति न्यायात्। तेन मनोहरं हृदयहारि। अत्रोदाहरणानि विप्रलम्भशृङ्गारे चतुर्थेऽङ्के विक्रमोर्वश्यामुन्मत्तस्य पुरूरवसः प्रलपितानि।

यथा—

तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।

अनुसार रसरूपता की प्राप्ति उससे मन को हरण करने वाला [मुख्य चेतन पदार्थों का स्वरूप कवियों की वर्णना का प्रथम विषय होता है]। इस विषय के उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय' [नाटक] के चतुर्थ अङ्क में उन्मत्त पुरूरवा के प्रलाप [कहे जा सकते] हैं।

जैसे—

[विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अङ्क में जब उर्वशी पुरूरवा को छोड़कर स्वर्ग लोक को चली गई है उस समय उसके वियोग में उन्मत्त-सा हुआ राजा पुरूरवा उसे इधर-उधर खोज रहा है। परन्तु उर्वशी उसको कहीं दिखलाई नहीं देती है। तब उसके दिखलाई न देने के विषय में वह नाना प्रकार के तर्क-वितर्क करता हुआ कह रहा है कि]—

[सम्भव है नाराज होकर] क्रोध के कारण [अपनी दैवी शक्ति के] प्रभाव से छिपकर कहीं जा बैठी हो [इसलिए मुझे दिखलाई न दे रही हो। यह एक कारण उर्वशी के दिखलाई न देने का उसकी समझ में आता है। परन्तु तुरन्त ही खण्डन भी उसकी समझ में आ जाता है कि 'वह नाराज होकर कहीं छिप गई हो' ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि] वह बहुत देर नाराज नहीं रहती है। [अगर नाराज होकर कहीं छिपी होती तो अब तक अवश्य निकल आती। मैं तो उसको बहुत देर से ढूँढ रहा हूँ]।

[फिर उसके न दिखलाई देने का दूसरा कारण उसे यह मालूम होता है कि] शायद स्वर्ग को उड़कर चली गई हो [इसलिए मुझे दिखलाई नहीं दे रही हो। परन्तु तुरन्त ही इसका भी प्रतिवाद हो जाता है कि] मेरे प्रति उसका मन अत्यन्त अनुरक्त है [इसलिए मुझे छोड़कर वह स्वर्ग को नहीं जा सकती है]।

[फिर उसके न दिखलाई देने का तीसरा कारण यह हो सकता है कि शायद कोई उसका अपहरण कर ले गया हो। परन्तु इसका प्रतिवाद भी तुरन्त ही सामने आ जाता है कि] मेरे सामने से उसका अपहरण करने की सामर्थ्य किसी राक्षस आदि में भी नहीं है। [इसलिए कोई अपहरण कर ले गया हो यह भी नहीं हो सकता है]।

तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥२५॥[1]

अत्र राज्ञो बल्लभाविरहवैधुर्यदशावेशविवशवृत्तेस्तदप्राप्तिनिमित्तमनधिगच्छतः प्रथमतरमेव स्वाभाविकसौकुमार्यसम्भाव्यमानम्, अनन्तरोचितविचारापसायमाणोपपत्ति किमपि तात्कालिकविकल्पोल्लिख्यमानमनवलोकनकारणमुत्प्रेक्ष्यमाणस्य तदासादनसमन्वयासम्भवान्नैराश्यनिश्चयविमूढमानसतया रसः परां परिपोषपदवीमधिरोपितः। तथा चैतदेव वाक्यान्तरैरुद्दीपितम्।

यथा—

पद्भ्यां स्पृशेद् वसुमतीं यदि सा मृगाक्षी
मेघाभिवृष्टसिकतासु वनस्थलीषु।
पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्या
दृश्येत चारुपदपंक्तिरलक्तकाङ्का ॥२६॥

परन्तु वह तो आँखों से एकदम ओझल हो गई हैं [कहीं भी दिखलाई नहीं दे रही हैं] यह क्या बात है ॥२५॥

यहाँ प्रियतमा [उर्वशी] के विरह में दुःखित दशा के आवेश में वर्तमान राजा [पुरूरवा] को उस [उर्वशी] के दिखलाई न देने का कारण समझ में न आने पर, स्वाभाविक सौकुमार्य से पहिले ही [शायद यह कारण हो इस प्रकार की] सम्भावना करके फिर उसके बाद उचित विचार करने से [उस सम्भावना के] हटाए जाने की उक्ति से तात्कालिक विकल्प से वर्णित दिखलाई देने के किसी कारण की कल्पना करके [और फिर] उसके [निराकरण हो जाने से] न दिखलाई देने का कारण समझ में न आने से नैराश्य का निश्चय हो जाने के कारण [पुरूरवा के] मूढ़ चित्त के हो जाने से [विप्रलम्भ शृङ्गार] रस, परिपोष की चरम सीमा को पहुँचा दिया गया है। इसीलिए [विक्रमोर्वशीय के उसी प्रकरण में] इसी [विप्रलम्भ शृङ्गार] को अन्य [श्लोक] वाक्यों से भी उद्दीप्त किया है।

जैसे—

वह सुगात्री [उर्वशी] पहिले पानी पड़ चुकने से गीली मिट्टी वाली वन भूमि को यदि पैर से स्पर्श करती [अर्थात् जमीन पर चलकर कहीं गई होती] तो, नितम्बों के भारी होने से पीछे [एड़ी की ओर] के भाग में गहरी [और पंजे की ओर हलकी], महावर से युक्त उस [उर्वशी] की सुन्दर पैरों [के निशानों] की पंक्ति अवश्य दिखलाई देती। [परन्तु जमीन पर कहीं उसके पैरों के निशान दिखलाई नहीं दे रहे हैं] ॥२६॥

---

१. विक्रमोर्वशीय ४, २।

अत्र पद्भ्यां वसुमतीं कदाचिद् स्पृशेदित्याशंसया तत्प्राप्तिः सम्भाव्येत। यस्माज्जलधरसलिलसेकसुकुमारसिकतासु वनस्थलीषु गुरुनितम्बतया तस्याः पश्चान्नतत्वेन नितरां मुद्रितसंस्थाना रागोपरक्ततया रमणीयवृत्तिश्चरण-विन्यासपरम्परा दृश्येत। तस्मान्नैराश्यनिश्चितिरेव सुतरां समुज्जृम्भिता, या तदुत्तरवाक्योन्मत्तविलपितानां निमित्ततामभजत्।

करुणरसोदाहरणानि तापसवत्सराजे द्वितीयेऽङ्के वत्सराजस्य परिदेवितानि।

यथा—

यहाँ [इस श्लोक में] पैरों से पृथिवी को कदाचित छुआ हो [इस सम्भावना से उसके पैरों के चिन्हों को देखते हुए उनके सहारे] शायद उसकी प्राप्ति सम्भव हो सके। क्योंकि पानी बरस जाने के कारण [नम] गीली वन भूमियों में, नितम्बों के भारी होने से पिछली ओर [एड़ी के भाग में] गहरी अर्थात् अत्यन्त स्पष्ट रूप से अङ्कित, महावर से रंगे होने से रमणीय रचना वाले उसके [पैरों के निशानों की पंक्ति दिखलाई [अवश्य] देती । [परन्तु वह दिखलाई नहीं दे रही है] इसलिए [उसकी प्राप्ति के विषय में] निराशा का निश्चय ही [अन्ततः] होता है । और यही अगले वाक्यों [श्लोकों] में उस [पुरूरवा] के उन्मत्त प्रलापों का कारण हुआ है।

इस प्रकार 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अङ्क से विप्रलम्भ शृङ्गार के उदाहरण दिखलाकर अब 'तापसवत्सराज' से करुण रस के उदाहरण दिखलाते हैं।

'तापसवत्सराजचरित' के द्वितीय अङ्क में वत्सराज [उदयन] के विलाप करुण रस के उदाहरण है।

जैसे—

वासवदत्ता के जलकर मर जाने का समाचार पाकर उसके वियोग में उन्मत्त हुआ वत्सराज उदयन जो विलाप कर रहा है उसमें से यह एक श्लोक लिया गया है। वासवदत्ता का पालतू हिरण आज उसको न पाकर अपनी बुद्धि के अनुसार वह जहाँ कहीं मिल सकती थी वहाँ उसको खोज रहा है । परन्तु वह कहीं भी उसको नहीं मिल रही है । इसको देखकर राजा उस हरिण से कह रहा है कि अरे बेटा तेरी निष्ठुर माता तो तेरे साथ मुझे भी छोड़कर कहीं बहुत दूर चली गई है।

धारावेश्म विलोक्य दीनवदनो भ्रान्त्वा च लीलागृहान्
निश्वस्यायतमाशु केसरलतावीथीषु कृत्वा दृशः ।
किं मे पार्श्वमुपैषि पुत्रक कृतैः किं चाटुभिः क्रूरया
मात्रा त्वं परिवर्जितः सह मया यान्त्यातिदीर्घां भुवम् ॥२७॥

अत्र रसपरिपोषनिबन्धनं विभावादिसम्पत्समुदयः कविना सुतरां समुज्जृम्भितः । तथा चास्यैव वाक्यस्यावतारकं विदूषकवाक्यमेवं प्रयुक्तम्—

'पमादो एसो क्खु देवीए पुत्तकिदको हरिणपोदो अत्तभवंतं अणुसरदि ॥२८॥

[प्रमादः, एष खलु देव्याः पुत्रकृतको
हरिणपोतो अत्रभवन्तमनुसरति । इतिच्छाया]

[वासवदत्ता को खोजता हुआ उसका प्यारा हरिण] धारागृह [जिसमें फव्वारों के नीचे बैठकर स्नान किया जाता है] को देखकर [वहाँ वासवदत्ता को न पाने से] खिन्नवदन, [फिर उसके] लीलागृह [प्रसाधनागार या क्रीडागार] में चक्कर लगाकर, लम्बी [निराशाजनक] साँस छोड़ता हुआ, [फिर] केसर और लताओं की क्यारियों की ओर नजर दौड़ाता हुआ [जब कहीं वासवदत्ता को नहीं पाता है तो अत्यन्त उदास होकर वत्सराज उदयन के पास आकर उसकी खुशामद करने लगता है कि तुमको मालूम है मेरी माता कहाँ गई है तुम्हीं बता दो । तब राजा उदयन उससे कहते हैं कि] अरे बेटा मेरे पास क्यों आ रहा है । तेरे इस खुशामद करने से क्या लाभ है, तेरी निष्ठुरा माता ने दूर देश [स्वर्ग] की यात्रा पर जाते हुए [निष्ठुरतापूर्वक] मेरे साथ तुझको भी छोड़ दिया है । [अब उसका मिलना सम्भव नहीं है] ॥२७॥

यहाँ रस के परिपोष का कारण रूप विभाव आदि सामग्री का वैभव कवि ने पूर्ण रूप से प्रदर्शित किया है। जैसा कि इसी [ऊपर के श्लोक] वाक्य के अवतरणिका रूप विदूषक का वाक्य इस रूप में प्रयुक्त किया है—

बड़ा प्रमाद हुआ कि यह देवी [वासवदत्ता] का पुत्रवत् पाला हुआ हरिण का बच्चा आपके पीछे चला आ रहा है ॥२८॥

एतेन करुणरसोद्दीपनविभावता हरिणपोतक-धारागृहप्रभृतीनां सुतरां समुत्पद्यते। 'तथा चायमपरः क्षते क्षाराक्षेप' इति रुमण्वद्वचनादनन्तरमेतत्परत्वेनैव वाक्यान्तरमुपनिबद्धम्।

यथा—

कर्णान्तस्थितपद्मरागकलिकां भूयः समाकर्षता
चञ्च्वा दाड़िमबीजमित्यभिहता पादेन गण्डस्थली।
येनासौ तव तस्य नर्मसुहृदः खेदान्मुहुः क्रन्दतो
निःशङ्कं न शुकस्य किं प्रतिवचो देवि त्वया दीयते ॥२६॥

अत्र शुकस्यैवंविधदुर्ललितयुक्तत्वं वाल्लभ्यप्रतिपादनपरत्वेनोपात्तम्। 'असौ' इति कपोलस्थल्याः स्वानुभवस्वदमानसौकुमार्योत्कर्षपरामर्शः। एवमेवोद्दीपनविभावैकजीवितत्वेन करुणरसः काष्ठाधिरूढ़िरमणीयतामनीयत।

इससे उस हरिणशावक और धारागृह आदि स्पष्ट रूप से करुण रस के उद्दीपन-विभाव हो जाते हैं। इसीलिए रुमण्वान् के 'क्षते क्षारमिव' इत्यादि वचन के अनन्तर इसी [करुण रस के उद्दीपन] के लिए यह दूसरा श्लोक [जो आगे दिया जा रहा है] लिखा है।

जैसे—

हे देवि! कान [के आभूषण] में लगी हुई [गहरे लाल रंग की] पद्मराग मणि के टुकड़े को अनार का दाना समझकर निकालते हुए जिस [तोते] ने अपने पंजों से तुम्हारे गाल पर [भी] प्रहार किया [आज तुम्हारे वियोग में] दुःखी और निःशंक होकर ज़ोर से चिल्लाते हुए अपने उस नर्म सुहृद [शृङ्गार-व्यापार के सहायक] तोते को भी तुम उत्तर नहीं दे रही हो यह क्या बात है ॥२६॥

यहाँ तोते की इतनी धृष्टता [कि उसने तुम्हारे कान से पद्मराग मणि को निकालने और उसी प्रसङ्ग में तुम्हारे गाल पर पाद प्रहार करने का साहस किया, उसके] अत्यन्त प्रिय होने के प्रदर्शन के लिए वर्णन की है। 'असौ' यह [गण्डस्थली का विशेषण पद] अपने [राजा के] अनुभव से स्वदमान [कपोल गत] सौकुमार्य के उत्कर्ष का सूचक है। इसी प्रकार उद्दीपन विभाव की विशेषता के द्वारा [जीवितत्वेन] करुण रस, सौन्दर्य की चरम सीमा को पहुँचा दिया गया है।

एवं विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोः सौकुमार्यादुदाहरणप्रदर्शनं विहितम्। रसान्तराणामपि स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम्।

इस प्रकार सुकुमार कोमल रस होने से विप्रलम्भ-शृङ्गार और करुण रस के उदाहरणों को प्रदर्शित कर दिया है। अन्य रसों के [उदाहरण] भी स्वयं समझ लेने चाहिएँ।

यहाँ जो उदाहरण दिए हैं उनकी स्थिति बहुत कुछ एक-सी है। 'विक्रमोर्वशीय' और 'तापसवत्सराज' दोनों से लिए गए उदाहरण अपनी-अपनी प्रियतमा के वियोग से सन्तप्त नायकों के प्रलाप वचनों में से लिये गए हैं। परन्तु विक्रमोर्वशीय' से लिये हुए उदाहरणों को विप्रलम्भ शृङ्गार का तथा तापसवत्सराज चरित से लिये हुए उदाहरणों को करुण-रस का उदाहरण कहा है। इसका कारण यह है कि विक्रमोर्वशीय में राजा पुरुरवा का जो अपनी प्रियतमा से वियोग हुआ है वह आत्यन्तिक अर्थात् सदा के लिए हुआ वियोग नहीं है। अर्थात् उसमें नायिका उर्वशी की मृत्यु नहीं हुई है। अतएव उसका वियोग, वियोग की ही सीमा में रहता है अतः उसे विप्रलम्भ शृङ्गार माना है। तापसवत्सराज में जो नायिका का वियोग है वहाँ वासवदत्ता के अग्नि में जलकर मर जाने के कारण हुआ है। इसलिए वह, विप्रलम्भ शृङ्गार की सीमा समाप्त होकर करुण रस सीमा प्रारम्भ हो जाने से उनको करुण रस का उदाहरण माना है। अर्थात् नायक तथा नायिका दोनों की जीवित अवस्था में जो वियोग होता है वह विप्रलम्भ और उनमें से किसी एक की मृत्यु से जो वियोग होता है वह करुण रस के अन्तर्गत होता है।

तापसवत्सराज में भी उदयन को जो रानी वासवदत्ता की मृत्यु का समाचार दिया गया है वह वास्तविक नहीं अपितु राजनीतिक मन्त्री का एक राजनैतिक प्रयोग है। परन्तु उसका भेद जब तक नहीं खुलता है तब तक उसको वास्तविक मृत्यु मान कर ही उस प्रसङ्ग को करुण रस का उदाहरण कहा गया है। अन्यथा वह भी विप्रलम्भ शृङ्गार का ही विषय होता।

इस प्रकार यहाँ तक प्रधान-चेतन अर्थात् सुरासुरादि सम्बन्धी स्वरूप किस प्रकार कवियों की वर्णना का विषय होता है यह दिखलाया है। अब अप्रधान-चेतन अर्थात् पशु, पक्षी आदि तिर्यक योनियों के प्राणियों का स्वरूप किस प्रकार कवियों की वर्णना का विषय हो सकता है, यह आगे दिखलाते हैं।

एवं द्वितीयमप्रधानचेतनसिंहादिसम्बन्धि यत् स्वरूपं तदित्थं कवीनां वर्णनास्पदं सम्पद्यते । कीदृशम्—'स्वजात्युचितहेवाकसमुल्लेखोज्ज्वलम्' । स्वा प्रत्येकमात्मीया सामान्यलक्षणवस्तुस्वरूपा या जातिस्तस्याः समुचितो यो हेवाकः स्वभावानुसारी परिस्पन्दः, तस्य समुल्लेखः सम्यगुल्लेखनं वास्तवेन रूपेणोपनिबन्धस्तेनोज्ज्वलं भ्राजिष्णु तद्विदाह्लादकारीति यावत् ।

यथा—

कदाचिदेतेन च पारियात्र-गुहागृहे मीलितलोचनेन ।
व्यत्यस्तहस्तद्वितयोपविष्टं दंष्ट्रांकुराञ्चच्चिबुकं प्रसुप्तम् ॥३०॥

अत्र गिरिगुहान्तरे निद्रामनुभवतः केसरिणः स्वजातिसमुचितं स्थानकमल्लिखितम् ।

यथा वा—

इस प्रकार अप्रधान-चेतन सिंह आदि सम्बन्धी जो दूसरा स्वरूप है वह इस तरह से कवियों की वर्णना का विषय होता है कि । कैसे—'अपनी जाति के योग्य जो स्वभाव [हेवाक] उसके उल्लेख से मनोहर । प्रत्येक प्राणी की अपनी-अपनी सामान्य रूप [न्यायवैशेषिक की परिभाषा में सामान्य शब्द से कही जाने वाली] जो जाति, उसके योग्य जो 'हेवाक' अर्थात् स्वभाव के अनुकूल व्यापार, उसका समुल्लेख अर्थात् सम्यक् भली प्रकार से उल्लेख वास्तविक रूप से वर्णन, उससे उज्ज्वल शोभायमान अर्थात् सहृदयहृदयाह्लादक [रूप से वर्णन कवियों की वर्णना का द्वितीय विषय होता है] जैसे—

कभी इस [सिंह] ने पारियात्र [नामक पर्वत विशेष] के गुफा रूप घर में दोनों हाथ [अर्थात् आगे के पैर] एक दूसरे के ऊपर रखकर बैठे हुए जिसमें दंष्ट्रांकुर [दाढ़ों की कान्ति] से ठोड़ी शोभायुक्त हो रही है इस प्रकार [अर्थात् मुख खोले हुए] नींद ली ॥३०॥

यहाँ [इस श्लोक में] पर्वत की गुफा रूप घर के अन्दर सोते हुए में शेर का अपनी जाति के अनुरूप आसन [सोते समय बैठने के ढंग] का उल्लेख किया है ।

अथवा जैसे—

यह कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक का श्लोक है । राजा दुष्यन्त जब हरिण का शिकार करने के लिए उसके पीछे अपना रथ दौड़ाते हैं उस समय आगे-आगे भागते हुए मृग का बड़ा स्वाभाविक वर्णन इस प्रकार किया गया है ।

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
शष्पैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतित्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥३१॥७॥

एतदेव प्रकारान्तरेणोन्मीलयति—

रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरम् ।
चेतनानाममुख्यानां जड़ानां चापि भूयसा ॥८॥

चेतनानां प्राणिनाममुख्यानामप्रधानभूतानां यत्स्वरूपं तदेवंविधं तद्वर्णनीयतां प्रतिपद्यते, प्रस्तुताङ्गतयोपयुज्यमानम् । कीदृशम्—'रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरम्' । रसाः शृङ्गारादयस्तेषामुद्दीपनमुल्लासनं परिपोषस्तस्मिन् सामर्थ्यं शक्तिस्तस्या विनिबन्धनं निवेशस्तेन बन्धुरं हृदयहारि ।

बार-बार गर्दन मोड़कर, पीछे आते हुए रथ पर दृष्टि लगाए हुए, [पीछे की ओर से] बाण लगने के भय से पिछले आधे शरीर को अगल भाग में घुसेड़ते हुए, थक जाने से खुले हुए मुँह में से गिरते हुए आधे खाए हुए तिनकों को रास्ते में बिखेरते हुए [यह हरिण] लम्बी छलाँगें मारने के कारण देखो पृथिवी पर बहुत थोड़ा और आकाश में [उसकी अपेक्षा] बहुत अधिक चल [भाग] रहा है [यह हरिण के भागने का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन है] ॥३१॥

इसमें अप्रधान चेतन रूप मृग का 'स्वजात्युचितहेवाकसमुल्लेखोज्ज्वल' वर्णन किया गया । इसलिए यह द्वितीय प्रकार के कवि वर्णना के विषय का प्रदर्शक उदाहरण है ॥७॥

इसी [विषय की उपादेयता के प्रथम प्रकार] को अन्य प्रकार से खोलते हैं—

अमुख्य चेतन [पशु पक्षी आदि तिर्यक् योनियों के प्राणियों] और बहुत-से जड़ पदार्थों का भी, रस के उद्दीपन की सामर्थ्य के सन्निवेश से मनोहर [स्वरूप भी कवियों की वर्णना का दूसरे प्रकार का विषय होता है] ॥८॥

अमुख्य अर्थात् अप्रधान भूत चेतन [सिंह आदि तिर्यक् योनि के] प्राणियों का जो स्वरूप है वह प्रस्तुत [विषय] के अङ्ग रूप में उपयुक्त होने पर इस प्रकार वर्णनीयता को प्राप्त होता है । कैसा कि—'रस के उद्दीपन की सामर्थ्य के प्रदर्शन से सुन्दर' [होकर] । रस अर्थात् शृङ्गार आदि, उनका उद्दीपन अर्थात् उल्लासन, उत्तेजन, परिपोषण, उसमें सामर्थ्य शक्ति योग्यता उसका जो रचना में सन्निवेश करना उसके कारण सुन्दर अर्थात् हृदयहारी [जो स्वरूप, उस रूप में अप्रधान चेतन पशु मृग आदि और बहुत से जड़ पदार्थ भी कवि के वर्णना की विषय हो सकते हैं] ।

यथा—

चूतांकुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।
मनस्विनीमानविघातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥३२॥

'जड़ानां चापि भूयसा'। जड़ानामचेतनानां सलिलतरुकुसुमसमयप्रभृतीनामेवंविधं स्वरूपं रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरं वर्णनीयतामवगाहते ।

यथा—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति ।
किमुत मलयवातोन्मूलितापाण्डुपत्रै-रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वंकुरेषु ॥३३॥

यथा वा—

जैसे—

[यह श्लोक कुमारसम्भव ३, ३२ का है] आम्र मञ्जरियों [या अंकुरों] को खाने से [काषाय] मधुर कण्ठ से युक्त नर कोकिल जो मीठा-मीठा बोल रहा था वही मानिनियों के मान को भङ्ग करने वाला मानों कामदेव का वचन हो गया था ॥३२॥

और बहुत से जड़ पदार्थों का भी [स्वरूप रस के उद्दीपन विभाव के रूप में कवियों की वर्णना का विषय होता है]। जड़ अर्थात् अचेतन जल, वृक्ष, पुष्प और समय [अथवा पुष्पसमय को एक पद मानकर वसन्त] इत्यादि का इस प्रकार का रस के उद्दीपन की सामर्थ्य के प्रदर्शन से मनोरम स्वरूप वर्णनीयता को प्राप्त [वर्णनीय] होता है ।

जैसे—[यह श्लोक विक्रमोर्वशीय २, ६ का श्लोक है]—

दुर्लभ वस्तु की प्रार्थना [चाह] से जिसको हटाना कठिन है ऐसे मेरे मन को [पञ्चबाण] कामदेव पहिले भी विद्ध कर रहा है फिर मलय पवन से पुराने [पीले] पत्तों के गिरा दिए जाने के बाद उद्यानों के आम्र-वृक्षों में [नवीन किसलयों के] अंकुर निकल आने पर [वसन्त ऋतु का साम्राज्य हो जाने] पर तो कहना ही क्या है ॥३३॥

अथवा जैसे—

उद्भेदाभिमुखांकुराः कुरबकाः शैवालजालाकुल-
प्रान्तं भान्ति सरांसि फेनपटलैः सीमन्तिताः सिन्धवः ।
किञ्चास्मिन् समये कृशाङ्गि विलसत्कन्दर्पकोदण्डिक-
क्रीडाभाञ्जि भवन्ति सन्ततलताकीर्णान्यरण्यान्यपि ।।३४।।८।।

एवं स्वाभाविकसुन्दरपरिस्पन्दनिबन्धनं पदार्थस्वरूपमभिधाय तदेवोपसंहरति—

शरीरमिदमर्थस्य रामणीयकनिर्भरम् ।
उपादेयतया ज्ञेयं कवीनां वर्णनास्पदम् ।।९।।

अर्थस्य वर्णनीयस्य वस्तुनः शरीरमिदमुपादेयतया ज्ञेयं ग्राह्यत्वेन बोद्धव्यम् । कीदृशं सत्—'रामणीयकनिर्भरम्' सौन्दर्यपरिपूर्णं, औपहत्यरहितत्वेन

कुरबकों [नामक विशेष वृक्षों] में [नवीन पत्रों के] अंकुर फूटने वाले हैं, सिवार [जल की घास विशेष] के समूह से व्याप्त हो रहे हैं [प्रान्त] किनारे जिनके ऐसे तालाब शोभित हो रहे हैं, नदियाँ फेन पटलों से व्याप्त हो रही हैं । और हे कृशाङ्गि इस समय फैली हुई लताओं से भरे हुए वन भी सुन्दर धनुर्धारी कामदेव के क्रीडास्थल बने हुए हैं ।।३४।।

इन श्लोकों में जल, वृक्ष और कुसुम समय [वसन्त] आदि अचेतन पदार्थों को भी रस के उद्दीपन विभाव के रूप में वर्णन किया गया है ।।८।।

इसी [वर्णनीय वस्तु के विषय विभाग रूप काव्य के विषय की उपादेयता के दूसरे प्रकार] का उपसंहार करते हैं—

वर्णनीय वस्तु का रमणीयता से परिपूर्ण [रसोद्दीपनसमर्थ] इस [चेतन अचेतन पदार्थ रूप] शरीर को ही [काव्य में] उपादेय होने से कवियों की वर्णना का विषय समझना चाहिए ।।९।।

अर्थ का, वर्णनीय वस्तु का यह [चेतनाचेतन पदार्थ रूप] शरीर उपादेय अर्थात् ग्राह्य समझना चाहिए । किस प्रकार का होकर कि—'रमणीयता से परिपूर्ण' होकर । सौन्दर्य से परिपूर्ण, किसी प्रकार की कमी या दोष से रहित होने से सहृदयों

तद्विदावर्जकमिति यावत् । कवीनामेतदेव यस्माद् वर्णनास्पदमभिधाव्यापार-गोचरम् । एवंविधस्यास्य स्वरूपशोभातिशयभ्राजिष्णोर्विभूषणान्युपशोभान्तर-मारभन्ते ॥९॥

एतदेव प्रकारान्तरेण विचारयति—

धर्मादिसाधनोपायपरिस्पन्दनिबन्धनम् ।
व्यवहारोचितं चान्यल्लभते वर्णनीयताम् ॥१०॥

'व्यवहारोचितं चान्यत्' । अपरं पदार्थानां चेतनानामचेतनानां स्वरूपमेवंविधं वर्णनीयतां लभते, कविव्यापारविषयतां प्रतिपद्यते । कीदृशम्—'व्यवहारोचितम्', लोकवृत्तयोग्यम् । कीदृशं सत्—'धर्मादिसाधनोपायपरिस्पन्द-

---

को आकर्षित करने वाला, यह अभिप्राय है । क्योंकि यही कवियों की वर्णना का विषय अर्थात् अभिधा [कथन शैली] के व्यापार का विषय है । इस प्रकार के—अपने स्वरूप की शोभा के अतिशय से शोभित होने वाले इस [वर्णनीय वस्तु के शरीर] को अलङ्कार दूसरी उपशोभा [गौण शोभा] से अलंकृत करते हैं । [अर्थात् पदार्थों का अपना वास्तविक सौन्दर्य ही उनकी यथार्थ या मुख्य शोभा है । अलङ्कारों के द्वारा होने वाली शोभा मुख्य शोभा, यथार्थ शोभा, नहीं अपितु उपशोभा मात्र है] ॥८॥

इसी [काव्य में वर्णनीय विषय की उपादेयता के तीसरे प्रकार] का दूसरी तरह से विचार करते हैं—

धर्म आदि [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय] की सिद्धि का उपाय होने के कारण [वर्णनीय वस्तु का] व्यवहार योग्य, अन्य स्वरूप [भी कवियों की] वर्णना का विषय बनता है ॥९॥

व्यवहार [में आने योग्य] और भी [पदार्थों का प, धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के साधन रूप में वर्णनीयता को प्राप्त करता है] । चेतन और अचेतन पदार्थों का दूसरा इस प्रकार स्वरूप भी वर्णनीय होता है अर्थात् कवियों के व्यापार [काव्य रचना] का विषय होता है । किस प्रकार कि—'व्यवहार के योग्य' अर्थात् लोक व्यवहार के योग्य । किस प्रकार का होकर—'धर्मादि की सिद्धि का

निबन्धनम्' । धर्मादेश्चतुर्वर्गस्य साधने सम्पादने उपायभूतो यः परिस्पन्दः स्वविलसितं तदेव निबन्धनं यस्य तत्तथोक्तम् ।

तदिदमुक्तं भवति—यत्काव्ये वर्ण्यमानवृत्तयः प्रधानचेतनप्रभृतयः सर्वे पदार्थाश्चतुर्वर्गसाधनोपायपरिस्पन्दप्राधान्येन वर्णनीयाः । येऽप्यप्रधान-चेतनस्वरूपाः पदार्थास्तेऽपि धर्मार्थाद्युपायभूतस्वविलासप्राधान्येन कवीनां वर्णनीयतामवतरन्ति । तथा च राज्ञां शूद्रकप्रभृतीनां मन्त्रिणां च शकुना-समुख्यानां चतुर्वर्गानुष्ठानोपदेशपरत्वेनैव चरितानि वर्ण्यन्ते । अप्रधान-चेतनानां हस्तिहरिणप्रभृतीनां संग्राममृगयाद्यङ्गतया परिस्पन्दसुन्दरं स्वरूपं लक्ष्ये वर्ण्यमानतया परिदृश्यते । तस्मादेव च तथाविधस्वरूपोल्लेखप्राधान्येन काव्य-काव्योपकरण-कवीनां चित्र-चित्रोपकरण-चित्रकरैः साम्यं प्रथममेव प्रतिपादितम् । तदेवंविधं स्वभावप्राधान्येन रसप्राधान्येन द्विप्रकारं सहज-

---

कारण रूप होकर । धर्मादि अर्थात् [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप] चतुर्वर्ग के साधन अर्थात् प्राप्त करने में उपाय भूत, जो [पदार्थ का] 'परिस्पन्द' अपना प्रभाव वह ही जिसका कारण है । वह उस प्रकार का [धर्मादिसाधनोपायपरिस्पन्दनिब-न्धनम्] हुआ ।

इसका अभिप्राय यह है कि काव्य में वर्ण्यमान स्वरूप वाले, मुख्य चेतन [देवासुरगन्धर्वविद्याधर] आदि समस्त पदार्थ चतुर्वर्ग के सम्पादन में उपायभूत स्वभाव की मुख्यता से [ही] वर्णनीय होते हैं । और जो अप्रधान चेतन स्वरूप [पशु, पक्षी आदि तिर्यक् योनि के प्राणी] हैं वे [भी] धर्मादि के उपाय भूत अपने व्यापार की मुख्यता से ही कवियों के वर्णनीय होते हैं । इसीलिए शूद्रक आदि राजाओं और शकुनास आदि मंत्रियों के चरित्र [कादम्बरी आदि में] चतुर्वर्ग के अनुष्ठान के उपदेशपरक रूप से ही वर्णित किए गए हैं । अप्रधान चेतन हाथी हरिण आदि का, युद्ध और मृगया आदि के व्यापार से सुन्दर स्वरूप काव्यों [लक्ष्य] में वर्ण्यमान रूप से दिखलाई देता है । इसीलिए उस प्रकार के स्वरूप के उल्लेख की प्रधानता से १ काव्य, २ काव्य के उपकरण, और ३ कवि का, १ चित्र, २ चित्रोपकरण और ३ चित्रकार के साथ सादृश्य पहिले ही दिखला चुके हैं । इस प्रकार १ स्वभावप्राधान्य से और २ रस प्राधान्य से दो प्रकार से वर्णना के विषय भूत वस्तु का सहज सौकुमार्य से रसमय स्वरूप

सौकुमार्यसरसं स्वरूपं वर्णनाविषयवस्तुनः शरीरमलङ्कार्यतामेवार्हति ॥९॥[1]

तत्र स्वाभाविकं पदार्थस्वरूपमलङ्करणं यथा न भवति तथा प्रथममेव प्रतिपादितम् । इदानीं रसात्मनः प्रधानचेतनपरिस्पन्दवर्ण्यमानवृत्तेरलङ्कारकारान्तराभिमतामलङ्कारतां निराकरोति—

भूत शरीर अलङ्कार्यता के ही योग्य है । [अलङ्कारों के द्वारा वर्णनीय वस्तु के स्वभावप्रधान अथवा रसप्रधान स्वरूप को ही अलंकृत किया जाता है इसलिए वह 'अलङ्कार्य' कहलाने योग्य ही होता है] ॥९॥

रसवत् अलङ्कार का खण्डन—

पदार्थों के १ स्वभावप्रधान स्वरूप तथा २ रसप्रधान स्वरूप दो प्रकार के स्वरूप कवि की वर्णना के विषय हो सकते हैं यह ऊपर के प्रकरण में कहा था । उनमें से पदार्थों का स्वाभाविक स्वरूप अलङ्कार रूप नहीं हो सकता है, वह केवल 'अलङ्कार्य' ही होता है यह भी पहिले [पिछली कारिका में] कह चुके हैं। पदार्थ का दूसरा रसप्रधान स्वरूप भी अलङ्कार नहीं हो सकता है, 'अलङ्कार्य' ही होता है यह बात आगे इस कारिका में कहना चाहते हैं । इसके कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि भामह आदि प्राचीन आचार्यों ने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित और समाहित नाम के चार अलङ्कार और माने हैं । इनमें रस जहाँ किसी अन्य का अङ्गभूत या अलङ्कार हो उसको 'रसवत् अलङ्कार' कहते हैं । इस प्रकार प्राचीन आचार्य भामह रस को भी अलङ्कार कहते हैं । परन्तु कुन्तक इस विचार से सहमत नहीं हैं । उनका कहना है कि रस अलङ्कार नहीं होता, वह सदैव 'अलङ्कार्य' ही रहता है । इसलिए 'रसवत्' नाम का कोई अलङ्कार नहीं मानना चाहिए । अपने इसी सिद्धान्त को प्रतिपादन करने के लिए कुन्तक ने इस कारिका में बहुत विस्तार के साथ 'रसवत् अलङ्कार' की अलङ्कारता का खण्डन कर भामह के मत का निराकरण करने का प्रयत्न किया है । रसवदलङ्कारवादी भामह के मत का विस्तारपूर्वक निराकरण करने के लिए ही वे अवतरणिका करते हैं—

उन [स्वभावप्रधान तथा रसप्रधान दो प्रकार के पदार्थों के स्वरूपों] में से पदार्थों का स्वाभाविक स्वरूप जैसे अलङ्करण नहीं [अलङ्कार्य ही] होता है यह पहिले ही [पिछली कारिका में] कह चुके हैं । अब [भामह आदि] अन्य आलङ्कारिकों के अभिमत प्रधानचेतन [देवासुरादि] के स्वभाव [परिस्पन्द] रूप वर्ण्यमान पदार्थ में रहने वाले रसात्मक [स्वरूप] की भी अलङ्कारता का निराकरण करते हैं । [अर्थात् भामह आदि प्राचीन आचार्यों के अभिमत रसवत् अलङ्कार की अलङ्कारता का खण्डन करने के लिए अगली कारिका लिखते हैं ।]—

१. 'शरीरमेवालङ्कार्यः तामेवार्हति' यह पाठ ठीक नहीं था ।

अलङ्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥११॥

'अलङ्कारो न रसवत्' । रसवदिति योऽयमुत्पादितप्रतीतिर्नामालङ्कारस्तस्य विभूषणत्वं नोपपद्यते इत्यर्थः । कस्मात् कारणात्—'स्वरूपादतिरिक्तस्य परस्याप्रतिभासनात्' । वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यत् स्वरूपमात्मीयः परिस्पन्दः, तस्मादतिरिक्तस्यात्यधिकस्य परस्याप्रतिभासनात् अनवबोधात् । तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत् [1]सर्वेषामेवालङ्काराणां सत्कविवाक्यगतानामिदमलङ्कार्यमिदमलङ्करणम् इत्यपोद्धारविहितो विविक्तभावः सर्वस्य प्रमातुश्चेतसि परिस्फुरति । [2]रसवत् इत्यलङ्कारवद्वाक्ये पुनरवहितचेतसोऽपि न किञ्चिदेतदेव बुध्यामहे ।

[रसादि की प्रतीति के स्थल में रस के] अपने स्वरूप के अतिरिक्त [अलङ्कार्य रूप से] अन्य किसी की तीति न होने से और [रस के साथ अलङ्कार शब्द का प्रयोग करने पर] शब्द तथा अर्थ की सङ्गति भी न होने से 'रसवत्' अलङ्कार नहीं हो सकता है ॥१०॥

'रसवत्' अलङ्कार नहीं है । 'रसवत्' नाम से कल्पित किया हुआ [उत्पादित-प्रतीति, जिसकी वास्तव में प्रतीति नहीं होती, जबरदस्ती प्रतीति उत्पन्न अर्थात् कल्पित की गई है ऐसा] जो अलङ्कार है उसका अलङ्कारत्व नहीं बनता है यह अभिप्राय है । किस कारण से [रसवत् का अलङ्कारत्व नहीं बनता है] कि—अपने स्वरूप के अतिरिक्त [अलङ्कार्य रूप से] अन्य किसी की प्रतीति न होने से । वर्ण्यमान वस्तु का जो स्वरूप अर्थात् अपना व्यापार उसके अतिरिक्त अत्यधिक [उत्कृष्ट होने से अलङ्कार्य कहलाने योग्य] अन्य किसी की प्रतीति न होने से [रसवत् को अलङ्कार नहीं कह सकते हैं] । इसका यहाँ यह अभिप्राय हुआ कि सत्कवियों के वाक्य में आए हुए सब ही अलङ्कारों में 'यह अलङ्कार्य है' और 'यह अलङ्कार है' इस प्रकार पृथक् रूप से किया हुआ [अलङ्कार्य अलङ्कार भाव] अलग-अलग सभी ज्ञाताओं [विद्वानों] के मन में प्रतीत होता है । परन्तु 'रसवत' इस [नाम के] अलङ्कार से युक्त वाक्य में ध्यान देने पर भी यह [अलङ्कार्य तथा अलङ्करण का विभाग] कुछ समझ में ही नहीं आता है ।

१. 'सर्वेषामेवालङ्कृतीनां सत्कविवाक्यानां' यह पाठ असङ्गत था ।
२. 'रसवदलङ्करवादिति वाक्ये' यह पाठ ठीक नहीं था ।

तथा च—यदि श्रृङ्गारादिरेव प्राधान्येन वर्ण्यमानोऽलङ्कार्यस्तदन्येन केनचिदलङ्करणेन भवितव्यम्। यदि वा तत्स्वरूपमेव तद्विदाह्लादनिबन्धनत्वादलङ्करणमित्युच्यते तथापि तद्‌व्यतिरिक्तमन्यदलङ्कार्यतया प्रकाशनीयम्। तदेवंविधो न कश्चिदपि विवेकश्चिरन्तनालङ्कारकाराभिमते रसवदलङ्कारलक्षणोदाहरणभागे मनागपि विभाव्यते।

यथा च—

रसवद् दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादि ॥३५॥

जैसे कि—[जहाँ भामह आदि 'रसवत्' अलङ्कार मानना चाहते हैं वहाँ] यदि शृङ्गार आदि [रस] ही प्रधान रूप से वर्ण्यमान [हैं तो प्रधान रूप से वर्ण्यमान होने से वह] 'अलङ्कार्य' है तो उसका अलङ्कार किसी अन्य को होना चाहिए। [वह स्वयं तो अपना अलङ्कार नहीं हो सकता है]। अथवा यदि [प्रधान रूप से वर्णित] उसी [रस] को सहृदयों के आह्लाद का जनक होने से अलङ्कार कहते हैं तो भी उससे भिन्न कोई अन्य पदार्थ 'अलङ्कार्य' रूप से दिखलाना चाहिए। [जिसको कि प्रधान रूप से वर्णित वह रस रूप अलङ्कार अलंकृत करे]। परन्तु [भामह आदि] प्राचीन अलङ्कारकारों के अभिमत 'रसवत्' रूप अलङ्कार के उदाहरणों में इस प्रकार का कोई तत्त्व [जिसे अलङ्कार्य कहा जा सके] नाम को भी नहीं दिखलाई देता है।

भामह तथा उद्भट के लक्षण का खण्डन—

भामह तथा उद्भट दोनों ने रसवत् अलङ्कार के लक्षण निम्न प्रकार किए हैं—

रसवद् दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा [भामह ३, ६]

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादि रसोदयम् [उद्भट ४, ४]

इन दोनों लक्षणों में 'दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादि' इतना अंश एक समान ही है। अतः उसके खण्डन के लिए इस लक्षण की सम्भावित अनेक प्रकार की व्याख्याओं को दिखलाते हुए ग्रन्थकार कुन्तक प्रतिपादन करते हैं कि इनमें किसी भी व्याख्या के मानने पर न अलङ्कार्य, अलङ्कार का विभाग बनता है और न रसवत् का अलङ्कारत्व सिद्ध होता है।

और जैसा कि—

'रसवद् दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादि' ॥३५॥

इति रसवल्लक्षणम् । अत्र दर्शिताः स्पृष्टाः स्पष्टं वा शृङ्गारादयो यत्रेति व्याख्याने काव्यव्यतिरिक्तो न कश्चिदन्यः समासार्थभूतः संलक्ष्यते ।

सोऽसावलङ्कारः काव्यमेवेति चेत्, तदपि न सुस्पष्टसौष्ठवम् । यस्मात काव्यैकदेशयोः शब्दार्थयोः पृथक् पृथगलङ्काराः सन्तीत्युपक्रम्य इदानीं काव्यमेवालङ्करणमित्युपक्रमोपसंहारवैषम्यदुष्टत्वमायाति ।

यदि वा दर्शिताः स्पष्टं शृङ्गारादयो येनेति समासः । तथापि वक्तव्यमेव कोऽसाविति। प्रतिपादनवैचित्र्यमेवेति चेत् तदपि न सम्यक् समर्थनार्हम् । यस्मात् प्रतिपाद्यमानादन्यदेव तदुपशोभानिबन्धनं प्रतिपादनवैचित्र्यं, न पुनः प्रतिपाद्यमेव ।

यह 'रसवत्' [अलङ्कार] का लक्षण [भामह तथा उद्भट ने] किया है । [इसमें स्पृष्टा अथवा स्पष्टा दो प्रकार के पाठ हो सकते हैं]यहाँ, दिखलाए गए हैं, छुए हुए[स्पृष्टाः]अथवा स्पष्ट[स्पष्टाः]शृङ्गार आदि जिसमें [वह दर्शितस्पृष्ट-शृङ्गारादि रसवत् अलङ्कार होता है] यदि इस प्रकार की व्याख्या की जाय तो ['जिसमें' इस अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास के होने से] काव्य के अतिरिक्त समास का अर्थ रूप ['अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः' बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ का प्राधान्य होता है इसलिए वह अन्य पदार्थ ही बहुव्रीहि समास का अर्थ भत होता है] कोई अन्य पदार्थ दिखलाई नहीं देता है ।

और यदि कहो कि वह [रसवत्] अलङ्कार काव्य ही है तो उसका भी सौन्दर्य [समन्वय] स्पष्ट रूप से नहीं होता है । क्योंकि 'काव्य के [एक देश] अवयव रूप शब्द तथा अर्थ के अलग-अलग अलङ्कार हैं' [अपने काव्यालङ्कार ग्रन्थ के] प्रारम्भ में ऐसी प्रतिज्ञा करके अब 'काव्य ही अलङ्कार है' इस प्रकार का उपसंहार करने में 'उपक्रम तथा उपसंहार का विरोध' रूप दोष आ जाता है ।

३—अथवा यदि 'दिखलाए हैं स्पष्ट रूप से शृङ्गार आदि [रस] जिसने' इस प्रकार का समास [करते] हैं तो भी 'वह [येन से सूचित होने वाला] कौन है' यह बतलाना ही होगा । प्रतिपादन का वैचित्र्य ही 'वह' है यदि यह कहो तो उसका भी भली प्रकार समर्थन नहीं किया जा सकता है । क्योंकि 'प्रतिपाद्यमान' [अलङ्कार्य] से भिन्न उसकी शोभा का कारण भूत [अलङ्कार रूप] 'प्रतिपादन का वैचित्र्य' अलग ही मानना होगा । न कि अलङ्कार्य ही [अलङ्कार हो जायगा] ।

स्पष्टतया दर्शितं रसानां प्रतिपादनवैचित्र्यं यद्यभिधीयते तदपि न सुप्रतिपादनम्। स्पष्टतया दर्शने शृङ्गारादीनां स्वरूपपरिनिष्पत्तिरेव पर्यवस्यति।

किञ्च रसवतः काव्यस्यालङ्कार इति तथाविधस्य सतस्तस्यासाविति न किञ्चिदनेन तस्याभिधेयं स्यात्। अथवा तेनैवालङ्कारेण रसवत्वं तस्याधीयते, तदेवं तह्यसौ न रसवतोऽलङ्कारः प्रत्युत रसवानलङ्कार इत्यायाति। तन्माहात्म्यात् काव्यमपि रसवत् सम्पद्यते।

यदि वा तेनैवाहितरससम्बन्धस्य रसवतः काव्यस्यालङ्कार इति तत्पश्चाद्रसवदलङ्कारव्यपदेशतामासादयति। यथाग्निष्टोमयाजी अस्य पुत्रो भवितेत्युच्यते। तदपि न सुप्रतिबद्धसमाधानम्।

४—[अथवा] स्पष्ट रूप से दिखलाया हुआ रसों का प्रतिपादन वैचित्र्य ही ['दर्शितस्पष्टशृङ्गारादि'] है। [रसवत् अलङ्कार के लक्षण की] यदि इस प्रकार व्याख्या कहो तो उसका प्रतिपादन भी भली प्रकार से नहीं किया जा सकता है। क्योंकि शृङ्गार आदि [रसों] के स्पष्ट दर्शन में [उनके] अपने स्वरूप की ही सिद्धि होती है। [उनसे अतिरिक्त अलङ्कार अथवा अलङ्कार्य किसी की भी सिद्धि नहीं होती है]।

५—और रसवत् काव्य का अलङ्कार [रसवदलङ्कार होता है] यह कहो तो उस प्रकार के [रसवत्] होने पर उस [काव्य] का यह [रसवत् अलङ्कार] होता है इस [कथन] से उस [रसवदलङ्कार शब्द] का कोई अर्थ नहीं निकलता है। अथवा उसी [रसवत्] अलङ्कार से उस [काव्य] को 'रसवत्' कहा जाय तो फिर वह 'रसवत् का अलङ्कार' नहीं हुआ अपितु 'रसवत् ही अलङ्कार' हुआ यह अर्थ निकलता है। उसके कारण [रसवत्] काव्य भी रसवत् [अलङ्कार] हो जाता है। [इसलिए रसवत् पद की इस प्रकार व्याख्या भी नहीं की जा सकती है]।

६—अथवा यदि उसी [अलङ्कार] से जिस [काव्य] का रस के साथ सम्बन्ध प्रतिपादन किया गया है उसी रसवत् काव्य का अलङ्कार पीछे से 'रसवत् अलङ्कार' नाम से प्रयुक्त होने लगता है। जैसे इसका पुत्र 'अग्निष्टोमयाजी' होगा। यह कहा जाता है। [इस प्रयोग में जब इस शब्द को प्रयुक्त किया जाता है उस समय पुत्र के साथ अग्निष्टोम याग का वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। केवल शब्द के द्वारा उसका कल्पित सम्बन्ध पुत्र के साथ किया गया है। परन्तु बाद को जब पुत्र

यस्मात् अग्निष्टोमयाजी शब्दः प्रथमं भूतलक्षणे विषयान्तरे निष्पत्तिपक्षतया समासादितप्रसिद्धिः पश्चाद् भविष्यति वाक्यार्थसम्बन्धलक्षणयोग्यतया तमनुभवितुं शक्नोति। न पुनरत्रैवं प्रयुज्यते। यस्माद्रसवतः काव्यस्यालङ्कार इति तत्सम्बन्धितयैवास्य स्वरूपलब्धिरेव। तत्सम्बन्धिनिबन्धनं च काव्यस्य रसवत्त्वमित्येवमितरेतराश्रयदोषः केनापसार्यते।

यदि वा रसो विद्यते यस्यासौ तद्वानलङ्कार एवास्तु इत्यभिधीयते, तथाप्यलङ्कारः काव्यं वा नान्यत् तृतीयं किञ्चिदत्रास्ति। तत्पक्षद्वितयमपि प्रत्युक्तम्। उदाहरणं लक्षणैकयोगक्षेमत्वात् पृथङ् न विकल्प्यते।

अग्निष्टोम याग कर लेता है तब उसको वास्तविक रूप से 'अग्निष्टोमयाजी' कहा जाता है। इसी प्रकार पहिले अलङ्कार्य काव्य ही 'रसवत्' होता है, बाद को उस 'रसवत् काव्य' के साथ सम्बन्ध होने से अलङ्कार को भी 'रसवत्' कहा जा सकता है। इस रूप में यदि रसवदलङ्कार का समर्थन किया जाय तो वह भी सुसम्बद्ध समाधान नहीं होता है।

क्योंकि अग्निष्टोमयाजी शब्द पहिले [अग्निष्टोमेन इष्टवान् इस विग्रह में भूतकाल में 'भूते' अष्टा० ३, २, ८४ इस अष्टाध्यायी सूत्र के अधिकार में करणे यजः अष्टा० ३, २, ८५ इस सूत्र से णिनि होकर अग्निष्टोमयाजी शब्द सिद्ध होता है] भूतार्थ में निष्पन्न [सिद्ध] होने से [जिस किसी ने पहिले सोम याग किया है उस] अन्य विषय में प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुका है। इसलिए बाद को 'भविष्यति,' 'होगा' इस वाक्यार्थ के साथ सम्बन्ध के योग्य होने से [उस सम्बन्ध को अनुभव कर] उसके साथ सम्बद्ध हो सकता है। परन्तु यहाँ [रसवदलङ्कार में] इस प्रकार का प्रयोग नहीं हो सकता है। क्योंकि 'रसवत् काव्य का अलङ्कार' इस प्रकार [के प्रयोग में] उस [रसवत् काव्य] के साथ सम्बद्ध रूप से ही उस[रसवत् अलङ्कार]को अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है, और उस [रसवदलङ्कार] के सम्बन्ध से ही काव्य में रसवत्ता आती है। इसलिए इतरेतराश्रय दोष का निवारण कौन करेगा।

७—अथवा रस जिसमें विद्यमान हो वह रसवत् [काव्य] हुआ उससे युक्त अलङ्कार ही [रसवदलङ्कार है यदि यह सातवें प्रकार से रसवदलङ्कार की व्याख्या] हो—तो भी [जिसमें रस विद्यमान हो वह पदार्थ] काव्य या अलङ्कार ही हो सकता है उनके सिवाय तीसरा और कुछ यहाँ नहीं है। और उन दोनों पक्षों का खण्डन कर चुके हैं। [कि रसवान् 'अलङ्कार' है तो 'अलङ्कार्य' अलग होना चाहिए और यदि 'अलङ्कार्य' है तो 'अलङ्कार' अलग होना चाहिए]। और उसके उदाहरण भी लक्षण के समान योग क्षेम वाले ही हैं इसलिए फिर दुबारा उनका विचार नहीं किया है।

यथा—

मृतेति प्रेत्य सङ्गन्तुं यया मे मरणं स्मृतम् ।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥३६॥

अत्र रतिपरिपोषलक्षणवर्णनीयशरीरभूतायाश्चितवृत्तेरतिरिक्तमन्यद्विभक्तं वस्तु न किञ्चिद्विभाव्यते । तस्मादलङ्कार्यतैव युक्तिमती ।

यदपि कश्चित्—

स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम् ॥३७॥

इत्यनेन पूर्वमेव लक्षणं विशेषितम् । तत्र स्वशब्दास्पदत्वं रसानामपरिगतपूर्वमस्माकम् । ततस्त एव रससर्वस्वसमाहितचेतसस्तत्परमार्थविदो विद्वांसः

जैसे—

[वासवदत्ता] मर गई है ऐसा समझकर जिससे मिलने के लिए मैंने [अपने] मरण का स्मरण किया [मृत्यु की इच्छा की] उसी अवन्ती [वासवदत्ता] को मैंने इसी जन्म में कैसे पा लिया ॥३६॥

[इसको दण्डी के काव्यादर्श २, २८० में रसवदलङ्कार का उदाहरण कहा गया है । परन्तु]यहाँ वर्णनीय के शरीरभूत रतिपरिपोष[अर्थात् शृङ्गार रस]रूप चित्तवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ अलग [अलङ्कार रूप] वस्तु प्रतीत नहीं होती है । [और जो रतिपरिपोषरूप चित्त वृत्ति प्रतीत हो रही है वह वर्णनीय पदार्थ की शरीरभूत होने से] उसकी अलङ्कार्यता ही युक्तिसङ्गत है [अलङ्कारता युक्तिसङ्गत नहीं है] ।

'रसवत्' अलङ्कार विषयक उद्भट के मत का खण्डन—

उद्भट ने अपने 'काव्यालङ्कार सार संग्रह' के चतुर्थ वर्ग की चौथी कारिका म रसवदलङ्कार का लक्षण किया है । उसका पूर्वार्द्ध भाग भामह के लक्षण से मिलता हुआ है । उसका उल्लेख अभी कर चुके हैं । उसके उत्तरार्द्ध भाग 'स्वशब्दस्थायि सञ्चारिविभावाभिनयास्पदम्' को आगे उद्धृत कर उसका खण्डन करते हैं ।

८—और जो किन्हीं [उद्भट] ने [अपने काव्यालङ्कारसारसंग्रह के ४, ४ में रसवदलङ्कार का यह लक्षण किया है कि]—

१. स्वशब्द, २. स्थायीभाव, ३. सञ्चारिभाव, ४. विभाव तथा ५. अनुभाव [अभिनय] में रहने वाले [रस को स्पष्ट रूप से दर्शित कराने वाला रसवदलङ्कार होता है] ॥३७॥

इस [कथन] से [उद्भट ने अपनी कारिका के पूर्वार्द्ध में कहे हुए] पूर्व लक्षण की हा विशेष व्याख्या की है । उसके विषय में [हमारा कहना यह है कि] रसों की स्वशब्दनिष्ठता हमने आज तक नहीं सुनी है । इसलिए इस विषय में रस के सर्वस्व [की चिन्ता] में एकाग्रचित्त [समाधिस्थ] और उसके परमार्थ को

परं प्रष्टव्याः-किं स्वशब्दास्पदत्वं रसानामुत रसवत इति । तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे 'रस्यन्त इति रसाः' ते स्वशब्दास्पदास्तेषु तिष्ठन्तः शृङ्गारादिषु वर्तमानाः सन्तस्तज्ज्ञैरास्वद्यन्ते ।

तदिदमुक्तं भवति—यत् स्वशब्दैरभिधीयमानाः श्रुतिपथमवतरन्तश्चेतनानां चर्वणचमत्कारं कुर्वन्तीत्यनेन न्यायेन घृतपूरप्रभृतयः पदार्थाः स्वशब्दैरभिधीयमानाः तदास्वादसम्पदं सम्पादयन्तीत्येवं सर्वस्य कस्यचिदुपभोगसुखार्थिनस्तैरुदारचरितैरयत्नेनैव तदभिधानमात्रादेव त्रैलोक्यराज्यसम्पत्सौख्यसमृद्धिः प्रतिपाद्यते इति नमस्तेभ्यः ।

समझने वाले उन्हीं [उद्भट आदि] विद्वानों से यह पूछना चाहिए कि स्वशब्द-निष्ठत्व किसका होता है ? रस का अथवा रसवत् [अलङ्कार] का ? उसमें से पहिले [अर्थात् रसों की स्वशब्दनिष्ठता के] पक्ष में [व्युत्पत्ति के अनुसार] 'जिनका आस्वाद किया जाता है वे रस होते हैं' । वे स्वशब्दनिष्ठ हैं [अर्थात् रस शब्द से उनका आस्वाद किया जा सकता है यह रसों के 'स्वशब्दास्पदत्व' का अर्थ हुआ] । इसलिए उन [अपने वाचक शब्दों] में रहते हुए अर्थात् शृङ्गार आदि [शब्दों] में वर्तमान होकर उसके जानने वाले [रसज्ञों] के द्वारा आस्वादित किए जाते हैं । [यह मानना होगा] ।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि अपने वाचक शब्दों के द्वारा कहे जाकर [श्रोता द्वारा] श्रवण से गृहीत होते हुए [शृङ्गार आदि शब्द], सहृदयों को [रसों के] आस्वाद का आनन्द प्रदान करते हैं । इस युक्ति से तो घृतपूर [घेवर या कचौड़ी] आदि [खाद्य] पदार्थ [अपने नामों से कहे जाने पर] नाम लेने मात्र से खाने को आनन्द देने लगते हैं [यह सिद्ध हो जावेगा] । इस प्रकार उन उदार चरित महाशयों ने [यह व्यङ्ग्योक्ति है] किसी भी पदार्थ के उपभोग का सुख प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सभी व्यक्तियों के लिए, उस पदार्थ का नाम लेने मात्र से त्रैलोक्य के राज्य प्राप्ति तक के सुख की प्राप्ति बिना प्रयत्न के सिद्ध कर दी है । इसलिए उन महापुरुषों को नमस्कार है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रस तो उसको कहते हैं कि जिसका आस्वादन किया जाय । उसको यदि स्वशब्द-वाच्य मानें तो शृङ्गारादि शब्दों के श्रवण मात्र से शृङ्गार का आस्वाद होने लगेगा यह मानना होगा । और यदि एक बार इस सिद्धान्त को मान लिया जाय तो प्रत्येक पदार्थ के नाम मात्र के लेने से उस पदार्थ का आस्वाद हो सकेगा यह भी मानना होगा । इसका अर्थ यह हुआ कि रस को स्वशब्द-वाच्य मानने से नाममात्रतः भोग प्राप्ति का सिद्धान्त सिद्ध हो जायगा । और त्रैलोक्य के राज्य का सुख भी बिना प्रयत्न के नाम के लेने मात्र से ही प्राप्त होने लगेगा । यह असम्भव है । इसलिए शृङ्गारादि शब्दों से

रसवतस्तदास्पदत्वं नोपपद्यते, रसस्यैव स्ववाच्यस्यापि तदास्पदत्वाभावात् । किमुतान्यस्येति । तदलङ्कारत्वञ्च प्रथममेव प्रतिषिद्धम् । शिष्टं स्थाय्यादिलक्षणं पूर्वं व्याख्यातमेवेति न पुनः पर्यालोच्यते ।

यदपि—

रसवद् रससंश्रयात् ॥३८॥

इति कैश्चिल्लक्षणमकारि, तदपि न सम्यक् समाधेयतामधितिष्ठति[1] । तथा हि, रसः संश्रयो यस्यासौ रससंश्रयः, तस्मात्कारणादयं रसवदलङ्कारः सम्पद्यते । तथापि वक्तव्यमेव कोऽसौ रसव्यतिरिक्तवृत्तिः पदार्थः । काव्यमेवेति चेत् तदपि पूर्वमेव प्रत्युक्तम् । तस्य स्वात्मनि क्रियाविरोधादलङ्कार-

---

रसों के स्वशब्द वाच्य होने पर रसवदलङ्कार मानने का सिद्धान्त उचित नहीं है ।

उद्भट के मत का खण्डन करते हुए १ रस की अथवा २ रसवत् की स्वशब्द निष्ठता हो सकती है, ये दो विकल्प किए थे । उनमें से प्रथम विकल्प का खण्डन करने के बाद अब द्वितीय विकल्प का खण्डन करते हैं—

और रसवत् का तदास्पदत्व [अर्थात् रसादि शब्द निष्ठत्व] नहीं बन सकता है । स्वशब्द [रस शब्द] से वाच्य रसादि के भी तन्निष्ठ न होने से, अन्य [रसवत्] की तो बात ही क्या है । और [रस के अलङ्कार्य होने से] उसके अलङ्कारत्व का खण्डन पहिले ही कर आए हैं । शेष स्थायी भावादि के लक्षण की व्याख्या पहिले कर चुके हैं इसलिए फिर दुबारा उनकी आलोचना नहीं करेंगे ।

६—और जो—

'रस के संश्रय से रसवत्' [अलङ्कार होता] है ।

यह किन्हीं [दाण्डी आदि] ने जो [नवम प्रकार का] लक्षण किया है उसका भी भली प्रकार से समाधान नहीं किया जा सकता है । क्योंकि 'रस जिसका संश्रय है वह रससंश्रय है' । उस [रससंश्रय रूप अन्य पदार्थ] के कारण से यह रसवदलङ्कार होता है । फिर भी यह बतलाना ही होगा कि [रस संश्रय है जिसका] वह रस से व्यतिरिक्त कौन-सा पदार्थ है [जिसका संश्रय रस है] । काव्य ही [वह रस संश्रय पदार्थ] है यह कहो तो उसका खण्डन पहिले ही कर चुके हैं । [कि काव्य अलङ्कार नहीं है, काव्य के एक देश शब्द या अर्थ के धर्म ही अलङ्कार होते हैं । अतः काव्य को रसवदलङ्कार कहना युक्तिसङ्गत नहीं है] । और उस [काव्य] के अपने

---

१. 'समाधीयतामतितिष्ठति' यह पाठ असङ्गत था ।

त्वानुपपत्तेः ।

अथवा रसस्य संश्रयो रसेन संश्रीयते यस्तस्मात् रससंश्रयादिति । तथापि कोऽसाविति व्यतिरिक्तत्वेन [1]वक्तव्यतामेवायाति । उदाहरणजातमप्यस्य लक्षणस्य पूर्वेण समानयोगक्षेमप्रायमिति न पृथक् पर्यालोच्यते ।

रसपेशलम् ॥३६॥

इति पाठे न किञ्चिदत्रातिरिच्यते ।

अथ *प्रतिपादकवाक्योपारूढ़पदार्थसार्थस्वरूपमलङ्कार्यं रसस्वरूपानुप्रवेशेन

ही भीतर [अलङ्करण रूप] क्रिया का विरोध होने से [अलङ्कार्य काव्य का] अलङ्कारत्व नहीं हो सकता है । [अर्थात् काव्य या कोई भी पदार्थ जिसे आप रसवत् कहोगे वह स्वयं ही अलङ्कार्य तथा अलङ्कार दोनों हो, यह तो नहीं हो सकता है] ।

रस संश्रयात् की दूसरी व्याख्या—

१०—अथवा रस का संश्रय [रससंश्रय यह षष्ठी तत्पुरुष समास] या रस जिसका आश्रय ले वह [रस संश्रय हुआ] उससे [यह रसवत् रससंश्रयात् का अर्थ हुआ]। फिर भी वह [रस का संश्रय या रस जिसका आश्रय ले ऐसा] कौन सा पदार्थ है [जिसको रसवत् अलङ्कार कहा जा सके] यह कहना ही होगा । [परन्तु वह काव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है और काव्य को रसवत् अलङ्कार मानने में उपक्रमोपसंहार के विरोध हो जाने से उसका खण्डन हम पहिले ही कर चुके हैं । इसलिए 'रसवत् रससंश्रयात्' यह भी रसवदलङ्कार का लक्षण ठीक नहीं कहा जा सकता है] । और इस लक्षण के उदाहरण भी लक्षण के समान योगक्षेम वाले ही हैं इसलिए उनकी अलग आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है ।

[११—दण्डी के काव्यादर्श २, २८० में कहीं 'रसवत् रससंश्रयम्' इस प्रकार का पाठ पाया जाता है और कहीं उसके स्थान पर 'रसवद्रसपेशलम्' इस प्रकार का पाठ मिलता है । परन्तु रसवत् अलङ्कार के इस लक्षण में 'रससंश्रयात् के स्थान पर]—

रसपेशलम्—

इस पाठ के मानने पर भी यहाँ [पूर्व लक्षण से] कोई विशेष भेद नहीं होता है ॥३६॥

१२—और यदि प्रतिपादक वाक्य में [उपारूढ़] प्रतीत होने वाला पदार्थ समूह स्वरूप 'अलङ्कार्य' ही रस के [स्वरूप के अनुप्रवेश अर्थात्] सम्बन्ध से [जैसे रूखे-सूखे वृक्ष आदि रस के अनुप्रवेश से भरे भरे सुन्दर और अलंकृत हो उठते हैं। इसी प्रकार [रसानुप्रवेश से] अपने [रूखे-सूखे, अलङ्कार्य भूत] स्वरूप को छोड़कर [वृक्षादि] द्रव्यों के

---

१. 'व्यक्तव्यत मेवायाति' पाठ अशुद्ध था । * लुप्त पाठ-सूचक चिन्ह हैं ।

विगलितस्वपरिस्पन्दानां द्रव्यानां इव [1]अलङ्करणं भवतीत्येतदपि चिन्त्यमेव। किञ्च तथाऽभ्युपगमेऽपि प्रधानगुणभावविपर्यासः पर्यवस्यतीति न किञ्चिदेतत्।

अत्रैव उपक्रमते 'शब्दार्थासङ्गतेरपि'। शब्दार्थयोरभिधानाभिधेययोरसमन्वयाच्च रसवदलङ्कारोपपत्तिर्नास्ति। अत्र च रसो विद्यते तिष्ठतियस्येति [2]मत्प्रत्यये विहिते तस्यालङ्कार इति षष्ठीसमासः क्रियते। रसवांश्चासावलङ्कारश्चेति विशेषणसमासो वा। तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे रसव्यतिरिक्तं [3]किमन्यत् पदार्थान्तरं विद्यते यस्यासावलङ्कारः। काव्यमेवेति चेत् तत्रापि तद् व्यतिरिक्तः कोऽसौ पदार्थो यत्र रसवदलङ्कारव्यपदेशः सावकाशतां प्रतिपद्यते। विशेषातिरिक्तः पदार्थो न कश्चित् परिदृश्यते यस्तद्वानलङ्कार इति व्यवस्थिति-

---

समान [प्रतिपादक वाक्य से उपस्थित पदार्थ भी अलङ्कार्यत्व को छोड़कर] कथञ्चित् अलङ्कार हो सकते हैं। यह कथन भी चिन्त्य ही है। और यदि [दुर्जन तोष न्याय से] यह मान भी लें तो भी [प्रधान भूत अलङ्कार्य के अलङ्कार रूप में गौण हो जाने पर] गुण प्रधान भाव का परिवर्तन हो जाता है। इसलिए यह कुछ [मान्य सिद्धान्त] नहीं बनता है।

यहां तक ११वीं कारिका में दिए हुए 'स्वरूपादतिरिकतस्य परस्याप्रतिभासनात्' इस अंश की व्याख्या हुई। अभी कारिका में दिया हुआ दूसरा हेतु 'शब्दार्थासङ्गतेरपि' व्याख्या के लिए शेष रह गया है। उसकी व्याख्या करने के लिए उपक्रम करते हैं।

'शब्दार्थासङ्गतेरपि' शब्द और अर्थ की असङ्गति होने से भी [रसवत् अलङ्कार नहीं है] शब्द और अर्थ का अर्थात् वाच्य और वाचक का समन्वय [सङ्गति] न होने से भी रसवदलङ्कार नहीं हो सकता है। यहाँ [रसवदलङ्कार इस नाम में]रस जिसमें रहता है [इस विग्रह में रस शब्द से] मतुप् प्रत्यय करने के बाद उस [रसवत्] का अलङ्कार यह षष्ठीतत्पुरुष समास [रसवदलङ्कार पद में] किया जाता है। अथवा 'रसवान् जो अलङ्कार' इस प्रकार का विशेषण समास [कर्मधारय समास] किया जा सकता है। उनमें से पहिले [षष्ठीतत्पुरुष समास] पक्ष में रस को छोड़कर [रस जिसमें रहता है वह 'रसवत्'] कौन-सा पदार्थ है जिसका यह [रसवत्] अलङ्कार होता है। [वह रसव्यतिरिक्त पदार्थ] काव्य ही है यह कहो तो उस [काव्य] में भी उस [अलङ्कार्य काव्य] से भिन्न कौन सा पदार्थ है जिसमें 'रसवत् का अलङ्कार' यह संज्ञा सार्थक हो सके। ['अलङ्कार्य' तथा 'अलङ्कार' दोनों की अलग-अलग प्रतीति होने पर ही इस नाम की सार्थकता हो सकती है]। और कोई विशेष अतिरिक्त पदार्थ दिखलाई नहीं देता है जिसमें रसवदलङ्कार

---

१. यहां पूर्व संस्करण में कथम् यह अधिक पाठ तथा लुप्त पाठ का चिन्ह था।
२. मत्प्रत्यय बिहिते पाठ था। ३. व्यतिरिक्तमन्यत् पाठ था।

मासादयति । तदेवमुक्तलक्षणे मार्गे रसवदलङ्कारस्य शब्दार्थसङ्गतिर्न [1]काचिदस्ति ।

पद प्रयुक्त [या सार्थक] हो सके। इसलिए इस [षष्ठीतत्पुरुष समास के] मार्ग में रसवदलङ्कार शब्द तथा [उसके] अर्थ की कोई सङ्गति नहीं होती है। [अर्थात् रसवत् कोई अलग पदार्थ सिद्ध हो जाय तब तो उसका अलङ्कार इस प्रकार का षष्ठीतत्पुरुष समास हो सकता है। जब काव्य या रस के अतिरिक्त अन्य कोई रसवत् पदार्थ दिखलाई नहीं देता है तब 'रसवत् का अलङ्कार' इस शब्द तथा अर्थ की सङ्गति नहीं बनती है। इसलिए रसवदलङ्कार सिद्ध नहीं होता है]।

ध्वन्यालोककार के मत का खण्डन—

'शब्दार्थासङ्गतेरपि' इस कारिका भाग की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने 'रसवदलङ्कार' इस पद में दो प्रकार के समास किए थे। एक षष्ठीतत्पुरुष समास और दूसरा कर्मधारय समास। उनमें से षष्ठी तत्पुरुष समास के पक्ष में ऊपर दोष दिखलाया है। विशेषण समास या कर्मधारय समास के पक्ष में दोष आगे पृ० ३५० पर दिखलावेंगे। इस बीच में ध्वन्यालोककार के मत का खण्डन करने के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत किए हुए रसवदलङ्कार के उदाहरणों की विवेचना करते हैं।

ध्वन्यालोककार ने 'रसवदलङ्कार' का लक्षण इस प्रकार किया है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥

—ध्वन्यालोक २, ५ ।

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ किसी अन्य वस्तु आदि की प्रधानता हो और रस उसका अङ्ग हो वहाँ मेरी अर्थात् ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन की सम्मति में रसवदलङ्कार होता है।

ध्वन्यालोककार ने इस प्रकार के तीन उदाहरण दिए हैं जिनमें से दो उदाहरण [श्लोक सं० ४०, ४१] यहाँ कुन्तक ने उद्धृत किए हैं। ध्वन्यालोककार का मत यह है कि इन दोनों उदाहरणों में नायिकाओं पर क्रमशः लता तथा नदी रूप वस्तु के आरोप के कारण रूपक का प्राधान्य है। और उन दोनों में जो शृङ्गार रस की प्रतीति हो रही है वह उस रूपक के अङ्ग या उसके परिपोषक रूप में ही होती है इसलिए अप्रधान है। अतः यहाँ रस की प्रतीति अलङ्कार के परिपोषक रूप में अप्रधानतया होने से ये दोनों श्लोक रसवदलङ्कार के उदाहरण हैं।

---

१. पुराने संस्करण में 'काचिदस्ति' के स्थान पर 'कदाचिदस्ति' यह पाठ था। परन्तु उसकी अपेक्षा 'काचित्' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

यदि वा निदर्शनान्तरविषयतया समासद्वितयेऽपि शब्दार्थसङ्गतियोजना विधीयते ।

यथा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामौनमिवास्थिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥४०॥

कुन्तक इन दोनों उदाहरणों को प्रस्तुत कर पूर्व पक्ष की ओर से पहिले यह सिद्ध कर रहे हैं कि रसवदलङ्कार इस नाम में चाहे षष्ठी समास मानें अथवा विशेषण समास मानें दोनों पक्षों में शब्द और अर्थ की असङ्गति नहीं होती है । 'रसवतो अलङ्कारः' इस षष्ठीतत्पुरुष समास पक्ष में रसवत् वस्तु लता तथा नदी 'अलङ्कार्य' हुईं और रूपक उसका अलङ्कार हुआ इस प्रकार रसवदलङ्कार में शब्द तथा अर्थ की सङ्गति हो जाती है । और 'रसवांश्चासौ अलङ्कारः' इस विशेषण समास पक्ष में रूपकालङ्कार के साथ रस का सम्बन्ध होने से वह रसवदलङ्कार होता है । इसलिए किसी भी पक्ष में शब्द तथा अर्थ की असङ्गति नहीं है । इस पूर्व पक्ष का खण्डन करने के लिए पहिले उसका उपपादन करते हुए कुन्तक आगे लिखते हैं कि—

अथवा यदि [रसवतो अलङ्कारः रसवदलङ्कारः इस षष्ठी समास पक्ष में और 'रसवांश्चासौ अलङ्कारः रसवदलङ्कारः' इस विशेषण समास या कर्मधारय समास] दोनों ही समासों में अन्य उदाहरणों के विषय रूप में [रसवत् और अलङ्कार दोनों के] शब्द तथा अर्थ की सङ्गति लगाई जाती है—

जैसे—

अत्यन्त प्रकुपित हुई [चण्डी] तन्वी [उर्वशी] पैरों पर गिरे हुए मुझ को तिरस्कृत करके [मेरी उपेक्षा करके] चले जाने के कारण [पीछे से होश में आने पर] पछताती हुई पश्चात्ताप से युक्त होकर, आँसुओं से भीगे हुए अधर के समान वर्षा के पानी से भीगे हुए किसलयों को धारण किए हुए, [फूलों के खिलने का] समय [ऋतुकाल] न होने से पुष्पों के उद्गम से रहित, आभरणशून्य और भौंरों के शब्द के अभाव में चिन्ता से मौन खड़ी हुई [लता रूप में] दिखलाई दे रही है ॥४०॥

यथा वा—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथा विद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥४१॥

अत्र रसवत्वमलङ्कारश्च प्रकटं प्रतिभासेते । तस्मान्न कथञ्चिदपि तद्विवेकस्य दुरवधानता । तेन रसवतोऽलङ्कार इति षष्ठीसमासपक्षे शब्दार्थयोर्न किञ्चिदसङ्गतत्वम् ।

रसपरिपोषपरत्वादलङ्कारस्य तन्निबन्धनमेव रसवत्वम् । रसवांश्चासावलङ्कारश्चेति विशेषणसमासपक्षे,

[1]*अपि न किञ्चिदसङ्गतत्वम्* ।

अथवा जैसे—

टेढ़ी भौंहों के समान तरङ्गों को और [रशना] के तगड़ी समान क्षुब्ध पक्षियों की पंक्ति को धारण किए हुए क्रोधावेश में खिसके हुए वस्त्र के समान फेनों को खींचती हुई, बार-बार [पर्वत आदि या ऊँची भूमि की] ठोकर खाकर [यह नदी] जो टेढ़ी चाल से जा रही है सो जान पड़ता है कि मेरे अनेकों अपराधों को देखकर रूठी हुई वह [उर्वशी ही] नदी रूप में परिणत [बदल] हो गई हो [मानों उर्वशी ही नदी रूप में बह रही हो] ॥४१॥

[इन दोनों उदाहरणों में नदी तथा लता रूप वस्तु अलग प्रतीत होती है, उनके साथ शृङ्गार रस का सम्बन्ध है। परन्तु वह रस मुख्य नहीं है। नायिका पर लता तथा नदी रूप वस्तु का आरोप होने और रस के उनका अङ्ग होने से वे दोनों वस्तुएँ 'रसवत्' और 'अलङ्कार्य' हुईं तथा रूपक अलङ्कार हुआ।] यहाँ रसवत्व और अलङ्कारत्व दोनों अलग-अलग, स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं। इसलिए [ऐसे स्थलों में रसवदलङ्कार के स्पष्ट होने से] उनके अन्तर को समझना कहीं भी कठिन नहीं है। अतएव 'रसवत्' [नदी लता आदि] का अलङ्कार [भूत रूपक] इस षष्ठी समास पक्ष में शब्द और अर्थ की कोई असङ्गति नहीं है।

[नायिका के ऊपर नदी भाव अथवा लता भाव के आरोपमूलक रूपक] अलङ्कार के रसपरिपोषपरक होने से, उसी [रस] से उस अलङ्कार का रसवत्व होता है। [इस कारण] रसवान् जो अलङ्कार [वह रसवदलङ्कार होता है] इस विशेषण समास [कर्मधारय] के पक्ष में भी [शब्द तथा अर्थ की] कोई असङ्गति नहीं है।

---

१. पूर्व संस्करण में यहां त्रुटित पाठ के सूचकबिन्दु दिए हैं। हमने प्रसङ्गानुसार उस पाठ की पूर्ति कर दी है। इटैलिक में दिया पाठ हमारा बनाया हुआ है।

तथा चैतयोरुदाहरणयोर्लताया: सरितश्चोद्दीपनविभावत्वेन बल्लभाभावितान्तःकरणतया नायकस्य तन्मयत्वेन निश्चेतनमेव पदार्थजातं सकलमवलोकयत: तत्साम्यसमारोपणं तद्धर्माध्यारोपणं चेत्युपमारूपक-काव्यालङ्कारयोजनं विना न केनचित् प्रकारेण घटते तल्लक्षणवाक्यत्वात्।

सत्यमेतत् किन्तु अलङ्कारशब्दाभिधानं विना विशेषणसमासपक्षे केवलस्य 'रसवान्' इत्यस्य प्रयोगः प्राप्नोति। रसवानलङ्कार इति चेत् प्रतीतिरभ्युपगम्यते तदपि युक्तियुक्ततां नार्हति······देरभावात्।

इस प्रकार इन दोनों उदाहरणों में लता और नदी के उद्दीपन विभाव होने से, और नायक [पुरुरवा] के [अपनी बल्लभा] प्रियतमा [उर्वशी] की भावना [या चिन्ता] से प्रभावित अन्तःकरण से युक्त होने के कारण तन्मय [उर्वशी-मय] होने से [हर समय चारों ओर उर्वशी के ही दिखलाई देने से नदी और लता जैसे] हरएक अचेतन पदार्थ को देखकर उसके साम्य का अध्यारोपण अथवा उसके धर्म का अध्यारोपण, उपमा तथा रूपक अलङ्कार की योजना के बिना और किसी प्रकार से नहीं घटता है। [क्योंकि साम्यारोपण में उपमा, और उसके धर्म के आरोप में रूपक अलङ्कार होता है इस प्रकार] उनका लक्षण वाक्य होने से। [अतएव यहाँ नदी तथा लता पदार्थ अलङ्कार्य हुए, उपमा तथा रूपक अलङ्कार हुए। और नदी तथा लता पदार्थ के साथ शृङ्गार रस का सम्बन्ध होने से वे पदार्थ 'रसवत्' हैं। उनका अलङ्कार रसवदलङ्कार हो सकता है। इसलिए उपमा या रूपक को रसवदलङ्कार मानने में कोई दोष नहीं है। यह रसवदलङ्कार को मानने वाले पूर्व पक्ष का ओर से कहा जा सकता है]।

इस पूर्व पक्ष का उत्तर देते हुए कुन्तक अपने सिद्धान्त के समर्थन में अर्थात् रसवदङ्कार के खण्डन में लिखते हैं—

[उत्तर] ठीक है। किन्तु [रसवांश्चासौ अलङ्कारश्च इस प्रकार के कर्मधारय अथवा] विशेषण समास पक्ष में अलङ्कार शब्द के प्रयोग को छोड़कर केवल 'रसवान् है' इसका ही प्रयोग प्राप्त होता है। [अर्थात् रसवदलङ्कार कहने में रस की मुख्यता नहीं रहती है रस गौण हो जाता है इसलिए उसके स्थान पर यह श्लोक 'रसवान्' है यह ही कहना उचित है। यह अभिप्राय है]। 'रसवान् अलङ्कार है' ऐसी प्रतीति [रसवदलङ्कार शब्द से] यदि मानी जाय तो भी युक्तियुक्त नहीं हो सकती है।

इसके आगे मूल ग्रन्थ की कुछ पंक्तियाँ लुप्त हैं। इसलिए आगे अपनी बात के सिद्ध करने के लिए ग्रन्थकार ने क्या विशेष हेतु दिया है यह नहीं कहा जा

रसवतोऽलङ्कार इति षष्ठीसमासपक्षोऽपि न सुस्पष्टसमन्वयः। यस्य कस्यचित् काव्यत्वं रसवत्त्वमेव। यस्यातिशयत्वनिबन्धनं तथाविधं तद्विदाह्लादकारि काव्यं करणीयमिति तस्यालङ्कार इत्याश्रिते सर्वेषामेव रूपकादीनां रसवदलङ्कारत्वमेव न्यायोपपन्नतां प्रतिपद्यते। अलङ्कारस्य यस्य कस्यचित् रसवत्वात। विशेषणसमासपक्षेऽप्येषैव वार्ता।

किञ्च तदभ्युपगमे प्रत्येकमस्खलितलक्षणोल्लेख* कृतपरिपोषतया लब्धात्मनामलङ्काराणां प्रतिस्विकलक्षणाभिहितातिशयव्यतिरिक्तमनेन किञ्चिदा-

---

सकता है। अन्त में केवल 'देरभावात्' यह अक्षर पाण्डुलिपि में पढ़ने में आए हैं। बीच का भाग पढ़ने में नहीं आया है। इसलिए इस स्थान पर छूटे हुए पाठ की सूचना के लिए मूल में हमने ··· बिन्दियाँ लगा दी हैं।

'रसवान् का अलङ्कार' इस षष्ठी समास पक्ष का भी स्पष्ट रूप से समन्वय नहीं हो सकता है। क्योंकि किसी भी काव्य में रसवत्व ही उसका काव्यत्व है। जिस [रसवत्व] के अतिशय के लिए ही उस प्रकार के सहृदयहृदयाह्लादकारक काव्य की रचना की जाती है। इसलिए उस [रसवत् काव्य] का अलङ्कार [रसवदलङ्कार कहलाता है] ऐसा अर्थ लेने पर तो रूपक आदि सभी अलङ्कारों का ही रसवदलङ्कारत्व युक्ति-सङ्गत होता है। सभी अलङ्कारों के [रसवत् काव्य में प्रयोग होने के कारण] रसवत् होने से। [रसवांश्चासौ अलङ्कारः रसवदलङ्कारः इस] विशेषण समास [कर्मधारय समास] में भी यही बात है [अर्थात् सभी अलङ्कारों के रसवत् काव्य में प्रयोग द्वारा रसवान् होने से सभी को रसवदलङ्कार मानना होगा]।

इसका अभिप्राय यह है कि रसात्मक वाक्य ही सहृदयहृदयाह्लादक होने से काव्य कहलाने योग्य होते हैं। इसलिए प्रत्येक काव्य रसवत् काव्य होता है। अतएव रसवदलङ्कार शब्द में चाहे षष्ठी समास मानें या विशेषण समास मानें दोनों दशाओं में रसवत् काव्य में प्रयुक्त होने वाले सभी अलङ्कार रसवदलङ्कार कहलावेंगे। अतः अलग रसवदलङ्कार नहीं हो सकता है।

और ऐसा मान लेने पर [अर्थात् सभी अलङ्कारों को रसवदलङ्कार मान लेने पर अथवा रसवदलङ्कार की सत्ता मान लेने पर] प्रत्येक अलङ्कार के शुद्ध [अस्खलित] लक्षणों के निरूपण से परिपुष्ट रूप में अपने स्वरूप को प्राप्त करने वाले अलङ्कारों के अपने-अपने लक्षणों में कही हुई विशेषताओं

---

*पुष्पाङ्कित स्थल पर कुछ पाठ लुप्त है ऐसा संकेत पूर्व संस्करण में पाया जाता है।

धिक्यमास्थीयते। तस्मात् तल्लक्षणकरणवैचित्र्यं प्रतिवारितप्रसरमेव परापतति।

न चैवंविधविषये रसवदलङ्कारव्यवहारः सावकाशः, तज्ज्ञैस्तथावगमात्, अलङ्काराणां च मुख्यतया व्यवस्थानात्।

अथवा चेतनपदार्थगोचरतया रसवदलङ्कारस्य, निश्चेतनवस्तुविषयत्वेन चोपमादीनां विषयविभागो व्यवस्थाप्यते तदपि न विद्वज्जनावर्जनं विदधाति। यस्मादचेतनानामपि रसोद्दीपनसामर्थ्यसमुचितसत्कविसमुल्लि-

---

के अतिरिक्त इस [रसवदलङ्कार] से उनमें कुछ अधिकता स्थापित की जाती है। इस कारण उन [अलग-अलग] अलङ्कारों के लक्षण करने के वैचित्र्य में बाधा उपस्थित होती है। [अर्थात् जब सब ही अलङ्कार रसवदलङ्कार है तब उनके अलग-अलग लक्षण करने की क्या आवश्यकता है ? सबका एक ही लक्षण हो सकता है। इसलिए रसवदलङ्कार का मानना उचित नहीं है।]

फिर इस प्रकार के उदाहरणों में [जहाँ अन्य अलङ्कार विद्यमान हैं] रसवदलङ्कार का व्यवहार करने का अवसर भी नहीं है। क्योंकि अलङ्कार शास्त्र के ज्ञाता वैसा ही स्वीकार करते हैं [अर्थात् अन्य अलङ्कारों के साथ रसवदलङ्कार को न मानकर अलग-अलग अलङ्कारों को ही मानते हैं]। और [अन्य] अलङ्कारों को ही मुख्य रूप से रखते हैं। [इसलिए अन्य अलङ्कारों के स्थान पर रसवदलङ्कार नहीं माना जा सकता है। फलतः सब पक्षों का खण्डन हो जाने से रसवदलङ्कार का कोई विषय नहीं रह जाता है। इसलिए रसवदलङ्कार मानना उचित नहीं है]।

उपमा आदि तथा रसवदलङ्कार के विषय विभाग का खण्डन—

अथवा चेतन पदार्थ के [रसादि के वर्णन के] विषय में रसवदलङ्कार होता है और अचेतन पदार्थों के वर्णन में उपमा आदि अन्य अलङ्कार होते हैं इस प्रकार [रसवदलङ्कार तथा उपमादि अलङ्कारों का] विषय विभाग [कुछ लोग] करते हैं। वह भी विद्वानों के चित्त को आकर्षित नहीं करता है। [अर्थात् युक्तिसङ्गत नहीं है]। क्योंकि अचेतन पदार्थों में भी रस के उद्दीपन की सामर्थ्य के योग्य, सत्कवियों द्वारा समुल्लिखित सुकुमारता और सरसता होने से [उनके साथ चेतन सम्बन्ध हो जाने पर अचेतन विषयक] उपमा आदि अन्य अलङ्कारों की प्रविरल-विषयता अथवा निर्विषयता हो जावेगी। [क्योंकि अचेतन पदार्थों के साथ किसी-न-किसी रूप में चेतन का सम्बन्ध अवश्य जुड़ जाता है। और चेतन का सम्बन्ध होने पर रसवदलङ्कार ही हो जायगा। तब उपमादि अन्य अलङ्कारों के लिए कोई स्थान नहीं निकल सकेगा। और यदि कहीं कोई अवसर मिला भी तो बहुत कम अवसर

खितसौकुमार्यसरसत्वादुपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयत्वं वा स्यादिति श्रृङ्गारादिनिःस्यन्दसुन्दरस्य सत्कविप्रवाहस्य च नीरसत्वं प्रसज्यत इति प्रतिपादितमेव पूर्वसूरिभिः ।

मिल सकेगा। इसलिए 'उपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वा स्यात्' । उपमा आदि के उदाहरण बहुत कम मिलेंगे अथवा मिलेंगे ही नहीं । और यदि अचेतन पदार्थों में किसी प्रकार भी रस का सम्बन्ध न माना जाय तो] शृङ्गार आदि के प्रवाह से मनोहर सत्कवियों के बहुत-से अचेतन पदार्थों के वर्णन [उन अचेतन पदार्थों में रस का सम्बन्ध न होने से] नीरस हो जावेंगे। यह पहिले विद्वान् [आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक पृ० १२८ पर] कह ही चुके हैं। [इसलिए चेतन पदार्थ के सम्बन्ध में रसवदलङ्कार और अचेतन पदार्थ के सम्बन्ध में उपमा आदि अलङ्कार होते हैं। इस प्रकार का विषय विभाग भी नहीं किया जा सकता है। अतः रसवदलङ्कार के मानने के लिए कोई अवसर नहीं है यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है]।

यहाँ कुन्तक ने 'प्रतिपादितमेव पूर्वसूरिभिः' कहकर 'पूर्व सूरी' शब्द से 'ध्वन्यालोककार' श्री आनन्दवर्धनाचार्य की ओर संकेत किया है । ध्वन्यालोककार ने रसवदलङ्कार के विषय में विस्तृत विवेचन किया है। चेतन पदार्थों के सम्बन्ध में रसवदलङ्कार और अचेतन पदार्थों के सम्बन्ध में उपमा आदि अन्य अलङ्कार होते हैं । इस प्रकार की विषय-व्यवस्था का आनन्दवर्धनाचार्य ने विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। कुन्तक ने इस सिद्धान्त का वही खण्डन लेकर यहाँ रख दिया है। ध्वन्यालोक में इस विषय की चर्चा इस प्रकार हुई है—

यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते तर्हि, उपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात् । यस्मादचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनया कथञ्चिद् भवितव्यम् । अथ सत्यामपि तस्यां यत्राचेतनानां वाक्यार्थीभावो नासौ रसवदलङ्कारविषय इत्युच्यते, तन्महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात् ।

यथा—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथा विद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ।।

यथा वा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ।।

यथा वा—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम् ।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ।।

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्त्येव । अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनाऽस्ति तत्र रसादिरलङ्कारः । तदेवं सत्युपमादयो निर्विषयाः प्रविरलविषया वा स्युः । यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतन-वस्तुवृत्तान्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन ।

ध्वन्यालोक की इन पंक्तियों का अभिप्राय यह है कि चेतन वस्तुओं का मुख्य वाक्यार्थी भाव मानने पर रसवदलङ्कार और अचेतन वस्तुओं को मुख्य वाक्यार्थ मानने पर उपमा आदि अलङ्कार होते हैं ऐसा जो विषय विभाग किन्हीं ने किया है, वह उचित नहीं है । क्योंकि अचेतन वस्तु वृत्तान्त के मुख्य प्रतिपाद्य होने पर भी उसके साथ किसी-न-किसी रूप में चेतन वस्तु का सम्बन्ध आ ही जाता है और उसके होने पर रसवदलङ्कार हो जाता है, तो उपमा आदि अन्य अलङ्कारों का विषय ही कहीं नहीं रहता है । और यदि अचेतन वस्तु रूप वाक्यार्थ के साथ चेतन का सम्बन्ध होने पर भी रसवत्व नहीं होता है तो महाकवियों द्वारा इस प्रकार का वर्णन किया हुआ विषय नीरस हो जायगा । जैसे ऊपर के तीनों श्लोकों में अचेतन पदार्थों का वर्णन मुख्य रूप से है । इसलिए वे सब नीरस हो जावेंगे । परन्तु सहृदय लोग इनको रस का निधान मानते हैं । इसलिए इस आधार पर उपमा आदि अलङ्कारों और रसवदलङ्कारों के विषय का विभाग नहीं किया जा सकता है ।

ध्वन्यालोककार ने जो किसी अन्य मत का इस प्रकार खण्डन किया था कुन्तक ने 'इति प्रतिपादितमेव पूर्वसूरिभिः' लिखकर उसी का संकेत किया है ।

उपर्युक्त प्रकार से ध्वन्यालोककार ने रसवदलङ्कार तथा उपमा आदि अल-ङ्कारों का जो भेद अन्य लोगों ने किया था उसका खण्डन कर दिया । परन्तु उसके

बाद उन दोनों में वस्तुतः क्या भेद है इस बात का आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने मत से जो उपपादन किया है। वह इस प्रकार है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥२५॥

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतयान्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीन पक्षः। तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते।

स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः सङ्कीर्णो वा। तत्राद्यो यथा—

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद् दर्शनं
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ॥

इत्यत्र करुणस्य शुद्धस्याङ्गभावात् स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम्। एवमेवंविधे विषये रसान्तराणां सह स्पष्ट एवाङ्गभावः।

सङ्कीर्णो रसादिरङ्गभूतो यथा—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति। एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य न्याय्यो विषयः। अतएव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् समावेशो न दोषः।

यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तस्य कथमलङ्कारत्वम्। अलङ्कारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः। नत्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः। तथा चायमत्र संक्षेपः—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्यविनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम् ॥

तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वो न रसादेरलङ्कारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः। तस्योपमादयोऽलङ्काराः। यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते स रसादेरलङ्कारतायाः विषयः। एवं ध्वनेः, उपमादीनां, रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति।

—ध्वन्यालोक १२३ से १२८ तक

यदि वा वैचित्र्यान्तरमनोहारितया रसवदलङ्कारः प्रतिपाद्यते, यथाभियुक्तैस्तैरेवाभ्यधायि—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥४२॥

इसका भावार्थ यह है कि जहाँ अन्य वाक्यार्थ का प्राधान्य हो और रसादि उसके अङ्ग हों उसको 'रसादि अलङ्कार' कहते हैं । और जहाँ रस का ही प्राधान्य हो वहाँ रस ध्वनि होगा और उपमादि अलङ्कार होंगे । जैसे चाटु वचनों [राजा आदि की स्तुति] में ['प्रेयः प्रियतराख्यानं' प्रिय बात का कथन करना प्रेयो अलङ्कार होता है] प्रेयो अलङ्कार के होने पर रसादि अङ्ग के रूप में प्रयुक्त होते हैं । अतः वहाँ रसवदलङ्कार होता है ।

यह रसवदलङ्कार शुद्ध तथा सङ्कीर्ण दो प्रकार का होता है । 'किं हास्येन न मे प्रयास्यसि' आदि श्लोक में शुद्ध रसवदलङ्कार है, क्योंकि यहाँ शुद्ध करुण रस राजविषयक रति या राजस्तुति का अङ्ग है । दूसरे सङ्कीर्ण रसवदलङ्कार के उदाहरण जैसे—'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' आदि श्लोक में शिव का प्रतापातिशय मुख्य वाक्यार्थ है और श्लेष सहित ईर्ष्या विप्रलम्भ उसका अङ्ग है । इसलिए अलङ्कार से सङ्कीर्ण रस के, शिव के प्रतापातिशय का अङ्ग होने से यह सङ्कीर्ण रसवदलङ्कार-का उदाहरण है । और इसमें श्लेष से सूचित करुण रस तथा ईर्ष्याविप्रलम्भ दोनों के भगवद्विषयक रति का अङ्ग होने से करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गार का विरोध भी नहीं होता है । इस प्रकार ध्वन्यालोककार ने रसवदलङ्कार तथा उपमादि अलङ्कारों के विषय का विचार किया है ।

परन्तु कुन्तक इस विषय विभाग से भी सहमत नहीं है । इसलिए वह इस बार ध्वन्यालोककार के इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि—

और यदि किसी अन्य वैचित्र्य के कारण मनोहर होने से रसवदलङ्कार मानते हैं जैसा कि उन्हीं आचार्यों [ध्वन्यालोककार] ने कहा है कि—

जहाँ अन्य वाक्यार्थ का प्राधान्य होने पर रसादि अङ्ग रूप में प्रयुक्त होते हैं उस काव्य में रसादि अलङ्कार होता है यह मेरा [ध्वन्यालोककार] का मत है ॥४२॥

इति । यत्रान्यो वाक्यार्थः प्राधान्यादलङ्कार्यतया व्यवस्थितस्तस्मिन् तदङ्गतया विनिबध्यमानः शृङ्गारादिरलङ्कारतां प्रतिपद्यते । यस्माद् गुणप्राधान्य-भावाभिव्यक्तिपूर्वमेवंविधविषये विभूष्यते । भूषणविवेकव्यक्तिरुज्जृम्भते ।

यथा—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुंकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥४३॥

यह । अर्थात् जहाँ अन्य वाक्यार्थ प्रधानतया अर्थात् अलङ्कार्यतया स्थित होता है । उसमें उसके अङ्ग रूप में ग्रथित शृङ्गार आदि [रसवत्] अलङ्कार होता है । क्योंकि इस प्रकार के उदाहरणों में गुण-प्रधान भाव की अभिव्यक्ति पूर्वक [गुण से प्रधान] विभूषित होता है । और अलङ्कार [तथा अलङ्कार्य] का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है ।

जैसे—

त्रिपुरदाह के समय शिव जी के बाण से उत्पन्न, त्रिपुर की तरुणियों द्वारा ताज़े अपराधी [सद्यः कृतपराङ्गनोपभोगादि रूप अपराध से युक्त] कामी [पुरुष] के समान, हाथ से छूने पर भी झटक दिया गया, ज़ोर से पटक देने पर भी वस्त्र के किनारों को पकड़ता हुआ, केशों को पकड़ते समय हटाया गया हुआ, पैरों में पड़ा हुआ भी सम्भ्रम [क्रोध अथवा घबराहट] के कारण न देखा गया और आलिङ्गन करने का प्रयत्न करने पर आँसुओं से परिपूर्ण नेत्रकमल वाली [कामी पक्ष में ईर्ष्या के कारण और अग्नि पक्ष में बचाव की आशा न रहने के कारण रोती हुई] त्रिपुर सुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत [कामी पक्ष में गाढ़ालिङ्गन द्वारा स्वीकृत न करके और अग्नि पक्ष में सारे शरीर को झटककर फेंका गया हुआ] शिव जी के बाण का अग्नि तुम्हारे दुःखों को दूर करे ॥४३॥

इसमें शिव जी के प्रभाव का अतिशय वर्णन करना कवि का मुख्य अभिप्रेत विषय है इसलिए वह मुख्य रूप से अलङ्कार्य है । शाम्भव शराग्नि से जन्य त्रिपुर युवतियों की दुर्दशा से अनुभूयमान करुण रस, और 'कामीवार्द्रापराधः' इस कथन से श्लेष सहित ईर्ष्याविप्रलम्भ दोनों उस शिव जी के प्रतापातिशय के समर्थक होने से अङ्ग है । इसलिए रति के यहाँ अलङ्कार रूप में निबद्ध होने से यह रसवदलङ्कार का उदाहरण होता है । यह ध्वन्यालोककार का मत है ।

न च शब्दवाच्यत्वं नाम समानं कामिशराग्नितेजसोः सम्भवतीति तावतैव तयोस्तथाविधविरुद्धधर्माध्यासादि विरुद्धस्वभावयोरैक्यं कथञ्चिदपि व्यवस्थापयितुं पार्यते। परमेश्वरप्रयत्नेऽपि स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात्। न च तथाविधशब्दवाच्यतामात्रादेव तद्विदां तदनुभवप्रतीतिरस्ति। गुड-खण्डशब्दाभिधानादपि प्रतिविषादेस्तदास्वादप्रसङ्गात्। तदनुभवप्रतीतौ सत्यां रसद्वयसमावेशदोषोऽप्यनिवार्यतामाचरति।

यदि वा भगवत्प्रभावस्य मुख्यत्वे द्वयोरप्येतयोरङ्गत्वात्

कुन्तक इस ध्वन्यालोककार के मत से सहमत नहीं जान पड़ते हैं। उनका कहना यह है कि यहाँ कामी के साथ जो शाम्भवशराग्नि की उपमा अथवा रूपक कुछ भी रखा जाय वह उचित नहीं है। क्योंकि वे दोनों पदार्थ अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव हैं अतएव उन दोनों के विरुद्ध धर्मों का एक दूसरे में अध्यारोप आदि अथवा उन दोनों का ऐक्य सम्भव नहीं है। ऐसे विरोध को स्वयं परमात्मा भी प्रयत्न करके नहीं हटा सकता है। यह कहो कि श्लोक के विशेष प्रकार के शब्दों द्वारा उन दोनों के ऐक्य की प्रतीति भी हो सकती है तो 'गुड़ का टुकड़ा' इस शब्द के कहने से उसके विरोधी विष आदि की प्रतीति भी होने लगेगी। इसलिए करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार जैसे विरोधियों में साम्य या ऐक्य मानना उचित नहीं है। इस युक्ति को देकर कुन्तक ध्वन्यालोककार के मत का खण्डन करते हैं—

[इस 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' आदि श्लोक में] कामी तथा शाम्भव शराग्नि के तेज की शब्द वाच्यता समान हो सकती है इसलिए उतने ही [अर्थात् दोनों के शब्द वाच्य होने मात्र] से उनके उस प्रकार के विरुद्ध धर्मों का [एक दूसरे में] अध्यास आदि और [उन दोनों] विरुद्ध धर्म वाले पदार्थों का ऐक्य किसी प्रकार भी प्रतिपादित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि [इस प्रकार के परस्पर विरोधी] स्वभाव को परमेश्वर के प्रयत्न से भी दूर नहीं किया जा सकता है। और न उस प्रकार के [श्लिष्ट] शब्दों से प्रतिपादन मात्र से ही सहृदयों को उस [विरुद्धधर्माध्यास अथवा विरुद्ध पदार्थों के ऐक्य] की प्रतीति हो सकती है। [क्योंकि ऐसा मानने पर तो] 'गुड़ की डली' इस शब्द के कहने पर उसके विरोधी विष आदि की भी प्रतीति होने लगेगी। [दूसरी बात यह है कि एक ही प्रकार के शब्दों से] उन [करुण तथा शृङ्गार रूप विरोधी रसों] की प्रतीति मानने पर [इस एक श्लोक में विरोधी] दो रसों की स्थिति रूप दोष भी अनिवार्य हो जाता है।

और यदि [ध्वन्यालोककार के कथनानुसार] भगवान् शिव के प्रभाव के मुख्य होने पर इन [करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार] दोनों के [भगवत्प्रतापातिशय में] अङ्ग

भूषणत्वमित्युच्यते तदपि न समीचीनम्। यस्मात् कारणस्य वास्तवत्वादिरेव स्यात्। निर्मूलत्वादेव तयोर्भावाभावयोरिव न कथञ्चिदपि साम्योपपत्तिरित्यलमनुचितविषयचर्वणाचातुर्यचापलेन।

यदि वा निदर्शनेऽस्मिन्ननाश्वसतः समाम्नातलक्षणोदाहरणसङ्गतिं सम्यक् समीहमानाः समर्षणा उदाहरणान्तरविन्यासं[1] रसवदलङ्कारस्य व्याचख्युः।

यथा—

होने से अलङ्कारत्व [रसवदलङ्कारत्व] हो सकता है यह कहा जाय तो वह [कहना] भी उचित नहीं है। क्योंकि [कामी तथा शराग्नि के साम्य के] कारण का वास्तवत्व होना चाहिए। परन्तु भाव और अभाव [के सादृश्य] के समान उन दोनों [कामी तथा शराग्नि के सादृश्य] के निर्मूल होने से उन दोनों के साम्य का किसी प्रकार भी उपपादन नहीं हो सकता है। [इसलिए करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों रसों के भगवद्-विषयक रति का अङ्ग होने से यहाँ रसवदलङ्कार है। यह ध्वन्यालोककार का मत ठीक नहीं है]। इसलिए अनुचित विषय के समर्थन में चातुर्य दिखलाने का [ध्वन्यालोककार का] प्रयत्न व्यर्थ है।

रसवदलङ्कार का दूसरे उदाहरण द्वारा उपपादन—

इस प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि उदाहरण में रसवदलङ्कार का खण्डन कर, ध्वन्यालोककार द्वारा उपस्थित किए हुए रसवदलङ्कार के दूसरे उदाहरण 'किं हास्येन' इत्यादि की विवेचना प्रारम्भ करते हैं—

अथवा यदि [क्षिप्तो हस्तावलग्नः] इस उदाहरण में [उसका खण्डन कर दिए जाने के कारण अथवा स्वयं दोषों की सम्भावना देखकर] विश्वास न करके अपने कहे हुए लक्षण के [किसी अन्य] उदाहरण में सङ्गति लगाने की इच्छा से [हमारे क्षिप्तो हस्तावलग्नः को खण्डन को] सहन कर [अर्थात् स्वीकार करके ध्वन्यालोककार ने रसवदलङ्कार का] दूसरा उदाहरण रखकर उसकी व्याख्या की है।

जैसे—

---

१. यह पाठ कुछ अटपटा-सा प्रतीत होता है।

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद् दर्शनं
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः ।
स्वापन्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ॥४४॥

अत्र [1]भवद्भिर्निहतवल्लभो वैरिविलासिनीसमूहः शोकावेशादशरणः करुणरसकाष्ठाधिरूढिविहितमेवंविधवैशसमनुभवतीति तात्पर्यप्राधान्येन वाक्यार्थस्तदङ्गतया विनिबध्यमानः । प्रवासविप्रलम्भश्रृङ्गारप्रतिभासनपरत्वं न [2]

[इस श्लोक में किसी राजा की स्तुति की गई है। स्तुति करने वाला कह रहा है कि—] तुमने अपने समस्त शत्रुओं का नाश कर डाला है । उन मरे हुए शत्रुओं की स्त्रियाँ रात में सोते समय स्वप्न में अपने पति को देखती हैं और उनके गले में हाथ डालकर कहती हैं कि—] इस हँसी [मजाक] करने से क्या लाभ है। बड़े दिन के बाद मिले हो। अब मैं जाने नहीं दूंगी। हे निष्ठुर ! बतलाओ तुम्हारी बाहर [प्रवास में] रहने की आदत [रुचि] क्यों हो गई है । तुमको किसने मुझसे अलग कर लिया है। स्वप्न में [देखे हुए] अपने पति के गले में बाहें डालकर इस प्रकार कहने वाली तुम्हारे शत्रुओं की स्त्रियाँ उठकर [जागने के बाद देखती हैं कि प्रियतम के गले में डालने के लिए उन्होंने जो बाहों का घेरा-वलय-बना रखा था वह तो खाली है] अपने खाली [प्रियतम के गले से रहित] बाहुवलय को देखकर जोर-जोर से रो रही हैं ॥४४॥

इसमें अलङ्कारान्तर से असङ्कीर्ण शुद्ध करुण रस राजविषयक रति का अङ्ग हो रहा है। इसलिए यह शुद्ध रसवदलङ्कार का उदाहरण है । यह ध्वन्यालोककार का मत है। कुन्तक ध्वनिकार के इस मत का उपपादन करते हुए कहते हैं कि—

यहां आप के द्वारा जिनके पतियों का नाश कर दिया गया है इस प्रकार की शत्रुओं की स्त्रियों का समूह शोकावेश में अशरण होकर, करुण रस के चरम सीमा को पहुँचने के कारण इस प्रकार के दुःख को अनुभव कर रहा है। यह तात्पर्य ही प्रधान रूप से वाक्य का अर्थ है । [वह करुणरस] उस [राजा के प्रतापातिशय] के अङ्ग रूप में निबद्ध किया हुआ है । और [यहां] प्रवास विप्रलम्भश्रृङ्गार की प्रतीति कराने में [कवि का अभिप्रेत] वास्तविक तात्पर्य नहीं है । इस प्रकार

---

१. 'भगद्भिर्हित' यह पाठ असङ्गत था।
२. 'प्रतिभासन परत्वमत्रार्थः' पाठ ठीक नहीं था।

परमार्थः । परस्परान्वितपदार्थसार्थसमर्प्यमाणवृत्तिर्गुणभावेनावभासनादलङ्करणमित्युच्यते । तस्य च निर्विषयत्वाभावाद् रसवदालम्बनविभावादिस्वकारणसामग्रीविरहविहिता लक्षणानुपपत्तिर्न सम्भवति ।

रसद्वयसमावेशदुष्टत्वमपि दूरापस्तमेव । द्वयोरपि वास्तवस्वरूपस्य विद्यमानत्वात्तदनुभवप्रतीतौ सत्यां नात्मविरोधः स्पर्धित्वाभावात् । तेन तदपि तद्विदाह्लादविधानसामर्थ्यसुन्दरम् । करुणरसस्य निश्चायकप्रमाणाभावात्, प्रवासविप्रलम्भस्य स्वकारणभूतवाक्योपारूढालम्बनविभावादिसमर्प्यमाणत्वं स्वप्नान्तरसमये च तथाविधत्वं युक्त्या सम्भवतः । [१]तस्मादुभयमुपपन्नमिति ।

एक दूसरे से सम्बद्ध पदार्थ समूह की सामर्थ्य से समर्पित [करुणरस के] गौण रूप से प्रतीत होने से [यहाँ रसवत्] अलङ्कार कहलाता है । और [रसवदलङ्कार के अनेक उदाहरण पाए जाने के कारण] उसके निर्विषय न होने से [तथा उसके अनेक उदाहरण मिल जाने से] रसयुक्त आलम्बनविभावादि रूप अपनी कारण सामग्री [विद्यमान होने से उस] के अभाव से उत्पन्न [रसवदलङ्कार के] स्वरूप की अनुपपत्ति सम्भव नहीं है । [अर्थात् रसवदलङ्कार मानना ही चाहिए यह ध्वन्यालोककार का मत है] ।

और दो [विरोधी] रसों के समावेश का दोष भी [जो कि पिछले 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि श्लोक में करुण तथा ईर्ष्या विप्रलम्भ रूप दो विरोधी रसों के एक साथ उस श्लोक में समावेश के कारण उत्पन्न हो गया था वह दोष भी इस दूसरे उदाहरण में नहीं आता है] दूर हट जाता है । [अतः ध्वन्यालोककार ने जो रसवदलङ्कार का लक्षण किया था वह भी इस उदाहरण में भली प्रकार घट जाता है ।] और [प्रधान भूत करुण तथा गौण रूप विप्रलम्भ शृङ्गार] दोनों के वास्तविक होने से उन [दोनों] की अनुभव में प्रतीति होने पर भी [एक के गौण और दूसरे के प्रधान होने के कारण] उनमें परस्पर स्पर्धा न होने से उनमें परस्पर विरोध नहीं है । इसलिए वह [रसवदलङ्कार] भी सहृदयों का आह्लादजनक होने से सुन्दर है । [इस श्लोक में केवल करुण रस ही है दूसरा कोई और रस नहीं है इस प्रकार का] करुण रस का निश्चायक कोई प्रमाण न होने से और प्रवास विप्रलम्भ की, अपने कारण भूत, वाक्य में वर्णित, आलम्बनविभावादि रूप सामग्री से [समर्प्यमाण] उपस्थिति और स्वप्न के समय में इस प्रकार की बात दोनों सम्भव हो सकती है । इसलिए [इसमें करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार] दोनों युक्तिसङ्गत हैं ।

---

२. 'तस्योभयमुपपन्नम्' यह पाठ असङ्गत था ।

इति चेत्तदपि न समञ्जसप्रायम् । यस्माच्चाटुविषयमहापुरुषप्रतापाक्रान्तिचकितचेतसामितस्ततः स्ववैरिणां तत्प्रेयसीनां च [1]पलायनैरपि पृथगवस्थानं न युक्तियुक्ततामतिवर्तते ।[2]

यहाँ तक ध्वनिकार के मत के अनुसार उस श्लोक की व्याख्या की है और उसमें करुण को प्रधान और विप्रलम्भ को गौण रस तथा उन दोनों को राज विषयक रति का अङ्ग मान कर रसवदलङ्कार का समर्थन किया है । आगे 'तदपि न समञ्जसप्रायम्' 'वह भी ठीक-सा नहीं मालूम होता है' यहाँ से इस मत का खण्डन करते हैं—

ध्वन्यालोककार ने इसमें करुण रस को प्रधान रस और विप्रलम्भशृङ्गार को गौण रस माना है । इन दोनों ही रसों में नायक-नायिका का वियोग होता है । परन्तु उनमें अन्तर यह है कि यदि वह वियोग दोनों की जीवितावस्था में होता है तो वहां विप्रलम्भशृङ्गार माना जाता है । और यदि उनमें किसी एक की मृत्यु हो जाय तो वहां विप्रलम्भशृङ्गार नहीं अपितु करुण रस माना जाता है । मृत्यु वह सीमा-रेखा है जिसके एक ओर विप्रलम्भ तथा दूसरी ओर करुण की स्थिति मानी जाती है । यहाँ करुण रस मानने का अर्थ यह है कि शत्रु-स्त्रियों के पतियों के मारे जाने से ही यह वियोग हुआ है । परन्तु कुन्तक यह कहते हैं कि श्लोक में प्रदर्शित, वियोग मृत्यु के कारण ही हुआ हो यह मानना आवश्यक नहीं है अपितु वह शत्रुओं के डर के मारे भाग जाने-पलायन कर जाने–से भी हो सकता है । अर्थात् यहां करुण रस के स्थान पर विप्रलम्भशृङ्गार को भी प्रधान रस माना जा सकता है । यही बात कहते हैं—

यदि यह कहें तो वह भी कुछ ठीक-सा नहीं प्रतीत होता है । क्योंकि चाटु [खुशामद, राजा आदि की स्तुति] के विषय भूत [जिस राजा की चापलूसी या स्तुति की जा रही है उस] महापुरुष के अपने प्रताप के [शत्रुओं के दिलों पर] छा जाने से चकित चित्त वाले शत्रुओं और उनकी स्त्रियों के इधर-उधर भाग जाने से भी अलग-अलग रहना युक्तिसङ्गत हो सकता है ।

अथवा करुण-रस को ही यहाँ प्रधान रस मान लेने पर विप्रलम्भ शृङ्गार के मानने का कोई अवसर नहीं रहता है । कुन्तक के मत से इसमें एक ही रस मानना चाहिए । दोनों रसों की गुण-प्रधान भाव से स्थिति मानना व्यर्थ है । दूसरी बात यह है कि इन दोनों में से चाहे किसी भी रस को माना जाय परन्तु उसको राज विषयक रति आदि किसी अन्य का अङ्ग नहीं माना जा सकता है। इसलिए भी 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' उदा० सं० ४३ तथा 'किं हास्येन' उदाहरण संख्या ४४ दोनों में ही व्यङ्गय रस की

---

१. 'प्रकाशनैः' यह पाठ ठीक नहीं है ।

२. इसके बाद त्रुटित पाठ के चिन्ह दिए गए हैं और उसके बाद 'स्तमेव तदपि चतुरस्रम्' इतना अधिक और असङ्गत पाठ पूर्व संस्करण में पाया जाता है ।

करुणरसस्य सत्यपि निश्चये तथाविधपरिपोषदशाधाराधिरूढे रेकाग्रतास्तिमितमानसः[1] तथाभ्यस्तरसवासनाधिवासितचेतसा[2] सुचिरात् समासादितस्वप्नसमागमः पूर्वानुभूतवृत्तान्तसमुचितसमारब्धकान्तसंलापः कथमपि सम्प्रबुद्धः । प्रबोधसमनन्तरसमुल्लसितपूर्वापरानुसन्धानविदितप्रस्तुतवस्तुविसंवादविदारितान्तःकरणो[3] भवद्वैरिविलासिनीसार्थो रोदितीति करुणस्यैव परिपोषपदवीमधिरोहः । तथाविधव्यभिचार्यौचित्यचारुत्वं तत्स्वरूपानुप्रवेशो वेति कुतः प्रवासविप्रलम्भस्य पृथग्व्यापारे रसगन्धोऽपि ।

यदि वा प्रेयसः प्राधान्ये तदङ्गत्वात् करुणरसस्यालङ्करणत्वमित्यभिधीयते तदपि न निरवद्यम् । यस्माद् द्वयोरप्येतयोरुदाहरणयोर्मुख्यभूतो वाक्यार्थः करुणात्मनैव विवर्तमानवृत्तिरुपनिबद्धः । पर्यायोक्तान्यापदेश-

---

प्रधानता ही है । रस किसी का अङ्ग नहीं है अतः रसवदलङ्कार नहीं माना जा सकता है । इसी बात को ग्रन्थकार अगले अनुच्छेद में कहते हैं—

करुण-रस का निश्चय होने पर भी [अर्थात् शत्रुओं की स्त्रियों के वर्णित वियोग को, पतियों के पलायन-निमित्तक नहीं अपितु मृत्यु-निमित्तक मान लेने पर भी] उस प्रकार [वियोग दुःख के] परिपोषण दशा के चोटी पर पहुँच जाने से एकाग्रता के कारण स्थिर चित्त के द्वारा, बहुत समय बाद स्वप्न में [अपने पति के साथ] समागम को प्राप्त करके, पूर्वानुभूत व्यवहार के अनुसार पति के साथ वार्तालाप करते समय [शत्रु की स्त्रियाँ] कैसे भी [किसी कारण] जाग पड़ीं । और आँख खुलने के बाद आगे-पीछे की बातों का ध्यान आने पर प्रस्तुत [पति की प्राप्ति रूप] वस्तु के मिथ्यात्व को जानकर जिसका हृदय [दुःखातिशय के कारण] फट रहा है ऐसा आपके शत्रुओं की स्त्रियों का समूह रो रहा है, इस [वर्णन] से करुण रस का ही चरम परिपोषण हो रहा है । उस प्रकार के [वर्णित] व्यभिचारीभावों के औचित्य के कारण सुन्दरता और उसी [करुण] स्वरूप का [सहृदय के हृदय में] प्रवेश होता है । इसलिए विप्रलम्भ शृङ्गार के पृथक् रूप से व्यापार में रस की गन्ध भी कहाँ से आई । [अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्गार की लेशतः सत्ता भी वहाँ नहीं है] ।

अथवा [प्रियतर आख्यान, चाटूक्ति रूप] 'प्रेयोऽलङ्कार' का प्राधान्य होने और करुण रस के उस [राजस्तुति रूप चाटूक्ति] के प्रति अङ्ग होने से [करुण रस] रसवदलङ्कार है यदि [ध्वन्यालोककार की ओर से] यह कहा जाय तो वह भी ठीक [निर्दोष पक्ष] नहीं है । क्योंकि [उदाहरण सं० ४३ तथा ४४] इन दोनों उदाहरणों में मुख्य रूप से प्रतिपाद्य अर्थ [वाक्यार्थ] करुण रस रूप से ही प्रतीत होता हुआ अङ्कित किया गया है । और पर्यायोक्त तथा अप्रस्तुत प्रशंसा

---

१. मानसस्य । २. चेतसः । ३. विहित प्रस्तुतवस्तुविसंवादविदारितान्तः करणो । ये तीन पाठ पुराने संस्करण में पाए जाते हैं जो अशुद्ध हैं ।

न्यायेन वाच्यताव्यतिरिक्तयोः प्रतीयमानतया न करुणस्य रसत्वाद् व्यङ्ग्यस्य सतो वाच्यत्वमुपपन्नम् । नापि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य विषयः, व्यङ्ग्यस्य करुणात्मनैव प्रतिभासनात् । न च द्वयोरपि व्यङ्ग्यत्वम्, अङ्गाङ्गिभावस्यानुपपत्तेः ।

एतच्च यथासम्भवमस्माभिर्विकल्पितम् । न पुनस्तन्मात्रम्*।

किञ्च 'काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिः' इति रस एवालङ्कारः केवलः, न तु रसवदिति मत्प्रत्ययस्य जीवितं न किञ्चिदभिहितम् स्यात् ।[1]

[अन्योक्ति] में प्रदर्शित युक्ति के अनुसार [इन दोनों उदाहरणों में] वाच्य से भिन्न अर्थों के प्रतीयमान होने के कारण और करुण के 'रस' होने के कारण व्यङ्ग्य ही होने से उसका वाच्यत्व युक्तिसङ्गत नहीं है । [व्यङ्ग्य होने से करुण रस प्रधान ही है । वह राजस्तुति रूप प्रेयोऽलङ्कार आदि किसी अन्य का अङ्ग नहीं है । इसलिए यहाँ रसवदलङ्कार नहीं हो सकता है] । और न [करुण रस] गुणी भूत व्यङ्ग्य का विषय है । क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ करुण रूप से प्रतीत हो रहा है । [करुण से भिन्न और कोई व्यङ्ग्य अर्थ नहीं है जिसके प्रति करुण रस को गुणी भूत कहा जा सके] । और न करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार] दोनों को ही व्यङ्ग्य कहा जा सकता है क्योंकि उस दशा में [दोनों के समकक्ष होने के कारण उनका] अङ्गाङ्गि-भाव [जो आप मानते हैं] नहीं बन सकता है । [इसलिए यहाँ करुण रस में ही चर्वणा की विश्रान्ति होती है । वह न किसी दूसरे का अङ्ग है और न गुणीभूत है । इसलिए यहाँ रसवदलङ्कार नहीं हो सकता है] ।

इस प्रकार हमने [कुन्तक ने रसवदलङ्कार के खण्डन के लिए] यथासम्भव अनेक विकल्प दिखलाए हैं । परन्तु केवल उतने ही [विकल्प] नहीं हैं [अपितु उनके अतिरिक्त और भी विकल्प हो सकते हैं] ।

और [ध्वन्यालोककार ने अपनी पूर्व उद्धृत 'प्रधान्येऽन्यत्र वाक्यार्थे' इत्यादि कारिका के उत्तरार्द्ध में जो यह कहा है कि] 'उस काव्य में रसादि अलङ्कार होता है' उसके अनुसार तो केवल रस ही अलङ्कार होता है रसवत् [अलङ्कार] नहीं होता है । इसलिए 'रसवत्' पद में किए गए मतुप् प्रत्यय का कोई अर्थ नहीं रहता है ।

---

* यहां कुछ पाठ छूटा होने का संकेत पुराने संस्करण में मिलता है ।

१. इसके बाद 'एवं सति शशार्थ *दनस्यैव तिष्ठतीत्येतदपि न किञ्चित्' । इतना अधिक और असङ्गत पाठ पाया जाता है ।

अगले ग्रन्थ भाग में पाठ दोष—

ग्रन्थ के आरम्भ से यहाँ तक का पाठ प्रायः ठीक है । केवल इस ११वीं कारिका में दो-तीन स्थानों पर खण्डित पाठ पाया जाता है । परन्तु इसके आगे अन्त तक का सारा ही पाठ स्थान-स्थान पर खण्डित है । पूर्व संस्करण के प्रकाशित होने के बाद अब तक कोई नवीन पाण्डुलिपि आदि सामग्री ऐसी नहीं मिली है जिसके आधार पर उस पाठ का संशोधन किया जा सके । इसलिए पाठ की उस त्रुटि को मूल ग्रन्थ में पुष्प चिन्ह आदि संकेतों द्वारा सूचित कर दिया है । उन स्थलों की व्याख्या भी पाठ की त्रुटि के कारण नहीं हो सकती है ।

अगला ग्रन्थ भाग केवल संकेत रूप है—

एक विशेष बात यह प्रतीत होती है कि कुन्तक ने यहाँ तक के ग्रन्थ की तो परिमार्जित प्रति तैयार कर ली थी परन्तु अगला ग्रन्थ परिमार्जित रूप में न लिख सके थे । केवल साङ्केतिक रूप में शेष ग्रन्थ की अपरिमार्जित प्रति ही लिख पाए थे । बीच में कदाचित् उनका देहान्त हो जाने से उस अपरिमार्जित पाण्डुलिपि की परिमार्जित प्रति तैयार नहीं हो सकी । इसी कारण अगले ग्रन्थ का शुद्ध पाठ उपलब्ध नहीं होता है ।

इस अनुमान का आधार यह भी है कि अगले भाग में मूल कारिकाएँ उपलब्ध नहीं होती हैं, केवल व्याख्या मात्र पाई जाती है । जान पड़ता है कि ग्रन्थकार ने मूल कारिकाएँ अलग लिख ली थीं । इस भाग को लिखते समय अस्वस्थता आदि किसी कारण से केवल व्याख्या मात्र और उदाहरण आदि के संकेत ही लिखे थे । उन्हीं के आधार पर परिमार्जित पाण्डुलिपि में व्याख्या के साथ कारिकाओं तथा उदाहरण आदि को पूर्ण रूप से अङ्कित कर देने की योजना रही होगी । परन्तु असमय में देहान्त हो जाने अथवा अन्य किसी कारण से वह योजना पूर्ण न हो सकी । इसलिए इस समय इस भाग की परिमार्जित पाण्डुलिपि हमको प्राप्त नहीं होती है । जो पाण्डुलिपि मिलती है उसमें कारिकाओं का अभाव, उदाहरण आदि का संकेत मात्र और खण्डित पाठ आदि अनेक दोष पाए जाते हैं ।

अगली कारिकाओं की सम्पादन शैली—

कुन्तक ने अपनी कारिकाओं की व्याख्या के लिए 'खण्डान्वय' की शैली अपनाई है । हिन्दी व्याख्या में यह शैली बड़ी अटपटी-सी प्रतीत होती है। उससे भाषा में प्रवाह नहीं आ पाता है । इसलिए इस व्याख्या में अनेक स्थलों पर पाठकों को कुछ अटपटापन प्रतीत होता होगा । परन्तु कुन्तक की इस व्याख्या-शैली ने ग्रन्थ के इस अपरिमार्जित

प्रेयः प्रियतराख्यानम् ॥४५॥*

पाण्डुलिपि वाले भाग के सम्पादन में बड़ी सहायता की है। क्योंकि 'खण्डान्वय' की शैली में श्लोक के प्रायः सभी पदों का आनुपूर्वी रूप से व्याख्या भाग में समावेश हो जाता है। इसलिए इस व्याख्या में से कारिका के मूल पदों को सरलता से छांटा जा सकता है। अगली सारी कारिकाओं की रचना इसी आधार पर की गई है। तृतीय उन्मेष के यहाँ से आगे के भाग की तथा चतुर्थ उन्मेष की सारी कारिकाएँ मूल पाण्डु-लिपि में अनुपूर्वी से कारिका रूप में अङ्कित नहीं हुई है। व्याख्या भाग के पदों की योजना करके ही उनका सम्पादन किया गया है।

प्रेयोऽलङ्कार का खण्डन—

विगत प्रकरण में रसवदलङ्कार की विवेचना के बाद अब आगे 'प्रेयोऽलङ्कार' की विवेचना प्रारम्भ करते हैं। जैसे पिछले प्रकरण में भामह आदि के अभिमत 'रसवदलङ्कार' का खण्डन किया था। इसी प्रकार यहाँ 'प्रेयोऽलङ्कार' के अलङ्कारत्व का खण्डन करेंगे। प्रेयोऽलङ्कार के विषय में वामन ने इस प्रकार लिखा है—

प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद् विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते॥
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः॥

—भामह काव्यालङ्कार ३, ५।

भामह ने यह जो 'प्रेयोऽलङ्कार' का विवेचन दिया है इसमें वस्तुतः उसका लक्षण न करके, केवल उदाहरण मात्र दे दिया है। दण्डी ने 'प्रेयोऽलङ्कार' का लक्षण 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' अर्थात् प्रियतर बात का कथन करना 'प्रेयोऽलङ्कार' होता है यह किया है। और उसके उदाहरण के लिए दण्डी ने भी भामह का दिया हुआ उदाहरण ही प्रस्तुत किया है। इसलिए भामह और दण्डी दोनों के अभिमत 'प्रेयो-ऽलङ्कार' का खण्डन, इस प्रकरण में कुन्तक कर रहे हैं। भामह के ऊपर उनका पहिला आक्षेप तो यह ही है कि उन्होंने 'प्रेयोऽलङ्कार' के लक्षण करने की आवश्यकता नहीं समझी और केवल उदाहरण को ही उसका लक्षण समझ लिया है। उसके बाद दण्डी के लक्षण की और दण्डी तथा भामह दोनों के अभिमत 'प्रेयोऽलङ्कार' के उदाहरण की आलोचना करते हुए उन्होंने इस प्रकरण का प्रारम्भ किया है।

[किसी व्यक्ति के सामने उसकी] प्रियतर बात का कथन करना [अर्थात् उसकी चाटुकारिता, चापलूसी करना] 'प्रेयोऽलङ्कार' है [यह प्रेयोऽलङ्कार का लक्षण दण्डी ने अपने काव्यादर्श में किया है] ॥४५॥

*यहां कुछ पाठ छूटा होने का संकेत पुराने संस्करण में मिलता है। वस्तुतः यह पाठ का संकेत मात्र दिया गया है पाठ लुप्त नहीं हुआ है।

उदाहरणमात्रमेव लक्षणं मन्यमानः*

कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ।*

प्रेयोगृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा ।
अद्य मम या गोविन्द जाता त्वयि गृहगते ।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥४६॥[1]

[भामह तो] उदाहरण मात्र को ही लक्षण मानकर [सन्तुष्ट हो गए जान पड़ते हैं इसीलिए उन्होंने 'प्रेयोऽलङ्कार' का लक्षण करने की आवश्यकता नहीं समझी है]।

दण्डी ने भामह के ही आधार पर 'कालेनैषा भवेत् प्रीतिः तवैवागमनात् पुनः' इत्यादि प्रेयोऽलङ्कार का उदाहरण दिया है। उसका अभिप्राय यह है कि—

[फिर कभी दूसरे] समय पर आप ही के दुबारा आने पर वैसा आनन्द प्राप्त होगा [जैसा आज आपके आने से प्राप्त हुआ है । उसके अतिरिक्त अन्य किसी भी कारण से आपके दर्शन जैसा आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता है। यह भामह ने प्रेयोऽलङ्कार का उदाहरण दिया है]—

भामह ने 'प्रेयोऽलङ्कार' का स्पष्ट लक्षण तो नहीं किया है परन्तु उसको उदाहरण द्वारा ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भामह ने प्रेयोऽलङ्कार का जो उदाहरण दिया है उसका अर्थ इस प्रकार है—

'प्रेयोऽलङ्कार' [वह है] जैसे—[अपने] घर पर आए हुए कृष्ण से विदुर जी ने कहा कि हे गोविन्द आज आपके घर आने से जो आनन्द मुझको प्राप्त हुआ है वैसा आनन्द फिर कभी दूसरे समय आपके आने पर ही प्राप्त होगा। [उसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से वैसा आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता है] ॥४६॥

यहाँ तक भामह तथा दण्डी के अभिमत 'प्रेयोऽलङ्कार' का अनुवाद या प्रतिपादन किया अब आगे कुन्तक उसका खण्डन प्रारम्भ करते हैं—

---

*यहां कुछ पाठ छूटे होने का संकेत पुराने संस्करण में मिलता है। पर वस्तुतः संकेतमात्र दिया गया है। पाठ का लोप नहीं है।

१. भामह काव्यालङ्कार ३, ५। दण्डी काव्यादर्श २, २७६।

तदेवं न चोदक्षमतामर्हति। तथा च 'कालेन इति यदुच्यते'[1] तदेव वर्ण्यमानविषयतया वस्तुनः स्वभावः। तदेव लक्षणकरणमित्यलङ्कार्यं न किञ्चिदवशिष्यते। तस्यैवोभयमलङ्कार्यत्वमलङ्करणत्वं चेत्ययुक्तियुक्तम्। एकक्रियाविषयं युगपदेकस्यैव वस्तुनः कर्मकरणत्वं नोपपद्यते।

यदि दृश्यन्ते[2] तथाविधानि वाक्यानि येषामुभयमपि सम्भवति—

आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वं आत्मन्येव प्रलीयसे ॥४७॥[3]

इस प्रकार [प्रेयोऽलङ्कार] विचार के योग्य [कोई तत्त्व] नहीं है। क्योंकि 'कालेन' आदि से जो बात कही गई है [अर्थात् उस विदुर की उक्ति का जो भाव है] वही [तो] वर्ण्यमान होने से वस्तु का स्वभाव [अर्थात् अलङ्कार्य] है। उसी को [प्रेयोऽलङ्कार का] लक्षण कर दिया है [अर्थात् अलङ्कार कह रहे हैं। जब वह विदुर की उक्ति प्रेयोऽलङ्कार रूप हो गई तो] अलङ्कार्य तो कुछ भी शेष नहीं रहा। [फिर वह प्रेयोऽलङ्कार किसको अलंकृत करेगा]। वह स्वयं ही अलङ्कार्य और अलङ्करण दोनों रूप हो जाय यह युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता है। [अलङ्करण रूप] एक हीं क्रिया में एक साथ, एक ही वस्तु [विदुर का उक्ति का] कर्म [अलङ्कार्यत्व] और करण [अलङ्कारत्व] दोनों होना युक्तिसङ्गत नहीं है। [इसलिए वह स्वयं ही अलङ्कार्य तथा अलङ्करण रूप नहीं हो सकता है]।

यदि [यह कहा जाय कि] ऐसे वाक्य भी पाए जाते हैं जिनमें [कर्मत्व और करणत्व] दोनों [एक ही वस्तु में] दिखलाई देते हैं। जैसे [कुमारसम्भव में शिव जी स्तुति में प्रयुक्त हुए निम्न श्लोक में]—

[आप, शिव जी] अपने आपको स्वयं अपने आप से जानते हैं। अपने आपको स्वयं अपने आप [नाना रूप में] उत्पन्न करते हैं। और [सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति द्वारा] कृतार्थ हुए अपने स्वरूप से अपने में ही लीन हो जाते हैं ॥४७॥

इसमें एक शिव जी 'वेत्सि' इस क्रिया के करण भी हैं और कर्म भी। इसी प्रकार 'सृजसि' और 'लीयसे' क्रियाओं में भी कर्म स्वरूप तथा करण स्वरूप स्वयं शिव जी हैं। इसलिए एक ही वस्तु एक साथ कर्म और करण दोनों हो सकती हैं। और इसके परिणामस्वरूप उक्त उदाहरण में विदुर की उक्ति, वस्तु का स्वरूप होने से अलङ्कार्य, तथा प्रिय-कथन रूप होने से 'प्रेयोऽलङ्कार दोनों हो सकती है। यह पूर्वपक्ष है।

---

१. कालेनेत्युच्यते। २. दृश्यते। ३. कुमारसम्भव २, १०।

इत्यभिधीयते, तदपि निःसमन्वयप्रायमेव । यस्मादत्र वास्तवेऽप्यभेदे काल्पनिकमुपचारसत्तानिबन्धनं विभागमाश्रित्य तद्व्यवहारः प्रवर्तते ।

किञ्च विश्वमयत्वात्परमेश्वरस्य परमेश्वरमयत्वाद्वा विश्वस्य पारमार्थिकेऽप्यभेदे माहात्म्यप्रतिपादनार्थं प्रातिस्विकपरिस्पन्दविचित्रां जगत्प्रपञ्चरचनां प्रति सकलप्रमातृतास्वसंवेद्यमानो भेदावबोधः स्फुटावकाशतां न कदाचिदप्यतिक्रामति । तस्मादत्र परमेश्वरस्यैव रूपस्य कस्यचित तदाप्यमानत्वाद्वेदनादेः क्रियायाः कर्मत्वम् । कस्यचित् साधकतमत्वात् करणत्वमिति ।* उदाहरणे पुनरपोद्धारबुद्धिरिति कल्पनयापि न कथञ्चिदपि विभागो विभाव्यते । तस्मात्—

स्वरूपादतिरिक्तस्य परस्याप्रतिभासनात् ॥४८॥

यह कहा जाय तो—[कुन्तक इसका खण्डन करते हैं कि—] यह [कहना] भी असङ्गत-सा ही है । क्योंकि यहाँ [इस उदाहरण में] वास्तव में अभेद के रहते हुए भी लक्षणा से काल्पनिक भेद मानकर [शिव जी का दो रूप में] विभाग करके उस प्रकार का [कर्म और करण रूप उभयविध]व्यवहार हुआ है ।

और [दूसरी बात] यह भी है कि परमेश्वर के विश्वरूप होने से अथवा संसार के परमेश्वरमय होने से पारमार्थिक अभेद होने पर भी [शिव जी के] माहात्म्य के प्रतिपादन के लिए प्रत्येक वस्तु के स्वभाव-भेद से भिन्न विश्व-प्रपञ्च की रचना में समस्त प्रमाताओं के द्वारा अनुभूयमान भेद की प्रतीति स्पष्टता का कभी भी अतिक्रमण नहीं करती है । [अर्थात् काल्पनिक अभेद से श्लोक में एक ही शिव में कर्मत्व तथा करणत्व का कथन करने पर भी समझने वालों को उनका भेद स्पष्ट प्रतीत होता रहता है] । इसलिए यहाँ परमेश्वर के ही किसी रूप के [ज्ञान के विषय या ज्ञेय रूप में] उससे प्राप्त होने से [उसमें 'वेत्सि'] वेदन आदि क्रिया का कर्मत्व होता है । और [उसी परमेश्वर के] किसी [अन्य] रूप के साधकतम होने से [उस दूसरे रूप में] करणत्व हो सकता है । परन्तु [प्रेयोऽलङ्कार के 'अद्य मम या गोविन्द' इत्यादि पूर्वोक्त] उदाहरण में [अलङ्कार्य तथा अलङ्करण का अभेद होने पर भी कथञ्चित् लक्षणा या] भेद व्यवहार है इस प्रकार की कल्पना से भी किसी प्रकार [अलङ्कार्य-अलङ्कार] विभाग सम्भव नहीं हो सकता है । इसलिए—

[अलङ्कार्य के] स्वरूप से अतिरिक्त [अलङ्करण रूप में अलग विभक्त] किसी दूसरी वस्तु की प्रतीति न होने से [प्रेयोऽलङ्कार को अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है] ॥४८॥

---

*पुष्पाङ्कित स्थान पर कुछ पाठ छूटे होने का संकेत पुराने संस्करण में मिलता है ।

इति दूषणमत्रापि सम्बन्धनीयम् । ❀ पक्षे च यदेवालङ्कार्यं तदेवालङ्करणमिति प्रेयसो रसवतश्च स्वात्मनि क्रियाविरोधात्—

आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥४६॥

इति स्थितमेव ।

इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः कण्ठमूलं मुरारिः
दिङ्नागानां मदजलमसीभाञ्जि गण्डस्थलानि ।
अद्याप्युर्वीवलयतिलक श्यामलिम्नानुलिप्ता-
न्याभासन्ते वद धवलितं किं यशोभिस्त्वदीयैः ॥५०॥

[इत्यादि ११वीं कारिका में रसवदलङ्कार के खण्डन में दिया गया हुआ] यह दोष यहाँ भी जोड़ लेना चाहिए । और दूसरी ओर [पक्षे] जो ही अलङ्कार्य है वह ही अलङ्करण भी है यह [दोष] प्रेयोऽलङ्कार तथा रसवदलङ्कार दोनों में अपने में ही [अलङ्कार्य और अलङ्करण रूप] क्रिया का विरोध होने से [दोष है—अर्थात् रसवत् तथा प्रेयः दोनों ही अलङ्कार नहीं कहे जा सकते हैं । क्योंकि दोनों जगह वह वस्तुतः अलङ्कार्य है]—

कहीं भी कोई स्वयं अपने कन्धे पर अपने आप नहीं चढ़ता है ॥४६॥

यह निश्चित ही है । [इसलिए रसवत् तथा प्रेयः दोनों अलङ्कार्य हैं अलङ्कार नहीं] ।

इस प्रकार 'प्रेयोऽलङ्कार' की अलङ्कारता का खण्डन करने के बाद पूर्वपक्ष की ओर से व्याजस्तुति का उदाहरण लेकर पूर्व पक्ष यह बनाते हैं कि व्याजस्तुति अलङ्कार है, उसमें व्याज से ही किसी की स्तुति की जाती है । वह स्तुति वाला अंश 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' इस लक्षण के अनुसार 'प्रेयः' स्वरूप है । उसको आप अर्थात् कुन्तक यदि अलङ्कार्य मानते हैं तो व्याजस्तुति भी अलङ्कार न होकर अलङ्कार्य हो जायगी । अथवा यदि भामह आदि के अनुसार अलङ्कार भी मान लें तो वहाँ व्याजस्तुति तथा प्रेयोऽलङ्कार का सङ्कर अथवा संसृष्टि अलङ्कार हो जायगा । इस मत का खण्डन करने के लिए अगला उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

[उर्वी पृथिवी के तिलक] हे राजन् चन्द्रमा के भीतर का कलङ्क चिन्ह, त्रिपुर का विजय करने वाले [शिव जी] का गला [कण्ठमूल], स्वयं विष्णु भगवान्, और मद जल की कालिमा के युक्त दिङ्नागों के गण्डस्थल, आज भी कालिमा से लिप्त हो रहे हैं । तब आपके यश ने किसको शुभ्र किया है यह तो बतलाइए ॥५०॥

---

*पुष्पाङ्कित स्थान पर कुछ पाठ छूटे होने का संकेत पुराने संस्करण में मिलता है ।

अत्र प्रेयोऽभिहितिरलङ्कार्या व्याजस्तुतिरलङ्करणम् । न पुनरुभयोरलङ्कारप्रतिभासो येन तद्व्यपदेशः सङ्करव्यपदेशो वा प्रवर्तेत[1], तृतीयस्यालङ्कार्यतया वस्त्वन्तरस्याप्रतिभासनात्।

अन्यस्मिन् विषये [2]प्रेयोभणितिविविक्ते वर्णनीयान्तरे प्रेयसो विभूषणत्वादुपमादेरिवोपनिबन्धः प्राप्नोति इति न क्वचिदपि दृश्यते। तस्मादन्यत्रान्यदापि प्रेयसो न युक्तियुक्तमलङ्करणत्वम्। रसवतोऽपि तदेव तुल्ययोगक्षेमत्वात् ॥११॥

इसमें यद्यपि देखने में राजा की निन्दा प्रतीत होती है कि आपके यश ने इन वस्तुओं को तो शुभ्र किया ही नहीं, परन्तु वास्तव में वह प्रशंसा परक है । इसलिए यह व्याजस्तुति अलङ्कार है । और इसमें राजा की प्रिय बात का कथन होने से चाटु या प्रेयोऽलङ्कार भी है । इसलिए यहाँ अलङ्कार्य अलङ्कार भाव स्पष्ट है । प्रेयोऽलङ्कार [चाटु] अलङ्कार्य है और व्याजस्तुति अलङ्कार रूप है । अथवा वह दोनों सङ्कर हैं । यह पूर्व पक्ष का भाव है । इसका खण्डन करते हुए कुन्तक कहते हैं कि—

यहाँ प्रिय कथन [प्रेयः] अलङ्कार्य है और व्याजस्तुति [अलङ्करण या] अलङ्कार रूप है। दोनों [और विशेष रूप से प्रेयः भाग] की अलङ्कार रूप में प्रतीति नहीं होती है जिससे [प्रेयः भाग के लिए] अलङ्कार पद का प्रयोग हो अथवा [प्रेयः तथा व्याजस्तुति दोनों को अलङ्कार मानकर उन दोनों के] सङ्कर नाम से व्यवहार हो । क्योंकि [यदि उन दोनों को अलङ्कार मानें तो उन से भिन्न कोई तीसरा अलङ्कार्य होना चाहिए । परन्तु] अलङ्कार्य रूप से कोई तीसरी वस्तु प्रतीत नहीं हो रही है । [प्रेयः प्रियकथन, चाटु के लिए यहाँ अलङ्कार शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता है । वह स्वयं अलङ्कार्य है अलङ्कार नहीं । इसलिए यहाँ न प्रेयोऽलङ्कार है और न सङ्करालङ्कार का अवसर है । अपितु उसमें केवल व्याजस्तुति अलङ्कार है] ।

[और यदि प्रेयः को अलङ्कार मानते हैं तो उसमें दूसरा दोष यह आता है कि किसी अन्य उदाहरण में प्रेयो भणिति से रहित अन्य किसी वर्णनीय विषय में भी प्रेय का उपमा आदि के समान अलङ्कार रूप में प्रयोग होना चाहिए । [यदि ऐसा कोई उदाहरण मिल जाय कि प्रियवचन किसी अन्य वस्तु को अलंकृत कर रहे हों तब तो वहाँ प्रेयः के लिए अलङ्कार पद का प्रयोग किया जा सकता है] परन्तु वह [वैसा कोई उदाहरण] तो कहीं दिखलाई नहीं देता है । इसलिए अन्यत्र [अर्थात् चाटु वचनों में] भी अन्य समय भी प्रेयः का अलङ्कारत्व युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता है । और रसवत् का भी वही हाल है । दोनों के तुल्य योग-क्षेम होने से ।

---

१. व्यावर्तते पाठ अशुद्ध था । २. प्रायोभणिति पाठ अशुद्ध था ।

एवमलङ्करणतां प्रेयसः प्रत्यादिश्य वर्णनीयशरीरत्वात् तदेकरूपाणामन्येषां प्रत्यादिशति ।

ऊर्जस्व्युदात्ताभिधानं पौर्वापर्यप्रणीतयोः।
अलङ्करणयोर्भूषणत्वं तद्वन्न विद्यते ॥१२॥

न विद्यते, न सम्भवति । कथम् , तद्वत् । तदित्यनन्तरोक्तरसवदादिपरामर्शः । रसवदादिवदेव तयोर्विभूषणत्वं नास्ति ।

अर्थात् रसवत् तथा प्रेय स्थलों में दोनों जगह वह रस तथा प्रेयः दोनों स्वयं अलङ्कार्य ही होते हैं । अलङ्कार तो वे तब हों जब उनसे भिन्न कोई और वस्तु अलङ्कार्य रूप में उपस्थित हो । परन्तु अन्य कोई अलङ्कार्य वस्तु उस प्रकार के उदाहरणों में नहीं निकल सकती है । इसीलिए रसवत् अथवा प्रेय को कहीं भी अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है ॥११॥

३. उर्जस्वि तथा उदात्त अलङ्कारों का खण्डन—

इस प्रकार प्रेयः की अलङ्कारता का खण्डन करके वर्णनीय [के] शरीर रूप [अर्थात् अलङ्कार्य] होने से उन [रसवत् तथा प्रेयः] के समान [अलङ्कार्य रूप] अन्यों [उर्जस्वि, उदात्त तथा समाहित की अलङ्कारता] का खण्डन करते हैं—

उसी प्रकार [अर्थात् रसवत् तथा प्रेयः के खण्डन में दिखलाए हुए प्रकार] से आगे-पीछे कहे हुए उर्जस्वि तथा उदात्त कथनरूप अलङ्कारों का भी अलङ्कारत्व नहीं बनता है।

नहीं है अर्थात् सम्भव नहीं है । कैसे कि उन [रसवत् तथा प्रेय] के समान । तत् [पद] से अभी कहे हुए रसवदादि का ग्रहण करना चाहिए । रसवदादि के समान ही उन दोनों [अर्थात् उर्जस्वि तथा उदात्त] का [भी] अलङ्कारत्व नहीं है ।

रसवत् तथा प्रेयः के समान उर्जस्वी तथा उदात्त नामक दो अलङ्कार भी भामह ने और माने हैं । इन दोनों के भी लक्षण नहीं किए हैं केवल उदाहरण दिए हैं । उन्हीं से उनके लक्षण निकाले जा सकते हैं । जैसे 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' प्रिय बात के कथन को प्रेयः अलङ्कार कहा था इसी प्रकार उर्जस्वित् शौर्यादि प्रकाशक बात का कथन उर्जस्वि अलङ्कार है यह भामह के दिए उदाहरणों से उर्जस्वि अलङ्कार का लक्षण निकाला जा सकता है । उर्जस्वि अलङ्कार का वर्णन करते हुए भामह ने लिखा है कि—

कैश्चिदुदाहरणमेव व्यक्तत्वाल्लक्षणं मन्यमानैस्तदेव दर्शितम् ।

अपहर्ताहमस्मीति हृदि ते मास्म भूद्भयम् ।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्तुं जातु वाञ्छति ॥५१॥

ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः ।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः ॥३,७ ॥

इसी प्रकार उदात्त के विषय में भामह का लेख इस प्रकार है—

उदात्तं शक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः ।
विहायोपनतं राज्यं यथा वनमुपागतः ॥३,११॥

इन दोनों श्लोकों में भामह ने उन अलङ्कारों के लक्षण न देकर केवल उदाहरण दिए हैं। परन्तु उनसे यह प्रतीत होता है कि भामह 'ऊर्जस्वी वचन' को ऊर्जस्वी अलङ्कार और उदात्त वस्तु के वर्णन को उदात्त अलङ्कार कहना चाहते हैं। इन अलङ्कारों के ये लक्षण उनके उदाहरणों से स्वयं ही निकल आवेंगे । ऐसा मानकर ही कदाचित् भामह ने उनके लक्षण नहीं किए हैं । परन्तु कुन्तक उनके इस लक्षण न करने से अत्यन्त असन्तुष्ट है इसलिए उनके मत का उल्लेख केवल एक पंक्ति में करके छोड़ देते हैं—

किन्हीं [भामह] ने उदाहरण को ही स्पष्ट होने से [ऊर्जस्वी तथा उदात्त अलङ्कार] का लक्षण मानकर केवल वह [उदाहरण] ही दिखलाया है [लक्षण नहीं किया है]।

मैं अपहरण कर लूँगा इस प्रकार भय तुम मत करो । क्योंकि मेरी तलवार विमुख भागते हुए व्यक्ति पर कभी भी प्रहार करना नहीं चाहती है ॥५१॥

यह श्लोक ऊर्जस्वी अथवा उदात्त कथन के कारण उक्त अलङ्कार का उदाहरण कहा जा सकता है। परन्तु कुन्तक उस ऊर्जस्वत् वर्णन को 'अलङ्कार्य' ही मानते हैं। अन्य आचार्यों ने—

रसस्याङ्गत्वे रसवदलङ्कारः । भावस्याङ्गत्वे प्रेयोऽलङ्कारः । रसाभासभावाभासस्य चाङ्गत्वे ऊर्जस्वि नामालङ्कारः । भावशान्तेरङ्गत्वे समाहितालङ्कारः । इत्यादि रूप से इन अलङ्कारों के लक्षण किए हैं । इन लक्षणों के अनुसार रसाभास तथा भावाभास के अङ्ग होने पर ऊर्जस्वित् नामक अलङ्कार होता है। रस शब्द से प्रसिद्ध शृङ्गार आदि का ग्रहण होता है। वह जहाँ किसी के अङ्ग हो जाय वहाँ रसवदलङ्कार होता है। भाव शब्द का अर्थ है—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ।
भावः प्रोक्तः तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः ॥

अर्थात् स्त्री-पुरुष विषयक रति शृङ्गार रस में परिणत हो जाती है। परन्तु

अनौचित्यप्रवृत्तानाम्.........तथाः कामोऽस्य ववृधे..........

उनको छोड़कर देवता, राजा, गुरु आदि के प्रति जो रति या स्नेह का भाव है वह 'भाव' शब्द से कहा जाता है। और जहाँ ये 'रस' तथा 'भाव' ये दोनों अनुचित रूप से वर्णित हों उनको 'रसाभास' तथा 'भावाभास' कहा जाता है। यह 'रसाभास' तथा 'भावाभास' जहाँ किसी अन्य के अङ्ग हो जावें वहाँ 'ऊर्जस्वी' नामक अलङ्कार होता है। कुन्तक इस उर्जस्वी अलङ्कार को नहीं मानते हैं। उस के खण्डन में कुन्तक की युक्ति यह है कि अनौचित्य के अतिरिक्त और कोई रसभङ्ग का कारण नहीं है। जहाँ अनौचित्य का संसर्ग आ जाता है वहाँ उस अनौचित्य से रस अलंकृत नहीं अपितु दूषित होता है। उसको अलङ्कार कैसे कहा जा सकता है। और दूसरी युक्ति वही है जो रसवदादि के विषय में दी जा चुकी है। अर्थात् वे सब, वर्णनीय वस्तु के स्वरूप भूत होते हैं अतः अलङ्कार्य ही हो सकते हैं, अलङ्कार नहीं।

यहाँ तक कुन्तक ने भामह के अभिमत ऊर्जस्वी तथा उदात्त अलङ्कार का खण्डन किया है। अब आगे वह उद्भट के अभिमत लक्षण का खण्डन प्रारम्भ करते हैं। मूल में 'अनौचित्य प्रवृत्तानां' और 'तथा कामोऽस्य ववृधे' ये दोनों उद्धरण उद्भट के 'काव्यालङ्कारसार संग्रह' के चतुर्थ वर्ग ९, १० के प्रतीक रूप में उद्धृत हुए है। उद्भट ने ऊर्जस्वी का लक्षण इस प्रकार किया है—

अनौचित्य प्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥ ४, ९।

अर्थात् काम क्रोध आदि के कारण से अनुचित रूप से प्रवृत्त भावों तथा रसों का वर्णन ऊर्जस्वी कहलाता है। 'शास्त्राविरोधे तु प्रेयो रसवद्लङ्कारौ। ऊर्जसो बलस्य विद्यमानत्वाच्चोर्जस्विता'। उद्भट ने अपने ही 'कुमारसम्भव' काव्य से इसी का उदाहरण आगे दिया हैं—

तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम्।
संग्रहीतु प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम् ॥

इन शिव जी के काम का वेग इतना बढ़ गया कि वे सन्मार्ग को छोड़कर पार्वती को ज़बरदस्ती पकड़ने लगे। शृङ्गार में ज़बरदस्ती या बलात्कार करना अनुचित है। परन्तु यह अनुचित वर्णन कामावेशमूलक होने से उद्भट के लक्षणानुसार यहां ऊर्जस्वी अलङ्कार बन गया है। यह उद्भट का अभिप्राय है।

अनौचित्यप्रवृत्त······रसभङ्ग··········

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ॥५२॥

समुचितोऽपि रसः परमसौन्दर्यमावहति । तत्र कथमनौचित्यपरिम्लानः कामादिकारणकल्पनोपसंहतवृत्तिरलङ्कारतां [1]प्रयास्यति ।

पशुपतिरपि तान्यहानि ॥५३॥

भरतनयनिपुणमानसै·· उदाहरणमेवोर्जितम् ।

तदेवमयं प्रधानचेतनलक्षणोपकृततातिशयविशिष्टचित्तवृत्तिविशेषवस्तु-स्वभाव एव मुख्यतया वर्ण्यमानत्वादलङ्कार्यो न पुनरलङ्कारः ।

अनौचित्य से प्रवृत्त [होने पर]······रसभङ्ग [होना आवश्यक है क्योंकि श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में कहा है कि]—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥ ध्व० पृ० २५६ ॥

अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का और कोई कारण नहीं है । ['तथा कामोऽस्य ववृधे' इत्यादि उदाहरणों में] समुचित्त [वर्ण्यमान शृङ्गार] रस भी परम सौन्दर्य को धारण करता है उसमें अनौचित्य से दूषित [परिम्लान] हुआ वह काम आदि के कारण की कल्पना से उपहत दूषित रूप होकर [अलङ्कार नहीं अलङ्काराभास [भी] कैसे हो सकेगा ।···

[आगे कुमारसम्भव से रसाभास का दूसरा उदाहरण देते हैं । पूरा श्लोक कुमारसम्भव के छठे सर्ग के अन्त में ६,९५ इस प्रकार आया है]—

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥ कुमार ६,९५ ॥

[तीन दिन बाद विवाह की तिथि है इसका निश्चय हो जाने पर पार्वती के समागम के लिए उत्सुक] शिव जी ने वह तीन दिन बड़ी कठिनाई से बिताए । [जब इस प्रकार के काम विकार उस सर्वशक्तिमान देव को भी सता सकते हैं तब अन्य साधारण काम परवश लोगों की तो बात ही क्या है] ।

भरत के मार्ग में [अपने को] निपुण समझने वाले [उद्भट, दण्डी, भामह आदि ने इस ऊर्जस्वी अलङ्कार की कल्पना कैसे कर ली यह ही आश्चर्य की बात है]...

[रसाभास परक यह] उदाहरण ही ऊर्जित है । यह कैसे कहा—

इस प्रकार [कुमारसम्भव के उपर्युक्त पशुपतिरपि इत्यादि श्लोक में देवता स्वरूप] प्रधान चेतन रूप की उपकृत अतिशय युक्त चित्तवृत्ति विशेष रूप वस्तु मुख्य रूप से वर्ण्यमान होने के कारण अलङ्कार्य है अलङ्कार नहीं ।

विन्दुओ से अङ्कित स्थलों के पाठ केवल प्रतीक रूप में अङ्कित जान पड़ते हैं अतः अत्यन्त अस्पष्ट हैं ।

१. प्रतिभासः पाठ अधिक था ।

न रसवदाद्यभिहितदूषणपात्रतामतिक्रामति तदेतदुक्तमत्र योजनीयम् ।

और वह रसवदादि [के खण्डन में कहे गए] दोषों की पात्रता से भी परे नहीं है। इसलिए वहाँ कहे हुए दोष यहाँ भी जोड़ लेना चाहिए। [इसलिए ऊर्जस्वी नाम का कोई अलङ्कार सम्भव नहीं है]।

४. उदात्त अलङ्कार का खण्डन—

उदात्त अलङ्कार का भामह ने इस प्रकार निरूपण किया है—

उदात्तं शक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः ।
विहायोपनतं राज्यं यथा वनमुपागतः ॥ का० ३,११ ॥

रामचन्द्र जी राज्य पर अपना अधिकार करने की शक्ति रखते हुए भी पिता जी की आज्ञा का पालन करने के लिए आए हुए राज्य को भी छोड़कर वन को चले गए।

इस उदाहरण में रामचन्द्र के चरित्र को बड़े उदात्त रूप में प्रस्तुत किया गया है इसलिए यह 'उदात्त' अलङ्कार का उदाहरण है।

उदात्त के दूसरे भेद का लक्षण भामह ने इस प्रकार किया है—

उत देवा परेऽन्येन व्याख्यानेनान्यथा विदुः ।
नाना रत्नादियुक्तं यत् तत् किलोदात्तमुच्यते ॥
चाणक्यो नक्तमुपयान्नन्दक्रीडागृहं यथा ।
शशिकान्तोपलच्छन्नं विवेद पयसां गणैः ॥

यह भामह के अनुसार उदात्त अलङ्कार का विवेचन हुआ परन्तु उद्भट तथा दण्डी ने उदात्त अलङ्कार दो प्रकार का माना है एक तो वह जिसमें 'ऋद्धिमद्' वस्तु का वर्णन किया जाय। 'उदात्त ऋद्धिमद्वस्तु' और उसका दूसरा स्वरूप महापुरुषों के चरित्र का वर्णन है 'चरितं च महात्मनाम्'। इन दोनों अंशों को मिलाकर उद्भट के अनुसार उदात्त अलङ्कार का लक्षण यह हुआ कि—

उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम् । काव्यालङ्कार सार० ४, १७।

इन दोनों प्रकार के उदात्त के लक्षणों का खण्डन करते हुए कुन्तक रसवदादि के खण्डन वाली युक्ति ही फिर यहाँ भी देते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि चाहे 'ऋद्धिमद् वस्तु' का वर्णन हो अथवा 'महापुरुषों के चरित' का वर्णन हो वह वस्तु अथवा वह चरित तो वर्ण्यमान होने से अलङ्कार्य हो सकता है। अलङ्कार नहीं हो सकता है। यही बात कहते हैं—

एवमुदात्तस्योभयप्रकारस्याप्यलङ्कार्यतैव युक्तिमती, न पुनरलङ्करणत्वम्।

'उदात्तमृद्धिमद्वस्तु' अत्र यद्वस्तु तदुदात्तम् अलङ्करणम्। कीदृशमित्याकांक्षायां 'ऋद्धिमत्' इत्यनेन यदि विशेष्यते तत् तदेव सम्पदुपेतं वस्तु वर्ण्यमानमलङ्कार्यं तदेवालङ्करणमिति स्वात्मनि क्रियाविरोधलक्षणस्य दोषस्य दुर्निवारत्वात् स्वरूपातिरिक्तस्य वस्त्वन्तरस्याप्रतिभासनादूर्जस्विवत्।

अथवा ऋद्धिमद्वस्तु यस्मिन् यस्येत्यापि व्याख्यानं क्रियते तथापि तदन्यपदार्थलक्षणं वस्तु वक्तव्यमेव यत्समानार्थतामुपनीतम्। तद् ऋद्धिमद्वस्तु यस्मिन् यस्य वेति तत्काव्यमेव तथाविधं भविष्यतीति चेत्, तदपि न किञ्चिदेव। यस्मात् काव्यस्यालङ्कार इति प्रसिद्धिः। न पुनः काव्यमेवालङ्करणमिति।

इस तरह दोनों प्रकार के उदात्त [नामक तथाकथित अलङ्कार] की अलङ्कार्यता ही उचित है अलङ्कारत्व नहीं।

[उदात्त नामक तथाकथित अलङ्कार के प्रथम भेद का लक्षण है] 'ऋद्धि युक्त वस्तु' [का वर्णन 'उदात्त' है। इस लक्षण का क्या अभिप्राय हुआ कि] यहाँ जा [ऋद्धिमद्] वस्तु [वर्णनीय अर्थ] है वह 'उदात्त' अलङ्कार है कैसी वस्तु इस आकांक्षा में यदि वस्तु को 'ऋद्धिमत्' इस पद से विशेषित करते हैं तो वह ही [ऋद्धि] सम्पत्ति से युक्त वस्तु वर्ण्यमान होने से अलङ्कार्य है, और वही अलङ्करण रूप है इस प्रकार स्वयं अपने में [स्वस्कन्धाधिरोहण न्याय से] क्रिया के विरोध रूप दोष का निवारण करना असम्भव होने से और [उस वर्ण्यमान वस्तु के] स्वरूप से अतिरिक्त [अलङ्कार्य रूप]अन्य वस्तु की प्रतीति न होने से इस उदात्त अलङ्कार की स्थिति भी] ऊर्जस्वी के समान ही समझनी चाहिए। [इसलिए अलङ्कार्य की अलग प्रतीति न होने से उदात्त को भी अलङ्कार नहीं कह सकते हैं]।

अथवा ['उदात्तमृद्धिमद् वस्तु' उदात्तालङ्कार के इस लक्षण की] ऋद्धिमद् वस्तु जिसमें या जिसकी हो इस प्रकार की व्याख्या करें तो भी वह अन्य पदार्थ रूप वस्तु बतलानी ही होगी। जो ['ऋद्धिमद्वस्तु' इस पद को] समानार्थता को प्राप्त हो सके। वह ऋद्धिमद्वस्तु जिसमें या जिसकी है वह काव्य ही उस प्रकार का [ऋद्धिमद्वस्तु रूप] हो सकेगा। यह कहो तो उसका भी कुछ अर्थ नहीं है। क्योंकि अलङ्कार काव्य का होता है यह प्रसिद्धि है न कि काव्य ही अलङ्कार होता है।

यदि वा ऋद्धिमद्वस्तु यस्मिन् यस्य वेत्यसावलङ्कारः तथापि वर्णनीयालङ्करणव्यतिरिक्तं[1] अलङ्करणकल्पमन्यदत्र [2]न किञ्चिदेवोपलभ्यते इत्युभयथापि शब्दार्थासङ्गतिलक्षणदोषः सम्प्राप्तावरः सम्पद्यते।

द्वितीयस्याप्युदात्तप्रकारस्यालङ्कार्यत्वमेवोपपन्नं न पुनरलङ्कारभावः। तथा चैतस्य लक्षणं—

[3]*चरितं च महात्मनाम्*
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥५४॥

इति। अत्र वाक्यार्थपरमार्थविद्भिरेवं पर्यालोच्यताम्। यन्महानुभावानां व्यवहारस्योपलक्षणमात्रवृत्तेरन्वयः प्रस्तुते वाक्यार्थे क्वचिद् विद्यते वा नवेति। तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे तत्र तदलीनत्वात् पृथगभिधेयस्यापि पदार्था-

---

अथवा यदि ऋद्धिमद्वस्तु जिसमें या जिसकी है वह [कोई विशेष] अलङ्कार ही है तो वर्णनीय [मुख्य] अलङ्कार से भिन्न अलङ्कार-कल्प दूसरा [अर्थात् अलङ्कार्य से भिन्न अलङ्कार] यहाँ कोई दिखलाई नहीं देता है इसलिए शब्द और अर्थ की असङ्गति रूप दोष [जो रसवत् के अलङ्कारत्व के खण्डन में दिया था, यहाँ] भी प्राप्त होता है। [इसलिए प्रथम प्रकार के उदात्त को अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है वह अलङ्कार्य ही हो सकता है।]

और ['चरितं च महात्मनाम्' रूप] दूसरे प्रकार के उदात्त [तथाकथित अलङ्कार] की भी अलङ्कार्यता [मानना] ही उचित है न कि अलङ्काररूपता। जैसा कि इस [दूसरे प्रकार के उदात्त] का लक्षण [उद्भट ने अपने काव्यालङ्कार सारसंग्रह की ४, १७ कारिका में इस प्रकार किया] है—

महापुरुषों के चरित्र [का वर्णन] जहाँ प्रधान रूप से वर्ण्यमान [इतिवृत्त रूप] न होकर उप-लक्षणता [गौणता] को प्राप्त हों वहाँ [उदात्त अलङ्कार होता है] ॥५४॥

यह [किया है]। इसमें वाक्यार्थ के तत्त्व को समझने वाले विद्वानों [उद्भटादि] को इस प्रकार विचार करना चाहिए कि उपलक्षणमात्र [गौण रूप] से स्थित महापुरुषों के व्यवहार का प्रस्तुत वाक्यार्थ में कोई सम्बन्ध है या नहीं। उनमें से पहिले पक्ष में [अर्थात् सम्बन्ध है इस पक्ष में] उस [वाक्यार्थ] में उस [महापुरुष व्यवहार] के लीन न होने से, पृथक् रूप से अभिधा द्वारा उपस्थित हुए [व्यवहार]

---

१. अलङ्करणमतिरिक्तं पाठ ठीक नहीं है।
२. न पूर्व संस्करण में नहीं है।
३. उद्भट काव्यालङ्कारसार-संग्रह ४, १७ कारिका।

न्तरवत् तदवयवत्वेनैव व्यपदेशो न्याय्यः पाण्यादेरिव शरीरे । न पुनरलङ्कारभावोऽपीति । अन्यास्मिन् पक्षे तदन्वयाभावादेव वाक्यान्तरवर्तिपदार्थवत् तस्य तत्र सत्तैव न सम्भवति किं पुनरलङ्करणत्वचर्चा ॥१२॥

का उस [वाक्यार्थ] के अवयव रूप में ही सम्बन्ध मानना उचित है । जैसे हाथ आदि का शरीर के साथ [अवयव रूप से ही सम्बन्ध होता] है । न कि अलङ्कार भाव भी मानना चाहिए । [अर्थात् जैसे हाथ-पैर आदि को शरीर का अवयव ही माना जाता है अलङ्कार नहीं इसी प्रकार महापुरुषों के चरित का प्रकृत वाक्यार्थ अर्थात् जिस वाक्य में उसका वर्णन रहता है उस वाक्य के अर्थ के साथ अवयव रूप से ही सम्बन्ध हो सकता है अलङ्कार रूप से नहीं] । और दूसरे [सम्बन्ध नहीं है इस] पक्ष में उस [महापुरुषों के व्यवहार] का सम्बन्ध न होने से दूसरे वाक्य के पदार्थों के समान उस [महापुरुष व्यवहार] की वहाँ सत्ता ही सम्भव नहीं है तो अलङ्करणत्व का चर्चा ही क्या हो सकती है ? [इसलिए दोनों प्रकार के तथाकथित उदात्त अलङ्कार के स्वरूपों में से किसी को भी अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है । दोनों को अलङ्कार्य कहना ही उचित है] ॥१२॥

५. समाहित अलङ्कार का खण्डन—

समाहित अलङ्कार का विवरण भामह ने इस प्रकार किया है—

समाहितं राजमित्रे यथा क्षत्रिययोषिताम् ।
रामप्रसक्त्यै यान्तीनां पुरोऽदृश्यत नारदः ॥ ३,१०॥

राजमित्र नामक किसी अज्ञात नाटक में परशुराम को अपने वश में करके क्षत्रियों के नाश से बचाने के उद्देश्य से परशुराम के पास जाती हुई क्षत्रियों की स्त्रियों को रास्ते में नारद मिल गए । यहाँ समाहित अलङ्कार है ।

जिस प्रकार रसवत् प्रेय ऊर्जस्वी आदि अलङ्कारों के लक्षण न करके भामह ने उनके केवल उदाहरणमात्र दे दिए हैं । इसी प्रकार यहाँ समाहित अलङ्कार का भी लक्षण न करके केवल उसका उदाहरण मात्र दे दिया है। परन्तु उससे लक्षण इस प्रकार निकाला जा सकता है कि परशुराम के पास क्षत्रिय नारियाँ जिस भाव से जा रही थीं, रास्ते में नारद को देखकर उनका वह भाव एक दम दूर हो गया । अर्थात् इस श्लोक में भाव शान्ति का प्रदर्शन किया गया है । इसलिए भाव शान्ति आदि की अङ्गरूपता हो जाने पर समाहित अलङ्कार होता है । इस प्रकार का समाहित का लक्षण अभी ऊपर दे चुके हैं । भावशान्तेरङ्गत्वे समाहितालङ्कारः ।

एवं समाहितस्याप्यलङ्कार्यत्वमेव न्याय्यम्, न पुनरलङ्कारभावः।

तथा समाहितस्यापि प्रकारद्वयशोभिनः।

तथा तेनैव पूर्वोक्तेन प्रकारेण समाहिताभिधानस्य चालङ्कारस्य भूषणत्वं न विद्यते नास्तीत्यर्थः।

[1]रसभावतदाभास वृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभवनिःशून्यरूपं यत्तत् समाहितम् ॥५५॥

यदपि कैश्चित् प्रकारान्तरेण समाहिताख्यमलङ्करणमाख्यातं तस्यापि

रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभवनिःशून्यरूपो यत्तात् समाहितम्॥

भामह तथा उद्भट के अभिमत इन दोनों प्रकार के समाहितों की अलङ्कारता का भी कुन्तक पहिले कही गई युक्तियों से ही खण्डन करते हैं—

इस प्रकार 'समाहित' का भी अलङ्कार्यत्व ही उचित है अलङ्कार भाव [उचित] नहीं [है]।

इसी प्रकार दो प्रकार से शोभित होने वाले 'समाहित' का भी [अलङ्कार्यत्व मानना ही उचित है, अलङ्कारत्व नहीं] ॥१३॥

उस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त शैली से 'समाहित' नामक [तथाकथित] अलङ्कार का अलङ्कारत्व नहीं है।

रस, भाव और तदाभास, [अर्थात् रसाभास तथा भावाभास आदि] के प्रशम [अर्थात् भावशान्ति आदि] के अङ्ग रूप से स्थित होने पर [समाधिकाल के समान] अन्य रसादि के अनुभव से शून्य जो है वह 'समाहित' अलङ्कार है ॥५५॥

और [उद्भट आदि] किन्हीं ने अन्य प्रकार से समाहित अलङ्कार की जो व्याख्या की है उसका भी उसी प्रकार से अलङ्कारत्व नहीं बनता है। इसी को कहते हैं।

---

१. काव्यलङ्कारसारसंग्रह ४, १४। पूर्व संस्करण में इस श्लोक का 'रसभाव तदाभास भावशान्त्यादिरक्रमः 'यह पाठ दिया गया था जो अशुद्ध था। हमने उद्भट के ग्रन्थ के अनुसार शुद्ध पाठ यहाँ दिया है।

तथैव भूषणत्वं न विद्यते । तदभिधत्ते—'प्रकारद्वयशोभिनः' । पूर्वोक्तेन प्रकारेण अनेन चापरेण द्वाभ्यां शोभमानस्य समाहितस्यालङ्कारत्वं न सम्भवति ।

अक्ष्णोः स्फुटाश्रुकलुषोऽरुणिमा विलीनः
शान्तं च साद्धमधरस्फुरणं भृकुट्या ।
भावान्तरस्य तव गण्डगतोऽपि कोपो
नोद्गाढ़वासनतया प्रसरं ददाति ॥५६॥

चेतनाचेतनपदार्थभेदभिन्नं स्वाभाविकसौकुमार्यमनोहरं वस्तुनः स्वरूपं प्रतिपादितम् । इदानीं तदेव क विप्रतिभोल्लिखितलोकोत्तरातिशयशालितया नवनिर्मितं मनोज्ञतामुपनीयमानमालोच्यते । तथाविधभूषणविन्यासविहित-सौन्दर्यातिशयव्यतिरेकेण भूतत्वनिमित्तभूतं न तद्विदाह्लादकारितायाः कारणम् ।

अभिधायाः प्रकारौ स्तः ॥१३॥

'दो प्रकारों से शोभित होने वाले' । पूर्वोक्त कहे गए [अर्थात् भामह के प्रतिपादित] प्रकार से और अन्य [अर्थात् उद्भट प्रति पादित] द्वितीय प्रकार से दोनों प्रकारों से शोभित होने वाले समाहित का अलङ्कारत्व सम्भव नहीं हो सकता है । [इनमें से पहिले भावशान्त्यादि की अङ्गता का उदाहरण निम्न प्रकार से है]--

उमड़ते हुए आँसुओं से कलुषित आँखों की [रुदनजन्य] अरुणाई [क्रोध का आविर्भाव होते ही] जाती रही, भ्रकुटि [भौंहों के चढ़ने] के साथ ही [रुदन काल का] होंठ का फड़कना [भी] शान्त हो गया, तुम्हारे गालों तक आया हुआ क्रोध, प्रबल संस्कार के कारण किसी दूसरे भाव को आने का अवसर नहीं देता है ॥५६॥

चेतन और अचेतन पदार्थों के भेद से भिन्न, और स्वाभाविक सौन्दर्य से मनोहर वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन [३, ८ कारिका में] किया गया था । अब [रसवदलङ्कार आदि के प्रकरण में] वही [पदार्थों का स्वरूप] कवियों की प्रतिभा के प्रयोग से लोकोत्तर सौन्दर्य युक्त हो जाने से नवनिर्मित अपूर्व सौन्दर्य को प्राप्त होता हुआ दिखलाया जा रहा है । उस प्रकार के अलङ्कारों की रचना से उत्पन्न सौन्दर्याति-शय के अतिरिक्त केवल भूतत्व मात्र [पदार्थ मात्र] के कारण से उत्पन्न सहृदयों की आह्लादकारिता का और कोई कारण नहीं है । [यह सारा अनुच्छेद बीच में पाठ लोप के कारण सुसङ्गत रूप से लग नहीं रहा है] ॥१४॥

[समाहित अलङ्कार के ये दोनों स्वरूप वस्तुतः अलग अलङ्कार नहीं अपितु कथन शैली] अभिधा के प्रकार मात्र है ॥१३॥

---

*पुष्पाङ्कित स्थानों पर लुप्त पाठ सूचक चिन्ह मिलते हैं ।

यथा स रसवन्नाम सर्वालङ्कारजीवितम् ।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते ॥१४॥
रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः ।
योऽलङ्कारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः॥१५॥

रसवदलङ्कार की कुन्तक की अपनी व्याख्या—

इस प्रकार यहां तक कुन्तक ने भामह, उद्भट तथा दण्डी के मतानुसार अभिमत स्वरूप वाले, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, उदात्त तथा समाहित अलङ्कारों की अलङ्कारता का खण्डन किया है। उसके अनुसार उन सब स्थलों पर वर्णित वस्तुएँ सब 'अलङ्कार्य' ही हो सकती हैं। उनके लिए 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग उचित नहीं है। इसके आगे अब कुन्तक यह कहने जा रहे हैं कि रसवत् आदि को यदि अलङ्कार मानना ही चाहते हैं तो उनकी व्याख्या दूसरे प्रकार से करनी होगी। उसके अनुसार से रसवत् नाम से अलङ्कार का व्यवहार हो सकता है। अन्यथा उद्भट या भामह आदि के अभिमत रूप में रसवदादि के लिए अलङ्कार शब्द का प्रयोग ही नहीं हो सकता है।

भामह, उद्भट आदि ने जो 'रसवत्' अलङ्कार शब्द का प्रयोग किया है उसमें रस शब्द का से 'मतुप्–प्रत्यय करके 'रसवत्' शब्द बनाया गया है। परन्तु कुन्तक ने 'रसवत्' पद में मतुप्–प्रत्यय न मानकर 'तेनतुल्य क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र से सादृश्यार्थक 'वति' प्रत्यय माना है। इस प्रत्यय-भेद का यह अभिप्राय हुआ कि उद्भट के मत में रस से युक्त अलङ्कार 'रसवत्' कहलाता है तो कुन्तक के मत में 'रस के समान आह्लाददायक' अलङ्कार 'रसवत्' कहलाता है। इसी बात को कुन्तक ने 'रसेन वर्तते तुल्य' इत्यादि १५वीं कारिका में कहा है।

जिस प्रकार से वह रसवत् समस्त अलङ्कारों का जीवन स्वरूप और काव्य का अद्वितीय सार रूप हो सकता है उस [प्रकार] का अब हम [अपने नए दृष्टिकोण से] वर्णन करते हैं ॥१५॥

रस तत्त्व के विधान से सहृदयों के आह्लाददायक होने से जो [कोई अलङ्कार [भी] रस के समान हो जाता है वह अलङ्कार [हमारे मत में] 'रसवत्' कहा जा सकता है ॥१६॥

यथेत्यादि । 'यथा स रसवन्नाम' यथा येन प्रकारेण पूर्वप्रत्याख्यात-वृत्तिरलङ्कारो रसवदभिधानः 'काव्यैकसारतां याति' काव्यैकसर्वस्वतां प्रतिपद्यते, 'सर्वालङ्कारजीवितं' सर्वेषामलङ्काराणामुपमादीनां जीवितं स्फुटीभूतं सम्पद्यते, 'तथा' तेन प्रकारेणेदानीमधुना 'विविच्यते' विचार्यते, लक्षणोदाहरणभेदेन वितन्यते ।

तमेव रसवदलङ्कारं लक्षयति रसेनेत्यादि । 'योऽलङ्कारः स रसवत्' इत्यन्वयः । यः किल एवंस्वरूपो रूपकादिः रसवदभिधीयते । किं स्वभावेन 'रसेन वर्तते तुल्यम्' रसेन शृङ्गारादिना तुल्यं वर्तते यथा ब्राह्मणवत् क्षत्रियस्तथैव स रसवदलङ्कारः । कस्मात्—'रसवत्वविधानतः' । रसोऽस्यास्तीति रसवत् काव्यं, तस्यभावस्तत्वं, ततः सरसत्वसम्पादनात्, तद्विदाह्लादनिर्मितेश्च । तत् काव्यं विदन्तीति तद्विदः तज्ज्ञास्तेषांमाह्लादनिर्मितेरानन्दनिष्पादनात् । यथा रसः काव्यस्य रसवत्तां तद्विदाह्लादं च विदधाति एवमुपमादिर-

---

'यथा' इत्यादि [कारिकाओं की व्याख्या इस प्रकार होगी] 'जिस प्रकार से वह 'रसवत्' पहिले जिसकी सत्ता का खण्डन कर चुके हैं वह रसवत् नाम का अलङ्कार जिस प्रकार से काव्य का अद्वितीय सार हो सकता है काव्य का सर्वस्व हो सकता है, सब अलङ्कारों का प्राण अर्थात् उपमा आदि सब अलङ्कारों का जीवन स्वरूप से हो जाता है । उस प्रकार से अब [उस रसवदलङ्कार का] विवेचन अर्थात् विचार करते हैं । अर्थात् लक्षण और उदाहरण द्वारा विस्तार करते हैं ।

उसी रसवदलङ्कार का लक्षण करते हैं—'रसेन' इत्यादि से । जो अलङ्कार है वह [सब] 'रसवत्' हो सकता है । यह अन्वय करना चाहिए । जो इस [आगे कहे गए] प्रकार का रूपक आदि [अलङ्कार] है वह 'रसवत्' कहलाता है । किस स्वभाव से [युक्त होने पर रसवत् कहलाता है कि जब वह] 'रस के तुल्य होता है' । रस अर्थात् शृङ्गार आदि के तुल्य होता है [गौण रूप से तात्कर्म्य सम्बन्धमूलक लक्षणा से] जैसे ब्राह्मण के समान [कर्म करने वाला] क्षत्रिय [ब्राह्मणवत् कहलाता] है । इसी प्रकार वह रसवदलङ्कार [रस के समान आह्लादकारक होने से तात्कर्म्य-लक्षणा द्वारा रसवत् कहलाता है] है । किस कारण से 'रसवत्त्व के विधान से' । रस जिसमें है वह रसवत् काव्य हुआ । उसका भाव रसवत्व, उससे अर्थात् सरसता के सम्पादन से, और सहृदयों का आह्लादकारक होने से । उस काव्य को जानने वाले 'तद्वित्' [काव्यमर्मज्ञ हुए] उनके आनन्द का जनक होने से । जैसे रस काव्य को सरस करता है और काव्यज्ञों के आनन्द का कारण होता है इसी प्रकार उपमा आदि उन दोनों [काव्य की सरसता और तद्विदाह्लाद]

प्युभयं निष्पादयन् भिन्नो रसवदलङ्कारः सम्पद्यते ।

यथा—

उपोढ़रागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥५७॥

अत्र स्वावसरसमुचितसुकुमारस्वरूपयोर्निशाशशिनोर्वर्णनायां* रूपकालङ्कारः समारोपितकान्तवृत्तान्तः कविनोपनिबद्धः । स च श्लेषच्छाया मनोज्ञ-

---

को सम्पादन करते हुए [साधारण उपमा आदि से] भिन्न [विशेष रूप से] रसवदलङ्कार हो जाता है ।

जैसे—

सन्ध्याकालीन आरुण्य को धारण किए हुए [दूसरे पक्ष में प्रेमोन्मत्त] शशी अर्थात् चन्द्रमा [दूसरे पक्ष में पुल्लिङ्ग शशी शब्द से व्यङ्ग्य नायक] ने निशा [रात्रि पक्षान्तर में स्त्रीलिङ्ग निशा शब्द से प्रतीयमान नायिका] के चञ्चल तारों [तारक नक्षत्र और पक्षान्तर में चञ्चल कनीनिका आंख के तारा] से युक्त मुख [प्रारम्भिक अग्रभाग, प्रदोषकाल, पक्षान्तर में मुख आनन] को [चुम्बन करने के लिए] इस प्रकार पकड़ा कि राग [सन्ध्याकालीन अरुण प्रकाश पक्षान्तर में नायक के स्पर्श से समुद्भूत अनुरागातिशय] के कारण सारा अन्धकार रूप [पक्षान्तर शरीर का आवरण करने वाला] वस्त्र गिर जाने पर भी उस [निशा तथा नायिका] को दिखलाई नहीं दिया ॥५७॥

यह श्लोक पाणिनि का बनाया हुआ कहा जाता है । इसमें सन्ध्या के समय उदय होते हुए चन्द्रमा का वर्णन है । चन्द्रमा के लिए पुल्लिङ्ग 'शशी' शब्द तथा रात्रि के लिए प्रयुक्त स्त्रीलिङ्ग 'निशा' शब्द से उनमें नायक-नायिका के व्यवहार का समारोप किया गया है । इसलिए ध्वन्यालोककार आदि सब आचार्यों ने इसमें समासोक्ति अलङ्कार माना है । परन्तु कुन्तक इसकी विवेचना करते हुए उसमें रूपकालङ्कार प्रतिपादन कर रहे हैं । रूपक में वस्तु का आरोप होता है, समासोक्ति में व्यवहार का समारोप होता है । परन्तु कुन्तक यहाँ वृत्तान्त अर्थात् व्यवहार का आरोप मानते हुए भी उसे रूपकालङ्कार कह रहे हैं ।

यहाँ अपने अवसर के योग्य सुन्दर रूप वाले निशा और शशी के वर्णन में नायक-वृत्तान्त के [शशी में तथा नायिका-व्यवहार के निशा में] आरोप द्वारा कवि ने रूपकालङ्कार की रचना की है । और वह [रूपकालङ्कार] श्लेष की

---

*पूर्व संस्करण में इसके बाद लुप्त पाठ का सूचक चिन्ह पाया जाता है ।

विशेषणवक्रभावाद् विशिष्टलिङ्गसामर्थ्याच्च* काव्यस्य सरसतामुल्लासयंस्तद्विदाह्लादमादधानः स्वयमेव रसवदलङ्कारतां समासादितवान्।

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥५८॥

छाया से मनोहर विशेषणों का वक्रता से और [निशा तथा शशी शब्दों के पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग रूप] विशेष लिङ्गों की सामर्थ्य से काव्य की सरसता को प्रस्फुटित करता हुआ और सहृदयों को आह्लाद प्रदान करता हुआ स्वयं ही रसवदलङ्कार को प्राप्त हो गया है।

इसी रसवदलङ्कार का कुन्तक एक और उदाहरण देते हैं। यह उदाहरण कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक से लिया गया है।

[अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक के द्वितीयाङ्क में वाटिका के सींचने में लगी हुई शकुन्तला को पेड़ों की आड़ में छिपकर देखते हुए राजा दुष्यन्त उसके मुख के ऊपर मंडराते हुए भौंरे को देखकर अपने मन में कह रहे हैं कि]—

हे मधुकर तुम इस [शकुन्तला] की [भय से परिकम्पित] चञ्चल और तिरछी चितवन का [खूब] स्पर्श कर रहे हो, एकान्त में या कोई रहस्य की [गोपनीय बात] कहने वाले के समान कान के समीप जाकर गुनगुनाते हो, [तुमको भगाने, तुमसे बचने के लिए] हाथ चलाती हुई इस [तरुणी शकुन्तला] के रति के सर्वस्व भूत अधर [के अमृत] का [बलात् जबरदस्ती] पान कर रहे हो, हे मधुकर हम तो तत्त्व के अन्वेषण [अर्थात् यह हमारे ग्रहण करने योग्य है या नहीं इसके सोचने] में ही मारे गए और तुम [इसका इस प्रकार का भोग करके] कृतकृत्य भी हो गए ॥५८॥

कुन्तक के इस विवेचन में अन्य आचार्यों के विवेचन से दो प्रकार के भेद प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि इस प्रकार के उदाहरणों में अन्य आचार्य समासोक्ति अलङ्कार मानते हैं परन्तु कुन्तक उसमें व्यवहार समारोप होने पर रूपकालङ्कार मानते हैं। दूसरा मुख्य भेद यह है कि इस प्रकार की शृङ्गार आदि की अभिव्यञ्जक समासोक्ति में प्रतीयमान रस की ओर अन्य आचार्यों ने ध्यान नहीं दिया है। कुन्तक ने उसी के द्वारा इस रूपक या समासोक्ति को साधारण रूपक या समासोक्ति से

---

*पूर्व संस्करण में यहाँ लुप्त पाठ का सूचक चिन्ह पाया जाता है।

अत्र परमार्थः प्रधानवृत्तेः श्रृङ्गारस्य भ्रमरसमारोपितकान्तवृत्तान्तो रसवदलङ्कारः शोभातिशयमाहितवान् ।

यथा वा 'कपोले पत्राली' इत्यादौ ।

अलग कर दिया है । और इस प्रकार के रसाप्लुत रूपक या समासोक्ति को ही वह रसवदलङ्कार कहते हैं । यदि यहाँ प्रतीयमान श्रृङ्गार रस को रूपकालङ्कार का अङ्ग मान लिया जाय तो रस की अङ्गरूपता हो जाने पर अन्य आचार्यों के मत से भी यह रसवदलङ्कार हो सकता है ।

अन्य आचार्य राजा, देवता आदि किसी की स्तुति के स्थल में प्रतीयमान करुण या श्रृङ्गार आदि रसों को प्रकृत वस्तु का अङ्ग मानकर रसवदलङ्कार का उपपादन तो करते हैं । परन्तु यहाँ रूपक या समासोक्ति में प्रतीयमान रस को अलङ्कार का अङ्ग नहीं मानते हैं । वे यहाँ रस को प्रधान तथा अलङ्कार को भी उसका उपकारक या शोभाधायक मानते हैं अतः उसे वे समासोक्ति अलङ्कार कहते हैं ।

कुन्तक के मत से यहाँ अलङ्कार के साथ रस का विशेष सम्बन्ध होने मात्र से वह 'रसवदलङ्कार' कहलाता है । फिर चाहे वह रस प्रधान हो या अप्रधान । हाँ, इस रूप में कुन्तक के मत में अलङ्कारों की स्थिति विशेष रस के सम्बन्ध के बिना भी हो सकती है । उस दशा में उपमा रूपक आदि साधारण अलङ्कार कहलाते हैं। परन्तु जहाँ उनके साथ रस का विशेष सम्बन्ध हो जाता है वहाँ वह साधारण अलङ्कारों से भिन्न 'रसवदलङ्कार' हो जाते हैं ।

यहाँ कुन्तक ने रसवदलङ्कार के जितने उदाहरण दिए हैं वे सब समासोक्ति अलङ्कार के ही उदाहरण हैं । इससे प्रतीत होता है कि कुन्तक समासोक्ति स्थल में सर्वत्र रसवदलङ्कार मानते हैं । क्योंकि उसमें ही नायक-नायिका आदि के व्यवहार का समारोप होने से रसवत्ता की विशेष रूप से प्रतीति होती है ।

इसका [परमार्थ] वास्तविक अभिप्राय यह है कि भ्रमर में [कान्त] नायक के व्यवहार का आरोप करने वाला रसवदलङ्कार [काव्य की सरसता के अतिशय तथा सहृदयों के आह्लादकारित्व का कारण होने से श्लोक में] प्रधान रूप से स्थित श्रृङ्गार [रस] की शोभा [अपूर्व] को उत्पन्न कर रहा है ।

अथवा जैसे [पहिले २, १०१ पर उद्धृत] 'कपोले पत्राली' इत्यादि श्लोक में [भी इसी प्रकार रसवदलङ्कार होता है] ।

तदेवमनेन न्यायेन 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यत्र रसवदलङ्कारप्रत्याख्यानमयुक्तम् ।

सत्यमेतत् । किन्तु विप्रलम्भशृङ्गारता तत्र निवार्यते, शेषस्य पुनस्तुल्यवृत्तान्ततया रसवदलङ्कारत्वमनिवार्यमेव । न चालङ्कारान्तरे सति रसवदपेक्षानिबन्धनः संसृष्टिसङ्करव्यपदेशप्रसङ्गः प्रत्याख्येयतां प्रतिपद्यते ।

यथा—

अंगुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥५६॥

अत्र रसवदलङ्कारस्य रूपकादीनां च सन्निपातः सुतरां समुद्भासते । तत्र 'चुम्बतीव रजनीमुखं शशी' इत्युत्प्रेक्षालक्षणस्य रसवदलङ्कारस्य प्राधान्येन निबन्धनं, तदङ्गत्वेनोपमादीनाम् । केवलस्य प्रस्तुतपरिपोषाय परिनिष्पन्नवृत्तेः ।

[प्रश्न । [जब आप इन उदाहरणों में रसवदलङ्कार स्वीकार कर रहे हैं तब] इसी युक्ति से [उदाहरण सं० ३, ४३ पर उद्धृत] 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इसमें रसवदलङ्कार का खण्डन [जो आपने किया है वह] अनुचित है । [क्योंकि उसमें भी इसी प्रकार रसवदलङ्कार हो सकता है]

[उत्तर—ठीक है [उसमें इस प्रकार से रसवदलङ्कार अवश्य हो सकता है] किन्तु उसमें [हमने केवल] विप्रलम्भ शृङ्गार का खण्डन किया है । शेष के [इन उदाहरणों के] तुल्य होने से रसवदलङ्कारत्व अनिवार्य है । और [रसवदलङ्कार के अतिरिक्त] अन्य [कोई साधारण] अलङ्कार होने पर रसवदलङ्कार मूलक संसृष्टि अथवा सङ्कर अलङ्कार का खण्डन [भी] नहीं किया जा सकता हैं ।

जैसे—

अँगुलियों से केश समूह के समान, किरणों से अन्धकार को नियन्त्रित करके, चन्द्रमा, बन्द नेत्र कमलों वाले रात्रि के मुख [प्रारम्भ भाग] को चूम-सा रहा है ॥५६॥

इसमें [उत्प्रेक्षा रूप] रसवदलङ्कार और रूपकादि [अलङ्कारों] की एक साथ उपस्थिति स्पष्ट प्रतीत हो रही है । उसमें रात्रि के मुख को चन्द्रमा चूम-सा रहा है । इस उत्प्रेक्षा रूप रसवदलङ्कार का प्रधान रूप से निवेश हुआ है और उसके अङ्ग रूप से [अंगुलीभिरिव मरीचिभिः इत्यादि में विद्यमान] उपमा आदि का । [रसवत्व रहित] केवल के [उपमादि] प्रस्तुत [उत्प्रेक्षा रूप रसवदलङ्कार के] के परिपोष के लिए ही विद्यमान होने से ।

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥६०॥

'प्रसादयन्ती, रवेरभ्यधिकं तापं शरच्चकार' इति समयसम्भवः पदार्थस्वभावस्तद्वाचक 'वारिद' शब्दाभिधानं विना प्रतीयमानोत्प्रेक्षालक्षणेन रसवदलङ्कारेण कविना कामपि कमनीयतामधिरोपितः । प्रतीत्यन्तरमनोहारिणां[1] सकलङ्कादीनां [2]वाचकानामुपनिबन्धनात् 'पाण्डुपयोधरेणार्द्रनखक्षताभमैन्द्रं धनुर्दधाना' इति श्लेषोपमयोश्च तदानुगुण्येन विनिवेशनात् । एवं

गौरवर्ण [स्तनों के समान] शुभ्र पयोधर [मेघों] पर ताज़े नखक्षत के समान इन्द्र-धनुष को धारण किए हुए [पराङ्गनोपभोग के चिन्ह रूप] कलङ्क से युक्त चन्द्रमा को प्रसन्न [निर्मल, स्वच्छ] करती हुई शरत् [रूप नायिका] ने सूर्य [रूप नायक] के सन्ताप को और भी बढ़ा दिया ॥६०॥

शरद ऋतु में बादल सफेद हो जाते हैं । चन्द्रमा का प्रकाश साफ हो जाता है । और गर्मी बढ़ जाती है । इस सब स्वाभाविक वस्तु का कवि ने इस ढंग से वर्णन किया है कि शरत् मानों एक नायिका है और सूर्य नायक है । और चन्द्र मानों प्रतिनायक है । पयोधर शब्द के अर्थ मेघ और स्तन दोनों हो सकते हैं । शरत् के सफेद पयोधरों अर्थात मेघों में इन्द्र-धनुष निकल रहा है । वह मानों नायिका के गौर वर्ण स्तनों के ऊपर उसका भोग करने वाले किसी प्रतिनायक के द्वारा अङ्कित किए हुए ताज़े नखक्षत हों । और वह शरत् रूप नायिका, प्रतिनायक रूप चन्द्र को प्रसन्न कर रही है या मना रही है । शरत् के पाण्डु पयोधरों पर आर्द्र नखक्षत के समान दिखलाई देने वाले इन्द्र-धनुष को देखकर सूर्य रूप नायक का सन्ताप और भी बढ़ गया है । मानों यह मेरी नायिका मुझ को छोड़कर इस कलङ्की बदनाम चन्द्रमा की खुशामद कर रही है । यह इस श्लोक का अभिप्राय है ।

[चन्द्र को] 'प्रसन्न करती हुई शरत् ने सूर्य के ताप को बढ़ा दिया' । यह [शरत् काल के] समय में होने वाला स्वभाव उसके वाचक 'वारिद' या मेघ शब्द के कहे बिना भी प्रतीयमान उत्प्रेक्षा रूप रसवदलङ्कार से कवि ने किसी अपूर्व सुन्दरता पर चढ़ा दिया है । अन्य [नायक नायिका आदि] की प्रतीति [के होने के कारण] से मनोहर सकलङ्क आदि शब्दों के प्रयोग से 'सफेद [या गौर] पयोधरों [मेघों तथा स्तनों] पर ताज़े नखक्षत के समान इन्द्र-धनुष का धारण किए हुए', इन श्लेष तथा उपमा के, उस [प्रतीयमानोत्प्रेक्षा रूप रसवदलङ्कार] के अनुकूल रूप से सन्निवेश से [भी उत्प्रेक्षा ने काव्य के सौन्दर्य को अत्यन्त उत्कर्ष युक्त कर

---

१. मनोहारिणं । २. वाचकादीनां । ये दोनों पाठ अशुद्ध थे ।

सकलङ्कमपि प्रसादयन्ती शरत् परस्याभ्यधिकं तापं चकार इति रूपकालङ्कार-निबन्धनः प्रकटाङ्गनावृत्तान्तसमारोपः सुतरां समन्वयमासादितवान्। अत्रापि प्रतीयमानवृत्ते रसवदलङ्कारस्य प्राधान्यं तदङ्गत्वमुपमादीनामिति पूर्ववदेव सङ्गतिः।

लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीतिलकं प्रकाश्य।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलञ्चकार ॥६१॥

अयं रसवतां सर्वालङ्काराणां चूडामणिरिवाभाति।

एवं नीरसानां पदार्थानां सरसतां समुल्लासयितुं रसवदलङ्कारं समासादितवान् ॥ १६ ॥

दिया है]। इस प्रकार सकलङ्क [बदनाम चन्द्र] को प्रसन्न करती हुई शरत् [नायिका] ने दूसरे [नायक रूप सूर्य] के सन्ताप को और अधिक बढ़ा दिया यह रूपकालङ्कार मूलक [प्रकटाङ्गना] वेश्या के व्यवहार का समारोप सुन्दर रूप से समन्वय को प्राप्त हो रहा है। इसमें भी प्रतीयमान रूप से स्थित [प्रतीयमानोत्प्रेक्षा रूप] रसवदलङ्कार का प्राधान्य है और उपमा [तथा रूपक] आदि उसके अङ्ग हैं। इस प्रकार [अंगुलीभि इत्यादि] पूर्व [उदाहरण] के समान सङ्गति होगी।

इसी प्रकार कुमारसम्भव ३, ३० के निम्न श्लोक में भी प्रतीयमानोत्प्रेक्षा रूप रसवदलङ्कार का प्राधान्य और रूपकादि की अङ्गता है।

वसन्तलक्ष्मी ने अपने मुख [प्रारम्भ में अथवा मुख] पर, भ्रमर रूप कज्जल की रचना से विचित्र 'तिलक' [तिलक नामक वृक्ष जिस पर भौंरों के बैठे होने से सुन्दर लग रहा है। अथवा मस्तक पर लगाने वाला टीका] को प्रकाशित कर प्रातःकाल के सूर्य के प्रकाश के समान सुन्दर राग [लालिमा] से आम के किसलय [नवीन पत्तों] रूप [अपने] ओष्ठ को अलंकृत किया ॥६१॥

यहाँ भी प्रतीयमान उत्प्रेक्षा का प्राधान्य है और रूपक आदि उसके अङ्ग हैं। प्रतीयमान उत्प्रेक्षा यहाँ रसवदलङ्कार है और रूपकादि उसके अङ्ग हैं इसलिए इसमें रसवदलङ्कार के साथ रूपकादि का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है।

यह [रसवदलङ्कार] समस्त अलङ्कारों का चूड़ामणि-सा [सर्वोत्तम अलङ्कार] प्रतीत होता है।

इस प्रकार नीरस [अचेतन, जड़] पदार्थों की सरसता को प्रकाशित करने के लिए [मैंने और मेरे द्वारा सत्कवियों ने हमारे मत के अनुसार यह अपूर्व शोभाधायक] रसवदलङ्कार प्राप्त कर लिया है।

'इदानीं स्वरूपमात्रेणावस्थितानां वस्तूनां कमप्यतिशयमुद्दीपयितुं दीपकालङ्कारमुपक्रमते । तत्र पूर्वाचार्यैरादिदीपकं मध्यदीपकमन्तदीपकमिति दीप्यमानपदापेक्षया वाक्यस्यादौ मध्ये चान्ते च व्यवस्थितमिति क्रियापदमेव दीपकाख्यमलङ्करणमाख्यतम् ।

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभंगुरम् ।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां सासह्यां मनसःशुचम् ॥६२॥

---

६. दीपकालङ्कार का विवेचन—

अब केवल स्वरूप मात्र से स्थित वस्तुओं के किसी अपूर्व अतिशय को प्रकाशित करने के लिए [दीपक के समान] 'दीपकालङ्कार' को प्रस्तुत करते हैं । पूर्वकाल के [भामह आदि] आचार्यों ने आदिदीपक, मध्यदीपक और अन्तदीपक इस प्रकार से दीप्यमान पदों की अपेक्षा से वाक्य के आदि में, मध्य में या अन्त में स्थित है इस कारण से क्रियापद को ही दीपकालङ्कार कहा है ।

यहाँ कुन्तक ने पूर्वाचार्य से मुख्य रूप से भामह की ओर संकेत किया है । क्योंकि आगे जो श्लोक उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए हैं वे भामह के काव्यालङ्कार के ही श्लोक हैं । भामह ने इन के पूर्व दो श्लोक और भी लिखे हैं—

आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते ।
एकस्यैव व्यवस्थत्वादिति च तद्भिद्यते त्रिधा ॥
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात् ।
त्रिभिर्निदर्शनैश्चेदं त्रिधा निर्दिश्यते यथा ॥ २ । २५, २६ ।

अर्थात् आदि मध्य और अन्त [दीपक] तीन प्रकार का दीपकालङ्कार इष्ट है । एक ही [क्रिया] की [स्थान-भेद से] तीन अवस्था होने से वह तीन प्रकार का हो जाता है ।

ये [तीनों] अर्थ के प्रकाशक होने से इसके नाम को [अन्वर्थ] सार्थक करते हैं । और तीन उदाहरणों द्वारा हम उसको तीन प्रकार से दिखलाते हैं । जैसे—

मद आनन्द को उत्पन्न करता है, वह [आनन्द या प्रीति] मान से भङ्ग होने वाले काम को, वह [काम] प्रिया के सङ्गम की उत्कण्ठा को, और वह [उत्कण्ठा प्रिया के न मिलने तक] मन में असह्य दुःख को उत्पन्न करती है ॥६२॥

---

१. यहाँ तक 'रसवदलङ्कार' का वर्णन समाप्त हो गया । आगे दीपकालङ्कार का वर्णन प्रारम्भ होता है । 'दीपकालङ्कार' का लक्षण करने वाली कारिका आगे पृष्ठ ३६७ पर दी है । उसके पूर्व यहां से भामह के अभिमत दीपक के लक्षण का खण्डन आरम्भ कर रहे हैं । ६ पृष्ठ के इस लम्बे वर्णन के लिए एक कारिका होनी चाहिए थी परन्तु इस भाग में ऐसे पद भी उपलब्ध नहीं हैं जिनके आधार पर कारिका का निर्माण हो । विषय का सम्बन्ध दीपकालङ्कार के साथ होने से इस भाग को १७वीं कारिका की अवतरणिका मान कर ऊपर कारिका १७ डालना प्रारम्भ कर दिया है ।

मालिनीरंशुकभृतः स्त्रियोऽलंकुरुते मधुः ।
हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपत्यकाः ॥६३॥
चीरीमतीररण्यानीः सरितः शुष्यदम्भसः ।
प्रवासिनां च चेतांसि शुचिरन्तं निनीषति ॥६४॥

अत्र क्रियापदानां दीपकत्वम् प्रकाशकत्वम् । यस्मात् क्रियापदैरेव-प्रकाश्यन्ते स्वसम्बन्धितया स्थाप्यन्ते ।

मालाओं और [सुन्दर] वस्त्रों से युक्त स्त्रियों को वसन्त शोभित करता हैं, और हरियल [पक्षी विशेष] तथा तोतों की वाणी पर्वतों की उपत्यकाओं को [अलंकृत] शोभित करती हैं ॥६३॥

चीड़ के जङ्गलों को, सूखते हुए पानी वाली नदियों को, और प्रवासियों [वियोगियों] के चित्त को ग्रीष्म काल [शुचिः] समाप्त करना चाहता है ॥६४॥

ये तीनों उदाहरण भामह ने क्रमशः आदिदीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक के दिए हैं । इनमें से पहिले श्लोक में 'जनयति' यह क्रियापद 'दीपक-पद' है। वह श्लोक के शेष तीनों पादों में अन्वित होकर उनके अर्थों का प्रकाशित करता है । इसलिए उसी क्रिया पद को 'दीपक-पद' कहा जाता है । और वह इस श्लोक के आदि चरण में आया है इसलिए यह श्लोक 'आदि दीपक' का उदाहरण है ।

इसी प्रकार दूसरे श्लोक में 'अलंकुरुते' यह क्रिया पद अगले उत्तरार्द्ध के साथ भी अन्वित होकर उसके अर्थ को भी प्रकाशित करता है । इसलिए यह क्रियापद ही 'दीपक-पद' है और उसका प्रयोग श्लोक के द्वितीय चरण में अर्थात् मध्य में हुआ है इसलिए यह मध्य-दीपक का उदाहरण है ।

इसी प्रकार तीसरे श्लोक में 'अन्तं निनीषति' यह क्रियापद दीपकपद कहा जा सकता है । वह अन्त में आया है और तीनों चरणों के अर्थ को प्रकाशित करता है अतः 'अन्तदीपक' का उदाहरण है ।

यहाँ [इन तीनों भामह के कहे हुए उदाहरणों में] क्रियापदों का [ही] दीपकत्व [अर्थात्] प्रकाशकत्व है । क्योंकि [अन्य पदार्थ जनयति, अलंकुरुते और अन्तं निनीषति आदि] क्रियापदों के द्वारा ही [अन्य पदार्थ] प्रकाशित होते हैं अर्थात् अपने से सम्बन्धित रूप से स्थापित होते हैं । [इसलिए मुख्य रूप से क्रियापद ही दीपकपद होते हैं । अर्थात् भामह के अनुसार क्रियापदों की ही आदि, मध्य तथा अन्त में स्थिति होने से तीन प्रकार के दीपकालङ्कार माने गए हैं] ।

तदेवं सर्वस्य कस्यचिद् दीपकव्यतिरेकिणोऽपि क्रियापदस्यैकरूपत्वाद् दीपकाद् द्वैतं प्रसज्यते ।

कुन्तक इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं कि केवल क्रियापद ही दीपकपद हो सकते हैं। उनका कहना है कि क्रियापदों के समान अन्य पद भी दीपकपद हो सकते है। केवल इतने ही मतभेद के कारण कुन्तक यहाँ भामह के अभिमत दीपकालङ्कार का खण्डन करते हैं। परन्तु पीछे वह अपने मत के अनुसार दीपक का लक्षण भी करेंगे जिसमें क्रियापदों के अतिरिक्त अन्य पदों को भी दीपकपद मानेंगे । यही बात उन्होंने रसवदलङ्कार के विषय में की थी । पहिले बड़े संरम्भ के साथ रसवदलङ्कार की अलङ्कारता का खण्डन किया । परन्तु पीछे पूर्व आचार्यों की व्याख्या से थोड़ा अन्तर करके अपनी व्याख्या के अनुसार रसवदलङ्कार की सत्ता भी मान ली । और जिन श्लोकों में पहिले रसवदलङ्कार का खण्डन किया था उन्हीं उदाहरणों में अपनी व्याख्या के अनुसार भी रसवदलङ्कार ही माना। इस प्रकार कुन्तक के इन प्रकरणों में खण्डन का विस्तार उसके महत्व की अपेक्षा बहुत अधिक हो गया है । जिसमें उन्होंने कई पृष्ठ भरे हैं वह खण्डन तो तभी शोभा देता यदि फिर स्वयं उस अलङ्कार को न मानते। जब स्वयं उस अलङ्कार को मानना ही है तो फिर लक्षण के विषय में थोड़ा-सा मतभेद ही रह जाता है जिसका खण्डन करना था। उसको थोड़े-से परिमित शब्दों में दस-पाँच पंक्तियों में भी व्यक्त किया जा सकता था । इतना विस्तार करने की आवश्यकता नहीं थी।

भामह ने केवल एक क्रियापद को ही दीपकपद माना है इससे कुन्तक सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार क्रियापद को छोड़कर अन्य पद भी दीपक पद हो सकते हैं। इसलिए वह भामह के केवल क्रियापद को दीपक मानने में निम्न प्रकार के आठ दोष दिखलाते हैं—

१. आपने यह कहा है कि क्रियापदों के द्वारा हो अन्य पद प्रकाशित होते हैं अर्थात् क्रिया से सम्बन्ध रूप में स्थित होते हैं। इसलिए क्रियापद ही दीपक पद होता है। इसके विषय में हमारा-कुन्तक का—कहना यह है कि प्रत्येक वाक्य मे कर्ता, कर्म आदि और उनके विशेषण आदि का उस वाक्य के अन्तर्गत आई हुई क्रिया के साथ तथा उन सब पदों का परस्पर सम्बन्ध अवश्य होता है। इसलिए जिस प्रकार दीपकालङ्कार के स्थल में दीपक रूप क्रियापद के साथ सम्बन्ध होने से अन्य पदार्थ प्रकाशित होते हैं—

इस प्रकार [तो दीपक पद से भिन्न] सभी क्रियापदों की दीपक [स्वरूप क्रियापद] के साथ [अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध रूप] समानता होने से [वे सब ही क्रियापद दीपकपद या दीपकालङ्कार के उदाहरण हो जावेंगे इसलिए] दीपकालङ्कार का अनेकत्व [द्वैत अनेकत्व, आनन्त्य] हो जायगा।

किं च शोभाकारित्वस्य युक्तिशून्यत्वादलङ्कारणत्वानुपपत्तिः ।

अन्यच्च, आस्तां तावत् क्रिया, एवं यस्य कस्यचिद्वाक्यवर्तिनः पदस्य सम्बन्धितया पदान्तरद्योतनं स्वभाव एव । परस्परान्वयसम्बन्धनिबन्धनाद्वाक्यार्थस्वरूपस्येति पुनरपि दीपकद्वैतमायातम् ।

आदौ मध्ये चान्ते वा व्यवस्थितं क्रियापदमतिशयमासादयति, येनालङ्कारतां प्रतिपद्यते । इति चेत्[1] तेषां वाक्यादीनां परस्परं तथाविधः कः स्वरूपातिरेकः सम्भवति ।

---

२. [भामह के लक्षण में दूसरा दोष यह है क्रियापदों के आदि मध्य या अन्त में रख देने से भी उनमें] शोभाकारित्व के युक्ति शून्य [अर्थात् युक्तियुक्त कारण का अभाव] होने से उसको अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है ।

इसका भाव यह है कि क्रियापद को आदि-मध्य या अन्त में रख देने से अन्य क्रियापदों से उनमें कौन सी अधिक विशेषता आ जाती है जिससे उसी का दीपकालङ्कार कहा जावे । अन्य क्रियापदों को दीपक न माना जावे । इसकी कोई समाधान कारक युक्ति भामह ने नहीं दी है । इसलिए या तो सारे क्रियापद दीपक कहलावेंगे अन्यथा आदि, मध्य या अन्त में रखे हुए क्रियापद भी दीपकालङ्कार रूप नहीं हो सकते हैं । क्योंकि सभी क्रियापदों को एक-सी स्थिति है ।

३. [भामह के लक्षण के विषय में कुन्तक को तीसरी बात यह कहनी है कि] क्रियापद की बात छोड़िए । इस प्रकार वाक्य के अन्तर्गत सभी पदों का सम्बन्धित होने से दूसरे पद को प्रकाशित करना स्वभाव ही है । वाक्यार्थ के परस्पर अन्वयमूलक होने से । इसलिए फिर भी दीपक [पदों] का [द्वैत, अनेकत्व] आनन्त्य आ जाता है ।

अर्थात् दीपक रूप क्रियापदों की विशेषता यह बतलाई थी कि वह अन्य पदों को प्रकाशित अर्थात् अपने से सम्बद्ध रूप में स्थापित करते हैं । परन्तु यह विशेषता तो वाक्य के हर एक पद में होती है । कर्ता, कर्म, करण, उनके विशेषण आदि जितने पद वाक्य में होते हैं वे सब ही परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं । इसलिए जिस प्रकार का दीपकत्व आप केवल क्रियापदों में मानना चाहते हैं उस प्रकार का दीपकत्व सभी पदों में रहता है । इसलिए फिर भी दीपकालङ्कार का आनन्त्य हो जायगा । अर्थात् सभी प्रकार के पद दीपक पद ही सकते हैं ।

४. [यदि यह कहो कि] आदि, मध्य अथवा अन्त में स्थित क्रियापद में विशेषता हो जाती है जिससे [वह क्रियापद] अलङ्कार हो जाते हैं । तो [कृपया यह

---

१. इति चेत् यह पाठ पूर्व संस्करण में नहीं था ।

क्रियापदप्रकारभेदनिबन्धनं वाक्यस्य यदादिमध्यान्तं तदेव तदर्थवाचकेष्वपि सम्भवतीत्येवमपि दीपकप्रकारान्त्यप्रसङ्गः।

दीपकालङ्कारविहितवाक्यान्तरवर्तिनः क्रियापदस्य भ्वादिव्यतिरिक्तमेव काव्यान्तरव्यपदेशः।

यदि वा समानविभक्तीनां बहूनां [1]कारकानामेकं क्रियापदं प्रकाशकं दीपकमित्युच्यते, तत्रापि काव्यच्छायातिशयकारितायाः किं निबन्धनमिति वक्तव्यमेव।

बतलाने का कष्ट करें कि] उन [क्रियापदों] के और वाक्यादि [के अन्य पदों] के स्वरूप में उस प्रकार का ऐसा कौन सा विशेष अन्तर आ जाता है। [अर्थात् आप ऐसी कोई विशेषता नहीं बतला सकते हैं जो अन्य क्रियापदों में या वाक्य के अन्य पदों में न हो। ऐसी अवस्था में सभी प्रकार के पदों को दीपकपद कहा जा सकता है। केवल क्रियापदों को ही नहीं]।

५ [यदि आप क्रियापदों का कोई ऐसा भेद करना चाहते हैं कि] क्रियापद के प्रकार भेद के कारण जो उनकी आदि, मध्य या अन्त में स्थिति है तो उसी प्रकार के अर्थ के वाचक अन्य [क्रियापदों] में भी [जो कि आदि, मध्य या अन्त में नहीं हैं] वह स्थिति हो सकती है। इसलिए इस प्रकार से भी दीपकालङ्कार [या दीपक पदों] का आनन्त्य हो जाता है अर्थात् आदि, मध्य या अन्त में आने वाले ही नहीं अपितु सभी क्रियापद दीपकपद हो जाते हैं।

छठी बात कुन्तक यह कहते हैं कि क्रियापदों की स्थिति सब की एक-सी है। उनमें जो भेद आज तक किया गया है वह भ्वादिगण अदादिगण आदि की क्रियाओं के स्वरूप भेद के आधार पर किया गया है। अन्यथा सब क्रियापदों का अर्थबोधकत्वादि सब कुछ समान ही है। इसलिए जिस क्रियापद को आप दीपकपद कहते हैं उसकी और जो क्रियापद दीपकपद नहीं है उन दोनों की स्थिति एक समान है। यदि आप इस प्रकार के किसी भेद की कल्पना करते हैं तो—

६. दीपकालङ्कारवर्ती क्रियापद में भ्वादि [गण की क्रिया है, या अदादिगण की क्रिया है इस प्रसिद्ध भेद] के अतिरिक्त कुछ और ही भेद काव्य में किया जायगा। [जो कि उचित नहीं प्रतीत होता है]

७. [फिर सातवीं बात यह है कि] अथवा यदि समान विभक्ति वाले बहुत से कारकों के प्रकाशक एक क्रियापद को दीपक कहते हैं तो उसमें भी शोभा के अतिशय जनकत्व का क्या कारण है यह तो बतलाना ही होगा। [परन्तु भामह ने इस प्रकार का कोई कारण नहीं बतलाया है। इसलिए उनका केवल क्रियापदों को ही दीपकपद मानना युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता है]।

---

१. समान विभक्तानां, कारणानां पाठ अशुद्ध था।

तच्च[1] प्रस्तुताप्रस्तुतविष्यसामर्थ्यसम्प्राप्तप्रतीयमानवृत्तिसाम्यमेव नान्यत् किञ्चिदित्यभियुक्ततरैः प्रतिपादितमेव ।

चंकमन्ति करीन्दा दिसागअमअगन्धहारिअहिअआ ।
दुक्खं बरो च कइणो भणिइविसममहाकइमग्गे ॥६५॥
[चक्रम्यन्ते करीन्द्रा दिग्गजमदगन्धहारितहृदयाः ।
दुःखं वने च कवयो भणितिविषममहाकविमार्गे ॥ इतिच्छाया]

---

८. और वह अप्रस्तुत और अप्रस्तुत का वाच्य रूप [विधि-सामर्थ्य] से अप्राप्त अतएव प्रतीयमान साम्य ही [दीपक-स्थल में वाक्य-सौन्दर्य का अतिशय हेतु] है अन्य कुछ नहीं, यह [उनकी अपेक्षा] अधिक प्रामाणिक [उनके व्याख्याकार भट्टोद्भट] ने प्रतिपादन कर ही दिया है—

भामह ने जो दीपकालङ्कार के उदाहरण दिए हैं उनसे केवल इतना ही निकलता था कि वाक्य के आदि, मध्य या अन्त में स्थित क्रियापद दीपकालङ्कार कहलाते हैं। परन्तु इतना कहना पर्याप्त नहीं है । उनके शोभा जनकत्व का कोई हेतु देना चाहिए था । परन्तु भामह ने उस प्रकार कोई हेतु नहीं दिया है । उनकी अपेक्षा उनके व्याख्याकार भट्टोद्भट का विवेचन अधिक प्रामाणिक है । उद्भट ने दीपकालङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है—

आदि - मध्यान्त - विषयाः प्राधान्येतरयोगिनः ।
अन्तर्गतोपमाधर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः ॥ १, २८ ॥

अर्थात् प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत पदार्थों में 'अन्तर्गतोपमा अर्थात्' प्रतीयमान सादृश्य वाले 'धर्मों' का सम्बन्ध जहाँ वर्णित होता है उसको दीपकालङ्कार कहते हैं। कुन्तक यहाँ 'अभियुक्ततरैः प्रतिपादितमेव' यह लिख कर उद्भट के इसी लक्षण की ओर सङ्केत कर रहे हैं।

आगे उसका उदाहरण देते हैं—

दिग्गजों के मद की गन्ध से [हरे गए हृदय वाले] भयभीत होकर दुःख पूर्वक हाथी वन में मारे-मारे फिरते हैं और वक्रोक्ति से विषम महाकवियों के मार्ग में। [उसकी तुलना प्राप्त करने में उत्साह-हीन निराश से] कवि-गण [दुःख-पूर्वक] चक्कर लगाते फिरते हैं ॥६५॥

इस उदाहरण में दिग्गजों के मद की गन्ध से [हरे हुए हृदय वाले] उत्साह-हीन हाथियों के समान महाकवियों की वक्रोक्ति विशिष्ट रचनाओं से हरे हुए हृदय वाले कवि, इन दोनों का साधर्म्य, और वन तथा महाकवियों का साधर्म्य,

---

१. तच्च के स्थान पर पाठ लोप सूचका चिन्ह था ।

अत्र*प्रस्तुताप्रस्तुतयोः प्रतीयमानवृत्तिसाम्यमेव *अन्तर्गतोपमाधर्मः ।*

तदिदानीं दीपकमलङ्कारान्तरकारणं कलयन् कामपि काव्यकमनीयतां कल्पयितुं प्रकारान्तरेण प्रक्रमते—

औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लादकारणम् ।
अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद् वस्तु दीपकम् ॥१७॥

'औचित्यावहम' इत्यादि । वस्तुदीपकं सिद्धरूपमलङ्करणं 'भवतीति' सम्बन्धः । क्रियान्तराश्रवणात् । तदेवं सर्वस्य कस्यचिद् वस्तुनः तद्भावापत्तिरित्याह, 'दीपयत्', प्रकाशयदलङ्करणं सम्पद्यते ।

प्रतीयमान है । इसलिए यह अन्तर्गतोपमाधर्म या प्रतीयमान साम्य के होने से दीपकालङ्कार का उदाहरण है । 'चंक्रम्यन्ते' पद का दोनों के साथ सम्बन्ध होता है । इसलिए यह दीपकपद है । आगे का पाठ भग्न है उसमें से तीन शब्द स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं वे इस प्रकार इस उदाहरण में लक्षण के समन्वय के सूचक हैं ।

यहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत की प्रतीयमान समानता ही [उद्भट कृत लक्षण में कहा हुआ] 'अन्तर्गतोपमा धर्म' का अर्थ [प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का प्रतीयमान साधर्म्य] है ।

इस प्रकार यहाँ तक 'भामह' के दीपकालङ्कार के लक्षण का खण्डन करके अब कुन्तक अपना अभिमत दीपकालङ्कार का लक्षण स्वयं करते हैं—

अब दीपकालङ्कार को दूसरे प्रकार की शोभा का कारण समझकर [उस से] कुछ अपूर्व काव्य की कमनीयता की कल्पना करने के लिए अन्य प्रकार से [भामह के लक्षण से भिन्न दीपक का लक्षण] प्रारम्भ करते हैं—

औचित्य के अनुरूप सुन्दर और सहृदयों के आह्लादकारक [प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत] पदार्थों के [अशक्त अर्थात् वाच्य से भिन्न] प्रतीयमान धर्म को प्रकाशित करने वाली वस्तु दीपक [अलङ्कार] है ।

'औचित्यावहं' इत्यादि [कारिका का प्रतीक है] । वस्तु दीपक होती है अर्थात् [केवल क्रियापद ही नहीं अपितु] सिद्ध वस्तु अलङ्करण 'होती है' यह सम्बन्ध है । अन्य किसी क्रिया के [कारिका में] सुनाई न देने से ['भवति' इस सामान्य क्रिया का अध्याहार होता है] । इस प्रकार सभी वस्तुओं का दीपकालङ्कारत्व [तद्भाव] हो जायगा । इस दोष के लिए निवारण कहते हैं 'दीप्त करता हुआ' प्रकाशित करता हुआ [दीपक] अलङ्कार होता है । किसके, किसको [प्रकाशित करता हुआ दीपक होता है] यह कहते हैं-'धर्म' अर्थात् स्वभाव विशेष को । 'पदार्थों' अर्थात् वर्णनीय अर्थों के ।

---

*पुष्पाङ्कित स्थलों पर पाठ लोप सूचक चिन्ह थे ।

किं कस्येत्यभिधत्ते, 'धर्मं' परिस्पन्दविशेषम्, 'अर्थानां' वर्णनीयानाम् । कीदृशम्, 'अशक्तम्' अप्रकटम्, तेनैव प्रकाश्यमानत्वात् । किं स्वरूपं च, 'औचित्यावहम्' औचित्यमौदार्यमावहति यः स तथोक्तः । अन्यच्च किंविधम्, 'अम्लानं' प्रत्यग्रम्, अनालीढमिति यावत् । एवं स्वरूपत्वात् 'तद्विदाह्लादकारणम्' काव्यविदानन्दनिमित्तम् ॥१७॥

एकं प्रकाशकं सन्ति भूयांसि भूयसां क्वचित् ।
केवलं पंक्तिसंस्थं वा द्विविधं परिदृश्यते ॥१८॥

अस्यैव प्रकारान् निरूपयति । 'द्विविधं परिदृश्यते', द्विप्रकारमवलोक्यते लक्ष्ये विभाव्यते । कथम् 'केवलम्' असाहाय्यं, 'पंक्तिसंस्थं वा' पंक्तौ व्यवस्थितं तत्तुल्यकक्षायां सहायान्तरोपरचितायां वर्तमानम् । कथम्, 'एकं' बहूनां पदार्थानामेकं प्रकाशकं दीपकं केवलमित्युच्यते ।

कैसे [धर्म] को—'अशक्त' [जो शक्ति अर्थात् अभिधा से उपस्थित न हो] अप्रकट, उसी [दीपकपद से] प्रतीयमान होने से [अन्य शब्दों से अप्रकट धर्म को प्रकाशित करता हुआ] । और किस प्रकार के—'औचित्य युक्त' । औचित्य अर्थात् उदारता को जो धारण करता है वह उस प्रकार का [औचित्यावहम्] हुआ । और किस प्रकार के [धर्म को]—'अम्लान' अर्थात् नवीन [सुन्दर] जिसका पहिले आस्वाद नहीं किया है । इस प्रकार का होने से तद्विदाह्लादकारक अर्थात् काव्यज्ञों के आनन्द का कारण [दीपकालङ्कार होता है] ॥१७॥

इस प्रकार कुन्तक दीपकालङ्कार का अपना अभिमत लक्षण करने के बाद अब उसके भेद अगली कारिका में दिखलाते हैं । कुन्तक के अनुसार दीपक के दो भेद होते हैं एक 'केवल दीपक', और दूसरा 'पंक्तिसंस्थ' या माला-दीपक । अन्य आचार्यों ने भी इन भेदों को 'केवल-दीपक' और 'माला'-दीपक कहा है ।

कहीं एक [पद] अनेकों [के प्रतीयमान साधर्म्य] का प्रकाशक [होता है और वह 'केवल दीपक' कहलाता है] और कहीं बहुत से [पद] बहुतों के [प्रतीयमान साधर्म्य के] प्रकाशक होते हैं । [इसलिए] 'केवल' और 'पंक्तिसंस्थ' [माला रूप से] दो प्रकार का [दीपकालङ्कार] दिखलाई देता है ।

इस [दीपक] के ही प्रकारों को दिखलाते हैं । दो प्रकार का पाया जाता है । दो प्रकार का [दीपकालङ्कार] दिखलाई देता है । कैसे—[कि एक] 'केवल' या असहाय [दीपक] और [दूसरा] पंक्तिसंस्थ अन्य सहायकों [दीपकों] की बनी हुई तुल्य [अनेक दीपक पदों की] श्रेणी में वर्तमान, पंक्ति में स्थित [माला दीपक] । कैसे—[ये दो भेद होते हैं कि] बहुत-से पदार्थों [के प्रतीयमान धर्म] का प्रकाशक एक [पद] 'केवल दीपक' कहा जाता है ।

यथा—

असारं संसारम् ॥६६॥

इत्यादि । अत्र 'विधातुं व्यवसितः' कर्ता संसारादीनामसारत्वप्रभृतीन् धर्मानुद्योतयद् दीपकालङ्कारतामाप्तवान् ।

'पंक्तिसंस्थम्', 'भूयांसि' बहूनि वस्तूनि दीपकानि 'भूयसां' प्रभूतानां वर्णनीयानां 'सन्ति वा क्वचिद्' भवन्ति वा कस्मिंश्चिद् विषये—

कइकेसरी बअणाण मोत्तिअरअणाण आइवेअटिकः ।
ठाणाठाणं जाणइ कुसुमाण अं जीणमालारो ॥६७॥
[कविकेसरी वचनानां मौक्तिकरत्नानां आदिवैकटिकः ।
स्थानास्थानं जानाति कुसुमानां च जीर्णमालाकारः ॥ इतिच्छाया]
चन्दमऊएहि णिसा णलिनी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लआ ।
हंसेहि सरअसोहा कव्वकहा सज्जनेहि करइ गरुइ ॥६८॥
[चन्द्रमयूखैर्निशा, नलिनी कमलैः, कुसुमगुच्छैर्लता ।
हंसैःशारदशोभा, काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी ॥ इतिच्छाया]

जैसे [पहिले उदाहरण सं० १, २१ पर उद्धृत]—

असारं संसारं इत्यादि । [मालती माधव ५,३०]

यहाँ 'विधातुं व्यवसितः' इस क्रिया पद का कर्ता [कर्तृ-पद] संसार आदि के असारत्व आदि धर्म को प्रकाशित करता हुआ [एक का अनेक के साथ सम्बन्ध होने से] दीपकालङ्कारत्व को प्राप्त होता है । [यह केवल दीपक अर्थात् दीपकालङ्कार का प्रथम भेद है] ।

[दीपकालङ्कार का दूसरा भेद] 'पंक्तिसंस्थ' [माला दीपक वहाँ होता है जहाँ] बहुत-सी वस्तुएँ बहुत-से वर्णनीयों की दीपक होती हैं । कहीं किसी विषय में 'सन्ति' अर्थात् 'भवन्ति' होती हैं ।

महाकवि [उत्तम कवि] शब्दों के, पुराना जौहरी मौक्तिक रत्नों के और बूढ़ा माली फूलों के स्थान और अस्थान [औचित्य, अनौचित्य अथवा गुणावगुण] को जानता है ॥६७॥

यहाँ श्लोक के तीन चरणों में कहे गए अनेक पदार्थों का प्रकाश करने वाले तृतीय चरण के 'स्थानास्थानं जानाति' रूप अनेक पद हैं । इसलिए यह द्वितीय प्रकार के पंक्ति संस्थ या माला दीपक का उदाहरण है । इसीका एक और उदाहरण देते हैं—

चन्द्रमा की किरणों से रात्रि का, कमल पुष्पों से कमलिनी लता का, फूलों के गुच्छों से बेलों का, हंसों से शरद का सौन्दर्य और सहृदयों से काव्य-चर्चा का महत्व बढ़ता है ॥६८॥

यदपरं पंक्तिसंस्थं नाम तत् कारणत्रैविध्यात्[1] त्रिप्रकारम् । त्रयः प्रकाराः प्रभेदा यस्येति विग्रहः । तत्र प्रथमस्तावदनन्तरोक्तो 'भूयांसि भूयसां क्वचिद् भवन्ति' इति ।

द्वितीयो 'दीपकं दीपयत्यन्यत्रान्यत्' इति अन्यस्यातिशयोत्पादकत्वेन-दीपकम् । यद्दीपितं तत्कर्मभूतमन्यत् , कर्तृभूतं दीपयति प्रकाशयति तदप्यन्य-द्दीपयतीतिदीपकदीपकम् ।

द्वितीयदीपकप्रकारो यथा—

क्षोणीमण्डलमण्डनं नृपतयस्तेषां श्रियो भूषणम्
ताः शोभां गमयत्यचापलमिदं प्रागल्भ्यतो राजते ।
तद् भूष्यं नयवर्त्मनस्तदपि च शौर्यक्रियालंकृतं
विभ्राणं यदियत्तया त्रिभुवनं छेत्तुं व्यवस्येदपि ॥६६॥

यहाँ 'क्रियते गुर्वी' ये अनेक पद [अनेक के साथ सम्बद्ध होकर] अनेक के प्रकाशक है इसलिए यह भी दीपक के द्वितीय भेद अर्थात् माला दीपक का उदाहरण होता है ।

यह जो दूसरा पंक्तिसंस्थ माला-दीपक है वह तीन प्रकार के कारण होने से तीन प्रकार का होता है । तीन प्रकार या भेद जिसके हैं वह त्रिप्रकार यह विग्रह होता है । उनमें से पहिला भेद अभी कहा हुआ अर्थात् कहीं बहुत-से [अर्थों के प्रकाशक] बहुत-से [वस्तु या पद होते हैं । वह पंक्तिसंस्थ दीपक का प्रथम भेद होता है] ।

दूसरा जो अन्य [वस्तु], किसी अन्य को प्रकाशित करती है वह अन्य के शोभातिशय का उत्पादक होने से दीपक [कहलाता] है । जो [वस्तु] प्रकाशित होती है उस कर्मभूत अन्य वस्तु को कर्तृभूत अन्य वस्तु प्रकाशित करती और उस [कर्तृभूत दीपक वस्तु] को भी अन्य कोई प्रकाशित करती है । इसलिए वह 'दीपक-दीपक' कहा जाता है]

[इस 'दीपक-दीपक' रूप] द्वितीय प्रकार का उदाहरण जैसे—

पृथिवी मण्डल के अलङ्कार भूत राजा है, उन [राजाओं] का अलङ्कार लक्ष्मी है, उस [लक्ष्मी] को अचापल्य शोभित करता है, और वह [अचापल्य] प्रगल्भता से शोभित होता है, वह [प्रगल्भता] नीति मार्ग से शोभित होती है, और वह [नीति मार्ग] पराक्रम से अलंकृत होता है जिस [पराक्रम युक्त नीतिमार्ग] को धारण करने वाले [राजा] को [अपि] क्या [त्रिभुवनं कर्तृ पद है] तीनों लोक [सारा संसार, इयत्तया] इस राजा की इतनी शक्ति है इस प्रकार से निश्चय कर सकता है । [नहीं कभी नहीं । पराक्रम से अलंकृत नीति मार्ग का अवलम्बन करने वाले राज की शक्ति अपरिमित होती है] ।

---

१. केवल 'कारणात्' पाठ सुसङ्गत नहीं था । २. क्रौर्य ।

अत्रोत्तरोत्तराणि पूर्वपूर्वपददीपकानि मालायां कविनोपनिबद्धानीति।

यथा वा—

[1]*शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया।*
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥७०॥

यथा च—

[2]*चारुता वपुरभूषयदासाम् ॥७१॥*

इत्यादि। तृतीयप्रकारोऽत्रैव श्लोकार्द्धे दीपकस्थाने दीपितमिति पाठान्तरं विधाय व्याख्येयः। तदयमत्रार्थः, यदन्येन केनचिदुत्पादितातिशयं सम्पादितं वस्तु तत्कर्तृभूतमन्यद्दीपयत्युत्तेजयति[3]।

यह पंक्तिसंस्थ दीपक या माला दीपक के दूसरे भेद अर्थात् 'दीपक-दीपक' का उदाहरण है। इसमें एक पदार्थ दूसरे का दीपक होता है और स्वयं भी अन्य से प्रकाशित होता है। इसलिए 'यद्दीपितं तत्कर्मभूतं' जो दीपित होता है वह कर्मभूत है उसको कर्तृरूप अन्य पदार्थ प्रकाशित करता है। और वह स्वयं भी अन्य को प्रकाशित करता है। यह पंक्तिसंस्थ दीपक के द्वितीय भेद का उदाहरण हुआ।

इसमें उत्तर उत्तर [बाद बाद के] पदार्थ पूर्व पूर्व के पदार्थों के प्रकाशक रूप में कवि ने एक माला में ग्रथित किए हैं।

अथवा [इसी द्वितीय भेद 'दीपक-दीपक' का दूसरा उदाहरण] जैसे—

शुद्ध ज्ञान [श्रुतं] शरीर को भूषित करता है, जितेन्द्रियता या शान्ति उस [ज्ञान, श्रुतं] का अलङ्कार होती है। उस प्रशम-शान्ति का आभूषण पराक्रम होता है और वह [पराक्रम] नीति से प्राप्त सिद्धि से भूषित होता है ॥७०॥

और जैसे [पहिले उदाहरण सं० १, २४ पर उद्धृत]—

सौन्दर्य ने उनके शरीर को अलंकृत किया। इत्यादि ॥७१॥

[पंक्तिसंस्थ अथवा माला दीपक का] तीसरा प्रकार इसी [शुचि भूषयति] श्लोक के उत्तरार्द्ध में [दीपक दीपक इस द्वितीय भेद के नाम में से प्रथम] 'दीपक' [पद] के स्थान पर 'दीपित' [पद रखकर 'दीपितदीपक'] इस प्रकार का [नाम का] पाठान्तर करके समझना चाहिए। इसका यहाँ यह अभिप्राय हुआ कि—जो दीपित प्रकाशित अर्थात् किसी अन्य वस्तु के द्वारा जिसमें अतिशय उत्पन्न किया जा चुका है वह वस्तु कर्तृरूप से फिर किसी दूसरी वस्तु को शोभित करता है। [वहाँ पंक्तिसंस्थ या मालादीपक का 'दीपितदीपक' नामक तृतीय भेद होता है]।

---

१. किराता २, ३२। २. माघ १०, ३३। ३. दीपपदुत्तेजयति।

यथा—

'मदो जनयति प्रीतिमित्यादि ॥७२॥

ननु पूर्वाचार्यैश्चैतदेव पूर्वमुदाहृतम् । तदेव प्रथमं प्रत्याख्यायेदानीं समाहितमित्यभिप्रायो व्याख्यातव्यः ।

सत्यमुक्तम् । तदयं व्याख्यायते । क्रियापदमेकमेव दीपकमिति तेषां

इसका उदाहरण 'शुचि भूषयति' इत्यादि श्लोक के अन्त में बतलाया है। 'स नयपादितसिद्धिभषणः' यह इस श्लोक का अन्तिम पद इस 'दीपितदीपक' का उदाहरण है। वह अर्थात् पराक्रम 'नयापादितसिद्धिभूषणः' है। इसमें पराक्रम का आभूषण नय अर्थात् नीति है । परन्तु वह नय कैसा कि 'आपादितसिद्धिः' सिद्धि को प्राप्त कराने वाला नय पराक्रम का भूषण है । यहाँ सिद्धि को प्राप्त हुआ, सिद्धि से अलंकृत नय पराक्रम का भूषण होता है। इसलिए नय पहिले स्वयं सिद्धि से दीपित होता है और वह पराक्रम को दीपित करता है इसलिए यह 'दीपितदीपक' रूप तृतीय भेद का उदाहरण होता है।

जैसे—

मद प्रीति [आनन्द] को उत्पन्न करता है वह [प्रीति या आनन्द मान को भङ्ग करने वाले काम को उत्पन्न करती है । वह काम प्रिया के समागम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करती है और वह प्रिया के समागम की उत्कण्ठा प्रियतमा के उस समय उपस्थित न होने से मन के असह्य दुःख को उत्पन्न करती है] ॥७२॥

इस श्लोक के द्वितीय चरण ई 'सानङ्गं मानभंगुरम्' में वह प्रीति काम वासना उत्पन्न करती है। परन्तु उस अनङ्ग के साथ विशेषण लगा हुआ मानभंगुरम् वह अर्थात् अनङ्ग या काम वासना मान से भंगुर है। काम प्रिया के सङ्ग की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है । परन्तु उसके पूर्व वह स्वयं मानभंगुरम् विशेषण से दीपित इसलिए यह भी 'दीपितदीपक' रूप माला दीपक का तीसरे भेद का उदाहरण है।

[प्रश्न] पूर्व आचार्य [भामह] ने यही [मदो जनयति प्रीति इत्यादि दीपकालङ्कार का] उदाहरण दिया था उसका पहिले खण्डन करके अब [उसी का] समर्थन कर रहे हैं। इसका अभिप्राय बतलाना चाहिए। [पहिले खण्डन करके अब उसी में दीपकालङ्कार का समर्थन ही करना था तो पहिले खण्डन क्यों किया] ।

[उत्तर]ठीक है[आपका प्रश्न उचित है]इसलिए उस [अभिप्राय] की व्याख्या करते हैं । [हमने जो पहिले भामह के उदाहरणों का खण्डन किया था वह इस बात को दिखलाने के लिए किया था कि उनके मत में] केवल एक क्रियापद ही दीपक[पद]

---

१. भामह काव्यालङ्कार २, २७।

तात्पर्यम् । अस्माकं पुनः कर्तृपदादिनिबन्धनानि दीपकानि बहूनि सम्भवन्तीति ॥१८॥

यथायोगि क्रियापदं मनः संवादि तद्विदाम् ।
वर्णनीयस्य विच्छित्तेः कारणं वस्तुदीपकम् ॥१९॥

इदानीमेतदेवोपसंहरति, यथायोगि क्रियापदमित्यादि । यथा येन प्रकाप्रकारेण युज्यते इति 'यथायोगि' क्रियापदं यस्य तत्तथोक्तम् । येन यथासम्बन्धमनुभवितुं शक्नोति तथा दीपके क्रिया ।

अन्यच्च किं रूपम्—'मनः संवादि तद्विदाम्'। तद्विदां काव्यज्ञानां मनसि संवदति चेतसि प्रतिफलति यत् तत् तथोक्तम् ।

हो सकता है यह उन [पूर्वाचार्य भामह] का मत है । और हमारे मत में कर्तृपदादि निमित्तक बहुत प्रकार के दीपक [पद] हो सकते हैं ॥१८॥

अन्त में इस दीपक प्रकरण का उपसंहार करते हुए कुन्तक अगली कारिका लिखते हैं । इस उन्मेष की प्रायः सभी कारिकाएँ वृत्ति भाग में आए हुए प्रतीक पदों को जोड़कर अनुमान से बनाई गई हैं । मूल-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हो रही है ।

काव्य मर्मज्ञों के हृदय में बैठ जाने वाले, वर्णनीय वस्तु के सौन्दर्य का आधायक यथोचित क्रियापद [भी] वस्तु [वर्णनीय पदार्थ] का दीपक [प्रकाशक] होता है ॥१९॥

अब इसी [दीपकालङ्कार]का उपसंहार करते हैं। 'यथायोगि क्रियापदं' इत्यादि [कारिका में]—जिस प्रकार [जिसके साथ] जुड़ता है [वह यथायोगि हुआ]। यथायोगि क्रियापद है जिसका वह उस प्रकार की [यथायोगि क्रियापदं वस्तु] हुई । इसलिए जैसा सम्बन्ध सम्भव हो सकता है उस प्रकार की क्रिया दीपकालङ्कार में होती है ।

और किस प्रकार का कि—'मनः संवादि तद्विदाम्' । काव्य मर्मज्ञों के हृदय में बैठने वाला [अच्छा लगने वाला] 'तद्विदाम्' अर्थात् काव्यमर्मज्ञों के मन में मिलता हुआ चित्त में अङ्कित हो जाने वाला जो वह उस प्रकार का [मनःसंवादि] हुआ ।

---

१. 'अन्यच्च किं रूपम्—मनः संवदि तद्विदाम्' । इतना पाठ पूर्व संस्करण में प्रमादवश रूपक की व्याख्या में पृ० ४०६ के अन्त में दिए हुए पाठ के साथ छाप दिया था। हमने उसको यहां उचित स्थान पर कर दिया है ।

[1]अन्यच्च कीदृशम्—'वर्णनीयस्य विच्छित्तेः कारणम्' । वर्णनीयस्य, प्रस्तावाधिकृतस्य पदार्थस्य विच्छित्तेरुपशोभायाः कारणं निमित्तभूतम्[2] ॥१९॥

और किस प्रकार का—'वर्णनीय [पदार्थ] के सौन्दर्य का कारण' । वर्णनीय अर्थात् प्रकरण में प्रतिपाद्य पदार्थ की विच्छित्ति उपशोभा का कारण भूत । [इस प्रकार के विशेषणों से युक्त और यथोचित क्रिया युक्त जो वस्तु है वह भी दीपक होती है] ।

भामह और कुन्तक के अभिमत दीपकालङ्कारों में यह अन्तर है कि भामह केवल क्रिया पदों को ही दीपकालङ्कार का प्रयोजक मानते हैं और कुन्तक क्रिया पदों के अतिरिक्त अन्य कारक आदि पदों को भी दीपक का प्रयोजक मानते हैं । वामन ने भी 'उपमानोमेयेष्वेका क्रिया दीपकम्' ४, ३, १८ सूत्र में केवल क्रिया दीपक ही माना । उद्भट ने

आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्यतरयोगिनः ।
अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः ॥१, २८॥

यह दीपक का लक्षण किया है । इसकी वृत्ति में 'धर्माः क्रियादिरूपाः' लिखा है । इससे प्रतीत होता है कि वे भी क्रिया के अतिरिक्त कारक पदों को दीपक का प्रयोजक मानते हैं । उत्तरवर्ती विश्वनाथ आदि आचार्य भी कारक दीपक मानते हैं—

प्रस्तुताप्रस्तुयोर्दीपकन्तु निगद्यते ।
अथ कारकमकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ॥सा० दर्पण १०, १६ ॥१९॥

---

१. पूर्व संस्करण में निम्नाङ्कित पाठ जो वस्तुतः रूपक से सम्बन्ध रखता है इसके पूर्व छाप दिया गया था—

तस्मादेव सहृदयहृदयसंवादमाहात्म्यात् 'मुखमिन्दुः' इत्यादौ न केवलं रूपकं इति यावत्—

किं तारुण्यतरोः ॥७३॥

इत्येवमाद्यपि । तस्मादेव च सूक्ष्मव्यतिरिक्तं वा न किंचिदुपमानात् साम्यं तस्य निमित्तमिति सचेतसः प्रमाणम् । अब पृ० ४०७ पर दी गई हैं ।

२. रूपक से ही सम्बन्ध रखने वाली निम्न पंक्तियाँ प्रमादवश पूर्व संस्करण में इसके बाद छाप दी गई थीं—और अब पृ० ४०६ पर दी गई हैं ।

न पुनर्जन्यत्वप्रमेयत्वादिसामान्यम् यस्मात् पूर्वोक्तलक्षणेन साम्येन वर्णनीयं सहृदयहारितामवतरति ।

६. रूपकालङ्कार का विवेचन—

इस प्रकार दीपकालङ्कार की विवेचना करके अब ग्रन्थकार रूपकालङ्कार की विवेचना प्रारम्भ करते हैं। रूपकालङ्कार के विषय में भामह ने इस प्रकार लिखा है—

उपमानेन यत् तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥२१॥
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च।
द्विधा रूपकमुद्दिष्टमेतत् तच्चोच्यते यथा ॥२२॥
शीकराम्भोदसृजस्तुङ्गा जलददन्तिनः।
निर्यान्तो मण्डयन्तीमे शक्रकार्मुककाननम् ॥२३॥
तड़िद्वलयकक्ष्याणां बलाकामालभारिणाम्।
पयोमुचां ध्वनिर्धीरा दुनोति मम तां प्रियाम् ॥२४॥

—भामह काव्यालङ्कार २। २१-२४।

अर्थात् उपमान के साथ समानता को देखकर उपमेय में जो उपमान का आरोप किया जाता है उसको रूपक अलङ्कार कहते हैं।

यह रूपक समस्त वस्तु विषय तथा एकदेशविवर्ति भेद से दो प्रकार का कहा गया है। उसको [उदाहरण द्वारा] कहते हैं। जैसे—

बूँदों के जल रूप मद को बरसाने वाले ये मेघ रूप हाथी निकलते हुए, इन्द्रधनुष रूप वन को सुशोभित कर रहे हैं।

विद्युद्वलय की पेटी बाँधे, बलाका रूप माला को धारण करने वाले, मेघों की ध्वनि मेरी उस प्रिया को दुःख देती है।

इनमें से संख्या २३ वाले श्लोक में 'समस्तवस्तु विषय' रूपक का उदाहरण दिया गया है। और २४वें श्लोक में 'एकदेशविवर्ति' रूपक का उदाहरण दिया गया है। पहिले श्लोक में बादलों पर हाथियों का, बूँदों के पानी पर मद का, और इन्द्र-धनुषों के समूह पर वन का, आरोप किया गया है। यह तीनों का आरोप मिलकर एक पूर्ण वस्तु सामने आ जाती है इसलिए यह 'समस्तवस्तु विषयक' रूपक का उदाहरण है। दूसरे श्लोक में 'विद्युद्वलय' पर 'कक्ष्या या पेटी' का और 'बलाका' पर 'माला' का आरोप तो हुआ परन्तु मेघों पर हाथी का आरोप न होने से वह रूपक पूर्ण नहीं हुआ अधूरा ही रह गया है इसलिए वह 'एकदेशविवर्ति' रूपक का उदाहरण है। ये भामह के अनुसार रूपक के लक्षण तथा उदाहरण हुए।

उपचारैकसर्वस्वं यत्र [वस्तु] तत् साम्यमुद्वहत् ।
यदर्पयति रूपं स्वं वस्तु तद् रूपकं विदुः ॥२०॥

रूपकं विविनक्ति, उपचारेत्यादि । वस्तु तद् रूपकं विदुः, तद्वस्तु पदार्थस्वरूपं रूपकाख्यमलङ्कारं विदुः, जना इति शेषः । कीदृशम्—'यदर्पयतीत्यादि'। यत् कर्तृभूतमर्पयति विन्यस्यति । किम्—स्वमात्मीयं रूपम्, वाक्यस्य वाचकात्मकं परिस्पन्दम् । अलङ्कारप्रस्तावादलङ्कारस्यैव स्वसम्बन्धित्वात् । किं कुर्वत्—'साम्यमुद्वहत्', समत्वं धारयत् । न पुनर्जन्यत्वप्रमेयत्वादि सामान्यम् । यस्मात् पूर्वोक्तलक्षणेन साम्येन वर्णनीयं सहृदयहृदयहारिताभवतरति । उपचारैकसर्वस्वं' उपचारस्तत्वाध्यारोपस्तस्यैकं सर्वस्वं केवलमेव जीवितम् । तन्निबन्धनत्वादुपचारैः प्रवृत्तेः ।

कुन्तक अपने मतानुसार रूपक का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

[पूर्व प्रदर्शित की हुई] उपचारवक्रता ही जिसकी जान [सर्वस्व] है इस प्रकार की [उपमेय के साथ] समानता को धारण करती हुई [उपमान] वस्तु जो [उपमेय रूप वस्तु को] अपना स्वरूप अर्पित कर देती है [उपमेय पर उपमान का जहाँ आरोप हो जाता है] उसको रूपक [अलङ्कार] कहते हैं ।

रूपक की विवेचना करते हैं । 'उपचार' इत्यादि [कारिका से] । उस वस्तु को रूपक कहते हैं, उस वस्तु को अर्थात् पदार्थ के स्वरूप को लोग रूपक नामक अलङ्कार कहते हैं । कैसी को—'यदर्पयति' इत्यादि । जो कर्तृभूत [वस्तु] अर्पित करती है । आधान करती है । क्या [आधान करती है]—'अपने निजी रूप को' वाक्य के वाचक रूप स्वभाव को । अलङ्कार का प्रकरण होने से [यहाँ स्व पद से] अलङ्कार का ही सम्बन्ध होने से [अलङ्कार भूत आरोप्यमाण वस्तु अपने स्वरूप को उपमेय को प्रदान करती है] । क्या करते हुए कि—'साम्य को धारण करते हुए' [अर्थात् उपमेय के साथ] सादृश्य को धारण करते हुए । न कि जन्यत्व प्रमेयत्व आदि सामान्य को [यह 'साम्य' शब्द का अर्थ समझना नहीं चाहिए] । क्योंकि पूर्वोक्त.प्रकार के [सादृश्य रूप] साम्य से वर्णनीय [वस्तु] सहृदयों के लिए हृदयहारि हो जाती है । किस प्रकार के सादृश्य को कि—उपचार अर्थात् [उपमेय में सादृश्य लक्षणामूलक उपमान के] तत्त्व का अध्यारोप [जो रूपकालङ्कार में किया जाता है] उसका एक सर्वस्व जीवन प्राणभूत [जो साम्य है उसको धारण करते हुए] । उस [साम्य] के औपचारिक व्यवहार का मूल के होने से ।

---

१. 'न पुनर्जन्यत्व' से लेकर 'हृदयहरितामवतरति' तक का पाठ पूर्व संस्करण में प्रमादवश दीपकालङ्कार की १९वीं कारिका की व्याख्या अन्त में अर्थात् वर्तमान पृ० ४०४ पर छप गया था । हमने उसका शोधन कर यहाँ यथास्थान छापा है ।

यस्मादुपचारवक्रताजीवितमेतदलङ्करणं प्रथममेव व्याख्यातम्—

[1]*यन्मूला रसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः ॥७४॥*

इति । तस्मादेव सहृदयहृदयसंवादमाहात्म्यात् 'मुखमिन्दुः' इत्यादौ न केवलं रूपकम् । यावत् 'किं तारुण्यतरोः' इत्याद्यपि । तस्मादेव च सूक्ष्ममतिरिक्तं वा न किञ्चिदुपमानात् साम्यं तस्य निमित्तमिति सचेतसः प्रमाणम् ॥२०॥

एवञ्च रूपकादि सामान्यलक्षणमुल्लिख्य प्रकारपर्यालोचनेन तमेवोन्मीलयति—

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ॥२१॥

समस्तं वस्तु विषयो यस्य तत्तथोक्तम् । तदयमत्रार्थः यत् सर्वाण्येव प्राधान्येन वाच्यतया सकलवाक्योपारूढानि अभिधेयान्यलङ्कार्यतया सुन्दरस्वरूपपरिस्पन्दसमर्पणेन रूपान्तरापादनं गोचरो यस्येति ।

क्योंकि इस [रूपक] अलङ्कार की जान उपचार वक्रता ही है यह बात पहिले ही [२, १४ कारिका में जो नीचे उद्धृत है] कह चुके हैं—

जिस [उपचारवक्रता] के कारण रूपकादि अलङ्कार सरता को प्राप्त करते हैं ॥७४॥

उसी सहृदयों के हृदय में बैठ जाने के माहात्म्य से न केवल 'मुख-मिन्दुः' इत्यादि में ही अपितु 'किं तारुण्य तरोः' इत्यादि [उदाहरण सं० १, ९२] में भी रूपकालङ्कार है । इसीलिए [उपचार के अतिरिक्त] सूक्ष्म अथवा उपमान से कोई अतिरिक्त समानता उस [रूपकालङ्कार] का मूल नहीं है । इस विषय में सहृदय ही प्रमाण है ॥२०॥

इस प्रकार रूपक का सामान्य लक्षण लिखकर उसके भेदों की विवेचना कर उसी [रूपक लक्षण] को स्पष्ट करते हैं, [खोलते हैं]—

[वह रूपकालङ्कार] 'समस्तवस्तु-विषय' तथा 'एकदेशविवर्ति' [भेद से दो प्रकार का] होता है ।

समस्त वस्तु जिसका विषय है वह उस प्रकार का [समस्तवस्तुविषयम्] हुआ । इसका यहाँ यह अभिप्राय हुआ कि प्रधान रूप से वाच्यतया स्थित सम्पूर्ण पदार्थों को, अलङ्कार्य होने से [उपमेय द्वारा] अपने सुन्दर स्वरूप के समर्पण द्वारा [जिसमें] रूपान्तर [अर्थात् उपमान के साथ अभेद] प्राप्त कराया जाता है वह [रूपण] जिसका विषय है । वह समस्तवस्तु विषय [रूपक] हुआ ।

---

१. वक्रोक्तिजीवित २, १४ ।

यथा—

मृदुतनुलतावसन्तः सुन्दरवदनेन्दुबिम्बसितपक्षः ।
मन्मथमातङ्गमदो जयत्यहो तरुणतारम्भः ॥७५॥

अत्र पूर्वाचार्यैर्व्याख्यातम्, यथा यदेकदेशेन विवर्तते विघटते, विशेषेण वा वर्तते तत् तथोक्तम् । इत्युभयथाऽप्येतदयुक्तं भवति । यद्वाक्यस्य यत् कस्मिंश्चिदेव स्थाने स्वपरिस्पन्दसमर्पणात्मकरूपणमादधाति क्वचिदेवेति तदेकदेशविवर्ति रूपकम् ।

[उसका उदाहरण देते हैं] जैसे—

शरीर रूपिणी कोमल लता के [विकसित सुशोभित करने वाले] वसन्त रूप, सुन्दर मुख चन्द्र के [प्रकाशित करने वाला] शुक्ल पक्ष रूप, और कामदेव रूप हाथी के मद स्वरूप नवयौवन का आरम्भ सर्वोत्कर्ष युक्त है ॥७५॥

[समस्त वस्तु विषय रूपक का निरूपण करने के बाद अब एक देश विवर्ति रूपक का निरूपण करते हुए पूर्वाचार्य अर्थात् भामह के मत की आलोचना करते हैं। यद्यपि भामह ने दोनों प्रकार के रूपकों के केवल उदाहरण दिए हैं और किसी प्रकार की विशेष व्याख्या नहीं की है । परन्तु उनके उदाहरण के आधार पर उनके व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है उसी को 'पूर्वाचार्य की व्याख्या' कहकर कुन्तक उसकी आलोचना करते हैं] ।

यहाँ [एकदेशविवर्ति रूपक के विषय में] पूर्व आचार्य ने इस प्रकार व्याख्या की है कि जो एक देश से [विवर्तते] विघटित [अर्थात् न्यून कम] होता है अथवा विशेष [अधिक] होता है वह उस प्रकार का [एकदेशविवर्ति रूपक] होता है । ये दोनों ही [अर्थात् कमी या अधिकता बतलाना] अनुचित है । [बल्कि न्यूनता या अधिकता के भाव को छोड़कर उस एकदेशविवर्ति शब्द की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए कि] जो [श्लोक रूप] वाक्य के किसी एक अंश में ही अपने [उपमान भूत अध्यारोप्यमाण वस्तु] स्वभाव [या तादात्म्य] के समर्पण रूप 'रूपण' का आधान कहीं [किसी एक देश में] ही करता है वह एकदेशविवर्ति रूपक होता है ।

यथा—

[1]तड़िद्वलयकक्ष्याणां बलाकामालभारिणाम् ।
पयोमुचां ध्वनिर्धीरो दुनोति मम तां प्रियाम् ॥७६॥

अत्र विद्युद्वलयस्य कक्ष्यात्वेन बलाकानां तन्मालात्वेन रूपणं विद्यते। पयोमुचां पुनर्दन्तिभावो नास्तीत्येकदेशविवर्तिरूपकमलङ्कारः । तदत्यर्थयुक्तियुक्तम् । यस्मादलङ्करणस्यालङ्कार्यशोभातिशयोत्पादनमेव प्रयोजनं नान्यत किञ्चित् ।

यदुक्तम्—रूपकापेक्षया किञ्चिद्विलक्षणमेतेन यदि सम्पाद्यते तदेतस्य रूपकप्रकारान्तरोपपत्तिः स्यात् । तदेतदास्तां तावत् । प्रत्युत कक्ष्यादिनिमित्तरूपणोचितमुख्यवस्तुविषये विघटमानत्वादलङ्कारदोषत्वं दुर्निवारतामवलम्बते।

जैसे—

विद्युद्वलय रूप पेटी को बाँधे, [बलाका] बकपंक्ति रूप माला को धारण किए हुए, मेघों की गम्भीर ध्वनि मेरी उस प्रियतमा को दुःख दे रही है ॥७६॥

यहाँ विद्युद्वलय का [कक्ष्यात्वेन] पेटी रूप से और बलाकाओं का माला रूप से आरोप किया गया है । परन्तु मेघों पर हाथी का आरोप नहीं किया गया है इसलिए यह 'एकदेशविवर्ति रूपकालङ्कार है । यह [हमारी की हुई व्याख्या] अत्यन्त युक्तियुक्त है । क्योंकि अलङ्कार का प्रयोजन अलङ्कार्य की शोभा को उत्पन्न करना ही है और कुछ नहीं ।

और जो [भामह विवरण में उद्भट ने भामह के 'विवर्तते' पद की व्याख्या करते हुए उसकी 'यदेकदेशेन विवर्तते विघटते' और 'विशेषेण वा वर्तते' अर्थात् 'कम' या 'अधिक' हो जाता है इस प्रकार से दो तरह की व्याख्या की है और उसका उपपादन करने के लिए] यह कहा है कि—यदि इस [विशेषेण वर्तते इस व्याख्या] से [साधारण] रूपक की अपेक्षा कुछ विलक्षणता आ जाती है तो वह रूपक का और प्रकार बन जावेगा । सो इस [विशेष प्रकार वाली बात] को तो जाने दो, बल्कि ['विघटते' कम हो जाता है । इस पक्ष में] कक्ष्या [हाथी की झूल को बाँधने के लिए जो पेटी बाँधी जाती है उसको कक्ष्या कहते हैं] आदि निमित्त के आरोप के योग्य [हाथी रूप] मुख्य वस्तु के विषय में विघटमानता [अर्थात् मुख्य वस्तु हाथी का आरोप न होने के कारण न्यूनता] होने से अलङ्कार दोष अवश्य दुर्निवार हो जायगा । [सो चौबे जी छब्बे की जगह दुबे ही रह जावेंगे] ।

---

१. भामह काव्यालङ्कार २, २४ ।

तस्मादन्यच्चैवेतदस्मात् समाधीयते। रूपकालङ्कारस्य परमार्थस्तावदयं यत्-प्रसिद्धसौन्दर्यातिशयपदार्थसौकुमार्यनिबन्धनं वर्णनीयस्य वस्तुनःसाम्यसमुल्लिखितं स्वरूपसमर्पणग्रहणसामर्थ्यमविसंवादि । तेन 'मुखमिन्दुः' इत्यत्र मुखमेवेन्दुः[1] सम्पाद्यते तेन रूपेण विवर्तते।

तदेवमयमलङ्कारः—

हिमाचलसुतावल्लिगाढालिङ्गितमूर्तये ।
संसारमरुमार्गैककल्पवृक्षाय ते नमः ॥७७॥

यथा वा—

उपोढरागेण । इति ॥७८॥

इस लिए, और [विशेष रूप से] इसलिए भी [जो बात आगे कह रहे हैं] इसका समाधान किया जाता है। रूपकालङ्कार का सारांश यह है कि—प्रसिद्ध है सौन्दर्यातिशय जिसका इस प्रकार के पदार्थ के सौकुमार्य के कारण वर्णनीय वस्तु [उपमेय] के सादृश्य से युक्त अपने स्वरूप के [उपमान के द्वारा] समर्पण तथा [उपमेय के द्वारा उस समर्पित उपमान के स्वरूप के] ग्रहण की सामर्थ्य अविसंवादि [अविपरीत, अनुकूल, यथार्थ] हो । उस [सामर्थ्य की अनुरूपता के कारण] से 'मुखचन्द्र' यहाँ मुख [रूप उपमेय] को चन्द्र बना दिया जाता है। [मुख पर चन्द्रमा का आरोप किया जाता है। अर्थात् उपमेय मुख] उस [उपमान भूत चन्द्र के] के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

इस प्रकार का यह अलङ्कार [निम्न श्लोक में पाया जाता] है।

पार्वती रूप लता से जोर से आलिङ्गित स्वरूप वाले, संसार रूप मरुभूमि के अद्वितीय कल्पवृक्ष रूप आपको नमस्कार है।

अथवा जैसे [पहिले उदाहरण सं० ३, पर उद्धृत] 'उपोढ़ रागेण' आदि में ॥७८॥

---

१. पूर्व संस्करण में 'मुखमेव दुःसम्पाद्यते [?]' इस प्रकार का पाठ छापा था । यहाँ 'दुःसम्पाद्यते' इस पाठ की सङ्गति उस संस्करण के सम्पादक श्री एस. के. डे. महोदय की भी समझ में नहीं आई । इसलिए उन्होंने उसके आगे प्रश्न वाचक चिन्ह लगा दिया था । परन्तु वस्तुतः वह भ्रष्ट पाठ था । हमने उसका संशोधन करके 'मुखमेवेन्दुः सम्पाद्यते' यह पाठ रखा है जो सुसङ्गत हो जाता है।

प्रतीयमानरूपकं यथा—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे सरसायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः[1] ॥७६॥

प्रतीयमान रूपक [का उदाहरण] जैसे—

[यह श्लोक आनन्दवर्धनाचार्य का है और उन्होंने उसको अपना श्लोक कह कर ही ध्वन्यालोक पृष्ठ १६४ पर उद्धृत किया है ।] हे चञ्चल और बड़ी-बड़ी आँखों वाली [प्रियतमे] अब [क्रोध के शान्त होने के बाद] लावण्य और कान्ति से दिग्दिगन्तर को भर देने वाले तुम्हारे मुख के मुस्कराहट युक्त होने पर [भी] इस समुद्र में तनिक भी चञ्चलता नहीं दिखलाई देती है इससे यह प्रतीत होता है कि यह समुद्र [निरा जड़राशि अर्थात्] जड़ता का पुञ्ज [अर्थात् महामूर्ख अथवा जलसमूहमात्र] है ॥७६॥

यहाँ मुख पर चन्द्रमा का आरोप साक्षात् नहीं किया है परन्तु वह प्रतीयमान है । क्योंकि इस श्लोक का अभिप्राय है कि यदि यह समुद्र निरा जड़ राशि न होता तो जैसे चन्द्रमा को देखकर समुद्र में ज्वार उठने लगता है इसी प्रकार तुम्हारे मुख चन्द्र को देखकर भी इसमें ज्वार उठना चाहिए था । इस प्रकार यहाँ मुख में चन्द्रमा का आरोप प्रतीयमान होने से यह प्रतीयमान रूपक का उदाहरण है । 'जलराशि' पद में 'डलयोरभेद' इस नियम के अनुसार 'जल' पद में से 'ल' को 'ड' मानकर समुद्र को जड़ राशि कहा है । और उसकी जड़ता का उपपादन इस आधार पर किया है कि वह अपनी कान्ति से समस्त दिशाओं तथा उपदिशाओं को भर देने वाले तुम्हारे मुस्कराहट भरे मुख को देखकर भी क्षुब्ध नहीं हो रहा है । शान्त है । इस कथन-शैली से मुख पर चन्द्रमा का आरोप प्रतीत होता है । अतः पद प्रतीयमान रूपक का उदाहरण है । इसे कवि निवद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध श्लेषालङ्कार से व्यंग्य-रूपकालङ्कार का उदाहरण कहा जा सकता है । इसीलिए ध्वन्यालोककार ने इसमें रूपक ध्वनि माना है ॥२१॥

---

१. ध्वन्यालोक में पृ० १६४ पर उद्धृत ।

तदेव विच्छित्यन्तरेण विशिनष्टि—

नयन्ति कवयः काञ्चिद् वक्रभावरहस्यताम् ।
अलङ्कारान्तरोल्लेखसहायं प्रतिभावशात् ॥२२॥

एतदेव रूपकाख्यमलङ्करणं काञ्चिदलौकिकां वक्रभावरहस्यतां वक्रत्वपरमार्थतां नयन्ति प्रापयन्ति । तथोपनिबध्नन्ति यथा वक्रताविच्छित्तिरूढ़िरमणीयतया तदेव तत्वं परं प्रतिभासते । कीदृशम्—'अलङ्कारान्तरोल्लेखसहायम्' । अलङ्कारान्तरस्यान्यस्य ससन्देहोत्प्रेक्षाप्रभृतेः उल्लेखः समुद्भेदः सहायः काव्यशोभातिशयोत्पादने सहकारी यस्य तत् तथोक्तम् । कस्मान्नयन्ति 'प्रतिभावशात्' स्वशक्तेरायतत्वात् । तथाविधे [1]लोकातिक्रान्तगोचरे विषये तस्योपनिबन्धो विधीयते । यत्र तथा प्रसिद्धयभावात् सिद्धव्यवहारावतरणं साहसिकमिवावभासते, विभूषणान्तरसहायस्य पुनरुल्लेखत्वेन विधीयमानत्वात् सहृदयहृदयसंवादसुन्दरी परा प्रौढ़िरुत्पद्यते ।

इसी [रूपक अलङ्कार] को अन्य प्रकार के सौन्दर्य से विशिष्ट करते हैं—

कवि लोग अपनी प्रतिभा की सामर्थ्य से अन्य अलङ्कारों का उल्लेख जिसका सहायक है ऐसे [अर्थात् उत्प्रेक्षादि अन्य अलङ्कारों से व्यङ्ग्य इसी रूपकालङ्कार को] किसी वक्रता के [अपूर्व] रहस्य को प्राप्त कराते हैं ।

इसी रूपक नामक अलङ्कार को किसी अलौकिक वक्रभाव की रमणीयता अर्थात् यथार्थ सौन्दर्य की प्राप्ति कराते हैं । [अर्थात्] इस प्रकार से वर्णन करते हैं जिससे वक्रता के सौन्दर्य की चरम सीमा को प्राप्त रमणीयता के कारण वही परम तत्त्व प्रतीत होता है । किस प्रकार के कि—'अन्य अलङ्कार का उल्लेख जिसका सहकारी है' । अलङ्कारान्तर अर्थात् ससन्देह इत्यादि अन्य अलङ्कार का उल्लेख समुद्भेद, काव्य की शोभा की वृद्धि के लिए जिसका सहायक है वह उस प्रकार का [अलङ्कारान्तरोल्लेखसहाय हुआ] । किससे प्राप्त कराते हैं कि—'प्रतिभा के वश से' अर्थात् अपनी शक्ति के आधीन होने से । उस प्रकार के अलौकिक विषय में उस [रूपक] की रचना करते हैं । जहाँ उस प्रकार की प्रसिद्धि न होने से [आरोपित अर्थ का] सिद्ध पदार्थ के समान व्यवहार वर्णन करना साहसिक कार्य-सा प्रतीत होता है । परन्तु अन्य अलङ्कार के [रूपक के प्रति] सहायक रूप में उपनिबद्ध किए जाने से, सहृदयों के हृदय के अनुकूल सुन्दर होने से [रूपक में] परम रमणीयता उत्पन्न हो जाती है ।

---

१. लोककान्तिक्रान्तिगोचरे यह पाठ अशुद्ध था ।

यथा—

किं तारुण्यतरोः । इति ॥८०॥

एवं रूपकं विचार्य तद्दर्शनसम्पन्निबन्धनां अप्रस्तुतप्रशंसां प्रस्तौति—

अप्रस्तुतोऽपि विच्छित्तिं प्रस्तुतस्यावतारयन् ।
यत्र तत्साम्यमाश्रित्य सन्बन्धान्तरमेव वा ॥२३॥
वाक्यार्थोऽसत्यभूतो वा प्राप्यते वर्णनीयताम् ।
अप्रस्तुतप्रशंसेति कथितासावलंकृतिः ॥२४॥

'अप्रस्तुतोऽपीत्यादि' । 'अप्रस्तुतप्रशंसेति कथिताऽसावलंकृतिः' । अप्रस्तुतप्रशंसेति नाम्ना सा कथिता अलङ्कारविद्भिरलंकृतिः । कीदृशो यत्र

जैसे—

[उदाहरण सं० १, ६२ पर उद्धृत] किं तारुण्यतरोः । इत्यादि ॥८०॥

इसके आगे एक उदाहरण और दिया गया है । परन्तु पाण्डुलिपि के अत्यन्त अस्पष्ट होने से वह बिल्कुल भी पढ़ने में नहीं आया है ॥२२॥

७—अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार का विवेचन—

यहाँ तक रूपक का विचार करके कुन्तक अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार का अपना अभिमत लक्षण तथा विवेचन आगे दो कारिकाओं में करते हैं—

इस प्रकार रूपक का विचार करके उस [रूपक] के ज्ञान की पूर्णता निमित्तक [दर्शनसम्पत्तिमूलक] अप्रस्तुतप्रशंसा को [विचार के लिए] उपस्थित करते हैं—

जहाँ उस [रूपकोपयोगि] साम्य का अवलम्बन करके, अथवा [कार्यकारण भावादि] अन्य सम्बन्ध से, प्रस्तुत [वर्ण्यमान] के सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाला असत्यभूत अप्रस्तुत वाक्यार्थ भी [वर्णनीयता को प्राप्त कराया] वर्णन किया जाता है वह अलङ्कार अप्रस्तुत प्रशंसा नाम से कहा जाता है ॥२२,२३॥

'अप्रस्तुतोपि' इत्यादि वह अलङ्कार अप्रस्तुत प्रशंसा कहा जाता है । वह अलङ्कार, अलङ्कार के पण्डितों द्वारा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' इस नाम से कहा जाता है । किस प्रकार का—जहाँ जिसमें अप्रस्तुत अर्थात् अविवक्षित पदार्थ भी वर्णनीयता को प्राप्त होता है, वर्णना का विषय बनाया जाता है । क्या करते हुए कि—प्रस्तुत

यस्यामप्रस्तुतोऽप्यविवक्षितः पदार्थो वर्णनीयतां प्रति प्राप्यते वर्णनाविषयः सम्पाद्यते । किं कुर्वत्—प्रस्तुतस्य विवक्षितार्थस्य विच्छित्तिमुपशोभामवतारयन् समुल्लासयन् ।

द्विविधो हि प्रस्तुतः पदार्थः सम्भवति, वाक्यान्तर्भूतपद-मात्रसिद्धः, सकलवाक्यव्यापककार्यो विविधस्वपरिस्पन्दातिशयविशिष्ट-प्राधान्येन वर्तमानश्च । तदुभयरूपमपि प्रस्तुतं प्रतीयमानतया चेतसि विधाय पदार्थान्तरमप्रस्तुतं तद्विच्छित्तिसम्पत्तये वर्णनीयतामस्यामलंकृतौ कवयः प्रापयन्ति । किं कृत्वा—'तत्साम्यमाश्रित्य' । तदन्तरोक्तं रूपकालङ्कारोपकारि साम्यं समत्वं निमित्तीकृत्य । 'सम्बन्धान्तरमेव वा' निमित्तभावादि संश्रित्य ।

'वाक्यार्थोऽसत्यभूतो वा' परस्परान्वयपदसमुदायलक्षणवाक्यार्थोऽसत्य-भूतः । साम्यं सम्बन्धान्तरं वा समाश्रित्याप्रस्तुतं प्रस्तुतशोभायै वर्णनीयतां यत्र नयन्तीति ।

अर्थात् विवक्षित अर्थ के सौन्दर्य, उपशोभा, को उत्पन्न करते हुए ।

प्रस्तुत पदार्थ दो प्रकार का हो सकता है । एक वाक्य के अन्तर्गत पद मात्र से सिद्ध, दूसरा [जिसका] सारे वाक्य में व्यापक [कार्य रूप] प्रभाव हो, और नाना प्रकार के अपने स्वाभाविक सौन्दर्य से विशिष्ट प्रधान रूप से वर्तमान हो । उन दोनों प्रकार के प्रस्तुत को प्रतीयमान रूप से मन में रखकर उसके सौन्दर्य के सम्पादन के लिए अन्य अप्रस्तुत पदार्थ को इस अलङ्कार से कवि लोग वर्णनीय बना लेते हैं । क्या करके कि—'उस सादृश्य का अवलम्बन करके' । उस अभी कहे हुए रूपका-लङ्कार के उपयोगी साम्य अर्थात् सादृश्य को कारण बनाकर । अथवा अन्य कार्यकारण भावादि सम्बन्ध का अवलम्बन करके । [जहाँ अप्रस्तुत पदार्थ को वर्णन का विषय बना लेते हैं वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अलङ्कार होता है] ।

'अथवा असत्य भूत वाक्यार्थ' अर्थात् परस्पर अन्वित पद समुदाय रूप वाक्यार्थ असत्यभूत [कल्पित] । साम्य अथवा अन्य [कार्यकारणभावादि] सम्बन्ध का अवलम्बन करके प्रस्तुत पदार्थ की शोभा के लिए अप्रस्तुत पदार्थ को जहाँ वर्ण-नीयता को प्राप्त कराते हैं । [वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अलङ्कार होता है] ।

उद्भट ने अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

अधिकारादपतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।
अप्रस्तुत प्रशंसेय प्रस्तुतार्थ निवन्धिनी ॥५, १४॥

साम्यसमाश्रयणात् वाक्यान्तर्भूतप्रस्तुतपदार्थप्रशंसा । यथा—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥८२॥[1]

साम्याश्रयणात् सकलवाक्यव्यापकप्रस्तुतपदार्थप्रशंसा । यथा—

छायानात्मन एव या कथमसावन्यस्य सुग्रहा
ग्रीष्मोष्मापदि शीतलस्तलभुवि स्पर्शोऽनिलादेः कुतः ।
वार्ता वर्षशते गते किल फलं[2] *भावीति वार्तैव सा*
द्राघिम्णा मुषिताः कियच्चिरमहो तालेन बाला वयम् ॥८३॥[3]

साम्य के आश्रय से वाक्यार्थ के अन्तर्भूत प्रस्तुत पदार्थ की प्रशंसा [रूप अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार का उदाहरण]जैसे—

[नदी के किनारे स्नानार्थ आई हुई किसी तरुणी को देखकर किसी रसिक जन की यह उक्ति है । इसमें युवती का स्वयं नदी रूप में वर्णन किया है] यहाँ [इस नदी तट पर] यह नई कौन-सी लावण्य की नदी आ गई है जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैरते हैं, जिसमें हाथी की गण्डस्थली [सिर] उभर रही है और जहाँ कुछ और ही प्रकार के [लोकोत्तर] कदली काण्ड और मृणाल दण्ड दिखलाई देते हैं ॥८२॥

इसमें प्रस्तुत तरुणी के सौन्दर्यातिरेक के आधान के लिए मुख और चन्द्रमा, नितम्ब और हाथी की गण्डस्थली, नेत्र और कमल, आदि के सादृश्य का आश्रय लेकर अप्रस्तुत शशी, उत्पल, हाथी के गण्डस्थल आदि की प्रशंसा की गई है । परन्तु उससे प्रस्तुत तरुणी के मुख, नेत्र, नितम्ब आदि अङ्गों की शोभा का अतिशय प्रतीत होता है । इसलिए यह अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण है ।

साम्य के आश्रय से सकल वाक्य में व्यापक प्रस्तुत पदार्थ की प्रशंसा [रूप अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार का उदाहरण] जैसे—

[कोई व्यक्ति] अपनी ही छाया को नहीं पकड़ सकता है [अपनी ही छाया में आदमी नहीं बैठ सकता है] तो फिर दूसरे [अर्थात् मेरी ताड़ के पेड़] की छाया कैसे पकड़ी जा सकती है । ग्रीष्म के सन्ताप रूप आपत्ति में नीचे की जमीन में वायु आदि का स्पर्श कैसे हो सकता है । सौ वर्ष बीत जाने पर [इस ताड़ के वृक्ष में] फल आवेंगे यह बात [जो सुनी जाती है वह] कोरी बात ही है । अहो इस ताड़ के वृक्ष ने अपनी ऊँचाई से [अभिभूत, प्रभावित हुए] हम भोले-भाले लोगों को कितने दिन तक धोखा दिया, [ठगा] ॥८३॥

---

१. ध्वन्यालोक पृ० ३६० पर उद्धृत। २. वर्षशतैरनेकलवलं पाठ अशुद्ध था।
३, सुभाषितावली ८२१ ।

यह श्लोक सुभाषितावली का ८२१वाँ श्लोक है। इसका तृतीय चरण हमने यहाँ सुभाषितापली के मूल पाठ के अनुसार दिया है। वक्रोक्तिजीवित के प्रथम संस्करण में उसका पाठ इस प्रकार है—

वार्ता वर्षशतैरनेकलवलं भावीति वार्तैव सा।

इस पाठ में 'अनेकलवलं' शब्दों की प्रकृत अर्थ के अनुकूल कोई व्याख्या सङ्गत नहीं होती है। इसलिए वह प्रमाद पाठ हैं। सुभाषितावली का पाठ ही ठीक है अतः हमने मूल में उसी को रखा है।

यह श्लोक अन्योक्ति रूप है। कोई व्यक्ति अनायास अपने समाज के अन्य लोगों से अधिक ऊँचा है। लोग उससे कुछ सहायता की आशा रखते हैं। परन्तु जो कोई किसी कार्य को लेकर उसके पास जाता है उसको किसी न किसी बहाने से टरका देता है। किसी का कोई भी काम करके नहीं देता है। यों ही लम्बी-चौड़ी बातें बनाकर सबको धोखा देता रहता है। ऐसे व्यक्ति का वर्णन करने के लिए कवि ने सादृश्य को लेकर ताड़ के वृक्ष को वर्णनीय बना लिया है। ताड़ के वृक्ष से जब कोई कहता है कि तुम्हारे पास बैठने को छाया भी नहीं मिलती है तो कह देता है कि किसी की अपनी ही छाया उसको बैठने का सहारा नहीं देती है तो फिर दूसरे की छाया से यह आशा कैसे की जा सकती है। फिर कभी कोई पूछता कि अरे भाई तुम इतने बड़े हो और हम तुम्हारे नीचे बैठे हुए गर्मी के मारे मरे जा रहे हैं। तनिक हवा तो कर दो कि शान्ति मिले। तो उसको उत्तर देता है कि तुम कहाँ पाताल में बैठे हो, वहाँ हवा कहाँ पहुँच सकती है। जब उससे किसी का काम बनता नहीं दिखाई दिया तो लोगों ने उसकी उपेक्षा करना चाही। पर उसने फिर अपना जाल फेंका कि ज़रा देखो तो, मुझे सौ वर्ष का होने दो, फिर फल ही फल लेना। पर अब लोग उसकी लम्बी-चौड़ी बातों से तंग आ चुके थे। उन्होंने समझ लिया यह भी एक चकमा देने की बात है। किसने सौ वर्ष देखे हैं। इस प्रकार यह ताड़ का लम्बा वृक्ष अपनी लम्बाई से कितने दिन तक हम भोले-भाले लोगों को ठगता रहा है। यह इस वाक्य का अर्थ है जो सारे वाक्य में व्यापक है। इसलिए यह बाक्य में व्यापक सादृश्यमूल प्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा रूप अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार का उदाहरण है।

सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा के दो उदाहरण देने के बाद अब कार्यकारणभावादि रूप सम्बन्धान्तरमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा के दो उदाहरण देते हैं। इनमें से एक में वाक्यान्तर्भूतपदार्थ की और दूसरे में सकलवाक्यव्यापक वाक्यार्थ का वर्णन है।

सम्बन्धान्तराश्रयणे वाक्यान्तर्भूतप्रस्तुतपदार्थप्रशंसा यथा—

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जड़िता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमप्रभा ।
कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव ॥८४॥[1]

[सादृश्य से भिन्न] अन्य सम्बन्ध के होने पर वाक्य के अन्तर्गत प्रस्तुत पदार्थ की प्रशंसा जैसे—

यह श्लोक राजशेखरकृत बालरामायण नाटक १, ४२ का है । सीता स्वयम्बर मे सम्मिलित होने के लिए आया हुआ रावण सीता को देखकर उनके सौन्दर्य की प्रशंसा करता हुआ कह रहा है कि—

[इसके सौन्दर्य के सामने] चन्द्रमा मानों कालिख पोता हुआ-सा हो रहा है, हरिणियों की दृष्टि जड़-सी [अचल] हो रही है, मूँगे की लता की अरुणिमा उड़ गई-सी जान पड़ती है और सोने की कान्ति काली सी जान पड़ती है । कोकिलवधुओं के गले में कठोरता-सी आ गई प्रतीत है और इस सीता के [केशपाश] के सामने मोरों के पंख भी रद्दी-से लगते हैं ॥८४॥

इसमें प्रस्तुत सीता के अङ्गों के अतिशय सौन्दर्य को सूचित करने के लिए चन्द्रिका की कालिमा से मुख का अत्यन्त सौन्दर्य, हरिणियों की दृष्टि की जड़ता से सीता के नेत्रों का अतिशय चाञ्चल्य, विद्रुम लता के आरुण्य के उड़ जाने से सीता के अधर का रागाधिक्य, सोने की कान्ति की श्यामता से सीता की देह प्रभा के गौरत्वातिशय, कोकिलबधुओं के कण्ठ की कठोरता से सीता के कण्ठस्वर की मधुरता का अतिशय और मोरों के पंखों की निन्दा से सीता के केशों के सौन्दर्यातिरेक की प्रतीति होती है । इन सब में प्राय: सादृश्य के स्थान पर विपरीत लक्षणा से ही प्रतीति होती है । इसलिए इसको सम्बन्धान्तरमूलक वाक्यान्तर्भूत प्रस्तुत पदार्थ की प्रशंसा रूप अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

---

१. बाल रामायण १,४२ ।

सम्बन्धान्तराश्रयणे सकलवाक्यव्यापकप्रस्तुतप्रशंसा यथा—

परामृशति सायकं क्षिपति लोचनं कार्मुके
विलोकयति वल्लभां स्मितसुधार्द्रवक्त्रं स्मरः ।
मधोः किमपि भाषते भुवननिर्जयाय्यावनिं
गतोऽहमिति हर्षितः स्पृशति गोत्रलेखामहो ॥८५॥

अत्राप्रस्तुतो मन्मथचेष्टातिशयः । प्रस्तुतस्तरुणीतारुण्यावतारः ।

असत्यभूतवाक्यार्थतात्पर्याप्रस्तुतप्रशंसा यथा—

अयम ... ...

तदेवमप्रस्तुतप्रशंसाव्यवहारः कवीनामतिविततप्रपञ्चः परिदृश्यते । तस्मात् सहृदैयश्च स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयः ।

प्रशंसाशब्दोऽत्र, अर्थप्रकाशादिवद् विपरीतलक्षणया वर्तते ॥२३॥

सम्बन्धान्तरनिमित्तिक समस्त वाक्य में व्यापक प्रस्तुत की प्रशंसा [रूप अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण] जैसे—

[किसी नवयौवना तरुणी के यौवन के उभार को देखकर] कामदेव [कभी] अपने बाण को टटोलता है, कभी धनुष पर नज़र डालता है, फिर [तनिक मुस्करा कर] स्मित की सुधा से, मुख को द्रवित कर के [तनिक मुस्कराता हुआ] अपनी प्रियतमा [रति] का ओर देखता है और कभी [अपने सहायक या मित्र] वसन्त से कुछ कहता है, और संसार के विजय के लिए मैं मैदान में आगया हूँ यह सोच कर प्रसन्न हुआ कामदेव [उस नवयौवना के] अङ्गों का स्पर्श करता है ॥८५॥

इसमें कामदेव की चेष्टाओं का वर्णन अप्रस्तुत है [उसके वर्णन से] तरुणी के तारुण्य के अवतार [रूप] प्रस्तुत [पदार्थ का अतिशय सौन्दर्य सूचित होता] है ।

इसमें सादृश्य सम्बन्ध न होकर कार्य कारण भाव सम्बन्ध है । इसलिए यह सम्बन्धान्तर-निमित्तक सकल वाक्य में व्यापक प्रस्तुत पदार्थ का प्रशंसा रूप अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार का उदाहरण है ।

ग्रन्थकार ने यहाँ असत्यभूत वाक्यार्थ तात्पर्याप्रस्तुतप्रशंसा का प्राकृत भाषा की गाथा रूप में एक उदाहरण और भी दिया है । परन्तु मूल प्रति में बिल्कुल भी पढ़ने में नही आता है । इसलिए उसको यहाँ नहीं दिया जा सका है ।

इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा का व्यवहार कवियों में अत्यन्त विस्तृत रूप में दिखलाई पड़ता है । इसलिए सहृदय उसको स्वयं ही समझ सकते हैं ।

यहाँ [अप्रस्तुतप्रशंसा नाम में] प्रशंसा शब्द अर्थप्रकाशादि के समान विपरीत लक्षणा से प्रयुक्त होता है ॥

एवमप्रस्तुतप्रशंसां विचार्य विवक्षितार्थप्रतिपादनाय प्रकारान्तराभिधान-त्वादनयैव समानप्रायं पर्यायोक्तं विचारयति—

यद्वाक्यान्तरवक्तव्यं तदन्येन समर्थ्यते ।
येनोपशोभानिष्पत्त्यै पर्यायोक्तं तदुच्यते ॥२४॥

यद्वाक्यान्तरेत्यादि । पर्यायोक्तं तदुच्यते पर्यायोक्ताभिधानमलङ्करणं तदभिधीयते ।

— इसका अभिप्राय यह है दार्शनिक सिद्धान्त में घट आदि पदार्थ अचेतन होने से अप्रकाश स्वरूप हैं । ज्ञाता आत्मा ही प्रकाश स्वरूप है । परन्तु ज्ञान के समय आत्मा के साथ सम्बद्ध होने से अर्थ प्रकाशित होता है ऐसा कहा जाता है । इसी प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरणों में वास्तव में तो वह अप्रस्तुत की प्रशंसा न होकर उसकी निन्दा ही होती है और प्रशंसा तो प्रस्तुत की होती है । इसलिए कुन्तक कहते हैं कि अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार के नाम में प्रशंसा शब्द विपरीत लक्षणा से प्रयुक्त होता है । इसके उपपादन के लिए 'अर्थप्रकाशादिवत्' यह दृष्टान्त दिया है ॥२२-२३॥

८. पर्यायोक्त अलङ्कार—

अप्रस्तुत प्रशंसा के निरूपण कर चुकने के बाद ग्रन्थकार ने 'पर्यायोक्त' अलङ्कार का वर्णन प्रारम्भ किया है । मूल कारिका ग्रन्थ में नहीं दी है । वृत्ति के आधार से उसकी रचना इस प्रकार की गई है जो ऊपर दी है ।

इस प्रकार अप्रस्तुत प्रशंसा का विचार करने के बाद विवक्षित अर्थ के प्रतिपादन के लिए, प्रकारान्तर से कथन रूप होने के कारण लगभग इस [अप्रस्तुतप्रशंसा] के ही तुल्य 'पर्यायोक्त' [अलङ्कार] का विचार [प्रारम्भ] करते हैं ।

जो अन्य वाक्य से [अन्य प्रकार से वाच्य रूप से-] कहने योग्य वस्तु सौन्दर्य के उत्पादन के लिए उससे भिन्न जिस अन्य प्रकार से [व्यङ्ग्य रूप से]-कही जाती है उसको पर्यायोक्त [अलङ्कार] कहते हैं—

'यद्वाक्यान्तर' इत्यादि [कारिका का प्रतीक देकर उसकी व्याख्या करते हैं] । वह 'पर्यायोक्त' कहा जाता है अर्थात् वह 'पर्यायोक्त' नामक अलङ्कार कहलाता है ।

कीदृशम्—'यद्वाक्यान्तरवक्तव्यं' वस्तु वाक्यार्थलक्षणं पदसमुदायान्तराभिधेयं तदन्येन वाक्यान्तरेण येन समर्थ्यते प्रतिपाद्यते। किमर्थम्—

'उपशोभानिष्पत्त्यै' विच्छित्तिसम्पत्तये। तत् पर्यायोक्तमित्यर्थः।

तदेवं पर्यायवक्रत्वात् किमत्रातिरिच्यते। पर्यायवक्रत्वस्य पदार्थमात्रं वाच्यतया विषयः, पर्यायोक्तस्य वाक्यार्थोऽप्यङ्गतयेति तस्मात् पृथगभिधीयते।

उदाहरणं यथा—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम् ॥८६॥[1]

कैसा कि—जो अन्य वाक्य से [वाच्य रूप से अन्य प्रकार से] कहने योग्य वस्तु अर्थात् दूसरे [वाचक] पद समुदाय से कहने योग्य वाक्यार्थ रूप वस्तु, उससे भिन्न अन्य जिस वाक्य से [व्यङ्ग्य रूप] समर्थित अर्थात् प्रतिपादित की जाती है। किस लिए कि—उपशोभा [मुख्य शोभा तो पदार्थ के अपने स्वरूप से ही होती है। अलङ्कारों के द्वारा जो शोभा होती है वह कृत्रिम शोभा है इसलिए कुन्तक उसको उपशोभा शब्द से ही प्रायः कहते हैं] की सिद्धि के लिए अर्थात् सौन्दर्य के उत्पादन के लिए। वह 'पर्यायोक्त' [अलङ्कार] होता है यह अभिप्राय है।

[प्रश्न] इस प्रकार [पूर्व कहे हुए] 'पर्याय-वक्रत्व से इस [पर्यायोक्त अलङ्कार] में क्या विशेषता [क्या भेद] है ?

[उत्तर] 'पर्याय-वक्रता' में वाच्य रूप से पदार्थ-मात्र ही विषय होता है। और पर्यायोक्त [अलङ्कार] में [केवल पदार्थ नहीं अपितु] वाक्यार्थ भी अङ्ग रूप से विषय होता है इसलिए [दोनों में भेद होने से यहाँ 'पर्यायोक्त' अलङ्कार को] अलग से कहा गया है।

[पर्यायोक्त का] उदाहरण जैसे—

जिस [विष्णु] ने चक्र के प्रहार रूप [अपनी] अनुल्लंघनीय आज्ञा से ही राहु की पत्नियों के सुरतोत्सव को [राहु के आलिङ्गन आदि अन्य क्रियाओं में उपयोगी धड़ भाग को काटकर अलग कर देने के द्वारा] आलिङ्गन प्रधान [सुरत सम्भोग के] अन्य [समस्त] विलासों से रहित [केवल मुख मात्र के शेष रह जाने से] चुम्बन मात्रावशेष कर दिया ॥८६॥

---

१. ध्वन्यालोक पृ० १५२, पर उद्धृत।

... अत्र ग्रन्थपातः। ...

यथा—

भूभारोद्वहनाय शेषशिरसां सार्थेन सन्नह्यते
विश्वस्य स्थितये स्वयं स भगवान् जागर्ति देवो हरिः।
अद्याऽप्यत्र च नाभिमानमसमं राजंस्त्वया तन्वता
विश्रान्तिः क्षणमेकमेव न तयोर्जातेति कोऽयं क्रमः ॥८७॥

इसमें विष्णु ने राहु के शिर को धड़ से अलग कर दिया यह बात अन्य वाक्य के द्वारा वाच्य रूप से कहनी थी। परन्तु अर्थ के सौन्दर्य के लिए कवि ने सीधे रूप से अभिधा से इस बात को न कहकर इस प्रकार से कहा है कि उसने राहु की पत्नियों के सुरतोत्सव सम्भोगानन्द को केवल चुम्बन मात्र शेष कर दिया। अर्थात् राहु का केवल मुख मात्र शेष रह गया है इसलिए वह अपनी पत्नियों का चुम्बन तो कर सकती है। परन्तु धड़ के न होने से सम्भोग सम्बन्धी अन्य कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकता है। इस प्रकार वर्ण्य वस्तु को प्रकारान्तर से कहने के कारण यहाँ 'पर्यायोक्त' अलङ्कार होता है।

इसके बाद ग्रन्थ का कुछ भाग लुप्त हो गया है इसको सूचित करने के लिए ग्रन्थ की प्रतिलिपि करने वाले लेखक ने यहां 'अत्र ग्रन्थपातः' लिख दिया है। जिसका अर्थ यह है कि 'यहाँ ग्रन्थ का कुछ भाग नहीं मिलता है'। यह भाग 'व्याजस्तुति' अलङ्कार लक्षण आदि से सम्बन्ध रखता है। क्योंकि आगे दिए हुए उदाहरण व्याजस्तुति के उदाहरण हैं। इस 'अत्र ग्रन्थपातः' के बाद मूल प्रतिलिपि में कुछ रूपक का अंश आ गया है जिसे हम पहिले दे चुके हैं। उसके बाद 'भूभारोद्वहनाय' आदि व्याजस्तुति के उदाहरण दिए गए हैं। जिनका अर्थ इस प्रकार है—

हे राजन् आपके [मैं पृथिवी को धारण करता हूँ इस प्रकार के] असाधारण अभिमान करने पर भी शेषनाग के शिरों का समूह आज भी यहाँ [संसार में] पृथिवी के भार को उठाने के लिए तैयार हो रहा है, और संसार की स्थिति रखने के लिए स्वयं विष्णुभगवान् सावधान बैठे हुए हैं। उन दोनों को एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं मिला यह क्या बात है ॥८७॥

यह तथा इसके आगे दिए हुए तीनों उदाहरण व्याजस्तुति अलङ्कार के उदाहरण हैं।

यथा वा—

इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः ।[1] इत्यादि ।८८॥

यथा वा—

हे हेलाजितबोधिसत्व ।[2] इत्यादि ॥८९॥

यथा वा—

नामाप्यन्यतरोः ।[3] इत्यादि ॥९०॥

सम्भावनाऽनुमानेन सादृश्येनोभयेन वा ।
निर्वर्ण्यातिशयोद्रेकप्रतिपादनवाञ्छया ॥२५॥

अथवा जैसे—

[३, ४९ पर पूर्व उद्धृत] इन्दोर्लक्ष्म । इत्यादि ॥८८॥

अथवा जैसे—

[१, ६० पर पूर्वोद्धृत] हे हेलाजित । इत्यादि ॥८९॥

[१, ६१ पर उद्धृत] नामाप्यन्यतरोः इत्यादि ॥९०॥ का० २४॥

६. उत्प्रेक्षा अलङ्कार—

ये तीनों उदाहरण व्याजस्तुति अलङ्कार के हैं। इस प्रकार यहाँ तक 'व्याजस्तुति' अलङ्कार का वर्णन करके आगे 'उत्प्रेक्षालङ्कार' का वर्णन करते हैं। पूर्व अलङ्कारों के समान उत्प्रेक्षालङ्कार की लक्षणपरक कारिकाएँ मूल प्रति में नहीं पाई जाती है। वृत्तिभाग में दिए हुए प्रतीकों के आधार पर उनकी जो रचना की गई है वह ऊपर दी है।

इस भाग में जो कारिकाएँ नहीं मिलती हैं उसका कारण यह नहीं है कि वे बीच-बीच में से लुप्त हो गई हैं। अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि मूल कारिकाएँ पहिले अलग लिख ली गई थीं। और यहाँ दुबारा उनके लिखने के प्रयास को बचाने के विचार से लेखक ने दुबारा उनको न लिखकर केवल उनके आवश्यक प्रतीक देकर व्याख्या करने का ही क्रम रखा है। इसलिए इस भाग में सभी कारिकाओं की रचना अनुमान से करनी होती है। 'उत्प्रेक्षालङ्कार' का लक्षण करने वाली कारिकाओं का स्वरूप ऊपर दिया है। अर्थ इस प्रकार है—

सम्भावना से अनुमान द्वारा अथवा सादृश्य से अथवा उन दोनों से वर्णनीय वस्तु के अतिशयोद्रेक के प्रतिपादन की इच्छा से—॥२५॥

---

१. उदाहरण संख्या ३, ४९ पर उद्धृत। २. उदाहरण संख्या १, ६० पर पूर्व उद्धृत। ३. उदाहरण संख्या १, ६१ पर उधृत।

वाच्यवाचकसामर्थ्याक्षिप्तस्वार्थैरिवादिभिः ।
तदिवेति तदेवेति वादिभिर्वाचकं विना ॥२६॥
समुल्लिखित वाक्यार्थव्यतिरिक्तार्थयोजनम् ।
उत्प्रेक्षा　　...　　...　　॥२७॥

'सम्भावनेत्यादि' । 'समुल्लिखितवाक्यार्थव्यतिरिक्तार्थयोजनम् उत्प्रेक्षा ।' समुल्लिखितः सम्यगुल्लिखितः स्वाभाविकत्वेन समर्पयितुं प्रस्तावितो वाक्यार्थः पदसमुदायाऽभिधेयं वस्तु । तस्माद् व्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाक्यान्तर-तात्पर्यलक्षणस्य योजनमुपपादनमुत्प्रेक्षाभिधानमलङ्करणम् । उत्प्रेक्षणमुत्प्रेक्षेति विगृह्यते ।

वाच्य [अर्थ] तथा वाचक [शब्दों] की सामर्थ्य से आक्षिप्त अर्थ वाले इवादि [अर्थात् प्रतीयमान इवादि] से, जो 'उस [उपमान] के समान', 'अथवा वह [उपमान रूप] ही [उपमेय] है इसका प्रतिपादन करने वाले इवादि के द्वारा वाचक [वाच्य-वाचकत्व रूप सम्बन्ध] के बिना [अर्थात् द्योतकत्व सम्बन्ध से । अर्थात् इवादि पद उत्प्रेक्षावाचक नहीं अपितु उत्प्रेक्षा का द्योतक हैं मन्ये शंके ध्रुवम् प्रायो नूनं आदि शब्दों को उत्प्रेक्षा का द्योतक शब्द माना गया है । उन्हीं शब्दों में 'इव' शब्द का भी पाठ है । इन मन्ये, शङ्के आदि शब्दों का वाच्यार्थ तो, ऐसा मानता हूँ, ऐसा शङ्का करता हूँ, आदि होते हैं । परन्तु उनसे उत्प्रेक्षा द्योतित होती है । इस ही अभिप्राय को मन में रखकर यहाँ कुन्तक ने 'वाचकं बिना' यह लिखा जान पड़ता है]—॥२६॥

[समुल्लिखित] वर्णित अर्थ से अतिरिक्त [अतिशय युक्त] अन्य अर्थ की योजना 'उत्प्रेक्षा' [कहलाती] है ॥२७॥

'सम्भावनेत्यादि' [कारिका की प्रतीक देकर व्याख्या आरम्भ करते हैं] वर्णित पदार्थ से अतिरिक्त [अतिशय युक्त] अन्य अर्थ की योजना करना उत्प्रेक्षा है । समुल्लिखित अर्थात् अच्छी तरह से वर्णित अर्थात् स्वाभाविक रूप से प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत किया हुआ, पद समुदाय से अभिधेय वस्तु रूप वाक्यार्थ, उससे अतिरिक्त अर्थात् अन्य वाक्य के तात्पर्य विषयी भूत अर्थ की योजना अर्थात् उपपादन 'उत्प्रेक्षा' नामक अलङ्कार होता है । उत्-प्रेक्षण [प्रतिपादित अर्थ से अधिक अर्थ का देखना] 'उत्प्रेक्षा' है यह [उत्प्रेक्षा शब्द का] विग्रह [व्युत्पत्ति] होना है ।

किं साधनेनेत्याह—'सम्भावनाऽनुमानेन' । सम्भावनया यदनुमानं सम्भाव्यमानस्य तेन । प्रकारान्तरेणाप्येषा सम्भवतीत्याह-'सादृश्येनेति' । सादृश्येन साम्येनापि हेतुना समुल्लिखितवाक्यार्थव्यतिरिक्तार्थ-योजनमुत्प्रेक्षैव । द्विविधं सादृश्यं सम्भवति वास्तविकं काल्पनिकं च । तत्र वास्तवमुपमादिविषयम् । काल्पनिकमिहाश्रीयते ।

प्रकारान्तरमस्याः प्रतिपादयति 'उभयेन वा' । सम्भावनाऽनुमानेन सादृश्यलक्षणेनोभयेन वा कारणद्वितयेन संवलितवृत्तिना प्रस्तुतव्यतिरिक्तार्थान्तरयोजनम् । उत्प्रेक्षाप्रकारत्रितयस्याप्यस्य केनाभिप्रायेणोपनिबन्धनमित्याह — 'निर्वर्ण्यातिशयोद्रेकप्रतिपादनवांछया' । वर्णनीयोत्कर्षोन्मेषसमर्पणाकांक्षया । कथम्-'तदिवेति तदेवेति वा' द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम् । तदिव अप्रस्तुतमिव,

---

किस साधन से [उत्-प्रेक्षण] यह कहते हैं—'सम्भावना द्वारा अनुमान से' । सम्भावना के कारण, सम्भाव्यमान का जो अनुमान उससे । २—यह [उत्प्रेक्षा] और प्रकार से भी हो सकती हैं यह कहते हैं—'सादृश्येन' । सादृश्य अर्थात् समानता रूप हेतु से भी समुल्लिखित अर्थ से अतिरिक्त अर्थ की योजना 'उत्प्रेक्षा' ही होती है । सादृश्य दो प्रकार का होता है । एक वास्तविक सादृश्य और दूसरा काल्पनिक सादृश्य । उनमें से वास्तविक [सादृश्य] उपमा आदि [अलङ्कारों] में होता है और काल्पनिक [सादृश्य] यहाँ [उत्प्रेक्षा अलङ्कार में] लिया जाता है ।

अब इसके तीसरे प्रकार का प्रतिपादन करते हैं—'अथवा [सम्भावनानुमान और सादृश्य] दोनों से' । अर्थात् 'सम्भावनानुमान' और 'सादृश्य' रूप दोनों कारणों के मिलित रूप से प्रस्तुत [वर्णित] अर्थ से अतिरिक्त अर्थ की योजना [भी उत्प्रेक्षा होती है] । उत्प्रेक्षा के इन तीनों प्रकारों का भी अवलम्बन किस अभिप्राय से किया जाता है यह कहते हैं—'वर्णनीय वस्तु के अतिशयोद्रेक के प्रतिपादन करने की इच्छा से । [यहां ग्रन्थकार ने 'प्रतिपाद्य' अर्थ में 'निर्वर्ण्य' शब्द का प्रयोग किया है परन्तु अन्य ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग प्राय: 'दृष्ट्वा' देख कर इस अर्थ में होता है]। किस प्रकार से [प्रतिपाद्य विषय के अतिशयोद्रेक के प्रतिपादन की इच्छा से कि]—उस [अप्रस्तुत उपमान] के समान [तदिव] अथवा [तदेव] वह ही [अप्रस्तुत उपमान रूप] ही [यह उपमेय है] इन दोनों प्रकारों से [अतिशयोद्रेक के प्रतिपादन की इच्छा से] 'तदिव' का अर्थ अप्रस्तुत [उपमान·कमल] के समान उस [वर्ण्य-प्रस्तुत-

तदतिशयप्रतिपादनाय प्रस्तुतसादृश्योपनिबन्धः । तदेवेत्यप्रस्तुतमेवेति तत्स्वरूपप्रसारणपूर्वकं प्रस्तुतस्वरूपसमारोपः । प्रस्तुतोत्कर्षधाराधिरोहप्रतिपत्तये तात्पर्यान्तरयोजनम् । कैर्वाक्यैरुत्प्रेक्षा प्रकाश्यते इत्याह—'इवादिभिः' । इवप्रभृतिभिः शब्दैर्यथायोगं प्रयुज्यमानैरित्यर्थः । न चेदिति पक्षान्तरमभिधत्ते—'वाच्यवाचकसामर्थ्याक्षिप्तस्वार्थैः' तैरेव प्रयुज्यमानैः, प्रतीयमानवृत्तिभिर्वा ।

तत्र सम्भावनानुमानोत्प्रेक्षा यथा—

आपीडलोभादुपकर्णमेत्य प्रत्याहितः पांशुयुतैर्द्विरेफैः ।
[1]अमर्षणेनेव महीपतीनां सम्मोहमन्त्रो मकरध्वजेन ॥६१॥

उपमेय] का अतिशय उत्कर्ष प्रतिपादन करने के लिए सादृश्य का प्रदर्शन किया जाता है। और वह उपमान ही है [तदेव] इससे, उस [अप्रस्तुत उपमान-कमल] के स्वरूप को व्यापक बनाकर प्रस्तुत के स्वरूप पर समारोप किया जाता है। प्रस्तुत [वर्ण्यमान उपमेय वस्तु] के उत्कर्ष की परम सीमा पर स्थित होने का प्रतिपादन करने के लिए [उसके उपमान सदृश या उपमान रूप होने के] इस अन्य तात्पर्य की योजना है। किन वाक्यों [अर्थात् वाचक शब्दों] से उत्प्रेक्षा प्रकाशित [द्योतित] होती है, यह कहते हैं—'इव आदि से'। अर्थात् यथोचित रूप से प्रस्तुत हुए 'इव' आदि शब्दों से [उत्प्रेक्षा द्योतित होती है] यह अभिप्राय है। और यदि [इवादि शब्द का प्रयोग न हो तो दूसरा विकल्प बतलाते हैं कि [वाच्य वाचक] शब्द तथा अर्थ के सामर्थ्य से जिन [इवादि] के अपने अर्थ को आक्षेप करवा लिया जाता है उन [प्रतीयमान इवादि] से। प्रयुज्यमान अथवा प्रतीयमान उन [इवादि पदों] से [उत्प्रेक्षा प्रकाशित अर्थात् द्योतित होती है]।

१. सम्भावनानुमान से उत्प्रेक्षा [का उदाहरण] जैसे—

राजाओं के शिर पर धारण की हुई पुष्पमालाओं [आपीड] के लालच से [उनके] कानों के समीप आकर पुष्प-परागयुक्त भौंरों के द्वारा क्रुद्ध हुए कामदेव ने राजाओं के ऊपर सम्मोहन-मन्त्र चलाया ॥६१॥

यहाँ 'अमर्षणेनेव' में सम्भाव्यमान 'अमर्ष' क्रोध की सम्भावना का अनुमान करके उत्प्रेक्षा की गई है। और उत्प्रेक्षा का द्योतक 'इव' शब्द विद्यमान है। इसलिए यह वाच्या सम्भावनानुमानोत्प्रेक्षा का उदाहरण है।

---

१. अस्यास्यानेव यह पाठ अशुद्ध था।

कालपनिकसादृश्योदाहरणं यथा—

राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥६२॥[1]

यथा वा—

निर्मोकमुक्तिरिव या गगनोरगस्य । इत्यादि ॥६३॥

वास्तवसादृश्योदाहरणम्

यथा[2]—

उत्फुल्लचारुकुसुमस्तबकेन नम्रा
येयं धुता रुचिरचूतलता मृगाक्ष्या ।
शंके न वा विरहिणीमृदुमर्दनस्य
मारस्य तर्जितमिदं प्रतिपुष्पचापम् ॥६४॥

कालपनिक सादृश्य का उदाहरण जैसे—

प्रतिदिन इकट्ठे हुए शिव के अट्टहास के समान [शुभ्र-वर्ण का कैलाश पर्वत है] है ॥६२॥

यहाँ शिव के अट्टहास का राशीकरण इकट्ठा होना ही काल्पनिक है इसलिए उसका कैलाश पर्वत के साथ सादृश्य भी काल्पनिक है ।

अथवा [इसी काल्पनिक सादृश्य का दूसरा उदाहरण] जैसे—

जो आकाश रूप साँप की छोड़ी हुई केंचुली के समान है ॥६३॥

इत्यादि ।

वास्तव-सादृश्य का उदाहरण जैसे—

खिले हुए सुन्दर पुष्प मञ्जरियों से झुकी हुई इस आम की लता को इस मृगनयनी ने जो हिलाया है वह मानों विरहिणियों का [वसन्त के आरम्भ में] मृदुता से मर्दन करने वाले कामदेव का [उनके उग्र सन्ताप के लिए] अपने पुष्प-चाप के उठाने की धमकी दिखलाना तो कहीं नहीं है ऐसा प्रतीत होता है । [अर्थात् अभी वसन्त का आरम्भ होने से कामदेव विरहिणियों को उतना सन्तापदायक नहीं हुआ था परन्तु अब जो यह आम की मञ्जरी खिल उठी है सो जान पड़ता है कि कामदेव अपना पुष्प-चाप उठाने की धमकी दे रहा है] ॥६४॥

---

१. मेघदूत ५८ ।

२. यहाँ वास्तव सादृश्य के उदाहरण रूप में कुन्तक एक प्राकृत भाषा का पद्य उद्धृत किया है परन्तु अस्पष्ट होने से वह पढ़ने में नहीं आता है । अतः मूल में भी नहीं दिया गया है । उसी वास्तव-सादृश्य का दूसरा उदाहरण रूप में यह संस्कृत पद्य दिया है । उसका अर्थ ऊपर किया है ।

उभयोदाहरणम् यथा[1]—

... ...

'तदेव' इत्यत्र वादिभिर्विनोदाहरणं यथा—

चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानलमूर्च्छितः ।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः ॥६५॥

यथा वा—

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन । इत्यादि ॥६६॥[2]

यथा वा—

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता । इत्यादि ॥६७॥

'तदेव' इत्यत्र वाचकं विनोदाहरणं यथा—

एकैकं दलमुन्नमय्य गमयन् वासाम्बुजं कोषताम्
धाता संवरणाकुलश्चिरमभूत् स्वाध्यायबद्धाननः ॥६८॥२७॥

तदेव [वह ही] इस अर्थ में [द्योतक] इवादि के बिना [अर्थात् प्रतीयमान उत्प्रेक्षा का] उदाहरण जैसे—

चन्दन वृक्ष में लिपटे हुए साँपों के निःश्वास वायु से बढ़ा हुआ [मूछित यह] मलयानिल वसन्त ऋतु में पथिकों को मूर्छित करता है ॥६५॥

यहाँ उत्प्रेक्षा के वाचक इवादि शब्दों का प्रयोग नहीं है। इसलिए यह 'प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा' का उदाहरण है। यह श्लोक ध्वन्यालोक में भी पृष्ठ २०० पर उत्प्रेक्षा ध्वनि के उदाहरण के रूप में दिया गया है।

अथवा जैसे—

[उदाहरण सं० २, ४४ पर पूर्व उद्धृत] देवि त्वन्मुखपङ्कजेन इत्यादि ॥६६॥

अथवा जैसे—

[उदाहरण सं० २, ८० पर उद्धृत] 'त्वं रक्षसा भीरु' इत्यादि ॥६७॥

वह ही [तदेव] है इस अर्थ में वाचक [इवादि] के बिना [उत्प्रेक्षा का] उदाहरण जैसे—

[उदाहरण सं० १, १०२ पर उद्धृत 'यत्सेनारजसामुदञ्चति चये' इत्यादि श्लोक का उत्तरार्द्ध रूप] 'एकैकं दलमुन्नमय्य' इत्यादि ॥६८॥२७॥

---

१. यहां सम्भावनानुमान और सादृश्य दोनों के सम्मिलित उदाहरण के रूप में एक प्राकृत गाथा दी गई थी पर लेख की अस्पष्टता के कारण पढ़ने में नहीं आई।

प्रतिभासात्तथा बोद्धुः स्वस्पन्दमहिमोचितम् ।
वस्तुनो निष्क्रियस्यापि क्रियायां कर्तृतार्पणम् २८॥

तदिदमुत्प्रेक्षायाः प्रकारान्तरं परिदृश्यते, प्रतिभासादित्यादि । 'क्रियायां' साध्यस्वरूपायां '[1]कर्तृतार्पणं' स्वतंत्रत्वसमारोपणम् । कस्य, 'वस्तुनः' पदार्थस्य निष्क्रियस्य क्रियाविरहितस्यापि । कीदृशम्—'स्वस्पन्दमहिमोचितम्' । तस्य पदार्थस्य यः स्वस्पन्दमहिमा स्वभावोत्कर्षस्तस्योचितमनुरूपम् । कस्मात्—बोद्धुरनुभवितुस्तथा तेन प्रकारेण प्रतिभासादवबोधात् । 'निर्वर्ण्यातिशयोद्रेक-प्रतिपादनवाञ्छया' 'तदिवेति तदेवेति' 'वादिभिर्वाचकं विना' इति पूर्ववदिहापि सम्बन्धनीये ।

उदाहरणं यथा—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ॥६६॥[2]

इसके बाद ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा का एक और भेद दिखलाते हैं । उसके लक्षण की कारिका प्रतीकों के आधार पर ऊपर लिखी गई है । अर्थ इस प्रकार है—

क्रिया-रहित वस्तु में भी उसके स्वाभाविक सौन्दर्य के अनुरूप और देखने वाले को उस प्रकार की प्रतीति होने के कारण किसी क्रिया के प्रति कर्तृत्व का प्रदर्शन [भी उत्प्रेक्षा अलङ्कार का चौथा भेद] है ॥२८॥

'प्रतिभासात्' इत्यादि [कारिका में दिखलाया हुआ] यह 'उत्प्रेक्षा' का [चौथा] अन्य प्रकार पाया जाता है—[जो] साध्यस्वरूप क्रिया में कर्तृता का आरोप अर्थात् [स्वतन्त्रः कर्ता इस कर्ता के लक्षण के अनुसार] स्वतन्त्रता का आरोप करना । किसका—'वस्तु अर्थात् पदार्थ का' । निष्क्रिय—अर्थात् क्रियारहित पदार्थ का भी । किस प्रकार का—'अपने स्वाभाविक उत्कर्ष के योग्य' । उस पदार्थ का जो स्वस्पन्दमहिमा अर्थात् स्वभाव का उत्कर्ष उसके योग्य । किस कारण से कि—'बोद्धा' अर्थात् अनुभव करने वाले को उस प्रकार के प्रतिभास अर्थात् ज्ञान होने से । 'निर्वर्ण्य' अर्थात् प्रतिपाद्य वस्तु के अतिशयोद्रेक के प्रतिपादन करने की इच्छा से' । 'उस [अप्रस्तुत] के समान' या 'वह [अप्रस्तुत स्वरूप] ही' इसको कहने वाले वाचक [इवादि] के बिना ये दोनों पहिले के समान यहां जोड़ लेना चाहिए ।

[इस वस्तुतः जड़ होने से क्रियारहित पदार्थ में स्वतन्त्र कर्तृता के आरोप का] उदाहरण जैसे—

अन्धकार शरीर को लीप-सा रहा है और आकाश काजल-सा बरसा रहा है ।

[यह श्लोक 'दण्डी' के 'काव्यादर्श' २,२२६ से लिया गया है] ॥६६॥

---

१. कर्तृतारोपणम् । २. काव्यादर्श २, २२६ ।

यथा वा—

तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ ॥१००॥[1]

अत्र दण्डिना विहितमिति न पुनर्विधीयते ।

अपहृत्यान्यालङ्कारलवण्यातिशयश्रियः ।
उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्वेन जृम्भते ॥१०१॥

इत्यन्तरश्लोकः ॥२८॥

एवमुत्प्रेक्षां व्याख्याय सातिशयत्वसादृश्यसमुल्लसितावसरामतिशयोक्तिं प्रस्तौति—

यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छित्त्या प्रतिपाद्यते ।
वर्णनीयस्य धर्माणां तद्विदाह्लाददायिनाम् ॥२९॥

अथवा जैसे—

[उदाहरण सं० २, ६१ पर पूर्व उद्धृत] 'तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्य-जलधौ' । इत्यादि ॥१००॥

इन [उदाहरणों] में दण्डी ने [विशेष विवेचन] कर दिया है अतः यहां दुबारा उसको नहीं करते हैं ।

इसके पूर्व यथा वा—लिखकर तीसरा उदाहरण भी दिया गया है परन्तु वह पढ़न में नहीं आता है । आगे इसके विषय में कुन्तक कहते हैं कि—

[जहाँ उत्प्रेक्षा के साथ अन्य अलङ्कारों का सङ्कर होता है वहाँ] अन्य अलङ्कारों के सौन्दर्य का अपहरण करके [अर्थात् उनको दबाकर] सबसे पहिले [काव्य के] जीवित रूप से 'उत्प्रेक्षा' ही प्रकाशित होती है ॥१०१॥

यह 'अन्तरश्लोक' है ॥२८॥

१० अतिशयोक्ति अलङ्कार—

यहाँ तक 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार का वर्णन करने के बाद अब आगे 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार का निरूपण प्रारम्भ करते हैं । उसके लक्षण की यह कारिका भी प्रतीकों के सहारे अनुमान से बनाई गई है ।

इस प्रकार 'उत्प्रेक्षा' [अलङ्कार] की व्याख्या करके [उत्प्रेक्षा के साथ अतिशयोक्ति का] सातिशयत्व रूप सादृश्य होने से अवसर प्राप्त अतिशयोक्ति [अलङ्कार] को प्रस्तुत करते हैं—

जिसमें वर्णनीय [पदार्थ] के सहृदयों को आह्लाद देने वाले धर्मों का कोई अपूर्व अतिशय सुन्दरतापूर्वक प्रकाशित किया जाता है [उसको अतिशयोक्ति अलङ्कार कहते हैं] ॥२९॥

---

१. सदुक्तिकर्णामृत २, ११ राजशेखरस्य ।

'यस्यामित्यादि' । सा अतिशयोक्तिरलंकृतिरभिधीयते । कीदृशी 'यस्यामतिशयः' प्रकर्षकाष्ठाधिरोहः 'कोऽपि', अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणिः, विच्छित्त्या प्रतिपाद्यते वैदग्ध्यभङ्ग्या समर्प्यते । कस्य—'वर्णनीयस्य धर्माणाम्', प्रस्तावाधिकृतस्य वस्तुनः स्वभावानुसम्बन्धिनां परिस्पन्दानाम् । कीदृशानाम्—'तद्विदाह्लाददायिनाम्' काव्याविदानन्दकारिणाम् । यस्मात् सहृदयहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरत्वमेव वाक्यार्थः, ततस्तदतिशयपरिपोषिकायामतिशयोक्तावलङ्कारकृतः कृतादराः ।

यथा—

स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा[1] तिरोहिताः ।
अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः ॥१०२॥[2]

'यस्याम्' इत्यादि [कारिका का प्रतीक देकर उसकी व्याख्या करते हैं—] वह 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार कहलाता है कैसा—जिसमें 'कोई अर्थात् प्रसिद्ध लोकव्यवहार की श्रेणी को अतिक्रमण कर जाने वाला लोकोत्तर-अतिशय अर्थात् उत्कर्ष की सीमा पर पहुँचा हुआ उत्कर्ष, 'विच्छित्ति' अर्थात् सौन्दर्य से प्रतिपादन किया जाता है अर्थात् चातुर्यपूर्ण शैली से अभिव्यक्त किया जाता है । किसका [अतिशय व्यक्त किया जाता है कि]—वर्णनीय [पदार्थ] के धर्मों का अर्थात् प्रकरण में मुख्य रूप से वर्णित वस्तु के स्वभाव से सम्बन्ध रखने वाली विशेषताओं का । कैसी [विशेषताओं का] कि—'काव्यमर्मज्ञों को आनन्द देने वाली' काव्यज्ञों को आनन्द प्रदान करने वाली [विशेषताओं] का । क्योंकि सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाली [पदार्थों की] अपने स्वभाव की सुन्दरता ही काव्य का प्रयोजन है [वाक्यार्थः का अर्थ काव्यार्थः काव्य का प्रयोजन करना चाहिए] । इसलिए उस [स्वभाव-सौन्दर्य] के अतिशय की परिपोषिका 'अतिशयोक्ति' में, अलङ्कारशास्त्र के निर्माताओं का अत्यन्त आग्रह है ।

[अतिशयोक्ति का उदाहरण] जैसे —

अपने फूलों की छवि के समान मनोहर चन्द्रमा की चाँदनी से आच्छादित [दिखलाई न देने वाली] सप्तच्छद की लताएँ [उन पर गूँजते हुए] भौंरों की आवाज से अनुमान द्वारा जानी जाती थी ॥१०२॥

---

१. हारिण्यश्चन्द्रहासा पाठ ठीक नहीं था ।
२. भामह काव्यालङ्कार २, ८२ ।

यथावा—

शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूरचनाकृते तव ।
अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसम्पुटैः कराः ॥१०३॥[1]

यथा वा—

यस्य प्रोच्छ्रयति प्रतापतपने तेजस्वितामेत्यलं[2]
लोकालोकधराधरावतियशःशीतांशुबिम्बे तथा ।[3]
त्रैलोक्यप्रथितावदानमहिमक्षोणीशवंशोद्भवौ
सूर्याचन्द्रमसौ स्वयन्तु कुशलच्छायां समारोहतः ॥१०४॥

अतिशयोक्ति के उदाहरण रूप में ग्रन्थकार ने पांच पद्य उद्धृत किए हैं। परन्तु इनमें से केवल तीन ही पद्य पढ़ने में आते हैं। शेष द्वितीय तथा चतुर्थ पद्य लेख के अत्यन्त अस्पष्ट होने से बिल्कुल भी पढ़ने में नहीं आए। इसलिए मूल पाठ में उन्हें विवश होकर छोड़ देना पड़ा।

[हे प्रिये] नई-नई जौ की सूचियों [जौ की बालियों में जो नोंकें-सी निकली रहती हैं वह 'यव-सूची' कहलाती है] के समान कोमल [नवीन उदय हुए] चन्द्रमा की नई-नई निकलती हुई किरणें तुम्हारे कर्णपूर की रचना करने के लिए नाखूनों की नोक से खोंटी जा सकती हैं ॥१०३॥

अथवा जैसे—

जिस [राजा] के प्रताप रूप सूर्य के अत्यन्त उग्र रूप से तपने पर, और कीर्ति रूप चन्द्रमा के प्रकाशित होने पर, सारे संसार को प्रकाशित तथा पृथिवी को धारण करने वाले और त्रैलोक्य में प्रसिद्ध चरित्र महिमा वाले [सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी] राजाओं का उद्भव [उत्पत्ति] जिनसे हुई है ऐसे सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों मौज करने लगे हैं। अर्थात् उस राजा के प्रताप से सूर्य का, और यश से चन्द्रमा का कार्य हो जाता है इसलिए अब उन सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों को अपना कार्य करने की आवश्यकता नहीं रही है। वे दोनों मौज करने लगे हैं] ॥१०४॥

---

१. कुमारसम्भव ८, ६२।
२. तेजस्विनीमेत्यलं। ३. प्रथा।

विवक्षितपरिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये ।
वस्तुनः केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा ॥३०॥
तां साधारणधर्मोक्तौ वाक्यार्थे वा तदन्वयात् ।
इवादिरपि विच्छित्त्या यत्र वक्ति क्रियापदम् ॥३१॥

इन तीनों उदाहरणों में वर्णनीय 'सप्तच्छदद्रुम', 'कर्णोत्पल' तथा 'राजा-विशेष' के धर्मों अर्थात् शुभ्रता, कोमलत्व तथा प्रताप तथा यश का आधिक्य बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया गया है। इन तीनों उदाहरणों में से पहिला उदाहरण 'भामह' के 'काव्यालङ्कार' से लिया गया है। भामह ने अतिशयोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

१. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥
२. स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिताः ।
अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः ॥

'वक्रोक्तिजीवित' के प्रथम संस्करण में 'भामह' वाल श्लोक में चन्द्रभासा के स्थान पर 'चन्द्रहासा' छपा है। वह ठीक नहीं है। भामह का पाठ 'चन्द्रभासा' ही है। प्रथमान्त चन्द्रहासाः पाठ का अर्थ भी नहीं लगता है। वहाँ तृतीयान्त 'चन्द्रभासा' पाठ ही होना चाहिए ॥२९॥

११. उपमा अलङ्कार—

इस प्रकार अतिशयोक्ति का निरूपण कर चुकने के बाद कुन्तक ने उपमा-लङ्कार का निरूपण किया है। परन्तु इस प्रकरण को पाठ की त्रुटि के कारण प्रतीकों के आधार पर कारिकाओं का आनुमानिक निर्माण भी कठिन है। फिर भी जो बन सकता है वह ऊपर दिया गया है।

वर्णनीय पदार्थ के स्वभाव की सुन्दरता की सिद्धि के लिए, उस [सौन्दर्य] के उत्कर्ष से युक्त किसी वस्तु के साथ साम्य [प्रदर्शन करना] उपमा [अलङ्कार कहा जाता] है ॥३०॥

उस [उपमा] को साधारण धर्म का कथन होने पर अथवा [साधारण धर्म के लोप या अभाव में आक्षिप्त रूप से] वाक्यार्थ में उसका अन्वय होने से इवादि पद तथा जहाँ क्रियापद भा सुन्दरता के साथ उस [साम्य] को कहते हैं [वह भी उपमा होती है] ॥३१॥

इदानीं साम्यसमुद्भासिनो विभूषणवर्गस्य विन्यासविच्छित्तिं विचारयति—

'विवक्षितेत्यादि'। 'यत्र' यस्यां 'वस्तुनः' प्रस्तावाधिकृतस्य केनचिदप्रस्तुतेन पदार्थान्तरेण 'साम्यं' सादृश्यं 'सोपमा' उपमालंकृतिरित्युच्यते। किमर्थमप्रस्तुतेन साम्यमित्याह—'विवक्षितपरिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये'। विवक्षितो वक्तुमभिप्रेतो योऽसौ परिस्पन्दः कश्चिदेव धर्मविशेषस्तस्य मनोहारित्वं हृदयरञ्जकत्वं तस्य सिद्धिर्निष्पत्तिस्तदर्थम्। कीदृशेन पदार्थान्तरेण—'तदुत्कर्षवता'। तदिति मनोहारित्वं परामृश्यते। तस्योत्कर्षः सातिशयत्वं नाम 'तदुत्कर्षः', स विद्यते यस्य स तथोक्तस्तेन तदुत्कर्षवता। तदिदमत्र तात्पर्यम्—वर्णनीयस्य विवक्षितधर्मसौन्दर्यसिद्ध्यर्थं प्रस्तुतपदार्थस्य-धर्मिणो वा साम्यं युक्तियुक्ततामर्हति। धर्मेणेति नोक्तं केवलस्य तस्यासम्भवात्। तदेवमयं धर्मद्वारको धर्मिणोरुपमानोपमेयलक्षणयोः फलतः साम्यसमुच्चयः पर्यवस्यति।

अब 'विवक्षित इत्यादि' [कारिकाओं से आगे] सादृश्य-मूलक [साम्यसमुद्भासिनः] अलङ्कार समूह की रचना-सौन्दर्य का विचार करते हैं।

'जहाँ' जिस [अलङ्कार] में, प्रकरण में प्रतिपाद्य वस्तु [उपमेय] का किसी अप्रस्तुत अन्य पदार्थ [उपमान] के साथ 'साम्य' अर्थात् सादृश्य [वर्णित] होता है वह 'उपमा' अर्थात् उपमा नामक अलङ्कार कहलाता है। अप्रस्तुत [उपमान] के साथ किस लिए साम्य [दिखलाया जाता है] यह कहते हैं—'विवक्षित धर्म के मनोहरता की सिद्धि के लिए'। विवक्षित अर्थात् वर्णनीय जो परिस्पन्द अर्थात् कोई धर्मविशेष, उसका जो मनोहारित्व अर्थात हृदयरञ्जकत्व उसकी सिद्धि के लिए। किस प्रकार के अन्य पदार्थ के साथ कि—'उस [सुन्दरता] के उत्कर्ष से युक्त' [पदार्थ] के साथ। 'तत्' [इस सर्वनाम पद] से मनोहारित्व का ग्रहण होता है। उसका उत्कर्ष अर्थात् सातिशयत्व, 'तदुत्कर्ष' हुआ। वह जिसमें विद्यमान हो उस सौन्दर्य के अतिशय से युक्त पदार्थ के साथ। इसका यहाँ अभिप्राय हुआ कि—वर्णनीय [पदार्थ] के विवक्षित [वक्तुं इष्ट] धर्म के सौन्दर्य की सिद्धि के लिए, प्रस्तुत पदार्थ अथवा धर्मी का सादृश्य युक्तियुक्त हो सकता है। केवल धर्मके साथ सादृश्य के असम्भव होने से 'धर्म के साथ' [धर्मेण] यह [कारिका में] नहीं कहा है। इस प्रकार धर्म के द्वारा धर्मी रूप उपमान और उपमेय का इकट्ठा सादृश्य फलतः निकलता है।

[1]एवंविधामुपमां कः प्रतिपादयतीत्याह—'क्रियापदम्' इत्यादि। क्रियापदं धात्वर्थः। वाच्यवाचकसामान्यमात्रमत्राभिप्रेतम् न पुनराख्यातपदमेव। यस्मादमुख्यभावेनापि यत्र क्रिया वर्तते तदप्युपमावाचकमेव। *तदेवमुभयरूपोऽपि क्रियापरिस्पन्दस्तामुपमां वक्त्यभिधत्ते। कथम्—'विच्छित्त्या' वैदग्ध्यभङ्ग्या। विच्छित्तिविरहेणाभिधानेन तद्विदाह्लादाकत्वं न सम्भवतीति भावः। न तावत् क्रियापदं केवल तां वक्ति यावद् 'इवादिः' इवप्रभृतिरपि। तत्समर्पणसामर्थ्यसमन्वितो, यः कश्चिदेव शब्दविशेषः, प्रत्ययोऽपि, समासो बहुव्रीह्यादिरपि* विच्छित्त्या तां वक्ति। 'अपिः' समुच्चये। कस्मिन् सति—'साधारणधर्मोक्तौ', साधारणः समानो य [2]उपमानोपमेययोरुभयोरनुयायिनोर्धर्मः। कुत्र 'वाक्यार्थे वा'। परस्परान्वयसम्बन्धेन पदसमूहो वाक्यम्। तदभिधेयं वस्तु विभूष्यत्वेन विषयो गोचरं तस्याः। कथम्-'तदन्वयात्'

इस प्रकार की उपमा का प्रतिपादन कौन करता है यह 'क्रियापद' इत्यादि [प्रतीक से] कहते हैं। क्रियापद [का अर्थ] 'धात्वर्थ' है। [क्रियापद से] यहाँ वाच्य वाचक [धातु तथा धात्वर्थ] मात्र अभिप्रेत है आख्यात पद [अभिप्रेत] नहीं है। क्योंकि जहाँ गौण रूप से भी क्रिया रहती है वह भी उपमावाचक ही होता है। इस प्रकार [मुख्य और गौण] दोनों तरह की क्रिया का वैशिष्ट्य उस उपमा का प्रतिपादक होता है। कैसे—'विच्छित्ति अर्थात् चतुरतापूर्ण शैली से'। सुन्दर शैली से कहे बिना सहृदयों के लिए आनन्ददायक नहीं हो सकता है यह अभिप्राय है। केवल क्रियापद ही उस [उपमा] का प्रतिपादक नहीं होता है बल्कि इवादि [पद] भी उस [उपमा] के वाचक होते हैं। उस [उपमा] के बोधन की सामर्थ्य से युक्त जो कोई भी विशेष शब्द, प्रत्यय रूप भी और बहुव्रीहि आदि समास भी सुन्दरता के साथ उस [उपमा] का वाचक हो सकता है। [कारिका में आया हुआ] 'अपि' शब्द समुच्चय [अर्थ] में है। किसके होने पर कि—'साधारण धर्म का कथन होने पर'। साधारण अर्थात् समान जो उपमान तथा उपमेय दोनों अनुयायियों का धर्म। [उसके कथन होने पर]। कहाँ कि—'अथवा वाक्यार्थ में' [इसका समन्वय होने से]। परस्पर अन्वय रूप सम्बन्ध से युक्त पद-समूह वाक्य [कहलाता] है। उससे अभिधेय वस्तु अलङ्कार्य रूप से उस [उपमा] का विषय है। कैसे कि—'उसके साथ अन्वय होने से'। 'तत्' पद से पदार्थ का ग्रहण होता है। उन

---

१. अस्यां पाठ अधिक था।

* पुष्पाङ्कित स्थलों पर पाठ लोपसूचक चिन्ह थे।

२. साध्योपमानोपमेययोः पाठ सुसङ्गत नहीं था।

तदिति पदार्थपरामर्शः। तेषां पदार्थानां समन्वयाद् अन्योन्यमभिसम्बन्धात्। वाक्ये वहवः पदार्थाः सम्भवन्ति तत्र परस्पराभिसम्बन्धमाहात्म्यात्।

अमुख्यक्रियापदपदार्थोपमा यथा—

पूर्णेन्दोस्तव संवादि वदनं वनजेक्षणे।
पुष्णाति पुष्पचापस्य जगत्त्रयजिगीषुताम् ॥१०५॥

पदार्थों का समन्वय होने से अर्थात् एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध होने से। वाक्य में बहुत से पदार्थ होते हैं। उन सब के परस्पर सम्बन्ध के माहात्म्य से। [इवादि पद जिसके वाचक होते हैं, उपमान और उपमेय का वह सादृश्य या साम्य उपमालङ्कार कहलाता है]।

कुन्तक ने इन दो कारिकाओं में उपमा का निरूपण किया है। इनमें से पहिली कारिका तो बहुत सुगठित और ठीक कारिका है। उसमें उपमा का लक्षण हो जाता है। परन्तु दूसरी कारिका वैसी सुगठित एवं सुसङ्गत नहीं जान पड़ती है। इस उन्मेष की अन्य कारिकाओं के समान वृत्ति भाग में आए हुए प्रतीकों को जोड़कर ही उसकी रचना की गई है। इसलिए उसके पूर्वार्द्ध में 'वा' तथा उत्तरार्द्ध में 'यत्र' का समावेश केवल पाद पूर्ति के लिए ही करना पड़ा है। उसकी जो व्याख्या वृत्ति भाग में पाई जाती है वह भी अच्छी नहीं जान पड़ती है। यह कारिका और उसकी व्याख्या दोनों ही भरती की सी चीज जान पड़ती है।

अमुख्य क्रियापद पदार्थ उपमा [का उदाहरण] जैसे—

हे कमलनयने! पूर्ण चन्द्रमा के समान तुम्हारा मुख कामदेव की तीनों लोकों को जीतने की इच्छा को पुष्ट करता है ॥१०५॥

यहां 'पूर्णेन्दोः संवादि तब बदनं' 'तुम्हारा मुख पूर्ण चन्द्रमा से मिलता हुआ है यह उपमालङ्कार है। इसमें 'संवादि' मिलता हुआ यह अमुख्य क्रिया पद है, उसके द्वारा 'बदनं' की समानता दिखलाई गई है। अतः यह 'अमुख्य क्रियापद पदार्थोपमा' का उदाहरण है।

---

१. पूर्व संस्करण में निम्नलिखित पाँच पंक्तियां यहां अधिक दी गई थी—
तदेवं तुल्येऽस्मिन् वस्तुसाम्ये सति उपमोत्प्रेक्षावस्तुनोः पृथक्त्वभित्याह—
उत्प्रेक्षा वस्तुसाम्येऽपि तात्पर्यगोचरो मतः ॥
तात्पर्यं पदार्थव्यतिरिक्तवृत्ति वाक्यार्थजीवितभूतं वस्त्वन्तरमव गोचरा विषयरत द्विदान्तः।

इनका सम्बन्ध उत्प्रेक्षालङ्कार के साथ प्रतीत होता है और इनका पाठ भी दूषित है। अतः हमने टिप्पणी में रख दिया है।

इवादि प्रतिपाद्यपदार्थोपमोदाहरणम् । यथा—

[1]*चुम्बन् कपोलतलमुत्पुलकं प्रियायाः*
स्पर्शोल्लसन्नयनमामुकुलीचकार ।
आविर्भवन्मधुरनिद्रमिवारविन्द-
मित्रस्पृशास्तमितमुत्पलमुत्पलिन्याः ॥१०६॥

तथाविधवाक्योपमोदाहरणं यथा—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः ॥१०७॥

आख्यातपदप्रतिपाद्यपदार्थोपमोदाहरणं यथा—

ततोऽरुणपरिस्पन्द । इत्यादि ॥१०८॥

[इवादि] से प्रतिपाद्य पदार्थोपमा का उदाहरण जैसे—

[अरविन्द-मित्र अर्थात्] सूर्य के स्पर्श से [बन्द होते हुए] कमलिनी के [नेत्र स्थानीय] कमल के समान [नायक ने] प्रियतमा के पुलकित कपोल तल को चुम्बन करके स्पर्श से आनन्दमग्न उसके नेत्रों को मधुर निद्रा से अभिभूत-सा करके मुकुलित [आनन्दातिरेक से बन्द-सा] कर दिया ॥१०६॥

उसी प्रकार की [इवादि से प्रतिपाद्य] वाक्योपमा का उदाहरण जैसे—

[लाल चन्दन का अङ्गराग लगाए और]कन्धे पर लम्बा हार डाले हुए पाण्ड्य देश का यह राजा [प्रभातकालीन सूर्य की किरणों से लाल शिखर वाले और झरनों के प्रवाह से युक्त हिमालय के समान शोभित हुआ ॥१०७॥

यह श्लोक रघुवंश ६,६० से लिया गया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥

पूर्व संस्करण में इन दोनों श्लोकों को इवादि अप्रतिपाद्य पदार्थोपमा के उदाहरण के स्थान पर रखा गया था । परन्तु उसमें इव का प्रयोग स्पष्ट ही पाया जाता है । अतः अशुद्ध था । पाण्डुलिपि की अस्पष्टता से यह भूल हो गई थी ।

आख्यात-पद से प्रतिपाद्य पदार्थोपमा का उदाहरण जैसे—

[उदाहरण सं० १, १९ पर पूर्वोद्धृत] ततोऽरुणपरिस्पन्द । इत्यादि ॥११८॥

इसमें 'दध्रे' इस आख्यात-पद से साम्य का वर्णन किया गया है अतः आख्यात प्रतिपाद्य पदार्थोपमा का उदाहरण है ।

---

१. 'चुम्बत्कपोलं' पाठ अशुद्ध था ।

[1]तथाविधवाक्योपमोदाहरणं । यथा—

मुखेन सा केतकपत्रपाण्डुना कृशाङ्गयष्टिः परिमेयभूषणा ।
स्थिताल्पतारां तरुणेन्दुमण्डलां विभातकल्पां रजनीं व्यडम्बयत् ॥१०९॥

इत्यादि ।

अप्रतिपाद्यपदार्थोदाहरणं यथा—

निपीयमानस्तबका शिलीमुखैः । इत्यादि ॥११०॥

आदिग्रहणात् इवादिव्यतिरिक्तेनापि [2]यथादिशब्दान्तरेणोपमाप्रतीतिर्भवतीत्याह ।

यथा—

पूर्णेन्दुकान्तिवदना नीलोत्पलविलोचना ॥१११॥

उसी प्रकार की [अर्थात् आख्यात-पद-प्रतिपाद्य] वाक्यार्थोपमा का उदाहरण जैसे—

दुबली देह वाली और परिमित आभूषणों को धारण करते हुए, केतकी के पत्रों के समान श्वेत वर्ण के मुख से युक्त वह, पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल से युक्त अल्प तारों वाली प्रभातकालीन रात्रि का अनुकरण कर रही थी ॥१०९॥

[इवादि से] अप्रतिपाद्य पदार्थोपमा का उदाहरण—

[उदाहरण सं० १, ११६ पर पूर्वोद्धृत] निपीयमास्तवका शिलीमुखैः । इत्यादि ।

यहां 'व्यडम्बयत्' इस क्रिया पद के द्वारा वाक्योपमा बनती है। उसमें उपमा-वाचक इव आदि किसी पद का प्रयोग नहीं है । अतः इव आदि से अप्रतिपाद्य पदार्थोपमा का उदाहरण है । इस श्लोक पर निम्नलिखित श्लोक की प्रतिच्छाया स्पष्ट दिखलाई दे रही है ।

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ रघुवंश ३,२ ।

'आदि' शब्द से यह सूचित किया ै कि इवादि शब्द के बिना भी, [वाचक लुप्ता अथवा समास प्रत्यय आदि द्वारा] और 'यथा' आदि अन्य शब्दों के द्वारा भी [आर्थी] उपमा की प्रतीति हो सकती है । जैसे—

पूर्णचन्द्र के समान मुख वाली, और नीलकमल के समान नेत्र वाली ॥१११॥

[इन दोनों में इवादि शब्दों के बिना उपमा प्रतीत होती है । यह समासगत उपमा के उदाहरण है]।

---

१. तथाविधत्वाद्वाक्योपमा । २. यथादिशब्दोत्तरेण ये दोनों पाठ अशुद्ध थे ।

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननम् [मालती माधव १,२६]॥११२॥
माञ्जिष्ठीकृतपट्टसूत्रसदृशः [बालरामायण ३, १०] ॥११३॥
रामेण मुग्धमनसा वृषभध्वजस्य [बा० रा० ३, ८०] ॥११४॥
महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिः [कुमारसम्भव १, २७] ॥११५॥

***अर्थान्तरन्यासभ्रान्तिः ।**

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं ॥११२॥

उसके बाद बालरामायण से निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

माञ्जिष्ठीकृतपट्टसूत्रसदृशः पादानयं पुञ्जयन्
यात्यस्ताचलचुम्बिनीं परिणतिं स्वैरं ग्रहग्रामणीः ।
वात्यावेगविवर्तिताम्बुजरजश्छत्रायमाणः क्षणं
क्षीणज्योतिरितोऽप्ययं स भगवानर्णोनिधौ मज्जति ॥११३॥

इसमें 'माञ्जिष्ठीकृतपट्टसूत्रसदृशः' में समासगत उपमा है । 'मंजीठ के रंग में रंगे हुए पट्टवस्त्र के समान सूर्य यह उसका अर्थ है' । वक्रोक्तिजीवित के पूर्व संस्करण में 'माञ्जिष्ठीकृत' के स्थान पर 'माञ्छिष्ठीकृत' पाठ था जो ठीक नहीं था । इसके बाद बालरामायण के ३, ८० श्लोक को दिया है । पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—

रामेण मुग्धमनसा वृषलाञ्छनस्य यज्जर्जरं धनुरभाजि मृणालभञ्जम् ।
तेनामुना त्रिजगदर्पितकीर्तिभारो रक्षःपतिर्ननु मनाङ् न विडम्बितोभूत् ॥११४॥

इसमें 'मृणालभञ्जं अभाजि' यह अंश उपमा का उदाहरण है । नवीन आचार्यों ने इसे कर्मगत 'णमुल-प्रत्यय-मूलक' उपमा माना है । इसके बाद कुन्तक ने कुमारसम्भव १,२७ श्लोक दिया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥११५॥

इस अन्तिम श्लोक में साधारणतः 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार प्रतीत होता है । परन्तु कुन्तक उसको 'अर्थान्तरन्यास' को भ्रान्ति कहते हैं । इसको भ्रान्ति सिद्ध करने के लिए उन्होंने क्या हेतु दिया है यह नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि यहाँ का पाठ लुप्त है । केवल 'अर्थान्तरन्यासभ्रान्तिः', इतना पढ़ने में आया है । जिससे यह प्रतीत होता है कि कुन्तक ने इसमें अर्थान्तरन्यास मानने वालों के मत का खण्डन कर उसको भ्रान्तिमात्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । इसके आगे दो उदाहरण और

---

*पाठ लोपसूचक चिन्ह ।

*इत्याकर्णितकालनेमिवचनो—

*इतीदमाकर्ण्य तपस्विकन्या—

समानवस्तुन्यासोपनिबन्धना[1] प्रतिवस्तूपमापि न पृथक् वक्तव्यतामर्हति, पूर्वोदाहरणेनैव समानयोगक्षेमत्वात्।

[2]'समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ॥११६॥

दिए हैं। ये सभी उदाहरण ग्रन्थकार ने केवल प्रतीकमात्र से उद्धृत किए हैं। और उनका समन्वय आदि भी नहीं किया है।

इत्याकर्णितकालनेमिवचनो

इतीदमाकर्ण्य तपस्विकन्या

१२. प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार—

उपमालङ्कार के प्रारम्भ में कुन्तक ने कहा था कि 'इदानीं साम्यसमुल्लासिनो विभूषणवर्गस्य विन्यासविच्छित्ति विचारयति' अर्थात् सादृश्यमूलक अलङ्कारों की रचना शैली का विचार करते हैं। इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि कुन्तक सादृश्य मूलक सब अलङ्कारों को अलग-अलग मानने का आवश्यकता नहीं समझते हैं अपितु उनमें से अधिकांश का उपमा में ही अन्तर्भाव करने के पक्ष में है। इसलिए उपमा का विवेचन करने के बाद अब वह सादृश्य-मूलक 'प्रतिवस्तूपमा' का विचार प्रारम्भ करते हैं। उसको अलग अलङ्कार न मानकर उपमा के अन्तर्गत करते हैं।

समान वस्तु का विन्यास करने वाली 'प्रतिवस्तूपमा' भी अलग [अलङ्कार] कहने योग्य नहीं है। पूर्व उदाहरणों के समान योगक्षेम होने से।

उसके बाद कुन्तक ने 'प्रतिवस्तूपमा' के भामह-कथित लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत कर उनकी विवेचना की है जो निम्न प्रकार है—

समान वस्तु के रख देने पर 'यथा' 'इव' आदि [उपमावाचक शब्दों] के कहे बिना भी गुणों का साम्य प्रतीत हो जाने से 'प्रतिवस्तूपमा' कहलाती है ॥११६॥

---

*पाठ लोप। १. निबन्धनं। २. भामह काव्यालङ्कार २, ३४।

साधुसाधारणत्वादिर्गुणोऽत्र व्यतिरिच्यते ।
स साम्यमापादयति विरोधेऽपि तयोर्यथा ॥११७॥
कियन्तः सन्ति गुणिनः साधुसाधारणश्रियः ।
स्वादुपाकफलानम्राः कियन्तो वाऽध्वशाखिनः' ॥११८॥

अत्र समानविलसितानामुभयेषामपि कविविवक्षित—'विरलत्व'—लक्षण-साम्यव्यतिरेकि न किञ्चिदन्यन्मनोहारि जीवितमतिरिच्यमानमुपलभ्यते ॥३१॥

तदेवं प्रतिवस्तूपमायाः प्रतीयमानोपमायामन्तर्भावोपपत्तौ सत्यामिदानीं उपमेयोपमादेरुपमायामन्तर्भावो विचार्यते—

यहाँ [प्रतिवस्तूपमा में अगले उदाहरण में प्रदर्शित] साधुत्व या साधारणश्री [अर्थात् सज्जन पुरुष भी जिस सम्पत्ति का भोग कर सके] आदि गुण विशेष रूप से प्रतीत होता है और वह [फूलों से झुके हुए वृक्ष तथा गुणी पुरुष दोनों का चेतन और अचेतद रूप] विरोध होने पर भी उनके [साधु-साधारण-लक्ष्मीकत्व रूप] समानता का सम्पादन करता है ॥११७॥ जैसे—

अन्य सज्जन पुरुष भी जिससे लाभ उठा सकें इस प्रकार की लक्ष्मी वाले धनिक पुरुष [गुणिनः] इस संसार में कितने हैं । अथवा स्वादिष्ट परिपाक वाले फलों से [लदे होने के कारण] झुके हुए [अर्थात् जिनके स्वादिष्ट फलों को तोड़कर सब लोग खा सकें ऐसे] रास्ते के किनारे स्थित वृक्ष कितने हैं । [बहुत विरले] ॥११८॥

यहाँ समान सौन्दर्य वाले [साधु साधारणश्रियः गुणिनः तथा स्वादुफलानम्राः शाखिनः] इन दोनों के कविविवक्षित 'विरलत्व' रूप 'साम्य' के अतिरिक्त और कोई प्राणभूत मनोहर तत्व प्रतीत नहीं होता है ॥३१॥

१३. उपमेयोपमा अलङ्कार—

इसलिए कुन्तक इस 'साम्य-मूलक' 'प्रतिवस्तूपमा' को अलग अलङ्कार न मानकर 'उपमा का ही भेद सिद्ध करना चाहते हैं । वास्तव में तो उनका सूक्ष्म भेद सहृदय संवेद्य है तभी अन्य आचार्यों ने उनको अलग-अलग माना है । परन्तु कुन्तक समानता के आधार पर साम्यमूलक अनेक अलङ्कारों का उपमा के भीतर ही अन्तर्भाव करने के पक्ष में हैं । इसलिए आगे वे उपमेयोपमा और तुल्ययोगिता का भी उपमा में ही अन्तर्भाव दिखलाते हैं ।

इस प्रकार 'प्रतिवस्तूपमा' का प्रतीयमान उपमा में अन्तर्भाव सिद्ध हो जाने पर अब 'उपमेयोपमा' आदि के भी उपमा में अन्तर्भाव का विचार करते हैं ।

---

१. भामह का० अ० २, ३५-३६ ।

सामान्या न व्यतिरिक्ता लक्षणानन्यथास्थितेः ।
[1][उपमेयोपमा नाम साम्यमात्रावलम्बिनी] ॥

तत्स्वरूपाभिधानं लक्षणं तस्यानन्यथास्थितेः अतिरिक्तभावेनानवस्थानात् ।

तथैव तुल्ययोगिता सा भवत्युपमा स्फुटा[2] ॥३२॥

[3]*जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।*
गुरुप्रदेयाधिकनिस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥११८॥

[सादृश्यमात्र का अवलम्बन करने वाली 'उपमेयोपमा' भी 'उपमा' के] समान ही है अलग नहीं है । लक्षण के भिन्न न होने से ।

उसके स्वरूप का कथन करना लक्षण है । उसके भिन्न रूप से स्थित न होने से [अर्थात् उपमा के समान सादृश्यमात्र पर अवलम्बित होने से 'उपमेयोपमा' अलग अलङ्कार नहीं है] अपितु वह उपमा [के ही अन्तर्गत] है ।

'उपमेयोपमा' का लक्षण 'भामह' ने इस प्रकार किया है—

उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत् ।
उपमेयोपमां नाम ब्रुवते तां यथोदिताम् ॥३७॥
सुगन्धि नयनानन्दि मदिरामदपाटलम् ।
अम्भोजमिव वक्त्रं ते त्वदास्यमिव पङ्कजम् ॥३८॥ का० ३, ३७, ३८।

इसमें इन्हीं उपमान तथा उपमेय का पर्याय से उपमेय उपमान भाव हो जाता है । जैसे 'तुम्हारा मुख कमल के समान है' और 'कमल तुम्हारे मुख के समान है' । इनमें पहिले स्थान पर कमल उपमान है और दूसरे स्थान पर वही उपमेय बन जाता है । यह भेद केवल नाम-मात्र का भेद है इसलिए कुन्तक 'उपमेयोपमा' को अलग अलङ्कार न मानकर उपमा के ही अन्तर्गत मानते हैं ।

१४. तुल्ययोगिता अलङ्कार—

इसके बाद 'तुल्ययोगिता' का विचार प्रारम्भ किया है ।

'तुल्ययोगिता' [की स्थिति] भी उसी प्रकार की है । और वह स्पष्ट रूप से उपमा ही होती है । जैसे—

अयोध्यावासी लोगों ने, गुरु को देने वाले धन से अधिक की इच्छा न करने वाले याचक [कौत्स मुनि] तथा याचक की इच्छा से भी अधिक प्रदान करने वाले राजा [रघु] दोनों ही की उदारता की प्रशंसा की ॥११८॥

---

१. कोष्ठगत पाठ हमने बढ़ाया है । २. 'साभवत्युपमितिः स्फुटम्' पाठ एक अक्षर अधिक हो जाने के कारण अशुद्ध था । ३. रघुवंश ५, ३१ ।

[1]अत्र साम्यातिरेक्युभयमपि वर्णनीयतया मुख्यं वस्तु ।

[2]न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया ।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥१२०॥

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः ।
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृथ क्षितिम् ॥१२१॥

उक्तलक्षणे तावदुपमयामान्तर्भावस्तुल्ययोगितायाः[3] ।

यहाँ [अभिनन्दनीयत्व रूप] अत्यधिक समानता से युक्त [रघु तथा कौत्स] दोनों ही वर्णनीय होने से मुख्य वस्तु हैं । [उनमें 'अभिनन्द्यसत्व' रूप एक धर्म का सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलङ्कार है] ।

इसके बाद तुल्ययोगिता के भामहकृत लक्षण तथा उदाहरणों को कुन्तक ने इस प्रकार उद्धृत किया है—

[न्यून] कम गुण वाले [उपमेय] का [विशिष्ट] अधिक गुण वाले [उपमान] के साथ गुणों का साम्य प्रतिपादन करने की इच्छा से [उन दोनों में] तुल्य कार्य या तुल्य क्रिया के योग से तुल्ययोगिता [नामक अलङ्कार] होती ॥१२०॥ जैसे—

शेषनाग, हिमालय और तुम [राजा] महान् [विपुल आकार वाले तथा महत्त्वशाली] गुरु [भूभारोद्वहनसमर्थ और प्रतिष्ठित] एवं स्थिर [अचल और दृढ़प्रतिज्ञ] हैं । क्योंकि मर्यादा का अतिक्रमण न करते हुए चलायमान [कम्पायमान और सामाजिक मर्यादा में च्युत होती हुई] पृथिवी को धारण [धारण तथा पालन] करते हैं ॥१२१॥

तुल्ययोगिता के ये लक्षण तथा उदाहरण भामह के काव्यालङ्कार से उद्धृत किए गए हैं । शेष हिमगिरि इत्यादि उदाहरण का यह श्लोक ध्वन्यालोक पृष्ट ४६० पर भी उद्धृत हुआ है ।

[तुल्ययोगिता का] उक्त लक्षण होने पर तुल्ययोगिता का उपमा में अन्तर्भाव हो सकता है ।

---

१. पूर्वसंस्करण में इसके पूर्व निम्न श्लोक और दिया है परन्तु वह अतिशयोक्ति का उदाहरण होने से यहां असङ्गत है—

उभौ यदि व्योनिम्न पृथक्-प्रवाहावाकाशङ्गापयसः पतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तालतमस्य वक्षः ॥११६॥

२. भामह का काव्यालङ्कार ३, २७-२८

३. तावदुपमान्तर्भावस्तुल्ययोगितायाः ।

[1]यै र्वा दृष्टा न वा दृष्टा मुषिताः सममेव ते ।
हृतं हृदयमेतेषामन्येषां चक्षुषः फलम् ॥१२२॥
*यत्काव्यार्थनिरूपणं प्रियकथालापा रहोऽवस्थितिः
कण्ठान्तं मृदुगीतमादृतसुहृद् ःखान्तरावेदनम्* ॥१२३॥

एवमनन्वयः—

यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता ।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥१२४॥

जिन्होंने [उस सुन्दरी को] देखा और जिन्होंने नहीं देखा वे दोनों समान रूप से ठगे गए । [जिन्होंनें देखा] उनका तो [उसने हृदय छीन लिया [और जिन्होंने नहीं देखा उन] दूसरों के नेत्रों का फल [हरण कर लिया गया] ॥१२२॥

यहाँ रमणी का सौन्दर्य ही प्रस्तुत है उसको देखने-न देखने वाले दोनों अप्रस्तुत हैं । उनमें 'मुषितत्व' रूप एक धर्म का सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलङ्कार है ।

जो काव्य के अर्थों का निरूपण करना, प्रिय के से कथावार्ता करना, एकान्त में बैठना, गले तक [ही रहने वाला जिसे और कोई न सुन सके ऐसा] सुन्दर गीत का गुनगुनाना] अथवा किसी प्रिय [आदृत] मित्र से अपने दुःख की कहानी कहना ॥१२३॥

श्लोक अपूर्ण है इसलिए आगे उसके शेष भाग का क्या अर्थ है यह नहीं कहा जा सकता है । वह कदाचित तुल्ययोगिता का ही उदाहरण होगा । इसलिए कुन्तक ने यहाँ उद्धृत किया है ।

१५. अनन्वय अलङ्कार—

इसी प्रकार 'अनन्वय' [भी उपमा के अन्तर्गत ही] है ।

इसके बाद कुन्तक ने अनन्वयालङ्कार का निरूपण किया है । भामह के अनन्वय के लक्षण तथा उदाहरण को यहाँ कुन्तक ने उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

जहाँ उसके सदृश और कोई नहीं है इसको कहने के लिए उसी के साथ उसकी उपमानता और उपमेयता दोनों हो जावें [अर्थात् वह स्वयं ही अपना उपमान हो और वही उपमेय हो] उसको अनन्वय [अलङ्कार] कहते हैं ॥१२४॥

---

*पाठ लोप सूचक चिन्ह ।

[1]इसके पूर्व 'निर्दनमप्येवंप्रायमेव' यह पाठ पूर्व संस्करण में दिया था । परन्तु निदर्शना का वर्णन आगे पृ० ४४६ पर किया है इसलिए यहां यह पाठ असङ्गत था ।

ताम्बूलरागवलयं स्फुरद्दशनदीधिति ।
इन्दीवराभनयनं तवेव वदनं तव ॥१२५॥ भामह का० ३,४५,४६।

॥तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत् सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम्[1] ॥१२६॥

॥हेलावभग्नहरकार्मुक एव सोऽपि ॥१२७॥

॥कल्पितोपमानम् ।॥

तत्पूर्वानुभवे भवन्ति लघवो भावाः शशाङ्कादयः
तद्वक्त्रोपमितेः परं परिणमच्चेतो रसायाम्बुजात् ।
एवं निश्चिनुते मनस्तव मुखं सौन्दर्यसारावधि
बध्नाति व्यवसायमेतुमुपमोत्कर्षं स्वकान्त्या स्वयम् ॥१२८॥

पानों की लाली से युक्त, चमकते हुए दातों की किरणों से शोभित, कमल के से नेत्रों वाला तुम्हारा मुख तुम्हारे मुख के ही समान है ॥१२५॥

[प्रातःकाल के समय] सुन्दर और एक साथ खुलने से कोमल कनीनिका [आँख की पुतली] जिसके भीतर इधर-उधर घूम रही है इस प्रकार के तुम्हारे [रघु के] नेत्र और मँडराते हुए भौंरे से युक्त कमल का फूल दोनों तुरन्त एक दूसरे के तुल्य प्रतीत हो रहे हैं ॥१२६॥

अनायास शिव-धनुष को तोड़ डालने वाला यह वह [राम] भी ॥१२७॥

ये दोनों श्लोक 'अनन्वय' के उदाहरण नहीं हैं । सम्भवतः कुछ विशेष विवेचना करने के लिए उन्हें यहां उद्धृत किया गया है । परन्तु वह विवेचन ग्रन्थकार ने नहीं किया है । अतः उद्धृत किए जाने का प्रयोजन स्पष्ट नहीं होता है ।

]अनन्वय] कल्पितौपमान [उपमारूय] है ।

तुम्हारे मुख को पहली बार देखने पर [उसके सामने] चन्द्रमा आदि [उपमानभूत समस्त सुन्दर पदार्थ] हलके पड़ जाते हैं [अर्थात् सौन्दर्य के विषय में तुम्हारे मुख को बराबरी करने योग्य प्रतीत नहीं होते हैं] उसके बाद रस के [विषय में समानता के] लिए कमल से उसकी तुलना करने के बाद [इस सरसता के विषय में भी कमल आदि कोई अन्य उपमान तुम्हारे मुख की बराबरी नहीं कर सकता है । इस प्रकार का पक्का निश्चय हो जाने से] परिपक्व [हुआ मेरा] चित्त इस निश्चय पर पहुँचता है कि—सौन्दर्य-तत्त्व की चरम सीमा रूप तुम्हारा मुख अपने सौन्दर्य की समानता के उत्कर्ष को स्वयं ही प्राप्त कर सकता है । [अर्थात् चन्द्रमा या कमल आदि तुम्हारे मुख की बराबरी न सौन्दर्य में और न रसादि में कर सकते हैं । तुम्हारे मुख की बराबरी केवल तुम्हारा मुख ही कर सकता है ।] ॥१२८॥

॥पाठ लोपसूचक चिन्ह । १. रघुवंश ५, ६८ ।

तदेवमभिधावैचित्र्यप्रकाराणामेवंविधं वैश्वरूप्यम्, न पुनर्लक्षणभेदानाम् ॥३२॥

ॐपरिवृत्तिरप्यनेन न्यायेन पृथङ् नास्तीति निरूप्यते ।

विनिर्वतनमेकस्य यत् तदन्यस्य वर्तनम् ।
न परिवर्तमानत्वादुभयोरत्र पूर्ववत् ॥३३॥

तदेवं परिवृत्तेरलङ्करणत्वमयुक्तमित्याह 'विनिवर्तनमित्यादि' । यदेकस्य पदार्थस्य विनिवर्तनं आकारणं तदन्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्य परस्य वर्तनं तदुपनिबन्धनं तदलङ्करणं न भवति । 'कस्मात्, उभयोः परिवर्तमानत्वात्', मुख्यत्वेनाभिधीयमानत्वात् । कथम्, 'पूर्ववत्', यथापूर्वम् ।

इस प्रकार के अनन्वयलङ्कार को कुन्तक कल्पितोपमान उपमा मानते हैं। मुख तो वस्तुतः उपमेय है। उपमान नहीं पर उसके समान कोई अन्य उपमान न मिलने से मुख में ही उपमानना की कल्पना कर ली जाती है। इसलिए कुन्तक 'अनन्वय' को कल्पितोपमान-उपमा' रूप ही मानते हैं। अलग अलङ्कार नहीं मानते है।

इस प्रकार [इन सादृश्यमूलक अलङ्कारों में] कथन शैली के भेद के कारण ही भेद माना जा सकता है लक्षण के भेद से नहीं [क्योंकि उनका मुख्य लक्षण 'सादृश्य' सब जगह तुल्य है। इस लिए उस सादृश्य की दृष्टि से सादृश्य मूलक सब ही अलङ्कार उपमा के ही अन्तर्गत मानने चाहिए अलग नहीं] ॥३२॥

१६. परिवृत्ति अलङ्कार—

इसी युक्तिक्रम से 'परिवृत्ति' भी अलग नहीं है [उपमा के ही अन्तर्गत है] इसका प्रतिपादन करते हैं—

जो एक [वस्तु] को लौटा देना [वापिस बुला लेना] उससे भिन्न दूसरी [वस्तु] को ले लेना है [वह परिवृत्ति अलङ्कार कहलाता है। परन्तु वह [उपमेयोपमा अनन्वय आदि] पूर्व [कहे अलङ्कारों] के समान दोनों का [सादृश्य मूलक] परिवर्तन मात्र होने से [पृथक् अलङ्कार] नहीं है।

इस प्रकार परिवृत्ति का [पृथक्] अलङ्कार मानना उचित नहीं है यह कहते हैं। 'विनिवर्तन' इत्यादि [कारिका में]। जो एक पदार्थ को हटा देना वापिस 'बुला लेना' और उसके भिन्न अन्य के 'ग्रहण करने' का वर्णन करना है वह कोई अलङ्कार नहीं होता है। क्योंकि दोनों के परिवर्तमान अर्थात् मुख्यत्वेन अभिधीयमान होने से। कैसे कि—'पूर्व के समान' पहिले [उपमेयोपमा आदि] के समान।

ॐपाठ लोपसूचक चिन्ह ।

प्रत्येकं प्राधान्यात् नियमानिश्चितेश्च न क्वचित् कस्यचिदलङ्करणम्। तद्वदिहापि। न च तावन्मात्ररूपतया तयोः परस्परविभूषणभावः प्राधान्य-निवर्तनप्रसङ्गात्। रूपान्तरनिरोधेषु पुनः साम्यसद्भावे भवत्युपमितिरेषा चालंकृतिः समुचिता उपमा पूर्ववदेव।

यथा—

[1]सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव॥१२६॥

[परिवृत्ति के अलङ्कार न होने का दूसरा कारण यह भी है कि परिवर्तमान दोनों में से] प्रत्येक का प्राधान्य होने से और [गुण प्रधान भाव का] नियम निश्चित न होने से [उसके विना] कोई कहीं किसी का अलङ्कार नहीं होता है। [अर्थात् जहां गुण-प्रधान-भाव निश्चित होता है वहीं एक को अलङ्कार्य या अलङ्कार कहा जा सकता है]। इसी प्रकार यहाँ भी [समझना चाहिए]। केवल उनके स्वरूप के कथन मात्र से दोनों परस्पर अलङ्कार भाव नहीं होता है। [क्योंकि अलङ्कार्य अलङ्कार भाव मान लेने पर अलङ्कार की गौणता हो जाने से उन दोनों का] प्राधान्य नहीं रहेगा। और [उन दोनों के भेदक] अन्य धर्मों के दब जाने पर समानता के होने से पूर्व [उपमेयोपमादि] के समान ही यह अलङ्कार भी उपमा ही हो जाता है।

जैसे—

[हठात् भोग करने से] सहसा घबड़ा न जाय इसलिए उस महाबाहु [अज] ने नवीन प्राप्त की हुई पृथिवी [के राज्य] को नवविवाहिता पत्नी के समान दया पूर्वक [शनैः शनैः] भोग किया था॥१२६॥

कुन्तक की दृष्टि से यह परिवृत्ति अलङ्कार का उदाहरण नहीं अपितु उपमा का उदाहरण है। यहां से उद्धृत करने का प्रयोजन उसमें उपमा का प्रतिपादन करना ही है। भामह ने परिवृत्ति के लक्षण तथा उदाहरण इस प्रकार दिखलाए हैं—

विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुना।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा॥४१॥
प्रदाय वित्तमर्थिभ्यः स यशोधनमादित।
सतां विश्वजनीनामिदमस्खलितं व्रतम्॥४२॥

—भामह० ३, ४१, ४२।

---

१. यह श्लोक रघुवंश के अष्टम सर्ग का सातवाँ श्लोक है। पूर्व संस्करण में पाठ अशुद्ध दिया था। 'सदयं भीमभुजं महीभुजा' यह प्रथम चरण का पाठ दिया था इसमें एक अक्षर अधिक हो जाता है। तृतीय चरण को 'अभिरोपयति स्म मेदिनीं' यह पाठ था। वह भी अशुद्ध था। हमने रघुवंश के अनुसार शुद्ध पाठ दिया है।

❀तच्च विषयान्तरपरिवर्तनं धर्मान्तरपरिवर्तनं चेति द्विविधम् ।❀

विषयान्तरपरिवर्तनोदाहरणं यथा—

स्वल्पं जल्प बृहस्पते सुरगुरो नैषा सभा वज्रिणः ॥१३०॥

धर्मान्तरपरिवर्तनोदाहरणं यथा—

[1]विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
कुशांकुरादानपरिक्षतांगुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥१३१॥

अत्र गौर्याः करकमललक्षणो धर्मः परिवर्तितः ।

कुन्तक ने परिवृत्ति के 'विषयान्तरपरिवर्तन' तथा 'धर्मान्तरपरिवर्तन' रूप दो भेद भी किए जान पड़ते हैं। उनमें से पहिले अर्थात् विषयान्तर परिवर्तन का निम्न उदाहरण दिया है।

और वह १ विषयान्तर परिवर्तन तथा २ धर्मान्तर परिवर्तन रूप इस प्रकार दो तरह की होती है।

विषयान्तर परिवर्तन का उदाहरण जैसे—

❀अरे देवताओं के गुरु बृहस्पति [बहुत बकवाद न करो] थोड़ा बोलो, यह इन्द्र की सभा नहीं [जहाँ तुम ही सबसे बड़े पण्डित समझे जाओ] ॥१३०॥

यहाँ सभा रूप विषय का परिवर्तन होने से ही काचित् इसको विषयान्तर-परिवर्तन का उदाहरण कहा है।

धर्मान्तर परिवर्तन का उदाहरण जैसे—

पार्वती ने [तपस्या के लिए बैठकर] अपने राग रहित अधर से और स्तनों के अङ्गराग से लाल हो जाने वाली [खेलने की] गेंद से हटाकर [तपस्या काल में] कुशांकुरों के लाने के कारण घायल अँगुलियों वाले अपने हाथ को जपमाला का प्रेमी बना दिया ॥१३१॥

यहाँ पार्वती का करकमल रूप धर्म परिवर्तित हो गया है।

जो हाथ पहिले शैशव में अधिकतर अपने होंठों पर पीछे गेंद खेलते समय गेंद पर रहता था वह हाथ अब तपस्या के समय जपमाला का प्रेमी हो गया है। इस प्रकार का परिवर्तन हाथ में होने से यह धर्मान्तर परिवर्तन का उदाहरण है।

---

*इस स्थान पर पाठलोप चिन्ह पूर्व संस्करण में दिए थे। आगे दो भेदों के उदाहरण दिए गए हैं। अतः प्रसङ्गानुसार 'तच्च चेति द्विविधम्' यह पंक्ति हमने जोड़ दी हैं। १. कुमारसम्भव ५, १६।

क्वचिदेकस्यैव धर्मिणः समुचितस्वसंवेदिधर्मावकाशे धर्मान्तरं परिवर्तते ।

यथा—

[1]*धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम् ॥१३२॥*

क्वचिद् बहूनामपि धर्मिणां परस्परस्पर्धिनां पूर्वोक्ताः सर्वे विपरिवर्तन्ते । तथा च लक्षणकारेणात्रैवोदाहरणं दर्शितम् ।

यथा—

[2]*शस्त्रप्रहारं ददता भुजेन तव भूभुजाम् ।*
चिरार्जितं हृतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम् ॥१३३॥

कहीं एक ही धर्मी का [किसी समय विशेष में] उचित और स्वयं अनुभूत धर्म के हट जाने पर [उसके स्थान पर] दूसरा धर्म बदल [कर आ] जाता है । जैसे—

पूरा श्लोक इस प्रकार है—

किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम् ।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥

[हे पार्वती ! तुमने यौवन में ही आभूषणों को छोड़कर] वृद्धावस्था में शोभा देने वाला यह वल्कल वस्त्र [कैसे-क्यों] धारण कर लिया ? [बताओ यदि कभी सन्ध्याकाल में खिले हुए चन्द्रमा तथा तारों से शोभित रात्रि उषःकाल के रूप में परिवर्तित हो जाय तो क्या हो ।] ॥१३२॥

कहीं एक दूसरे से स्पर्धा करने वाले अनेक धर्मियों के पूर्वोक्त [धर्म, विषय आदि] सब परिवर्तित हो जाते हैं । जैसा कि लक्षणकार ने [यहाँ लक्षणकार से दण्डी का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि आगे जो उदाहरण दिया गया है वह दण्डी के काव्यादर्श २,३५६ से ही दिया गया है] इस विषय में उदाहरण दिया है ।

जैसे—

[हे राजन्] तुम्हारे बाहु ने [शत्रु] राजाओं को प्रहार देकर [अर्थात् उनके ऊपर प्रहार करके] उनके बहुत दिनों के उपार्जित कुमुद के समान उज्ज्वल यश का अपहरण कर लिया है ॥१३३॥

---

१. कुमारसम्भव ४, ४४ ।
२. दण्डी काव्यादर्श २, ३५६ ।

**निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय[1] ॥१३४॥*

अत्र परिवर्तनीयपदार्थानां प्रतीयमानत्वम् ।

[2]निदर्शनाप्येवं प्रायैव—

**क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात् ।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना ॥१३५॥
अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति गच्छति ।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन् नरान्[3] ॥१३६॥*

कुलपति [वसिष्ठ] के द्वारा बतलाई हुई कुटिया में केवल अपनी पत्नी के साथ कुशों के बिस्तर पर सोकर उन के शिष्यों के अध्ययन से जिसकी समाप्ति विदित हुई ऐसी रात्रि को [राजा दलीप ने] बिता दिया ॥१३४॥

यहाँ [राजवैभव को छोड़कर तापस व्रत के ग्रहण रूप] परिवर्तनीय पदार्थों की प्रतीयमानता [प्रतीयमान परिवृत्ति अलङ्कार] है ।

१७. निदर्शना अलङ्कार का विवेचन—

'निदर्शना' भी लगभग ऐसी [उपमा के अन्तर्गत] ही है ।

'यथा', 'इव', 'वति' आदि के बिना' क्रिया के द्वारा ही उसके विशेष प्रयोजन का प्रदर्शन करा देने से निदर्शना [अलङ्कार] होता है ॥१३५॥ जैसे—

उदय, अस्त के लिए ही होता है यह बात वैभवशाली पुरुषों को समझाता हुआ यह सूर्य क्षीण कान्ति होकर अस्ताचल की ओर जा रहा है ॥१३६॥

१८. श्लेषालङ्कार का विवेचन—

आगे का पाठ बढ़ा भ्रष्ट है । जो कुछ श्लोक पढ़ने में आ सके हैं । उनसे प्रतीत होता है कि इस प्रकरण में भामह के आधार पर श्लेषालङ्कार का विवेचन किया जारहा है । भामह ने श्लेष का लक्षण करते हुए लिखा है—

उपमानेन यत्तात्वमुपमेयस्य साध्यते ।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते ॥३, १४॥

१ गुण २ क्रिया और ३ नाम [प्रातिपदिक] के द्वारा उपमान के साथ उपमेय का जो [तत्त्व] अभेद सिद्ध किया जाता है उसको श्लिष्ट कहते हैं ।

अगले तीन श्लोकों में से पहिले में 'उद्धरिष्यन्' यह क्रिया श्लेश है । दूसरे श्लोक में 'वन्हिकरणावदाता' में 'अवदात' रूप गुण श्लेष है तथा तीसरे में

---

१. रघुवंश २,९५ । २. पूर्वसंस्करण में यह पंक्ति प्रमाद वश पृ० ४४३ पर उ०सं० १२२ के पूर्व दे दी थी । वहाँ असङ्गत होने से हमने हटा कर यहाँ रखी है ।

३. भामह काव्यालङ्कार ३, ३३-३४ । *पाठ लोपसूचक चिन्ह ।

*ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम् ।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव[1] ॥१३७॥

[2]निर्याय विद्याथ दिनादिरम्याद् बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः ।
पार्थाननं वन्हिकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥१३८॥

स्वाभिप्रायसमर्पणप्रवणया माधुर्यमुद्राङ्कया
विच्छित्त्या हृदयेऽभिजातमनसामन्तः किमप्युल्लिखत् ।
आरूढं रसवासनापरिणतेः काष्ठां कवीनां परं
कान्तानां च विलोकितं विजयते वैदग्ध्यवक्रं वचः ॥१३९॥

'कान्तानां विलोकितं' तथा 'कवीनां वचः' ये दोनों 'विजयते' क्रिया के कर्तृपद हैं। और सारे विशेषण उन दोनों पक्षों में लगते हैं इस लिए वहाँ नाम-श्लेष है। भामह के इन भेदों की दृष्टि से कुन्तक ने ये तीनों उदाहरण दिए हैं ऐसा प्रतीत होता है। इन श्लोकों के अर्थ निम्न प्रकार हैं—

उसके बाद, सूर्य जैसे अपनी किरणों से रसों को खींचता है इस प्रकार अपने बाणों से उत्तर देश के राजाओं का उन्मूलन करने के लिए रघु उत्तर दिशा की ओर चला ॥१३७॥

प्रातःकाल के रमणीय सूर्य बिम्ब के समान महर्षि [व्यास] के मुख से निकल कर अग्नि के कणों के समान चमकती हुई दीप्ति-सी विद्या, खिले हुए कमल-सदृश अर्जुन के मुख में प्रविष्ट हो गई ॥१३८॥

अपने अभिप्राय को प्रकट करने में निपुण, माधुर्य की मुद्रा से अङ्कित, सुन्दर शैली से सहृदय रसिक जनों के हृदय में कुछ अपूर्व भाव अङ्कित करती हुई और रस-भावना के परिपाक की चरम सीमा को पहुँची हुई स्त्रियों की विदग्धता से सुन्दर नजर और कवियों की वाणी सर्वोत्कर्ष से युक्त होती है ॥१३९॥

भामह ने उपर्युक्त तीन भेदों के अतिरिक्त श्लेष के सहोक्ति, उपमा और हेतु-निर्देश-मूलक तीन भेद और किए हैं। 'सहोक्त्युपमाहेतु निर्देशात् क्रमशो यथा' ॥ ३, १७॥ आगे जो तीन श्लोक उद्धृत किए हैं वे श्लोक के इन्हीं तीन भेदों की दृष्टि से प्रस्तुत किए गए प्रतीत होते हैं। इनमें से प्रथम [सं० १४०] में माधव विष्णु तथा उमाधव शिव का एक साथ कथन होने से सहोक्तिमूलक, दूसरे [सं० १४१] में कामरिपु तथा कामस्त्री की मूर्तियों में उपमानोपमेय भाव विवक्षित होने से उपमा मूलक, तथा तीसरे [सं० १४२] में गोपराग के पतन के प्रति हेतु होने से हेतु निर्देश मूलक श्लेष पाया जाता है।

---

१. रघु ४, ६६। २. किरात ३,२५। * पाठ लोपसूचक चिन्ह।

यथा वा—

येनध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्री कृतः
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयोऽगङ्गा च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदो माधवः ॥१४०॥

येनध्वस्त० इत्यादि श्लोक में भामहोक्त सहोक्ति प्रथम प्रकार का श्लेष है । श्लेषवश शिव तथा विष्णु दोनों अर्थों की प्रतीति होती है । सारे विशेषण दोनों पक्षों में लगते हैं । विष्णु पक्ष में अर्थ इस प्रकार होगा—

'येन अभवेन' जिस अजन्मा विष्णु ने 'अनः ध्वस्तम्' बाल्यावस्था में 'अनः' अर्थात् शकट बच्चों की गाड़ी अथवा शकटासुर को नष्ट कर डाला, पुरा पहिले अर्थात् अमृत-हरण के समय बलिजित् बलि नामक राजा को अथवा बलवान् दैत्यों को जीतने वाले अपने शरीर को [मोहिनी रूप धारण कर] स्त्री बना डाला । और जो मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले कालियानाग को मारने वाले हैं तथा जिनमें रव अर्थात् वेद का लय होता है, जिन्होंने अग अर्थात् गोवर्धन पर्वत को और गो अर्थात् बराहावतार के समय पृथ्वी को धारण किया । जो 'शशिं मथ्नातीति शशिमथ् राहुः' उसके शिर को काटने वाले होने से देवता लोग जिनका 'शशिमच्छिरोहर' यह प्रशंसनीय नाम लेते हैं । अन्धक अर्थात् यादवों का, द्वारिका में क्षय अर्थात् निवास-स्थान बनाने वाले अथवा मौसल पर्व की कथा के अनुसार उनका नाश कराने वाले और सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले माधव विष्णु भगवान् तुम्हारी रक्षा करें ।

शिव पक्ष में इसी श्लोक का अर्थ इस प्रकार हो जाता है कि—

'ध्वस्तः मनोभवः कामः येन स ध्वस्तमनोभवः,' कामदेव का नाश करने वाले जिन शङ्कर ने पुरा पहिले त्रिपुर दाह के समय बलिजित्कायः विष्णु के शरीर को, अस्त्रीकृतः बाण बनाया । जो महा भयानक भुजङ्गों साँपों को हार तथा वलय के [खडुआ] के रूप में धारण करते हैं, जो गङ्गा को धारण किए हुए हैं, जिनका मस्तक शिर 'शशिमत्' चन्द्रमा से युक्त है, और देवता लोग जिनका हर यह प्रशंसनीय नाम कहते हैं, अन्धकासुर का विनाश करने वाले वे 'उमा-धव' पार्वती के पति, गौरीपति शङ्कर सदैव तुम्हारी रक्षा करें ॥१४०॥

यथा वा—

मालामुत्पलकन्दलैः प्रतिकचं स्वायोजितां बिभ्रती
नेत्रेणासमदृष्टिपातसुभगेनोद्दीपयन्ती स्मरम् ।
काञ्चीदामनिबद्धभङ्गि दधती व्यालं बिना वाससा
मूर्तिः कामरिपोः सिताम्बरधरा पायाच्च कामस्त्रियः ॥१४१॥

कामरिपु अर्थात् शिव के समान कामस्त्री अर्थात् रति की मूर्ति तुम्हारी रक्षा करे। यह इस श्लोक का मुख्य वाक्य है। शेष सब विशेषण पद हैं और वे शिव और कामस्त्री अर्थात् रति दोनों के पक्ष में लगते हैं। इसलिए इस श्लोक में भामहोक्त उपमा-मूलक श्लेष है। सिताम्बरधारा का अर्थ रति के पक्ष में सित शुभ्र वस्त्रों को धारण किए हुए होता है। और शिव के पक्ष में उसके सिता तथा अम्बरधारा ये दो अलग-अलग विशेषण होते हैं। सिता का अर्थ अर्थात् भस्म लपेटने के कारण सफेद और 'अम्बर धरा' का अर्थ दिगम्बर नग्न यह होता है।

तीसरे चरण का शिव के पक्ष में 'वाससा बिना' अर्थात् धोती आदि रूप वस्त्र के बिना ही काञ्ची के समान बाँधे हुए 'व्याल' अर्थात् सर्प को धारण किए हुए शिव की मूर्ति यह अर्थ होता है। रति के पक्ष में 'व्यालम्बिना' यह एक पद हो जाता है। 'व्यालम्बिना वाससा' अर्थात् लम्बे लटकते हुए वस्त्र से निबद्ध-भङ्गि विचित्र शैली से बँधे हुए काञ्चीदाम तगड़ी को धारण करती हुई रति की मूर्ति यह अर्थ हुआ।

दूसरे चरण में 'उद्दीपयन्ती' का अर्थ शिव के पक्ष में प्रज्वलित या भस्म करती हुई और रति के पक्ष में बढ़ाती हुई होता है। इसलिए असम-विषम-दृष्टि के पात से सुन्दर तृतीय नेत्र से स्मर अर्थात् कामदेव को 'उद्दीपयन्ती' भस्म करती हुई शिव की मूर्ति तथा असम अर्थात् अद्वितीय अनुपम दृष्टिपात से मनोहर अपने कटाक्ष से कामदेव को प्रबुद्ध करती हुई रति की मूर्ति तुम्हारी रक्षा करे।

प्रथम चरण का अर्थ कमल के कन्दलों से भली प्रकार बनाई हुई माला को केशों में धारण करती हुई यही अर्थ दोनों जगह लगता है। परन्तु शिव पक्ष में सुन्दर नहीं मालूम होता है। इस प्रकार उक्त विशेषणों से विशिष्ट कामरिपु शिव तथा कामस्त्री रति की मूर्ति तुम्हारी रक्षा करे। यह इस श्लोक का अर्थ होता है ॥१४१॥

यथा वा—

दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किन्नाम नालम्बसे ।
एकस्त्वं विषमेषुखिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्विश्चिरम् ॥१४२॥३४॥

इसी प्रकार श्लेष का तीसरा उदाहरण अगला श्लोक दिया है । इसमें भामहोक्त हेतु निर्देश मूलक श्लेष माना जा सकता है । उसका अर्थ निम्न प्रकार है—

हे केशव [कृष्ण] ! गौओं की [उड़ाई हुई] धूलि से दृष्टि हरण हो जाने से [रास्ते की विषमता आदि] कुछ नहीं देख सकी इसी से [ठोकर खाकर] गिर पड़ी हूँ । हे नाथ ! गिरी हुई [मुझ] को [उठाने के लिए आप अपने हाथ से] पकड़ते क्यों नहीं हैं । [हाथ का सहारा देकर उठाने में संकोच क्यों करते हैं] विषम स्थलों [ऊबड़-खाबड़ रास्तों] में घबड़ा जाने वाले [न चल सकने वाले बाल, वृद्ध, वनिता आदि] निर्बल जनों के [अत्यन्त शक्तिशाली] केवल आप ही एकमात्र सहारा हो सकते हैं । गोष्ठ [गौशाला] में दो अर्थ वाले [श्लिष्ट] शब्दों से गोपी द्वारा इस प्रकार कहे गए कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ।

[इसमें आए हुए 'सलेशं' पद की सामर्थ्य से श्लोक का दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है जो इस प्रकार है] इस पक्ष में 'केशवगोपरागहृतया' की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है । एक प्रकार में तो केशव तथा गोप दोनों सम्बोधन पद हैं । गोप का अर्थ रक्षक, स्वामी है । हे स्वामिन् ! केशव ! आपके अनुराग-प्रेम से अन्धी होकर मैंने कुछ नहीं देखा-भाला । अथवा [केशवगः यः उपरागः तेन हृतया मुग्धया] केशव विषयक अनुराग से मुग्ध हुई मैंने कुछ देखा-भाला नहीं, सोचा-विचारा नहीं । इसलिए [अपने पतिव्रत धर्म से] भ्रष्ट हो गई हूँ । हे नाथ ! [अब आप मेरे प्रति] पतिभाव क्यों ग्रहण नहीं करते [मुझे पत्नी रूप में स्वीकार कर मेरे साथ पतिवद् व्यवहार सम्भोगादि क्यों नहीं करते हैं] ? क्योंकि काम [वासना] से सन्तप्त मन वाली [विषमेषुः पञ्चबाणः कामः] समस्त अबलाओं [गोपियों] की एकमात्र आप ही गति [ईर्ष्यादि रहित तृप्तिसाधन] हो । इस प्रकार गौशाला में गोपी द्वारा कहे गए कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ॥१४२॥३४॥

❀एवं श्लेषमभिधाय साम्यैकनिबन्धनत्वात् उक्तरूपश्लेषकारणं व्यतिरेकमभिधत्ते सतीत्यादि—

सति तच्छब्दवाच्यत्वे धर्मसाम्येऽन्यथास्थितेः ।
व्यतिरेचनमन्यस्मात् प्रस्तुतोत्कर्षसिद्धये ।
शाब्दः प्रतीयमानो वा व्यतिरेकोऽभिधीयते ॥३५॥

'तच्छब्दवाच्यत्वे', स चासौ शब्दश्चेति विगृह्य, तच्छब्दशक्त्या श्लेषनिमित्तभूतः शब्दः परामृश्यते। तस्य वाच्यत्वेऽभिधेयत्वे 'सति' विद्यमाने। 'धर्मसाम्ये' सत्यपि परस्परस्पन्दसादृश्ये विद्यमाने।❀ तथाविधशब्दवाच्यत्वस्य धर्मसाम्यस्य चोभयनिष्ठत्वादुभयोः प्रकृतत्वात् । प्रस्तुताप्रस्तुतयोरेव तयोधर्मादेकस्य यथारुचि केनापि विवक्षितपदार्थान्तरेण 'अन्यथास्थितेः' अतथा-

---

१६. व्यतिरेक अलङ्कार—

इसके बाद कुन्तक ने 'व्यतिरेकालङ्कार' का निरूपण किया है। व्यतिरेक के लक्षण रूप में उन्होंने जो कारिका लिखी है वृत्ति के आधार पर अनुमानतः उसका पुनरुद्धार किया गया है जो ऊपर दिया हुआ है। अर्थ इस प्रकार होता है—

इस प्रकार श्लेष को कहकर साम्य मात्र निमित्तक होने से उक्त रूप श्लेष-मूलक व्यतिरेक [अलङ्कार] को कहते हैं—'सति' इत्यादि।

श्लेषनिमित्तक शब्द से वाच्य होने पर तथा धर्म की समानता होने पर प्रस्तुत पदार्थ के उत्कर्ष की सिद्धि के लिए अन्यथा अर्थात् भिन्न प्रकार से स्थित दो पदार्थों में से अन्य [अर्थात् अप्रस्तुत] से [प्रस्तुत का] जो शाब्द अथवा प्रतीयमान [व्यतिरेचन] आधिक्य प्रदर्शन करना है वह व्यतिरेकालङ्कार कहलाता है।

उस शब्द से वाच्य होने पर। वह जो शब्द इस प्रकार का विग्रह करके 'तत्' इस शब्द की सामर्थ्य से श्लेष का निमित्तभूत शब्द [तच्छब्द से] लिया जाता है। उससे वाच्य अर्थात अभिधेय होने पर। और धर्म का साम्य भी होने पर अर्थात् परस्पर स्वभाव का सादृश्य विद्यमान होने पर, उस प्रकार के [अर्थात् श्लेष के निमित्तभूत] शब्द से वाच्य होने से और धर्मसाम्य के उन दोनों में रहने वाला होने से उन दोनों के प्रकृत होने से। प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत उन दोनों ही के धर्म से अपनी इच्छा-विवक्षा-के अनुसार किसी एक पदार्थ का विवक्षित किसी दूसरे

❀इसके पूर्व पाठ लोपसूचक चिन्ह पाण्डुलिपि में दिया है ।

भावेनावस्थितेः 'व्यतिरेचनं' पृथक्करणम् । कस्मात् 'अन्यस्मात्' उपमेयस्योपमानादुपमानस्य वा तस्मात् । स व्यतिरेकनामलङ्कारोऽभिधीयते । किमर्थम्— 'प्रस्तुतोत्कर्षसिद्धये' । प्रस्तुतस्य वर्ण्यमानस्य वृत्तेश्छायातिशयनिष्पत्तये । स च द्विविधः सम्भवति 'शाब्दः प्रतीयमानो वा' । 'शाब्दः' कविप्रवाहप्रसिद्धः, तत्समर्पणसमर्थाभिधानेनाभिधीयमानः । 'प्रतीयमानो' वाक्यार्थसामर्थ्यमात्रावबोध्यः यथा—

**प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्यात्*
निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि ।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात—
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः[1] ॥१४३॥

पदार्थ से अन्यथा अर्थात अतथाभाव से भिन्न रूप से [लोकोत्तर सौन्दर्य शाली रूप से] स्थित होने से व्यतिरेचन अर्थात् पृथक्करण । किसके कि अन्य से अर्थात् उपमेय से उपमान का अथवा उपमान से उपमेय का । वह व्यतिरेक नामक अलङ्कार कहा जाता है । किसलिए, 'प्रस्तुत के उत्कर्ष की सिद्धि के लिए' । प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्यमान के सौन्दर्यातिशय के सम्पादन के लिए । वह [व्यतिरेकालङ्कार] दो प्रकार का हो सकता है, एक शाब्द और दूसरा प्रतीयमान । शाब्द कवि परम्परा में प्रसिद्ध, उसका प्रतिपादन करने में समर्थ वाचक शब्द से कहा हुआ [होता है] और प्रतीयमान वाक्यार्थ की सामर्थ्यमात्र से बोधित होता है । जैसे—

इसके आगे तीन उदाहरण दिए हुए हैं जिनमें से एक प्राकृत भाषा का और दो संस्कृत के श्लोक हैं । उनमें से दो पढ़ने में नहीं आए । तीसरा उदाहरण भी इस प्रति में पढ़ने में नहीं आता है परन्तु इतना प्रतीत हो जाता है कि वह ध्वन्यालोक का प्राप्तश्री इत्यादि श्लोक है । उसी से ऊपर ध्वन्यालोक के अनुसार उसका पाठ दे दिया है । अर्थ इस प्रकार है—

इसको [तो पहिले ही] लक्ष्मी प्राप्त है फिर यह मुझे पूर्वानुभूत मन्थन [जन्य] दुःख क्यों देगा । [इस समय] आलस्य रहित होने के कारण इसकी पहिले जैसे [दीर्घकालीन] निद्रा की भी कोई सम्भावना नहीं जान पड़ती है । सारे द्वीपों के राजा तो इसके साथ हैं फिर यह दुबारा सेतुबन्धन क्यों करेंगे ? हे राजन् ! तुम्हारे [समुद्र तट पर] आने पर मानों इस प्रकार के सन्देहों के कारण समुद्र [भय से] काँप रहा है ॥१४३॥

---

*पाठ लोप । १. ध्वन्यालोक पृ० १९३ ।

ॐप्रतीयमानव्यतिरेके 'तत्वाध्यारोपणात्' प्रतीयमानतया रूपकमेव पूर्वसूरिभिराम्नातम् ।

[1]'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१४४॥

श्लेषव्यतिरेकः यथा—

[2]'श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।
बिभ्राणां मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥१४५॥३५॥

कुन्तक इसमें प्रतीयमान व्यतिरेक मानते हैं । परन्तु ध्वन्यालोक में जहाँ उद्धृत हुआ है इसको रूपकध्वनि का उदाहरण कहा है । उसी की से यह ओर संकेत करते हुए कुन्तक कहते हैं कि—

व्यतिरेक के प्रतीयमान होने पर [यहाँ राजा में वासुदेव विष्णु के तत्त्वारोपण] अभेदारोपण से प्रतीयमान रूपक ही पूर्व आचार्यों [आनन्दवर्धन] ने कहा है ।

प्रतीयमान या ध्वनि का लक्षण ध्वनिकार ने इस प्रकार किया है इस बात को दिखलाने के लिए आगे कुन्तक ने ध्वन्यालोक की १,१३ कारिका को उद्धृत किया है । जिसका अर्थ इस प्रकार है—

जहाँ अर्थ अपने को [स्व] अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस [प्रतीयमान] अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वान् लोग ध्वनि [काव्य] कहते हैं ॥१४४॥

[आगे] श्लेष व्यतिरेक [का उदाहरण देते हैं] जैसे—

[सुदर्शनकरः] जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है [अथवा सुदर्शनचक्र युक्त होने से सुदर्शन कर विष्णु] जिन्होंने केवल चरणारविन्द के सौन्दर्य से [अथवा पाद विक्षेप से] तीनों लोकों को आक्रान्त कर लिया हैं, और जो चन्द्ररूप [में केवल] नेत्र को धारण करते हैं [अर्थात् जिनका केवल एक नेत्र ही चन्द्र रूप है] ऐसे विष्णु ने अखिल देहव्यापिसौन्दर्यशालिनी, सर्वाङ्ग सौन्दर्य से त्रैलोक्य को विजय करने वाली और चन्द्रसदृश सम्पूर्ण मुख को धारण करने वाली जिन [रुक्मिणी देवी] को उचित रूप से ही अपने शरीर से उत्कृष्ट रूप में देखा, वे रुक्मिणी देवी तुम सबकी रक्षा करें ॥१४५॥३५॥

ॐपाठ लोपसूचक चिन्ह ।

१. ध्वन्यालोक १, १३ । २. ध्वन्यालोक पृ० १६६ ।

अस्यैव प्रकारान्तरमोह, 'लोकप्रसिद्ध' इत्यादि ।

लोकप्रसिद्धसामान्यपरिस्पन्दाद्विशेषतः ।
व्यतिरेको यदेकस्य स परस्तद्विवक्षया ॥३६॥

परोऽन्यः स व्यतिरेकालङ्कारः कीदृशः—'यदेकस्य' वस्तुनः कस्यापि 'व्यतिरेकः' पृथक्करणम् । कस्मात्—'लोकप्रसिद्धसामान्यपरिस्पन्दात्' । 'लोकप्रसिद्धो' जगत्प्रतीतः 'सामान्यभूतः' सर्वसाधारणो यः 'परिस्पन्दः' व्यापारस्तस्मात् । कुतो हेतोः—'विशेषतः' कुतश्चिदतिशयात् । कथम्—'तद्विवक्षया' । तदित्युपमादीनां परमार्थः, तेषां विवक्षया । तद्विवक्षितत्वेन विहितः ।

यथा—

इस प्रकार शाब्द और प्रतीयमान दो प्रकार के व्यतिरेकों का निरूपण करने के बाद कुन्तक ने एक तीसरे प्रकार के व्यतिरेकालङ्कार का और वर्णन किया है । इसकी वृत्ति के आधार पर पुनरुद्धार की हुई कारिका ऊपर दी गई है ।

वह [व्यतिरेकालङ्कार] का ही दूसरा प्रकार कहते हैं लोकप्रसिद्ध इत्यादि [कारिका में]—

[किसी वस्तु के उत्कर्ष का प्रतिपादन करने के लिए] लोकप्रसिद्ध साधारण स्वभाव से अतिशय होने के कारण जो [उपमान और उपमेय में से] एक का [व्यतिरेक भेद या] आधिक्य [वर्णन करना] है वह अन्य प्रकार का [तीसरे प्रकार का] व्यतिरेकालङ्कार है ।

वह 'पर' अर्थात् अन्य [तीसरे प्रकार का] व्यतिरेकालङ्कार है । कैसा कि जो किसी एक वस्तु का व्यतिरेक अर्थात् अलग करना है । किससे [अलग करना कि] 'लोकप्रसिद्ध साधारण स्वभाव से' । लोकप्रसिद्ध अर्थात् सर्वजनप्रसिद्ध सामान्य रूप अर्थात् साधारण जो परिस्पन्द अर्थात् व्यापार उससे [अलग करना] । किस कारण से कि, 'विशेषता से' अर्थात् किसी अतिशय विशेष के कारण से । क्यों [अलग करना कि—] 'उस [अतिशय अथवा विशेषता] के कहने के अभिप्राय से' । 'तत्' इस पद से उपमा आदि का सार भूत जो अतिशय उसके कहने की इच्छा से । अर्थात् उस अतिशय का प्रतिपादन करने के लिए किया हुआ [जो व्यतिरेक पृथक्करण उसको व्यतिरेकालङ्कार कहते हैं । इसका भावार्थ यह हुआ कि जो वस्तु लोक में साधारणतः जिस रूप में पाई जाती है उससे भिन्न किसी विलक्षण रूप से उसी पदार्थ का वर्णन करना यह भी व्यतिरेकालङ्कार का भेद है । इसी का उदाहरण देते हैं] ।

जैसे—

चापं पुष्पितभूतलं सुरचिता मौर्वी द्विरेफावलिः
पूर्णेन्दोरुदयोऽभियोगसमयः पुष्पाकरोऽप्यासरः ।
शस्त्राण्युत्पलकेतकीसुमनसो योग्यात्मनः कामिनां
त्रैलोक्ये मदनस्य सोऽपि ललितोल्लेखो जिगीषाग्रहः ॥१४६॥

[1]ननु च भूतलादीनां चापादिरूपणाद्रूपक व्यतिरेक एवायम् । नैतदस्ति । रूपकव्यतिरेके हि रूपकं विधाय तस्मादेव व्यतिरेचनं विधीयते । एतस्मिन पुनः सकललोकप्रसिद्धात् सामान्य–व्यवहारतात्पर्याद् व्यतिरेचनम् । भूतलादीनां चापादिरूपणं विशेषान्तरनिमित्तमात्रमवधार्यताम् ॥३६॥

[कामदेव का] चाप खिले हुए पुष्पों वाला भूतल [अर्थात् भूतल पर खिले हुए पुष्प] है, भ्रमरों की पंक्ति [उस चाप की] प्रत्यञ्चा है, पूर्ण चन्द्र के उदय का समय चढ़ाई करने का समय है पुष्पकार वसन्त ऋतु [आ समन्तात् सरतीति आसरः अग्रेसरः] आगे चलने वाला अथवा साथ चलने वाला सहायक है, कमल और केतकी आदि के पुष्प बाण हैं और कामियों के [मारने का अभ्यास] अपनी योग्यता है । इस प्रकार कामदेव का त्रैलोक्य विजय करने का बड़ा सुन्दर आग्रह [शौक़] है ॥१४६॥

[प्रश्न] भूतल आदि पर चाप आदि का आरोप होने से यह रूपक व्यतिरेक ही है । [अर्थात् रूपक तथा व्यतिरेक का संकर या संसृष्टि रूप भेद है । केवल व्यतिरेक नहीं है । इसका उत्तर देते हैं]

ग्रन्थकार ने व्यतिरेक के तीसरे भेद का यह उदाहरण दिया है । परन्तु इस पर यह शङ्का होती है कि यह तो रूपक व्यतिरेक है नया भेद नहीं । इसका समाधान आगे करते हैं—

[उत्तर] यह [कहना] ठीक नहीं है । रूपक व्यतिरेक में पहिले आरोप करके फिर उसी में से भेद दिखलाया जाता है । और यहाँ सकल लोक प्रसिद्ध सामान्य व्यवहार के अभिप्राय से [प्रधान रूप से] व्यतिरेचन किया जाता है [अर्थात् कामदेव का जगद्विजय का अपूर्व व्यापार है इसके दिखलाने में ही कवि का तात्पर्य है] । और भूतल आदि पर चाप आदि के आरोप को उसका सहायक विशेष निमित्तमात्र समझना चाहिए । [भूतल आदि पर चापादि के आरोपण में विशेष रूप से कवि का तात्पर्य नहीं है । इसलिए यहाँ रूपक व्यतिरेक नहीं अपितु केवल व्यतिरेक कलङ्कार ही है] ।

---

१. इस उदाहरण के समन्वय करने के लिए निम्नाङ्कित पाठ यहाँ पाया जाता है । परन्तु यह पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है । उससे कोई पूर्ण अभिप्राय नहीं निकलता है । अतः हमने उसे हटा कर यहां टिप्पणी में दे दिया है—

अत्र सकललोकप्रसिद्धशस्त्राद्युपकरणकलापात्
जिगीषांव्यवहारान्मन्मथः सुकुमारोपकारणं त्वाज्जिगीषा···।

श्लेषेणाभिसंभिन्नत्वात् अलङ्कारान्तरशोभाशून्यतया

[1]यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषणः ।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥१४७॥
स्कन्धवानृजुरव्यालः स्थिरोऽनेकमहाफलः ।
जातस्तरुरयं चोच्चैः पातितश्च नभस्वता ॥१४८॥

---

२०. समासोक्ति अलङ्कार—

व्यतिरेक के बाद कुन्तक ने समासोक्ति अलङ्कार का विचार किया है । परन्तु इस स्थल का पाठ भी खण्डित होने से पूरा अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है । इतना स्पष्ट है कि वे उसको अलग स्वतन्त्र अलङ्कार मानने योग्य नहीं समझते हैं । वे 'श्लेषाभिसंभिन्नत्वात्' श्लेष युक्त होने से श्लेषालङ्कार के भीतर ही समासोक्ति का अन्तर्भाव मानते हैं । उन्होने अपना लक्षण न करके भामह के समासोक्ति के लक्षण तथा उदाहरणों को उद्धृत कर उनकी आलोचना की है । और समासोक्ति के अलग अलङ्कार माने जाने का खण्डन किया है ।

श्लेष से अत्यन्त मिली होने से और अलग अलङ्कार रूप में शोभा रहित होने से [समासोक्ति अलग अलङ्कार नहीं है] ।

[भामह ने समासोक्ति का जो विवेचन किया है वह इस प्रकार है]

जिसके कहे जाने पर उसके समान विशेषण वाला अन्य अर्थ प्रतीत हो जाता है, वह संक्षिप्त अर्थ वाली होने से समासोक्ति कहलाती है ॥१४७॥

जैसे—

[ऊँचे कन्धों वाला वृषस्कन्ध, महास्कन्ध वाला महापुरुष और] गुद्दों वाला सीधा, सर्पादि से रहित स्थिर और बड़े-बड़े अनेक बहुत-से फलों वाला यह वृक्ष ऊँचा पहुँचा ही था कि वायु ने उसको गिरा दिया ॥१४८॥

इसमें वृक्ष का वर्णन किया हुआ है परन्तु उससे महापुरुष रूप अन्य अर्थ की प्रतीति भी होती है । महापुरुष के लक्षण में उसका वृषस्कन्ध ऊँचे कन्धे वाला होना भी एक सुलक्षण है । इस प्रकार के महास्कन्ध रूप सुलक्षण से युक्त सरल, छलछिद्र आदि से रहित स्थिर बुद्धि और अनेक महाफलों को सम्पादन करने वाला कोई महापुरुष अभी ऊपर किसी ऊंचे पद पर पहुँचा ही था कि किसी प्रबल शक्तिशाली प्रतिस्पर्धी ने उसको नीचे गिरा दिया । यह अर्थ भी इस श्लोक में प्रतीत होता है । इस प्रकार संक्षेप से दोनों अर्थों का प्रतिपादन करने से यहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है । परन्तु कुन्तक उसको श्लेष का ही भेद मानते हैं । क्योंकि श्लेष रूप से दूसरे अर्थ की प्रतीति ही उसकी जान है । यदि दूसरे अर्थ की प्रतीति न हो तो उसमें कोई चमत्कार नहीं है । इसी को कुन्तक इस उदाहरण में दिखलाते हैं ।

---

*पाठ लोप सूचक चिन्ह । १. भामह २, ७९-८० ।

अत्र तरोर्महापुरुषस्य च द्वयोरपि मुख्यत्वे महापुरुषपक्षे विशेषणानि सन्तीति विशेष्यविधायकं पदान्तरमभिधातव्यम् । यदि वा विशेषणेऽन्यथानुपपत्या प्रतीयमानतया विशेष्यं परिकल्प्यते । तदेवंविधस्य कल्पनस्य स्फुरितं न किञ्चिदिति स्फुटमेव शोभाशून्यता ।

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिः कीदृक् न तथापि समागमः ।।१४६।।

यहाँ [इस भामह के दिए हुए उदाहरण के श्लोक में] वृक्ष तथा महापुरुष दोनों के मुख्य [रूप से वर्ण्य] होने पर महापुरुष पक्ष में [लगने वाले] विशेषण तो विद्यमान [श्रूयमाण] हैं ही इसलिए विशेष्य का विधान करने वाला [महापुरुष] पद भी कहना चाहिए । और यदि विशेषणों की अन्यथा [अर्थात् विशेष्य पद के बिना] अनुपपत्ति होने से प्रतीयमान रूप से विशेष्य की कल्पना करते हैं तो इस प्रकार की कल्पना में कोई चमत्कार, जीवन, नहीं रहता है इसलिए स्पष्ट ही शोभा रहित मालूम होने लगता है । [इसलिए समासोक्ति अलग अलङ्कार नहीं है अपितु वह श्लेष के ही अन्तर्गत है] ।

इसके बाद ध्वन्यालोक पृष्ठ ६० पर उद्धृत अनुरागवती सन्ध्या आदि को उद्धृत किया है । इस श्लोक का अर्थ निम्न प्रकार है—

सन्ध्या [रूपिणी अथवा नामक नायिका] अनुराग [अर्थात् सन्ध्याकालीन लालिमा और पक्षान्तर में प्रेम] से युक्त है, और दिवस [रूपी अथवा नामक नायक] उसके सामने [स्थित ही नहीं अपितु पुरः सरति गच्छति इति पुरःसरः] बढ़ रहा है [सामने से आ रहा है] अहो दैव की गति कैसी विचित्र है कि फिर भी उन दोनों का समागम नहीं हो पाता है ।।१४६।।

इसमें ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने भामह के मत से समासोक्ति तथा वामन के मत से आक्षेप अलङ्कार बतलाया है । परन्तु भामह के अपने ग्रन्थ में इस श्लोक की कोई चर्चा नहीं हुई है । कुन्तक ने भी यहाँ इस श्लोक की कोई विवेचना नहीं की है ।।३६।।

२१. सहोक्ति अलङ्कार—

समासोक्ति के बाद कुन्तक ने सहोक्ति अलङ्कार का विवेचन किया है । इसमें उन्होंने पहिले भामहकृत सहोक्ति अलङ्कार के लक्षण तथा उदाहरण को उद्धृत कर उनकी आलोचना की है । उस आलोचना का अभिप्राय यह ह कि भामह के अनुसार जो सहोक्ति का लक्षण और उदाहरण दिया गया है वह तो वस्तुतः उपमा ही

ॐतुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये ।
पदेनैकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता यथा ॥१५०॥
हिमपाताविलदिशो गाढालिङ्गनहेतवः ।
वृद्धिमायान्ति यामिन्यः कामिनां प्रीतिभिः सह ॥१५१॥

अत्र परस्परसाम्यसमन्वयो [2]मनोहारित्वनिबन्धनमित्युपमैव ॥३६॥

यत्रैकेनैव वाक्येन वर्णनीयार्थसिद्धये ।
अर्थानां युगपदुक्तिः सा सहोक्तिः सतां मता ॥३७॥

है। उस रूप में सहोक्ति को उपमा से अलग अलङ्कार मानने की आवश्यकता नहीं है। अतः भामह का किया हुआ सहोक्ति अलङ्कार का लक्षण ठीक नहीं है। इस प्रकार भामह के लक्षण का खण्डन करने के लिए कुन्तक पहिले भामहकृत सहोक्ति अलङ्कार का लक्षण तथा उदाहरण उद्धृत करते हैं—

जहाँ दो वस्तुओं में रहने वाली और एक साथ होने वाली दो क्रियाएँ एक ही पद के द्वारा [एक साथ] कहीं जाय वह सहोक्ति [नामक अलङ्कृति विशेष] कहलाती है ॥१५०॥

जैसे—

[शीत ऋतु में कुहरा या] बर्फ गिरने से धुंधली हुई दिशाओं से युक्त [पति पत्नियों के] गाढ़ आलिंगन की हेतुभूत रात्रियां कामी जनों की प्रतियों के साथ बढ़ती जाती है ॥१५१॥

[इस पर कुन्तक की टिप्पणी यह है कि] यहाँ परस्पर [अर्थात् यामिनियों और कामियों की, प्रीति का बढ़ना रूप] साम्य का सम्बन्ध ही मनोहारित्व का कारण है । इसलिए [साम्य पर आश्रित होने से भामह की अभीष्ट सहोक्ति] उपमा ही है । [अलग अलङ्कार नहीं है] ॥३६॥

इस प्रकार भामह के अभिमत सहोक्ति अलङ्कार का खण्डन करके कुन्तक अपना अभिमत सहोक्ति अलङ्कार का लक्षण करते हैं—

जहाँ वर्णनीय अर्थ की सिद्धि के लिए एक ही वाक्य से [अनेक] अर्थों का एक साथ कथन [युगपदुक्तिः] किया जाता है वह सहोक्ति [अलङ्कार] सहृदयों ने [अलग] माना है ।

ॐपाठ लोप सूचक चिन्ह ।

१. भामह काव्यालङ्कार ३, ३९-४० । २. मनोहारिनिबन्धनम् ।

प्रमाणोपपन्नमभिधत्ते तत्र सहोक्तेस्तावत् 'यत्रेत्यादि' । सा सहोक्तिरलंकृतिर्मता प्रतिभाता। 'सतां' तद्विदाम् समाम्नातेत्यर्थः । कीदृशी—'यत्र' यस्यां एकेनैव वाक्येन अभिन्नेनैव पदसमूहेन 'अर्थानां', वाक्यार्थतात्पर्यभूतानां वस्तूनां 'युगपत्' तुल्यकालमुक्तिरभिहितिः । किमर्थम्—'वर्णनीयार्थसिद्धये'। वर्णनीयस्य प्राधान्येन विवक्षितस्यार्थस्य वस्तुनः सम्पत्तये । तदिदमुक्तं भवति-यत्र वाक्यान्तरवक्तव्यमपि वस्तु प्रस्तुतार्थनिष्पत्तये विच्छित्त्या तेनैव वाक्येनाभिधीयते ।

यथा—

हे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्न-
सीताविवासनपटो करुणा कुतस्ते ॥१५२॥

[भामहकृत सहोक्ति का लक्षण ठीक न होने से] प्रमाणसङ्गत सहोक्ति के [स्वरूप] को कहते हैं 'यत्र' इत्यादि [कारिका] से । 'वह सहोक्ति अभिमत' अर्थात् ज्ञात है। 'सज्जनों को' अर्थात् उसको जानने वालों को [अभिमत है । अर्थात् उन्होंने] कही है यह अभिप्राय है । कैसी 'जहाँ' जिस [अलंकृति] में 'एक ही वाक्य से' अर्थात् पदसमुदाय से 'अर्थों का' अर्थात् वाक्य की तात्पर्यभूत वस्तुओं का 'युगपत्' अर्थात् एक साथ कथन किया जाता है । किसलिए कि 'वर्णनीय अर्थ की सिद्धि के लिए' । वर्णनीय अर्थात् प्रधानत्वेन विवक्षित अर्थ अर्थात् वस्तु के सम्पादन के लिए । इसका यह अभिप्राय हुआ कि जहाँ अन्य वाक्य के द्वारा कहे जाने वाले अर्थ का भी प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि के लिए सुन्दरता के साथ उसी वाक्य के द्वारा कथन कर दिया जाता है [वह सहोक्ति नामक अलङ्कार होता है] ।

जैसे—

अरे दाहिने हाथ, मरे हुए ब्राह्मण के बालक के पुनरुज्जीवित करने के लिए शूद्र मुनि [तपस्या करने वाले शम्बूक] के ऊपर तलवार छोड़ । तू परिपूर्ण [नौ मास के] गर्भ से चलने आदि में असमर्थ सीता को निकाल देने में समर्थ [निर्दयी] रामचन्द्र का हाथ है तुझे दया कहाँ से आ सकती है । [इसलिए निर्दयतापूर्वक एक ही हाथ में इस तपस्या करने वाले शूद्र मुनि शम्बूक का गला काट दे] ॥१५२॥

---

१. उत्तररामचरित २, १० ।

यथा वा —

उच्यतां स वचनीयमशेषं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥१५३॥

कुन्तक के लक्षण के अनुसार यहाँ वर्णनीय अर्थ शम्बूक वध की सिद्धि के लिए मैंने या रामचन्द्र ने नौ मास के पूरे गर्भ वाली सीता को भी निर्दयतापूर्वक घर से निकाल दिया इस अर्थ को एक ही वाक्य अर्थात् श्लोक में कह दिया है । अर्थात् वास्तव में इस बात के यहाँ कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी, वह एक अलग विषय था और अलग वाक्य से उसको कहना चाहिए था । परन्तु इस समय जिस रूप में उसको इस एक ही वाक्य में कहा गया है उससे शम्बूक वध रूप प्रकृत कार्य की सिद्धि और अधिक सरलता से हो जाती है । इसलिए प्रकृत अर्थ की सिद्धि के लिए ही वाक्यान्तर से वक्तव्य उस अर्थ को एक साथ कहा गया है । इसलिए इस प्रकार के वर्णन को कुन्तक सहोक्ति अलङ्कार मानते हैं ।

कुन्तक ने भामह के सहोक्ति-लक्षण काखण्डन करके जो अपना लक्षण प्रस्तुत किया है वह एकदम नया दृष्टिकोण है । अन्य किसी आचार्य ने इस दृष्टिकोण से सहोक्ति का लक्षण नहीं किया है । उद्भट ने भी भामह के ही लक्षण को ज्यों का त्यों अपना लिया है । उन्होंने सहोक्ति उदाहरण निम्न प्रकार दिया है—

दुजनो मृत्युना सार्धं यस्याजौ तारकामये ।
चक्रे चक्रभिधानेन प्रेष्येणाप्तमनोरथः ॥५, ३० ।

अन्यों के लक्षण-उदाहरण भी ऐसे ही हैं । कुन्तक की व्याख्या सबसे विलक्षण है । कुन्तक अपने लक्षण के अनुसार सहोक्ति के दो उदाहरण और देते हैं—

अथवा जैसे—

[हे सखि] वह [धूर्त नायक] जो चाहे सब कुछ कहें [चाहे कितनी ही निन्दा करे पर मैं उसके पास कभी नहीं जा सकती] । इस पर नायिका की सखी उससे कहती है कि] हे सखि अपने स्वामी के प्रति कठोरता [कठोर व्यवहार करना] अच्छी बात नहीं है जाओ उसको मना कर ले आओ [इस प्रकार नायिका, समझाने वाली सखी से फिर कहती है] अप्रिय काम करते हुए उसको मनाया कैसे जा सकता है ? [अर्थात वे जो चाहें करते रहें और मैं उनकी खुशामद करती फिरूँ यह नहीं हो सकता है] ॥१५३॥

---

१. किरात ९, ३९ ।

[1]किं गतेन न हि युक्तमुपैतुं कः प्रिये सुभगमानिनि मानः ।
योषितामिति कथासु समेतैः कामिभिर्बहुरसा धृतिरूहे ॥१५४॥

[2]सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ॥ १५५॥

अत्र प्रधानभूतविप्रलम्भशृङ्गाररसपरिपोषणसिद्धये वाक्यार्थद्वयमुपनिबद्धम् ।

[यायिका कहती है कि उसके पास] जाने से क्या लाभ है । [ऐसे के पास] जाना उचित नहीं है । [इस पर सखी कहती है] अरी अपने को बड़ी सुन्दर समझने वाली प्रिय से मान करना क्या उचित है । इस प्रकार की स्त्रियों की बातचीत के अवसर पर उन्हें सुनने के लिए इकट्ठे हुए कामियों को उन बातों में [भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को अपनी-अपनी भावना के अनुसार] अनेक प्रकार का आनन्द या धैर्य प्राप्त हुआ ॥१५४॥

इन दोनों श्लोकों में विप्रलम्भ शृङ्गार की पुष्टि के लिए मान करने की और मान छोड़ने की दोनों प्रकार की बातें एक साथ कही गई हैं । इसलिए कुन्तक इसमें सहोक्ति मानना चाहते हैं ।

सहोक्ति के विषय में कुन्तक ने यह नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है । इसी प्रकार का तीसरा उदाहरण विक्रमोर्वशीय का दिया है । जिसमें उर्वशी के वियोग में उन्मत्त हुए राजा पुरुरवा नदी पहाड़ आदि से अपनी प्रियतमा का पता पूछते हुए घूम रहे हैं । सामने हिमालय को देखकर वह उससे पूछते हैं कि—

हे सारे पर्वतों के स्वामी क्या आपने मुझ से वियुक्त हुई सर्वाङ्ग सुन्दरी स्त्री [उर्वशी] को इस सुन्दर वन प्रदेश में कहीं देखा है ॥१५५॥

यहां प्रधानभत विप्रलम्भ शृङ्गार रस के परिपोषण की सिद्धि के लिए दो प्रकार के वाक्यों की रचना [एक साथ] की गई है । [अतः यहां सहोक्ति अलङ्कार है] ।

इसके बाद कुन्तक ने यह प्रश्न उठाया है कि सहोक्ति में यदि एक ही वाक्य से अनेक अर्थ कहे जाते हैं तो फिर उसमें श्लेष का अनुप्रवेश क्यों न मान लिया जाय अर्थात् जैसे भामह के सहोक्ति के लक्षण को आपने उपमा के अन्तर्गत कर दिया है इसी प्रकार आपका सहोक्ति का लक्षण यदि माना जाय तो उसमें एक ही वाक्य से अनेक अर्थों का कथन होने से उसे श्लेष के अन्तर्गत कर लेना उचित होगा । इस प्रश्न को उठाकर आगे कुन्तक ने इसका समाधान करने का प्रयत्न किया है । यद्यपि यह

---

१. किरात ९, ४० । २. विक्रमोर्वशीय ।

ननु चानेकार्थसम्भवेऽत्र श्लेषानुप्रवेशः कथं न सम्भवति ।

अभिधीयते तत्र यस्माद् द्वयोरेकतरस्य वा मुख्यभावे श्लेषः* तस्मिन् पुनस्तथाविधाभावात, बहूनां द्वयोर्वा सर्वेषामेव गुणभावः प्रधानार्थ-परत्वेनावसानात् ।

अन्यच्च तस्मिन्नेकेनैव शब्देन युगपत्प्रदीपप्रकाशवदर्थद्वयप्रकाशनं शब्दार्थद्वयप्रकाशनं वेति शब्दस्तत्र सामान्याय विजृम्भते । सहोक्तेः पुनस्तथाविधस्वाङ्गाभावादेकेनैव वाक्येन पुनः पुनरावर्तमानतया वस्त्वन्तरप्रकाशनं विधीयते । तस्मादावृत्तिरत्रशब्दन्यायतां प्रतिपद्यते ।

प्रकरण भी पाठ की खराबी के कारण अस्पष्ट है फिर भी कुन्तक का मुख्य अभिप्राय उससे मालूम हो सकता है । कुन्तक लिखते हैं—

[प्रश्न] एक ही वाक्य से अनेक अर्थ सम्भव होने पर यहाँ [सहोक्ति में] श्लेष का अनुप्रवेश किस प्रकार सम्भव नहीं होता है ।

[उत्तर] यह कहते हैं । क्योंकि वहाँ [श्लेष स्थल में] दोनों अथवा किसी एक के मुख्य भाव होने पर श्लेष होता है । और उस [सहोक्ति] में उस प्रकार के न होने से । बहुतों का अथवा दो का [जितने भी प्रतिपाद्य हैं] उन सब ही का प्रधान परत्वेन पर्यवसान होने से गौणता ही है । [श्लेष तथा सहोक्ति में प्रथम भेद यह है कि श्लेष में कहीं दोनों का मुख्यभाव रहता है और कहीं एक का, परन्तु सहोक्ति में किसी का भी मुख्यभाव नहीं रहता है । सहोक्ति के रूप में कहे जाने वाले दोनों का गुण भाव होता है । प्रधानता उसकी होती है जिसकी सिद्धि के लिए गौणों का सहभाव वर्णित होता है] ।

दूसरी बात यह है कि और उस [श्लेष] में एक ही शब्द से प्रदीप के समान एक ही साथ दो अर्थों अथवा शब्द और अर्थ दोनों का प्रकाशन होता है । इसलिए उसमें शब्द [उन दोनों अर्थों के बोधन में] सामान्य हो जाता है । सहोक्ति में उस प्रकार [वाक्य के अवयवभूत शब्दों के समान] अपने अङ्ग न होने से एक ही वाक्य बार-बार आवृत्त होकर दोनों अर्थों को प्रकाशित करता है । इसलिए यहाँ [सहोक्ति में वाक्य की पुनः पुनः] आवृत्ति [श्लेष के] शब्द के [न्याय] स्थान को प्राप्त करती है । [अर्थात् जैसे एक दीपक एक साथ अनेक अर्थों को प्रकाशित करता है । इसी प्रकार श्लिष्ट शब्द एक साथ अनेक अर्थों को प्रकाशित करता है । परन्तु सहोक्ति में सारा वाक्य आवृत्ति द्वारा दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है । यह श्लेष तथा सहोक्ति का दूसरा भेद है] ।

---

*पाठ लोप ।

'सर्वक्षितिभृतां नाथ' इत्यत्र वाक्यैकदेशे श्लेषानुप्रवेशः सम्भवति ।

उच्यते अत्र वाक्यैकदेशे श्लेषस्याङ्गत्वम्, मुख्यभावः पुनः सहोक्तेरेव ।

तदेवमावृत्य वस्त्वन्तरावगतौ सहोक्तेः सहभावावादर्थान्वये परिहाणिः प्रसज्येत ।

नैतदस्तीति । यस्मात् सहोक्तिरित्युक्तम्, न पुनः सहप्रतिपत्तिरिति तेनात्यन्तसहाभिधानमेव प्रतिपन्नोत्कर्षावगतिरिति न किञ्चिदसम्बद्धम् ।

कैश्चिदेषा समासोक्तिः सहोक्तिः कैश्चिदुच्यते ।
अर्थान्वयाच्च विद्वद्भिरन्यैरन्यत्वमेतयोः ॥१५६॥

[प्रश्न] 'सर्वक्षितिभृतां नाथ' इस वाक्य के एकदेश में [क्षितिभृत् का अर्थ राजा तथा पर्वत दोनों होने से] श्लेष का अनुप्रवेश हो सकता है ।

[उत्तर] कहते हैं । [अर्थात् इसका समाधान करते हैं] । यहाँ वाक्य के एक देश में [जो श्लेष है उस] का अङ्गभाव [गौणत्व] है और मुख्यता सहोक्ति की ही है । [अर्थात् यहाँ श्लेष गौण है और सहोक्ति मुख्य है उन दोनों का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है] ।

[प्रश्न—आपने अभी यह कहा था कि सहोक्ति में वाक्य की आवृत्ति द्वारा दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है । यदि ऐसा है तो इस प्रकार वाक्य की] आवृत्ति करके अन्य अर्थ की प्रतीति होने पर सहोक्ति [शब्द] के सहभाव [रूप] अर्थ के अन्वय में हानि होगी । [अर्थात् दोनों पदार्थों की एक साथ प्रतीति न होने से सहभाव न होने से उसको सहोक्ति कैसे कहा जायगा] ?

[उत्तर] यह [कहना] ठीक नहीं है । क्योंकि [सहोक्ति शब्द में] साथ कथन करना कहा है साथ प्रतीति होना नहीं । अतः [एक शब्द से] अत्यन्त एक साथ कथन करना ही यहाँ स्वीकृत उत्कर्ष की प्रतीति कहलाती है इसलिए [वाक्य की आवृत्ति से अन्य अर्थ की प्रतीति मानने पर भी] कोई दोष नहीं है ।

कुछ लोग इस को समासोक्ति और कुछ लोग इसको सहोक्ति कहते हैं । और अन्य विद्वान् ['समासेन संक्षेपेण उक्तिः समासोक्ति । तथा सह उक्तिः सहोक्ति' इस प्रकार दोनों के] अर्थ के अन्वय से इन दोनों को अलग-अलग [अलङ्कार] मानते हैं । [इनमे से कुन्तक, भामह की समासोक्ति तथा सहोक्ति दोनों का खण्डन कर आए हैं इसलिए उन दोनों के स्थान पर वह इसको ही मानते हैं] ॥१५६॥३७॥

दृष्टान्तं तावदभिधत्ते वस्तुसाम्येत्यादि—

वस्तुसाम्यं समाश्रित्य यदन्यस्य प्रदर्शनम् ।
दृष्टान्तनामालङ्कारः सोऽयमत्राभिधीयते[1] ॥३८॥

'यदन्यस्य' वर्ण्यमानप्रस्तुताद् व्यतिरिक्तवृत्तेः पदार्थान्तरस्य प्रदर्शनमुपनिबन्धनं स दृष्टान्तनामालङ्कारोऽभिधीयते । कथम्—'वस्तुसाम्यं समाश्रित्य' वस्तुनः पदार्थयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यं सादृश्यं, समाश्रित्य निमित्तीकृत्य । लिङ्गसंख्याविभक्तिस्वरूपसाम्यर्जितमिति वस्तुग्रहणम् ।

यथा—

---

२२. दृष्टान्त अलङ्कार—

इसके बाद कुन्तक ने संक्षप में दृष्टान्तालङ्कार का विवेचन किया है । इसके लक्षण की कारिका का पुनरुद्धार करके ऊपर अङ्कित कर दिया गया है । वृत्ति ग्रन्थ से भी उसके चतुर्थ चरण का अनुमान नहीं किया जा सका है ।

दृष्टान्त [अलङ्कार] को कहते हैं । 'वस्तु साम्य इत्यादि'—

वस्तु की समानता को देखकर जो [प्रस्तुत वस्तु के साथ] अन्य [अप्रस्तुत वस्तु] का प्रदर्शन करना है [उसको दृष्टान्तालङ्कार कहते हैं] ॥३६॥

जो अन्य का अर्थात् वर्ण्यमान रूप प्रस्तुत पदार्थ से भिन्न अन्य [अप्रस्तुत] पदार्थ का प्रदर्शन अर्थात् [काव्य में] वर्णन करना है वह दृष्टान्त नामक अलङ्कार कहा जाता है । कैसे कि, 'वस्तु की समानता को अवलम्बन करके' । वस्तु अर्थात् दृष्टान्त तथा दाष्टान्तक रूप दोनों पदार्थों के साम्य अर्थात् सादृश्य को अवलम्बन कर अर्थात् कारण मानकर । [जो अन्य वस्तु का प्रदर्शन करना है वह दृष्टान्त नामक अलङ्कार कहा जाता है ।] वस्तु [पद] का ग्रहण इसलिए किया है कि [केवल] लिङ्ग, संख्या, या विभक्ति स्वरूप साम्य को छोड़कर [यथार्थ वस्तु के साम्य में ही यह दृष्टान्तालङ्कार होता है । यह अभिप्राय है । इसके उदाहरण रूप में शकुन्तला नाटक का १, २० श्लोक के तीन चरण उद्धृत करते हैं] ।

जैसे—

---

१. 'सोऽयमत्राभिधीयते' यह पाठ हमने बढ़ाया है ।

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥१५७॥

पादत्रयमेवोदाहरणं, चतुर्थे भूषणान्तरसम्भवात् ॥३८॥

अर्थान्तरन्यासमभिधत्ते वाक्यार्थेत्यादि ।

वाक्यार्थान्तरविन्यासो मुख्यतात्पर्यसाम्यतः ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः यः समर्पकतयाहितः ॥३९॥

'ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः' अर्थान्तरन्यासनामालङ्कारो ज्ञेयः परिज्ञातव्यः । कः—'यः वाक्यार्थान्तरविन्यासः' परस्परान्वितपदसमुदायाभिधेय वस्तु

शैवाल [सिवार नामक जल की घास] से घिरा हुआ भी कमल रमणीय लगता है । चन्द्रमा का काला कलङ्क भी सौन्दर्य को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार यह तन्वी शकुन्तला वल्कल वस्त्र धारण किए हुए भी अत्यन्त सुन्दर लग रही है ॥१५७॥

[इस श्लोक के यह] तीन चरण ही [इस दृष्टान्तालङ्कार के] उदाहरण हैं । चौथे चरण में [अर्थान्तरन्यास नामक] दूसरा अलङ्कार सम्भव होने से । [उस चौथे चरण को आगे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है] ॥३८॥

२३. अर्थान्तरन्यास अलङ्कार—

[इस प्रकार दृष्टान्तालङ्कार के विवेचन के बाद] अर्थान्तरन्यास अलङ्कार को 'वाक्यार्थ' इत्यादि [कारिका] में कहते हैं । [उसकी पुनरुद्धार की हुई कारिका, ऊपर दी गई है, का अर्थ इस प्रकार है]—

मुख्य तात्पर्य के साथ समानता होने से [विवक्षित अर्थ के] समर्पक रूप में निबद्ध किया हुआ दूसरे वाक्यार्थ का विन्यास अर्थान्तरन्यास [अलङ्कार] कहलाता है ।

उसे अर्थान्तरन्यास समझना चाहिए, अर्थात् अर्थान्तरन्यास नामक अलङ्कार उसको जानना चाहिए । कौन सा, कि जो दूसरे वाक्यार्थ का विन्यास है । परस्पर एक दूसरे से अन्वित पद समुदाय के द्वारा प्रतिपादित वस्तु 'वाक्यार्थ' होता है ।

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल १, २० ।

वाक्यार्थः । तस्मादन्यत् प्रकृतत्वात् प्रस्तुतव्यतिरेकि 'वाक्यार्थान्तरम्'। तस्य 'विन्यासो' विशिष्टं न्यसनं तद्विदाह्लादकारितयोपनिबन्धः । कस्मात कारणात्—'मुख्यतात्पर्यसाम्यतः'। 'मुख्यं' प्रस्तावाधिकृतत्वात् प्रधानं वस्तु तस्य 'तात्पर्यं' यत्परत्वेन तदुपात्तम्।[1] तस्य साम्यतः सादृश्यात् । कथम, 'समर्पकतयाहितः' समर्पकत्वेनोपनिबद्धः। तदुपपत्तियोजनेनेति यावत्।

यथा—

[1]किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥१५८॥

यथा वा—

[2]असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥१५६॥३६॥

प्रकृत [वर्ण्यमान] होने से [वाक्यार्थ प्रस्तुत हुआ और वाक्यार्थान्तर अथवा दूसरा वाक्यार्थ उस] प्रस्तुत से भिन्न अर्थ या दूसरा वाक्यार्थ हुआ। उस [अप्रस्तुत वाक्यार्थ] का विन्यास अर्थात् विशेष प्रकार का न्यास अर्थात् सहृदयहृदयाल्हादकारितया उपनिबन्ध [अर्थान्तरन्यास नामक अलङ्कार होता है]। किस कारण से कि, 'मुख्य के तात्पर्य की समानता से'। मुख्य अर्थात् प्रकरण में प्रतिपाद्य होने से प्रधान भूत वस्तु उसका जो तात्पर्य अर्थात् जिसके बोधन के लिए उसको ग्रहण किया गया है उसकी समानता से सादृश्य से। कैसे कि, समर्पक रूप से रखा हुआ, प्रतिपादक रूप से निबद्ध किया हुआ उसके उपपादन की योजना से। [उपनिबद्ध] यह अभिप्राय हुआ। [अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक के जिस 'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं' आदि श्लोक के तीन चरण ऊपर दृष्टान्तालङ्कार के उदाहरण रूप में दिए जा चुके हैं उसी का अवशिष्ट चौथा चरण इस अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का उदाहरण है]।

जैसे—

[मधुर] सुन्दर आकृति वालों के लिए क्या आभूषण नहीं होता है ॥१५८॥

अथवा जैसे—[अभिज्ञान शाकुन्तल का उसी प्रकरण का दूसरा श्लोक]।

क्योंकि मेरा [आर्य] श्रेष्ठ मन इस [शकुन्तला] को [प्राप्त करना] चाहता है, इसलिए यह अवश्य ही क्षत्रिय के लिए [पत्नी रूप में] ग्रहण करने योग्य है। क्योंकि सन्दिग्ध वस्तुओं [की उपादेयता या अनुपादेयता] के विषय में सज्जनों के अन्तःकरण की वृत्ति ही प्रमाण होती है ॥१५६॥

---

१. 'यत्परत्वेन तदमत्तं' इति भ्रष्टः पाठः।

२. अभिज्ञान शाकुन्तलम् १, २०। ३. अभि० शाकु० १, २२।

आक्षेपमभिधत्ते निषेधच्छाययेत्यादि ।

निषेधच्छायया ऽऽक्षेपः कान्तिं प्रथयितुं पराम् ।
आक्षेप इति स ज्ञेयः प्रस्तुतस्यैव वस्तुनः ॥४०॥

'आक्षेप इति स ज्ञेयः' सोऽयमाक्षेपालङ्कारो ज्ञातव्यः । स कीदृशः— 'प्रस्तुतस्यैव वस्तुनः' प्रकृतस्यैवार्थस्य 'आक्षेपः' क्षेपकृत् । अभिप्रेतस्यापि निवर्तनमिति । कथम्—'निषेधच्छायया', प्रतिषेधविच्छित्त्या । किमर्थम्—'कान्तिं प्रथयितुं पराम्', उपशोभां प्रकटयितुं प्रकृष्टाम् ॥*॥४०॥

[सुन्दर आकृति वालों का क्या आभूषण नहीं होता है सब ही कुछ अलङ्कार स्वरूप होता है इस सामान्य नियम को कहकर वल्कलधारिणी शकुन्तला के सौन्दर्य की पुष्टि की गई है । यह दृष्टान्त 'समर्पकतया आहित हुआ है' अतएव यहाँ दृष्टान्तालङ्कार है । इसी प्रकार 'सन्दिग्ध वस्तुओं की उपादेयता के विषय में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है' इस सामान्य नियम से शकुन्तला के ग्रहण की योग्यता का समर्थन किया गया है । इसलिए नवीन आचार्य इसको सामान्य से विशेष के समर्थन रूप से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार मानते हैं] ॥३९॥

२४. आक्षेप अलङ्कार—

[अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के बाद कुन्तक] निषेधच्छायया इत्यादि [कारिका में] आक्षेप [नामक अलङ्कार] को कहते हैं । उसका लक्षण निम्न प्रकार है—

प्रस्तुत वस्तु का ही सौन्दर्य की अत्याधिक वृद्धि के लिए निषेधाभास रूप से आक्षेप [निन्दा] आक्षेप अलङ्कार कहलाता है ।

'उसको आक्षेप समझना चाहिए' अर्थात् वह आक्षेप नामक अलङ्कार कहा जाता है । वह किस प्रकार का कि, प्रस्तुत वस्तु का ही अर्थात् प्रकृत अर्थ का ही आक्षेप अर्थात् निषेध करने वाला । अभिप्रेत इष्ट वस्तु का भी निषेध करना । किस प्रकार कि, 'निषेध की छाया' अर्थात् प्रतिषेध द्वारा सौन्दर्य से । किस लिए 'अत्यन्त कान्ति का विस्तार करने के लिए' अर्थात् उत्तम उपशोभा को प्रकट करने के लिए ।

इसके उदाहरण रूप में एक प्राकृत पद्य दिया है । परन्तु उसका लेख अत्यन्त अस्पष्ट है अतः पढ़ने में न आ सकने से नहीं दिया जा सका है ॥४०॥

२५. विभावना अलङ्कार—

इस प्रकार आक्षेपालङ्कार के निरूपण के बाद कुन्तक ने विभावनालङ्कार का निरूपण किया है । पुनरुद्धार की गई कारिका के अनुसार उसका लक्षण इस प्रकार है—

---

*पाठ लोप ।

[1]'एवं स्वरूपप्रतिषेधवैचित्र्यच्छायातिशयमलङ्करणमभिधाय कारण-प्रतिषेधोत्तेजितातिशयमभिधत्ते स्वकारणेत्यादि—

वर्णनीयस्य केनापि विशेषेण विभावना ।
स्वकारणपरित्यागपूर्वकं कान्तिसिद्धये ॥४१॥

'वर्णनीयस्य' प्रस्तुतस्यार्थस्य 'विशेषेण' केनाप्यलौकिकेन रूपान्तरेण विभावनेत्यलंकृतिरभिधीयते । कथम्—'स्वकारणपरित्यागपूर्वकम्' । तस्य विशेषस्य स्वमात्मीयं कारणं यन्निमित्तं तस्य परित्यागः प्रहाणं पूर्वं प्रथम यत्र । तत्कृत्वेत्यर्थः । किमर्थ—'कान्तिसिद्धये' शोभानिष्पत्तये । तदिदमुक्तं भवति—यया लोकोत्तरविशेषविशिष्टता वर्णनीयतां नीयते ।

यथा—

[2]असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ॥१६०॥

इस प्रकार स्वरूप के प्रतिषेध से जिसमें वैचित्र्य का अतिशय होता है इस प्रकार के [आक्षेप नामक पूर्वोक्त] अलङ्कार को कहकर अब कारण के प्रतिषेध से अतिशययुक्त [विभावना नामक अलङ्कार] को 'स्वकारण' इत्यादि [कारिका] से कहते हैं—

किसी विशेषता के कारण, सौन्दर्य की सिद्धि के लिए वर्णनीय [पदार्थ रूप कार्य] का अपने कारण के बिना ही वर्णन करना विभावना अलङ्कार होता है ।

'वर्णनीय' अर्थात् प्रस्तुत अर्थ की 'विशेषता' से किसी अलौकिक रूपान्तर से [प्रदर्शित करना]विभावना [नामक] अलङ्कार कहा जाता है । कैसे कि 'अपने कारण के परित्यागपूर्वक' अर्थात् उस विशेष का जो अपना कारण उस कारण का परित्याग पूर्व अर्थात् प्रथम जिस में है । अर्थात् उस [कारण के परित्याग] को करके । किस लिए कि 'कान्ति की सिद्धि के लिए' अर्थात् शोभा के सम्पादन के लिए । इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिससे [वस्तु की] लोकोत्तर विशेष युक्तता वर्णनीयता को प्राप्त कराई जाती है । [अर्थात् वर्णनीय वस्तु के शोभातिशय के लिए बिना कारण के कार्य का वर्णन विभावना अलङ्कार कहलाता है] ।

जैसे—

शरीर के, बिना धारण किया हुए आभूषण, बिना आसव [मदिरा] के मद को उत्पन्न करने वाले, और काम के पुष्प से भिन्न बाण रूप बाल्यावस्था के बाद की [यौवन] अवस्था को वह [पार्वती] प्राप्त हुई ॥१६०॥

---

१. एवं स्वरूपं । २. कुमारसम्भव १, ३१ ।

अत्र कृत्रिमकारणपरित्यागपूर्वकं लोकोत्तरसहजविशेषविशिष्टता कवेरभिप्रेता ॥४१॥

तदेवमसम्भाव्यकारणत्वादविभाव्यमानस्वभावतां विचार्य विचार-गोचरस्वरूपतया स्वरूपसन्देहसमर्पितातिशयमभिधत्ते; यस्मिन्नित्यादि ।

यस्मिन्नुत्प्रेक्षितं रूपं सन्देहमेति वस्तुनः ।
उत्प्रेक्षान्तरसद्भावात् विच्छित्त्यै [1]सन्देहो मतः ॥४२॥

यस्मिन्नलङ्करणे सम्भावनानुमानात् साम्यसमन्वयाच्च स्वरूपान्तर-समारोपद्वारेण 'उत्प्रेक्षितं' प्रतिभालिखितं 'रूपं' पदार्थपरिस्पन्दलक्षणं 'सन्देहमेति' संशयमारोहति । कस्मात् कारणात्—'उत्प्रेक्षान्तरसद्भावात्' । उत्प्रेक्षाप्रकर्ष-[2]परस्यापरस्यापि तद्विषयस्य सद्भावात् । किमर्थं 'विच्छित्त्यै' शोभायै । तदेवंविधमभिधावैचित्र्यं सन्देहाभिधानं वदन्ति ।

यहाँ कृत्रिम कारणों का परित्याग करके लोकोत्तर सहज सौन्दर्य [विशेष] विशिष्टता [का वर्णन] कवि को अभिप्रेत है ॥४१॥

२६ सन्देह अलङ्कार—

इस प्रकार विभावना का निरूपण करने के बाद कुन्तक ने सन्देहालङ्कार का निरूपण किया है । उसके लक्षण की कारिका का उद्धार कर ऊपर देने का प्रयत्न किया है । कुन्तक ने सन्देह का वर्णन इस प्रकार किया है ।

इस प्रकार [विभावनालङ्कार में] कारण के असम्भाव्य होने से [कार्य की] असम्भाव्यमान स्वभावता का विचार करके [विचार योग्य स्वरूप होने से] अपने स्वरूप के सन्देह से अतिशय को समर्पित करने वाले [सन्देह अलङ्कार को] को 'यस्मिन्' इत्यादि [कारिका से] कहते हैं—

जिसमें सौन्दर्य विशेष के आधान करने के लिए वस्तु का उत्प्रेक्षित स्वरूप दूसरे की उत्प्रेक्षा के भी सम्भव होने से सन्देह पड़ जाता है वहाँ सन्देहालङ्कार होता है ।

जिस अलङ्कार में सम्भावना द्वारा अनुमान से और सादृश्य के मेल से अन्य स्वरूप के समारोपण द्वारा 'उत्प्रेक्षित' अर्थात् प्रतिभोल्लिखित रूप अर्थात् पदार्थों का स्वभाव सन्देह में पड़ जाता है [उसको सन्देहालङ्कार कहते हैं] । किस कारण से [स्वरूप सन्देह में पड़ जाता है कि] 'अन्य [प्रकार की] उत्प्रेक्षा सम्भव होने से' । उत्प्रेक्षा के प्रकर्षपरक अन्य के भी उस विषय के होने से । किसलिए कि—'विच्छित्ति' अर्थात् शोभा के लिए । इस प्रकार के कथन शैली के वैचित्र्य को सन्देह नामक [अलङ्कार] कहते हैं ।

---

१. 'सन्देहो मतः' ये शब्द वृत्ति में नहीं हैं । हमने जोड़े हैं ।

२. 'परस्यापि' इतना ही पाठ था 'परस्यापरस्यापि' हमने बनाया है ।

यथा—

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु ।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभास्तिमिरेण ॥१६१॥

यथा वा—

निमीलदाकेकरलोलचक्षुषां प्रियोपकण्ठं कृतगात्रवेपथुः ।
निमज्जतीनां श्वसितोद्धतस्तनः श्रमो नु तासां मदनो नु पप्रथे ॥१६२॥

जैसे—

[किरातार्जुनीय में सन्ध्याकाल के वर्णन के प्रसङ्ग में यह श्लोक आया है। जो सन्ध्याकाल के उतरते हुए अन्धकार का वर्णन इस सुन्दर रूप में कर रहा है। अन्धकार के हो जाने से वृक्षादि काले-काले मालूम पड़ते हैं उनको देखकर कवि कह रहा है कि] क्या नाना प्रकार के वृक्ष तथा पर्वत आदि आदि [कज्जल से] रंग दिए गए हैं [जो सब काले-काले ही लगते हैं] अथवा क्या [किसी ने] नीले आकाश को नीचे झुका लिया है अथवा [उस आकाश] को भर दिया है [जो सामने आकाश में कालिमा ही कालिमा दिखलाई दे रही है] क्या पृथिवी के गढ़े किसी ने भर दिए हैं [जिससे कि सारी पृथ्वी एक-सी दिखलाई देती है। ऊँचे नीचे का कहीं कोई ज्ञान नहीं होता है] अथवा अन्धकार ने दिशाओं को इकट्ठा कर दिया है ॥१६१॥

अथवा जैसे [दूसरा उदाहरण]—

[नदी में स्नान के समय अपने] प्रिय के समीप ही नहाती हुई [उन नायिकाओं की आँखों में पानी पड़ जाने से] तनिक लाल और चंचल नेत्रों वाली उन [स्त्रियों] के शरीर में कम्प को उत्पन्न करने वाला और साँस के फूलने से या ज़ोर से चलने से स्तनों को हिला देने वाला श्रम [थकावट उनके शरीर में] फैली अथवा कामदेव व्याप्त हुआ। [क्योंकि ये चिन्ह दोनों ही अवस्थाओं में हो सकते हैं] ॥१६२॥

[इसके बाद दो उदाहरण इसी सन्देह अलङ्कार के और दिए हैं परन्तु उनमें से एक जो प्राकृत भाषा में है वह पढ़ने में नहीं आया। दूसरा जो संस्कृत का है वह आगे दिया जा रहा है]—

---

१. किरात ९, १५। २. किरात ८, ५३।

यथा वा—

किं सौन्दर्यमहार्थसञ्चितजगत्कोशैकरत्नं विधेः
किं शृङ्गारसरःसरोरुहमिदं स्यात् सौकुमार्यावधि ।
किं लावण्यपयोनिधेरभिनवं बिम्बं सुधादीधिते-
र्वक्तुं कान्ततमाननं तव मया साम्यं न निश्चीयते ॥१६३॥

ससन्देहस्यैकविधप्रकारत्वमुत्प्रेक्षामूलत्वात् ॥४२॥

एवं स्वरूपसन्देहसुन्दरं ससन्देहमभिधाय स्वरूपापन्हुतिरमणीयामपन्हुतिमभिधत्ते 'अन्यदित्यादि'—

अन्यदर्पयितुं रूपं वर्णनीयस्य वस्तुनः ।
स्वरूपापन्हवो यस्यामसावपन्हुतिर्मता ॥४३॥

अथवा जैसे—

[हे प्रिये तुम्हारा यह मुख] क्या सौन्दर्य रूप परम तत्त्व का सञ्चित विधाता का सारे जगत् का जो एक ही कोष है उसका अद्वितीय [सब से बहुमूल्य] रत्न है, अथवा क्या सुन्दरता की पराकाष्ठा रूप यह शृङ्गार रूप तालाब का कमल है, अथवा क्या लावण्य के सागर का [उससे निकला हुआ] चन्द्रमा का नया बिम्ब है [इस प्रकार सन्देह में पड़ जाने के कारण] तुम्हारे अत्यन्त सुन्दर मुख का वर्णन करने के लिए कोई उपमा [साम्य] निश्चय नहीं हो पा रही है ॥१८३॥

कुछ लोगों ने सन्देह के शुद्ध सन्देह, निश्चयगर्भ सन्देह या निश्चयान्त सन्देह आदि रूप से अनेक भेद किए हैं । परन्तु कुन्तक उसका एक ही प्रकार बतलाते हैं—

सन्देह का [सब ही भेदों के] उत्प्रेक्षामूलक होने से एक ही प्रकार है । [अर्थात् उसके अवान्तर भेद करना उचित नहीं] ॥४२॥

२७. अपन्हुति अलङ्कार—

इस प्रकार अपने रूप में सन्देह से सुन्दर, 'सन्देह' अलङ्कार को कहकर अब अपने स्वरूप की अपन्हुति से रमणीय अपन्हुति [अलङ्कार] को 'अन्यद्' इत्यादि [कारिका] से कहते हैं—

जिसमें वर्णनीय वस्तु को अन्य [अप्रस्तुत] स्वरूप प्रदान करने के लिए उसके अपने स्वरूप को छिपा दिया जाता है वह अपन्हुति अलङ्कार माना जाता है ।

❀पाठ लोप ।

पूववदुत्प्रेक्षामूलत्वमेव जीवितमस्याः । सम्भावनानुमानात् सादृश्याच्च 'वर्णनीयस्य वस्तुनः' प्रस्तुतस्यार्थस्य 'अन्यत्' किमप्यपूर्वं 'रूपमर्पयितुं' रूपान्तरं विधातुं 'स्वरूपापन्हवः' स्वभावापलापः सम्भवति यस्यामसौ तथाविधभणिति-रेवापन्हुतिर्मता प्रतिभाता तद्विदाम् ।

यथा—

**पूर्णेन्दोः परिपोषकान्तवपुषः स्फारप्रभाभासुरं*
नेदं मण्डलमभ्युदेति गगने भासोज्जिहीर्षोर्जगत् ।
मारस्योच्छ्रितमातपत्रमधुना पाण्डुप्रदोषश्रियो
मानो बन्धुजनाभिलाषदलनोऽद्योच्छिद्यते किं न ते ॥१६४॥

२४वें आक्षेप अलङ्कार में वस्तु के स्वरूप का निषेध था । २५वें विभावना अलङ्कार में उनके कारण का निषेध सौन्दर्यजनक था । २६वें सन्देह अलङ्कार में वस्तु के स्वरूप में सन्देह के कारण रमणीयता थी । यहाँ २७वें अपन्हुति अलङ्कार में उस स्वरूप सन्देह से एक कदम और आगे बढ़कर उसके स्वरूप का अपह्नव ही हो जाता है । इसलिए सन्देह के बाद अपन्हुति का वर्णन करते हैं । यह उनकी सङ्गति का अभिप्राय है जो बहुत सुन्दर है । इसी प्रकार पिछले अलङ्कारों में भी उनकी संगति-योजना सुन्दर बनी है ।

पूर्ववत् [सन्देह के समान] उत्प्रेक्षामूलकत्व ही इस [अपन्हुति] की जान है । सम्भावना के द्वारा अनुमान से और सादृश्य से वर्णनीय वस्तु का अर्थात् प्रस्तुत अर्थ को कुछ और अपूर्व सौन्दर्य प्रदान करने के लिए, उसका रूपान्तर करने के लिए अपने रूप का अपन्हव अर्थात् अपने स्वभाव का निषेध जिसमें हो सकता है उस प्रकार की कथन शैली ही 'अपन्हुति' मानी जाती है । अर्थात् विद्वानों को प्रतीत होती है ।

इसके बाद इस 'अपन्हुति' के तीन उदाहरण कुन्तक ने दिए हैं । जिनमें से केवल एक पढ़ा जा सका है । जो ऊपर दिया गया है । शेष दो पढ़ने में नहीं आते ।

जैसे—

अपनी कान्ति से जगत् का [अन्धकार से] उद्धार करने के इच्छुक और परिपुष्ट हो जाने से सुन्दर स्वरूप वाले पूर्ण चन्द्र का यह मण्डल आकाश में उदय नहीं हो रहा है अपितु पाण्डु वर्ण सन्ध्या की लक्ष्मी के ऊपर यह कामदेव का छत्र उठ रहा [दीखता] है, बन्धुओं की इच्छा को नष्ट कर डालने वाला तेरा मान क्या अब भी नहीं मिटेगा ॥१६४॥

---

*पाठ लोप ।

[1]तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोर्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु ।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमन्तर्मयूखैस्त्वमपि कुसुमबाणान् बज्रसारीकरोषि ॥१६४॥

संसृष्टिर्यथा—

आश्लिष्टो नवकुंकुमारुणरविव्यालोकितैराश्रितो
लम्बान्ताम्बरया समेत्य भुवने ध्यानान्तरे सन्ध्यया ।
चन्द्रांशूत्करकोरकाकुलमतिर्ध्वान्तद्विरेफोऽधुना
देव्या स्थापितदोहदे कुरबके भाति प्रदोषागमः ॥१६६॥

इसमें चन्द्रमा के अपने स्वरूप का अपन्हव कर उस को काम के छत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है अतः अपन्हुति अलङ्कार है ।

[हे कामदेव लोग तुमको 'कुसुमशर' कहते हैं अर्थात् तुम्हारे बाण फूलों के हैं। और चन्द्रमा को शीतरश्मि कहते हैं अर्थात् उसकी किरणें शीतलता प्रदान करती हैं। परन्तु वास्तव में] मेरे जैसे [वियोगियों] के लिए तो तुम्हारा 'कुसुमशरत्व' और चन्द्रमा का 'शीत रश्मित्व' ये दोनों ही बातें मिथ्या जान पड़ती हैं । क्योंकि चन्द्रमा अपनी [उन तथाकथित] हिमगर्भ [शीतल] किरणों से [मेरे जैसों के लिए] आग बरसाता है और तुम्हारे [तथाकथित] पुष्पबाण बज्र बन रहे हैं ॥१६५॥

२८. संसृष्टि अलङ्कार—

इस प्रकार अपन्हुति अलङ्कार का निरूपण करने के बाद कुन्तक ने संसृष्टि की विवेचना की है। परन्तु उनकी वृत्ति भी पढ़ने में नहीं आई इसलिए उसकी कारिका का भी पुनरुद्धार नहीं किया जा सका है । केवल कुछ उदाहरण पढ़े जा सके हैं जो ऊपर दिए गए हैं। भामह ने संसृष्टि का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलङ्कारयोगतः ।
रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा ॥३,४६॥

अनेक अलङ्कारों की निरपेक्ष रूप से एक जगह स्थिति होने पर संसृष्टि अलङ्कार होता है ।

संसृष्टि [का उदाहरण] जैसे—

देवी [रानी] ने जिसमें दोहद [वृक्षों के जल्दी फूलने-फलने के लिए किया गया उपाय विशेष] दिया है इस प्रकार के इस कुरबक के ऊपर सन्ध्याकाल का आगमन शोभित हो रहा है। [किस प्रकार का 'प्रदोषागम' शोभित हो रहा है यह कहते हैं कि] नव कुंकुम के समान अरुण वर्ण सूर्य की किरणों [दृष्टि] से आश्लिष्ट [अर्थात् लाल लाल हुआ] और ध्यान के बीच [ध्यान में मग्न] संसार में आकर लम्बे वस्त्र अथवा आकाश वाली संध्या से आश्रित, और चन्द्रकिरणों के समूह रूप कलिओं [को देखने] से व्याकुल मति हो रहा है अन्धकार रूप भ्रमर जिस में इस प्रकार का प्रदोष [संध्याकाल] का आगमन शोभित हो रहा है ॥१६६॥

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम् ३, ५५ ।

यथा वा—

म्लानिं वान्तविषानलेन नयनव्यापारलब्धात्मना
नीता राजभुजङ्ग पल्लवमृदुर्नूनं लतेयं तथा ।
अस्मिन्नीश्वरशेखरेन्दुकिरणस्मेरस्थलीलाञ्छिते
कैलासोपवने यथा सुगहने नैति प्ररोहं पुनः ॥१६७॥

यथा वा—

रूढ़ा जालैर्जटानामुरगपतिगणैस्तत्र पातालकुक्षौ
प्रोद्यद्बालाकुंरश्री र्दिशि दिशि दशनैरेभिराशागजानाम् ।
अस्मिन्नकाशदेशे विकसितकुसुमा राशिभिस्तारकाणां
नाथ त्वत्कीर्तिवल्ली फलति फलमिदं बिम्बमिन्दोः सुराद्रेः ॥१६७॥

यथा वा—

निर्मोकमुक्तिरिव या गगनोरगस्य ॥१६६॥

यथा वा—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूद् । इत्यादि ॥१७०॥४३॥

अथवा जैसे—

हे भुजङ्गराज अपनी आँखों के व्यापार [अर्थात् दृष्टि] से उत्पन्न उगले हुए विष की अग्नि से तुमने पल्लवों से कोमल इस लता को इस प्रकार से सुखा डाला है कि शिव जी शिर पर स्थित चन्द्रमा की किरणों से सुशोभित स्थली से युक्त इस विस्तृत कैलास के उपवन में वह फिर कभी नहीं उगेगी ॥१६७॥

अथवा जैसे—

हे स्वामिन्! उस [सुदूरवर्ती] पाताल देश में सर्पराज के द्वारा अपनी जटाओं के रूप में उगी हुई, और इन दिग्गजों के फैले हुए दाँतों के रूप में जिसके [बालाकुंर] में नवीन अंकुर की शोभा सब दिशाओं प्रकट हो रही है। इस आकाश देश में तारों के समूह रूप मे खिले हुए फूलों वाली आपकी वह कीर्तिलता सुमेरु पर्वत पर इस चन्द्र-बिम्ब रूप फल को दे रही है ॥१६८॥

अथवा जैसे—[उदाहरण सं० ३, ६३ पर दिया हुआ ।

निर्मोकमुक्तिरिव या गगनोरगस्य ॥१६६॥

अथवा जैसे—[उदाहरण सं० ३, १२ पर पूर्वोद्धृत]

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूत इत्यादि ॥१७०॥

एवं यथोपपत्यालङ्कारान् लक्षयित्वा केषाञ्चिदलक्षितत्वाल्लक्षणाव्याप्तिदोषं परिहर्तुमुपक्रमते, भूषणेत्यादि—

भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा ।
अलङ्कारास्तु ये केचिन्नालङ्कारतया मनाक् ॥४४॥

ये पूर्वोक्तव्यतिरिक्ताः केचिदलङ्कारास्तेऽलङ्कारतया मनाङ् न विभूषणत्वेनाभ्युपगताः । केन हेतुना—'भूषणान्तरभावेन' ।

ये दो श्लोक और इस सङ्करालङ्कार के उदाहरण रूप में कुन्तक ने दिए हैं । उनका अर्थ पहिले किया जा चुका है । अतः यहाँ दुबारा नहीं दिया है ॥४३॥

अवशिष्ट अलङ्कार अमान्य है—

इस प्रकार कुन्तक ने मुख्य-मुख्य अलङ्कारों का विवेचन समाप्त कर दिया । कुछ ऐसे अलङ्कार बच रहे हैं जिनका भामह आदि ने लक्षण किया है परन्तु कुन्तक ने लक्षण नहीं । उनके विषय में कुन्तक का यह कहना है कि उनको वास्तव में अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि उनमें से जो अलङ्कार कहलाने योग्य हैं उनका तो कहे हुए अन्य अलङ्कारों में अन्तर्भाव हो जाता है इसलिए उनके अलग निरूपण करने की कोई आवश्यकता नहीं है । और बहुत से ऐसे ही अलङ्कार कह दिए गए हैं कि जिनमें वास्तव में कोई चमत्कार नहीं है । इसलिए शोभाशून्य होने से इस प्रकार के अलङ्कारों का निरूपण करना व्यर्थ है । अत एव हमने जो अलङ्कारों का निरूपण किया वह पूर्ण है । उसके अतिरिक्त अन्य अलङ्कारों के वर्णन की आवश्यकता नहीं है । यही बात अगली कारिका में कहते हैं—

इस प्रकार युक्ति के अनुसार [सिद्ध हो सकने वाले] अलङ्कारों का लक्षण [आदि] करके [अवशिष्ट] किन्हीं [अलङ्कारों] के लक्षण न करने के कारण लक्षण में [सम्भावित रूप से आने वाले] अव्याप्ति दोष के परिहार करने के लिए भूषण इत्यादि [कारिका] कहते हैं—

[अवशिष्ट अलङ्कारों में से कुछ के] अन्य [कहे हुए] अलङ्कार रूप होने से और [कुछ के] शोभा रहित [चमत्कारहीन] होने से जो कोई [अन्यों के अभिमत] अलङ्कार हैं वे तनिक भी अलङ्कार रूप नहीं हो सकते हैं ॥४५॥

पूर्वकथित [अलङ्कारों] के अतिरिक्त जो अलङ्कार [भामह आदि के माने हुए] हैं उनको हमने अलङ्कार रूप ने तनिक भी नहीं माना हैं । किस कारण से कि 'अन्य अलङ्कार रूप होने से' उन [न कहे हुए शेष अलङ्कारों]

तेभ्यो व्यतिरिक्तमन्यद् भूषणं 'भूषणान्तरम्' तत्स्वभावत्वेन । पूर्वोक्तानामेवान्यतमत्वेनेत्यर्थः । 'शोभाशून्यतया तथा', शोभा कान्तिस्तया शून्यं रहितं, शोभाशून्यं, तस्य भावः शोभाशून्यता, तया हेतुभूतया, तेषामलङ्करणत्वमनुपपन्नम् ॥४४॥*

[1]भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम् ।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते ॥१७१॥
पद्मेन्दुभृङ्गमातङ्गपुंस्कोकिलकलापिनः ।
वक्त्रकान्तीक्षणगतिवाणीबालैस्त्वया जिताः ॥१७२॥

से भिन्न [जो कहे हुए] अलङ्कार भूषणान्तर हुए । तद्रूप ततत्स्वभाव अर्थात् पूर्वोक्त [अलङ्कारों] में से ही कोई [न कोई] एक होने से [अर्थात् पूर्वोक्त अलङ्कारों के ही अन्तर्गत हो जाने से शेष अलङ्कारों को अलग मानने की आवश्यकता नहीं है] और [जो अलङ्कार इन पूर्वोक्त अलङ्कारों में अन्तर्भूत नहीं होते हैं फिर भी हमने कुन्तक ने उनका वर्णन नहीं किया है उसके लिए कहते हैं कि] शोभारहित होने से वे भी अलङ्कार नहीं है । शोभा अर्थात् कान्ति उससे शून्य अर्थात् रहित शोभाशून्य हुआ । उसका भाव शोभाशून्यता । उसके कारण उन [अवशिष्ट तथाकथित अलङ्कारों] का अलङ्कारत्व युक्तिसङ्गत नहीं है ॥३६॥

२६. यथासंख्य अलङ्कार—

इस प्रकार उदाहरण रूप में कुन्तक ने भामह द्वारा माने हुए यथासंख्य अलङ्कार को लिया है। उसका भामहोक्त लक्षण तथा उदाहरण देकर उसकी आलोचना की है। और शोभारहित, उक्तिवैचित्र्य से शून्य होने से अलग अलङ्कार मानने का खण्डन किया है।

समान धर्म वाले पहिले कहे हुए बहुत से पदार्थों का जो बाद में [उसी क्रम से] निर्देश करना है वह यथासंख्य अलङ्कार कहलाता है। [यह भामह ने यथासंख्य अलङ्कार का लक्षण किया है] ॥१७१॥

जैसे—

[हे सुन्दरी] कमल, चन्द्रमा, भौंरे, हाथी, कोकिल और मोर का तुमने [क्रमशः अपने] मुख, कान्ति, नेत्र, गति, वाणी तथा बालों से जीत लिया है ॥१७२॥

---

*पाठ लोप। १. भामह काव्यालङ्कार २, ८९-९०।

*पूर्वैराम्नातः । *भणितिवैचित्र्यविरहान्न काचिदत्र कान्तिर्विद्यते ।

आशिषो लक्षणोदाहरणानि नेह पठ्यन्ते । तेषु चाशंसनीयस्यैवार्थस्य मुख्यतया वर्णनीयत्वादलङ्कार्यत्वमिति प्रेयोऽलङ्कारोक्तानि दूषणान्यापतन्ति ।

विशेषोक्तेरलङ्कारान्तरभावेनालङ्कार्यतया च भूषणत्वानुपपत्तिः ।

[1]एकदेशस्य विगमे या गुणान्तर संस्थितिः ।
विशेषप्रथायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा ॥१७३॥

स एक स्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥१७४॥

अत्र सकललोकप्रसिद्धजयित्वव्यतिरेकि कन्दर्पस्वभावमात्रमेव वाक्यार्थः ।

पूर्व [भामह] ने [यथासंख्य को अलङ्कार] कहा है [परन्तु वास्तव में उसमें किसी प्रकार] उक्ति का चमत्कार न होने से किसी प्रकार का सौन्दर्य नहीं है । [इसलिए उसको अलग अलङ्कार मानने की आवश्यकता नहीं है] ।

३०. आशीः अलङ्कार—

[भामह कथित] आशीः [नामक अलङ्कार] के लक्षण और उदाहरण यहाँ नहीं दिए जा रहे हैं । उनमें आशंसनीय अर्थ के ही मुख्य रूप से वर्णनीय होने से [उसकी] 'अलङ्कार्यता' होती है इसलिए [उसको अलङ्कार मानने में पूर्वकथित] 'प्रेयोलङ्कार' में कहे हुए दोष आ जाते हैं । [अतः वह भी अलग अलङ्कार नहीं है] ।

३१. विशेषोक्ति अलङ्कार—

विशेषोक्ति के [कहीं] अन्य अलङ्कार में अन्तर्भूत हो जाने से अथवा [कहीं] अलङ्कार्य हो जाने से [उसको] अलङ्कार मानना युक्तिसङ्गत नहीं है ।

विशेषता के बोधन [कराने] के लिए एकदेश की न्यूनता होने पर दूसरे गुण की स्थिति [का वर्णन] है वह विशेषोक्ति [अलङ्कार कहलाता] है । जैसे—॥१७३॥

जिसके शरीर का हरण करके भी शिवजी ने उसके शक्ति का हरण नहीं किया वह कामदेव अकेला तीनों लोकों को जीत सकता है ॥१७४॥

[विशेषोक्ति के इस भामहोक्त उदाहरण में] सकल संसार में प्रसिद्ध विजयित्व से भिन्न कामदेव के स्वभाव का ही वर्णन है । [वह अलङ्कार्य है अलङ्कार नहीं] ।

---

*पाठ लोप । १. भामह काव्यालङ्कार ३, २३-२४ ।

[1]हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥१७३॥
संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्म निमीलितम् ॥१७४॥
राजकन्यानुरक्तं मां ॥१७५॥
अयमान्दोलितप्रौढ़ ॥१७६॥
स्वभावमात्रमेव रमणीयम् तच्च अलङ्कार्यम् ।

केचिदुपमारूपकाणामलङ्करणत्वं मन्यन्ते, तदयुक्तम्, अनुपपद्यमानत्वात् ।

समग्रगगनायाममानदण्डो रथाङ्गिनः ।
पादो जयति सिद्धस्त्रीमुखेन्दुनवदर्पणः ॥१७७॥४५॥

हेतुः सूक्ष्म तथा लेश अलङ्कार—

[इसके बाद कुन्तक ने भामह का श्लोक उद्धृत किया है । उसका अभिप्राय यह है कि] हेतुः सूक्ष्म लेश आदि अलङ्कार नहीं होते हैं क्योंकि उनमें समुदाय रूप से कोई वक्र [मनोहर] उक्ति नहीं होती है । [इसलिए शोभाशून्य होने से अलङ्कार नहीं है] ॥१७३॥

[हेतुः का उदाहरण] विट [सम्भोगहीनसम्पद् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः । देशोपचारकुशल मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्] की संकेत काल [नायक नायिका के मिलने के समय] की जिज्ञासा को समझ कर चतुरा [नयिका] ने नेत्रों से [अपना] अभिप्राय व्यक्त करते हुए, हँसते हुए लीलाकमल को बन्द कर दिया ॥१७४॥

[इसके बाद सूक्ष्म का] राजकन्या ने अनुरक्त मुझको ॥१७५॥

[तथा तीसरे लेश का] यह आन्दोलित प्रौढ़ इत्यादि ॥१७६॥

[उदाहरण प्रतीकमात्र से दिए हैं । उनके सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—]

[इन तीनों में] स्वभाव मात्र ही रमणीय हैं और 'वह अलङ्कार्य है' [अलङ्कार नहीं] ।

कोई [भामह के पूर्व वर्ती] उपमा रूपक को [अलग] अलङ्कार मानते हैं वह [भी] अनुपपन्न होने से अयुक्त ह ।

समस्त आकाश के विस्तार को नापने वाला विष्णु का पैर सिद्ध स्त्रियों के मुख रूप चन्द्रमा का दर्पण है । [यह उपमारूपक का उदाहरण भामह ने दिया है वह चमत्कार रहित होने से उचित नहीं है] १७७॥४५॥

१. भामह काव्यालङ्कार २, ८६ ।

लावण्यादिगुणोज्ज्वला प्रतिपदन्यासैर्विलासाञ्चिता
विच्छित्त्या रचितैर्विभूषणभरैरल्पैर्मनोहारिणी ।
अत्यर्थं रसवत्तयार्द्रहृदया [भावैरुदाराभिधा
वाग् वश्यं कुरुते जनस्य हृदयं नित्यं] यथा नायिका ॥४६॥

इति श्रीकुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते
तृतीयोन्मेषः समाप्तः ।

प्रथम उन्मेष की १८वीं कारिका में वक्रता के ६ भेदों का प्रतिपादन किया गया था। इनमें से १ वर्ण विन्यास वक्रता, २ पद पूर्वार्द्ध वक्रता, ३ प्रत्यय वक्रता इन तीन भेदों का वर्णन द्वितीय उन्मेष तक हो गया था । तृतीय उन्मेष में 'वाक्य-वक्रता' नामक वक्रता के चतुर्थ भेद का निरूपण किया गया है । इस वाक्य वक्रता के भीतर ही कुन्तक ने समस्त अलङ्कारों का अन्तर्भाव माना है इसलिए इसी प्रसङ्ग में यहाँ समस्त अलङ्कारों का निरूपण किया गया है। इस उन्मेष का उपसंहार करते हैं। इस श्लोक का कुछ भाग पढ़ा नहीं जा सका अतः श्लोक खण्डित रह गया है।

पूर्व संस्करण में 'वाक्...मनोहर्तुं यथा नायिका' यह चतुर्थ चरण का खण्डित पाठ था । तृतीय तथा चतुर्थी दोनों चरणों में कोष्ठान्तर्गत पाठ हमने बना कर दिया है।

लावण्य आदि गुणों से उज्ज्वल, प्रत्येक पद [शब्द तथा पग] के रखने में हाव भाव पूर्ण, सुन्दरता पूर्वक धारण किए थोड़े अलङ्कारों से मनोहर लगने वाली, अत्यन्त [रसभरी होने से] आर्द्र हृदय वाली, उदार [अभिधा] वचन वाली [सत्कवियों की विरचित काव्य रूप] वाणी [सौन्दर्य आदि गुणों से उज्ज्वल, प्रत्येक पग रखते समय हाव भाव से युक्त, सुन्दरता पूर्वक धारण किए हुए थोड़े परिमित आभूषणों से अलंकृत और अत्यन्त प्रेम युक्त होने से आर्द्रहृदया] नायिका के समान [सहृदय] लोगों के मन को सदैव वश में कर लेती है ॥४६॥

इति श्री कुन्तक विरचित वक्रोक्तिजीवित में
तृतीय उन्मेष समाप्त हुआ।

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
वक्रोक्तिदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
तृतीयोन्मेषः समाप्तः।

चतुर्थोन्मेषः

५—एवं सकलसाहित्यसर्वस्वकल्प-वाक्यवक्रता-प्रकाशनानन्तरमवसर-प्राप्तां 'प्रकरणवक्रतां' अवतारयति—

चतुर्थ उन्मेष

प्रथम उन्मेष की १८वीं कारिका में प्रतिपादित छः प्रकार की वक्रताओंमें से १ वर्ण-विन्यास-वक्रता, २ पदपूर्वार्द्ध-वक्रता, ३ प्रत्यय-वक्रता और ४ वाक्य-वक्रता इन चार प्रकार की वक्रताओं के निरूपण के बाद अब इस चतुर्थ उन्मेष में पाँचवीं 'प्रकरणवक्रता' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

इस प्रकार समस्त साहित्य की सर्वस्वभूत 'वाक्य-वक्रता' के प्रतिपादन के बाद अवसर प्राप्त 'प्रकरण-वक्रता' का निरूपण [इस चतुर्थ उन्मेष में] प्रारम्भ करते हैं—

ग्रन्थकार ने इस चतुर्थ उन्मेष में 'प्रकरण-वक्रता' के मुख्य रूप से ६ प्रकार दिखलाए हैं। १. जहाँ व्यवहर्ताओं के अदम्य उत्साहातिरेक के कारण उनके वार्तालाप रूप प्रकरण में कुछ अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो गया है। वह प्रथम प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' है। उसका वर्णन ग्रन्थकार ने १, २ कारिकाओं में किया है और उसके उदाहरण 'अभिजात-जानकी' नामक नाटक के तृतीय अङ्क से सेनापति नील और वानरों के संवाद में से तथा रघुवंश के पञ्चम सर्ग के रघु तथा कौत्स के संवाद में से उद्धृत किए हैं।

२. दूसरे प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' वह है जिसमें कवि इतिहास प्रसिद्ध किसी घटना में अपनी प्रतिभा से कुछ हलका सा परिवर्तन कर आख्यान वस्तु को सजीव और उदात्त बनाकर काव्य या नाटक में चमत्कार उत्पन्न कर देता है। इस द्वितीय प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' का वर्णन ग्रन्थकार ने ३-४ कारिकाओं में किया है और उस के लिए महाकवि कालिदास के शकुन्तला नाटक में दुर्वासा के शाप की कल्पना द्वारा जो चमत्कार एवं निखिल नाटक व्यापी प्रभाव एवं सौन्दर्य उत्पन्न किया गया है उसे उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

३. तीसरे प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' वह है जहाँ नाटक का कोई एकदेश उसी नाटक में किसी दूसरे स्थान पर अपना प्रभाव डाल कर कुछ अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देता है। इस तृतीय 'प्रकरण-वक्रता' का वर्णन ग्रन्थकार ने ५-६ कारिकाओं में

यत्र निर्यन्त्रणोत्साहपरिस्पन्दोपशोभिनी ।
व्यावृत्तिर्व्यवहर्तॄणां स्वाशयोल्लेखशालिनी ॥१॥

किया है। महाकवि भवभूति के 'उत्तर रामचरित' नामक नाटक के प्रथम अङ्क में चित्र-दर्शन के अवसर पर मानसिक संकल्प रूप से सीता के भावी पुत्रों को दिए हुए जृम्भकास्त्रों का प्रभाव पञ्चम अङ्क में लव और चन्द्रकेतु के युद्ध में दिखलाई देता है। और उसने आगे चल कर लव के सीता-पुत्र के रूप में परिचय कराने में जो प्रभाव डाला है वह इस तृतीय प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' का उदाहरण है।

४. एक ही पदार्थ का बार-बार वर्णन होने पर भी कवि की प्रतिभा से उसकी इस प्रकार योजना की जाय कि उसमें कहीं पुनरुक्ति प्रतीत न हो अपितु हर जगह कुछ नवीन चमत्कार अनुभव में आवे, वह चतुर्थ प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' कहलाती है। इसका वर्णन ग्रन्थकार ने ७-८ कारिकाओं में किया है । और उसके उदाहरण 'तापस वत्सराज-चरित' तथा रघुवंश के नवम सर्ग से उद्धृत किए हैं।

५. जहाँ जल-क्रीड़ा आदि किसी अङ्ग विशेष के वर्णन से कथा में वैचित्र्य आ जाता है वह पाँचवें प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' कही जाती है। इसका वर्णन ग्रन्थकार ने नवम कारिका में किया है। और उसके उदाहरण रूप में रघुवंश के १६वें सर्ग से राजा कुश की जल-क्रीड़ा का वर्णन प्रस्तुत किया है।

६. 'प्रकरण-वक्रता' का छठा भेद वह होता है जहाँ काव्य या नाटक का कोई विशेष प्रकरण प्रधान रस की अभिव्यक्ति का ऐसा परीक्षा-निकष बन जाता है कि वैसा चमत्कार आगे या पीछे के प्रकरणों में नहीं दीख पड़ता है। कारिका १० में उसका वर्णन है। उसके उदाहरण रूप में विक्रमोर्वशीयम् नाटक का 'उन्मत्ताङ्क' नामक चतुर्थ अङ्क तथा किरातार्जुनीय का बाहुयुद्ध प्रस्तुत किया है।

सातवीं प्रकरण-वक्रता कारिका ११ में, आठवीं कारिका १२-१३ में तथा नवम प्रकार की प्रकरण-वक्रता कारिका १४-१५ में वर्णित हैं।

१. जहाँ अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त करने वाली और अपरिमित उत्साह के व्यापार से शोभायमान कवियों [व्यवहर्ताओं] की प्रवृत्ति [व्यावृत्ति] होती है—

अव्यामूलादनाशंक्यसमुत्थाने मनोरथे ।
काप्युन्मीलति निःसीमा सा प्रकरणे[1] वक्रता ॥२॥

'वक्रता' वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः । कीदृशी–'निःसीमा' निरवधिः । 'यत्र' यस्यां 'व्यवहर्तृणां' तद्व्यापारपरिग्रहव्यग्राणां 'व्यावृत्तिः' प्रवृत्तिः काप्यलौकिकी 'उन्मीलति' उद्भिद्यते । किं विशिष्टा–'निर्यन्त्रणोत्साहपरिस्पन्दोपशोभिनी', निरर्गलव्यवसायस्फुरितस्फारविच्छित्तिः । अतएव 'स्वशयोल्लेखशालिनी' निरुपमनिजहृदयोल्लासितालंकृतिः । कस्मिन् सति—'अव्यामूलादनाशंक्यसमुत्थाने मनोरथे', कन्दात्प्रभृत्यसम्भाव्यसमुद्भेदे समीहिते ।[2]

तद्यथा सेतुबन्धाख्ये 'अभिजातजानकी'—तृतीयेऽङ्के—तत्र नीलस्य सेनापतेर्वचनम्—

प्रारम्भ से ही निःशङ्क रूप से उठने [या उठाने] की इच्छा होने पर [अर्थात् प्रारम्भ से ही निर्भय हो कर अपने अथवा अपनी रचना को उठाने की अदम्य इच्छा होने पर कवि की रचना में] प्रकरण में वह कुछ अपूर्व वक्रता असीम रूप से प्रकाशित हो उठती है [वह प्रकरण वक्रता होती है] ।

'वक्रता' अर्थात् वक्रभाव [बाँकपन, सौन्दर्य] होता है यह सम्बन्ध होता है । किस प्रकार की 'निःसीम' अर्थात् अनन्त । जहाँ जिस [रचना] में व्यवहार करने वाले अर्थात् उस [वक्रता] के व्यापार को प्राप्त करने के लिए समुत्सुक [कवियों] की 'व्यावृत्ति' अर्थात् प्रवृत्ति कुछ अलौकिक रूप से प्रकाशित होती है । किस प्रकार की—'अपरिमित उत्साह युक्त' व्यापार से शोभायमान, अप्रतिहत प्रयत्न से अभिव्यक्त प्रचुर सौन्दर्यशालिनी । इसलिए [कवि के] अपने हृदय को प्रकाशित करने वाली अर्थात् अपने अनुपम हृदय [अर्थात् हृदयगत भावों] से शोभा को उत्पन्न करने वाली [प्रवृत्ति होती है] । किसके होने पर—[इस प्रकार की प्रवृत्ति होती है कि—] प्रारम्भ से ही निर्भय होकर उठने अथवा उठाने की प्रबल इच्छा होने पर [अव्यामूलात् अर्थात् कन्द] जड़ [प्रारम्भ] से लेकर [साधारण पुरुषों के द्वारा] जिसकी आशा या सम्भावना नहीं की जा सकती है इस प्रकार के समुत्थान के लिए प्रबल इच्छा होने पर [ही इस प्रकार की प्रवृत्ति होती है । और उसी से प्रकरण की वक्रता असीम रूप से प्रकाशित होती है] ।

जैसे कि 'अभिजातजानकी' [नामक नाटक] के सेतुबन्ध नामक तृतीय अङ्क में [प्रकरणवक्रता पाई जाती है] । वहाँ सेनापति नील का [निम्न] वचन [और उसके उत्तर में वानरों के वाक्यादि 'प्रकरणवक्रता' के उदाहरण हैं]—

---

१. 'सा प्रबन्धस्य वक्रता:' यह पाठ अशुद्ध था ।
२. 'तदयमत्रार्थः' यह खण्डित पाठ अधिक था ।

शैलाः सन्ति सहस्त्रशः प्रतिदिशं बल्मीककल्पा इमे
दोर्दण्डाश्च कठोरविक्रमरसक्रीडासमुत्कण्ठिताः[1] ।
कर्णास्वादितकुम्भसम्भवकथाः किन्नाम कल्लोलिनः
प्रायो गोष्पदपूरणेऽपि कपयः कौतूहलं नास्ति वः ॥१॥

वानराणामुत्तरवाक्यं नेपथ्ये कलकलानन्तरम्—

आन्दोल्यन्ते कति न गिरयः कन्दुकानन्दमुद्रां
व्यातन्वानाः करपरिसरे कौतुकोत्कर्षहर्षे ।
लोपामुद्रापरिवृढ़कथाऽभिज्ञताऽप्यस्ति किन्तु
व्रोड़ावेशः पवनतनयोच्छिष्टसंस्पर्शनेन ॥२॥

*रामेण पर्यनुयुक्त जाम्बवतोऽपि वाक्यम्—

चारों दिशाओं में बांबी [दीमकों द्वारा निर्मित विशेष प्रकार के मिट्टी के ढेर] के समान हजारों पर्वत फैले हुए हैं [इस लिए समुद्र पाटने के लिए 'कहाँ से पत्थर आदि लावें' यह प्रश्न नहीं उठता है] और कठोर पराक्रम रस के खेल खेलने के लिए तुम्हारे भुजदण्ड भी उत्सुक हो रहे हैं। [फिर भी उन पहाड़ों को उखाड़ कर लाने में इतना विलम्ब हो रहा है। कुम्भ-सम्भव] अगस्तमुनि [के समुद्र पान] की कथा [अपने] कानों से सुन चुकने वाले हे वानरो समुद्र के पाटने की बात तो दूर रही तुम्हारे भीतर तो गाय के खुर के बराबर जरा से गढ़े को भी भरने का उत्साह नहीं मालूम होता है ॥१॥

[इसको सुन कर] नेपथ्य में [पत्थरों के उखाड़ने के] कोलाहल के बाद वानरों का उत्तर वाक्य [निम्न रूप से है]—

उत्साह के अतिरेक और आनन्द में हमने हाथ में गेंद [उछालने] के समान आनन्द देते हुए न जाने कितने पर्वत हिला डाले। [हम लोपामुद्रा के पति [अगस्तमुनि] की [समुद्र पी जाने की] कथा से भी परिचित हैं। [फिर भी इन पर्वतों को उठा कर लाने में हमको थोड़ा सा सङ्कोच इसलिए हो रहा है कि] पवनपुत्र [हनुमान] के उच्छिष्ट को छूने में लज्जा का अनुभव होता है । [यह संवाद 'प्रकरण-वक्रता' का उदाहरण है] ॥२॥

रामचन्द्र के पूछने पर जाम्बवान का [निम्न] वाक्य भी [इस 'प्रकरण-वक्रता का उदाहरण है]—

---

१. 'समुत्कण्ठकाः' पाठ अशुद्ध था। * पाठ लोप।

अनकुंरितनिःसीममनोरथरुहेष्वपि ।
कृतिनस्तुल्यसंरम्भमारभन्ते जयन्ति च ॥३॥

एवं विधमपरमपि । तत एव विभावनीयमभिनवाद्भुतं भोगभङ्गी-सुभगं सुभाषितसर्वस्वम् ।

जहाँ [साधारण पुरुषों के] असीम मनोरथों का अंकुर भी नहीं निकलता है [अर्थात् जो सर्वसाधारण के लिए सर्वथा मनोरथ के भी अविषय हैं] ऐसे कठिन कार्यों में भी उत्साही [चतुर व्यक्ति साधारण अन्य कार्यों] के समान उत्साह से कार्य का आरम्भ करते हैं और उसमें सफलता प्राप्त करते हैं ॥३॥

[ये सब 'प्रकरण-वक्रता' के उदाहरण हैं] । इस प्रकार के और भी ['प्रकरण-वक्रता' के उदाहरण हो सकते हैं] । उनके ही रसास्वाद से सुन्दर [भोग-भङ्गी सुभगं] अभिनव तथा अद्भुत सुभाषित [काव्य] का सर्वस्व [सारभूत सौन्दर्य प्रतीत] होता है यह समझना चाहिए ।

इसके बाद कुन्तक ने 'प्रकरण-वक्रता' के अन्य उदाहरण के रूप में रघुवंश के पञ्चम सर्ग में से रघु और कौत्स के संवाद की चर्चा की है । उसमें वरतन्तु मुनि के शिष्य 'कौत्स' गुरुदक्षिणा देने के लिए रघु से १४ कोटि रुपए माँगने आए हैं । परन्तु उसके पूर्व ही रघु 'विश्वजित्' नामक यज्ञ सम्पादन कर चुके हैं । जिसके अन्त में उन्होंने अपना सारा धन दान कर किया था । और उनके पास केवल मिट्टी के पात्र मात्र शेष रह गए थे । 'मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम्' । कौत्स मुनि को राजधानी में आकर जब यह मालूम हुआ तो वह राजा को आशीर्वाद दे कर जाने लगे । उस समय रघु ने उनको रोक कर पूछा कि महाराज आपको कितना धन या क्या वस्तु कितनी गुरुजी को देनी है । उसका विवरण मालूम होने पर रघु ने कुबेर के यहाँ से लाकर धन देने का विचार किया । दूसरे दिन वह कुबेर पर चढाई करने की सोच ही रहे थे कि रातों रात कुबेर के यहाँ से आवश्यकता से कहीं अधिक धनराशि आ जाती है । और रघु सब कौत्स को दे देना चाहते हैं । परन्तु कौत्स भी जितना धन गुरुदक्षिणा में देना है उससे अधिक नहीं लेना चाहते हैं । इसी सबका सुन्दर विवरण रघुवंश के पञ्चम सर्ग में आया है । यह सब बिषय स्वयं ही सुन्दर हैं फिर महाकवि कालिदास की प्रतिभा ने उसमें और भी अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है जिससे वह सारा का सारा प्रकरण सजीव सा हो उठा है । उसका असली आनन्द तो उस सारे सर्ग को पढ़ने पर ही मिलता है । परन्तु सारा का सारा सर्ग तो उदाहरण रूप से उद्धृत नहीं किया जा सकता है । इसलिए यहां कुन्तक ने उस प्रकरण के थोड़े-थोड़े अन्तर के चार श्लोक उदाहरण रूप में दिए हैं ।

यथा—

'एतावदुक्त्वा प्रतियातुकामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।
किं वस्तु विद्वन् गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ॥४॥
गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मा भूत् परीवाद-नवावतारः ॥५॥
तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥६॥
जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥७॥

जैसे कि—

कौत्स मुनि जब रघु के पास पहुँचे तो उन्होंने मिट्टी के पात्र में अर्घ्य रखकर उनका स्वागत किया। इसी से कौत्स को राजा की स्थिति का ज्ञान हो गया इसलिए उन्होंने राजा से कुछ माँगना उचित न समझा और सामान्य कुशल वार्ता के बाद जाने लगे तो—

इतना कह कर जाने के लिए उद्यत [वरतन्तु] महर्षि के शिष्य [कौत्स] को रोक कर राजा [रघु] ने हे विद्वन् ! आपको [गुरुदक्षिणा रूप में] गुरु जी को क्या वस्तु और कितनी [मात्रा में] देनी है यह उनसे पूछा ॥४॥

वेदों का पारङ्गत [एक विद्वान्] गुरुदक्षिणा के लिए धन का याचक होकर आया, और रघु के पास से इच्छा की पूर्ति न हो सकने से किसी दूसरे दानी के पास गया इस प्रकार की मेरी अपकीर्ति जो आज तक कभी नहीं हुई थी, न होने पावे ॥५॥

जिस पर [रघु] आक्रमण करने वाले थे उस कुबेर के पास से [बिना आक्रमण किए हुए ही] प्राप्त हुई बज्र द्वारा काटे गए सुमेरु पर्वत के शिखर के समान चमकती हुई सारी स्वर्ण की राशि को राजा रघु ने कौत्स को दे दिया ॥६॥

अयोध्यावासी लोगों के लिए गुरु को देने वाले धन से अधिक धन की इच्छा न करने वाला याचक [कौत्स], और याचक की इच्छा से भी अधिक देने वाला राजा [रघु] दोनों ही प्रशंसनीय स्वभाव वाले प्रतीत होते थे ॥७॥

इस संवाद में से थोड़े-थोड़े अन्तर के ये चार श्लोक यहाँ उद्धृत किए हैं। जिनसे उस प्रकरण की वक्रता का कुछ आभास मिल सकता है।

---

१. रघुवंश पञ्चम सर्ग १८, २४, ३०, ३१।

कुबेरं प्रति सामन्तसम्भावनया जयाध्यवसायः कामपि सहृदयहृदय-हारितां प्रतिपद्यते। अन्यच्च 'जनस्य साकेत' इत्यादि, अत्रापि गुरुप्रदेय-दक्षिणातिरिक्तकार्तस्वरमप्रतिगृह्णतः कौत्सस्य, रघोरपि प्रार्थितशतगुणं सहस्र-गुणं वा प्रयच्छतो निरवधिनिःस्पृहतौदार्यसम्पत्, साकेतनिवासिनमाश्रित्या-पूर्वां कामपि महोत्सवमुद्रामाततान। एवमेषा महाकविप्रबन्धेषु प्रकरणवक्रता-विच्छित्तिः रसनिःस्यन्दिनी सहृदयैः स्वयमुत्प्रेक्षणीया ॥१-२॥

२—इमामेव प्रकारान्तरेण प्रकाशयति—

इतिवृत्तप्रयुक्तेऽपि कथावैचित्र्यवर्त्मनि ।
उत्पाद्यलवलावण्यादन्या भवति वक्रता ॥३॥

यह सारा का सारा प्रकरण 'प्रकरण-वक्रता' का सुन्दर उदाहरण है। उसी प्रकरण में जो यह आया है कि जब राजा रघु को संसार में अन्य किसी राजा के पास कौत्स की इच्छा पूर्ति के लिए पर्याप्त धन दिखलाई नहीं दिया तो उसने कुवेर पर आक्रमण कर उसके कोष से धन लाने का निश्चय कर लिया। मानो कुवेर कोई साधारण सामन्त राजा हो जो यों ही धन दे देगा। या जिसे यों ही जीत लिया जायगा।

कुवेर के प्रति [एक साधारण] सामन्त की सम्भावना से [अर्थात् साधारण सामन्त राजा समझ कर रघु ने] जो विजय करने का निश्चय किया है वह [रघु की अलौकिक सामर्थ्य एवं आत्मविश्वास को सूचित करता हुआ] कुछ अपूर्व सहृदय-हृदय-हारिता को प्राप्त हो रहा है। और 'जनस्य साकेतवासिनः' इत्यादि जो कहा है यहाँ भी गुरु को देने वाली दक्षिणा से अधिक सोना लेना स्वीकार न करने वाले कौत्स की तथा माँगे हुए धन से सौगुना अथवा सहस्रगुणा देने वाले रघु की [क्रमशः] असीम निःस्पृहता [कौत्स की] और असीम उदारता [रघु की] की सम्पत्ति ने [अयोध्यावासियों का आश्रय लेकर अर्थात्] अयोध्यावासियों के हृदय में कुछ अलौकिक आनन्द को प्रकाशित कर दिया है। इस प्रकार इन महाकवियों के काव्यों [प्रबन्धों] में इन [इस प्रकार के प्रकरणों] की रस को प्रवाहित करने वाली 'प्रकरण-वक्रता' की शोभा सहृदयों को स्वयं ही समझ लेनी चाहिए ॥१-२॥

२. इसी [प्रकरण-वक्रता] को दूसरी तरह से दिखलाते हैं—

इतिहास में वर्णित कथा के वैचित्र्य के मार्ग में [अर्थात् इतिहास प्रसिद्ध कथा में भी वैचित्र्य या सौन्दर्य के उत्पादन के लिए] तनिक से कल्पना प्रसूत अंश के सौन्दर्य से [उत्पाद्य-लव-लावण्याद्] कुछ और ही अपूर्व चमत्कार हो जाता है।

तथा, यथा प्रबन्धस्य सकलस्यापि जीवितम् ।
भाति प्रकरणं काष्ठाधिरूढ़रसनिर्भरम् ॥४॥

'तथा उत्पाद्यलवलावण्यादन्या भवति वक्रता' तेन प्रकारेण कृत्रिमसंविधानकमनीयालौकिकी[1] वक्रभावभङ्गी समुज्जृम्भते, सहृदयानावर्जयतीति यावत् । क्व—'कथावैचित्र्यवर्त्मनि', काव्यस्य वैचित्र्यभावमार्गे । किंविशिष्टे—'इतिवृत्तप्रयुक्तेऽपि' इतिहासपरिग्रहेऽपि । तथेति यथाप्रयोगमपेक्षत इत्याह 'यथा प्रबन्धस्य सकलस्यापि जीवितं भाति प्रकरणम्' । येन प्रकारेण सर्गबन्धादेः समग्रस्यापि प्राणप्रतिमङ्गम् कीदृग्भूतम्—'काष्टाधिरूढ़रसनिर्भरम्' प्रथमधाराध्यासितशृङ्गारादिपरिपूर्णम् ।

[उस तनिक से परिवर्तन से] इतना [सौन्दर्य काव्य में आ जाता है] जिस से वह प्रकरण चरम सीमा को पहुँचे हुए रस से परिपूर्ण हो कर सारे [काव्य या नाटक] प्रबन्ध का प्राण सा प्रतीत होने लगता है ।

कवि के कल्पना प्रसूत उस तनिक से कथा परिवर्तन से उत्पन्न सौन्दर्य [उत्पाद्य लव लावण्य] से कुछ और ही प्रकार की सुन्दरता [काव्य या नाटक आदि में] आजाती है । अर्थात् उस प्रकार की कल्पित कथा [के नाम मात्र के परिवर्तन] से मनोहर कुछ अपूर्व 'वक्रता' उत्पन्न हो जाती है और सहृदयों को आकर्षित कर लेती है । कहाँ कि 'कथा के वैचित्र्य के मार्ग में' अर्थात् काव्य के विचित्र भाव के मार्ग में । किस प्रकार के कि—'इतिवृत्त में प्रयुक्त होने पर' भी । 'तथा' यह शब्द 'यथा' शब्द के प्रयोग की अपेक्षा करता है इस लिए कहते हैं कि—जिस प्रकार से वह प्रकरण सारे प्रबन्ध का प्राण सा प्रतीत होने लगता है । जिस प्रकार से सर्गबन्ध [महाकाव्य] आदि सभी का प्राणभूत-सा वह अङ्ग बन जाता है । किस प्रकार का कि—'चरमोत्कर्ष को प्राप्त रस से परिपूर्ण' अर्थात् सर्वोच्च कोटि को प्राप्त शृङ्गार आदि रस से परिपूर्ण [वह प्रकरण सारे काव्य का प्राण भूत सा प्रतीत होने लगता है] ।

यहाँ कुन्तक यह कह रहे हैं कि कभी कभी इतिहास प्रसिद्ध कथा में तनिक सा परिवर्तन करके कवि उस कथा में ऐसा चमत्कार उत्पन्न कर देता है जिससे वह परिवर्तन उस कथानक में जान सी डाल देता है । इस प्रकार के परिवर्तन का उदाहरण देने के लिए कुन्तक ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के उपाख्यान को प्रस्तुत किया है । महाकवि कालिदास ने अपने विश्वविख्यात इस 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक का आख्यान—भाग महाभारत से लिया है । परन्तु उस महाभारत की कथा में और 'अभिज्ञान शाकुन्तल'

---

१. संविधानकमनीयकालौकिकी ।

की आख्यान-वस्तु की रमणीयता में आकाश पाताल का अन्तर हो गया है। महाभारत का दुष्यन्त एक लम्पट राजा है। वह भौंरे के समान नई नई कलियों का रसास्वादन करता फिरता है। कण्व मुनि की अनुपस्थिति में मृगया के प्रसङ्ग से उनके आश्रम में पहुँच कर उसने कण्व की पोष्य पुत्री शकुन्तला को अपने चङ्गुल में फँसा लिया और उसका रसास्वादन कर अपनी रानी बनाने का आश्वासन देकर अपने स्वभाव के अनुसार उसको भी छोड़ कर चला गया। इस लम्पट राजा दुष्यन्त को कालिदास ने अपने नाटक का नायक बनाया है। तब भारतीय नाट्य शास्त्र की मर्यादा के अनुसार उसे एक उदात्त आदर्श नायक के रूप में प्रस्तुत करना उनके लिए अनिवार्य हो गया है। और उन्होंने अपनी प्रतिभा से उस नारकीय कीड़े को सचमुच देव कोटि में लाकर बैठा दिया है। दुष्यन्त के इस कायाकल्प में सब से मुख्य भाग दुर्वासा के शाप का है। लम्पट दुष्यन्त जब शकुन्तला का रसास्वादन करके परिणाम स्वरूप अँगूठी रूप दृश्यमान चिह्न के साथ साथ अदृश्य चिह्न भी शकुन्तला को देकर और—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम्।
तावत्प्रिये मदवरोधनिदेशवर्ती
नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥

तुम मेरी इस अँगूठी पर खुदे हुए मेरे नाम के अक्षरों से एक एक दिन की गिनती करना। जब तक तुम मेरे नाम के इन चार अक्षरों को गिन भी न पाओगी तब तक अर्थात् चार दिन के पहिले ही मेरे यहाँ से कोई आदमी आकर तुमको लिवा जायगा।

बिचारी शकुन्तला दुष्यन्त की उन सुखद प्रणय-स्मृतियों में निमग्न एकान्त में बैठी हुई उसी का ध्यान कर रही है। उसी समय आश्रम में दुर्वासा मुनि का आगमन होता है। कण्व ऋषि आश्रम में नहीं हैं। अतिथि के सत्कार का भार शकुन्तला के ही ऊपर है। पर शकुन्तला तो अपने स्वर्णिम कल्पना लोक में खोई हुई है। उसने दुर्वासा को देखा ही नहीं। दुर्वासा अपने इस अपमान को कैसे सह सकते थे। क्रोधावेश में शाप दे कर चले गए—

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोनिधिं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥

यह दुर्वासा का शाप कालिदास की अपनी कल्पना है। महाभारत की मूल कथा में उसका अस्तित्व नहीं है। इस शाप की कल्पना से कालिदास ने अपने दुष्यन्त को

तद्यथा अभिज्ञानशाकुन्तले—

[1]*विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोनिधिं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।*
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥८॥

[2]*रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्*
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥६॥

आगे के सारे दोषों से बचा लिया है। और कथानक में एक नई जान डाल दी है। आगे का सारा कथानक इस कल्पना के आलोक से आलोकित हो रहा है। इसीलिए कुन्तक ने इतिहास प्रसिद्ध कथा में परिवर्तन कर उत्पाद्य लावण्य के उदाहरण रूप में इस प्रसङ्ग को उपस्थित किया है। और इसी में से कुछ श्लोक आगे उद्धृत किए हैं। जिनमें से पहिला श्लोक दुर्वासा का शाप रूप ही है। उसका अर्थ इस प्रकार है—

[हे शकुन्तले] अनन्य भाव से [तन्मय हो कर इस समय] तू जिसका ध्यान कर रही है और [आश्रम के अतिथि रूप में] उपस्थित मुझ तपोनिधि [दुर्वासा] को नहीं देख पा रही है। वह याद दिलाने पर भी तुझको नहीं पहचानेगा जैसे प्रमत्त व्यक्ति पहिले कही हुई कथा को [याद दिलाने पर भी नहीं समझ पाता है] ॥८॥

पञ्चम अङ्क के आरम्भ में हँसपदिका गाने का अभ्यास करती हुई गा रही है—

अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥

इसको सुन कर राजा दुष्यन्त के मन में एक प्रकार की उत्कण्ठा-सी उत्पन्न हो जाती है। वह व्याकुल हो जाता है और कहता है—

सुन्दर वस्तुओं को देख कर या मधुर शब्दों को सुन कर कभी सुखी प्राणी भी उत्कण्ठा युक्त, किसी से मिलने के लिए व्याकुल, हो जाता। सो जान पड़ता है कि वह अज्ञात रूप से मन में स्थित पूर्वजन्म के प्रेम सम्बन्धों को मन में याद करता है। और उसी से व्याकुल हो जाता है।

सुन्दर वस्तुओं को देख कर या मधुर शब्दों को सुन कर कभी सुखी प्राणी भी [उत्कण्ठित] किसी से मिलने के लिए व्याकुल हो जाता है। सो जान पड़ता है कि वह अज्ञात रूप से मन में स्थित पूर्वजन्म के प्रेम सम्बन्धों को याद करता है [और उसी से व्याकुल हो जाता है] ॥६॥

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम् ४, १। २. अ० शा० ५, २।

[1]प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठेश्लथं[2]
विभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥१०॥

हँसपदिका के गीत को सुन कर उस मधुकर के दृष्टान्त से किसी के साथ राजा दुष्यन्त को अव्यक्त रूप किए हुए प्रेम की स्मृति सी तो आ रही है परन्तु वह शकुन्तला के प्रेम से सम्बन्ध रखती है यह बात स्पष्ट रूप से स्मरण नहीं आ रही है और मानों किसी पूर्वजन्म की घटना से सम्बन्ध रखने वाली हो ऐसा प्रतीत हो रहा है। यहाँ, दुष्यन्त की स्मृति पर प्रमाद जन्य विस्मरण का एक सुन्दर हलका सा पर्दा डाल कर कवि ने उसमें एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है। यह सब दुर्वासा के शाप का ही प्रभाव है।

इसके बाद इसी अव्यक्त प्रणय स्मृति से राजा व्याकुल रहने लगते हैं। उनको रात को नींद नही आती, आभूषण आदि सब छोड़ दिए हैं। छठे अङ्क के प्रारम्भ में छठे श्लोक में कञ्चुकी ने राजा की इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—

[राजा ने] विशेष रूप से आभूषणों का धारण करना छोड़ दिया है इस लिए बाईं कलाई में [दुर्बलता के कारण] ढीला [पड़ा हुआ] केवल एक सुवर्ण का कड़ा पहने हुए हैं। उष्ण निश्वासों ने उनके अधर की लालिमा को नष्ट कर दिया है। चिन्ता में रात्रि को जागते रहने से आँखें चढ़ी हुई हैं [और दुबले हो गए हैं] फिर भी सान पर रखने से क्षीण हुई मणि के समान दुबले होने पर भी अपने [स्वाभाविक] तेज के कारण क्षीण नहीं मालूम पड़ते हैं ॥१०॥

कुन्तक ने इसी 'प्रकरण-वक्रता' के दिखलाने के लिए अगला उदाहरण शकुन्तला के छठे अङ्क में से लिया है। शकुन्तला का रसास्वादन करके दुष्यन्त के आश्रम से चले जाने के बाद कण्व मुनि जब आश्रम में आए तो समय पर उन्हें दुष्यन्त और शकुन्तला के गन्धर्व-विवाह का समाचार ज्ञात हुआ। और कण्व मुनि ने अपने दो शिष्यों के साथ शकुन्तला को पतिगृह में पहुँचाने की व्यवस्था की। आश्रम से शकुन्तला के विदा होने का प्रसङ्ग बड़ा मर्म-स्पर्शी है। आश्रम के जिन वृक्षों, लताओं और पशु-पक्षियों के साथ शकुन्तला का अब तक का जीवन व्यतीत हुआ था उनसे बिदा लेते हुए अपने उन सगे-सम्बन्धियों के प्रति शकुन्तला के नैसर्गिक स्नेह की उद्दाम धारा नेत्र मार्ग से प्रवाहित होने लगती हैं। और स्वयं कण्व मुनि तत्वज्ञानी होने पर भी पुत्री

१. अभिज्ञान शाकुन्तल ६, ६। २. अर्पित।

[1]अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु ।
बिम्बाधरं दशसि चेत् भ्रमर प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥११॥

की विदाई के इस अवसर पर साधारण गृहस्थियों के समान विकल हो जाते हैं। इस सारे प्रसङ्ग को महाकवि कालिदास ने बड़े सुन्दर और सजीव रूप में चित्रित किया है। इसीलिए शकुन्तला नाटक का चतुर्थ अङ्क सबसे सुन्दर अङ्क माना जाता है।

कण्व मुनि की व्यवस्था के अनुसार दोनों ऋषि कुमार अपनी बहिन शकुन्तला को लेकर दुष्यन्त के यहाँ उपस्थित होते हैं तो शाप के प्रभाव से सब प्रकार से स्मरण दिलाने पर भी दुष्यन्त को स्मरण नहीं आता है कि इसके साथ मेरा कभी कोई सम्बन्ध रहा है। इस स्थिति में शकुन्तला को ग्रहण कर 'परस्त्रीस्पर्शपांसुलः' होने की अपेक्षा वे 'दार-त्यागी' होना पसन्द करेंगे ऐसा कह कर शकुन्तला का ग्रहण करना अस्वीकार कर देते हैं। दुर्वासा-शाप की छाया में घटित इस शकुन्तला-प्रत्याख्यान की घटना ने महाभारत के लम्पट दुष्यन्त को आदर्श चरित्र और उदात्त नायक बना दिया है। इस प्रकार महाभारत के एक सामान्य उपाख्यान में दुर्वासा-शाप की सामान्य कल्पना द्वारा महाकवि कालिदास की अलौकिक प्रतिभा में नई जान सी डाल दी है।

आई हुई शकुन्तला का भी प्रत्याख्यान कर देने के बाद जब मत्स्यावतार पर शकुन्तला की अँगुली से निकल कर गिरी हुई अँगूठी किसी मछली के पेट से मिलती है और राजा के पास पहुँचती है तो उसको देख कर राजा को सारी घटना का स्मरण हो आता है और वह शकुन्तला के लिए एक बार फिर पागल हो उठते हैं। उसी उन्माद के आवेश में चित्र में शकुन्तला के समीप मँडराते हुए भ्रमर को देख कर कह रहे हैं—

किसी बिना छुए हुए नवकिसलय के समान ललचाने वाले [सुन्दर] प्रियतमा [शकुन्तला] के जिस अधर बिम्ब को मैंने सुरतोत्सव के समय [निर्दयता पूर्वक नहीं अपितु] दया पूर्वक [बहुत धीरे से] ही पान किया था, हे भ्रमर ! यदि तू उस अधर बिम्ब को काटने का प्रयत्न करेगा तो तुझे कमल के भीतर कैदखाने में डलवा दूंगा ॥११॥

इस प्रकार सारे नाटक में फैली हुई कथा पर उस दुर्वासा के शाप का जो प्रभाव दिखलाई दे रहा है मानो वह ही इस सारे उपाख्यान भाग की जान है। इसलिए कुन्तक ने इस प्रकरण को द्वितीय प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

१. अभिज्ञान शाकुन्तल ६, २०।

'उत्पाद्य-लव-लावण्यात्' इति द्विधा व्याख्येयम् । क्वचिदसदेवोत्पाद्यं अथवा आहृतम् । क्वचिदौचित्यत्यक्तं सदप्यन्यथासम्पाद्यम् सहृदयहृदयाल्हादनाय । यथोदात्तराघवे मारीचबधः । तच्च प्रागेव [पृष्ठे ९०-९१] व्याख्यातम् । एवमन्यदप्यस्या वक्रताविच्छित्तेरुदाहरणं महाकविप्रबन्धेषु स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् ।

निरन्तरसरसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भरः ।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥११॥

इत्यन्तरश्लोकः ॥४॥

[कारिका में दिए हुए पद] 'उत्पाद्यलवलावण्य' इसकी दो प्रकार की व्याख्या करना चाहिए । कहीं [मूल कथा में] अविद्यमान [अर्थ जब कवि कल्पना से जोड़ लिया जाता है तो वह] ही उत्पाद्य अथवा अध्याहृत [कहलाता] है [जैसे यहीं दुर्वासा के शाप की घटना महाभारत में आए हुए दुष्यन्त-शकुन्तला के मूल उपाख्यान में नहीं आई है । केवल कवि की कल्पना से ही मूल कथा में जोड़ दी गई है । इसलिए यह प्रथम प्रकार का 'उत्पाद्य' भाग हुआ । दूसरा उत्पाद्य प्रकार वह होता है जिसमें] कहीं [मूल कथा में] विद्यमान होने पर भी औचित्य रहित अर्थ का सहृदयों के हृदय के आल्हाद के लिए, अन्य प्रकार से परिवर्तन कर दिया जाय जैसे उदात्त राघव में मरीच बध । उसकी व्याख्या पहिले ही [पृष्ठ ९०-९१ पर] कर चुके हैं । इसी प्रकार 'प्रकरण-वक्रता के और भी उदाहरण महाकवियों के प्रबन्धों में स्वयं समझ लेने चाहिएँ ।

जैसे उत्तररामचरित के तृतीय अङ्क में छाया सीता की कल्पना भवभूति की अपनी प्रतिभा से समुद्भूत कल्पना है । भवभूति उसी छाया सीता की कल्पना के सहारे अपने करुण रस को चरम सीमा पर पहुँचाने में सफल हुए हैं । इसलिए—

निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण महाकवियों की वाणी केवल [इतिहास में प्रसिद्ध] कथा मात्र के आश्रय से ही नहीं जीवित रहती हैं । [अपितु उसके साथ कवि की प्रतिभा का योग होने पर ही कथा में चमत्कार उत्पन्न होता है और वह महाकवि की रचना में चिरकाल तक जीवित रहती है] ॥११॥

यह 'अन्तर-श्लोक' है ॥३-४॥

३—अपरमपि प्रकरणवक्रताप्रकारमाविर्भावयति—

प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धानुबन्धवान् ।
उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः परिस्फुरन् ॥५॥
असामान्यसमुल्लेखप्रतिभा-प्रतिभासिनः ।
सूते नूतनवक्रत्वरहस्यं कस्यचित् कवेः ॥६॥

'सूते' समुन्मीलयति । किम्—'नूतनवक्रत्वरहस्यम्', अभिनववक्रभावोपनिषदम् । 'कस्यचित्' न सर्वस्य 'कवेः' प्रस्तुतौचित्यचारु-रचनाविचक्षणस्येति यावत् । कः—'उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः', अनुग्राह्यानुग्राहकत्वमहिमा । किं कुर्वन्—'परिस्फुरन्', समुन्मीलन् । किंविशिष्टः—'असामान्य-

---

३—प्रकरण-वक्रता के अन्य [तृतीय] प्रकार का भी प्रतिपादन करते हैं—

[फलबन्ध] प्रधान कार्य का [अनुबन्धवान्] अनुसन्धान करने वाला प्रबन्ध के एक देश [अर्थात् प्रकरणों] का [उपकार्योपकारकभाव] अङ्ग प्रधान-भाव परिस्फुरित होता हुआ । [काव्य में नए प्रकार की प्रकरण-वक्रता को उत्पन्न कर देता है] ॥५॥

असाधारण सूझ [समुल्लेख] वाली प्रतिभा से प्रतिभासित किसी [विशेष] कवि के [काव्यादि में] अभिनव सौन्दर्य के तत्व को उत्पन्न कर देता है । [अर्थात् विशेष प्रकार से निबद्ध पदार्थों के गुण प्रधान भाव से भी काव्य में नवीन चमत्कार उत्पन्न हो सकता है । यह भी इसी प्रकरण-वक्रता के भेदों में आता है] ॥६॥

उत्पन्न करता है अर्थात् प्रकट करता है । किसको कि—नवीन सौन्दर्य के तत्व के अभिनव वक्रभाव के रहस्य [उपनिषद्] को । [किसी [विशेष] कवि के [ही काव्य में] सबके नहीं । अर्थात् प्रस्तुत [वर्ण्य-अर्थ] के औचित्य से मनोहर रचना में निपुण [विशेष कवि] के [काव्यादिक में नूतन सौन्दर्य के रहस्य को उत्पन्न करता है] । कौन [उस सौन्दर्यतत्व को प्रकट करता है कि] 'उपकार्य उपकारक भाव का वैशिष्ट्य' अर्थात् अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव का महत्व । 'क्या करते हुए कि' 'परिस्फुरित होते हुए' । प्रकट होते हुए । किस प्रकार का—'फलबन्ध

समुल्लेखप्रतिभा-प्रतिभासिनः' निरुपमोन्मीलित-शक्तिविभवभ्राजिष्णोः। केषाम्—'प्रबन्धस्यैकदेशानाम्' प्रकरणानाम्।

तदिदमुक्तं भवति सन्निवेशशोभिनां प्रबन्धावयवानां प्रधानकार्य-सम्बन्धनिबन्धानुग्राह्यग्राहकभावः स्वभावसुभगप्रतिभा-प्रकाश्यमानः कस्य-चिद्विचक्षणस्य वक्रताचमत्कारिणः कवेरलौकिकं वक्रतोल्लेखलावण्यं समुल्लासयति।

यथा 'पुष्पदूतिके' द्वितीयेऽङ्के।

[अर्थात् काव्य के फल रूप] प्रधान कार्य से [अनुबन्धवान्] सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् प्रधान कार्य का अनुसन्धान करने वाला, कार्य के अनुसन्धान में समर्थ निपुण। किसका इस प्रकार का [वक्रभाव होता है कि] असाधारण स्वरूप वाली प्रतिभा से युक्त अर्थात् अनुपम रूप से प्रकाशित प्रतिभा के वैभव से दीप्यमान [कवि] के [काव्यों में इस प्रकार की वक्रता प्रतीत होती है]। किन के—[उपकार्योपकारक भाव से कि] प्रबन्ध के एक देशों के अर्थात् प्रकरणों के।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि—सन्निवेश [क्रम] से शोभित प्रबन्ध के अवयवों [प्रकरणों] का प्रधान कार्य के सम्बन्ध के अनुसार अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव, स्वभावतः सुन्दर [कवि की] प्रतिभा से प्रकाशित होकर वक्रता के चमत्कार से युक्त किसी विशेष कवि के [काव्यादिकों में] वक्रभाव के किसी अपूर्व सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है।

जैसे 'पुष्पदूतिक' [प्रकरण] के द्वितीय अङ्क में।

यह पुष्पदूतिकम् नामक 'प्रकरण' [नाटक का भेद] जिसका उद्धरण ग्रन्थकार ने आगे दिया है सम्प्रति मुद्रित अमुद्रित किसी रूप में उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु उसकी चर्चा 'दशरूपक' की टीका 'दशरूपककावलोक' ३,४२ में भी आई है और साहित्यदर्पण-कार ने भी ६, २२५ में 'पुष्पभूषित' नाम से उसका उल्लेख किया है। जान पड़ता है कि विश्वनाथ के समय में भी वह उपलब्ध नहीं था। इसी लिए उन्होंने 'पुष्पभूतिष' नाम से इसका उल्लेख किया है। इसके रचयिता के नाम का भी पता नहीं है।

कुन्तक ने इसी चतुर्थ उन्मेष में 'प्रकरण-वक्रता' के तीसरे तथा नवम भेद में दो जगह 'पुष्पदूतिक' नामक 'प्रकरण' की चर्चा की है। दोनों जगह का पाठ बहुत खण्डित है। फिर भी उन दोनों स्थलों को मिला कर हमने उसकी आख्यान-वस्तु या कथा-भाग को निकालने का प्रयत्न किया है जो इस प्रकार है—

'पुष्पदूतिक' का नायक सार्थवाह सागरदत्त का पुत्र समुद्रदत्त है। उसका विवाह नयदत्त की पुत्री के साथ हुआ था। सार्थवाह व्यापारियों का वर्ग है जो समुद्र-मार्ग या स्थल-मार्ग से दूर देशों से माल का यातायात करते थे। समुद्रदत्त का भी यही कार्य था। विवाह के बाद शीघ्र ही उसे समुद्र पार किसी दूर देश की यत्रा पर जाने का अवसर उपस्थित हुआ। इच्छा न रहते हुए भी पिता की आज्ञा से अपनी नव-विवाहिता पत्नी को छोड़ कर उसे यात्रा पर जाना ही पड़ा। वह घर से चला। बहुत दिनों के स्थल मार्ग की पैदल यात्रा के बाद वह समुद्र तट पर पहुँचा जहां से उसकी मुख्य विदेश-यात्रा प्रारम्भ होती थी। परन्तु यहाँ जीवन को सङ्कट में डालने वाली समुद्र-यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व उसका मन अपनी नव-परिणीता पत्नी से मिलने के लिए विकल हो उठा और वह उल्टे पाँव घर को लौट पड़ा। घर पहुँच कर घर वालों से छिप कर उसने अपनी पत्नी से भेंट करने का प्रयत्न किया। घर के द्वारपाल को अपनी अँगूठी घूँस में देकर वह कुसुम-वाटिका में रात को अपनी पत्नी से मिलकर और शायद हो चार दिन गुप्त रूप में उसके साथ रहकर फिर यात्रा पर चला गया। समय पर जब इस गुप्त-सहवास के चिह्न प्रकट हुए तो उसके पिता सागरदत्त ने अपनी पुत्रवधू को कुल-कलङ्किनी समझ कर घर से निकाल दिया। दुर्भाग्य से उस समय उस बिचारी की ओर से सफाई दे सकने वाला द्वारपाल कुवलय भी किसी कार्यवश मथुरा चला गया था। इसलिए उसके पति समुद्रदत के आने की बात पर कोई विश्वास नहीं कर सका। और समुद्रदत्त की निरपराध पत्नी को कुलटा समझ कर घर से निकाल दिया गया। उसके बाद जब द्वारपाल कुवलय मथुरा से वापिस आया तो उसने बतलाया कि समुद्रदत्त इस प्रकार यात्रा में से बीच से लौटकर आया था। और रात्रि में अपनी पत्नी के पास रहा था। इस बात को छिपाने के लिए मुझे यह अँगूठी घूँस में दे गया था और कह गया था कि मेरे आने की बात किसी से मत कहना। इसी लिए मैंने अब तक यह बात किसी से न कही थी।

जब समुद्रदत्त के पिता सार्थवाह सागरदत्त को यह पता चला कि मैंने अपनी गर्भवती सच्चरित्र पुत्रबधू को निरपराध होने पर भी कलङ्क लगाकर घर से निकाल दिया है तब उसे अपने इस कृत्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। अपने इस कार्य का प्रायश्चित्त करने के लिए वह भी तीर्थ-यात्रा के लिए घर से निकल पड़ा।

इधर समुद्रदत्त भी अपनी यात्रा पूर्ण करके घर को लौट रहा था। घटना क्रम से समुद्रदत्त, उसकी पत्नी, उसके पिता सार्थवाह सागरदत्त, और उसके पत्नी के पिता नयदत्त आदि सबकी मार्ग में एक जगह ही भेंट हो जाती है। समुद्रदत्त अपनी पत्नी को लेकर घर आ जाते हैं और उसके पिता तीर्थ-यात्रा पर चले जाते हैं।

इस कथानक को लेकर सम्भवतः छः अङ्कों में इस 'पुष्पदूतिक' नामक 'प्रकरणरूप' नाटक के विशेष भेद की रचना की गई थी । प्रकरण में आख्यान-वस्तु इतिहास प्रसिद्ध नहीं कवि-कल्पित होती है । उसका नायक विप्र अमात्य या वणिक् होता है । 'प्रकरण' का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कवि-कल्पितम् ।
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ॥
सापाय - धर्म-कामार्थ - परो धीर-प्रशान्तकः ।
नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः ।
कितवद्यूतकारादि - विट - चेटक सङ्कुलः ॥
कुलस्त्री पुष्पभूषिते । वेश्या तु रङ्गवृत्ते ।
द्वे अपि मृच्छकटिके । अस्य नाटक प्रकृतित्वाच्छेषं नाटकवत् ।

प्रकरण के इस लक्षण के अनुसार कवि ने वणिक समुद्रदत्त को नायक और उसकी पत्नी को 'कुलजा' नायिका बनाकर उनकी शृङ्गार प्रधान इस प्रेम कथा की कल्पना कर उसके आधार पर इस 'पुष्पदूतिकम्' प्रकरण की रचना की है । कुन्तक ने इस इस कथानक का जो विवरण दिया है उसके अनुसार इसमें छः अङ्क रहे होंगे, यह अनुमान होता है । छहों अङ्कों का सार कुन्तक ने इस प्रकार दिखलाया है—

प्रथम अङ्क—नव परिणीता पत्नी की अति दारुण विरह वेदना से खिन्न समुद्रदत्त के समुद्र तट पर पहुँचने पर अपनी पत्नी से मिलने की असाधारण उत्कण्ठा का चित्रण ।

द्वितीय अङ्क—यात्रा के बीच में ही लौट कर घर के द्वारपाल 'कुवलय' को घूंस में अलङ्कार आदि देकर कुसुम बाटिका में अपनी पत्नी के पास रहना ।

तृतीय अङ्क—इस सहवास के परिणाम-स्वरूप गर्भ-चिन्हों के प्रकट होने पर समुद्रदत्त की पत्नी द्वारा अपनी निरपराधता-सिद्धि का असफल प्रयत्न और उसको कुलटा समझ कर पिता द्वारा उसका निर्वासन ।

चतुर्थ अङ्क—द्वारपाल 'कुवलयदत्त' के मथुरा से लौटने पर उसके द्वारा समुद्रदत्त के छिपकर आने का समाचार और उसके समर्थन में समुद्रदत्त की अँगूठी को देख कर निरपराध और गर्भवती पुत्रवधू के निर्वासन को महा-पातक मानकर पिता सागरदत्त की प्रायश्चित्तार्थ यात्रा को प्रस्थान ।

पञ्चम अङ्क—यात्रा से लौटते हुए समुद्रदत्त का समाचार आदि ।

१. साहित्यदर्पण । ६, २२४-२२६ ।

प्रस्थानात् प्रतिनिवृत्य अमन्दमदनोन्मादमुद्रेण समुद्रदत्तेन निजमहिमाकेतनं[1] प्रविशता प्रकम्पावेगविकलालसकायनिपातनिहितनिद्रस्य द्वारदेशशायिनः कुवलस्योत्कोचकारणं स्वकरान्निक्राम्य अङ्गलीयकदानं यत्कृतं तच्चतुर्थेऽङ्के मथुराप्रतिनिवृत्तेन तेनैव समावेदितसमुद्रदत्तवृत्तान्तेन कुलकलङ्कातङ्ककदर्थ्यमानस्य सार्थवाहसागरदत्तस्य स्वतनयस्य स्पर्शमान········ शीलशुद्धिमुन्नीलयत् तदुपकाराय कल्पते ।

षष्ठ अङ्क—घटना-क्रम से समुद्रदत्त, उसकी पत्नी और उन दोनों के पिता, सबकी एकत्र भेंट होकर सुखान्त रूप में 'प्रकरण' की समाप्ति ।

इस कथानक में द्वितीय अङ्क में समुद्रदत्त ने घूँस रूप में द्वारपाल कुवलय को जो अँगूठी दी थी उसी को देखकर चतुर्थ अङ्क में सागरदत्त को अपनी पुत्र-वधू की सच्चरित्रता पर विश्वास हुआ । इस प्रकार प्रबन्ध के इन दो स्थलों या एकदेशों के परस्पर उपकार्य—उपकारक भाव को देखकर ही कुन्तक ने इसे तीसरे प्रकार की 'प्रकरणवक्रता' के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है । इस बात को समझ लेने पर इस अप्राप्य प्रकरण की इन त्रुटित और अस्पष्ट पंक्तियों का भाव ठीक प्रकार से समझा जा सकता है । जो निम्न प्रकार है—

यात्रा से लौट कर, प्रबल मदनोन्माद की मुद्रा से युक्त समुद्रदत्त ने [अपनी पत्नी से मिलने के लिए गुप्त रूप से अपने [महिमा केतन] वैभव शाली घर में घुसते हुए [डर के कारण होने वाले] प्रकम्पन के आवेग से विकल और शिथिल [अपने] शरीर को [द्वारपाल कुवलय के ऊपर] गिराकर [अर्थात् अँधेरे में उसके ऊपर गिर पड़ने से] जिसको जगा दिया है ऐसे दरवाजे पर लेटे हुए [द्वारपाल] कुवलय दत्त को घूँस के लिए अपने हाथ से निकाल कर जो अँगूठी दी है वही मथुरा से लौटने पर उसी [द्वारपाल कुवलयदत्त] के द्वारा समुद्रदत्त के गुप्त रूप से अपनी पत्नी के पास आने के वृत्तान्त को बतलाते हुए कुल कलङ्क के भय से दुःखी हुए सार्थवाह सागरदत्त के समक्ष अपने पुत्र के [संसर्ग से गृहीत गर्भा पुत्र-वधू के] चरित्र की शुद्धि को प्रकाशित करती हुई उन [समुद्रदत्त, उसकी पत्नी और उसके पिता तीनों] की उपकारक हो जाती है ।

---

१. इसके बाद 'तुल्यदिवसमानन्दयन्ती' यह पाठ अधिक था ।

यथा च 'उत्तररामचरिते' पृथुगर्भभरखेदितदेहाया विदेहराजदुहितुर्विनोदाय दाशरथिना चिरन्तनराजचरितचित्ररुचिं दर्शयता निर्व्याजविजयिविजृम्भमाणजृम्भकास्त्राण्यद्दिश्य—

[1]सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति ।

इति यदभिहितं तत्पञ्चमेऽङ्के प्रवीरचर्याचतुरेण चन्द्रकेतुना क्षणं समरकेलिमाकांक्षता तदन्तरायकलितकलकलाडम्बराणां वरूथिनीनां सहजजयोत्कण्ठाभ्राजिष्णोर्जानकीनन्दनस्य जृम्भकास्त्रव्यापारेण कमप्युपकारमुत्पादयति । तथा च तत्र—

[2]लवः—*भवतु जृम्भकास्त्रेण तावत्सैन्यानि संस्तम्भयामि इति ।*

सुमन्त्रः—*[ससम्भ्रमम्] वत्स कुमारेणानेन जृम्भकास्त्रमभिमन्त्रितम् ।*

चन्द्रकेतुः—*आर्य कः सन्देहः*—

और जैसे 'उत्तररामचरित' में परिपूर्ण [नवमासिक] गर्भ के भार से खिन्न देह वाली [विदेहराज की कन्या] सीता के मनोरञ्जन के लिए प्राचीन राजाओं [अथवा अपने विगत जीवन] के चित्रों से रुचि दिखलाते हुए रामचन्द्र ने स्वभावतः विजयशील [अप्रतिहत प्रभाव] जृम्भकास्त्रों को लक्ष्य में रखकर—

'अब ये पूर्ण रूप से तुम्हारी सन्तान को प्राप्त होंगे ।'

यह जो कहा है वह पञ्चम अङ्क में वीर व्यवहार में चतुर चन्द्रकेतु के साथ तनिक देर के लिए युद्ध-क्रीड़ा की इच्छा करते हुए [परन्तु] उसमें विघ्न डालने वाली और शोर मचाने वाली सेनाओं को पराभूत करने की इच्छा से उद्दीप्त जानकी-नन्दन [लव] के [द्वारा प्रयुक्त किए गए] जृम्भकास्त्र के व्यापार से कुछ अनिर्वचनीय उपकार कर रहा है । जैसे कि वहाँ [इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है] कि—

लव—अच्छा ठहरो, जृम्भकास्त्र से इन सेनाओं को निर्व्यापार किए देता हूँ ।

सुमन्त्र—[भयभीत होकर]—

बेटा—[चन्द्रकेतु देखो तो] इस कुमार [लव] ने जृम्भकास्त्र का प्रयोग किया है ।

चन्द्रकेतु—आर्य [इसमें] क्या सन्देह है ? [देखो न] ।

---

१. उत्तररामचरित व पञ्चमाङ्क ।

[1]व्यतिकर इव भीमो वैद्युतस्तामसश्च
प्रणिहितमपि चक्षुर्ग्रस्तमुक्तं हिनस्ति ।
अभिलिखितमिवैतत्सैन्यमस्पन्दमास्ते
नियतमजितवीर्यं जृम्भते जम्भकास्त्रम् ॥१२॥

आश्चर्यम्—

[2]पातालोदरकुञ्जपुञ्जिततमःश्यामैर्नभो जृम्भकै-
रन्तः-प्रस्फुरदारकूटकपिलज्योतिर्ज्ज्वलद्दीप्तिभिः ।
कल्पाक्षेप-कठोरभैरवमरुद्व्यस्तैरवस्तीर्यते
नीलाम्भोदतडित्कडारकुहरै-र्विन्ध्याद्रिकूटैरिव ॥१३॥

बिजली [की चमक] का और अन्धकार का भयङ्कर सम्बन्ध ध्यानपूर्वक जमाई हुई दृष्टि को भी [बार-बार] पकड़ कर और छोड़ कर व्यर्थ कर देता है । [अर्थात् जिस प्रकार कभी जोर से बिजली चमक जाय और तुरन्त अन्धकार हो जाय तो आँखों में चकाचौंध पैदा हो जाने से कुछ भी दिखलाई नहीं देता है । आँखें अन्धी-सी हो जाती हैं । इस समय जृम्भकास्त्र के प्रयोग के कारण इसी प्रकार की स्थिति हो रही है] और यह सेना भी चित्रलिखित-सी [व्यापारशून्य चेष्टाविहीन] हो गई है । [इससे प्रतीत होता है कि] निश्चय ही अप्रहित प्रभाव वाला जृम्भकास्त्र अपना काम कर रहा है ॥१२॥

बड़ा आश्चर्य है ।

[कभी तो] पाताल के भीतर की [भी] कुञ्जों में एकत्रित अन्धकार के समान काले-काले और [कभी] खूब गरम किए हुए [तपाए हुए] चमकते पीतल के समान पीली ज्योति से प्रज्वलित, दीप्ति से युक्त, जृम्भकास्त्रों ने प्रलयकालीन भयङ्कर वायु से इधर-उधर उड़ाए गए हुए नीले मेघों के बीच चमकती हुई बिजली से पीली गुफाओं वाले विन्ध्याचल पर्वत के शिखरों से मानों आकाश को भर दिया है ॥१३॥

---

१. उत्तररामचरित ५ । २. उत्तररामचरित ५ ।

इत्यादि ।[1] 'एकदेशानाम्' इति बहुवचनमत्र द्वयोरपि। बहूनामुपकार्योपकारकत्वं स्वयमुत्प्रेक्षणीयम् ॥५-६॥

४—अस्या एव प्रकारान्तरं प्रकाशयति—

प्रतिप्रकरणं प्रौढ़प्रतिभाभोगयोजितः ।
एक एवाभिधेयात्मा बध्यमानः पुनः पुनः ॥७॥
अन्यूननूतनोल्लेखरसालङ्करणोज्ज्वलः ।
बध्नाति वक्रतोद्भेदभङ्गीमुत्पादिताद्भुताम् ॥८॥

बध्नातीति अत्र निबिड़यतीति यावत् । काम्—'वक्रतोद्भेदभङ्गीम्', वक्रभावाविर्भावात् शोभाम् । किं विशिष्टाम्—'उत्पादिताद्भूताम्' 'कन्दलित-कुतूहलाम्'। कः—'एक एवाभिधेयात्मा' तदेव वस्तुस्वरूपम् । किं क्रियमाणम्—

इत्यादि ।

[कारिका में जो] एकदेशानाम् यह बहुवचन [प्रयुक्त हुआ] है वह [केवल बहुतों को ही नहीं अपितु] दो का भी वाचक है । [दो अंशों के उपकार्य उपकारक भाव के उदाहरण ऊपर दिए हैं] बहुतों के भी उपकार्योपकारक भाव [के उदाहरण] स्वयं समझ लेना चाहिए ॥५-६॥

४—इसी [प्रकरण-वक्रता] के अन्य [चतुर्थ] प्रकार का प्रतिपादन करते हैं—

प्रत्येक प्रकरण में [कवि की] प्रौढ़ प्रतिभा के प्रभाव से आयोजित एक ही अर्थ बार - बार निबद्ध होता हुआ भी [सर्वथा नवीन चमत्कार को उत्पन्न करता है] ।

[हर जगह] बिल्कुल नए रस और अलङ्कारों [के सौन्दर्य] से मनोहर प्रतीत होता हुआ आश्चर्यजनक वक्रता शैली को उत्पन्न करता है । [वह 'प्रकरण-वक्रता' का चौथा प्रकार होता है] ।

यहाँ 'बध्नाति' का अर्थ 'दृढ़ करता है' यह है । किसको [दृढ़ करता है कि] वक्रभाव के आविर्भाव से उत्पन्न शोभा को । किस प्रकार की [शोभा] को 'आश्चर्य को उत्पन्न करने वाली' अर्थात् कौतूहलजनक [शोभा को पुष्ट करता है] कौन [पुष्ट करता है कि] एक ही 'प्रतिपाद्य पदार्थ', अर्थात् वही वस्तु का स्वरूप[आश्चर्य जनक शोभा को पुष्ट करता है] । क्या किए जाने से कि 'निबध्यमान' अर्थात् प्रस्तुत [प्रकरण] के अनुरूप सुन्दर रचना का विषय बनकर । कैसे [निबद्ध होकर कि]

---

१. 'तत एक एवायम्' इतना पाठ यहां अधिक था ।

'बध्यमानम्', प्रस्तुतौचित्यचारुरचनागोचरतामापाद्यमानम् । कथम्—'पुनः पुनः' वारं वारम् । क्व—'प्रतिप्रकरणम्', प्रकरणे प्रकरणे स्थाने स्थाने इति यावत् ।

नन्वेवं पुनरुक्तपात्रतामसौ समासदयतीत्याह—

'अन्यूननूतनोल्लेखरसालङ्करणोज्ज्वलः', अविकलाभिनवोल्लासश्रृङ्गार-रूपकादिपरिस्पन्दभ्राजिष्णुः । यस्मात् 'प्रौढ़प्रतिभाभोगयोजितः' प्रगल्भतर-प्रज्ञाप्रकरप्रकाशितः ।

अयमस्य परमार्थः—तदेवं सकलचन्द्रोदयप्रकरणप्रकारेषु प्रस्तुत-कथासंविधानकानुरोधात् मुहूर्मुहुरुपनिबध्यमानं यदि परिपूर्णपूर्वविलक्षणरूप-काद्यलङ्काररामणीयक-निर्भरं भवति तदा कामपि रामणीयकमर्यादां वक्रता-मवतारयति ।

'पुनः पुनः' बार बार । कहाँ कि—'प्रति प्रकरण में' अर्थात् हर एक प्रकरण प्रकरण में अर्थात् स्थान स्थान पर [बार बार यह अभिप्राय हुआ]।

[प्रश्न] ऐसे तो [एक ही अर्थ के बार बार वर्णन करने पर] वह पुनरुक्ति [दोष] का पात्र हो जायगा [यह शङ्का हो सकती है] । [शङ्का] के [निवारण] लिए कहते हैं कि—

[उत्तर वह जो बार बार एक ही पदार्थ नकावर्ण है वह कैसा होना चाहिए कि हर जगह एक दम नया-सा प्रतीत हो । 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'] एक दम [पूर्ण रूप से] अभिनव प्रतीत होने वाले रस तथा अलङ्कार आदि से उज्ज्वल अर्थात् पूर्णतया नवीन रूप में उल्लसित शृङ्गार आदि [रस] और रूपक आदि [अलङ्कार] के व्यापार से प्रकाशमान [वह पुनः पुनः वर्णित होना चाहिए । ऐसा कैसे हो सकता है कि एक ही पदार्थ का वर्णन हर जगह नया नया-सा प्रतीत हो इसके लिए कहते हैं कि] क्योंकि [वह महाकवि की] प्रौढ़-प्रतिभा के प्रभाव से आयोजित होता है अर्थात् अत्यन्त प्रगल्भ प्रतिभा से प्रकाशित-सा होता है [इसलिए एक ही अर्थ बार बार दुहराये जाने पर भी पुनरुक्त-सा प्रतीत नहीं होता है अपितु हर जगह एक दम नया नया-सा प्रतीत होता है] ।

इसका सारांश यह हुआ कि—पूर्णचन्द्रमा के उदय आदि के [वर्णनपरक] प्रकरणों के सदृश प्रकरणों में कथा की रचना के अनुसार यदि वही वस्तु बार बार वर्णित होने पर भी पूर्णतया पहिले—वर्णित रूपकादि अलङ्कारों से विलक्षण अलङ्कारों के सौन्दर्य से परिपूर्ण होती है तो वह रमणीयता की चरम सीमा को प्राप्त किसी अपूर्व 'वक्रता' को प्रकाशित करती है ।

यथा हर्षचरिते ।

यथा वा तापसवत्सराजचरिते ।

कुरबकतरुर्गाढ़ाश्लेषं मुखासवलालनां
बकुलविटपो रक्ताशोकस्तथा चरणाहतिम् ॥१४॥

धरावेश्म विलोक्य दीनवदनो भ्रान्त्वा च लीला गृहान्—
निःश्वस्यायतमाशु केशरलतावीथीषु कृत्वा दृशः ।
किं मे पार्श्वमुपैषि पुत्रक कृतैः किं चाटुभिः क्रूरया
मात्रा त्वं परिवर्जितः सह मया यान्त्यातिदीर्घां भुवम् ॥१५॥

जैसे हर्षचरित में [यहाँ हर्षचरित के किस प्रकरण का निर्देश कुन्तक कर रहे हैं इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है] ।

अथवा जैसे 'तापसवत्सराजचरित' [नामक सम्प्रति अलभ्य नाटक] में—

इस 'तापस-वत्सराज चरितम्' नाटक की रचना 'कथासरित्-सागर' आदि में वर्णित और प्रसिद्ध उदयन तथा वासवदत्ता की कथा के आधार पर हुई थी, यह बात उसके नाम से ही स्पष्ट प्रतीत होती है । परन्तु वह नाटक भी पूर्वोद्धृत 'अभिजात-जानकी' नाटक के समान आज तक मुद्रित नहीं हुआ है । 'कुरबक' इत्यादि जो श्लोक कुन्तक ने यहाँ उद्धृत किया है उसकी लिखावट बड़ी अस्पष्ट है ।

इसलिए उसके केवल दो ही पाद स्पष्ट पढ़ने में आ सके शेष दो पाद पढ़ने में नहीं आए । तापस-वत्सराज नाटक के इस समय उपलब्ध न होने के कारण श्लोक पूरा नहीं किया जा सका है । आधे श्लोक का अर्थ यह है कि—

कुरबक का वृक्ष [दोहद के रूप में उस नायिका के] गाढ़ आलिङ्गन को, मौलश्री का वृक्ष [उसी दोहद के रूप में] मुख की मदिरा के सम्मान को, और रक्त-अशोक [का वृक्ष उसी दोहद के रूप में उस नायिका के] पाद प्रहार को प्राप्त कर सौभाग्यशाली है ॥१४॥

इस श्लोक में वासवदत्ता की मृत्यु का समाचार सुनकर उदयन उसके वियोग में विलाप कर रहे हैं । उदयन का यह विलाप आगे उद्धृत २१वें श्लोक तक चल रहा है । परन्तु एक ही बात बार-बार वर्णित होने पर भी उसमें बराबर नूतनता प्रतीत हो रही है इसलिए यह सारा प्रकरण इस 'प्रकरण-वक्रता' का उदाहरण है ।

'धारा वेश्म विलोक्य' इत्यादि [का अर्थ उदाहरण सं० ३, २७ पर देखो] ॥१५॥

कर्णान्तस्थितपद्मरागकलिकां भूयः समाकर्षता
चञ्च्वा दाड़िमबीजमित्यभिहता पादेन गण्डस्थली ।
येनासौ तव तस्य नर्मसुहृदाः खेदान्मुहुः क्रन्दतः
निःशङ्क न शुकस्य किं प्रतिवचो देवि त्वया दीयते ॥१६॥

सास्रम्—

सर्वत्र ज्वलितेषु वेश्मसु भयादालीजनने विद्रुते
त्रासोत्कम्पविहस्तया प्रतिपदं देव्या पतन्त्या तदा ।
हा नाथेति मुहुः प्रलापपरया दग्धं वराक्या तथा
शान्तेनापि वयन्तु तेन दहनेनाद्यापि दह्यामहे ॥१७॥

विरोधालङ्कारः । करुणरसः ।

'कर्णान्तस्थितपद्मराग' इत्यादि [का अर्थ उ० सं० ३, २९ पर देखो] ॥१६॥

उदयन का राज्य शत्रुओं ने छीन लिया था । ज्योतिषियों का कहना था कि जब इनका दूसरा विवाह सागरिका के साथ हो जायगा तब इनको राज्य की भी पुनः प्राप्ति हो जावेगी । उदयन अपनी स्त्री वासवदत्ता को बहुत प्यार करते थे अतः दूसरा विवाह करने को तैयार नहीं थे । यह देख कर उनके मन्त्री यौगन्धरायण ने वासवदत्ता की सहमति से वासवदत्ता को दूसरी जगह छिपा कर रख दिया और उदयन को यह प्रतीत करा दिया कि घर में आग लग जाने से वासवदत्ता उसमें जलकर मर गई है । इसी दुर्घटना का स्मरण कर उदयन रोते हुए कह रहे हैं कि—

रोते हुए [उदयन कहते हैं कि]—

सारे घरों में चारों ओर आग लगी हुई होने पर [अत्यन्त भयभीत] और, भय के कारण [अपने प्राण बचाने के लिए] सखियों के भाग जाने पर [किसी दूसरे की सहायता न मिल सकने के कारण निराश होकर स्वयं भागने का प्रयत्न करने पर] भय और [उससे उत्पन्न] कम्प से हाथ-पैर फूल जाने से पग पग पर गिरती-पड़ती [और उस घबराहट में अपने एक मात्र सहारे पति के रूप में मुझको स्मरण कर] हा नाथ ! हा नाथ ! इस प्रकार बार बार चिल्लाती [और मुझको पुकारती] हुई, वह विचारी [वासवदत्ता] ऐसी जली [जल कर मरी] कि [आज] उस अग्नि के बुझ जाने पर भी हम तो आज भी उस अग्नि से जले जा रहे हैं ॥१७॥

[इस श्लोक के चतुर्थ चरण में उस अग्नि के बुझ जाने पर भी हम उससे जले जा रहे हैं यह जो कथन है वह] विरोधालङ्कार [का सुन्दर उदाहरण है] [और उसके भीतर] करुण रस है ।

चतुर्थेऽङ्के राजा सकरुणमात्मगतम्—

चक्षुर्यस्यं तवाननादपगतं नाभूत् क्वचिन्निर्वृतं
येनैषा सततं त्वदेकशयनं वक्षःस्थली कल्पिता ।
येनोद्भासितया बिना बत जगच्छून्यं क्षणाज्जायते
सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ॥१८॥

इस प्रकार पहिले उद्धृत १४,१५,१६ श्लोकों में कवि ने वासवदत्ता के वियोग में राजा उदयन के विलाप का वर्णन किया है । उसके बाद 'सर्वत्र ज्वलितेषु' आदि १७वें श्लोक में भी उदयन के उसी विलाप का वर्णन किया है । परन्तु वह पुनरुक्त नहीं प्रतीत होता है । अपितु एक ही पदार्थ का नई नई शैलियों से पुनः पुनः किया गया वर्णन भी नया ही नया प्रतीत होता है । इस लिए वह इस चौथे प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' का उदाहरण है ।

इसके बाद चतुर्थ अङ्क में भी वासवदत्ता के वियोग में राजा उदयन विलाप करते हुए दिखलाई देते हैं । परन्तु उसमें भी वर्णन शैली की विशेषता के कारण न्यूनता ही प्रतीत होती है । इसी को दिखलाने के लिए कुन्तक ने इस चतुर्थ प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' के उदाहरण के रूप में उसको प्रस्तुत किया है ।

चौथे अङ्क में राजा [करुणा पूर्ण रूप में] रोते हुए अपने मन में [कह रहे हैं कि]—

जिसकी [अर्थात् मेरी] आँखें कभी तुम्हारे मुख पर से नहीं हटीं, और जिसको [तुम्हारे अभाव में] कहीं भी चैन नहीं पड़ता था, जिसने अपनी इस छाती को सदा तुम्हारे केवल तुम्हारे सोने के लिए [शय्या रूप] बनाया [अर्थात् जो तुमको सदैव अपनी छाती पर सुलाता था] जिसके प्रकाश के बिना [तुम्हारे लिए भी] यह सारा जगत शून्य-सा हो जाता था [अर्थात् मैं तुम्हारे बिना और तुम मेरे बिना तनिक देर को भी नहीं रह सकती थीं हमारा तुम्हारा इतना घनिष्ट प्रेम था । उस दशा में मैं दूसरा विवाह करने का कभी विचार करूँगा, इस प्रकार की कल्पना भी कोई नहीं कर सकता था । परन्तु आज अपने उस एक पत्नी] व्रत की मिथ्या डींग मारने वाला वह मैं, हे प्रियतमे [दूसरे विवाह के लिए स्वीकृति देकर] न जाने क्या [कैसा घोर अनर्थ भीषण पाप] करने पर उतर आया हूँ ॥१८॥

'तापसवत्सराजचरितम' के पञ्चम अङ्क में फिर राजा उदयन, वासवदत्ता के लिए उसी प्रकार विलाप करते हुए दिखलाई देते हैं—

भ्रूभङ्गं रुचिरे ललाटफलके तारं समारोपयन्
वाष्पाम्बुप्लुतपीतपत्ररचनां कुर्यात्कपोलस्थलीम् ।
व्यावृत्तैर्विनिबन्धचाटुमहिमामालोक्य लज्जानतां
तिष्ठेत् किं कृतकोपभारकरुणैराश्वासयैनां प्रियाम् ॥१९॥

उन्मादावस्था करुण रसः ।

किं प्राणा न मया तवानुगमनं कर्तुं समुत्साहिताः
बद्धा किं न जटा, न वा प्ररुदितं भ्रान्तं वने निर्जने ।
त्वत्सम्प्राप्तिविलोभनेन पुनरप्यूनेन पापेन किं
किं कृत्वा कुपिता यदद्य न वचस्त्वं मे ददासि प्रिये ॥२०॥

'इति रोदिति', इत्यनेन मनागुन्मादमुद्राप्युन्मीलिता । तमेव—

[उन्मत्त की उक्ति होने से इस श्लोक का पाठ कुछ अटपटा सा है, अर्थ का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता है] क्या भौहों को सुन्दर ललाट के ऊपर खूब ऊँचे चढ़ाकर [अर्थात् अत्यन्त नाराज़ होकर] आँसुओं के प्रवाह से गालों की पत्रलता [गालों पर बनाई गई रेखा] बहा देना उचित है अथवा लज्जा से झुकी हुई उसको आग्रह तथा खुशामद के साथ मुड़ मुड़ कर देख कर इस प्रिया को आश्वासन दो व्यर्थ के इस क्रोध के भार से उत्पन्न करुण [अर्थात् तुम्हारे नाराज होने से वह दुखी होती है रोती है ऐसे करुण रस] से क्या लाभ, उसे रहने दो [और आग्रहपूर्वक खुशामद करके उसको मना लो । यही उचित है । उसे रुलाना अच्छा नहीं है ॥१९॥]

यहाँ उन्माद की अवस्था तथा करुण रस [वर्णित] है ।

इस श्लोक में राजा की उन्मादावस्था का वर्णन किया है । इसीलिए उसके वाक्य सुसम्बद्ध नहीं है । और अर्थ भी ठीक-ठीक समझ में नहीं आता है । आगे फिर राजा की उसी प्रकार की अवस्था का वर्णन आता है ।

[हे प्रियतमे] क्या मैंने तुम्हारे पीछे [स्वर्गलोक] जाने केलिए अपने प्राणों को उत्साहित नहीं किया, अथवा [तुम्हारे वियोग में फकीरों के समान] क्या मैंने जटाएँ नहीं बाँधीं, और क्या रोता हुआ निर्जन वन में मारा मारा नहीं फिरा, [पर दुर्भाग्य से अब जीवित हूँ वह केवल] तुम्हारी फिर प्राप्ति के लोभ से [जीवित हूँ] यह [लोभ मेरा] छोटा सा पाप अवश्य है [पर] उस से क्या ? [वह कोई बड़ा पाप नहीं है] फिर तुम मुझ से क्यों नाराज़ हो कि आज मेरी बात का उत्तर भी नहीं देती हो ॥२०॥

यहां से ले कर 'रोदिति' 'रोने लगता है' यहाँ तक [पूर्वोक्त करुण रस के साथ] थोड़ी सी उन्माद की अवस्था भी प्रकाशित हो रही है ।

तमेव प्रोद्दीपयति षष्ठेऽङ्के ।

राजा—हा देवि !

त्वत्सम्प्राप्तिविलोभनेन सचिवैः प्राणा मया धारिता
तन्मत्वा त्यजतः शरीरकमिदं नैवास्ति निःस्नेहता ।
आसन्नोऽवसरस्तवानुगमने जाता धृतिः किन्त्वयं
खेदो यच्छतधा गतं न हृदयं तद्वत् क्षणे दारुणे ॥२१॥

यथा वा रघुवंशे मृगयाप्रकरणम् ।

प्रमाद्यता दशरथेन राज्ञा स्थविरान्धतपस्विबालवधो व्यधीयतेति एकवाक्यशक्यप्रतिपादनः पुनरप्ययमर्थः परमार्थसरससरस्वतीसर्वस्वाय-

---

उसी [करुण रस] को छठे अङ्क में, [फिर] उद्दीप्त करते हैं—

राजा [उदयन विलाप करते हुए फिर कहते हैं ।] हा देवी !

तुम्हारी पुनः प्राप्ति के लालच से मंत्रियों ने मेरे प्राणों की रक्षा कराई [अर्थात् तुम्हारी फिर प्राप्ति हो सकेगी ऐसी आशा मंत्रियों ने दिलाई है इसी से मैं आज तक प्राण धारण कर रहा हूँ । अन्यथा न जाने कब का मर गया होता । परन्तु वह आशा आज तक भी पूरी नहीं हुई । इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि वह उनका केवल झूठा आश्वासन था] यह समझ में आने पर [तुरन्त ही] इस पापी शरीर को छोड़ते हुए [मेरी तुम्हारे प्रति यह] स्नेहहीनता नहीं [कही जा सकती] है । [अब आज सौभाग्य से] तुम्हारे अनुगमन का अवसर शीघ्र ही मिल गया है इससे धैर्य हुआ है, किन्तु इस बात का खेद है उसी दारुण वेला [तुम्हारी मृत्यु के समय] में ही मेरा हृदय टुकड़े टुकड़े क्यों नहीं हो गया था ॥२१॥

इस सारे प्रकरण में यह दिखलाया गया है कि 'तापस-वत्सराज' चरित में उदयन की वियोगावस्था का अनेक जगह बार बार वर्णन किया गया है । परन्तु कवि की प्रौढ़ प्रतिभा से आयोजित होने के कारण वह हर जगह एक दम नया प्रतीत होता है । उसमें कहीं पुनरुक्ति की गन्ध भी नहीं आने पाई है इसलिए वह इस चतुर्थ प्रकार की 'प्रकरणवक्रता' का उदाहरण है ।

इसी चतुर्थ प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' का दूसरा उदाहरण रघुवंश के नवम सर्ग में दशरथ की मृगया के वर्णन से उद्धृत करते हैं—

अथवा जैसे रघुवंश में मृगया का प्रकरण ।

प्रमादवश राजा दशरथ ने बूढ़े और अन्धे तपस्वी के बालक [श्रवणकुमार] का वध कर दिया यह एक वाक्य में प्रतिपादन करने योग्य अर्थ बार बार वस्तुतः

मानप्रतिभाविधानक्लेशेन तादृश्या विच्छित्त्या विस्फुरितश्चेतनचमत्कार-करणतामधितिष्ठति ।

[1]व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान् गुहाभ्यः
फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान् ।
शिक्षाविशेषलघुहस्तया निमेषात्
तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥२२॥

सरस सरस्वती के सर्व स्वरूप [महाकवि कालिदास की] प्रतिभा के तनिक से प्रयोग से [रघुवंश में] उस प्रकार की [अपूर्व] सुन्दरता से प्रकाशित होकर सहृदयों के चमत्कार का कारण होता है ।

इसके बाद इस प्रकरण की विवेचना कुन्तक ने विस्तार के साथ की जान पड़ती है परन्तु मूल प्रति के प्रतीकात्मक स्वरूप के कारण वह विवेचना उपलब्ध नहीं हो सकी इस प्रकरण में से चार - पांच श्लोक अवश्य उद्धृत किए गए हैं । परन्तु वे रघुवंश के क्रम से नहीं दिए गए हैं । अपित भिन्न प्रकार के क्रम से दिए हैं ।

[सबसे पहिले नवम सर्ग का ६३वां श्लोक दिया है] निर्भय [दशरथ] ने गुफाओं से उछल कर [अपने] सामने आते हुए, वायु से टूट कर गिरे हुए खिले असन [नामक वृक्ष विशेषों] के समान [पीतवर्ण] सिंहों को [बाण चलाने के] विशेष अभ्यास तथा फुर्ती के द्वारा क्षण भर में बाणों से उसका मुंह भर कर तूणीर बना दिया ॥२२॥

इस श्लोक में राजा दशरथ की मृगया का वर्णन किया गया है । इसके बाद इसी सर्ग का ६७वां श्लोक उद्धृत किया है । उसमें भी मृगया का वर्णन है । परन्तु एक ही विषय होने पर भी उसमें पुनरुक्ति प्रतीत नहीं होती है । अपितु नूतन वक्रता ही प्रतीत होती है ।

---

१. रघुवंश ९, ६२ ।

[1]अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥२३॥

[2]लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥२४॥

घोड़े के पास से ही उड़कर जाते हुए सुन्दर पंखों वाले मोर को भी [उसके पंखों को देख कर] नाना प्रकार की विचित्र मालाओं से गुँथे हुए और रतिकाल में खुल गए [अपनी] प्रियतमा के केश पाश का ध्यान आ जाने से उसने बाण का लक्ष्य नहीं बनाया। [अर्थात् मोर के सुन्दर पंखों को देख कर दशरथ को अपनी प्रियतमा के मालाओं से गूँथे हुए परन्तु रतिकाल में खुले हुए केशों का स्मरण हो आया और हृदय में दिया आ जाने से उसने मोर पर बाण नहीं चलाया] ॥२३॥

इसके बाद ग्रन्थकार ने इसी सर्ग का ५७वां श्लोक उद्धृत किया है। पूर्व श्लोक के समान इस श्लोक में भी राजा दशरथ की मृगया का ही वर्णन किया गया है। परन्तु उसमें पुनरुक्ति नहीं अपितु अनूठा चमत्कार प्रतीत हो रहा है। पिछले श्लोक में मयूर के सुन्दर पंखों ने रंग विरंगे फूलों से सजे हुए पर रति क्रीड़ा में खुले हुए प्रियतमा के केशपाश का स्मरण दिला कर राजा को मोर के ऊपर बाण चलाने से रोक दिया था।

इस अगले श्लोक में राजा दशरथ के बाण का लक्ष्य एक हरिण था। पर जब उसकी सहचरी हरिणी ने देखा कि दशरथ उसके प्रियतम हरिण को बाण का लक्ष्य बनाना चाहता है तो उसकी प्राण रक्षा के लिए वह स्वयं हरिण के शरीर को ढक कर राजा के सामने खड़ी हो गई। उनके इस प्रेम को देख कर राजा के हृदय में दया का उदय हुआ और उन्होंने कान तक खींचे हुए अपने धनुष को ढीला कर दिया। यह एक दम नवीन चमत्कार युक्त उक्ति है। कवि कहता है—

हरि अर्थात् इन्द्र या विष्णु के समान शक्तिशाली [राजा दशरथ] ने [बाण के] लक्ष्य बने हुए हरिण के शरीर को आच्छादित कर खड़ी हुई सहचरी [हरिणी] को देखकर कामुकता के कारण दयार्द्र चित्त हो कर कान तक खींचे हुए धनुष को शिथिल कर दिया ॥२४॥

१. रघुवंश ९, ६७। २. रघुवंश ९, ५७।

[1]स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथम् ।
नरपतिरतिवाहयम्बभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥२५॥

[2]इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः
सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया
मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥२६॥

[3]अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः ।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरङ्गमेण ॥२७॥

इसके बाद ग्रन्थकार ने फिर इसी सर्ग के ७०वें श्लोक को उद्धृत किया है। जिसमें मृगया-प्रसङ्ग में अपने साथियों के छूट जाने के कारण राजा को जङ्गल में कहीं अकेले ही रात्रि बितानी पड़ी है उसका वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि—

अपने [परिच्छेद] सेवक तथा सामान आदि से रहित [मृगया के प्रसङ्ग में बिछुड़े हुए] उस राजा ने [कभी अकेले ही] बन की [रात्रि में] चमकने वाली औषधियों से प्रकाशित और सुन्दर फूलों तथा कोमल पत्रों की शय्या से युक्त रात्रि को बिताया ॥२५॥

फिर इसी सर्ग के ६९वें श्लोक को उद्धृत कर यह दिखलाया है कि चतुरा कामिनी के समान मृगया ने निरन्तर सेवा द्वारा अनुरक्त कर राजा को अपने वश में कर लिया—

इस प्रकार अपने [राज्य कार्य के] भार को मंत्रियों को सौंपे हुए और अपने अन्य सब कामों को भूले हुए, निरन्तर सेवा के कारण अत्यन्त अनुराग युक्त हुए राजा [दशरथ] को चतुरा कामिनी के समान मृगया ने अपने वश में कर लिया ॥२६॥

आगे उद्धृत किए हुए ७२वें श्लोक में राजा दशरथ के तमसा नदी के तट पर पहुँचने का वर्णन करते हुए लिखा है—

इसके बाद कभी बन में हरिण का पीछा करते हुए पार्श्ववर्ती सेवकों से अलग हो कर [बहुत तेज दौड़ने के कारण] मुँह से झाग डालते हुए घोड़े पर चढ़े हुए राजा [दशरथ]तपस्वी जिस में स्नान करते हैं, ऐसी तमसा नदी के किनारे पर पहुंचे ॥२७॥

---

१. रघुवंश ९, ७० । २. रघुवंश ९, ६९ । ३. रघुवंश ९, ७२।

¹शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥२८॥

प्रसङ्गेनास्या एव भेदान्तरमुन्मीलयति—

कथावैचित्र्यपात्रं तद् वक्रिमाणं प्रपद्यते ।
यदङ्गं सर्गबन्धादेः सौन्दर्याय निबध्यते ॥९॥

'वक्रमाणं' किं विशिष्टिम्'-कथावैचित्र्यपात्रम्' प्रस्तुतसंविधानकभङ्गीभाजनम् ।

तमसा नदी के किनारे अपने अन्धे माता पिता के एक-मात्र सहारे श्रवण-कुमार का राजा दशरथ के हाथ प्रमाद वश बध हो जाने पर उसके फल स्वरूप शाप प्राप्त होने पर राजा दशरथ कहते हैं कि—

जिसने अभी तक पुत्र के मुख कमल को देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं किया ऐसे मेरे लिए आपने [तू भी अपने पुत्र के वियोग के दुःख में मरेगा] यह शाप भी अनुग्रह रूप में दिया है [इस शाप के प्रभाव से मुझे कम से कम पुत्र का मुख तो देखने को मिलेगा] जैसे इन्धन से प्रज्वलित अग्नि कृषि योग्य भूमि को जला कर भी [प्रचुर मात्रा में] बीजांकुरों को उत्पन्न करने वाली बनाता है ॥२८॥

इत्यादि श्लोकों में राजा की मृगया का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। परन्तु उसमें पुनरुक्ति प्रतीत नहीं होती है कवि की प्रौढ़ प्रतिभा के योग से उसमें सर्वत्र एक दम नूतनता ही प्रतीत होती है । इसलिए यह सब 'प्रकरण-वक्रता' के चतुर्थ भेद के उदाहरण हैं। इस प्रकार यह चौथी प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' का वर्णन समाप्त हुआ ॥७८॥

५—प्रकरणानुसार [आगे] इसी ['प्रकरण-वक्रता'] का अन्य [पाँचवाँ] प्रकार दिखलाते हैं—

सर्गबन्ध [महाकाव्य नाटक] आदि के कथा वैचित्र्य का सम्पादक जो [जल क्रीड़ा आदि] अङ्ग [काव्य के] सौन्दर्य के लिए वर्णन किया जाता है वह भी उस 'प्रकरण-वक्रता' को प्राप्त करता है ['प्रकरण-वक्रता' नाम से कहा जाता है] ॥९॥

'वक्रता को' किस प्रकार की [वक्रता] को कि—'कथा के वैचित्र्य का सम्पादन करने वाली प्रस्तुत कथा की सुन्दर शैली के योग्य । वह कौन निबद्ध होता है

किं तत्—यदङ्गं सर्गबन्धादेः सौन्दर्याय निबध्यते । यज्जलक्रीड़ादि प्रकरणं महाकाव्यप्रभृतेरुपशोभानिष्पत्त्यै निवेश्यते ।

अयमस्य परमार्थः—प्रबन्धेषु जलकेलिकुसुमावचयप्रभृति प्रकरणं प्रक्रान्तसंविधानकानुबन्धि निबध्यमानं निधानमिव कमनीयसम्पदः सम्पद्यते । यथा रघुवंशे जलक्रीड़ा वर्णनम्—

[1]अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वः ।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥२९॥
[2]अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम् ॥३०॥

कि—जो अङ्ग सर्गबन्ध [महाकाव्य नाटक] आदि के सौन्दर्य के लिए उपनिबद्ध किया जाता है । जो जल-क्रीड़ा आदि प्रकरण महाकाव्य आदि की उपशोभा के सम्पादन के लिए निबद्ध किया जाता है ।

इसका सारांश यह हुआ कि प्रबन्ध काव्यों में जल-क्रीड़ा, कुसुमावचय इत्यादि प्रकरण प्रकृत कथा के अनुरूप वर्णित होकर सौन्दर्य सम्पति के कोष बन जाते हैं ।

इसके बाद कुन्तक ने रघुवंश के १६वें सर्ग से राजा कुश की जल-क्रीड़ा का वर्णन उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है । उसमें से कुछ श्लोक भी उद्धृत किए हैं जिनका अर्थ निम्न प्रकार है—

इसके बाद [जिसकी] लहरों में [रमण के लिए सतृष्ण और] उन्मत्त राज हंस विचर रहे हैं और किनारों की लताओं के पुष्प जिसमें तैर रहे हैं, ऐसे सरयू नदी के ग्रीष्मकाल में सुख देने वाले जल में, स्त्रियों के साथ विहार [जल-क्रीड़ा] करने की उस [राजा कुश] की इच्छा हुई ॥२९॥

सरयू नदी में जल-क्रीड़ा करते हुए कुश का दिव्य आभरण जल में गिर गया जिसे जल में रहने वाले 'कुमुद' नामक नाग ने छिपा लिया और नदी में ढूंढने पर भी नहीं मिला । जब उस 'कुमुद' नाग को दण्ड देने के लिए कुश ने धनुष उठाया तो वह 'कुमुद' नाग भयभीत हो कर सामने आया, और राजा कुश से बोला कि—

मैं कार्यान्तर से मानुष [अर्थात् रावण-बध रूप विशेष कार्य के सम्पादन के लिए मनुष्य रूप धारण करने वाले] विष्णु [रामचन्द्र] के पुत्र रूप दूसरे शरीर-भूत आपको जानता हूँ । [अर्थात् मैं यह जानता हूँ कि रावण के बध के लिए रामचन्द्र जी के रूप में विष्णु ने ही मानव रूप धारण किया था और आप उन्ही रामचन्द्र जी के पुत्र हैं इसलिए वस्तुतः विष्णु के ही दूसरे स्वरूप हैं] । सो मैं आराधना करने योग्य आप को नाराज कैसे कर सकता हूँ ॥३०॥

---

१. रघुवंश १६, ५४ । २. रघुवंश १६, ८२ ।

[1]कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन ।
ह्रदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥३१॥

तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥३२॥

इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम् ।
आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ॥३३॥

मैंने आपका यह आभूषण नहीं लिया था। बात यह थी कि मेरी छोटी बहिन 'कुमुद्वती' अपनी गेंद से खेल रहीं थी। उसकी गेंद उसके हाथ से टकरा कर ऊपर चली गई—मानों आज की रबड़ की गेंद हो—इसी बीच में गेंद के बजाय ऊपर से गिरता हुआ यह आभूषण नीचे गया तो इसने खेलने के लिए इसको ले लिया। जो आपकी सेवा में प्रस्तुत है। यह इस दूसरे श्लोक का भाव है। अर्थ इस प्रकार है—

हाथ से टकराकर जिसकी गेंद ऊपर चली गई ऐसी इस बालिका [कुमुद्वती] ने आकाश से टूटते हुए तारे के समान नदी [तालाब] से [पाताल लोक में] गिरते हुए तुम्हारे इस विजय-शील आभूषण को ले लिया ॥३१॥

यह [आभूषण] पृथ्वी के रक्षा करने वाले परिध [नाम अस्त्र विशेष] के समान, प्रत्यञ्चा के आघात के चिन्ह-भूत रेखा से अङ्कित और अजानु-लम्बी आपके पुष्ट हाथ के साथ फिर संयोग को प्राप्त करें। [अर्थात् अब इस आभूषण को स्वीकार करके फिर से अपने हाथ में धारण कीजिए] ॥३२॥

और मेरी इस छोटी बहिन 'कुमुद्वती' को सदा के लिए अपने चरणों की सेवा द्वारा अपने [इस आभूषणापहरण रूप] अपराध का प्रायश्चित्त करने का अवसर [अनुमति] प्रदान कीजिए ॥३३॥

इस प्रसङ्ग में कथा का वैचित्र्य उत्पादन करने के लिए ही कथा के अनुसार यहाँ राजा कुश की जल-क्रीड़ा का वर्णन किया गया है। इस प्रकार के कथावैचित्र्य सम्पादक प्रकरणों की अवतारणा भी 'प्रकरण-वक्रता' के पञ्चम प्रकार के अन्तर्गत समझनी चाहिए ॥९॥

---

१. रघुवंश १६, ८३-८४-८५।

पुनरप्यस्याः प्रभेदमुद्भावयति--

यत्राङ्गिरसनिष्यन्दनिकषः कोऽपि लक्ष्यते ।
पूर्वोत्तररसम्पाद्यः साङ्गादेः कापि वक्रता ॥१०॥

'साङ्गादेः कापि वक्रता' प्रकरणस्य सा काप्यलौकिकी वक्रता वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः । 'यत्राङ्गिरसनिष्यन्दनिकषः कोऽपि लक्ष्यते'। यत्र यस्यामङ्गी रसो यः प्राणरूपः, तस्य निष्यन्दः प्रवाहः, तस्य काञ्चनस्येव 'निकषः' परीक्षापदविषयो विशेषः 'कोऽपि' निरुपमो लक्ष्यते । किं विशिष्टः-'पूर्वोत्तरैरसम्पाद्यः' प्राक् परवृत्तैरङ्गाद्यैः सम्पादयितुमशक्यः । यथा विक्रमोर्वश्यामुन्मत्ताङ्कः यत्र विप्रलम्भश्रृङ्गारो अङ्गी रसः ।

तथा च तदुपक्रम एव--

राजा--[ससम्भ्रम्] *आः दुरात्मन् तिष्ठ तिष्ठ, क्व नु खलु प्रियतमामादाय गच्छसि । [विलोक्य] कथं शैलशिखराद् गगनमुत्प्लुत्य बाणैर्मामभिवर्षति । [विभाव्य सवाष्पं] कथं विप्रलब्धोऽस्मि—*

६—फिर भी इस ['प्रकरण-वक्रता'] का और [छठा] भेद दिखलाते हैं—

जहाँ [जिस प्रकरण में] पूर्व तथा उत्तर [अन्य सब अङ्गों या प्रकरणों] से असम्पाद्य [न पाई जाने वाली] प्रधान रस के प्रवाह की परीक्षा की कोई अपूर्व कसौटी पाई जाती है वह अङ्ग आदि की कुछ अलौकिक वक्रता [भी 'प्रकरण-वक्रता' कहलाती है ।

अङ्ग आदि की कोई अलौकिक वक्रता वह भी प्रकरण की कोई अलौकिक वक्रता अर्थात् सुन्दरता होती है यह [भवति क्रिया का अध्याहार करके] सम्बन्ध होता है । 'जहाँ प्रधान रस के प्रवाह की कोई कसौटी दिखलाई देती है' । जहाँ जिसमें, जो [काव्य या नाटक का] प्राणभूत प्रधान-रस है उसका निष्यन्द अर्थात् प्रवाह उसका, स्वर्ण की कसौटी के समान, कोई परीक्षा का कोई अनुपम हेतु दिखाई देता है । किस प्रकार का कि—पूर्व तथा उत्तर [अर्थात् सभी अङ्गों] से जो सिद्ध नहीं हो सकता है, अर्थात पहिले [वर्णित] तथा पीछे [वर्णित अङ्ग आदि] से जिसका सम्पादन करना असम्भव है । जैसे 'विक्रमोर्वशीय' [नाटक] में 'उन्मताङ्क' [नाम से प्रसिद्ध चतुर्थ अङ्क] । जिसमें विप्रलम्भ-शृङ्गार प्रधान-रस है ।

जैसे कि उस ['उन्मत्ताङ्क'] के प्रारम्भ में ही—

राजा—[भयभीत होकर] अरे दुष्ट ठहर, ठहर, प्रियतमा [उर्वशी] को लेकर तू कहाँ जाता है ? [देखकर] अच्छा पर्वत की चोटी से आकाश में कूद कर मेरे ऊपर बाणों की वर्षा कर रहा है । [भली प्रकार देखकर रोते हुए] अरे धोखा हो गया—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुधारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी ॥३४॥

[1]पद्भ्यां स्पृशेद्वसुमतीं यदि सा सुगात्री
मेघाभिवृष्ट सिकतासु वनस्थलीषु ।
पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्या
दृश्येत चारु पदपंक्तिरलक्तकाङ्का ॥३५॥

[2]तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभित-विहग-श्रेणि-रशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथा विद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥३६॥

यह तो उमड़ता हुआ नया [नीला नीला जल भरा] बादल है अभिमानी दुष्ट राक्षस नहीं है। और यह इन्द्र धनुष है, दूर [कान] तक खींचा हुआ वास्तविक धनुष नहीं है। यह तेज वर्षा की बौछार है बाणों का समूह नहीं है। और यह भी कसौटी पर बनी सोने की रेखा के समान चमकती हुई बिजली है मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है ॥३४॥

यह उद्धरण 'विक्रमोर्वशीय' के 'उन्मत्ताङ्क' नाम से प्रसिद्ध चतुर्थ अङ्क में से लिया गया है। परन्तु कुछ पाठ भेद है। इस समय उपलब्ध विक्रोर्वशीय में 'नवजलधरः' के पहिले 'हिअआहिअ' इत्यादि एक प्राकृत पद्य और पाया जाता है और उसके पहिले गद्य भाग 'अभिवर्षति' तक ही है। 'कथं विप्रलब्धोऽस्मि' यह अंश बांबे संस्कृत सीरीज़ के प्रकाशित संस्करण में नहीं मिलता है। परन्तु यह पाठ भेद विशेष महत्त्व पूर्ण नहीं है। इसी प्रसङ्ग में कुन्तक ने दो पद्य और भी उद्धृत किए हैं। उनकी व्याख्या पहिले की जा चुकी है।

पद्भ्याम् स्पृशेद् वसुमतीं इत्यादि का अर्थ उदा० सं० ३, २६ पर देखें ॥३४॥

तरंगभ्रूभङ्गा इत्यादि का अर्थ ३, ४१ पर देखें ॥३६॥

---

१. विक्रमोर्वशीयम् ४, ६। २. विक्रमोर्वशीय ४, २८।

यथा वा किरातार्जुनीये बाहुयुद्धप्रकरणम् ॥१०॥

पुनरिमामेवान्यथा प्रथयति—

प्रधानवस्तुनिष्पत्त्यै वस्त्वन्तरविचित्रता ।
यत्रोल्लसति सोल्लेखा सापराऽप्यस्य वक्रता ॥११॥

'अपरापि अस्य' प्रकरणस्य 'वक्रता' वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः। 'यत्रोल्लसति' उन्मीलति 'सोल्लेखा' अभिनवोद्भेदभङ्गीसुभगा । ❀ तिरूपमितरद्वस्तु [वस्त्वन्तर] तस्य 'विचित्रता' वैचित्र्यं नूतनचमत्कार इति यावत्। किमर्थम्—'प्रधानवस्तुनिष्पत्त्यै'। प्रधानमधिकृतं [1]प्रकरणम् कमपि वक्रिमाणमाक्रामति।

अथवा जैसे किरातार्जुनीय में बाहुयुद्ध का प्रकरण।

जैसे 'विक्रमोर्वशीय' के इस 'उन्मत्ताङ्क' नामक चतुर्थ अङ्क में विप्रलम्भ-शृङ्गार अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है। इसी प्रकार 'किरातार्जुनीय' में 'बाहु-युद्ध' वाले सर्ग में वीर-रस परम उत्कर्ष को प्राप्त हो गया है। इतना उत्कर्ष अन्य भागों में नहीं हुआ है। इस प्रकरणों में प्रधान रसों का परम उत्कर्ष होने के कारण ग्रन्थकार ने उन्हें 'प्रकरण-वक्रता' के इस भेद को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है ॥१०॥

फिर इसी [प्रकरण-वक्रता] की अन्य [सातवें] प्रकार से व्याख्या करते हैं—

जहाँ प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य [अप्रधान] वस्तु की उल्लेख योग्य [विशेष महत्व की] विचित्रता प्रतीत होती है वह भी इस [प्रकरण] की ही अन्य [सातवें] प्रकार की वक्रता होती है।

अन्य प्रकार की भी [सातवीं] इस प्रकरण की वक्रता वक्रभाव होती है यह [भवति क्रिया के अध्याहार से] सम्बन्ध होता है। यहाँ 'उल्लसति' अर्थात् प्रकट होता है, 'सोल्लेखा' अर्थात् अभिनव प्रकाशन शैली से मनोहर। [प्रकृत के] समान जो अन्य वस्तु [वह 'वस्त्वन्तर' हुई] उसकी विचित्रता वैचित्र्य अर्थात् अपूर्वता [प्रतीत होती है] किस लिए कि, 'प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए'। [जिसके द्वारा] प्रधान अधिकृत प्रकरण किसी अपूर्व सौन्दर्य को प्राप्त हो जाता है।

---

१. प्रधानमवि कृतं प्रकरणमिति पाठान्तरम्। ❀पाठलोप।

यथा मुद्राराक्षसे षष्ठाङ्के—

ततः प्रविशति रज्जुहस्तः पुरुषः

पुरुषः—छग्गुणसंजोअ दढ़ा उवायपरिवाडिदपासमही ।
चाणक्कणीदिरज्जू रिउसंजमणज्जुआ जअदि ॥३७॥
[षड्गुणसंयोगदृढ़ा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी ।
चाणक्यनीतिरज्जू रिपुसंयमनर्ज्जुका जयति ॥ इतिच्छाया]

एष स आर्यचाणक्यस्योन्दुरकेण चरेण कथितः प्रदेशः यत्र मया आर्य चाणक्यस्याज्ञप्त्या अमात्यराक्षसः प्रेक्षितव्यः । कथं एष खल्वमात्यराक्षसः कृत-शीर्षावगुण्ठन इत एवागच्छति । तदेभिर्जीर्णोद्यानपादपैरपवारितशरीरः प्रेक्षे कुत्रासनपरिग्रहं करोतीति । [इति तथा परिक्रम्य स्थितः] ।

ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः सशस्त्रो राक्षसः ।

जैसे मुद्राराक्षस के छठे अङ्क में—

[तब रस्सी हाथ में लिए हुए पुरुष प्रवेश करता है] ।

पुरुष—[सन्धि, विग्रह यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव रूप] छः गुणों के योग [रस्सी पक्ष में छः लड़ों को मिला कर बटने] से मजबूत तथा [साम, दाम, दण्ड, भेद, रूप] उपायों [रस्सी पक्ष में उसके बनाने के विविध उपायों] की परिपाटी से बने हुए पाश रूप मुख वाली और शत्रु को बाँधने में समर्थ रस्सी के समान आर्य चाणक्य की [अमात्य राक्षस को फँसाने के लिए इस समय प्रयुक्त की जा रही] नीति सर्वोत्कर्ष युक्त है । [इस रस्सी का प्रयोग ही अभी आगे चलकर अमात्य राक्षस को चाणक्य के चंगुल मे फँसा देगा इस लिए यहाँ उसकी प्रशंसा की गई है] ॥३७॥

[आगे बढ़ कर और देख कर] उन्दुरक [नामक] गुप्तचर के द्वारा आर्य चाणक्य को सूचित किया हुआ यही वह स्थान है जहाँ आर्य चाणक्य की आज्ञा से मुझे अमात्य राक्षस से मिलना है । अच्छा यह तो अमात्यराक्षस शिर को ढके हुए इधर ही आ रहे हैं । इस लिए तनिक इन पुराने बाग के वृक्षों की आड़ में छिप कर देखूँ कि यह कहाँ बैठते हैं । [उस प्रकार से छिप कर खड़ा हो जाता है] ।

[तब पूर्वोक्त रूप से शिर ढके हुए राक्षस का प्रवेश होता है]

उद्धरण वहुत लम्बा हो जाने के भय से यहां बीच का बहुत सा भाग छोड़ दिया गया है ।

पुरुषः—आसीनोऽयम् । तद्यावदार्यचाणक्यस्याज्ञप्तिं सम्पादयामि [राक्षसमपश्यन्निव] तस्याग्रतो रज्जुपाशेन कण्ठमुद्बध्नाति ।

राक्षसः—[विलोक्य स्वागतम्] अये कथमयमात्मानमुद्बध्नाति । नन्वयमहमिव दुःखितस्तपस्वी । भवतु पृच्छाम्येनम् । भद्र भद्र किमिदमनुष्ठीयते ।

पुरुषः—आर्य यत् प्रियवयस्यविनाशदुःखितोऽस्मादृशो मन्दभाग्यो जनोऽनुतिष्ठति ।

राक्षसः—भद्र अथाऽग्निप्रवेशे तव सुहृदः को हेतुः ?

किमौषधपथातिगैरुपहतो महाव्याधिभिः ।

पुरुषः—आर्य नहि नहि ।

राक्षसः—किमग्निविषकल्पया नरपतेर्निरस्तः क्रुधः ।

पुरुषः—शान्तं पापं शान्तं पापम् । चन्द्रगुप्तस्य जनपदेऽनृशंसा प्रतिपत्तिः ।

राक्षसः—अलभ्यमनुरक्तवान् किमयमन्यनारीजनम् ।

पुरुष—अच्छा यह बैठ गए । अब आर्य चाणक्य की आज्ञा का पालन करूँ । [मानो राक्षस को देखा ही नहीं है इस प्रकार का प्रदर्शन करते हुए] उसके सामने रस्सी के फँदे में अपना गला फँसाता है ।

राक्षस—[देख कर] अरे यह तो अपने गले में फाँसी लगा रहा है । जान पड़ता है यह बेचारा भी मेरे समान कोई दुखिया है । अच्छा इससे पूछूँ तो [समीप जाकर जोर से] अरे भाई यह क्या कर रहे हो ।

पुरुष—आर्य जो अपने प्रिय मित्र की मृत्यु से दुःखी हमारा जैसा अभागा व्यक्ति कर सकता है वही मैं कर रहा हूँ ।

राक्षस—अच्छा भाई तुम्हारे मित्र के अग्नि में जलने का क्या कारण है ? क्या वह औषध से न ठीक हो सकने वाले किन्हीं महारोगों से ग्रस्त है ?

पुरुष—आर्य नहीं नहीं [यह बात नहीं है] ।

राक्षस—तब क्या अग्नि और विष के समान भयङ्कर राजा के क्रोध से सताया हुआ है ?

पुरुष—[शान्तं पापं शान्तं पापम्] तोबा तोबा चन्द्रगुप्त के राज्य में निष्ठुर व्यवहार नहीं होता है ।

राक्षस—तो क्या प्राप्त न हो सकने वाली किसी अन्य पुरुष की स्त्री पर मोहित हो गया है ?

पुरुषः—आर्य शान्तं पापं शान्तं पापम् । अभूमिः खल्वेषः विनय-निधानस्य वणिग्जनस्य विशेषतो जिष्णुदासस्य ।

राक्षसः—किमस्य भवतो यथा सुहृद् एव नाशो विषम् ॥३८॥

पुरुषः—अथ किं आर्य अथ किम् ॥११॥

८—पुनर्भङ्ग्यन्तरेण व्याचष्टे—

सामाजिकजनाह्लादनिर्माणनिपुणैर्नटैः ।
तद्भूमिकां समास्थाय निर्वर्तितनटान्तरम् ॥१२॥

पुरुष—शान्तं पापं शान्तं पापम् [तोबा तोबा] सदाचारी वैश्यों और विशेष रूप से जिष्णुदास के लिए यह सम्भव नहीं है ।

राक्षस—तो क्या फिर तुम्हारी तरह इस के लिए भी उसके मित्र का विनाश ही विष हो रहा है ?

पुरुष—जी हाँ और क्या ?

मुद्राराक्षस में यह बड़ा लम्बा करण है । इन सबका सारांश यह है कि इस पुरुष के द्वारा चाणक्य ने अमात्य राक्षस पर यह प्रभाव डाला है कि अमात्य राक्षस के परिवार के लोगों को चाणक्य पकड़ना चाहता है । अमात्य राक्षस अपने परम मित्र चन्दनदास के पास अपने परिवार जनों को छोड़ कर चला गया था । चाणक्य ने चन्दन दास से उनको राज्य सौंप देने के लिए कहा है । परन्तु चन्दनदास इस पर राजी नहीं होता है, तो चाणक्य ने चन्दनदास को मार डालने की आज्ञा दे दी है । उसकी मृत्यु का समाचार सुनने के पहिले ही चन्दनदास का मित्र जिष्णुदास जो इस पुरुष का भी मित्र है अग्नि में जलकर मर जाने के लिए तैयार होकर नगर से बाहर चला गया है। और उसी मित्र शोक में यह पुरुष भी अपने गले में फाँसी लगा रहा है । वस्तुतः यह सब बनावटी जाल है । पर चाणक्य का उसके प्रयोग में इतना ही अभिप्राय है कि जब राक्षस को यह मालूम होगा कि उसके कारण उसका मित्र चन्दनदास मारा जा रहा है तो वह स्वयं आत्म-समर्पण कर देगा । और वही होता भी है ।

यहाँ चाणक्य का मुख्य उद्देश्य राक्षस को जीवित रूप में अपने वश में करना है । उसी प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए इस सुन्दर अङ्क की अवतारणा हुई है । इसलिए यह सातवें प्रकार की प्रकरण-वक्रता का ही उदाहरण है ॥११॥

८—फिर अन्य प्रकार से [प्रकरण-वक्रता के आठवें] भेद को दिखलाते हैं—

सामाजिक जनों के आनन्द प्रदान करने में निपुण नटों के द्वारा स्वयं सामाजिक के स्वरूप को धारण कर [तद्भूमिकां समास्थाय] और [अन्य] दूसरे नटों को बना कर—

क्वचित् प्रकरणस्यान्तः स्मृतं प्रकरणान्तरम् ।
सर्वप्रबन्धसर्वस्वकलां पुष्णाति वक्रताम् ॥१३॥

'सर्वप्रबन्धसर्वस्वकलां पुष्णाति वक्रताम्', सकलरूपकप्राणरूपं समुल्लासयति वक्रिमाणम् । 'क्वचित् प्रकरणस्यान्तः स्मृतं प्रकरणान्तरम्' कस्मिंश्चिद् कविकौशलोन्मेषशालिनि नाटके, न सर्वत्र । एकस्य मध्यवर्ति अङ्कान्तरगर्भीकृतं इति यावत् । किं विशिष्टम्—'निर्वर्तितनटान्तरम्' विभाविताऽन्यनर्तकम् । 'नटैः' कीदृशैः—'सामाजिकजनाह्लादनिर्माणनिपुणैः' सहृदय परिषत्परितोषणनिष्णातैः । 'तद्भूमिकां समास्थाय' सामाजिकीभूय ।

इदमत्र तात्पर्यम्—कुत्रचिदेव निरंकुशकौशलाः कुशीलवाः स्वीयभूमिकापरिग्रहेण रङ्गमलंकुर्वाणाः नर्तकान्तरप्रयुज्यमाने प्रकृतार्थजीवित इव गर्भवर्तिनि अङ्कान्तरे तरङ्गितवक्रतामहिम्नि सामाजिकीभवन्तो विविधाभिर्भावनाभङ्गीभिः साक्षात्सामाजिकानां किमपि चमत्कारवैचित्र्यमासूत्रयन्ति ।

कहीं एक नाटक [प्रकरण] के भीतर दूसरा [प्रकरण] नाटक प्रयुक्त होता है वह सारे प्रबन्धों की सर्वस्व-भूत अलौकिक वक्रता को पुष्ट करता है ।

'सारे प्रबन्ध [नाटक] की सर्वस्व-भूत वक्रता को पुष्ट करता है' । अर्थात् सारे रूपकों के प्राण भूत सौन्दर्य को प्रकाशित करता है ।'कहीं-नाटक के भीतर दिखलाया हुआ दूसरा नाटक' । किसी कवि कौशल को प्रदर्शित करने वाले [विशेष] नाटक में ही [यह सम्भव हो सकता है] सब में नहीं । अर्थात् एक [नाटक] के भीतर आए हुए । अङ्क के अन्तर्गत [दूसरा नाटक दिखलाया जाता है] । किस प्रकार के—'अन्य नट बना कर' अन्य को नट रूप देकर । किस प्रकार के नटों के द्वारा कि—'सामाजिक जनों के आह्लाद के निर्माण में निपुण' अर्थात् सहृदय समुदाय को सन्तुष्ट करने में समर्थ [नटों के द्वारा] । उन [सामाजिकों की भूमिका [स्वरूप] को लेकर अर्थात् सामाजिक बन कर [नाटक के भीतर जो दूसरे नाटक का अभिनय करना है । वह भी प्रकरण-वक्रता का ही एक विशेष आठवां प्रकार है] ।

इसका यहाँ यह अभिप्राय हुआ कि—कहीं [किसी विशेष नाटक में] ही अपरिमित कौशल वाले नट अपनी भूमिका [वेश] को धारण करने के द्वारा रङ्गमञ्च को अलंकृत करते हुए दूसरे नटों के द्वारा अभिनीत प्रस्तुत नाटक के प्राण-स्वरूप वक्रता की महिमा को प्रसारित करने वाले मध्यवर्ती दूसरे नाटक [अङ्क] में सामाजिक बनकर नाना प्रकार की भाव भङ्गियों से साक्षात् सामाजिकों के लिए किसी अपूर्व चमत्कार वैचित्र्य को उत्पन्न करते हैं । [वह प्रकरण-वक्रता का ही आठवां भेद है] ।

यथा बालरामायणे चतुर्थेऽङ्के लङ्केश्वरानुकारी नटःप्रहस्तानुकारिणा नटेनानुवर्त्यमानः ।

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमः शृङ्गारबीजाय तस्मै कुसुमधन्वने ॥३८॥

यथा वा उत्तररामचरिते सप्तमाङ्के 'हा कुमार, हा लक्ष्मण' इत्यादि ॥१२-१३ ॥

जैसे 'बालरामायण' [नाटक] के चतुर्थ अङ्क में प्रहस्त का अनुकरण करने वाले नट से अनुवर्त्यमान लङ्केश्वर रावण का अनुकर्ण करने वाला नट, [कोहलादि द्वारा अभिनीत 'गर्भ नाटक' को देखता है] ।

बालरामायण के चतुर्थ अङ्क में सीता-स्वयम्बर नाम का 'गर्भाङ्क' उपनिवद्ध किया गया है । उससे नाटक का सौन्दर्य बहुत बढ़ गया है । उसी की ओर यहाँ संकेत किया गया है । नाटक के अन्तर्गत नाटक का अभिनय जहाँ से प्रारम्भ हुआ है उसका प्रथम 'नान्दी' श्लोक 'कर्पूर इव' आदि दिया गया है । इसके पहिले की भाषा इस प्रकार है ।

प्रहस्तः [नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] भो भो भरतपुत्राः । प्रेक्षणककृते कृतक्षणः क्षणदाचरचक्रवर्ती । तत्प्रस्तूयताम् ।

[प्रविश्य कोहलः]

अर्थात् क्षणदाचर-चक्रबर्ती रावण, नाटक को देखने के लिए प्रस्तुत है इस लिए अब नाटक का अभिनय प्रारम्भ करो । इस प्रकार प्रहस्त के द्वारा आज्ञा दिये जाने पर कोहल नाम नट सूत्रधार के रूप में प्रविष्ट हो कर इस 'गर्भनाटक' के नान्दी पाठ के रूप में इस श्लोक को पढ़ता है ।

जो कपूर के समान जल कर भी प्रत्येक व्यक्ति में अधिक शक्तिशाली हो गया है शृङ्गार के बीजभूत पुष्पधन्वा उस [कामदेव] को नमस्कार है ।।३८।।

अथवा जैसे उत्तररामचरित के सप्तम अङ्क में [सीता परित्याग के बाद गर्भाङ्क में सीता को गङ्गा में कूदते हुए देख कर रामचन्द्र का] हा कुमार, हा लक्ष्मण [आदि चिल्लाकर] ।

'उत्तररामचरित' के सप्तम अङ्क में रामचन्द्र जी को बाल्मीकि विरचित नाटक का अप्सराओं द्वारा अभिनय दिखलाने का आयोजन किया गया है । उसकी ओर यह संकेत कुन्तक ने किया है ॥१२-१३॥

नाटक की रचना में पञ्च-सन्धियों का महत्व-पूर्ण स्थान है । वे पाँच सन्धियाँ क्रमशः १ मुख-सन्धि, २ प्रतिमुख-सन्धि, ३ गर्भ-सन्धि ४ विमर्श-सन्धि, ५ उपसंहृति-संधि, कहलाती है । इन पाँचों प्रकार की सन्धियों के यथोचित सन्निवेश से भी

९—अपरमपि प्रकरणवक्रतायाः प्रकारमविष्करोति—

मुखाभिसन्धिसन्ध्यादिसंविधानकबन्धुरम् ।
पूर्वोत्तरादिसङ्गत्या [1]अङ्गानां सन्निवेशनम् ॥१४॥
न त्वमार्गग्रहग्रस्तग्रहकाण्डकदर्थितम् ।
वक्रतोल्लेखलावण्यमुल्लासयति नूतनम् ॥१५॥

*कस्मात्-'पूर्वोत्तरादि सङ्गत्या' पूर्वस्य पूर्वस्य उत्तरेणोत्तरेण यत्साङ्गत्यं अतिशयितसौगम्यं उपजीव्योपजीवकभावलक्षणं तस्मात् । इदमुक्तं भवति—प्रबन्धेषु पूर्व-पूर्वप्रकरणं परस्य परस्य प्रकरणान्तरस्य सरससम्पादितसन्धि-सम्बन्धसंविधानकसमर्प्यमाणवक्रताप्राणं प्रौढ़िप्ररूढ़वक्रतोल्लेखमाह्लादयति ।

नाटक में कुछ अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है । उस सन्धि-वक्रता को भी 'प्रकरण-वक्रता' का नवम भेद बतलाते हुए आगे लिखते हैं ।—

९.—प्रकरण-वक्रता का और भी [नवम] प्रकार दिखलाते हैं—

मुख, प्रतिमुख सन्धि आदि के [यथोचित्त] सन्निवेश [आगे पीछे रचना] से मनोहर पूर्व तथा उत्तर की सङ्गति से अङ्गों का [उचित रूप से] सन्निवेश [भी प्रकरण-वक्रता का नवम प्रकार होता है] ।

[अमार्ग] अनुचित मार्ग के ग्रहणरूप ग्रह से ग्रस्त होने के कारण निन्दित [बुरे] रूप में अङ्गों का सन्निवेश न हो तो वह विन्यास वक्रता के उल्लेख से नवीन सौन्दर्य को प्रकाशित करता है ।

इन कारिकाओं का और उनकी वृत्ति का पाठ मूल प्रति में बहुत अस्त-व्यस्त और दूषित है । इसलिए उसका बहुत सा अंश ठीक तरह पढ़ने में नहीं आया ।

किससे कि पूर्व और उत्तर आदि [अङ्गों] की सङ्गति से अर्थात् पूर्व-पूर्व की उत्तर-उत्तर के साथ जो जों सङ्गति या उपजीव्य-उपजीवक भाव रूप अत्यन्त सुगमता उससे [अङ्गों का विन्यास] । इसका यह अभिप्राय हुआ कि—प्रबन्ध [काव्य या नाटक] में आगे आगे के प्रकरण उत्तर उत्तर के प्रकरणों के साथ सरलतापूर्वक सन्धि सम्बन्ध को प्राप्त होने से अर्थात् उल्लेख से युक्त उत्तर प्रकरणों के साथ ठीक मेल बैठ जाने से कथा की रचना में सौन्दर्य का समावेश कर [कवि की] प्रतिभा की प्रौढ़ता से उद्भावित वक्रता, के उल्लेख से [सहृदयों को] आह्लादित करता है ।

---

१. अपस्यात् परस्य ।*पाठलोप ।

यथा 'पुष्पदूतिके' प्रथमं प्रकरणम् । अतिदारुणाभिनववेदना निरानन्दस्य समागतस्य समुद्रतीरे समुद्रदत्तस्योत्कण्ठाप्रकारप्रकाशनम् ।

द्वितीयमपि प्रस्थानात् प्रतिनिवृतस्य निशीथिन्यामुत्कोचालङ्कारदानमूकीकृतकुवलयस्य कुसुमवाटिकायामनाकलितमेव तस्य सहचरीसङ्गनम् ।

तृतीयमपि—सम्भावितो दुर्विनयो, नयदत्तनन्दिनीनिर्वासनव्यसनतत्समाधाननिबन्धनम् ।

चतुर्थमपि मथुराप्रतिनिवृत्तकुवलयप्रदर्श्यमानांगुलीयकसमावेदितविमलसम्पदः कठोरतरगर्भभारखिन्नायां स्नुषायां निष्कारणनिष्कासनादनाहितप्रवृत्तेर्महापातकिनमात्मानं मन्यमानस्य सार्थवाहसागरदत्तस्य तीर्थयात्राप्रवर्तनम् ।

पञ्चममपि वनान्तःसमुद्रदत्तकुशलोदन्तकथनम् ।

जैसे 'पुष्पदूतिक' [नामक अप्राप्य 'प्रकरण'] में प्रथम प्रकरण । [नव-परिणीता पत्नी के वियोग के] अत्यन्त भयङ्कर अननुभूतचर दुःख से दुःखी और समुद्र के किनारे आए हुए [नायक] 'समुद्रदत्त' की उत्कण्ठा के प्रकार का प्रकाशन ।

[उसके बाद फिर] दूसरा प्रकरण भा प्रस्थान से अर्थात् यात्रा पर से [बीच में ही] लौटे हुए उस [समुद्रदत्त] का रात्रि में [अँगूठी रूप] आभूषण की घूंस [उत्कोच] देकर [वाटिका के पहरेदार] 'कुवलय' को चुप करके वाटिका में ही उस [समुद्रदत्त] का अपनी [पत्नी] सहचरी के साथ समागम [का वर्णन] ।

तृतीय [अङ्क] में [गर्भ चिन्हों के प्रकट होने पर समुद्रदत्त को पत्नी के] दुराचार की सम्भावना, नयदत्त की पुत्री के निर्वासन का सङ्कट और उसके समाधान [का वर्णन] ।

चतुर्थ अङ्क में भी मथुरा से लौटे हुए कुवलय[नामक पहरेदार]के द्वारा[पहिले समुद्रदत्त द्वारा घूंस रूप में दी हुई] अँगूठी के दिखलाने से जिसको [पुत्रवधू के] विमल चरित्र [सम्पत्ति] का परिचय प्राप्त हो रहा है ऐसे और परिपूर्ण [नौ मास के] गर्भ के भार से खिन्न पुत्र-बधू के निष्कारण निर्वासन रूप अशुभाचरण से अपने आप को महापातकी समझने वाले सार्थवाह [सौदागर] सागरदत्त का [प्रायश्चितस्वरूप] तीर्थ यात्रा पर चले जाना ।

पाँचवें [अङ्क में] भी वन के बीच में समुद्रदत्त के कुशल समाचार का कहना ।

षष्ठमपि, सर्वेषां विचित्रसंख्यासमागमाभ्युपायसम्पादनमिति । एवमेतेषां रसनिष्यन्दतत्पराणां तत्परिपाटिः कामपि कामनीयकसम्पदमुद्भावयति ।

यथा वा कुमारसम्भवे—[1]पार्वत्याः प्रथमतारुण्यावतारवर्णनम् । [2]हरशुश्रूषा । [3]दुस्तरतारकपराभवपारावारोत्तरणकारणं इति अरविन्दसूतेरुपदेशः । [4]कुसुमाकरसुहृदः कन्दर्पस्य पुरन्दरोद्देशाद् गौर्याः सौन्दर्यबलाद्

छठे [अङ्क में] भी सभी का विचित्र [संख्या] संकेतों से समागम के उपाय का निकालना आदि । इन सब रस को प्रवाहित करने वाले उन [इस प्रकार अङ्कों] की परम्परा [पुष्पदूतिक नामक नाटक में] कुछ अपूर्व सौन्दर्य को उत्पन्न कर देती है ।

अथवा जैसे कुमार सम्भव में—[1]पार्वती के प्रथम तारुण्य अर्थात् नवयौवन के आगमन का वर्णन [[2]पार्वती के द्वारा] शिव जी की सेवा । [3]तारकासुर द्वारा उत्पादित [देवताओं के] दुस्तर पराभव पारावार के पार पहुँचने [उद्धारपाने] का उपाय [शिवजी के पुत्र का सेनापतित्व ही है] इस प्रकार ब्रह्मा का उपदेश । [4]इन्द्र के कथन से वसन्त के सखा [कामदेव] का पार्वती के सौन्दर्य की शक्ति से [शिव पर प्रहार करते हुए शिव के नेत्र की विचित्र अग्नि से कामदेव के भस्म हो जाने पर उसके दुःखावेश से विवश हो कर रति का विलाप [चतुर्थ सर्ग में] । [पञ्चम सर्ग में]

---

१. असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ॥१, ३१॥

२. अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा
नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।
गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी
नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ॥१, ६०॥

३. संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः ।
अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितचक्षुषः ॥२, ५७॥
उमामुखेन ते यूयं संयमस्तिमितं मनः ।
शम्भोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत् ॥२, २९॥
तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः ।
मोक्ष्यते सुखबदीना वेणीवीर्यविभूतिभिः ॥२,६१॥

४. क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥३, ७२॥

विप्रहरतो हरविलोचनविचित्रभानुना भस्मीकरणदुःखावेशविवशायाः रत्या विलपनम् । [5]विवशताविक्लमनसो मेनात्मकजायास्तपश्चरणम् । निरर्गलप्राग्भारपरिमृष्टचेतसा विचित्रशिखण्डिभिः शिखरिनाथेन वारणम्, पाणिपीड़नम् । इति प्रकरणानि पौर्वापर्यपर्यवसितसुन्दरसंविधानबन्धुराणि रामणीयकधारामधिरोहन्ति ।

एवमन्येष्वपि महाकविप्रबन्धेषु प्रकरणवक्रतावैचित्र्यमेव विवेचनीयम् । यथा वेणीसंहारे प्रतिमुखसन्ध्यङ्गभागिनि द्वितीयेऽङ्के ॥१४-१५॥

---

[5]विवशता से खिन्न मन पार्वती की [6]तपश्चर्या [का वर्णन] । [[7]पार्वता के] अबाध [यौवन के] उभार से प्रभावित [मोहित] चित्त वाले विचित्र जटाओं [शिखण्ड] से उपलक्षित कैलाशपति [शिव] के द्वारा [ब्रह्मचारी वेश धारण करके युक्तियों से पार्वती को शिव की प्राप्ति के लिए] निषेध करना । [अन्त में पार्वती की दृढ़ता को देख उनके साथ] [8]विवाह करना । ये सब प्रकरण पौर्वापर्य से ग्रथित सुन्दर रचना से मनोहर होकर सौन्दर्य की पराकाष्टा पर पहुँच जाते हैं ।

इसी प्रकार अन्य महाकवियों के [काव्य नाटक रूप] प्रबन्धों में भी प्रकरणों की वक्रता के चमत्कार की विवेचना करनी चाहिए । जैसे, वेणीसंहार के प्रतिमुख सन्धि के अङ्गों से युक्त द्वितीय अङ्क में ॥१४-१५॥

---

५. अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी ।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम् ॥४,३॥

६. तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥५,१॥

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥५, २॥

७. अथाजिनाषाढ़धरः प्रगल्भवाग् ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥५, ३०॥
निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा ।
अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया ॥५, ७३॥

८. अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम् ।
समेतबन्धुर्हिमवान् सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ॥७, १॥

---

* पुष्पाङ्कित स्थानों पर पाठलोप सूचक चिन्ह थे ।

अथ प्रबन्धवक्रतामवतारयति—

इतिवृत्तान्यथावृत्तरससम्पदुपेक्षया ।
रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत् ॥१६॥
तस्या एव कथामूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः ।
विनेयानन्दनिष्पत्त्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता ॥१७॥

इसके बाद इस प्रकरण की समाप्ति में अन्तर श्लोक दिए गए हैं । परन्तु प्रतिलिपि में पढ़ने में नहीं आ सके हैं । इसलिए यहाँ नहीं दिए गए है ।

६—प्रबन्ध-वक्रता का प्रथम भेद—

प्रथम उन्मेष की १८वीं कारिका में ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का 'उद्देश' या निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने ६ प्रकार की 'वक्रता' का प्रतिपादन किया था । 'वक्रता' के इन्हीं ६ भेदों का निरूपण शेष ग्रन्थ में किया गया है । इनमें पहिले तीन भेदों का द्वितीय उन्मेष में विस्तार के साथ विवेचन किया गया है । तृतीय उन्मेष में वक्रता के चतुर्थ भेद का विवेचन हुआ है । और शेष दो भेदों का विस्तृत विवेचन इस चतुर्थ उन्मेष में किया गया है । उनमें से १—१५ कारिका तक वक्रता के पाँचवें भेद 'प्रकरण-वक्रता' के आठ प्रकार के स्वरूपों का यहाँ तक प्रतिपादन किया है । अब इसके 'प्रबन्ध-वक्रता' नामक वक्रता के छटे प्रकार का आगे ग्रन्थ की समाप्ति तक करेंगे । जैसा कि आगे स्पष्ट होगा । इस 'प्रबन्ध-वक्रता' के ग्रन्थकार ने सात भेद वर्णन किए हैं इन्हीं सातों भेदों का क्रमशः विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

इतिहास में [अर्थात् नाटक आदि की मूल कथा जिस ऐतिहासिक आधार पर ली गई है उस में] अन्य प्रकार से दिखलाए हुए रस की सम्पत्ति की उपेक्षा कर के जहाँ किसी अन्य सुन्दर रस से [कथा की] समाप्ति की जाय ।

प्रारम्भ से ही रचना सौन्दर्य को प्रकाशित करने वाले उसी [इतिहास प्रसिद्ध] कथा शरीर की [जिन राजा या पाठक आदि की शिक्षा के लिए नाटकादि की रचना की गई है उन] विनेयों के आनन्द सम्पादन के लिए [जहाँ इतिहास में अन्य प्रकार से निरूपण किए हुए रस की उपेक्षा कर अन्य रस से कथा की समाप्ति हो, यह पूर्व कारिका से सम्बन्ध है] वह प्रबन्ध की वक्रता होती है ।

'सा प्रबन्धस्य' नाटकसर्गबन्धादेः 'वक्रता' वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः। 'यत्र निर्वहणं भवेत्' यस्यामुपसंहरणं स्यात्। 'रसान्तरेण' इतरेण रम्येण रसेन रामणीयकविधिना। कया—'इतिवृत्तान्यथावृत्तरससम्पदुपेक्षया'। इतिवृत्तमितिहासः अन्यथा परेण प्रकारेण वृत्ता निर्व्यूढ़ा या रससम्पत् शृङ्गारादिभङ्गी तदुपेक्षया' तदनादरेण तां परित्यज्येति यावत्। कस्याः—'तस्या एव कथामूर्तेः' तस्यैव काव्यशरीरस्य। किं भूतायाः—'आमूलोन्मीलितश्रियः' आमूलं प्रारम्भादुन्मीलिता 'श्रीः' वाच्य-वाचकरचनासम्पद् यस्यास्तथोक्ता तस्याः। किमर्थं—'विनेयानन्दनिष्पत्त्यै' प्रतिपाद्यपार्थिवादिप्रमोदसम्पादनाय। यथा वेणीसंहारोत्तररामचरितयोः।

रामायणमहाभारितयोश्च शान्ताङ्गित्वं पूर्वसूरिभिरेव निरूपितम्॥१६-१७॥

वह 'प्रबन्ध' अर्थात् महाकाव्य [सर्गबन्ध] अथवा नाटक आदि की 'वक्रता' वक्रभाव रूप होती है यह [भवति क्रिया का अध्याहार करके वाक्य का] सम्बन्ध होता है। 'जहाँ निर्वहण अर्थात् समाप्ति हो' जिसमें उपसंहार किया जाय। [मूल ऐतिहासिक कथा में दिए हुए रस से भिन्न] दूसरे [अधिक] सुन्दर रस से सुन्दरता के साथ [कथा की समाप्ति की जाय वहाँ 'प्रबन्ध-वक्रता' होती है]। कैसे—इतिहास में अन्य प्रकार से वर्णित रस सम्पत्ति की उपेक्षा करके [अन्य रस में कथा का उपसंहार किया जाय वह 'प्रबन्ध-वक्रता' होती है]। 'इतिवृत्त' का अर्थ इतिहास है। [उसमें] 'अन्यथा' अर्थात् अन्य प्रकार से परिपुष्ट की हुई जो रस—सम्पत्ति अर्थात् शृङ्गारादि की पद्धति, 'उसकी उपेक्षा से' अर्थात् उसका अनादर करके अर्थात् उसको छोड़ कर [अन्य रस में कथा का उपसंहार किया जाय]। किसका [उपसंहार कि] उसी [इतिहास प्रसिद्ध मूल] कथा के स्वरूप का अर्थात् उस ही काव्य की शरीर भूत [मूल कथा] का। किस प्रकार की कथा का कि—आमूल अर्थात् प्रारम्भ से जिसकी रचना का सौन्दर्य प्रकट हो रहा है। आमूल अर्थात् प्रारम्भ से उन्मीलित प्रकाशित हो रही है श्री अर्थात् वाच्य वाचक [शब्द तथा अर्थ] की रचना सम्पत्ति जिसकी इस प्रकार की उस कथा का [रसान्तर से उपसंहार किया जावे]। किसलिए कि 'विनयों के आनन्द सम्पादन के लिए' अर्थात् [जिनकी शिक्षा के लिए काव्य या नाटक की रचना की गई है उन प्रतिपाद्य] शिक्षा योग्य राजा आदि के आनन्द सम्पादन के लिए। जैसे—उत्तररामचरित और वेणीसंहार में।

रामायण तथा महाभारत का [अङ्गी रस] प्रधान रस शान्त-रस है यह बात पूर्व विद्वान् [आनन्दवर्धनाचार्य ध्वन्यालोक ४, ५ में] ही दिखला चुके हैं। [अतः वेणीसंहारादि में 'प्रबन्ध रस परिवर्तन वक्रता' है]।

प्रबन्धवक्रतायाः प्रकारान्तरं दर्शयति—

त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा ।
इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समापनम् ॥१८॥
तदुत्तरकथावर्तिविरसत्वजिहासया ।
कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रास्य वक्रता ॥१९॥

उत्तर रामचरित की रचना रामायण के आधार पर और 'वेणीसंहार' की रचना महाभारत के आधार पर हुई है । आनन्दवर्धन आदि प्राचीन आचार्यों का मत यह है कि इन महाकाव्यों का प्रधान रस शान्त रस ही है । यद्यपि उनमें वीर आदि अन्य रसों का भी निरूपण पाया जाता है फिर भी उनका प्रधान रस शान्त रस ही है । परन्तु उन्हीं रामायण तथा महाभारत के आधार पर लिखे गए 'उत्तररामचरित' तथा 'वेणीसंहार' में करुण एवं वीररस का प्राधान्य है । इसलिए इन नाटकों के मूल इतिहास में अन्यथा प्रसिद्ध रससम्पत्ति की उपेक्षा करके विनेय लोगों के लिए प्रारम्भ से ही मूल शान्त रस से भिन्न करुण तथा वीर रस को प्रधानता देते हुए इन नाटकों की रचना की गई है । इसलिए ये इस 'प्रबन्ध-वक्रता' के उदाहरण हैं ॥१६-१७॥

२—'प्रबन्ध-वक्रता' का दूसरा भेद [समापन वक्रता]—

इसी प्रकार 'प्रबन्ध-वक्रता' के अन्य प्रकार का निरूपण करते हैं—

सारे संसार में अद्भुत चमत्कार जनक नायक के [चरित्र के] उत्कर्ष का पोषण करने वाले इतिहास के एक देश से ही [उत्तरवर्ती कथा के विरस भाग को छोड़ने के लिए] काव्य या नाटक आदि [प्रबन्ध] को समाप्त कर देना [भी 'प्रबन्ध-वक्रता' का ही दूसरा प्रकार है] ।

[इतिहास प्रसिद्ध कथा के बीच में जहाँ पर प्रबन्ध काव्य नाटक आदि को कवि ने समाप्त किया है] उसके आगे की कथा में होने वाली नीरसता के बचाने के लिए [सारी कथा का वर्णन न करके नायक के उत्कर्ष को चरम सीमा पर पहुँचाने वाले भाग पर ही बीच में जब कथा की समाप्ति] कवि कर देता है वह इस [प्रबन्ध] की विचित्र अद्भुत [आनन्ददायक] वक्रता होती है ।

'सा विचित्रा' विविधभङ्गीभ्राजिष्णुः 'अस्य' प्रबन्धस्य 'वक्रता' वक्रभावो 'भवतीति' सम्बन्धः। 'कुर्वीत यत्र सुकविः' 'कुर्वीत' विदधीत 'यत्र' यस्यां 'सुकविः' औचित्यपद्धतिप्रभेदचतुरः। 'प्रबन्धस्य समापनं' प्रबन्धस्य सर्गबन्धादेः 'समापनं' उपसंहरणं समर्थनमिति यावत्। 'इतिहासैकदेशेन' इतिवृत्तस्यावयवेन। किं भूतेन—'त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा' जगदसाधारणस्फुरितनेतृ-प्रकर्षप्रकाशकेन। किमर्थम्—'तदुत्तरकथावर्तिविरसत्वजिहासया'। तस्मादुत्तरा या कथा तद्वर्ति तदन्तर्गतं यद्विरसत्वं वैरस्यमनार्जवं तस्य जिहासया परिजिहीर्षया।

इदमुक्तं भवति—इतिहासोदाहृतां कश्चन महाकविः सकलां कथां प्रारभ्यापि तदवयवेन त्रैलोक्यचमत्कारकारण-निरुपमाननायक-यशःसमुत्कर्षो-त्कर्षोदयदायिना तदग्रिमग्रन्थप्रसरसम्भावितनीरसभावहरणेच्छया उपसंह्रिय-माणस्य प्रबन्धस्य कामनीयकनिकेतनायमानं वक्रिमाणमादधाति।

'वह विचित्र' अर्थात् नाना प्रकार से शोभाजनक इस प्रबन्ध [रूप नाटक अथवा महाकाव्य] की 'वक्रता' अर्थात् सुन्दरता होती है यह [भवति इस क्रिया का अध्याहार करके वाक्य का] सम्बन्ध होता है। जहाँ सुकवि [नायक के चरित्र के चरमोत्कर्ष पर पहुँचते ही आगे आने वाली कथा की नीरसता को बचाने के लिए कथा को समाप्त] करदे। 'जहाँ' जिस [रचना] में सुकवि अर्थात् औचित्य मार्ग के भेदों का जानने वाला [सुकवि]। प्रबन्ध की समाप्ति [करे] प्रबन्ध अर्थात् [सर्गबन्ध] महाकाव्य आदि का समापन अर्थात् उपसंहार अर्थात् समर्थन [कवि करे]। इतिहास के एक देश से अर्थात् [सारी कथा का निरूपण न करके अपने नायक के चरमोत्कर्ष पर्यन्त] इतिहास के एक भाग से [कथा को समाप्त कर दे]। किस प्रकार के [एकदेश] से कि—संसार में अद्वितीय अनुपम प्रतीत होने वाले नायक के उत्कर्ष को प्रकाशित करने वाले [एकदेश से कथा को समाप्त कर दे]। किस लिए कि—उसके आगे की कथा में आने वाली नीरसता के बचाने के लिए। [जहाँ कवि अपनी कथा को समाप्त कर रहा है] उसके बाद की जो कथा उसमें होने वाली नीरसता को बचाने के लिए [नायक के अलौकिक उत्कर्ष के प्रकाशक अत्यन्त सरस भाग पर कथा को समाप्त कर देना यह भी 'प्रबन्ध-वक्रता का दूसरा प्रकार है]।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि—कोई महाकवि किसी इतिहास प्रसिद्ध सम्पूर्ण कथा को प्रारम्भ करके, भी उसके सारे संसार को आश्चर्य डालने वाले नायक के अनु-पम यश को प्रदर्शित करने वाले किसी एक देश से, आगे बढ़ने से ग्रन्थ में आने वाली नीरसता को बचाने के लिए [बीच में ही] समाप्त किए जाने वाले काव्य में सौन्दर्य की आधारभूत वक्रता का आधान कर देता है।

यथा किरातार्जुनीये सर्गबन्धे—

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो
रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः ॥३६॥

रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकरमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥४०॥

एते दुरापं समावाप्य वीर्य-
मुन्मूलितारः कपिकेतनेन ॥४१॥

इत्यादिना दुर्योधननिधनान्तां धर्मराजाभ्युदयदायिनीं सकलामपि कथामुपक्रम्य कविना निबध्यमानत्वात्। दूरीभूतविभूतेः, प्रभूतद्रुपदात्मजनिकार-निरतिशयोद्दीपितमन्योः कृष्णद्वैपायनोपदिष्टविद्यासंयोगसम्पदः पाशुपतादि-दिव्यास्त्रप्राप्तये तपस्यतो, गाण्डीवसुहृदः, पाण्डुनन्दनस्यान्तरा किरातराज-

---

जैसे—किरातार्जुनीय महाकाव्य में—

एकान्त में शत्रुओं के विनाश करने की इच्छा रखने वाले राजा युधिष्ठिर की अनुमति प्राप्त कर। [वह बनेचर बोला] [किरात १,३]।

शत्रु रूप अन्धकार को दूर करके प्रातःकाल उदय होने वाले सूर्य के समान तुमको [अपनी राज्य] लक्ष्मी फिर प्राप्त हो। [कि० १, ४६]।

दुर्लभ शक्ति [पाशुपत अस्त्र] को प्राप्त करने पर अर्जुन [कपिकेतन इन सबका नाश कर देगा। [कि० ३, २२]।

इत्यादि [श्लोकों] से [यह प्रतीत होता है कि] दुर्योधन की मृत्यु पर्यन्त और [युधिष्ठिर को अभ्युदय प्राप्त कराने वाली सारी कथा को वर्णन करने का उपक्रम कर [अर्थात् प्रारम्भ से दुर्योधन के नाश पर्यन्त सारी कथा का वर्णन करने के अभिप्राय से इस महाकाव्य का आरम्भ हुआ है। परन्तु वास्तव में सारी कथा का वर्णन इसमें नहीं है अपितु किरात वेषधारी शिवजी के साथ अर्जुन के युद्ध और उसके फलस्वरूप शिवजी द्वारा पाशुपतास्त्र प्रदान तक की कथा का ही उसमें उल्लेख किया है। इस वर्णित कथा के भी मुख्य भाग इस प्रकार है। राज्य के अपहरण हो जाने पर] राज्यवैभव से विहीन, द्रौपदी के अपमान से अत्यन्त क्रुद्ध हुए, कृष्णद्वैपायन के द्वारा उपदिष्ट विद्यासंयोग से युक्त, पाशुपत आदि दिव्यास्त्रों के लिए तपस्या करते हुए, गाण्डीवधारी पाण्डु-पुत्र [अर्जुन] के बीच में शिव के साथ युद्ध से

सम्प्रहरणात् समुन्मीलितानुपमविक्रमोल्लेखं कमप्यभिप्रायं प्रकाशयति ॥१९॥

भूयोऽपि भेदान्तरमस्याः सम्भावयति—

प्रधानवस्तुसम्बन्धतिरोधानविधायिना ।
कार्यान्तरान्तरायेण विच्छिन्नविरसा कथा ॥२०॥
तत्रैव तस्य निष्पत्तेः निर्निबन्धरसोज्ज्वलाम् ।
प्रबन्धस्यानुबध्नाति नवां कामपि वक्रताम् ॥२१॥

'प्रबन्धस्य' सर्गबन्धादेः 'अनुबध्नाति' दृढयति 'नवां' अपूर्वोल्लेखां 'कामपि' सहृदयानुभूयमानां न पुनरभिधानगोचरचमत्काराम्—'वक्रतां' वक्रिमाणम् । काऽसौ 'कार्यान्तरान्तरायेण विच्छिन्नविरसा कथा' 'कार्यान्तरान्तरायेण' अपरकृत्यप्रत्यूहेन 'विच्छिन्नविरसा', विच्छिन्ना चाऽसौ विरसा च

[अर्जुन के] अनुपम पराक्रम को प्रकाशित करने के द्वारा [कवि] अपूर्व किसी [महत्त्व-पूर्ण] अभिप्राय को प्रकाशित कर रहा है। [इस प्रकार महाकवि भारवि ने जो कथा को बीच में ही समाप्त कर दिया है यह भी 'प्रबन्ध-वक्रता' का 'समापन वक्रता' नामक एक स्वरूप कहा जा सकता है] ॥१८-१९॥

३—प्रबन्ध-वक्रता का तीसरा भेद [कथा विच्छेद वक्रता]—

फिर भी इस [प्रबन्ध-वक्रता] का अन्य भेद हो सकता है यह कहते हैं—

प्रधान [मुख्य वर्णनीय] वस्तु के सम्बन्ध को तिरोहित कर देने वाले [शिशुपाल वध आदि रूप] किसी अन्य कार्य के व्यवधान से विच्छिन्न हो जाने से विरस हुई कथा—

वहाँ [कार्यान्तर से विच्छेद स्थल पर] ही उस [प्रधान कार्य] की मानों सिद्धि हो जाने से अबाध रस से उज्ज्वल, प्रबन्ध [काव्य] की किसी अनिर्वचनीय वक्रता को उत्पन्न [या पुष्ट] करती है।

'प्रबन्ध' अर्थात् महाकाव्य आदि की 'अभिनव, अपूर्व सहृदयों के द्वारा अनुभूयमान 'किसी' अनिर्वचनीय वक्रता अर्थात् सौन्दर्य को 'अनुबध्नाति' अर्थात् पुष्ट करती है। जिसका सौन्दर्य अभिधा का विषय नहीं हो सकता है। यह कौन [पुष्ट करती है कि] अन्य कार्य के अन्तराय से विच्छिन्न होने से विरस कथा 'कार्यान्तर के अन्तराय से' अर्थात् अन्य कार्य के विघ्न से 'विच्छिन्न विरसा' अर्थात् बीच में टूट जाने से [मानों] आकर्षण विहीन सी। किस प्रकार के [विघ्न] से [विच्छिन्न होने

सा । विच्छिद्यमानत्वादनावर्जनसंज्ञेत्यर्थः । किंभूतेन—'प्रधानवस्तुसम्बन्धतिरोधानविधायिना' आधिकारिकफलसिद्ध्युपायतिरोधानकरिणा । कुतः 'तत्रैव तस्य निष्पत्तेः'। तत्रैव कार्यान्तरानुष्ठाने एतस्याधिकारिकस्य निष्पत्तेः संसिद्धेः । तत एव 'निर्निबन्धरसोज्ज्वलां' निरन्तरायतरङ्गिताङ्गिरसप्रभाभाजिष्णुम् ।

अयमस्य परमार्थः—या किलाधिकारिककथा निषेधिकार्यान्तरव्यवधानाद् झगिति विघटमाना अलब्धावकाशापि विकाश्यमाना सा प्रस्तुतेतरव्यापारादेवं

वाली कि] प्रधान वस्तु के साथ सम्बन्ध का तिरोधान करने वाले अर्थात् अधिकारिक [मुख्य]फल सिद्धि के उपाय का तिरोधान कर देने वाले[कार्यान्तर रूप अन्तराय] से [विच्छिन्न अतएव विरस-सी प्रतीत होने वाली कथा काव्य में किसी अपूर्व चमत्कार को उत्पन्न कर देती है । विच्छिन्न और विरस कथा चमत्कार को कैसे उत्पन्न कर सकती है इसके समाधानार्थ कहते हैं विच्छिन्नविरसा कथा] कैसे [वक्रता को पुष्ट करती है कि] उस [प्रधान कार्य] की [मानों] वहीं सिद्धि हो जाने से । वहाँ ही अर्थात् [उस प्रधान वस्तु सम्बन्ध तिरोधान विधायी] कार्यान्तर के पूर्ण होते ही इस [आधिकारिक] प्रधान वस्तु की सिद्धि हो जाने से । और इसी से अबाध रस के प्रवाह से उज्ज्वल अर्थात् निर्विघ्न रूप से प्रवाहित प्रधान रस से शोभायमान [प्रबन्ध की वक्रता को पुष्ट करती है] ।

जैसे शिशुपाल बध महाभारत की कथा का एक भाग है । महाभारत की कथा का उद्देश्य दुर्योधन का पराजय करना है । परन्तु शिशुपालवध वाले कथा भाग का उद्देश्य युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का सम्पादन करना है । शिशुपालवध की घटना बीच आ जाने से दुर्योधन की पराजय का प्रकरण अधूरा रह जाता है । इसलिए विच्छिन्न हो जाने से मूल कथा में नीरसता आना स्वाभाविक है । वस्तुतः देखा जाय तो शिशुपाल के वध से दुर्योधन की पराजय का कार्य मानों अपने आप ही पूरा हो जाता है। इस प्रकार महाभारत की कथा के प्रसङ्ग में शिशुपाल वध की कथा से ही मानों प्रधान कर्म की सिद्धि हो जाती है । इसलिए शिशुपालवध महाकाव्य में यह घटना उसकी विरसता का कारण नहीं अपितु 'प्रबन्ध-वक्रता' का ही एक प्रकार है ।

इसका सारांश यह हुआ कि—जो मुख्य कथा [अपने] बाधक [से प्रतीत होने वाले] अन्य कार्य के व्यवधान से तुरन्त टूट जाने के कारण [साधारणतः] समाप्तप्राय [अलब्धावकाश] होने पर भी [वास्तव में स्वयं ही] आगे बढ़ जाती है वह इस प्रकार के [शिशुपालबध आदि रूप] अप्रस्तुत कार्य से [वस्तुतः

[1]प्रस्तुतनिष्पन्नेन्दीवरसितरसनिर्भरा प्रबन्धस्य रामणीयकमनोहरं वक्रिमाणमादधाति । यथा शिशुपालवधे ॥२०-२१॥

यत्रैक फलसम्पत्तिसमुद्युक्तोऽपि नायकः ।
फलान्तरेष्वनन्तेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु ॥२२॥
धत्ते निमित्ततां स्फारयशःसम्भारभाजनम् ।
स्वमाहात्म्यचमत्कारात् सापरा चास्य वक्रता ॥२३॥

सा अपरापि अन्यापि न प्रागुक्ता, 'अस्य' रूपकादेर्वक्रता वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः । 'यत्रैकफलसम्पत्तिसमुद्युक्तोऽपि नायकः'—यत्र यस्यां एक

विच्छिन्न न हो कर उसके प्रकृत कार्य में सहायक होने से] प्रस्तुत [कार्य] की पूर्णता के कारण कमल के उज्ज्वल रस से भरी हुई सी रमणीयता से मनोहर काव्य [प्रबन्ध] की वक्रता को उत्पन्न करती है । [वह भी 'प्रबन्ध-वक्रता' का ही 'कथा विच्छेद वक्रता' नामक तीसरा प्रकार है] जैसे शिशुपाल वध में—

शिशुपाल वध को यदि ऊपर देखा जाय तो वह युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ और महाभारत की मुख्य कथा का बाधक प्रतीत होता है क्योंकि उसके विशेष आकर्षक होने से सबका ध्यान उसकी ओर चला जाता है और आगे की कथा नीरस हो उठती है । परन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो वह महाभारत की मुख्य कथा या राजसूय यज्ञ का बाधक नहीं अपितु साधक है । उसके हुए बिना राजसूय यज्ञ का पूरा होना सम्भव नहीं था । इसलिए इस प्रकार की कथा काव्य की वैरस्यतापादक नहीं होती है अपितु वक्रता की आधायक होती है यह कुन्तक का अभिप्राय है ॥२०-२१॥

४—प्रबन्ध-वक्रता का चतुर्थ प्रकार [आनुषङ्गिक फल वक्रता]

एक ही [विशेष कार्य के] फल का प्राप्ति के लिए उद्यत हुआ भा नायक उसी के समान आदर योग्य अन्य अनन्त फलों में—

अपने प्रभाव के चमत्कार से प्राप्त होने वाले अत्यन्त यश का भाजन हो कर कारण बनता है । [इसलिए यह भी 'प्रबन्ध-वक्रता' का ['आनुषङ्गिक फलवक्रता' नामक] एक विशेष प्रकार होता है ।

वह दूसरी भी, पहिले कही हुई ही नहीं [अपितु उससे भिन्न] इस रूपक नाटक आदि की वक्रता अर्थात् सुन्दरता होती है यह [भवति इस क्रिया के अध्याहार द्वारा वाक्य का] सम्बन्ध होता है । 'जहाँ एक फल की प्राप्ति के लिए उद्यत नायक

---

१. 'प्रस्तुत निष्पन्ने' यह पाठ अशुद्ध था ।

फलसम्पत्तिसमुद्युक्तोऽपि अपराभिमतवस्तुसाधनव्यवसितोऽपि नायकः'फलान्तरेष्वनन्तेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु धत्ते निमित्तताम्' फलान्तरेषु साध्यरूपेषु वस्तुषु अनन्तेषु अगणनां नीतेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु आधिकारिकफलसमानोपपत्तिषु, प्रस्तुतार्थसिद्धेरेवाधिगतसिद्धिष्विति यथा नागानन्दे । तत्र दुर्निवारवैरादपि वैनतेयान्तकात् सकलकारुणिकचूडामणिः शङ्खचूडं जीमूतवाहनो देहदानादभिरक्षन् न केवलं तत्कुलम्※ ॥२२-२३॥

आस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यं काव्ये कामपि वक्रताम् ।
प्रधानसंविधानाङ्कनाम्नापि कुरुते कविः ॥२४॥

'आस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यम्'—'आस्तां' दूरत एव वर्तमानम् । 'वस्तुषु' अभिधेयेषु प्रकरणेषु प्रतिपाद्येषु, 'वैदग्ध्यं' विच्छित्तिः । 'काव्ये कामपि वक्रतां कुरुते कविः' । 'काव्ये' नाटके सर्गबन्धादौ कामपि वक्रतां कुरुते विदधाति ।

भी' जहाँ जिसमें एक फल की प्राप्ति के लिए उद्युक्त [अर्थात्] अपर अन्य के लिए नहीं केवल उस] एक अर्थात् अभिमत वस्तु की सिद्धि में लगा हुआ नायक भी उसी के समान स्पृहणीय अन्य अनन्त फलों की सिद्धि का कारण बनता है । अन्य फलों अर्थात् साध्य वस्तुओं में । अनन्त अर्थात् असंख्य जिनकी गिनती न हो सके ऐसे [साध्य फलों में] । 'तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु' अर्थात् आधिकारिक [मुख्य] फल के समान स्पृहणीय, और प्रस्तुत की सिद्धि से ही सिद्ध होने वाले [अनन्त फलों का कारण होता है] । जैसे नागानन्द [नाटक] में । वहां दुर्निवार वैर वाले गरुड़ रूप [शङ्खचूड़ के मारने वाले] यम से, अपने शरीर को देकर शङ्खचूड़ की रक्षा करते हुए जीमूतवाहन ने न केवल उसके कुल की [रक्षा की अपितु उसके द्वारा अन्य अनन्त फलों की सिद्धि की है] ॥२२-२३॥

५—प्रबन्ध-वक्रता का पञ्चम प्रकार [नामकरण वक्रता]—

वस्तुओं [कथाभाग आदि] के वैचित्र्य की बात जाने दो प्रधान कथा के [द्योतक] चिन्ह रूप नाम से भी कवि काव्य में कुछ अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है । [और वह भी प्रबन्ध-वक्रता का पञ्चम भेद कहा जाता है] ।

वस्तुओं [कथाभाग आदि] की [रचना में] विदग्धता की बात जाने दें । 'आस्तां' अर्थात् दूर रहे [उसका विचार न करें तो भी] वस्तुओं अर्थात् प्रकरण प्रतिपाद्य अभिधेय पदार्थों [अर्थात् कथाभाग आदि] में वैदग्ध्य अर्थात् सुन्दरता [की बात को दूर छोड़ दो तो भी] कवि काव्य में अर्थात् नाटक में अथवा [सर्गबन्धादि] महाकाव्य में कुछ अपूर्व वक्रता सौन्दर्य कर देता अर्थात् उत्पन्न कर

※पाठ लोप ।

कविरित्यद्भुतप्रतिभाप्रसारप्रकाशः । केन—'संविधानाङ्कनाम्नाऽपि' । प्रधान प्रबन्धप्राणगतप्रायं यत्संविधानं कथायोजनं तदङ्कश्चिन्हमुपलक्षणं यस्य तत्तथोक्तम् । तच्चतन्नाम । 'अपि' शब्दो विस्मयमुद्योतयति । यथा अभिज्ञान-शाकुन्तल-मुद्राराक्षस-प्रतिमानिरुद्ध-मायापुष्पक-कृत्यारावण-च्छलितराम-पुष्प दूषितकादीनि । न पुनः हयग्रीववध-शिशुपालवध-पाण्डवाभ्युदय-रामानन्द-रामचरितप्रायाणि ॥२४॥

देता है । कवि [अर्थात् प्रत्येक कवि नहीं अपितु] अद्भुत प्रतिभा के प्रसार से प्रकाशित । [कवि काव्य में वस्तु सौन्दर्य को छोड़ कर अन्य अन्य प्रकार से भी अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर सकता है] । किससे कि—'कथा के द्योतक नाम से भी' । प्रधान काव्य का प्राण स्वरूप जो संविधान अर्थात् मुख्य कथायोजना वह जिस [नाम] का अङ्क या चिन्ह या उपलक्षण है वह उस प्रकार का जो उस [नाटक आदि]का नाम । [उस अपने नाटक आदि के नामकरण करने में भी कवि अपूर्व वक्रता उत्पन्न कर देता है जिससे नाम को सुनते ही उस काव्य या नाटक की प्राणभूत जो कथा हैं उसका पता चल जाता है । कारिका में 'नाम्नापि' में आया हुआ] 'अपि' शब्द विस्मय का द्योतक है [अर्थात् बड़े आश्चर्य की बात है कि नाम-करण मात्र से भी कवि अपने काव्य या नाटक में कुछ अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर सकता है] । जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल, मुद्राराक्षस, प्रतिमा-निरुद्ध, मायापुष्पक, कृत्यारावण, छलितराम, पुष्पदूतिक आदि [नाम इसी प्रकार के अपूर्व चमत्कार के द्योतक हैं] परन्तु हयग्रीववध, शिशुपालवध, पाण्डवाभ्युदय, रामानन्द, रामचरित आदि [नाम बिल्कुल साधारण नाम है उनमें इस प्रकार का चमत्कार] नहीं है ।

'अभिज्ञान' अर्थात् दुष्यन्त की चिन्ह स्वरूप जो अँगूठी उसके द्वारा शकुन्तला का ज्ञान जिसमें दुष्यन्त को हुआ है वह 'अभिज्ञानशाकुन्तल' है यह इस शब्द का अर्थ होता है । और शकुन्तला नाटक की जान यही घटना है । इसलिए इस नामकरण करने में ही कवि ने अपने नाटक में कुछ अपूर्व चमत्कार पैदा कर दिया है । इसी प्रकार मुद्रा-राक्षस शब्द का अर्थ 'मुद्रया परिगृहीतो राक्षसो यत्र' यह है । अर्थात् जिसमें अपनी मुद्रा अर्थात् अँगूठी के द्वारा राक्षस पकड़ा गया है । मुद्राराक्षस नाटक की जान भी वस्तुतः यह अँगूठी वाला कथा भाग ही है । इसलिए इन नामकरणों में ही कवि ने कुछ अपूर्व कौशल दिखला कर अपने नाटकों में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है । यह कुन्तक का अभिप्राय है । वह इसको भी 'प्रबन्ध-वक्रता' का 'नामकरण वक्रता' नामक एक विशेष प्रकार मानते हैं ॥२४॥

प्रबन्धवक्रतायाः प्रकारान्तरमप्याह—

अप्येककक्षया बद्धाः काव्यबन्धाः कवीश्वरैः ।
पुष्णन्त्यनर्घामन्योन्यवैलक्षण्येन वक्रताम् ॥२५॥

'पुष्णन्ति' उल्लासयन्ति 'अनर्घाम्' अपरिच्छेद्याम् । 'अन्योन्यवैलक्षण्येन' परस्पर वैसादृश्येन । 'वक्रतां' वक्रभावम् । के ते—'काव्यबन्धाः' रूपकपुरःसराः । किं विशिष्टाः—'अप्येककक्षया बद्धाः' एकेनेतिवृत्तेन[1] योजिताः। कैः 'कवीश्वरैः'। कीदृशैः—एकत्र विस्तीर्णं वस्तु संक्षिपद्भिः, अन्यत्र संक्षिप्तं वा विस्तारयद्भिः । अपि वा विचित्रवाच्यवाचकालङ्करणसङ्कलनया नवतां नयद्भिः ।

इदमत्र तात्पर्यम् । एकामेव कामपि कन्दलितकामनीयकां कथां निर्वहद्भिः बहुभिरपि कविकुञ्जरैर्निबध्यमाना बहवः प्रबन्धा मनागप्यन्योन्यसंवादनमना-

---

६—प्रबन्ध-वक्रता का छठा प्रकार [तुल्य कथा वक्रता]—

प्रबन्ध-वक्रता के अन्य [छठे] प्रकार का निरूपण करते हैं—

एक ही श्रेणी में [एक ही कथा के आधार पर] बँधे हुए महाकवियों द्वारा निर्मित काव्य नाटकादि एक दूसरे से विलक्षण होने से किसी अपूर्व वक्रता को पुष्ट करते हैं । [और वह भी 'प्रबन्ध-वक्रता' का एक विशेष प्रकार है] ।

'पुष्णन्ति' का अर्थ उल्लसित अभिव्यक्त करते हैं यह है । 'अनर्घाम्' का अर्थ अपरिच्छेद्य अनन्त है । 'अन्योन्यवैलक्षण्य' का अर्थ एक दूसरे से भिन्नता से है । 'वक्रता' अर्थात् वक्रभाव सौन्दर्य । वे कौन हैं [जो वक्रता को उत्पन्न करते हैं कि] काव्य रचना रूपक आदि । किन के द्वारा [बनाए हुए] कि—महाकवियों के द्वारा । कैसे महाकवियों के द्वारा कि—कहीं [किसी नाटक या काव्य में] विस्तीर्ण वस्तु का संक्षेप करते हुए, और कहीं संक्षिप्त वस्तु का विस्तार करते हुए [महाकवियों के द्वारा निर्मित] । अथवा [अपनी प्रतिभा के अनुसार किसी भी प्रकार की वस्तु को] चमत्कार-जनक शब्द अर्थ तथा अलङ्कार आदि के योग से नूतनता को प्राप्त कराने वाले [महाकवियों के द्वारा निर्मित काव्य नाटक आदि कुछ अपूर्व कमनीयता को प्राप्त कराए जाते हैं । वह भी प्रबन्ध-वक्रता का एक प्रकार है] ।

इसका यहाँ यह अभिप्राय हुआ कि—सौन्दर्य के अङ्कुरों से परिपूर्ण किसी एक ही कथा के आधार पर अनेक महाकवियों द्वारा रचे गए बहुत से काव्य, नाटक आदि ग्रन्थ एक दूसरे से तनिक भी समानता न रखते हुए सहृदयों के हृदयों को आह्लादित

---

१. 'एकेनाप्रीकिवृत्तिन यजिताः' यह पाठ अशुद्ध था ।

सादयन्तं सहृदहृदयाह्लादकं कमपि वक्रिमाणयादधाति। यथा रामाभ्युदय-उदात्त राघव--वीरचरित-बालरामायण-कृत्यारावण-मायापुष्पक-प्रभृतयः । ते हि प्रबन्धप्रवरास्तेनैव कथामार्गेण निरर्गलरसासारगर्भसम्पदा प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिप्रकरणं च प्रकाशमानाभिनवभङ्गीप्राया रमणीयताभ्राजिष्णवो[1] नननवोन्मीलितनायकगुणोत्कर्षास्तेषां हर्षातिरेकमनेकशोऽप्यास्वाद्यमानाः समुत्पादयन्ति सहृदयानाम्। एवमन्यदपि निदर्शनान्तरमुद्भावनीयम्।

कथोन्मेषसमानेऽपि वपुषीव निजैर्गुणैः।
प्रबन्धाः प्राणिनः इव प्रभासन्ते पृथक् पृथक् ॥४२॥

इत्यन्तरश्लोकः ॥२५॥

करने वाले किसी अपूर्व सौन्दर्य से युक्त होते हैं। जैसे—रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, कृत्यारावण, मायापुष्पक इत्यादि। [ये सब ही नाटक रामायण की कथा पर लिखे गए हैं परन्तु सब एक दूसरे से विलक्षण सौन्दर्य को अभिव्यक्त करते हैं]। वे श्रेष्ठ ग्रन्थ उस [एक] ही, अनन्त रसवृष्टि की सामर्थ्य से युक्त कथा मार्ग से [अर्थात् एक ही रामायण की कथा के आधार पर निर्मित होने पर भी] प्रत्येक पद, प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक प्रकरण में प्रायः [अपनी-अपनी] नवीन शैली का परिचय देते हुए रमणीयता से मनोहर, नायक के नवीन-नवीन गुणोत्कर्ष को उन्मीलित करते हुए अनेक बार, बार-बार [पढ़ने और देखने या सुनने रूप से] आस्वाद्यमान होने पर भी उन [काव्य के पारखी] सहृदयों के आनन्दातिशय को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी निकाल लेने चाहिएँ [इस अभिप्राय को संग्रह रूप में कहने वाला निम्न लिखित संग्रह-श्लोक भी है]

कथा भाग के समान होने पर भी शरीर में एक जैसे प्राणियों के सदृश अपने-अपने, गुणों से काव्य नाटक आदि प्रबन्ध [ग्रन्थ] अलग-अलग प्रतीत होते हैं ॥४२॥

यह अन्तर श्लोक है ॥२५॥

उपसंहार—

यहाँ तक ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय 'षड्विध वक्रता' का भेदोपभेद सहित सविस्तार वर्णन हो चुका। अतः अब ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए लिखते हैं—

---

१. र···भ्राजिष्णवः यह त्रुटित पाठ था।

नूतनोपायनिष्पन्ननयवर्त्मोपदेशिनाम् ।

महाकविप्रबन्धानां सर्वेषामस्ति वक्रता ॥२६॥

'महाकविप्रबन्धानां' नवनिर्माणनैपुण्यनिरुपमानकविप्रकाण्डानां प्रबन्धानां 'सर्वेषां' सकलानामस्ति 'वक्रता' वक्रभावविच्छित्तिः । कीदृशानां— 'नूतनोपायनिष्पन्ननयवर्त्मोपदेशिनाम्' नूतनाः प्रत्यग्रा उपायाः, सामादि-प्रयोगप्रकारास्तद्विदां गोचरा ये तैर्निष्पन्नं सिद्धं नयवर्त्म नीतिमार्गः तदुपदिशन्ति शिक्षयन्ति ये ते तथोक्तास्तेषाम् ।

इदमुक्तं भवति—सकलेष्वपि सत्कविप्रबन्धेषु अभिनवभङ्गीनिवेश-पेशलि नीत्याः[1] किमपि फलमुपपद्यमानं प्रतिपाद्योपदेशद्वारेण उपलभ्यत एव ।

नए नए उपायों से सिद्ध नीति मार्ग का उपदेश करने वाले, महाकवियों के सभी [प्रबन्धों काव्य नाटक आदि] ग्रन्थों में [अपना-अपना कुछ अपूर्व] सौन्दर्य [वक्रभाव] रहता ही है ।

'महाकवियों' के ग्रन्थों में अर्थात् अभिनव निर्माण के नैपुण्य में अनुपम महाकवियों के सभी ग्रन्थों में वक्रता अर्थात् 'वक्रभाव' सौन्दर्य रहता ही है । किस प्रकार के [प्रबन्धों में] नए उपायों से सिद्ध नीतिमार्ग का उपदेश देने वालों में । नूतन अर्थात् नए, एक-दम ताजे उपाय अर्थात् साम आदि के प्रयोग के प्रकार, जो उन [सामादि के प्रयोग प्रकारों] को जानते हैं उनके विषय भूत [अर्थात् नीतिज्ञों के परिज्ञात जो उपाय] उनसे सिद्ध जो नीतिमार्ग उसका उपदेश अर्थात् शिक्षा देने वाले वह उस प्रकार के 'नूतनोपायनिष्पन्ननयर्वत्मोपदेशी' हुए उनके [सभी ग्रन्थों में वक्रता रहती है] ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि—सत्कवियों के सभी प्रबन्धों [काव्य नाटक आदि ग्रन्थों] में अपने अभिनव शैली के सन्निवेश से मनोहर प्रतिपाद्य [विनेय] के उपदेश द्वारा नीति का कोई उत्पन्न होने वाला फल उपलब्ध होता ही है ।

---

१. 'किमपिकारणमुपलभ्यते' यह अशुद्ध पाठ था ।

यथा मुद्राराक्षसे । तत्र हि प्रवरप्रज्ञाप्रभावप्रपञ्चितविचित्रनीतिव्यापाराः प्रगल्भन्त एव । तापसवत्सराज उद्देश एव व्याख्यातः । एवमन्यदप्युत्प्रेक्षणीयम् ।

वक्रतोल्लेखवैकल्यं [1]न समान्येऽवलोक्यते ।
प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः ॥४३॥

इत्यन्तरश्लोकः ॥२६॥[2]

जैसे—मुद्राराक्षस नाटक में। वहाँ [उस मुद्राराक्षस में राक्षस तथा चाणक्य दोनों की] तीव्र बुद्धि के प्रभाव से प्रपञ्चित नीति के नाना प्रकार के व्यापार दिखलाई देते ही हैं। [उन नीति व्यापारों के कारण उसमें भी एक विशेष प्रकार की 'प्रबन्ध-वक्रता' पाई जाती है। तापस वत्सराज [में भी इसी प्रकार नाना प्रकार के नीति व्यापार और उनसे उत्पन्न वक्रता दिखलाई देती है। उस] की व्याख्या पहिले ही कर चुके हैं। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी स्वयं निकाल लेने चाहिएँ।

वक्रता के उल्लेख का अभाव साधारण [कवियों] में भी नहीं दिखलाई देता है फिर महाकवियों की कीर्ति के मूलभूत प्रबन्धों [काव्य नाटक आदि] में तो कहना ही क्या।

यह अन्तर-श्लोक है ॥२६॥

इस चतुर्थोन्मेष के अन्त में ग्रन्थ या उन्मेष की समाप्ति की सूचक कोई पुष्पिका नहीं दी थी। इसके विपरीत 'असमाप्तोऽयं' ग्रन्थः लिखा हुआ था। इसलिए यह ग्रन्थ अपूर्ण माना जाता है। परन्तु इसका अवशिष्ट भाग कितना रह गया है यह एक विचारणीय प्रश्न है। जहां तक ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का सम्बन्ध है उस दृष्टि से

---

१. 'न सामान्येऽव' इतना पाठ खण्डित था हमने उसकी पूर्ति की है।

२. वक्रोक्तिजीवित के पिछले संस्करण में इसके बाद निम्न पंक्तियाँ और दी हुई हैं—

यथा नागानन्दे तत्र दुर्निवारवैरादपि वैनतेयान्तकादेक······सकलकारुणिक चूड़ामणिः शंखचूड़ं जीमूतवाहनो देहदानादभिरक्षन् न केवलं तत्कुलं···

इन पंक्तियों की यहाँ कोई सङ्गति नहीं है। उनका सम्बन्ध २३वीं कारिका के वृत्ति भाग के अन्त में जुड़ सकता है। इसलिए हमने उनको यहाँ से हटा कर पृ० ५३६ पर यथा स्थान दे दिया है। मूल प्रति में यहाँ लेखक के प्रमाद से ही उनको लिख दिया गया है ऐसा जान पड़ता है।

यह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ अपूर्ण नहीं अपितु पूर्ण है। प्रथमोन्मेष की १८वीं कारिका में ग्रन्थकार ने छः प्रकार की वक्रता का प्रतिपादन किया है—

कवि व्यापारवक्रतत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट्।

प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः ॥१,१८॥

वक्रता के ये मुख्य छः भेद अगली तीन अर्थात् १६, २०, २१वीं कारिकाओं में इस प्रकार में गिनाए हैं—

१. वर्णविन्यास-वक्रता [यमक आदि इसके स्वरूप है]।

२. पदपूर्वार्द्धवक्रता [प्रातिपदिक तथा धातु की वक्रता]।

प्रत्यय वक्रता [इसको पद उत्तरार्द्ध-वक्रता कहा जा सकता है]।

४. वाक्य-वक्रता [इसमें सारे अलङ्कारों का अन्तर्भाव होता है]।

५. प्रकरण-वक्रता।

६. प्रबन्ध-वक्रता।

इन छः प्रकार की वक्रताओं का प्रतिपादन ही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। ग्रन्थकार ने प्रथम उन्मेष में इनकी एक साधारण रूपरेखा दे दी है। फिर शेष ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक इनका विचार किया है। उनमें से पहिली तीन अर्थात् वर्ण-विन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्द्ध-वक्रता और पदउत्तरार्द्ध-वक्रता अर्थात् प्रत्यय-वक्रता का विस्तृत निरूपण द्वितीय उन्मेष में किया है। उसके बाद वाक्य-वक्रता का विस्तार पूर्वक विवेचन तीसरे उन्मेष में किया है। इस 'वाक्य-वक्रता' के विषय में प्रथम उन्मेष में ही ग्रन्थकार ने लिखा था कि—

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्त्रधा।

यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यन्ति ॥१, २०॥

अर्थात् इस 'वाक्य-वक्रता' के भीतर कुन्तक ने सारे अलङ्कार-वर्ग का अन्तर्भाव कर लिया है। इसलिए तृतीय उन्मेष में जो इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा उन्मेष है केवल इस 'वाक्य-वक्रता' का विचार किया गया है। शेष दो प्रकार की वक्रता और रह जाती है। एक 'प्रकरण-वक्रता' और दूसरी 'प्रबन्ध-वक्रता'। इन दोनों का विस्तारपूर्वक विचार चतुर्थ उन्मेष में किया गया है। १५ कारिकाओं में नौ प्रकार की 'प्रकरण-वक्रता' तथा १० कारिकाओं में छः प्रकार की 'प्रबन्ध-वक्रता' का विवेचन चतुर्थ उन्मेष में किया गया है। ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का अन्तिम भाग जो प्रबन्ध-वक्रता है और उसका भी यहां १६ से लेकर २५ तक १० कारिकाओं में विस्तारपूर्वक विवेचन हो जाने से अब प्रतिपाद्य विषय का कोई भी अंश शेष नहीं रह जाता है।

इति श्रीमद्राजानककुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते
चतुर्थ उन्मेषः समाप्तः
समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।



इसीलिए २६वीं कारिका में ग्रन्थ का उपसंहार भी कर दिया गया है । इस प्रकार विषय की दृष्टि से कुन्तक को जो कुछ कहना था वह सब वर्तमान उपलब्ध ग्रन्थ में आ गया है । इसलिए विषय की दृष्टि से ग्रन्थ अपूर्ण नहीं अपितु पूर्ण है । हां बीच-बीच में ग्रन्थ का पाठ खण्डित पाया जाता है इसलिए ग्रन्थ को अपूर्ण या खण्डित भले ही कहा जाय परन्तु उसको 'असमाप्त नहीं कहा जा सकता' है । क्योंकि विषय की दृष्टि से ग्रन्थ समाप्त हो गया है । इसलिए हम 'असमप्तोऽयं ग्रन्थः' के स्थान पर ग्रन्थ समाप्ति सूचक 'पुष्पिका' दे रहे हैं ।

श्रीमद्राजानक कुन्तक विरचित वक्रोक्तिजीवित में
चतुर्थ उन्मेष समाप्त हुआ ।
और यह ग्रन्थ भी समाप्त हुआ ।

द्वाभ्यां वैशाखमासाम्यां द्विसहस्त्रे दशोत्तरे ।
वक्रोक्तिजीवितस्येयं मया व्याख्या प्रपूरिता ।

उत्तरप्रदेशस्थ पीलीभीत मण्डलान्तर्गत मकतुल ग्रामनिवासिनां
श्री शिवलालबख्शीमहोदयानां तनुजनुषा,
वृन्दावनस्थगुरुकुलविश्वविद्यालयाधीतविद्येन तत्रत्याचार्यपदमधितिष्ठता
एम० ए० इत्युपपदधारिणा श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना
विरचितायां वक्रोक्तिदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
चतुर्थोन्मेषः समाप्तः
समाप्तश्चायं ग्रन्थः



प्रथम परिशिष्ट

अकारादि क्रम से कारिका-सूची—

द्वितीय परिशिष्ट

अकारादि क्रम से उदाहरणों की सूची

तृतीय परिशिष्ट

वक्रोक्तिजीवित में विशेष रूप से नामनिर्देश पूर्वक उल्लिखित ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों की सूची

चतुर्थ परिशिष्ट

उत्तरवर्ती ग्रन्थों में वक्रोक्तिजीवित का उल्लेख

व्यक्तिविवेक पृ० १४३ [महिम भट्ट]

सरम्भः करिकीटशकलोद्द्रेगेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव स जातिमात्रनियनो हेवाकलेशः किल ।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटा बन्धेऽप्यसंरम्भवान् ।
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेसरी ॥

[वक्रोक्ति. प. ४२]

अयं श्लोको वक्रोक्ति जीविते वितत्य व्याख्यात
इति तत एवावधार्यः । [व्यक्तिविवेक व्याख्यान पृ. १५३]

व्यक्ति विवेक पृ० २४३— [महिम भट्ट]

काव्यकाञ्चनकशाश्ममनिना ।
कुन्तकेन निज काव्यलक्ष्मणि ।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता ॥
श्लोक एष स निदर्शितो मया ॥

व्यक्ति विवेक पृ० ३०१—[महिम भट्ट]

एवमुपमारूपकेऽपि इव शब्दप्रयोगः पुनरुक्तोऽवगन्तव्यः यथा—

निर्मोकमुक्तिरिव गगनोरगस्य लीलाललाटिकामिवत्रिविष्टपविटस्य ।

उपमारूपकेत्यादिना— [वक्रोक्ति. पृ. ४२६, ४७७]

अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्कारणान्तरम् ।
असन्तुष्टा निवध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ॥

[वक्रोक्ति. का. १,३५]

इति वक्रोक्तिजीवितकृतोक्तं अलङ्कारपृष्ठपातिनमलङ्कारं दूषयति ।

[व्यक्तिविवेक व्याख्यान पृ. ३०१-१०२]

एकावली पृ० ५१ — [विद्याधर]

एतेन यत्र कुन्तकेनान्तर्भावितो ध्वनिस्तदपि प्रत्याख्यातम् ।

अलङ्कारसर्वस्व पृ० ८ [रुय्यक]

उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः ॥

समुद्रबन्ध पृ० ८-९—[अलङ्कार सर्वस्व टीका]

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्ये तद्विदाह्लादकारिणि ॥

[वक्रोक्ति का० १,७]

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥

[वक्रोक्ति का० १,२०]

जयरथ पृ० ८—[कृत अलङ्कार सर्वस्वटीका]

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते । [वक्रोक्ति का० १,१०]
यन्मूला सरसोल्लेखारूपकादिरलंकृतिः ।
उपचारप्रधानाऽसौ वक्रता काचिदुच्यते ॥ [वक्रोक्ति का० २,१३]
'गगनं च मत्तमेघ' अत्र मदनिरहङ्कारत्वे
औपचारिके इति उपचारवक्रतादीनामपि ग्रहणम् ।

सोमेश्वरकृत काव्यप्रकाश टीका ।

अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम् ।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते ॥

[वक्रोक्ति का० १,४७]

माणिक्यचन्द्र कृत काव्यप्रकाश टीका [सङ्केत] पृ० ४०-४१

तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ ।

इत्यत्र सादृश्योपचारमूचे । यथा च सादृश्योपचारस्तथा वक्रोक्तिजीवितग्रन्थाज्ज्ञेयः । [वक्रोक्ति पृ० २६६]

साहित्यदर्पण—[विश्वनाथ]

एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम् ।